





| विषयाः                              | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                       | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------------------|-------------|------------------------------|-------------|
| लघुनक्षत्राणि तत्कृत्यानि च         | ८५          | क्रयमुहूर्तः                 | ८५ १५२      |
| मृदुनक्षत्राणि "                    | ८६          | विक्रयविपरयोर्मुहूर्तौ       | ८७ १५३      |
| तीक्ष्णनक्षत्राणि "                 | ८६          | हस्त्यश्वविक्रयमुहूर्तौ      | ८७ १५३      |
| ध्रुवादिसंज्ञाचक्रम् "              | ८७          | अश्वचक्रं टीकायाम्           | ८८ १५४      |
| अध ऊर्ध्वति र्यङ्मुखभानि            | ८७          | गजेऽङ्कुशार्पणमुहूर्तः       | ८८ १५४      |
| प्रवालधारणे मुहूर्तः                | ८८          | गजाश्वारोहणे "               | ८८ १५४      |
| दन्तधारणे "                         | ८८          | भूषणघटने "                   | ८८ १५५      |
| शङ्खधारणे "                         | ८८          | रत्नयुगभूषाघटने              | ८८ १५५      |
| सुवर्णधारणे "                       | ८८          | मुक्तासहितभूषाघटने           | ८८ १५६      |
| वस्त्रधारणे "                       | ८८          | शास्त्रनिर्माणमुहूर्तः       | ८८ १५६      |
| तत्र वाराः                          | ८८          | भूषाधारणे मतान्तरम्          | ८८ १५७      |
| वर्णभेदेन वस्त्रधारणम्              | ८८          | स्वर्णादिभाजने भोजनम्        | १०१ १५८     |
| स्त्रीणां विशेषः                    | ८८          | मुद्रापातने मुहूर्तः         | १०० १५८     |
| स्नानादौ निषेधादिः                  | ८८          | वस्त्रक्षालने मुहूर्तः       | १०० १५८     |
| नवाम्बरे दग्धादौ शुभाशुभम्          | ८९          | खड्गादिधारणमुहूर्तः          | १०१ १५८     |
| टिप्पण्यां चक्रम्                   | ८९          | शय्याद्युपभोगमुहूर्तः        | १०१ १५८     |
| शय्यादावप्येवमेव                    | ८९          | अन्धनक्षत्राणि               | १०२ १५८     |
| शुभाशुभांशभागे विशेषः               | ८९          | मन्दाक्षनक्षत्राणि           | १०२ १६०     |
| क्वापि दुष्टदिनेऽपि वस्त्रं धार्यम् | ८९          | मध्याक्षनक्षत्राणि           | १०२ १६१     |
| लतापादपारोपणे मुहूर्तः              | ८९          | स्वक्षनक्षत्राणि             | १६          |
| राजदर्शनमुहूर्तः                    | ८९          | अन्धादिनक्षत्रफलानि          | १०३ १६६     |
| मद्यपानमुहूर्तः                     | ८९          | धनप्रयोगे निषिद्धभानि        | १०३ १६७     |
| गोक्रयविक्रयमुहूर्तः                | ८९          | जलाशयखनने मुहूर्तः           | १०४ १६७     |
| पशुरक्षामुहूर्तः                    | ८९          | नृत्यारम्भे मुहूर्तः         | १०४ १६८     |
| पशुस्थितिमुहूर्तः                   | ८९          | टीकायां विशेषः               | १६८         |
| पशुनिवेशनमुहूर्तः                   | ८९          | कूपारम्भे मुहूर्तः           | १०५ १६८     |
| पशुरक्षादौ निषेधः                   | ८९          | तडागारम्भे मुहूर्तः          | १०५ ७०      |
| औषधसेवनमुहूर्तः                     | ८९          | जीर्णकूपोद्धारमुहूर्तः       | १०५ ७२      |
| सूचीकर्ममुहूर्तः                    | ८९          | वसिष्ठोक्तनृत्यारम्भमुहूर्तः | १०५ ७३      |
| क्रयदौ विक्रयो निषेधः               | ८९          | सेवाकरणमुहूर्तः              | १०६ ७४      |



| विषयाः                   | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                          | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------|-------------|---------------------------------|-------------|
| द्रव्यप्रयोगमुहूर्तः     | ... १०७     | मैत्रीसन्धानमुहूर्तः            | ... १२१     |
| ऋणग्रहणमुहूर्तः          | ... १०७     | परीक्षामुहूर्तः                 | ... १२२     |
| हलप्रवहणमुहूर्तः         | ... १०८     | सर्वशुभेषु लग्नशुद्धिः          | ... १२३     |
| तत्र लग्नशुद्धिः         | ... १०८     | ज्वरोत्पत्तौ दिनसंख्या सफला १२४ |             |
| विशेषतो लग्नशुद्धिः      | ... १०८     | सर्पदंशे मृत्युप्रदभानि         | ... १२४     |
| बीजवपनमुहूर्तः           | ... १०९     | रोगनिवर्तकशान्तिः               | ... १२५     |
| तत्र टीकायां फणिचक्रम्   | ... ११०     | शीघ्ररोगिमरणयोगः                | ... १२५     |
| हलचक्रम्                 | ... ११०     | प्रेतदाहदिमुहूर्तः              | ... १२६     |
| हलचक्राकृतिः             | ... १११     | धनिष्ठादिपञ्चके वज्र्यानि       | १२६         |
| शिरामोक्षणमुहूर्तः       | ... ११२     | काष्ठादिस्थापनमुहूर्तः          | ... १२८     |
| विरेकवमनादिमुहूर्तः      | ... ११२     | त्रिपुष्करयोगः सफलः             | ... १२९     |
| धर्मक्रियामुहूर्तः       | ... ११३     | द्विपुष्करयोगः सफलः             | ... १२९     |
| धान्यच्छेदनमुहूर्तः      | ... ११३     | तत्र मरणे शान्तिः               | ... १३०     |
| सस्यरोपणमुहूर्तः         | ... ११४     | गुरुवारयोगेऽपि योगः             | ... १३०     |
| धान्यस्थितिमुहूर्तः      | ... ११५     | शवप्रतिकृतिदाहमुहूर्तः          | ... १३१     |
| धान्यवृद्धिमुहूर्तः      | ... ११५     | तीर्थे विशेषः टीकायाम्          | ... १३२     |
| शान्तिकपौष्टिककृत्यम्    | ... ११५     | प्रतिकृतिदाहे मध्यभानि          | ... १३३     |
| लग्नशुद्धिः              | ... ११६     | प्रतिकृतिदाहे श्रेष्ठकालः       | ... १३३     |
| होमाहुतौ शुद्धमुहूर्तः   | ... ११७     | आहिताग्निमरणे निषेधः            | १३४         |
| टीकायाम्                 |             | प्रतिकृतिविधिहेतुः              | ... १३५     |
| शुभग्रहमुखे हवने शुभम्   | ११७         | अशौचारस्मनिर्णयः                | ... १३५     |
| पापग्रहमुखे हवने शान्तिः | ११८         | अशौचानुष्ठानदिनसंख्या           | १३६         |
| वह्निवासेन शुभाशुभफलम्   | ११८         | यथाशक्ति शुद्धिकालविषयौ         | १३६         |
| नवाग्रभक्षणं मुहूर्तः    | ... ११८     | प्रतिकृतिदाहनिर्णयः             | ... १३७     |
| नौकाघटने                 | ... ११९     | प्रतिबन्धे निर्णयः              | ... १३७     |
| वीरसाधने                 | ... ११९     | प्रथमवर्षे नायं दोषः            | ... १३७     |
| अभिचारे                  | ... ११९     | अशुक्तमूलम्                     | ... १३८     |
| रोगमुक्तस्य स्नाने       | ... १२०     | नारदोक्तस्य दुष्टत्वम्          | ... १३९     |
| तत्र लग्नशुद्धिः         | ... १२०     | तत्र जातस्य त्यागः              | ... १३९     |
| शिल्पविद्यामुहूर्तः      | ... १२१     | वा त्यागाशक्यत्वे उपायः         | १३९         |



| विषयाः                         | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                            | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------------|-------------|-----------------------------------|-------------|
| चरणवशेन फलम् ...               | १४०         | ततो ब्राह्मणभोजनम् ...            | १५२         |
| विमातृग्रहणविचारः ...          | १४०         | आश्लेषजन्मशान्तिविधिः ...         | १५३         |
| दोषपरिहारः ...                 | १४१         | ततः पूजा ...                      | १५३         |
| शान्त्युपायः ...               | १४१         | ततो होमः ...                      | १५४         |
| मातृगण्डे शान्तिकालः ...       | १४१         | ततोऽभिषेकः ...                    | १५४         |
| शान्त्यकरणे प्रत्यवायः ...     | १४२         | ततो दक्षिणा ...                   | १५४         |
| मूलादाश्लेषफलं विलोमम् ...     | १४२         | विवाहेपि वधूवरयोः शान्तिः ...     | १५५         |
| मूलवृद्धः ...                  | १४३         | अन्या अपि शान्त्यः ...            | १५५         |
| मूलपुरुषाङ्गे घटीविन्यासः ...  | १४३         | नक्षत्रगण्डान्तलक्षणम् ...        | १५६         |
| मूलाङ्गविभागः फलं च ...        | १४३         | तिथिलग्नगण्डशान्तिविधिः ...       | १५६         |
| कन्याजन्मनि विशेषः ...         | १४३         | ज्येष्ठाजननशान्तिः ...            | १५७         |
| आश्लेषजातफलम् ...              | १४४         | शान्तिकालः ...                    | १५८         |
| आश्लेषावृद्धः ...              | १४४         | कलशप्रतिष्ठा ...                  | १५८         |
| भस्य ६० घटिकाधिक्ये विशेषः ... | १४४         | ततः पूजा ...                      | १५८         |
| चित्रादिदोषपरिहारः ...         | १४५         | ततो होमः ...                      | १५८         |
| मूलनिवासः सफलः ...             | १४५         | ततोऽभिषेकः ...                    | १५९         |
| वासस्य फलम् ...                | १४५         | ततो दक्षिणा ...                   | १५९         |
| संक्रमरीत्या वासस्थानम् ...    | १४६         | शूलादियोगजन्मशान्तिः ...          | १६०         |
| गण्डान्तादिषु जन्मफलम् ...     | १४६         | सूर्यसंक्रान्तिजन्मशान्तिः ...    | १६१         |
| उपरागजन्म ...                  | १४७         | व्यतिपातवैधृतिजन्मशान्तिः ...     | १६१         |
| श्रीतरजन्माप्यनिष्टम् ...      | १४७         | प्रतिपञ्चन्द्रदर्शने फलम् ...     | १६४         |
| तच्छान्तिः ...                 | १४७         | सिनीवालीकुङ्कुलक्षणम् ...         | १६७         |
| मूलजातशान्तिविधिः ...          | १४७         | तच्छान्तिर्व्यवस्था च ...         | १६७         |
| मण्डपपरिमाणम् ...              | १४८         | अन्येऽपि भेदाः ...                | १६८         |
| रुद्रकुम्भस्थापनम् ...         | १४८         | सिनीवालीकुङ्कुर्जन्मशान्तिः ...   | १६९         |
| अग्निस्थापनम् ...              | १४८         | पश्वादीनां त्यागो नतु नारोणां ... | १६९         |
| ततः पूजा ...                   | १५०         | नारदोक्तदर्शनजन्मशान्तिः ...      | १७०         |
| ततो होमः ...                   | १५०         | कृष्णचतुर्दशीशान्तिविधिः ...      | १७२         |
| ततोऽभिषेकः ...                 | १५१         | शतौषधीमूलानि ...                  | १७३         |
| ततो दक्षिणा ...                | १५२         | सोदरभे जातस्य फलम् ...            | १७४         |



| विषयाः                       | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                     | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| तच्छान्तिविधिश्च             | ... १७४     | संक्रान्तीनां संज्ञाः      | ... १८४     |
| उपरागजन्मशान्तिः             | ... १७६     | संक्रान्तेर्गौणकालः        | ... १८५     |
| टिप्पण्यां विशेषः            | ... १७७     | मकरकर्कयोर्विशेषः          | ... १८७     |
| पञ्चगव्यम्                   | ... १७७     | संध्योर्लक्षणम्            | ... १८८     |
| पञ्चपल्लवाः                  | ... १७७     | संध्योर्लक्षणान्तरम्       | ... १८८     |
| सर्वौषधयः                    | ... १७७     | संध्योरयने पुण्यकालः       | १८८         |
| त्र्युत्तरविजातीयजन्मशान्तिः | १७८         | मकरकर्कयोर्विशेषः          | ... १८८     |
| नक्षत्राणां तारासंख्या       | ... १७९     | संक्रमेषु विशेषः           | ... २०१     |
| तारासंख्याज्ञानफलम्          | ... १८०     | स्नानाद्यकरणे दोषः         | ... २०२     |
| नक्षत्राणां स्वरूपम्         | ... १८०     | संक्रान्तौ स्नानफलम्       | ... २०२     |
| जलाशयारामप्रतिष्ठा           | ... १८२     | चन्द्रादिसंक्रमे पुण्यकालः | २०२         |
| सुरप्रतिष्ठामुहूर्तः         | ... १८२     | ग्रहगतयः                   | ... २०३     |
| तत्र संक्रान्तिभेदेन फलम्    | १८४         | सायनसंक्रान्तिः सफला       | ... २०५     |
| देवप्रतिष्ठायां विशेषः       | ... १८४     | सर्वत्र नैतदुपयोगः         | ... २०८     |
| उग्रदेवानां दक्षिणायणेऽपि    | १८४         | नक्षत्रवशेन संक्रमसंज्ञा   | ... २०९     |
| सर्वत्र वर्ज्यनक्षत्राणि     | ... १८५     | संज्ञाप्रयोजनम्            | ... २१०     |
| प्रतिष्ठायां तिथयः           | ... १८५     | अब्दविशोपकः                | ... २१२     |
| प्रतिष्ठायां दिनानि          | ... १८५     | करणेषु विशेषः              | ... २१२     |
| नवांशविचारः                  | ... १८६     | संक्रमे वाहनादीनि          | ... २१३     |
| लग्नदोषापवादः                | ... १८७     | वाहनानि                    | ... २१४     |
| प्रकरणोपसंहारः               | ... १८८     | वस्त्राणि                  | ... २१४     |
|                              |             | शस्त्राणि                  | ... २१५     |
|                              |             | भक्ष्याणि                  | ... २१५     |
|                              |             | लेपाः                      | ... २१५     |
|                              |             | जातयः                      | ... २१५     |
|                              |             | पुष्पाणि वयश्च             | ... २१६     |
|                              |             | अवस्थाः                    | ... २१६     |
|                              |             | संक्रान्तेरुक्तद्रव्यनाशः  | ... २१६     |
|                              |             | संक्रान्तिचक्रम्           | २१७         |
|                              |             | जन्मनक्षत्रवशेन फलम्       | २१८         |

### ३ संक्रान्तिप्रकरणे ।

|                         |         |
|-------------------------|---------|
| संक्रान्तिफलम्          | ... १८९ |
| दिनरात्रिविभागेन फलम्   | १९१     |
| वारभेदेन फलम्           | ... १९२ |
| नक्षत्रभेदेन फलम्       | ... १९२ |
| जन्मभेदे संक्रान्तिफलम् | १९२     |
| स्पष्टार्थं चक्रम्      | ... १९३ |



| विषयाः                   | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------|-------------|
| अशुभसंक्रान्तौ दानम् ... | २१८         |
| संक्रममाणग्रहबलम् ...    | २१६         |
| अधिमासक्षयमासौ ...       | २२०         |
| प्रकरणोपसंहारः ...       | २२२         |

### ४गोचरप्रकरणे

|                                  |     |
|----------------------------------|-----|
| ग्रहाणां गोचरफलम् ...            | २२३ |
| रविशन्योर्वेधः ...               | २२३ |
| ग्रहाणां स्थानफलानि ...          | २२५ |
| तत्र रवेः ...                    | २२५ |
| चन्द्रकुजबुधगुरुणाम् ...         | २२६ |
| शुक्रशनिराहुकेतूनाम् ...         | २२७ |
| फलदानदिनसंख्या ...               | २२८ |
| वेधविचारः ...                    | २२८ |
| वेधकोष्ठकानि ...                 | २२६ |
| चन्द्रस्य विशेषः ...             | २३० |
| द्विविधवेधे मतद्वयम् ...         | २३० |
| हिमविन्ध्यान्तर एव वेधः ...      | २३० |
| ग्रहदौष्ट्ये यात्रा निषिद्धा ... | २३१ |
| ग्रहदौष्ट्ये शान्ति ...          | २३१ |
| शान्तिप्रकारः ...                | २३१ |
| जन्मभात् ग्रहणफलम् ...           | २३१ |
| तत्र शान्तिः ...                 | २३१ |
| अरिष्टनिवृत्तिदानम् ...          | २३३ |
| दृष्ट एव फलजनकः ...              | २३५ |
| स्नानप्रयोजकत्वं ...             | २३६ |
| विरोधपरिहारः ...                 | २३७ |
| ग्रहणे कदा स्नाननिषेधः ...       | २३८ |

| विषयाः                      | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|
| चन्द्रबले विशेषः ...        | २४०         |
| बलस्य विधानान्तरम् ...      | २४०         |
| ग्रहतुष्ट्यै रत्नधारणम् ... | २४१         |
| अधनानां रत्नधारणोपायः ...   | २४१         |
| अल्पमूल्यरत्नधारणम् ...     | २४२         |
| औषधीमूलानि ...              | २४२         |
| ताराबलम् ...                | २४३         |
| सफलास्तारासंज्ञाः ...       | २४३         |
| दूष्टतारापरिहारः ...        | २४४         |
| तस्यापवादः ...              | २४५         |
| चन्द्रावस्थानयनम् ...       | २४५         |
| उपपत्तिश्च ...              | २४५         |
| अवस्थानामानि सफलानि ...     | २४७         |
| ग्रहशान्त्यै औषधस्नानम् ... | २४७         |
| तत्र रवेः ...               | २४८         |
| चन्द्रस्य ...               | २४८         |
| बुधस्य ...                  | २४८         |
| गुरोः ...                   | २४६         |
| शुक्रस्य ...                | २४६         |
| शनेः ...                    | २४६         |
| राहुकेत्वोः ...             | २४६         |
| दक्षिणाः ...                | २४६         |
| दानान्तराणि ...             | २५०         |
| ग्रहाणां वैदिकमन्त्राः ...  | २५०         |
| द्रव्यदैवतानि ...           | २५१         |
| ग्रहाणां फलदाने विशेषः ...  | २५३         |
| दुष्टयोगादौ दानानि ...      | २५४         |
| ख्यादौ जन्मभे मासफलम् ...   | २५४         |
| कदा ग्रहाः फलदाः ...        | २५४         |



| विषयाः                  | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                           | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------|-------------|----------------------------------|-------------|
| प्रकरणोपसंहारः          | ... २५६     | गर्भाधानकालावधिः                 | ... २६६     |
|                         |             | गर्भाधाने नक्षत्राणि             | ... २६६     |
|                         |             | मन्त्रपूर्वकं स्त्रीसङ्गः        | ... २६७     |
|                         |             | गर्भाधाने लग्नफलम्               | ... २६७     |
|                         |             | पुंनपुंसकयोगः                    | ... २६८     |
|                         |             | गर्भाधाने मध्यनक्षत्राणि         | ... २६८     |
|                         |             | ऋतुस्नातायां संगंकरणे            | २६९         |
|                         |             | गर्भाधानान्तरं कर्तव्यम्         | ... २६९     |
|                         |             | सीमन्तोन्नयनमुहूर्तः             | ... २७०     |
|                         |             | तत्र लग्नम्                      | ... २७१     |
|                         |             | नक्षत्राणि वाराश्च               | ... २७२     |
|                         |             | शुक्रास्तमलमासदोषः               | ... २७२     |
|                         |             | संस्कारत्वव्यवस्था               | ... २७३     |
|                         |             | मासेश्वराः स्त्रीणां चन्द्रबलं च | २७४         |
|                         |             | गर्भावस्था                       | ... २७४     |
|                         |             | चन्द्रबले विशेषः                 | ... २७४     |
|                         |             | पुंसवनमुहूर्तः                   | ... २७५     |
|                         |             | विष्णुपूजा च                     | ... २७५     |
|                         |             | तत्र नक्षत्राणि                  | ... २७६     |
|                         |             | लग्नशुद्धिः                      | ... २७६     |
|                         |             | विष्णुबलिमुहूर्तः                | ... २७६     |
|                         |             | अष्टमग्रहदोषापवादः               | ... २७७     |
|                         |             | विष्णुपूजाप्रकारः                | ... २७७     |
|                         |             | जातकर्ममुहूर्तः                  | ... २७७     |
|                         |             | नामकरणमुहूर्तः                   | ... २७८     |
|                         |             | जातकर्मफलम्                      | ... २७९     |
|                         |             | नामकर्मणि कालविशेषः              | २७९         |
|                         |             | नामकरणप्रयोजनम्                  | ... २८०     |
|                         |             | शतपदचक्रम्                       | ... २८०     |
|                         |             | टिप्पण्यां विशेषः                | ... २८०     |
| संस्कारनामानि सफलानि    | २५६         |                                  |             |
| स्त्रीसंगकरणे विशेषः    | ... २५७     |                                  |             |
| पुत्रप्रशंसा            | ... २५७     |                                  |             |
| आद्यरजोदर्शनफलम्        | ... २५८     |                                  |             |
| तत्राशुभमासाः           | ... २५८     |                                  |             |
| वारफलानि                | ... २५९     |                                  |             |
| लग्नफलानि               | ... २५९     |                                  |             |
| अशुभपुष्पापवादः         | ... २५९     |                                  |             |
| प्रातःसायंकालौ प्रशस्तौ | ... २५९     |                                  |             |
| शुभनक्षत्राणि           | ... २६०     |                                  |             |
| नक्षत्रानुरोधेन फलम्    | ... २६०     |                                  |             |
| वस्त्रवर्णविशेषेन फलम्  | ... २६१     |                                  |             |
| निन्द्यरजोदर्शनम्       | ... २६१     |                                  |             |
| स्थलविशेषेण फलम्        | ... २६२     |                                  |             |
| मातृप्रश्नलग्नात् फलम्  | २६२         |                                  |             |
| रजस्वलास्नानमुहूर्तः    | ... २६२     |                                  |             |
| स्नाने वारफलानि         | ... २६३     |                                  |             |
| प्रसूतास्नानफलम्        | ... २६३     |                                  |             |
| नक्षत्रविशेषः           | ... २६३     |                                  |             |
| गर्भाधानमुहूर्तः        | ... २६३     |                                  |             |
| अशुभरजोदर्शनशान्तिः     | ... २६४     |                                  |             |
| गर्भाधानमुहूर्तान्तरम्  | ... २६४     |                                  |             |
| गर्भाधाने तिथ्यादयः     | ... २६५     |                                  |             |
| वारविषये विशेषः         | ... २६६     |                                  |             |
| रजस्वलाशुद्धिकालः       | ... २६६     |                                  |             |



| विषयाः                        | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                    | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| जन्मनाम गोचरम्                | ... २८३     | नक्षत्राणि                | ... ३००     |
| अवकहडाचक्रम्                  | ... २८३     | जन्मर्तु निषेधः           | ... ३००     |
| मासनामानि                     | ... २८४     | कर्णवेधे लग्नशुद्धिः      | ... ३०१     |
| प्रसूतास्नानमुहूर्तः          | ... २८४     | कर्णवेधप्रकारः            | ... ३०२     |
| निषिद्धर्क्षाणि               | ... २८४     | रन्ध्रविशेषश्च            | ... "       |
| स्तन्यपानमुहूर्तः             | ... २८५     | अब्दपूर्तिमुहूर्तः        | ... "       |
| दन्तोत्पत्तिफलम्              | ... २८५     | तत्र तिथिनिर्णयः          | ... "       |
| दृष्ट्यादिमासे दन्तजननशान्तिः | २८६         | वर्षपूर्तिकृत्यम्         | ... "       |
| दोलारोहणमुहूर्तः              | ... २८७     | शुभकर्मत्याज्यसमयः        | ... ३०३     |
| "                             | ... २८८     | केतूदये त्याज्यदिनसंख्या  | ३०४         |
| निष्क्रमणमुहूर्तः             | ... २८८     | केतूनां स्वरूपं फलं च     | ... ३०४     |
| जलपूजामुहूर्तः                | ... २८९     | केतुलग्नं तत्र वर्ज्यं च  | ... ३०५     |
| अन्नप्राशनमुहूर्तः            | ... २९०     | गुरुशुक्रयोर्बाल्यवार्धके | ... "       |
| तत्र लग्नं मासाश्च            | ... २९१     | तत्र मतान्तरम्            | ... "       |
| स्त्रीशिशुषु विशेषः           | ... २९१     | तद्व्यवस्था               | ... ३०६     |
| फलितार्थः                     | ... २९१     | चन्द्रस्य बाल्यवार्धके    | ... "       |
| अन्नप्राशने विशेषः            | ... २९२     | चूडाकरणमुहूर्तः           | ... ३०७     |
| जन्मनक्षत्रं श्रेयः           | ... २९२     | चौले तिथयः                | ... ३०७     |
| विद्वनक्षत्रं त्याज्यम्       | ... २९३     | चैत्रे चूडा न कार्या      | ... ३०८     |
| लग्नशुद्धिः                   | ... २९३     | तत्र ग्रहस्थानशुद्धिः     | ... ३०९     |
| स्थानवशाद् ग्रहाणां फलानि     | २९४         | चौलप्रयोजनम्              | ... ३१०     |
| भूम्युपवेशनमुहूर्तः           | ... २९६     | मातुर्गर्भे विशेषः        | ... ३१०     |
| तत्र मन्त्राः                 | ... २९६     | मातरि गर्भिण्यां मौजी न   | ३११         |
| जीविकापरीक्षा                 | ... २९७     | दुष्टतारापवादः            | ... ३११     |
| ताम्बूलभक्षणमुहूर्तः          | ... २९७     | चौलादौ निषेधः             | ... ३१२     |
| तत्र मतान्तरम्                | ... २९८     | दन्तक्षौरनखक्रिया         | ... ३१३     |
| तत्र फलव्यवस्था               | ... २९८     | क्षौरे वारलग्नशफलम्       | ... ३१४     |
| कर्णवेधमुहूर्तः               | ... २९९     | नवमं दिनं निषिद्धम्       | ... ३१४     |
| जन्ममासे वर्ज्यानि            | ... २९९     | कार्यान्तराणि क्षौरे      | ... ३१५     |
| कर्णवेधे तिथयः                | ... ३००     | क्षौरस्य विधिनिषेधौ       | ... ३१६     |



| विषयाः                      | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                     | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| राक्षां विशेषः              | ... ३१७     | ग्रहस्थितिफलम्             | ... ३३२     |
| सर्वथा वर्ज्यनक्षत्राणि     | ... ३१७     | अस्यापवादः                 | ... ३३२     |
| निषिद्धनक्षत्राणि           | ... ३१८     | निषिद्धश्चन्द्रः           | ... ३३३     |
| अक्षरारम्भमुहूर्तः          | ... ३१६     | शाखाधीशाः                  | ... "       |
| निषिद्धापि षष्ठी स्वीकृता   | ३१६         | तत्प्रयोजनम्               | ... ३३४     |
| विद्यारम्भमुहूर्तः          | ... ३२०     | शाखेशनिर्बलत्वे फलम्       | ... ३३५     |
| तत्र तिथयः                  | ... ३२१     | उच्चादिसंज्ञा              | ... ३३६     |
| लग्नबलम्                    | ... ३२१     | शत्रुग्रहस्थे गुरौ विशेषः  | ... ३३६     |
| अंकुरारण्ये मुहूर्तः        | ... ३२१     | वृषादिस्थे "               | ... ३३७     |
| व्रतबन्धकालः                | ... ३२३     | जन्ममासादौ व्रतम्          | ... ३३७     |
| काम्योपनयनकालिकवयः          | ३२३         | गर्भाष्टमे फलविशेषः        | ... ३३८     |
| उपनयने गौणकालः              | ... ३२४     | गुरुबलम्                   | ... ३३६     |
| तदतिक्रमे व्रात्यस्तोमः     | ... ३२४     | मतान्तरम्                  | ... ३४०     |
| व्रतबंधे नक्षत्रादि         | ... ३२४     | गुरुदौष्ट्यापवादः          | ... ३४१     |
| मासाः                       | ... ३२५     | तत्र विशेषः                | ... ३४१     |
| तत्फलानि                    | ... ३२५     | व्रतबन्धे वर्ज्यपदार्थाः   | ... ३४२     |
| मिथुनस्थसूर्ये नियमः        | ... ३२६     | गलग्रहा वर्ज्याः           | ... ३४३     |
| उपनयने मुख्यनक्षत्राणि      | ३२६         | वर्ज्याः कालाः             | ... ३४३     |
| सप्तशलाकावेधस्वरूपम्        | ... ३२७     | रव्यादिनवांशफलम्           | ... ३४५     |
| लक्षाद्रिदोषा अपि त्याज्याः | ३२८         | चन्द्रनवांशफलम्            | ... ३४५     |
| उपनयने वाराः                | ... ३२८     | तत्तन्नावांशस्थचन्द्रफलम्  | ३४६         |
| सामवेदिनां भौमः शुभः        | ... ३२८     | स्वनवांशस्थफलम्            | ... ३४६     |
| उपनयने तिथयः                | ... ३२६     | केन्द्रस्थसूर्यादीनां फलम् | ३४६         |
| तिथिफलानि                   | ... ३२६     | केन्द्रगताः पापा निषिद्धाः | ३४७         |
| प्रशस्तास्तितयः             | ... ३२६     | ग्रहयुतिफलम्               | ... ३४७     |
| कृष्णादिमन्त्रिकं श्रेष्ठम् | ... ३३०     | चन्द्रवर्शेन शुभाशुभयोगौ   | ३४८         |
| अपराह्णे व्रतं त्याज्यम्    | ...         | शन्यंशस्थचन्द्रफलम्        | ... ३४८     |
| व्रते लग्नभङ्गयोगः          | ... ३३१     | तत्रान्येपि दोषाः          | ... ३४६     |
| लग्नफलानि                   | ... "       | अनध्यायाः                  | ... ३४६     |
| सामान्यतो लग्नशुद्धिः       | ... "       | अनध्यायान्तराणि            | ... ३५०     |



| विषयाः                     | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                   | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| टिप्पण्यां विशेषः          | ... ३५१     | कुम्भविवाहः              | ... ३६६     |
| प्रदोषाः                   | ... ३५२     | कुम्भप्रार्थना           | ... ३७०     |
| तत्र मतभेदः                | ... ३५२     | अश्वत्थविवाहः            | ... ३७०     |
| सत्युत्पाते शान्तिः        | ... ३५३     | विष्णुप्रतिमया विवाहः    | ... ३७०     |
| वेदपरत्वेन नक्षत्राणि      | ... ३५४     | कन्यादातारः              | ... ३७१     |
| धर्मशास्त्रीय विशेषः       | ... ३५५     | अपत्यज्ञानम्             | ... ३७२     |
| उपनयनकर्तारः               | ... ३५५     | निमित्तवशेन शुभाशुभम्    | ३७३         |
| मुहूर्तालाभे शान्तिप्रकारः | ३५६         | टीकायां विशेषः           | ... ३७३     |
| छूरिकाबन्धनमुहूर्तः        | ... ३५६     | कन्यावरणमुहूर्तः         | ... ३७५     |
| केशान्तसमावर्तनमुहूर्तौ    | ३५७         | कन्यावरणप्रकारः          | ... ३७५     |
| समावर्तनकालः               | ... ३५८     | वाग्दानप्रकारः           | ... ३७५     |
| प्रकरणोपसंहारः             | ... ३५८     | वरवरणमुहूर्तः            | ... ३७६     |
|                            |             | परिवित्तिलक्षणम्         | ... ३७७     |
| <b>६ विवाहपूकरणे</b>       |             | गुणयुक्ताय कन्या देया    | ... ३७७     |
| अष्टौ विवाहाः              | ... ३६०     | रजस्वला नोद्वाह्या       | ... ३७७     |
| तल्लक्षणानि                | ... ३६०     | कन्याविवाहकालः           | ... ३७८     |
| कालनियमव्यवस्था            | ... ३६०     | लग्नशुद्धिः              | ... ३७८     |
| भार्याप्रशंसा              | ... ३६१     | टिप्पण्यां विशेषः        | ... ३८०     |
| विवाहफलम्                  | ... ३६१     | विहितमासाः               | ... ३८०     |
| श्रृणुत्रयम्               | ... ३६२     | विवाहे मासविशेषाः        | ... ३८१     |
| टिप्पण्यां विशेषः          | ... ३६२     | जन्ममासादौ विशेषः        | ... ३८३     |
| प्रश्नलगाद् विवाहयोगौ      | ... ३६३     | निषेधापवादः              | ... ३८४     |
| अन्यौ विवाहयोगौ            | ... ३६४     | ज्येष्ठे विशेषः          | ... ३८४     |
| विवाहे योगान्तरम्          | ... ३६५     | मार्गशीर्षेपि ज्येष्ठवत् | ... ३८६     |
| वैधव्ययोगत्रयम्            | ... ३६५     | सहजाभ्यां सहजे न देये    | ३८७         |
| मृतवत्सायोगः               | ... ३६६     | प्रत्युद्वाहो न कार्यः   | ... ३८८     |
| विवाहभङ्गयोगः              | ... ३६६     | अन्यः प्रतिकूलदोषः       | ... ३८३     |
| वैधव्ययोगपरिहारः           | ... ३६७     | व्रताच्चूडा नेष्टा       | ... ३८५     |
| प्रबलयोगे प्रतीकारः        | ... ३६८     | अब्दभेदे शुभः            | ... ३८५     |
| पिप्पलव्रतम्               | ... ३६८     | मूलाद्युत्पन्नफलम्       | ... ३८५     |



| विषयाः                    | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                     | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| तदपवादः ...               | ३६६         | नक्षत्रराशैक्ये विशेषः ... | ४२२         |
| कूटानि सलक्षणानि ...      | ३६७         | सेव्यसेवकमयोर्विशेषः ...   | ४२४         |
| कूटभेदेन गणभेदाः ...      | ३६७         | षड्वर्गविचारः ...          | ४२६         |
| धर्णकूटम् ...             | ३६८         | राशिस्वामिनः ...           | ४२७         |
| धर्णकूटे गुणसंख्या ...    | ३६८         | नवांशविभागः ...            | ४२७         |
| वश्यकूटम् ...             | ३६८         | होराविधिः ...              | ४२७         |
| गुणविभागः ...             | ३६८         | त्रिंशंशद्रेष्काणविधिः ... | ४२८         |
| ताराकूटम् ...             | ३६८         | द्वादशांशाः ...            | ४२८         |
| गुणविभागः ...             | ४००         | षड्वर्गोपसंहारः ...        | ४२८         |
| योनि कूटम् ...            | ४००         | गण्डान्तदोषाः ...          | ४३०         |
| विरुद्धयोर्वैरम् ...      | ४०१         | नक्षत्रगण्डान्तदोषः ...    | ४३०         |
| योनिदोषापवादः ...         | ४०१         | लग्नगण्डान्ते विशेषः ...   | ४३१         |
| गुणविभागः ...             | ४०२         | तिथिगण्डान्तदोषः ...       | ४३२         |
| ग्रहभैत्री ...            | ४०२         | तत्र विशेषः ...            | ४३२         |
| तदपवादः ...               | ४०३         | कर्तरीदोषः ...             | ४३४         |
| तत्फलम् ...               | ४०३         | राहुकेत्वोर्ग्रहत्वम् ...  | ४३५         |
| गणकूटम् ...               | ४०४         | सग्रहचन्द्रदोषः ...        | ४३८         |
| तत्फलम् ...               | ४०५         | तदपवादः ...                | ४३८         |
| गुणविभागः ...             | ४०६         | अष्टमलग्नदोषः ...          | ४३८         |
| राशिकूटम् ...             | ४०६         | तदपवादश्च ...              | ४४०         |
| तत्र विशेषः ...           | ४०७         | परिहारान्तरम् ...          | ४४१         |
| दुष्टभकूटपरिहारः ...      | ४०७         | द्वादशाष्टमगृहदोषः ...     | ४४१         |
| दुष्टगणकूटादिपरिहारः ...  | ४१५         | विषघटीदोषः ...             | ४४१         |
| नाडीकूटम् ...             | ४१६         | तिथिवारयोर्विषघट्यः ...    | ४४३         |
| नाडीफलम् ...              | ४१७         | तदपवादः ...                | ४४४         |
| चक्रन्यासः ...            | ४१७         | मुहूर्तदोषा दिवा ...       | ४४४         |
| फलेपि विशेषः ...          | ४१७         | मुहूर्तदोषा रात्रौ ...     | ४४४         |
| गुणाः ...                 | ४१८         | मुहूर्तलक्षणम् ...         | ४४५         |
| नाडीदोषे जपादिकम् ...     | ४२१         | निषिद्धमुहूर्तः ...        | ४४५         |
| पूर्वमध्यापरभागयोगानि ... | ४२१         | निर्वेधनक्षत्राणि ...      | ४४६         |
| वर्गकूटम् ...             | ४२२         |                            |             |



| विषयाः               | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                   | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| अभिजिन्मानम्         | ... ४४७     | सूर्यसंक्रमणाख्यदोषः     | ... ४७६     |
| पञ्चशलाकाचक्रम्      | ... ४४७     | सायनसंक्रमे व्यवस्था     | ... ४७७     |
| चक्रोद्धारः          | ... ४४८     | सूर्यग्रहसंक्रान्तिघट्यः | ... ४७८     |
| सप्तशलाकाचक्रम्      | ... ४४९     | पञ्चन्धकाणवधिरयोगाः      | ... ४७९     |
| क्रूराक्रान्तभदोषाः  | ... ४५१     | पञ्चन्धलग्नदोषः          | ... ४८०     |
| लक्षादोषः            | ... ४५२     | तत्प्रयोजनं सापवादम्     | ... ४८०     |
| पातदोषः              | ... ४५३     | विहितनवांशाः             | ... ४८०     |
| महापातदोषः           | ... ४५४     | नवांशलग्नेशफलानि         | ... ४८१     |
| टिप्पण्यां विशेषः    | ... ४५४     | विवाहनवांशे निषेधः       | ... ४८२     |
| क्रान्तिसाम्यचक्रम्  | ... ४५८     | सर्वथा लग्नभंगयोगः       | ... ४८३     |
| खार्जूरदोषः          | ... ४५९     | लग्ने वर्ज्या ग्रहाः     | ...         |
| उपग्रहदोषः           | ... ४६०     | सप्तमे शुद्धिरपेक्षिता   | ... ४८४     |
| पातादिषु नेष्टपादः   | ... ४६१     | रेखादातृग्रहाः           | ... ४८५     |
| अर्धयामः             | ... ४६१     | टीकायां विशेषः           | ... ४८६     |
| कुलिकदोषः            | ... ४६३     | महादोषापवादः             | ... ४८८     |
| दग्धतिथ्यः           | ... ४६४     | अनेकदोषापवादः            | ... ४८९     |
| जाभिन्नदोषः          | ... ४६४     | उक्तानुकदोषरिहारः        | ... ४९०     |
| तदपवादः              | ... ४६५     | दोषसमुदायपरिहारः         | ... ४९२     |
| एकार्गलादिदोषेऽपवादः | ... ४६६     | लग्नविशोपकाः             | ... ४९२     |
| देशभेदेन परिहारः     | ... ४६७     | श्वशरादिविभागज्ञानम्     | ... ४९३     |
| दशयोगदोषः            | ... ४६८     | संकीर्णविवाहमुद्धर्तः    | ... ४९४     |
| तत्फलानि             | ... ४६८     | गन्धर्वादिविवाहमुद्धर्तः | ... ४९५     |
| तदपवादः              | ... ४६९     | विवाहपूर्वकर्तव्यम्      | ... ४९५     |
| बाणदोषः              | ... ४७०     | वेदिकायां विशेषः         | ... ४९६     |
| प्राच्यमतेन बाणदोषः  | ... ४७०     | मण्डपोद्वासनादिनियमः     | ४९७         |
| त्रिविधबाणपरिहारः    | ... ४७१     | मण्डपादौ स्तम्भनिवेशः    | ४९८         |
| ग्रहदृष्टिस्थानानि   | ... ४७२     | गोधूलिप्रशंसा            | ... ४९९     |
| उदयास्तशुद्धिः       | ... ४७३     | गोधूलिभेदः               | ... ५००     |
| लग्नेशलवेशदृष्टिफलम् | ... ४७४     | तत्र वर्ज्यदोषः          | ... ५०१     |
| तदभावे विशेषः        | ... ४७५     | सूर्यस्पष्टगतिः          | ... ५०२     |



| विषयाः                       | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------------|-------------|
| तात्कालिकीकरणम् ...          | ५०४         |
| इष्टकालिकलग्नानयनम् ...      | ५०५         |
| लग्नार्काभ्यां कालानयनम् ... | ५०५         |
| घटिकानयनविशेषः ...           | ५०७         |
| कर्तव्यकर्माणि ...           | ५०८         |
| मन्त्रः ...                  | ५०९         |
| शङ्कुलक्षणम् ...             | ५०९         |
| अवश्यवर्ज्यदोषाः ...         | ५१०         |
| तैलादिलापने दिनसंख्या ...    | ५१२         |
| प्रकरणोपसंहारः ...           | ५१३         |

### ७ वधूप्रवेशपूकरणे—

|                              |     |
|------------------------------|-----|
| वधूप्रवेशमुहूर्तः ...        | ५१३ |
| तत्र नक्षत्रादिशुद्धिः ...   | ५१४ |
| पित्रादिगृहनिवासे विशेषः ... | ५१५ |
| प्रकरणोपसंहारः ...           | ५१६ |

### ८ द्विरागमपूकरणे—

|                        |     |
|------------------------|-----|
| द्विरागमनमुहूर्तः ...  | ५१७ |
| संमुखशुक्रदोषः ...     | ५१८ |
| प्रतिशुक्रापवादः ...   | ५१९ |
| गोत्रपरत्वेनापवादः ... | ५२० |
| शुक्रास्तापवादः ...    | ५२२ |
| प्रकरणोपसंहारः ...     | ५२२ |

### ९ अग्न्याधानपूकरणे—

|                            |     |
|----------------------------|-----|
| अग्न्याधानव्युत्पत्तिः ... | ५२३ |
| अग्न्याधानमुहूर्तः ...     | ५२४ |
| तत्र निषिद्धकालः ...       | ५२४ |

| विषयाः              | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|
| लग्नशुद्धिः ...     | ५२५         |
| मतान्तरम् ...       | ५२५         |
| यागकर्तृत्वयोगः ... | ५२६         |
| कृताधानस्य फलम् ... | ५२७         |
| योगपदार्थाः ...     | ५२७         |
| प्रकरणोपसंहारः ...  | ५२७         |

### १० राजाभिषेकपूकरणे—

|                              |     |
|------------------------------|-----|
| राजाभिषेके कालशुद्धिः ...    | ५२८ |
| लग्नरीत्या ग्रहबलानि ...     | ५२९ |
| जन्मकालग्रहबलम् ...          | ५२९ |
| नक्षत्राणि लग्नशुद्धिश्च ... | ५३१ |
| लग्नानि शीर्षोदयपदार्थाः ... | "   |
| अशुभफलं सापवादम् ...         | ५३२ |
| संपत्स्थैर्यकर्तृयोगः ...    | ५३३ |
| अपरो योगः ...                | "   |
| प्रकरणोपसंहारः ...           | ५३४ |

### ११ यात्रापूकरणे—

|                                |     |
|--------------------------------|-----|
| यात्राधिकारिणः ...             | ५३५ |
| प्रश्नाद्यात्राशुभम् ...       | ५३६ |
| शुभफलदयात्राप्रश्नः ...        | ५३७ |
| अन्यशुभप्रदप्रश्नः ...         | ५३८ |
| अज्ञातजन्मनां शुभः प्रश्नः ... | ५३९ |
| अशुभप्रदयात्राप्रश्नः ...      | ५४० |
| याता कस्यांदिशिगमिष्यति ...    | ५४० |
| योगान्तरम् ...                 | ५४१ |
| यात्राकालादि ...               | ५४२ |
| सूर्यपृष्ठादिनिर्णयः ...       | ५४३ |



| विषयाः                      | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                           | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|----------------------------------|-------------|
| तिथिनक्षत्रशुद्धिः          | ... ५४३     | कालपाशौ                          | ... ५६६     |
| प्रत्येकं तिथिफलानि         | ... ५४४     | खण्डराहुदोषः                     | ... ५७१     |
| उत्तममध्यमभानि              | ... ५४५     | अर्धयामराहुः                     | ... ५७२     |
| वारशूलनक्षत्रशूले           | ... ५४६     | मुहूर्तराहुः                     | ... ५७२     |
| एतत्फलम्                    | ... ५४७     | राहुफलानि                        | ... ५७३     |
| वारशूलपरिहारः               | ... ५४७     | सूर्येन्दुकालानलचक्रम्           | ... ५७४     |
| कालवशेन भशूलम्              | ... ५४६     | परिघदण्डः                        | ... ५७५     |
| क्रियतां भानां वर्ज्यघटिकाः | ५५१         | विदिक्षु नक्षत्राणि              | ... ५७६     |
| मतान्तरेण वर्ज्यघटिकाः      | ५५२         | पारिघदण्डापवादः                  | ... ५७७     |
| भानां जीवपक्षादिसंज्ञाः     | ५५२         | दिग्राशयस्तत्फलानि च             | ५७७         |
| तेषां विशेषफलम्             | ... ५५३     | सर्वदिग्द्वारनक्षत्राणि          | ... ५७८     |
| अस्यापवादः                  | ... ५५४     | केन्द्रस्थवक्त्री ग्रहो निषिद्धः | ५७८         |
| सफलान्यकुलादिभानि           | ... ५५५     | यात्रार्थं वाराः                 | ... ५८३     |
| स्वरादयोक्तफलानि            | ... ५५६     | अयनशुद्धिः                       | ... ५८३     |
| पथिराहुचक्रम्               | ... ५५७     | सम्मुखशुक्रदोषः                  | ... ५८५     |
| तत्फलम्                     | ... ५५८     | प्रतिशुक्रदोषफलम्                | ... ५८६     |
| तिथिचक्रम्                  | ... ५६०     | आवश्यकगमनेशान्तिः                | ... ५८७     |
| सर्वाङ्गज्ञानम्             | ... ५६२     | शुक्रवक्रास्तादिदोषः             | ... ५८८     |
| महाडलभ्रमणौ दोषौ            | ... ५६२     | तदपवादः                          | ... ५८६     |
| हिम्बराख्यो योगः            | ... ५६३     | शुक्रास्ते विशेषश्च              | ... ५८६     |
| प्रसङ्गाद् घवाडयोगः         | ... ५६४     | अनिष्टलग्नम्                     | ... ५८०     |
| घातचन्द्राख्यो दोषः         | ... ५६४     | अन्यदनिष्टलग्नम्                 | ... ५८१     |
| घातचन्द्रपरिहारः            | ... ५६५     | शुभलग्नश्च                       | ... ५८१     |
| घाततिथ्यः                   | ... ५६६     | अन्यदनिष्टलग्नम्                 | ... ५८१     |
| घातवाराः                    | ... ५६६     | अन्यच्छुभलग्नम्                  | ... ५८२     |
| घातनक्षत्राणि               | ... ५६६     | दिग्द्वारभलग्नप्रशंसा            | ... ५८२     |
| घातलग्नानि                  | ... ५६७     | दिग्विलोमलग्नदोषाश्च             | ... ५८३     |
| सफला योगिन्यः               | ... ५६७     | शुभलग्नानि                       | ... ५८४     |
| अर्धग्रहरयोगिन्यः           | ... ५६८     | लग्नवशेन राजयोगः                 | ... ५८४     |
| वारयोगिन्यः                 | ... ५६६     | दिक् स्वामिनः                    | ... ५८५     |



| विषयाः                    | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                 | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------------|-------------|------------------------|-------------|
| तत्प्रयोजनम् ...          | ५६५         | अन्ययोगयात्रा ...      | ६१६         |
| लालाटिकयोगाः ...          | ५६५         | अन्यदपि लग्नद्वयम् ... | ६१६         |
| पर्युषितयात्रायोगाः ...   | ५६७         | अन्यदपि योगत्रयम् ...  | ६१७         |
| टीकायां विशेषः ...        | ५६८         | अन्यदपि लग्नद्वयम् ... | ६१८         |
| समयबलम् ...               | ५६८         | अन्यदपि लग्नद्वयम् ... | ६१८         |
| अभिजित्प्रशंसा ...        | ५६८         | योगाधियोगादयः ...      | ६२०         |
| लग्नादिभावसंज्ञा ...      | ५६८         | टिप्पण्यां विशेषः ...  | ६२०         |
| शुभाशुभफलम् ...           | ५६८         | योगाख्यो योगः ...      | ६२३         |
| तनुभावस्थग्रहफलम् ...     | ६००         | अधियोगः ...            | ६२४         |
| धनभावस्थग्रहफलम् ...      | ६००         | योगाधियोगः ...         | ६२५         |
| ३ भावस्थग्रहफलम् ...      | ६००         | विजयदशमी ...           | ६२७         |
| ४ भावस्थग्रहफलम् ...      | ६०१         | मनःशुद्धिप्रशंसा ...   | ६२७         |
| ५, ६, ७, ८, ९ भावफलम्     | ६०१         | निषिद्धनिमित्तानि ...  | ६२८         |
| १०, ११, १२ भावफलम्        | ६०२         | एकदिनसाध्यगमे विशेषः   | ६३०         |
| लग्नभङ्गे यात्रा न कार्या | ६०२         | प्रवेशकालः ...         | ६३०         |
| योगयात्रारम्भहेतुः        | ६०५         | त्रिनवमीदोषः ...       | ६३१         |
| द्विविधा यात्रा तद्विवेकः | ६०७         | यात्रादिनीयविधिः ...   | ६३२         |
| योगयात्रा ...             | ६०८         | नक्षत्रदोहदाः ...      | ६३३         |
| प्रकारान्तरेण योगयात्रा   | ६१०         | चित्राक्षलक्षणम् ...   | ६३५         |
| प्रकारान्तरेण योगयात्रा   | ६१०         | दिग्दोहदः ...          | ६३६         |
| योगयात्रालग्नम् ...       | ६११         | वारदोहदः ...           | "           |
| अन्यदपि " ...             | ६११         | तत्र मतान्तरम् ...     | "           |
| अन्यदपि योगयात्रालग्नम्   | ६१२         | तिथिदोहदः ...          | ६३७         |
| " "                       | ६१३         | तत्र भेदः ...          | ६३८         |
| " "                       | ६१३         | गमनसमयविधिः ...        | "           |
| " "                       | ६१४         | दिश्यमानानि ...        | ६३८         |
| " "                       | ६१४         | निर्गमस्थानानि ...     | "           |
| " "                       | ६१५         | प्रस्थानवस्तूनि ...    | ६४०         |
| " "                       | ६१५         | प्रस्थानपरिमाणम् ...   | ६४१         |
| शुभदा योगयात्रा ...       | ६१६         | मतान्तरेण "            | ६४१         |



| विषयाः                      | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                       | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|------------------------------|-------------|
| स्वयं प्रस्थाने गुणाः ...   | ६४२         | गृहप्रवेशीयमुद्धृतः ...      | ६६१         |
| वैयृत्यादिदोषे विशेषः ...   | ६४२         | त्रिविधप्रवेशलक्षणम् ...     | ६६१         |
| अधिकारिविशेषः ...           | ६४२         | वास्त्वर्चनभूतबलिकालः ...    | ६६२         |
| मैथुननिषेधः ...             | ६४३         | प्रवेशे नक्षत्राणि ...       | ६६२         |
| प्रस्थानदिने नियमाः ...     | ६४४         | प्रवेशप्रकारः ...            | ६६३         |
| प्रत्यागमने यात्राभंगः ...  | ६४४         | वामसूर्यज्ञानोपायः ...       | ६६४         |
| प्रस्थानकतुर्नियमः ...      | ६४४         | प्रागुक्ताः सर्वे दोषाः ...  | ६६४         |
| स्त्रीसेवने विशेषः ...      | ६४५         | कपाटकण्टकशूलौ ...            | ६६५         |
| अन्यनियमः ...               | ६४५         | अन्येऽपि दोषाः ...           | ६६५         |
| अन्येऽपि नियमाः ...         | ६४६         | लग्नदोषाः ...                | ६६६         |
| अकालवृष्टिदोषः ...          | ६४७         | प्रकरणोपसंहारः ...           | ६६७         |
| अकालवृष्ट्यन्तरम् ...       | ६४८         |                              |             |
| दुष्टशकुनारिष्टशान्तिः ...  | ६४९         |                              |             |
| मार्गमध्ये न दोषः ...       | ६५०         |                              |             |
| अकालवृष्ट्यादौ दानम् ...    | ६५०         |                              |             |
| तच्छान्तिः ...              | ६५०         |                              |             |
| दुष्टशकुने दानम् ...        | ६५१         |                              |             |
| शुभशकुनाः ...               | ६५१         |                              |             |
| शकुनप्रयोजनम् ...           | ६५३         |                              |             |
| अशुभशकुनाः ...              | ६५३         |                              |             |
| क्षुते फलानि ...            | ६५५         |                              |             |
| अन्यशकुनः ...               | ६५६         |                              |             |
| वामाङ्गभागेन शकुनः ...      | ६५७         |                              |             |
| दक्षिणभागेन शकुनः ...       | ६५७         |                              |             |
| दिक्परत्वेन शकुनः ...       | ६५८         |                              |             |
| प्रादक्षिण्येन शकुनः ...    | ६५८         |                              |             |
| दुःशकुननिन्दा ...           | ६५९         |                              |             |
| विरुद्धशकुने कर्तव्यम् ...  | ६५९         |                              |             |
| अपशकुने शान्तिः ...         | ६६०         |                              |             |
| निर्दोषयात् राज्ञः फलम् ... | ६६०         |                              |             |
|                             |             |                              |             |
|                             |             | १२ वास्तुप्रकरणे—            |             |
|                             |             | काकिणीविचारः ...             | ६६८         |
|                             |             | द्वारनिवेशनम् ...            | ६७०         |
|                             |             | निवासनिषिद्धस्थानम् ...      | ६७०         |
|                             |             | विस्तारायामौ ...             | ६७१         |
|                             |             | महागृहप्रमाणं ...            | ६७४         |
|                             |             | ध्वजादिका आयाः ...           | ६७५         |
|                             |             | द्वाराणि ...                 | ६७५         |
|                             |             | ब्राह्मणादिवेश्मद्वाराणि ... | ६७६         |
|                             |             | गृहारम्भे कालनिषेधः ...      | ६७७         |
|                             |             | चन्द्रार्द्रगृहर्तृफलानि ... | ६७७         |
|                             |             | सफलमंशज्ञानम् ...            | ६७९         |
|                             |             | शालाध्रुवाङ्गनयनम् ...       | ६७९         |
|                             |             | लग्नुगुरुस्वरूपे ...         | ६८०         |
|                             |             | ध्रुवादिनामाक्षरसंख्या ...   | ६८१         |
|                             |             | षोडश गृहनामानि ...           | ६८१         |
|                             |             | गृहस्यायादिनवकम् ...         | ६८२         |
|                             |             | आयादिफलानि ...               | ६८३         |



| विषयाः                  | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                       | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------|-------------|------------------------------|-------------|
| वृषवास्तुचक्रम्         | ... ६८५     | टीकायां विशेषः               | ... ७०६     |
| सूतिकागृहनिर्माणम्      | ... ६८७     | जीर्णगृहप्रवेशे विशेषः       | ... ७०६     |
| चान्द्रमासफलानि         | ... ६८७     | वास्तुपूजानक्षत्राणि         | ... ७११     |
| अन्येऽपि विशेषाः        | ... ६८८     | वास्तुपूजाप्रकारः            | ... ७११     |
| सौरचान्द्रयोरेकवाक्यता  | ६९०         | लग्नशुद्धिस्तिथिशुद्धिः      | ... ७१३     |
| तिथिवशेन द्वारनिषेधः... | ६९२         | टीकायां विशेषाः              | ... ७१३     |
| पञ्चाङ्गशुद्धिः         | ... ६९४     | वामार्कज्ञानम्               | ... ७१६     |
| शुभलग्नादयः             | ... ६९५     | पूर्वादिमुखगृहप्रवेशः        | ... ७१६     |
| सफलं राहुमुखम्          | ... ६९५     | वामार्कचक्रम्                | ... ७१७     |
| खातारम्भदिङ्निर्णयः     | ... ६९६     | कलशवास्तुचक्रम्              | ... ७१८     |
| वास्तुपुरुषः            | ... ६९६     | प्रवेशोत्तरकर्तव्यम्         | ... ७१८     |
| गृहकूपादिनिर्माणफलम्    | ... ६९७     | प्रकरणोपसंहारः               | ... ७२०     |
| उपकरणगृहाणि             | ... ६९८     | ग्रन्थकृद्वंशवर्णनम्         | ... ७२०     |
| गृहायुः                 | ... ६९९     | तत्पितामहवर्णनम्             | ... ७२१     |
| नियतायुर्दायः           | ... ६९९     | तत्पितुर्वर्णनम्             | ... ७२३     |
| लग्नायुतगृहयोगः         | ... ७००     | स्वनामपूर्वकं मङ्गलम्        | ... ७२४     |
| गृहस्थ परहस्तगत्वम्     | ... ७००     | ग्रन्थसमाप्तिः               | ... ७२५     |
| शुभफलयोगद्वयम्          | ... ७०१     | काशीक्षेत्रस्य मोक्षदत्वम्   | ७२५         |
| अन्यच्छुभयोगद्वयम्      | ... ७०२     | काश्यां दुर्मरणदोषाभावः      | ७२६         |
| अशुभफलदयोगः             | ... ७०२     | काश्यां साधनाभावेऽपि मुक्तिः | ७२७         |
| सफलं द्वारचक्रम्        | ... ७०३     | चतुर्विधमुक्तिप्राप्तिः      | ... ७२७     |
| प्रकरणोपसंहारः          | ... ७०५     | काश्यादिक्षेत्रपरिमाणानि     | ७२८         |
|                         |             | एतद्ग्रन्थोत्पत्तिकालः       | ... ७२९     |
|                         |             | टीकाकृद्वंशवर्णनम्           | ... ७२९     |
|                         |             | टीकोत्पत्तिकालः              | ... ७३०     |
|                         |             | विज्ञापनादि                  | ... ७३१     |

## १३ गृहप्रवेशप्रकरणे—

कालशुद्ध्यादिकम् ... ७०६

इति मुहूर्तचिन्तामणिस्थविषयानुक्रमणिका ।



गोविन्दविरचितपीयूषधाराख्यव्याख्यया सहितो

## मुहूर्तचिन्तामणिः ।

( युक्तिमञ्जरी-संज्ञटिप्पण्या समलङ्कृतः )

—○:○:○—

अथ शुभाशुभप्रकरणं प्रथमम् ।

दधानं भृङ्गालीमनिशममले गंडयुगले  
ददानं सर्वार्थान्निजचरणसेवासुकृतिने ।  
दयाधारं सारं निखिलनिगमानामनुदिनं  
गजास्यं स्मेरास्यं तमिह कलये चित्तनिलये ॥ १ ॥  
निपीतध्वांताय प्रसृमरकरायोग्रमहसे  
निकामं कामानां वितरणविनोदव्यसनिने ।  
समस्तप्रत्यूहप्रशमनकृते श्रोदिनकृते  
नमस्तस्मै यस्मै स्पृहयति समस्तांबुजननी ॥ २ ॥  
लसल्लक्ष्मीलीलावसतिरनिशं वेदविहित-  
स्फुरद्धर्माधारःश्रितसुखपयोदः प्रतिदिनम् ।  
अतीवप्रख्यातः स जयति गुणानां जन्तनभू-  
र्विदर्भाख्यो देशो हरिरिव सदानन्दजनकः ॥ ३ ॥  
तस्मिन्विदर्भविषये विषये वितृष्ण-  
श्चितामणिर्द्युमशिरेव बभूव मूर्तः ।  
जाग्रच्चतुर्मुखचतुर्मुखशायिविद्या-  
माद्यां प्रवर्तयितुमत्र पवित्रकीर्तिः ॥ ४ ॥  
वादैर्विजित्य धरणीतलमासमुद्-  
मुभिदूतर्कशतकर्कशबुद्धिसिद्धैः ।  
चत्वार ऊर्जितसमर्जितकीर्त्तिदंभ-  
स्तंभा विशासु रचिताः सकलासु येन ॥ ५ ॥  
ज्योतिर्विदुज्ज्वलयशो हरणाय किं वा



चन्दांशुनिर्मलकलाभरणाय किं वा ।

विद्यासरोरुहदृशः शरण्याय किं वा

श्रीमाननंत इति तत्तनयोऽजनिष्ट ॥ ६ ॥

तस्मात्पद्माख्यपत्न्यामतिविमलमती वाक्पती दिक्पतीना-  
माशाःकासारजामस्फुरदधिकयशो रश्मिभिर्व्याप्य भातौ ।

प्राभूतांतौ तनूजौ श्रुतिगणगदिताचारधारापवित्रौ

ज्येष्ठःश्रीनीलकण्ठस्तदनुगुणगणालंकृतो रामनामा ॥ ७ ॥

सीमा मीमांसकानां कृतसुकृतचयः कर्कशस्तर्कशास्त्रे

ज्योतिःशास्त्रे च गर्गःफलिपतिभणितिव्याकृतौ शेषनागः ।

पृथ्वीशाकब्धरस्य स्फुरदतुलसभामंडनं पंडितैर्दः

साक्षाच्छ्रीनीलकण्ठः समजनि जगतीमण्डले नीलकण्ठः ॥ ८ ॥

रामो हेरम्बभक्तेरधिगतविशदानेकविद्योऽनवद्यो

बुद्धिप्रद्योतमानो गणितगुणवतां मानवानां सुखाय ।

ग्रन्थैर्नानाप्रकारैरतिकठिनतरग्रन्थनक्रे विशाले

ज्योतिःशास्त्रार्णवे दाग्दृढतरमतुलं सेतुबंधं चकार ॥ ९ ॥

श्रुतिस्मृतिप्रोक्तसमस्तकर्मोपयुक्तमानंदितशिष्टलोकम् ।

मुहूर्तचिन्तामणिनामकं स ग्रन्थं व्यधाच्छ्रृंगपुरे स्वपद्यैः ॥ १० ॥

श्रीनीलकण्ठस्य बभूव पत्नी सा चन्दिकाख्योभयवंशभूषा ।

नारायणस्येव समुदकन्या शर्वस्य गौरीव विराजते या ॥ ११ ॥

तस्माद्द्वैवविदप्रगण्यतिलकाच्छ्रीनीलकण्ठात्तया

गोविंदाख्यसुतोऽजनि स्वगुरुतः संप्राप्तविद्यागणः ।

यःशास्त्रामृतसिधुबन्धुरवचोवीचीषु नित्योदितां

सानन्दं समवाप्य भूरि कृतवान् ग्रन्थे श्रमं ज्योतिषे ॥ १२ ॥

अनेकयुधमंडलीविरचितां हि टीकाकृतौ

निधाय हृदयेऽर्थनामिहमुहूर्तचिन्तामणः ।

निगूढतरतद्रतप्रचुरभावमात्मोक्तिभि-

बुंधा विवरणे करामलकमाशु कर्तुं यते ॥ १३ ॥

मुहूर्तचिन्तामणिदुग्धसिधुमामथ्य युक्तिव्रजमंदरेण ।

गोविंदसंज्ञस्तनुते सुखाय पीयूषधारां भुवि भूसुराणाम् ॥ १४ ॥

तत्रादितो गाणपतं प्रणम्य पादाब्जयुग्मं विदुषां सुतुष्ट्यै ।

शुभाशुभाध्यायभवां हि टीकां गोविंददैवज्ञ इमां करोति ॥ १५ ॥



अथ ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थांते च मङ्गलमाचरणीयमवश्यमिति शिष्टाचारः। उक्तं च महाभाष्ये—‘मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च’ इति। तच्च मङ्गलं त्रिविधम्—‘आशीरूपं नमस्काररूपं वस्तुनिर्देशरूपं च’ इति। उक्तं च दण्डिना काव्यादर्शे—‘आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्’ इति। वस्तुनिर्देशो नलादेर्महागजराजस्य सिद्धादिशब्दानां वा ग्रन्थादौ कथनम्। तत्र तावद्भाग्यमुनिवरवंशतिलकभैत्रावरुणालङ्कारविगन्तर्गतमातृपुरनिवासी सकलज्योतिर्विन्मुकुटरत्नचिंतामणिज्योतिर्वित्पुत्रानन्तज्योतिर्वित्पुत्रो नीलकरणज्योतिर्विदनुजो रामज्योतिर्विन्त्रिस्कन्धज्योतिःशास्त्रसरोजनिचयभास्करो ग्रन्थकृन्मुहूर्तचिंतामणिनामकं श्रौतस्मार्ताद्यनेककर्मापयिकं संहितास्कन्धान्तर्गतनानामुहूर्तसंग्रहरूपं ज्योतिषग्रन्थं चिकीर्षुर्नेकजन्मोपार्जितदुरितसम्भूतविघ्नध्वंसकामो निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तिप्रचयगमनार्थं विशिष्टशिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्तव्यताककर्माभिमतगणेशदेवताशीर्वादरूपं मङ्गलमिद्वज्राच्छन्दसोपनिबध्नाति—  
गौरीश्रवःकेतकपत्रभङ्ग(१)माकृष्य हस्तेन दधन्मुखाग्रे ।  
विघ्नं मुहूर्ताकलितद्वितीयदन्तप्ररोहो हरतु द्विपास्यः(२)॥

अथ टिप्पणीकृतां मङ्गलाचरणम्—

येनाकारि सुरारिवृन्दधिपिनं रोषानलैर्मस्मसाद्—

येनाधारि समस्तगोकुलजनत्राणाय गोवर्द्धनः ।

येनापारि च बल्लजीजनमनोवाञ्छा समस्ता पुरा

सद्योगीन्द्रशिरोलसत्पदयुगं तं कृष्णचन्द्रम्भजे ॥ १ ॥

ध्यात्वा गुरुपदाम्भोजं बालानाम्प्रतिपत्तये ।

करोम्यनूपनाभैतट्टिप्पणीं युक्तिमञ्जरीम् ॥ २ ॥

(१) अत्र ‘गौरीश्रवःकेतकपत्रभाग’—मिति पाठः समुचितरतदथ टीका विलोक्या ।

(२) अत्र प्रसङ्गादणेशस्य गजशिरःसंय्योजनहेतौ पौराणिकी संक्षिप्ता कथानुसन्धेया, यथा ब्रह्मवैवर्ते श्रीगणेशजन्मखण्डे—पार्वतीतनयस्य श्रीगणेशस्य जन्मोत्सवोपलक्ष्ये ह्याशीर्वादप्रदानार्थं सह सर्वदेवैः समागतः पटाच्छादितनेत्रः शनैश्चरः । दत्तश्च तेन श्रीमत्याः पार्वत्या अनुरोधेन



गौरीत्यादिना । द्विपास्यो विघ्नं हरत्वित्यन्वयः । युष्माकमित्यध्याहारः । द्विपस्य हस्तिन आस्यमिवास्यं मुखं यस्य स द्विपास्यो गणेशो युष्माकं विघ्नं हरतु निराकरोतु । 'आशिषि लिङ्लोटौ, इति लोट् । कीदृशो द्विपास्यः—गौरीश्रवःकेतकपत्रभंगं, गौरी पार्वती तस्याः श्रवसी कर्णौ तयोःस्थितं यत्केतकपत्रं केतकीवृक्षस्य पुष्पं केतकं तस्य पत्रस्य भङ्गोऽशस्तं हस्तेन शुण्डादण्डेन कृत्वा आकृष्य हठाद्गृहीत्वा मुखाग्रे स्वमुखोष्ठे दधाति भक्षणार्थं स्थापयतीति दधत्, अनेन बाललीला गणेशस्य सूचिता । बालो हि मातृसमीपवर्ति यत्किञ्चित्स्वेष्टं घस्तु बलात्कारेण गृहीत्वा मुखे निक्षिपति । अत एव कीदृशो गणेशः—मुहूर्तकलितद्वितीयदन्तप्ररोहः । मुहूर्तेन क्षणेनाकलितः धातूनामनेकार्थत्वात् अनुहृतो हस्तिद्वितीयदन्तसादृश्यं प्रापितो द्वितीयदन्तस्य प्ररोह उद्गमो येन सः । अनेनात्याश्चर्यं सूचितं भवति । तथाहि हस्तिनो दृश्यमाना द्विदन्ता एव गणेशस्त्वेकदन्त एवेति पुराणप्रसिद्धम् । केतकपत्रस्य मुखस्थापनसमये यावन्निगरणं करोति तावद्गणेशोऽपि द्विदन्त एवालोकितो लोकैः । अद्भुतोपमाख्योऽलङ्कारः । उक्तञ्च दरिडना काव्यादर्श—'यथाकथञ्चित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते । उपमानाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदृश्यते ॥ यदि किञ्चिद्भवेत्पद्मं सुष्ठु विभ्रान्तलोचनम् । तत्ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा ॥' इति श्लोकार्थो व्याख्यातः । अत्र गणेशस्य नमनादिरूपा पूजा ब्रह्मवैवर्तेऽभिहिता—'दुर्धिराजः प्रियः पुत्रो भवान्याः शंकरस्य च । तस्य पूजनमात्रेण त्रयोऽपि वरदाः सदा ॥' त्रयो ब्रह्मविष्णुशिवाः । 'गणेशः सर्वदेवानामादौ पूज्यःसदैव हि । सर्वैरपि महाविघ्ननाशकोऽन्यो न विद्यते ॥'

दृष्टिपटमुत्तार्य शुभाशोर्वाहः, फलतस्तत्क्षणमेव खरिडतो गलप्रदेशादूर्ध्वभागो गणेशस्य । एतच्छूनैश्चरस्य प्राक्तनकर्मविपाकात्स्वभावदौर्जन्यमेव, ये केचित्तद्दृष्टिपथवर्त्तिनो भवन्त्येव ते शिरोविहीना इति । ततो रहितमालं पतितमालं निजबालम्पश्यन्त्यातोवपुत्रजनितशोकमनुभावयन्त्या पार्वत्या श्रीमद्विष्णुसन्निधिः प्राप्तः, विचारितश्चातःपरं परं दुःखमसहिष्णुना विष्णुना यद्धुना यस्य कस्यापि शिरः समानीय संयोजनीयमासीच्च तत्र सन्निहित एव दन्तिशावक इति तस्यैव शिरश्छित्त्वा तत्र नियोजितमित्यलं पौराणिकानाम् ।



इति । शिष्टाचारोऽप्येतन्मूलक एव । यथा—‘सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः । लम्बोदरश्च विकटो धिघ्ननाशो विनायकः ॥ धूम्रकेतुर्गण-  
ध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः । द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि ॥  
विद्यारंभे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा । संग्रामे सङ्कटे चैव विघ्नस्तस्य  
न जायते ॥’ इति । गौरीति । ‘षिद्वौरादिभ्यश्च’ इति ङीष् । केतकं  
केतक्याः पुष्पम् । सञ्ज्ञेयमवयवार्थे । ‘अवयवे च प्राग्यौषधि-  
वृक्षेभ्यः’ इत्यण् । ‘पुष्पमूलेषु बहुलम्’ इति तस्य लुक् । दधत् दधाती-  
ति दधत् शतृप्रत्यये जौहोत्यादिकत्वाद्विकरणस्य शपः ऋसति ‘ऋौ’  
इति द्विवचने ‘उभे अभ्यस्तम्’ इत्यभ्यस्तसञ्ज्ञायां ‘आभ्यस्तयोरातः’  
इत्याकारलोपः । ततः ‘उगिदचां सर्वनामस्थाने चाधातोः’ इति प्राप्तस्य  
‘नाभ्यस्ताच्छतुः’ इति नुमोऽभावः । आकलितेति ‘निष्ठा’ इति बहुव्रीहौ  
निष्ठांतस्य पूर्वनिपातः । द्विपास्य इति द्वाभ्यां शुण्डादण्डमुखाभ्यां जलं  
पिबतीति द्विपः । ‘आतोनुपसर्गे कः’ । इति कः । ‘आतो लोप इटि च’  
इत्याकारलोपः । द्विपस्यास्यमिवास्यं यस्यासौ द्विपास्यः । ‘सप्तम्युप-  
मानपूर्वस्य वाच्यो वाचोत्तरपदलोपश्च’ इति बहुव्रीहिः समास उत्तर-  
पदलोपश्च । ‘हरतौ तु पाणिनक्षत्रे’ इति हस्तशब्दः पाणिनक्षत्रवाचक-  
स्तथाप्युपचाराद्धस्तिशुण्डायामपि वर्तते अत एव ‘हस्ताज्जातौ’ इति  
वदन्पाणिनिरनुकूलः । क्षीरस्वाम्यपि ‘वलिहस्तांशवः कराः’ इत्यस्य  
व्याख्याने ‘हस्तिशुण्डापि कर उपचारा-’दिति व्याचख्यौ । तद्वत्प्रस्तुतेपि  
‘हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरथोरपि’ इति विश्वप्रकाशे हस्तिशुण्डा-  
वाचकत्वमप्युक्तं हस्तशब्दस्य । अथात्र कवित्वे भंगशब्दोऽनु-  
चितस्तथाहि ‘लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म काव्यम्’ इति का-  
व्यलक्षणस्यात्र कवित्वे सत्त्वात् यस्मिन् कस्मिंश्चित्पद्ये भङ्गशब्दो-  
पादानमयुक्तम् । विशेषतो ग्रन्थारम्भभूते, कुतः—‘तददोषौ शब्दा-  
र्थौ सगुणावनलङ्घ्यौ पुनः क्वपि’ इति काव्यप्रकाशकारोक्तदोषरहि-  
तयोः शब्दार्थयोः काव्यता विधीयते । तत्र शब्ददोषप्रस्तावे काव्यप्रका-  
शकारेण दोषोल्लासे—‘दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृतमप्रयुक्तमसमर्थ-  
म् । निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधा ऋलीलम् ॥ सन्दिग्धम-  
प्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् । अविमृष्टविधेयांश्च विरुद्धमति-  
कृत्समासगतमेव ॥’ इति शब्ददोषा उक्ताः । तत्र भङ्गशब्देनासभ्यार्था-  
न्तरकत्वादश्लीलाख्यो दोषोऽभिहितो भवति । तल्लक्षणं वामनेनोक्तम्—



“असभ्यार्थान्तरमसभ्यार्थस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम्” । अस्यार्थः—यस्य पद-  
स्यानेकार्थस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात्तदसभ्यार्थान्तरम् । यथा वर्च इति पदं  
तेजसि पुरीषे च । यत्तु पदमेकदेशद्वारेणासभ्यमर्थं स्मारयति तदस-  
भ्यार्थस्मृतिहेतु । यथा कृकाटिकेति । एवं भङ्गशब्दोपि नानार्थः । तरङ्ग-  
रचनाशकलपराजयनाशादीनामर्थानां प्रकरणां विना स्फुरणादसभ्य-  
र्थान्तरस्य नाशस्य प्रतीतेरश्लीलत्वम् । काव्यप्रकाशेऽप्यश्लीलोदाहर-  
णम्—‘पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे । भवति  
सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ॥’ अत्र पितृवसतिशब्दे-  
न पितृवृंहमिति धिक्कृतम् । तत्र श्मशानार्थस्यापि प्रतीतेरश्लील-  
त्वादमङ्गलार्थत्वम् । कथं तर्हि—‘भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम्’ इति का-  
लिदासः । अत्र भङ्गशब्देन पराजयो धिक्कृत इत्यश्लीलत्वमिति चेत्स-  
त्यम् । तत्र हि युद्धप्रस्तावे स्वरूपान्वाख्यानाददोषः । प्रस्तुते ग्रन्थारम्भे  
प्रकरणमपि नास्त्यतो भङ्गशब्दपाठोऽनुचितः । तस्माद्गौरीश्वरः केतकप-  
त्रभागमिति पठन्ति तदेतत्सर्वं मत्सररहितैः सूरिभिर्धिवेचनीयम् ।

वर्णगणशुद्धिः—

अथ काव्यत्वादेव प्रसङ्गतो वर्णगणशुद्धिर्विचार्यते, तत्र श्लोकादाव-  
संयुक्तशुभाशुभफलद-ग-कारप्रक्षेपादस्ति वर्णशुद्धिः । तदुक्तम् भामहेन—  
“कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति च यशो ङस्तथा चः सुखं छः प्रीतिं जो  
भिन्नलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेददुःखे । डः शोभां ढो विशोभां  
भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धं दो धः सौख्यं मुदं नः सुख-  
भयमरणक्षेपदुःखं पवर्गः ॥ यो लक्ष्मी रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः  
सुखं षश्च खेदं सः सौख्यं हश्च खेदं व्यसनमथ च लः क्षः समृद्धिं  
करोति । संयुक्तश्च हे न स्यात्सुखमरणपदुर्वर्णधिन्यासयोगः पद्यादौ  
गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥” इति । तेन नायका-  
देः सुखं भवति । “अक्षरे परिशुद्धे तु नायको भूतिमृच्छति” इति वचना-  
त्प्रस्तुते ग्रन्थकर्तुरध्येतुरध्यापकस्य वा सुखं वाच्यम् । अथ गण-  
शुद्धिः । तत्रास्मिन् पद्ये इन्द्रवज्राच्छन्दः, तल्लक्षणं वृत्तरत्नाकरे प्रोक्तम्—  
“स्यादिद्वज्रा यदि तौ जगौ गः” इति । तत्र गणलक्षणमपि तेनैवो-  
क्तम्—“सर्वगुर्मां मुखांतर्लां यरावन्तगलौ सतौ । गमव्याद्यौज्ज्मौ त्रिलो-  
नोष्टौ भवन्त्यत्र गणास्त्रिकाः ॥” इति । एषां गणानां फलमन्यैरभ्यधात्रि-



‘मकारःश्चियं योतिवृद्धि र रोगं सकारश्च देशाटनन्दव्यहानिम् ।  
तकारो जकारो रुजं भश्च कीर्त्ति न आयुः प्रयच्छत्यजस्रज्जनानाम् ॥’  
इति वचनादिदं फलमध्यापकाध्येतृप्रभृतीनां ज्ञेयम् । एवं सति  
द्व्यहानिरूपफलदस्य तगणस्यादौ प्रयोगाद्दृष्टमिदं काव्यमिति चेत्स-  
त्यम् । ‘उमा कात्यायनी गौरी’ इति वचनाद्गौरीशब्दो देवतावाचकस्त-  
स्यादौ प्रयोगाद्दृष्टफलत्वं नास्त्येति समाधिः । यथोक्तम्—‘देवतावाच-  
का शब्दा ये च भदादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निद्याः स्युर्लिपितो गण-  
तोपि वा ॥’ इति । नन्वेवमपीद्व्यञ्जालक्षणासङ्गतिः । पादान्तस्थाक्षरस्य  
‘ह्रस्व’ लघु’ इति लघुसञ्ज्ञकत्वात् ‘संयोगे गुरु’ ‘दीर्घ’ च’  
इति विशेषलक्षणानाक्रांतत्वेन गुरुत्वायोगाच्च उच्यते । पादान्तस्थलस्य  
गोरपि वैकल्पिकगुरुत्वाददोषः । यथोक्तं वृत्तरत्नाकरे—‘सानुस्वारो  
विसर्गान्तो दीर्घो युक्तपरश्च सः । वा पदान्ते त्वसौ वक्रो ज्ञेयोऽन्यो  
मातृको लृजुः ॥’ इत्यलमतिप्रसङ्गेनेति शिवम् ॥ १ ॥

एवमादिपद्येनेष्टदेवताशीर्वादरूपमङ्गलमभिधायेदानीं ज्योतिषग्रन्थ-  
मारभमाणो रामज्योतिर्विद्विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणः सूचयन् कर्त-  
व्यमुपजातिकथा प्रतिजानीते—

क्रियाकलापप्रतिपत्तिहेतुं संक्षिप्तसारार्थविलासगर्भम् ।  
अनन्तदैवज्ञसुतः स रामो मुहूर्तचिन्तामणिमातनोति ॥ २ ॥

क्रियाकलापेति । सः प्रसिद्धो जगतीतलेऽनन्ताख्यो दैवज्ञो ज्योति-  
र्वित्तस्य सुतः पुत्रो रामो रामज्योतिर्वित् मुहूर्तचिन्तामणिं मुहूर्तानां  
दिनशुद्धिर्विशेषाणामथवा मुहूर्तशब्देन दिनस्य रात्रेर्वा पञ्चदशो विभा-  
ग उच्यते । उक्तं च रत्नमालायाम्—‘दिनस्य यः पञ्चदशो विभागो  
रात्रेस्तथा तद्धि मुहूर्तमानम्’ इति । तत्र लक्षणया मुहूर्तोपलक्षितः  
कालो मुहूर्तशब्देन विवक्ष्यते तस्य चिन्ता शुभाशुभरूपो विचारस्तस्य  
मणिरिव मुहूर्तचिन्तामणिः । यथा मणिर्हीरकादिः समस्तकांतोनामाधा-  
रस्तथायमपि ग्रन्थो निखिलमुहूर्तानामाधार इत्यन्वर्थनामानं लक्षणया  
मुहूर्तचिन्तामणिं ज्योतिषग्रन्थमातनोति । निषेधविध्यादिसंनिवेशविशे-  
षेण निरूपयतीत्यर्थः । ननु जीर्णा अपि मुहूर्तग्रन्थाः सन्ति तैरेव नि-  
खिलमुहूर्तविचारनिर्वाहे सिद्धे किमनेन जीर्णमुहूर्तग्रन्थानुवादभूतेनेत्यत



आह—कोटशम् मुहूर्तचिन्तामणिम्—क्रियाकलापप्रतिपत्तिहेतुं क्रिया  
जातकर्मनामकर्मादिकास्तासां कलापः समूहस्तस्य अमुकस्मिन् शुभ-  
दिने कार्यमेतस्मिन्नशुभदिने न कार्यमित्येवंरूपा प्रतिपत्तिः. सम्यग्ज्ञा-  
नम्, तस्य हेतुं कारणम् । अयमर्थः अन्येषु मुहूर्तग्रन्थेषु तिथिप्रक-  
रणे कर्मविशेषेषु शुभाशुभतिथयो निरूपिताः एवं वारप्रकरणे  
वारा एव, तथा नक्षत्रप्रकरणे नक्षत्राण्येव, योगप्रकरणे योगा एव,  
लग्नप्रकरणे लग्नान्येवाभिहितानि । एवं सत्यखिलप्रकरणानां पुनःपुन-  
रांदोलनेन मुहूर्तविचारः प्रसिध्येदिति गौरवमस्ति । अत्र त्वेकस्मिन्नेव  
पद्ये यो यो मुहूर्तां विचार्यते तस्य तस्य तत्रैव निर्वाह इति लाघवम् ।  
यथा—‘नवान्नं स्याच्चरक्षिप्रभृदुभे सत्तनौ शुभम् । विना नन्दाविषघटी-  
मधुपौषार्किभूमिजान् ।’ इत्यादि । केचित्तु क्रियाकलापप्रतिपत्तिहेतोरिति  
पञ्चम्यन्तपाठमाहुः । ननु मुहूर्ततत्त्वादावपि कचिदेवंविधमुहूर्तनिरूपणा-  
द्वयर्थोऽयं श्रम इत्यत आह—कोटशम् मुहूर्तचिन्तामणिं—सङ्क्षिप्तसारा-  
र्थविलासगर्भम्, सङ्क्षिप्तशब्दैः सारार्थो निष्कृष्टार्थस्तस्य विलासः प्रकाशः  
स गर्भो यस्यासौ, सङ्क्षिप्तश्चासौ सारार्थविलासगर्भश्च सङ्क्षिप्तसारार्थ-  
विलासगर्भस्तमिति कर्मधारयः । यद्यपीदानींतनग्रन्थेषु शब्दलाघवेना-  
र्थबाहुल्यमस्ति तथापि शब्दानां दुःखबोधार्थत्वाद्गुरुमुखादप्यध्ययने  
सति झटिति मनस्यर्थास्फुरणाच्चेत्यनुपादेयत्वम् । अत्र तु शब्दोपि-  
लाघवम्, तत्रापि निष्कृष्टस्याप्यर्थस्य तादृशशब्दैर्निरूपणाद्यथा गुरुमुखं  
विनैवार्थज्ञानं सद्यो मनसि जागर्ति तस्मिन्मनस्यनुपादेयत्वमस्य ग्रन्थ-  
स्य । ननु किमभिधेयार्थकमिदं शास्त्रं, प्रयोजनमपि किम् । ‘प्रयोज-  
नमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते’ इति न्यायात् । उक्तञ्च—‘सर्वस्यैव हि  
शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् । यावत्प्रयोजनं नोक्तन्तावत्तत्केन  
गृह्यते ॥’ अन्यच्च । ‘ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते । ग्रन्थादौ  
तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥’ इत्युच्यते । मुहूर्तचिन्तामणिमित्य-  
नेनैव पदेन सर्वं सूचितम् । तथाहि शुभाशुभप्रकरणनक्षत्रप्रकरणसंक्रांति-  
गोचरप्रकरणसंस्कारविवाहप्रकरणवधूपवेशाग्न्याधानराजाभिषेकयात्रा-  
प्रकरणगृहारम्भगृहप्रवेशमुहूर्तसमुदायाः संहितापदार्थाः प्रतिपाद्यत्वेन  
विषयभूताः । यद्यपि वसिष्ठादिभिः सूर्यचाराद्युत्पातादिकमपि संहिता-  
पदार्थेष्वभ्यधायि तथाप्यत्र तेषां मुहूर्तविचारोऽनुपयोगाद्ग्रन्थकृता नो-  
क्तमिति तात्पर्यम् । मुहूर्तानां प्रतिलक्षणं लौकिकविचारार्हत्वेन तद-



भिधानात् । अत्राभिधेयपदार्थानां मुहूर्तचिंतामणिनामग्रन्थस्य च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । प्रयोजनं शुभाशुभकथनम्, विवाहादिकालनिर्णयश्च । यदाह नारदः—‘प्रयोजनं तु जगतः शुभाशुभनिरूपणम्’ । कश्यपोऽपि—‘ग्रहणग्रहसंक्रान्तियज्ञाध्ययनकर्मणाम् । प्रयोजनं ततोद्वाहक्रियाणां कालनिर्णयः ॥’

तत्राधिकारिनिरूपणम्—

एतज्जिज्ञासुरधिकारी स च द्विज एव नान्यः । तदुक्तं नारदेनैव—‘सिद्धान्तसंहिताहोरावरूपस्कन्धत्रयात्मकम् । वेदरय निर्मलं चक्षुज्योतिःशास्त्रमकल्मषम् ॥ विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्म न सिध्यति । तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणो निर्मितम्पुरा ॥ अत एव द्विजैरेतदध्येतव्यं प्रयत्नतः ।’ इति । अत्रैवकारस्य पाठक्रमेण योजने प्रयोजनं विनैव ज्योतिःशास्त्राध्ययनस्यावश्यकत्वम्प्रतीयते । द्विजैरेवेति व्याख्याने द्विजव्यतिरिक्तैः शूद्रैर्नाध्येयमिति प्रतीयते । व्याख्याद्वयमपि युक्तमेव । द्विजाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः । उक्तञ्च काशीखण्डे—‘ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजाः स्मृताः । प्रथमं मातृतो जन्म द्वितीयं चोपनायनात् ॥’ इति । यत्तु वसिष्ठवचने—‘अध्येतव्यम्ब्राह्मणैरेव तस्माज्ज्योतिःशास्त्रम्पुण्यमेतद्रहस्यम् । एतद्बुद्ध्वा सम्यगाप्नोति नूनं धर्मं चार्थं मोक्षमन्यं यशश्च’ इति । श्रुतावपि—‘ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः पडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’ इति । ब्राह्मणग्रहणमध्यापनेत्यावश्यकत्वसूचनार्थम् । अत एव महाभारते—‘यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ । अध्यापनञ्चाध्ययनं ऋक्कर्मा ब्राह्मणः स्मृतः ॥’ इति । क्षत्रियः विशोःस्त्वध्ययने एवाधिकारो नाध्यापने । तदुक्तम्मुना—‘प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशेत् ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वाणिज्यञ्च कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिरेव च ॥’ इति अत्र प्रजारक्षणाद्युक्तेर्नाध्यापनाधिकारः । ननु कथं ज्योतिषं श्रौतस्मार्तकर्मौपयिकमिति चेदुच्यते—‘अष्टवर्षम्ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत’ तथा ‘वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत’ ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’ इत्यादिश्रुतयः सन्ति । तत्र वर्षज्ञानमादित्यादिग्रहचारपरिच्छेदसाध्यम्, तस्य वसन्ताद्यृतूनां च दर्शपूर्णमासयोश्च ज्ञानज्ज्योतिषं विना सर्वथैव न निर्वहतीत्यवश्यमध्येतव्यं



ज्यौतिःशास्त्रम् । उक्तञ्च वेदाङ्गज्यौतिषे—‘वेदा हि यज्ञार्थमभिप्र-  
वृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः । तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं  
यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥’ अत एव वेदस्य मुख्यमिदमङ्ग-  
ञ्चलरूपत्वात्तदप्युक्तं तत्रैव शिक्षायाम्—‘शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं  
व्याकरणां स्मृतम् । ज्यौतिषामयनञ्चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ छन्दः  
पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पः प्रचक्षते ।’ तथा—‘यथा शिक्षा मधूराणां  
नागानां मणयो यथा । तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्यौतिषं मूर्धनि स्थितम् ॥’  
इति । एवं मुख्यतायां सत्यां दृष्टान्तो वसिष्ठसिद्धान्ते—‘वेदस्य चक्षुः  
किल शास्त्रमेतत्प्रधानतांगेषु ततोर्थजाता । अङ्गयुतोऽन्यैः परिपूर्णमूर्ति-  
श्चक्षुर्विहीनः पुरुषो न किञ्चित् ॥’ तस्मात्कर्मोपयिक्तत्वादवश्यमध्येयं  
ज्यौतिःशास्त्रम् ।

एतच्च शिष्टशिष्येभ्य एव देयम्—

तत्राव्ययने समीचीनशिष्या एवाध्याय्या न कृतघ्नादयः । त-  
दुक्तं श्रुतौ—‘विद्या ह वै ब्राह्मणमाजंगम गोपाय मा शेवधिष्टे-  
हमस्मि । असूयकायानृजवे शठाय न भां ब्रूया धीर्यवती  
तथा स्याम् ॥’ इति । समरसारेऽपि—‘नैतद्देयं दुर्विनीताय जातु  
ज्ञानं गुन्तन्तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी  
कोपाग्निर्दहेन्नो चिराय ॥ विनयाधनताय दीयमाना प्रथवेत्कल्पलतेव स-  
त्फलाय । उपकृत्यनुचिन्तकानि शास्त्राण्युपकारस्य पदं हि साधुरेव ॥’  
इति । सिद्धान्तशिरोमणावपि—‘दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियं यदृषिभिर्ब्राह्मं वसि-  
ष्ठादिभिः पारम्पर्यवशाद्रहस्यमवनौ नीतम्प्रकाश्यन्ततः । नैतद्द्वेषिकृत-  
न्नदुर्जनदुराचाराचिरावासिनां स्यादायुःसुकृतक्षयो मुनिकृतां सोमामि-  
मामुज्झतः ॥’ इति ।

यतत्पठनपाठनादौ शूद्रस्य नाधिकारः—

एवं सत्यस्मिञ्ज्यौतिःशास्त्रे सर्वथा शूद्राणामनधिकारः । उक्त-  
ञ्च मनुना—‘एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुर्कर्म समादिशत् । ए-  
तेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥’ इति । नारदवाक्यन्तु प्रा-  
गेवाभिहितम् । तत्र यदि ब्राह्मणः शूद्रं लोभादिना पाठयति  
तस्माच्च पठति तदा महान् दोषः । यदाह गग—‘स्नेहाल्लोभाच्च



मोहाच्च यो विप्रोऽज्ञानतोपि वा । शूद्राणामुपदेशन्तु दद्यात्स नरकं  
ब्रजेत् ॥ अग्न्यो ददाति यः शूद्रे त्वेकं षोडशकमणाम् । अधो युगसह-  
स्रान्ते जायते श्वानयोनिषु ॥ सम्यगाचारयुक्तोऽपि यः शूद्रः संवशास्त्र-  
वित् । धर्जयेद्वचनन्तस्य कपालस्थोदकं यथा ॥' इति । कपालं म-  
नुष्यशिरोमध्यवर्त्यस्थि । 'भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितश्च यः ।  
तावुमौ पतितौ विप्रौ स्वाध्यायक्रयविक्रयात् ॥' इति सामान्यतो हेमाद्रौ  
देवलस्मरणाच्च ।

### ज्योतिर्विदो माहात्म्यम्—

अथैवंधिधस्य ज्योतिःशास्त्राध्येतुर्माहात्म्यमाह भारद्वाजः—'एवं  
धिधस्य श्रुतिनेत्रशास्त्रस्वरूपभर्तुः खलु दशनं वै । निहन्त्यशेषं कलुषं  
जनानां षडब्दजं धर्मसुखास्पदं स्यात् ॥' इति । अत्र ज्ञानधिशेषेण ज्यो-  
तिर्विदः पूज्यतातारतम्यं जीर्णैरभ्यधाति—'दशदिनकृतपापं हन्ति  
सिद्धांतवेत्ता त्रिदिनजनितदोषन्तन्त्रविज्ञः स एव । करणभगणवेत्ता  
हन्त्यहोरात्रदोषं जनयति घनमंहश्चात्र नक्षत्रसूची ॥' नक्षत्रसूची दैवज्ञो  
घनं बहु अहः पापं जनयति । तल्लक्षणं वराहसंहितायाम्—'अवि-  
दित्वैव यः शास्त्रं दैवज्ञत्वम्प्रपद्यते । स पंक्तिदूषकः पापो ज्ञेयो नक्षत्रसू-  
चकः ॥' अन्यच्च—'तिथ्युत्पत्तिं न जानन्ति ग्रहाणां नैव साधनम् ।  
परवाक्येन वर्तते ते धै नक्षत्रसूचकाः ॥' इति । व्युत्पत्तिस्तु गृहे गृहे  
गत्वाऽपृष्ट एव नक्षत्राण्यभिव्यादीनि शुभाशुभफलसूचकानि सूचय-  
तीति नक्षत्रसूची । वराहः—'नक्षत्रसूचकोद्दिष्टमुपवासं करोति यः ।  
स व्रजत्यन्धतामिस्रं सार्धमृक्षविडंविना ॥ नक्षत्रसूचकम्पापं मिष-  
जं शुल्कजीविनम् । तादृक्पौराणिकादींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥'  
अत एव वसिष्ठः—'त्रिस्कन्धपारङ्गम एव पूज्यः श्राद्धे सदा भुसुरवृ-  
न्दमध्ये । नक्षत्रसूची खलु पापरूपो हेयः सदा सर्वसुधर्मकृत्ये ॥' वरा-  
होपि—'ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव कृत्स्नज्ञानाति यो द्विजः । अग्रभुक् स  
भवेच्छ्राद्धे पूजितः पंक्तिपावनः । नासांबत्सरिके देशे वस्तव्यमूति-  
मिच्छता । चक्षुर्भूतोपि यत्रैव पापन्तत्र न विद्यते ॥ मुहूर्तं तिथिन-  
क्षत्रमृतवश्चायनानि च । सर्वाण्येवाकुलानि स्थुर्न स्यात्सांबत्सरो यदि ॥'  
अत एव यद्वर्मशास्त्रे सुमन्तुः—'तस्करकितवेत्यादिना महता गद्येन सां-  
वत्सरिकोपांकेय इत्याह । महाभारतेपि—'कितवो ब्रूणहा यक्ष्मी इत्या-



दिपद्यपदकमध्ये । 'कुशीलवो देवलको नक्षत्रैर्यश्च जीवति । एतानिह विजानीयाद् ब्राह्मणान् पंक्तिदूषकान् ॥' इत्युक्तन्तन्नक्षत्रसूचकज्योति-  
र्धिद्विषयम् । यदाह कश्यपः—'दारत्विकभ्रूणहन्तुं श्र व्यङ्गान्नक्षत्रसूच-  
कान् । वर्जयेद् ब्राह्मणानेतान् सर्वकर्मसु यत्नतः ॥' इति । 'नक्षत्रसू-  
चकश्चैव पर्वकारश्च गर्हितः' इति ब्रह्मपुराणेऽप्युक्तम् । अपृष्ट इति  
वाक्यशेषोऽत्राध्याहार्यः । अत एव मनुः—'तिथि पक्षस्य न ब्रूयान्न  
नक्षत्राणि निर्दिशेत्' इत्याहस्म । यमोऽपि—'नक्षत्रतिथिपुरयाहान्मुह-  
र्तान्मङ्गलानि च । न निर्दिशन्ति ये विप्रास्तैर्भुक्त' ह्यन्यम्भवेत्'  
इति । वसिष्ठवाक्यन्तु प्रागभिहितम् ।

ज्योतिःशास्त्राध्ययनस्य मोक्ष एव मुख्यफलम्—

महोपयोगजनन्वेतच्छास्त्रस्य सम्यग्ज्ञानाद्ब्रह्मसायुज्यमिति । तदुक्तं  
गंगण—'ज्योतिश्चक्रे तु लोकस्य सर्वस्योक्तं शुभाशुभम् । ज्योतिर्ज्ञानञ्च  
योवेदं स याति परमां गतिम् ॥' परमां गतिं ब्रह्मसायुज्यमिति सूर्यसिं-  
द्धान्तेऽपि—'दिव्यञ्चतुर्ग्रहर्क्षाणां दर्शितं ज्ञानमुत्तमम् । विज्ञायार्कादिलो-  
केषु स्थानमाप्नोति शाश्वतम् ॥' वराहसंहितायामपि—'न सांवत्सर-  
पाठो च नरके परिपश्यते । ब्रह्मलोकम्प्रतिष्ठां च लभते दैवचितकः ॥'  
इति सांवत्सरं वर्षमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सांवत्सरः । 'अधिकृत्य कृतं  
ग्रन्थे' इत्यण् । आदिवृद्धिः । तं पठितुं शीलमस्य स सांवत्सरपाठो  
ज्योतिर्विदुच्यते । वसिष्ठेन त्वैहिकामुष्मिकरूपमर्फलद्वयमप्युक्तम्प्रा-  
क्—'एतद्बुद्ध्यां सम्यग्गामोति नूनं धर्मं चार्थं मोक्षमग्न्यं यशश्च ॥'  
इति । तस्माज्ज्योतिःशास्त्रमवश्यमध्येतव्यमिति स्थितम् । ननु ज्योतिः-  
शास्त्राध्ययनं न्यायशास्त्रादिवर्तिकं वादमात्रफलम्, उत चिकित्साशास्त्र-  
वत्प्रत्यक्षदृश्यफलम्, उच्यते । 'दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पना न न्यायेति'  
दृष्टार्थाताप्यस्य शास्त्रस्य । वादरूपं तु फलं सर्वेष्वपि शास्त्रेषु  
तुल्यम् । उक्तं च—'अन्यानि शास्त्राणि विमोदमात्रं न कि-  
ञ्चिदेषां तु विशिष्टमस्ति । चिकित्सितज्योतिषमन्त्रवादाः पदे पदे  
प्रत्ययमावहन्ति ॥' प्रत्ययं विश्वासं संवादरूपं ।

अत्र बहूनि प्रत्यक्षफलोनि—

नन्वस्मिन् शास्त्रे के वा प्रत्यया इति चेत्पृच्छसि तर्हि शृणु ।



सूर्यचन्द्रयोर्ग्रहणं जर्गतीतले आबालवृद्धेभ्यो महान् प्रत्ययः ।  
 उक्तञ्च—‘अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तेषु केवलम् ॥ प्रत्यक्षां ज्योतिषं  
 शास्त्रञ्चन्द्राकौ यत्र साक्षिणौ’ ॥ अथान्येपि प्रत्ययाः—चन्द्रशृङ्गोन्न-  
 तिर्ग्रहयुतिश्च सूर्यादीनां ग्रहाणां छायांगणिततागता । यद्यपि भौमा-  
 दीनां छाया दृग्गोचरा नास्ति तथापि नलिकादियन्त्रवेधेन यस्मिन्समये  
 सुषिरमध्ये ग्रहा आगच्छन्ति तत्समयसंवादादार्थापत्तिप्रमाणसिद्धा छा-  
 यापि प्रत्ययः । शुक्रस्य तु महामण्डलत्वे छाया दृग्गोचरापि भवति ।  
 ग्रहाणां चन्द्रादीनां द्विविधा अप्यस्तोदयाः एके सूर्यासन्नवशेन, अपरे  
 प्रत्यहं क्षितिजसम्बन्धवशात्, ततोऽपि सूर्यासन्नवशतो भौमगुरुशनीनां  
 प्राच्यामेवोदयः प्रतीच्यामेवास्तः (१) । बुधशुक्रयोस्त्रनियतः (२) । क्षितिजस-  
 म्बन्धवशेन तु सर्वेषामपि सूर्यादीनां प्राच्यामेवोदयः प्रतीच्यामेवास्तः ।  
 अथायुर्दायस्थेयत्ता—यात्रायां शुभशकुने शुभफलमशुभशकुनेऽशुभफलम् ।  
 यज्ञोपवीतविवाहादिमङ्गलकृत्येषु शुभलग्नानुष्ठितेषूक्तफलावाप्तिः । यत्र क-  
 चिद्व्यभिचारः स जन्मकालीनसदसद्ग्रहवशेन एवमादयोऽपि प्रत्यया  
 ऊह्याः । सर्वेषामपि शास्त्राणामध्ययने भोज्याद्यदृष्टरूपं फलन्तु वाचनिक-  
 मेव तदस्मिन्नपि शास्त्रे तुल्यमित्यलमतिप्रसक्तानुप्रसक्तेनेति शिवम् ॥ २ ॥

(१) अत्र युक्तिः—भौमशनिगुरवो हि सूर्यापेक्षया मन्दगतिंकास्ते-  
 षामन्यतमो यो ग्रहो दिनकरकरनिकटतयाऽदृश्यतां गतः स पुरतो  
 गच्छत्यर्के मन्दगतिवत्पाटुष्ठत एवं विलम्बितोऽवश्यं सूर्योदयात्प्रागेव  
 प्राच्यामुदितो भवति । अथास्तपरिज्ञाने, यो मन्दगतिर्ग्रहो भुक्तावयवेन  
 रवेरधिक आसीदसौ मन्दगतिवत्वाच्छीघ्रतयैव रवेरासन्नतामाप्नोति ।  
 ततस्तत्करनिकरावगुण्ठितः प्रतीच्यामेवास्तं यातीति सिद्धान्तविदाम-  
 तिरोहितम् । अत एव भास्करः—“रवेरुनमुक्तिर्ग्रहः प्रागुदेति प्रती-  
 च्यामसावस्तमेति .....” ।

(२) यथा सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्यः—

“शुक्रावृजु प्रत्यगुद्गम्य वक्रां

गतिम्याप्य तत्रैव यातः प्रतिष्ठाम् ।

ततः प्राक् समुद्गम्य वक्रावृजुत्वं

समासाद्य तत्रैव चास्तं व्रजेताम् ॥”



अथ मुहूर्तचिन्तामणिनामकग्रन्थप्रकरणप्रतिज्ञासमिधायेदानीं सामान्यतो मुहूर्तविचारार्थमुत्सर्गापवादरूपा गुणा दोषाश्च तावद्वक्तव्यास्तेषां च तिथ्याद्यधीनत्वादादौ तिथयो वक्तव्यास्तासां तु लोकप्रसिद्धत्वादेवावक्तव्यतायां सिद्धायां तत्स्वामिन एवानुष्टुप्छन्दसामिदधाति—

तिथीशा वह्निकौ(१)गौरी गणेशोऽहिर्गुहो रविः ।

शिवो दुर्गान्तको विश्वे हरिः कामः शिवः शशी ॥३॥

तिथीशा इति । एते पञ्चदशतिथीनां क्रमणेशाःस्वामिनस्तानाह— वह्निकावित्यादि । वह्निश्च कश्च वह्निकौ वह्निः अग्निः, को ब्रह्मा अत्र 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् न भवति । एकहविर्भावत्वेन प्रसिद्धसाहचर्याभावात् । नन्वेवं 'अल्पात्तरं पूर्वम्' इति द्वन्द्वे कश्चब्दस्य पूर्वनिपातप्राप्तिः । 'डसिडयोःस्मात्स्मिनौ' । इति ज्ञापकेन पूर्वनिपातप्रकरणमनित्यमित्यनित्यत्वात्क्रमस्य विवक्षितत्वाच्च न भवति । एवं सति प्रतिपदो वह्निर्द्वितीयाया ब्रह्मा स्वामीत्ययमर्थः सिद्धो भवति । अथ वा 'तिथीशोऽग्निर्विधिर्गौरी' इत्यसन्देहार्थमेवम्पठितव्यम्, 'ईश ऐश्वर्ये' इति धातुःकर्त्रर्थक्रियन्तस्तस्माद्वहुवचनं जस् । ईशते इतीशास्तिथीनामीशास्तिथीशास्तिथिस्वामिन इत्यर्थः । अथ वा 'तिथीशा रो विधिर्गौरी' इति व्यक्तं पठनीयम् । ईशशब्दोऽकारान्तः । र-शब्देनाग्निरुच्यते 'रःपावके च तीक्ष्णशौ' इति विश्वः । 'रश्च कालोऽनले सूर्ये' इत्येकाक्षरनिघण्टुः । रोऽग्निः, विधिर्ब्रह्मा, गौरी पार्वती, गणेशः प्रसिद्धः, अहिः सर्पः, गुहःस्वामिकार्तिकेयः, रविः सूर्यः, शिवो महादेवः, दुर्गा जगद्धा, अन्तको यमः, विश्वे विश्वेदेवाः, हरिर्विष्णुः, कामो मदनः, शिवः स एव, शशी चन्द्रः । तदाह वसिष्ठः—'वह्निर्विधाताद्विमुता गणेशः सर्पो विशाखाऽदितिर्जो महेशः । दुर्गा यमो विश्वहरी च कामः शर्वो निशेशश्च पुराणदृष्टाः ॥' इति स्वामिन इति शेषः । प्रयोजनन्तु तत्र देवताप्रतिष्ठापूजादि(२) । तथा च वराहसंहितायामुक्तम्—'यत्कार्यं नक्षत्रे

(१) 'तिथीशोऽग्निर्विधिर्गौरी'—'ति वा पाठो विवादरहितः ।

(२) यस्यास्तिथेर्यः स्वामी स तस्याम्पूज्यो विशेषतश्चाभीष्टफलप्रदोऽस एव 'गणेशचतुर्थी'—'नागपञ्चमी'—त्यादितिथयो लोके नितराम्प्रसिद्धा इति ।



तद्वैवत्यासु तिथिषु तत्कार्यम् । करणमुद्धर्तुं च तत्सिद्धिकरं देव-  
तानां च ॥' इति । नारदोऽप्याह—'यदिनं यस्य देवस्य तद्दिने तस्य संस्थि-  
तिः' । अग्निपुराणेऽपि—'प्रतिपद्यग्निपूजा स्याद् द्वितीयायां च वेधसः । द-  
शम्यामन्तकस्यापि षष्ठ्यां पूजा गुह्यस्य च ॥ चतुर्थ्यां गणनाथस्य गौर्या-  
स्तत्पूर्ववासरे । सरस्वत्या नवम्यां च सप्तम्यां भास्करस्य च ॥ अष्टम्यां  
च चतुर्दश्यामेकादश्यां शिवस्य च । द्वादश्यां च त्रयोदश्यां हरेश्च मदनस्य  
च ॥ शेषादीनां फणीशानां पञ्चम्यां पूजनम्भवेत् । पर्वणीदोस्तिथि-  
ष्वामु पक्षद्वयगतास्वपि ॥' इति । रत्नमालायामपि—'अथामरस्थाप-  
नमुत्तरायणे स्वदेववारर्चातिथिक्लृणादिषु' इति । अथ प्रत्येकन्तिथि-  
कृत्यानि ग्रन्थकृदनुक्तान्यन्यस्माभिलिख्यन्ते लोकोपयोगित्वात् । ता-  
न्याह वसिष्ठः—

'नोद्वाहयात्रोपनयप्रतिष्ठां सीमन्तचौलाखिलवास्तुकर्म ।  
गृहप्रवेशाखिलमङ्गलाद्यं कार्यं हि मासाद्यतिथौ(?) कदाचित् ॥ १ ॥  
सप्ताङ्गचिह्नानि नृपस्य वास्तुव्रतप्रतिष्ठाखिलमङ्गलानि ।  
यात्राविधाहाखिलभूषणाद्यं कार्यं द्वितीयादिवसे सदैव ॥ २ ॥  
सङ्गीतविद्याखिलशिल्पकर्मसीमन्तचौलान्नगृहप्रवेशम् ।  
कार्यं द्वितीयादिवसे यदुक्तं सदा तृतीयादिवसेऽपि कार्यम् ॥ ३ ॥  
रिक्तासु(२) विद्युद्वधवन्धशस्त्रविषाग्निघातादि च याति सिद्धिम् ।  
यन्मङ्गलान्तासु कृतं त्रिमूर्धैर्विनाशमायाति तदाशु नूनम् ॥ ४ ॥  
शुभानि कार्याणि चरस्थिराणि चोक्तान्यनुक्तान्यपि यानि तानि ।  
सिद्धिं प्रयांत्याशु ऋणप्रदानं विनाशदं नागतिथौ विधेयम् ॥ ५ ॥  
अभ्यङ्गयात्रापितृकर्मदन्तकाष्टं विना पौष्टिकमङ्गलानि ।  
षष्ठ्यां विधेयानि रणोपयोगिशिल्पानि वास्त्वम्बरभूषणानि ॥ ६ ॥  
द्वितीयायां तृतीयायां पञ्चम्यां कथितान्यपि ।  
तानि सिध्यन्ति कार्याणि सप्तम्यां निखिलान्यपि ॥ ७ ॥

(१) मासाद्यतिथौ शुक्लपक्षप्रतिपदि अत एव कृष्णपक्षप्रतिपद्येतानि  
कर्माणि सुखेन भवन्तीत्यर्थः । यद्येषोऽभिप्रायोऽसम्मतः स्यात्तदा "पक्षा-  
द्यतिथौ" एवं योज्यम् ।

(२) रिक्तासु चतुर्थीनवमीवतुर्दशीषु ४, ६, १४ ।



संग्रामयोग्याखिलवास्तुशिल्पनृपप्रमोदाखिललेखनानि ।  
 स्त्रीरत्नकार्याखिलभूषणानि कार्याणि कार्याणि महेशतिथ्याम् ॥ ८ ॥  
 द्वितीयायां तृतीयायां पञ्चम्यां सप्तमीतिथौ ।  
 उक्तानि यानि सिद्ध्यन्ति दशम्यां तानि सर्वदा ॥ ९ ॥  
 व्रतोपवासाखिलधर्मकृत्यं सुरेत्सवाद्याखिलवास्तुकर्म ।  
 संग्रामयोग्याखिलवास्तुकर्म विश्वे तिथौ सिद्ध्यति शिल्पकर्म ॥ १० ॥  
 पृथिव्यां यानि कर्माणि धर्मपुष्टिशुभानि च ।  
 चरस्थिराणि द्वादश्यां यात्रां नवगृहं विना ॥ ११ ॥  
 विधातृगौरीभुजगभान्वन्तकदिवेषु च ।  
 उक्तानि तानि सिद्ध्यन्ति त्रयोदश्यां विशेषतः ॥ १२ ॥  
 यज्ञक्रियापौष्टिकमङ्गलोनि संग्रामयोग्याखिलवास्तुकर्म ।  
 उद्वाहशिल्पाखिलभूषणाद्यं कार्यं प्रतिष्ठा खलु पौर्णमास्याम् ॥ १३ ॥  
 सदैव दर्शं पितृकर्म उक्त्वा नान्यद्विधेयं शुभपौष्टिकाद्यम् ।  
 मूढैः कृतं तत्र शुभोत्सवाद्यं विनाशमायात्यचिराद्भृशन्तत् ॥ १४ ॥

शुभाशुभप्रकरणारम्भे कारणम्—

ननु रत्नमालादिग्रन्थेष्वदौ संवत्सरप्रकरणमुक्तम् । तदत्र  
 किमुपेक्षितमिति चेत् । उच्यते । मुहूर्तचिन्तामणिरिति नामधेयान्मुहूर्त-  
 ता एवात्रोच्यन्ते । ते तु प्रतिक्षणविचारार्हास्तत्र संवत्सराणां वर्षव्या-  
 पित्वात्सदसत्फलोक्तावपि विवाहादिकृत्यानि भवन्त्येव । कुतः यथा—  
 सिंहराशिस्थितगुरुशुक्रास्तादिषु विवाहादिविशेषकृत्यानां प्रतिषेधः  
 सत्त्वात् । तथा संवत्सरसदसत्फलेषु नेति । किं च सिंहस्थगुरौ  
 शुक्रास्तादावपि नित्यानां वस्त्रपरिधानादीनां नैमित्तिकानां च पुंसवन-  
 जातकर्मनामकर्मन्निप्राशनादिकर्मणां विहितत्वान्मुहूर्तविचारोऽस्त्येव-  
 त्यतोऽकथनं संवत्सरप्रकरणस्य । अमुमेवाशयमनस्यभिसन्धाय  
 मुहूर्तग्रन्थं परित्यज्य स्थलान्तरे गुरुचारे वसिष्ठेन फलमुक्तम् ॥ ३ ॥

अथ तिथीनां नन्दादिसञ्ज्ञाः सफला उपजातिकयाह—

नन्दा च भद्रा च जया च रिक्ता  
 पूर्णंति तिथयोऽशुभमध्यशस्ताः ।



सितेऽसिते शस्तसमाधमाः स्युः

सितज्ञभौमार्किगुरौ(१) च सिद्धाः ॥ ४ ॥

नन्दा चेति । नन्दाभद्राजयारिकापूर्णासञ्ज्ञाः प्रतिपदादिपञ्च  
तिथयः स्वनामसदृशफलदाः स्युरित्येवं प्रकारेण सर्वाः षष्ठ्यादय एका-  
दश्यादयश्च तिथयो ज्ञेयाः । ताः सिते शुक्लपक्षे अशुभमध्यशुभफलदाः  
स्युः । असिते कृष्णपक्षे शुभमध्यमाधमफलदाः स्युः । यदाह नारदः—  
'नन्दाभद्राजयारिकापूर्णाः स्युस्तिथयः पुनः । पर्यायत्वेन विज्ञेया नेष्ट-  
मध्येष्टदाः सिते ॥ कृष्णपक्षेपीष्टमध्यनेष्टदाः क्रमशः स्मृताः' इति ।  
अनिष्टमिति वक्तव्ये नेष्ट इति प्रयोगो निषेधवाचकम्, नशब्दमाश्रित्य  
नैकधेत्यादिवत्साध्यः । अथ मूले अशुभमध्यशस्ता इति कथं प्रयोगः ।  
यावता 'तिथयो द्वयोः' इत्यभिधानात्स्त्रीपुंसयोरस्ति तिथिशब्दस्तथापि  
तिथ्य इति । 'कृदिकारादकिनः' इति कृतडीषस्तिथीशब्दस्य स्त्रीलिङ्ग एव  
वृत्तिः । ततस्तिथ्य इति बहुवचनान्तस्याशुभमध्यशस्ता इति विशेषणे अ-  
शुभाश्च मध्याश्च शस्ताश्चेति द्वन्द्वे 'स्त्रियाः पुंवत्' इति वा "पुंवत् कर्म-  
धारयः" इति वा समानाधिकरणोत्तरपदाभावात्पुंवद्भावाभावे चिन्त्यता-  
प्रसक्तेः । एवं चेत्कथन्तर्हि रत्नमालायाम्—'कनिष्ठमध्येष्टफलश्च शुक्लः'  
इति । यावता कनिष्ठाश्च मध्याश्चेष्टफलाश्चेति द्वन्द्वोपि । 'नन्दा च भद्रा  
च जया च रिक्ता पूर्णेति सर्वास्तिथयः क्रमात्स्युः' इति सर्वापदविशेषण-  
सामर्थ्यात्स्त्रीलिङ्ग एवेत्युक्ते दोषप्रसङ्गः । मैवं वोचः । नात्र द्वन्द्वः ।  
किं तर्हि कनिष्ठं च मध्यं चेष्टश्च कनिष्ठमध्येष्टानि तादृशानि  
फलानि यासां ता इति द्वन्द्वगर्भबहुव्रीह्याश्रयणादुक्तदोषाप्रसङ्गः । ननु  
यद्यप्येवमत्र समाहितन्तथापि—'कृष्णे भवन्त्युत्तममध्यहीनाः' इति  
त्रतुर्थचरणे कथं समाधिः । यतः फलपदाश्रवणाद्द्वन्द्वगर्भबहुव्रीह्य-  
भावाच्छुद्धो द्वन्द्व एव समासः । सर्वापदसमभिव्याहृतस्तिथिशब्दोपि  
स्त्रीलिङ्ग एवेत्युक्तो दोषो वज्रायितः । उच्यते । तथा 'द्वयो कयोर्द्विवचनै-

(१) प्रमादजनितोऽयम्पाठः प्रतिभाति, यतः सितश्च ज्ञश्च भौमश्च  
आर्किश्च गुरुश्चेत्येषां समाहारे हरिहरगुरुवन्नपुंसकत्वे 'सितज्ञभौमा-  
र्किगुरुः' तस्मिन्निति सप्तम्येकवचने 'सितज्ञभौमार्किगुरुणि' भवितुमर्हति  
किन्त्वह कथमीदृक्प्रयोगः श्रीमता रामेण रक्षित इति विभावयन्तु तज्ज्ञाः ।



कवचने' इति पाणिनिसूत्रस्थे द्वये कयोरिति पदे संख्यावाचिनोद्वयैक-  
शब्दयोर्द्वे बहुवचनप्रसङ्गोऽतो भावप्रधानो निर्देश इत्यभियुक्तस्मर-  
णात् । बहुधा काव्येषु दृष्टत्वाच्चाशुभमध्यशस्ता इत्येवमादीनां शब्दानां  
भावप्रधानत्वादशुभत्वमध्यत्वशस्तत्वाभिधानात्तादृशानां शब्दानां द्वन्द्वं  
विधायशुभमध्यशस्तानि विद्यन्ते यासां ता इति बहुव्रीहिणा सिद्धि-  
मिष्टम् । बहुव्रीहिणा गतार्थत्वान्मतुप् न भवति । 'उक्तार्थानामप्र-  
योगः' इत्युक्तेः । अथ वा 'तुष्यतु दुर्जनः' इति न्यायमाश्रि-  
त्य मतुपो बाधकः 'अशंआदिभ्योऽच्' इत्यर्श आदेराकृतिगणत्वा-  
न्मत्वर्थे चकारार्थः । एतच्च समाधानम्, शस्तसमाधमा इत्यत्रापि द्रष्ट-  
व्यम् । एवञ्च सति 'कृष्णे भवन्त्युत्तममध्यहीनाः' इत्यपि सिद्धम् ।  
अत एव नैषधीये सप्तमसर्गे—'येयम्भवद्भाविपुरन्ध्रिस्पृष्टिः' इति प्रयु-  
क्तम् । तथा 'दुतमध्यविलम्बितासु वृत्तिषु' इति महाभाष्यकारो जगाद  
अतोऽनेनैवाशयेन—'उभयेऽधममध्यमपूजिता द्रेष्कारौश्चरभेषु चोत्क-  
मात् । अशुभेष्टसमाः स्थिरे क्रमाद्धोरायाः परिकल्पिता दशा ॥' इति  
वराहमिहिरोऽपि प्रायुङ्क्त । तथा—'सूर्यसूनुदिवसे स्थिरप्रदम्' इति  
वसिष्ठोऽपि प्रायुङ्क्त । स्थिरप्रदमित्यत्र स्थैर्यप्रदमित्यर्थो विवक्षित  
इत्यलमतिप्रसंगेन । अथ चतुर्थचरणेन सिद्धियोगानाह—सितेति ।  
ताः कृतसञ्ज्ञा नन्दादितिथयः शुक्रबुधमङ्गलशनिगुरुवारेषु सिद्धाः  
सिद्धिकराः स्युः । यथा नन्दा शुके सिद्धियोगः, एवं भद्रा बुधे,  
जया भौमे, रिक्ता शनौ, पूर्णा गुरौ । यदाह कश्यपः—'नन्दा तिथिः  
शुक्रवारे सौम्ये भद्रा कुजे जया । रिक्ता मन्दे गुरोर्वारे पूर्णा सिद्धा-  
ह्या तिथिः ॥' इति । वसिष्ठोऽपि—'शुक्रश्चगुरुमन्देज्यवारा नन्दादिषु क्र-  
मात् । सिद्धा तिथिः सिद्धिदा स्यात्सर्वकार्येषु सर्वदा ॥' इति । अस्याः  
फलस्तुतिमाह वसिष्ठ एव—'सिद्धा तिथिर्हति समस्तदोषान्यान्मास-  
शन्यानपि मासदग्धान् । दिनप्रदग्धानपि चान्यदोषानेकादशी यद्वदर्श-  
षपापान् ॥' इति ॥ ४ ॥

अथ रव्यादिवारेषु यथाक्रमं निषिद्धतिथीन्निषिद्धनक्षत्राणि च  
शालिन्याह—

नन्दा भद्रा नन्दिकाख्या जया च  
रिक्ता भद्रा चैव पूर्णा मृतार्कात् ।



याम्यं त्वाष्ट्रं वैश्वदेवं धनिष्ठा-

र्यम्णं ज्येष्ठान्त्यं रवेर्दग्धमं स्यात् ॥ ५ ॥

नन्देति । यथाक्रममर्कात् 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' इति । अर्कमारभ्य  
 वारेषु नन्दातिथिर्मृताधमफला स्यात् । यथा-सूर्ये नन्दा मृता तथा  
 सोमे भद्रा, भौमे नन्दा, बुधे जया, गुरौ रिक्ता, शुके भद्रा, शनौ पूर्णा ।  
 मृतेत्यर्थः । उक्तं च नारदेन- 'आदित्यभौमयोर्नन्दा भद्रा शुक्रशशां-  
 कयोः । जया सौम्ये गुरौ रिक्ता शनौ पूर्णा मृतिप्रदा ॥' इति । अत्र  
 बहुषु नारदसंहितापुस्तकेषु मृतिप्रद इति पाठमाश्रित्य मृतेतिपदं प्रा-  
 योजि ग्रन्थकृता । तथैवास्माभिव्याकृतं च सकलदेशीयशिष्टसम्मत-  
 त्वादापामरं तथैव व्यवहारदर्शनाच्च । वस्तुतस्तु पूर्णामृताकारादित्यत्र  
 अकारं प्रश्लिष्यामृतेति पदं विधेयम् । तत्रामृता अमृतफलदा  
 स्यात् । यथा नन्दा रवावमृता एवं सोमवारादिष्वपि व्याख्येयं पूर्व-  
 वत् । अत्र सम्मतिरूपे जीर्णपुस्तकस्थनारदवाक्ये- 'शनौ पूर्णाऽमृताह्वया'  
 इत्यकारादिराकारान्तः पाठः साधीयान् । अमृतेत्याह्वयं नाम यस्याः  
 सा अमृताह्वयेत्यर्थः । इममर्थं सफलमाह वसिष्ठः- 'नन्दा भौमार्कयो-  
 र्भद्रा शुक्रेन्द्रोश्च जया बुधे । शुभयोगा गुरौ रिक्ता शनौ पूर्णामृताह्वया ॥'  
 इति । इदं वचनं वसिष्ठेन गुणनिरूपणाध्याये निरूपितमित्यतोपि  
 शुभत्वप्रतिपादकम् । कश्यपोऽपि तथैवाह- 'आदित्यभौमयोर्नन्दा भद्रा  
 शुक्रशशांकयोः । जया सौम्ये गुरौ रिक्ता पूर्णार्कवमृता शुभा ॥' इति ।  
 आर्कौ शनौ । एवं सत्यपि शुभत्वे शिष्टाचारेण व्यवस्था ज्ञेया ।  
 अथोत्तरार्धेन निघनक्षत्राण्युच्यन्ते-याम्यमिति । रविवारादिषु याम्यं  
 भरणी तदादीनि नक्षत्राणि यथाक्रमं दग्धनक्षत्राणि स्युः । यथा  
 रवौ भरणी दग्धा, सोमे चित्रा, भौम उत्तराषाढा, बुधे धनिष्ठा, गुरा-  
 वुत्तराफल्गुनी, शुके ज्येष्ठा, शनौ रेवती । यदाह नारदः- 'यमर्क्षमर्कवारे-  
 ब्जे चित्रा भौमे तु विश्वमम् । बुधे अविष्टार्यम्णक्षं गुरौ ज्येष्ठा भृगोर्दिने ॥  
 रेवती शनिवारे तु दग्धयोगा भवन्त्यमी' इति । लल्लः- 'याम्यं चि-  
 त्रोत्तराषाढा धनिष्ठोत्तरफल्गुनी । ज्येष्ठा च रेवती चैव जन्मक्षं भानुतः  
 क्रमात् ॥ जन्मक्षग्रहसंयोगे न कुर्याच्छोभनं नरः । पाणिग्रहणयात्रादि  
 विनाशमुपयात्यतः ॥' इति ॥ ५ ॥



अथ क्रकचादिनिर्णययोगाननुष्टुभाह—

षष्ठ्यादितिथयो मन्दाद्विलोमं प्रतिपद्बुधे ।

सप्तम्यर्केऽधमाः षष्ठ्याद्यामाश्च रदधावने ॥ ६ ॥

षष्ठ्यादीति । षष्ठीसप्तम्यष्टमीनवमीदशम्येकादशीद्वादश्यस्तिथयो मन्दाच्छूनैश्चराद्विलोमं विपरीतवारगणनयाऽधमाः स्युः । यथा—शनौ षष्ठ्यधमा, शुके सप्तमी, गुरावष्टमी, बुधे नवमी, भौमे दशमी, सोमे एकादशी, रवौ द्वादशी । एते योगाः क्रकचाख्या ज्ञेयाः । यदाह नारदः—‘त्रयोदश स्युर्मिलने संख्यायास्तिथिवारयोः । क्रकचो नाम योगोऽयं मङ्गलेश्वतिगर्हितः ॥’ इति । अथ बुधे प्रतिपत्तिथिस्तथा सूर्यधारे सप्तमी संवर्तयोगाख्याऽधमा । उक्तं च नारदेन—‘सप्तम्यामर्कवारश्चेत्प्रतिपत्सौम्यवासरे । संवर्तयोगो विज्ञेयः शुभकर्मविनाशकृत् ॥’ इति । अथ षष्ठी, आद्यां प्रतिपत्, अमा अमावास्या एतास्तिथयो रदधावने निम्बकाष्टादिभिर्दत्तमलनिराकरणेऽधमा निषिद्धाः स्युः । उक्तं च रत्नमालायाम्—‘नष्टेन्दुषष्ठीप्रतिपत्सु धीमान्न जातु दन्तोत्क्षणं विदध्यात् । कुर्वन्नवाप्नोति तदाशु नूनं लक्ष्मीकुलजातिजनोपघातम् ॥’ इति । क्वचिन्नवमीरविवासरेऽपि निषिद्धा । उक्तं च काशीखण्डे पञ्चत्रिंशाध्याये—‘प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां रविवासरे । दन्तानां काष्ठसंयोगो दहेदासप्तमं कुलम् ॥’ इति ॥ ६ ॥

अथ कृत्यविशेषेषु निषिद्धतिथीनिर्द्भवशास्त्रानुसाराह—

षष्ठ्यष्टमीभूतविधुक्षयेषु नो

सेवेत ना तैलपले क्षुरं रतम् ।

नाभ्यञ्जनं विश्वदशद्विके तिथौ

धात्रीफलैः स्नानममाद्रिगोष्वसत् ॥ ७ ॥

षष्ठ्यष्टमीत्यादि । षष्ठी, अष्टमी च प्रसिद्धा भूतश्चतुर्दशी, विधुक्षयोऽमावास्या एतासु तिथिषु क्रमेण ना पुरुषः तैलं, पलं मांसं, क्षुरं, रतं मैथुनं, यथाक्रमं न सेवेत । यथा षष्ठ्यां तैलं, अष्टम्यां मांसं, चतुर्दश्यां क्षौरं, अमावास्यायां मैथुनं, नो सेवेतेत्यर्थः ।



‘वेवृ सेवने’ आत्मनेपदी । नृशब्दो मनुष्यजात्युपलक्षकस्तेन स्त्रीणा-  
मप्ययं निषेधः । उक्तं च नारदेन—‘षष्ठ्यां तैलं तथाऽष्टम्यां मांसं क्षौरं  
तिथौ कलेः । पूर्णिमादर्शयोर्नारीसेवनं परिवर्जयेत् ॥’ इति । कलेस्तिथौ  
चतुर्दश्याम् । रत्नमालायां च—‘षष्ठीषु तैलं पलमष्टमीषु क्षुरक्रिया चैव  
चतुर्दशीषु । स्त्रीसेवनं नष्टकलासु पुंसामायुःक्षयार्थं मुनयो वदन्ति ॥’  
अत्र वचने नष्टकलास्त्विति वचनमाश्रित्य विधुक्षयेष्वित्युक्तं । वयं तु वि-  
धुक्षयशब्दः पक्षसर्वपर्वोपलक्षक इति व्याकुर्मः । तथा सति पञ्चपर्वसु  
मैथुनं न कार्यमित्यर्थः । उक्तं च वसिष्ठसंहितायाम्—‘स्त्रीसेवनं पर्वसु  
पक्षमध्ये पलं च षष्ठीषु च सर्वतैलम् । नृणां विनाशाय चतुर्दशीषु  
क्षुरक्रिया स्यादसकृत्तदाशु ॥’ इति । पक्षमध्येऽष्टम्यां । क्वचित्संक्रांत्या-  
दावपि तैलसङ्गो निषिद्धः । यदाह नारदः—‘व्यतीपाते च संक्रान्तावे-  
कादश्यां च पर्वसु । अर्कभौमदिने विष्ट्यां नाभ्यङ्गं न च वैधृतौ ॥’  
इति । पर्वाणि तु वसिष्ठेनोक्तानि—‘चतुर्दश्यष्टमी कृष्णा त्वमावास्या  
च पूर्णिमा । पुरायानि पञ्च पर्वाणि संक्रान्तिर्दिनपस्य च ॥’ इति । अत्र  
निषिद्धकर्मसु तात्कालिक्यस्तिथयो ग्राह्याः । तथा च स्मृतिः—‘स्नाने  
चाभ्यङ्गने चैव दन्तधावनमैथुने । तिथिस्तात्कालिकी ग्राह्या तथा म-  
रणजन्मनोः ॥’ इति । अथ विश्वदशद्विके तिथौ त्रयोदशीदशमीद्विती-  
यास्वभ्यङ्गनं न तैलाभ्यङ्गो न कार्य इत्यर्थः । तदुक्तं रत्नमालायाम्—‘स्ना-  
तुर्जनस्य दशमी तनयांस्त्रयोदश्यर्थं निहन्त्युभयमेतदपि द्वितीया’ इति ।  
अयं च शरीरमलनिराकरणार्थं निषेधो नित्यनैमित्तिककाम्यव्यतिरि-  
क्तविषयः । निर्णयामृते द्वितीयातिथिनिर्णये भट्टभास्कर इत्युक्त्वा प-  
ठितम्—‘स्नातुस्तनूजान् दशमीत्रयोदश्यर्थं द्वितीया द्वितयं निहन्ति ।  
मलापहस्नाननिषेध एव न नित्यनैमित्तिककाम्यबाधः ॥’ एतादृशोपि-  
मलापहस्नाननिषेधो ब्राह्मणव्यतिरिक्तवर्णत्रयस्यैव । उक्तं च भट्टभा-  
स्करेण—‘त्रयोदश्यां द्वितीयायां दशम्यां च विशेषतः । शूद्रविट्क्षत्रि-  
याः स्नानं नाचरेयुः कथञ्चन ॥’ इति । अर्थात् ब्राह्मणस्य नायं निषेध  
इत्यर्थः । अथ धात्रीफलैरिति । धात्रीफलैरामलकैः स्नानममाद्रिगोष्व-  
सन्निषिद्धमित्यर्थः । उक्तं च रत्नमालायाम्—‘सप्तम्यनिदुनवमीषु च  
सम्पदिच्छुः स्नायात्कदाचिदपि नामलकैर्मनुष्यः ।’ अत्र केचिदामलकैः  
स्नातुर्दशमी तनयान्निहन्ति एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । एवं सति  
दशमीद्वितीयात्रयोदशीसप्तम्यनिदुनवमीष्वामलकस्नाननिषेधोऽस्ति त-



त्कथं भिन्नवाक्यतामादाय स्वपद्ये स्पष्टैव भिन्नवाक्यता कृता ।  
 अत्राहुः—स्नातुस्तनूजान् दशमीति वचनान्तरानुरोधाद्भिन्नवाक्यता  
 स्पष्टैव । तथा च—आमलकस्नाननिषेधो दीपिकाटीकायां स एव  
 भट्टभास्करः—‘सप्तम्यचन्द्रानवमीषु देहश्रीसन्ततीरामलकैर्नरस्य । स्नानं  
 निहन्त्यन्यदिने तु धत्ते तिलैः श्रियं पुण्यकरं सदैव ॥’ इत्याह स्म ।  
 अपरे पुनराहुः सर्वास्वपि तिथिष्वामलकस्नानस्यैव निषेधो नाभ्यंग-  
 स्य । यदाह वसिष्ठः—‘कामदुर्गान्तकविधिनष्टेन्द्रर्कदिनेषु च । सकृदा-  
 मलकस्नानं सम्पत्पुत्रविनाशनम् ॥’ कामस्त्रयोदशी, दुर्गा नवमी,  
 अन्तको दशमी, विधिद्वितीया, नष्टेदुरमावास्या(१)अर्कदिनं सप्तमी ।  
 कश्यपोऽपि—‘षष्ठ्यां दर्शप्रतिपदि द्वादश्यां च दिनक्षये । कुर्यादाम-  
 लकस्नानं दशम्यां मूढधीर्नरः ॥ पुत्रनाशो भवेत्तस्य त्रयोदश्यां  
 धनक्षयः । सम्पत्पुत्रक्षयस्तस्य द्वितीयायामसंशयम् ॥ सप्तम्यां च  
 नवम्यां च अमायां कुलनाशनम्’ इति । दर्शानन्तरं प्रतिपददर्शप्रतिप-  
 च्छुक्लप्रतिपदित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ सूर्यादिवारेषु दग्धादियोगचतुष्टयमिन्द्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह—

सूर्येशपञ्चाग्निरसाष्टनन्दा  
 वेदाङ्गसप्ताश्विगजाङ्गशैलाः ।  
 सूर्याङ्गसप्तोरगगोदिगीशा  
 दग्धा विषाख्याश्च हुताशनाश्च ॥ ८ ॥  
 सूर्यादिवारे तिथयो भवन्ति  
 मघाविशाखाशिवमूलवन्हिः ।  
 ब्राह्मं करोऽर्काद्यमघण्टकाश्च  
 शुभे विवर्ज्या गमने त्ववश्यम् ॥ ९ ॥

सूर्येति । सूर्या द्वादश लक्षणया यावत्संख्या द्वादश्युच्यते । एव-  
 मीशादिशब्देष्वपि व्याख्येयम् । तत्र सूर्या द्वादशी, ईशा एकादशी, पञ्च  
 पञ्चमी, अग्रयस्तृतीया, रसाः षष्ठी, अष्ट अष्टमी, नन्दा नवमी, सूर्या-



दिवारेष्वेतास्तिथयो दग्धा भवन्ति । यथा—रवौ द्वादशी दग्धा, सोमे एकादशी दग्धा, भौमे पञ्चमी, बुधे तृतीया, गुरौ षष्ठी, शुक्र अष्टमी, नवमी शनौ शनिरिक्तासिद्धियोगश्चतुर्थीचतुर्दश्योश्चरितार्थः (१) । उक्तं च नारदेनोपग्रहाध्याये—‘एकादशी चेन्दुवारे द्वादशी चार्कवासरे । षष्ठी बृहस्पतेर्वारि तृतीया बुधवासरे ॥ अष्टमी शुक्रवारे च नवमी शनिवासरे । पञ्चमी भौमवारे च दग्धयोगाः प्रकीर्तिताः ॥’ वसिष्ठोपि—‘द्वादश्येकादशीनागगौरीस्कन्दवसुष्वपि । नवम्यां दग्धयोगाख्या भानुवारादितः क्रमात् ॥

### विषयोगाः—

अथ विषयोगाः । वेदेति । वेदाश्चतुर्थी, अङ्गानि षष्ठी, सप्त सप्तमी, अश्विनौ द्वितीया, गजा अष्टमी, अंका नवमी, शैलाः सप्तमी एतास्तिथयः सूर्यादिवारेषु विषाख्या भवन्ति । यथा—रवौ चतुर्थी विषाख्या, चन्द्रे षष्ठी, भौमे सप्तमी, बुधे द्वितीया । बुधे भद्रारूपः सिद्धियोगस्तु सप्तमीद्वादश्योश्चरितार्थः । गुरावष्टमी, शुके नवमी, शनौ सप्तमी । यदाह बृहस्पतिः—‘षष्ठी शशांके नवमी च शुके बुधे द्वितीया तपने चतुर्थी । जीवेऽष्टमी सौरिकुजेऽहि सप्तमी योगा विषाख्याः कुलनाशनाः स्युः ॥’ वसिष्ठोपि—‘कुजाक्योंः सप्तमी षष्ठी चन्द्रे भानौ चतुर्थिका । द्वितीया ज्ञेऽष्टमी जीवे नवमी शुक्रवासरे ॥ अचिकित्स्या गदा योगा मङ्गलेष्वेव निदिताः’ ।

### हुताशनयोगाः—

अथ हुताशनयोगाः । सूर्येति । सूर्या द्वादशी, अङ्गानि षष्ठी, सप्त सप्तमी, उरगा अष्टमी, गावो नवमी, दिशो दशमी, ईशा एकादशी एतास्तिथयो रविवारादिषु हुताशनाख्या ज्ञेयाः । यथा रवौ द्वादशी, सोमे षष्ठी, भौमे सप्तमी, बुधेऽष्टमी, गुरौ नवमी, शुके दशमी, शनौ एकादशी हुताशनाः । यथा हुताशनो निक्षिप्तं वस्तु दहति तथायमुक्तो वारतिथियोगोपीत्यर्थः । यदाह गुरुः—‘षष्ठ्यादितिथयः सप्त चन्द्रवारादिभिर्युताः । क्रमात्पक्षद्वयेऽपि स्युः सप्तयोगा हुताशनाः ॥’ इति । वसिष्ठोपि—‘सप्त षष्ठ्यादितिथयः सोमवारादिभिर्युताः । अग्निजिह्वाः

(१) ‘सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवे—’दित्युक्तत्वात् ।



सप्त योगा मङ्गले कुलनाशनाः ॥' इति ।

यमघण्टयोगः—

अथ यमघण्टः—मघा, विशाखा, शिव आर्द्रा, मूलं, वह्निः कृत्तिका । समाहारद्वन्द्वः । ब्राह्मं रोहिणी, करो हस्तः एतानि नक्षत्राण्यर्कात्सूर्यादिवारेषु यमघण्टाः स्युः । यथा रवौ मघा यमघण्टः, सोमे विशाखा, भौमे आर्द्रा, बुधे मूलं, गुरौ कृत्तिका, शुके रोहिणी, शनौ हस्तः । उक्तं च दैवज्ञमनोहरे गर्गेण—'मघाविशाखाढ्यार्द्रा च मूलमृक्षं च कृत्तिका । रोहिणी हस्त इत्येवं यमघण्टाः क्रमाद्रवेः ॥' इति । अत्र पाठान्तरम् । 'सूर्यादिवारे तिथयो हि पित्र्यद्वीशेशमूलाग्निर्विरिचिहस्ताः । भवन्ति सूर्याद्यमघण्टकाश्च शुभे विवर्ज्या गमने त्ववश्यम् ॥' इति । अयं पाठः साधीयान् । प्राक्पाठे हि कतिचिन्नक्षत्राणि पूर्वार्धे द्वे उत्तरार्धे इत्यसामञ्जस्यात् । एते दग्धादियोगाः शुभे शुभकार्ये विवर्ज्यास्त्याज्याः । तुर्विशेषे । गमने यात्रायां त्ववश्यं वर्ज्याः । यदाह मार्तण्डः—'नात्र यात्रा प्रकर्तव्या कार्यान्तरमथापि वा । यमघण्टादियोगोयमनर्हः सर्वकर्मसु ॥' इति ।

दुर्योगापवादः—

आवश्यकत्वेन यमघण्टपरिहारमाह गर्गः—'विध्यस्योत्तरभागे तु यावदातुहिनाचलम् । यमघण्टकदोषोस्ति नान्यदेशे कदाचन ॥' इति । अन्यच्च—'लग्नाच्छुभग्रहः केंद्रे त्रिकोणेऽवस्थितो यदि । चन्द्रो वापि न दोषः स्याद्यमघण्टकसम्भवः ॥' इति । कैश्चिदष्टौ घटिकास्त्याज्या इत्युक्तम् । तदुक्तं दीपिकायाम्—'यमघण्टे त्यजेदष्टौ मृत्यौ द्वादश नाडिकाः' इति । अत्रैषां पापयोगानामपवादो वसिष्ठेनोक्तः—'दिवा मृत्युप्रदाः पापा दोषास्त्वेते न रात्रिषु । शुभकार्यप्रसूतौ च सर्वदा परिवर्जयेत् ॥' ॥ ८ ॥ ६ ॥

अथ चैत्रादिमासे शून्यास्तिथीः शार्दूलविक्रीडितेनानुष्टुप्पूर्वार्धेन चाह—

भाद्रे चन्द्रदृशौ नभस्यनलनेत्रे माधवे द्वादशी  
पौषे वेदशरा इषे दशशिवा मार्गेऽद्रिनागा मधौ ।



गोऽष्टौ चोभयपक्षगाश्च तिथयः शून्या बुधैः कीर्तिता  
ऊर्जाषाढतपस्यशुक्रतपसां कृष्णे शराङ्गाब्धयः ॥ १० ॥  
शक्राः पञ्च सिते शक्राद्रग्निविश्वरसाः क्रमात् ।

भाद्र इति । भाद्रशब्देन भाद्रपद उच्यते । 'स्युर्नभस्यः प्रौढपद-  
भाद्रभाद्रपदाः समा.' इत्यमरः । भाद्रे भाद्रपदे मास्युभयपक्षगे शुक्ल-  
कृष्णसाधारणे चंद्रदशौ प्रतिपद्वितीये तिथी शून्ये । तथा नभसि आ-  
वर्णे मासि अनलनेत्रे तृतीयाद्वितीये उभयपक्षगे शून्ये । माघवे वै-  
शाखे द्वादशी तिथिः शून्या, पौषे वेदशराः चतुर्थीपञ्चम्यौ शून्ये ।  
इषे अश्विने दशशिवाः दशम्येकादश्यौ शून्ये । मार्गे मार्गशीर्षेऽद्विनागाः  
सप्तम्यष्टम्यौ शून्ये । मघौ चैत्रे गोष्टौ नवम्यष्टम्यौ शून्ये । एषु मा-  
सेषु एतास्तिथयः पक्षद्वयगाः शून्याः बुधैः कीर्तिताः । अथानुक्तमा-  
सानामूर्जाषाढतपस्यशुक्रतपसां कार्तिकाषाढफाल्गुनज्येष्ठमाघानां कृष्ण-  
पक्षे क्रमेण शराङ्गाब्धयः शक्राः पञ्च तिथयः शून्याख्याः । यथा कार्-  
तिककृष्णपक्षे पञ्चमी शून्या । आषाढकृष्णपक्षे षष्ठी शून्या । फाल्गुन-  
कृष्णपक्षे चतुर्थी शून्या । ज्येष्ठकृष्णपक्षे चतुर्दशी शून्या । माघकृष्ण-  
पक्षे पञ्चमी शून्या । अथैषामेव मासानां सिते शुक्लपक्षे शक्राद्रग्नि-  
विश्वरसाः क्रमाच्छून्याः । यथा कार्तिकशुक्लपक्षे चतुर्दशी शून्या ।  
आषाढशुक्ले सप्तमी शून्या । फाल्गुनशुक्ले तृतीया शून्या । ज्येष्ठ-  
शुक्ले त्रयोदशी शून्या । माघशुक्ले षष्ठी शून्येत्यर्थः । यदाह वसिष्ठः-  
'अष्टमी नवमी चैत्रे पक्षयोरुभयोरपि । माघवे द्वादशी त्याज्या  
पक्षयोरुभयोरपि ॥ ज्येष्ठे त्रयोदशी निद्या सिते कृष्णे चतुर्दशी । आ-  
षाढे कृष्णपक्षस्य षष्ठी शुक्ले तु सप्तमी ॥ द्वितीया च तृतीया च  
आवर्णे सितकृष्णयोः । प्रथमा च द्वितीया च नभस्ये मासि निदिता ॥  
दशम्येकादशी निद्या मासीषे शुक्लकृष्णयोः । ऊर्जे चतुर्दशी शुक्ले  
कृष्णपक्षे तु पञ्चमी ॥ सप्तमी चाष्टमी सौम्ये पक्षयोरुभयोरपि । पौषे  
पक्षद्वये चैव चतुर्थी पञ्चमी तथा ॥ माघे तु पञ्चमी षष्ठी कृष्णे शुक्ले  
यथाक्रमम् । तृतीया च चतुर्थी च फाल्गुने सितकृष्णयोः ॥ तिथयो  
मासशून्याख्या वंशवित्तघिनाशदाः । आसु आद्धं प्रकुर्वीत नैव मङ्गलमा-  
चरेत् ॥' इति ॥ १० ॥



अथ तिथिनक्षत्रसम्बन्धिदोषान्ताधार्नुष्टुब्धवेनाह—

तथा निन्द्यं शुभे सार्पं द्वादश्यां वैश्वमादिमे ॥ ११ ॥

अनुराधा द्वितीयायां पञ्चम्यां पित्र्यभं तथा ।

ज्युत्तराश्च तृतीयायामेकादश्यां च रोहिणी ॥ १२ ॥

स्वातीचित्रे त्रयोदश्यां सप्तम्यां हस्तराक्षसे ।

नवम्यां कृत्तिकाष्टम्यां पूभा षष्ठ्यां च रोहिणी ॥ १३ ॥

तथानिन्द्यमिति । शुभकृत्ये द्वादश्यां सार्पमाश्लेषा निन्द्यं, आदिमे तिथौ प्रतिपदि वैश्वमुत्तराषाढा निन्द्या, द्वितीयायामनुराधा, पञ्चम्यां पितृभं मघा, तृतीयायां ज्युत्तराः उत्तराफलगुन्युत्तराषाढोत्तराभाद्रपदा निन्दाः, एकादश्यां रोहिणी, त्रयोदश्यां स्वातीचित्रे, सप्तम्यां हस्तराक्षसे हस्तमूले, नवम्यां कृत्तिका, अष्टम्यां पूभा पूर्वाभाद्रपदेत्यर्थः । यदाह चतुर्भुजमिश्रनिबन्धे लल्लः—‘द्वितीयया चानुराधा ज्युत्तराश्च तृतीयया । पञ्चमी च मघायुक्ता चित्रा स्वात्या त्रयोदशी ॥ एषु कार्यं कृतं चेत्स्यात्पणमासान्तरणं ध्रुवम् । प्रतिपद्युत्तराषाढा नवम्यां कृत्तिका यदि ॥ पूर्वाभाद्रपदाष्टम्यामेकादश्यां च रोहिणी । द्वादश्यां च यदाश्लेषा त्रयोदश्यां मघा यदि ॥’ इति ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अथ चैत्रादिमासेषु क्रमाच्छून्यनक्षत्राण्यनुष्टुब्धवेनाह—

कदासूभे त्वाष्ट्रवायू विश्वेज्यौ भगवासवौ ।

वैश्वश्रुती पाशि(१)पौष्णे अजपादग्निपित्र्यभे ॥ १४ ॥

चित्राद्वीशौ शिवाश्व्यर्काः श्रुतिमूले यमेन्द्रभे ।

चैत्रादिमासे शून्याख्यास्तारा वित्तविनाशदाः ॥ १५ ॥

कदासूभ इति ॥ चैत्रमासे कदासूभे रोहिण्यश्विन्यौ, वैशाखे त्वाष्ट्रवायू चित्रास्वात्यौ, ज्येष्ठमासि विश्वेज्यौ उत्तराषाढापुष्यौ, आषाढमासे भगवासवौ पूर्वाफलगुनीधनिष्ठे, श्रावणे विश्वश्रुती उत्तराषाढाश्रवणौ, भाद्रपदे पाशिपौष्णे पाशी वरुणः शततारकाश्विन्यौ, आश्विने अजपात्पूर्वाभाद्रपदा, कार्तिके अग्निपित्र्यभे कृत्ति-

(१) ‘प्रवेता वरुणः पाशी’ इत्यमरसिंहः ।



कामघे अत्र पाशिपौष्णे अजपादित्यत्र 'ईदृदेद्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यत्वात् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रतिभावेन संध्याभावः । मार्गशीर्षे चित्राद्विशाखे, पौषे शिवाश्विनार्काः आर्द्राश्विनी-हस्ताः, माघे श्रुतिमूले श्रवणमूले, फाल्गुनमासे यमेन्द्रमे भरणीज्येष्ठे एतास्ताराः क्रमाच्चैत्रादिमासेषु शून्यसंज्ञा ज्ञेयाः । कीदृश्यस्ताराः वित्तविनाशदा धननाशकरा इत्यर्थः । उक्तं च वसिष्ठसंहितायाम्— 'अश्विनीरोहिणी चैत्रे शून्यमे परिकीर्तिते । चित्रा स्वाती च वैशाखे ज्येष्ठे विश्वेज्यतारके ॥ भगवासवमाषाढे श्रावणे हरिविश्वभे । नमस्ये वारुणांत्यर्क्षमजपादश्वयुज्यपि ॥ कार्तिके पितृवह्न्युक्ते मार्गे चित्राद्वि-दैवते । पौषे दक्षकरार्द्राः स्युर्माघे मूलं च विष्णुभम् ॥ तपस्ये शक्र-भरणी शून्यभान्याहुरग्रजाः । एषु यत्तु कृतं कर्म धनैः सह विनश्य-ति ॥' इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

अथ चैत्रादिमासेषु शून्यराशीननुष्टुभाह—

घटो भूषो गौर्मिथुनं मेषकन्यालितौलिनः ।

धनुः कर्को मृगः सिंहश्चैत्रादौ शून्यराशयः ॥ १६ ॥

घट इति । चैत्रे घटः कुम्भः, वैशाखे भूषो मीनः, ज्येष्ठे गौर्बृषः, आ-षाढे मिथुनं, श्रावणे मेषः, भाद्रपदे कन्या, आश्विनेऽलिवृश्चिकः, कार्तिके तौलिस्तुला, मार्गशीर्षे धनुः, पौषे कर्कः, माघे मृगो मकरः, फाल्गुने सिंहः । एते राशयः क्रमेण चैत्रमासादिषु शून्यसंज्ञक इत्यर्थः । उक्तं च वसिष्ठेन— 'घटमत्स्यवृषा युग्ममेषकन्याः सवृश्चिकाः । तुलाचाप-कुलीराख्यमृगसिंहाश्च राशयः ॥ चैत्रादौ मासशून्याख्या वंशवित्तवि-नाशदाः । तस्मात्तान्संपरित्यज्य शोभनं कारयेत्सुधीः ॥' इति ॥ १६ ॥

अथ विषमतिथिषु दग्धलग्नानीद्रवज्याह—

पक्षादितस्त्वोजतिथौ घटैणौ

मृगेन्द्रनक्रौ मिथुनाङ्गने च ।

चापेन्दुमे कर्कहरी हयान्त्यौ

गोन्त्यौ च नेष्टे तिथिशून्यलग्ने ॥ १७ ॥

पक्षादित इति ॥ शुक्लकृष्णसाधारण्येन पक्षमङ्गीकृत्य ओजतिथौ



विषमतिथिषु प्रतिपत्तृतीयादिषु धटस्तुला, एणो मकर इत्यादीनि लग्नानि क्रमेण दिनदग्धानि ज्ञेयानि । यथा प्रतिपदि तुलामकरौ, तृतीयायां मृगेन्द्रनक्रौ सिंहमकरौ, पञ्चम्यां मिथुनकन्ये, सप्तम्यां धनुःकर्कौ, नवम्यां कर्कसिंहौ, एकादश्यांधनुर्मीनौ, त्रयोदश्यां वृषमीनौ तस्यां तस्यां तिथौ एते एते लग्ने नेष्टे अनिष्टे इत्यर्थः । उक्तं च वसिष्ठसंहितायाम्—‘मृगसिंहौ तृतीयायां प्रथमायां तुलामृगौ । पञ्चम्यां बुधराशी द्वौ सप्तम्यां चापचन्द्रमे ॥ नवम्यां सिंहकीटाख्यावेकादश्यां शुरोर्गृहे । वृषमीनौ त्रयोदश्यां दग्धसंज्ञास्त्वमी गृहाः ॥ दग्धसंज्ञानि यत्कर्म कृतं सर्वं विनश्यति । तस्माद्दग्धगृहास्त्याज्याः शोभनेष्वखिलेष्वपि ॥’ इति ॥ १७ ॥

अथैषां दुष्टयोगानां शुभकृत्यावश्यकत्वे सति परिहारं नारदवचनेनैवाह नारदः—

तिथयो मासशून्याश्च शून्यलग्नानि यान्यपि ।

मध्यदेशे विवर्ज्यानि न दूष्याणीतरेषु तु ॥ १८ ॥

पङ्गवन्धकाणलग्नानि(१)मासशून्याश्च राशयः(२) ।

गौडपालवयोस्त्याज्या अन्यदेशे न गर्हिताः ॥ १९ ॥

तिथय इति । स्पष्टार्थमिदं पद्यद्वयम् । पङ्गवन्धकाणाख्यानि लग्नानि विवाहप्रकरणे वक्ष्यन्ते । मध्यदेशो वराहसंहितायामुक्तः—‘मद्रारिमेदमांडव्यशाल्वनीपोजिहानसंख्यानाः । मरुवत्संघोषयामुनसारस्वतमत्स्यमाध्यमिकाः ॥ माथुरकोपज्योतिषधर्मारण्यानि शूरसेनाश्च । गौरग्रीवौदैहिकपञ्चगुडाश्वत्थपाञ्चालाः ॥ साकेतककुर्कुरकालकोटिकुपुराश्च पारियात्रगगः । श्रौदुंबरकापिष्ठकगजाह्वयाश्चेति मध्यमिदम् ॥’ इति । जगन्मोहनेऽपि—‘केन्द्रे चैव त्रिकोणे च शुभो ह्यपचयेपि वा । एकोऽपि वलवांश्चापि शून्यतिथ्युडुनाशकः ॥’ इति ॥ अयं देशाचारमनुरात्य व्यवहारः कर्तव्यः ॥ १८ ॥ १९ ॥

( १ ) “घस्तेतुलाली वधिरौ मृगाश्वौ रात्रौ च सिंहाजवृषा दिवान्धाः” इत्यादिविवाह प्रकरणोक्तानि ।

( २ ) ‘घट्टो भूषो गौर्मिथुनं मेषकन्यालितौलिन’ इत्यादयः पूर्वमेवोक्ता मासशून्या राशयः ।



अथ समस्तशुभकार्येषु सिद्धिदानपि हस्तार्कादियोगांस्तिथिविशेषेणातिनिधाननुष्टुब्धयेनाह—

वर्जयेत्सर्वकार्येषु हस्तार्कं पञ्चमीतिथौ ।

भौमाश्विनीं च सप्तम्यां षष्ठ्यां चन्द्रैद्वं तथा ॥२०॥

बुधानुराधामष्टम्यां दशम्यां भृगुरेवतीम् ।

नवम्यां गुरुपुष्यं चैकादश्यां शनिरोहिणीम् ॥ २१ ॥

वर्जयेदिति । सर्वशुभकृत्येषु पञ्चम्यां हस्तनक्षत्रं सूर्यवारं च युगपद्वर्जयेत् । एवं सप्तम्यां भौमाश्विनीमपि, षष्ठ्यां सोममृगनक्षत्रे, अष्टम्यां बुधानुराधां, दशम्यां भृगुरेवतीं, नवम्यां गुरुपुष्यं, एकादश्यां शनिरोहिणीं वर्जयेदित्यर्थः । हस्तार्कादीन् सिद्धियोगानाह नारदः—‘हस्तर्कं सूर्यवारेन्दाविदुभं प्रथमं कुजे । सौम्ये त्रिभमाचार्ये पुष्यं पौष्णं भृगोः सुते ॥ रोहिणीमन्दवारे तु सिद्धियोगाह्वया अमी ॥’ इति । तत्र त्रितयनिषेधो दैवज्ञमनोहरे—‘आदित्ये पञ्चमीहस्तौ सोमे षष्ठी च चन्द्रभम् । भौमाश्विन्यौ च सप्तम्यामनुराधां बुधाष्टमीम् ॥ गुरुपुष्यं नवम्यां च दशम्यां भृगुरेवतीम् । एकादश्यां शनिब्राह्मे विषयोगाः प्रकीर्तिताः ॥’ इति । अन्यत्रापि—‘अर्के हस्तं पञ्चमीं च सोमे षष्ठीं च चन्द्रभम् । अश्विनीं सप्तमीं सोमे बुधे भैत्रं तथाष्टमीम् ॥ गुरौ पुष्यं च नवमीं रेवतीं दशमीं भृगौ । एकादशीं शनौ ब्राह्मं वर्जयेत्सर्वदा बुधः ॥’ इति । वसिष्ठेन त्वन्यदेव त्रितयं निषिद्धमुक्तम्—‘अर्कवारेऽपि पञ्चम्यौ सोमे चित्रा द्वितीयया । कुजे पूर्णदुरोहिण्योः सप्तमीयाम्ययोर्बुधे ॥ गुरौ मित्रत्रयोदश्योः षष्ठीश्रवणयोः सिते । पौष्णाष्टम्योः शनावेते योगा हालाहलाह्वयाः ॥ एषु रोगेषु कर्तव्यं शत्रुञ्चादनमोरणम् । विवाहदिषु कार्येषु नियतं निघ्नप्रदम् ॥’ इति । अग्निः कृत्तिका । पूर्णेन्दुः पूर्णिमा ॥ २० ॥ २१ ॥

अथ भौमाश्विनीत्यादिकान् सिद्धियोगान् कार्यविशेषेऽतिनिधाननुष्टुभाह—

गृहप्रवेशे यात्रायां विवाहे च यथाक्रमम् ।

भौमाश्विनीं शनौ ब्राह्मं गुरौ पुष्यं विवर्जयेत् ॥२२॥



गृहेति ॥ नूतनगृहप्रवेशेऽतिसिद्धिदामपि भौमाश्विनीं वर्जयेत् । यात्रायां शनौ रोहिणीं वर्जयेत् । विवाहे गुरुपुष्यं विवर्जयेत् । राज-  
मार्तण्डः—‘भौमाश्विनीं प्रवेशे च प्रयाणे शनिरोहिणीम् । गुरुपुष्यं वि-  
वाहे च सर्वथा परिवर्जयेत् ॥’ इति । ननु भौमाश्विनी तु प्रवेशे नि-  
षिद्धास्ति । कथम् । ‘व्यकारवारे तिथिषु रिक्तामावर्जितासु च । दिवा  
वा यदि वा रात्रौ प्रवेशो मंगलप्रदः ॥’ इति नारदोक्तेर्भौमो निषिद्धः । अ-  
श्विनोक्षिप्रसंज्ञनक्षत्रं तेन ‘क्षिप्रैश्चरैः स्यात्पुनरेव यात्रा’ इति फलम् ॥  
ततः सापि निषिद्धा । एवं रोहिणी यात्रायामविहिता पश्चिमायां चातिश-  
येन निषिद्धैव । एवं शनिवारोपि सामान्यतो नवम्यादियोगे सुतरां  
निषिद्ध एव । एवं पुष्योपि विवाहे निषिद्धः । गुरुवारस्तूत्तम एव ।  
अनयोर्योगस्तु धाव्यशिवत्सुतरां निषिद्धस्तत्कथमिदमपवादवचनं, प्रा-  
प्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य इति । उच्यते ‘हस्तर्क्षमर्कवारे’ इत्यादिव-  
चनाद्भौमाश्विनीत्यादेर्वा नक्षत्रयुतेः कार्यमात्रे प्रशस्ततमत्वमस्ति ॥  
यदाह राजमार्तण्डः—‘यदि विष्टिव्यतीपातो दिनं वाप्यशुभं भवेत् ।  
हन्यतेऽमृतयोगेन भास्करेण तमो यथा ॥ हंत्यमृताख्यो योगः सर्वा-  
ण्यशुभानि लीलया नियतम् । न भवति पुनरिह शक्तौ वैधृतिविष्टिव्य-  
तीपाते ॥’ इति सामान्यतः कार्यमात्रप्रशस्त्यप्राप्तावपवादवचनं युक्त-  
मेव । अत्र पितृचरणाः । इयं च प्रशंसाऽमृतयोगकारकनक्षत्रवारोक्त-  
कर्मविशेषगतविशिष्टफलाभिधायिकावगंतव्या न तु निषिद्धकर्मानुवि-  
धायिनी । अत एव पठन्ति—‘भौमाश्विनीं प्रवेशे च प्रयाणे शनिरो-  
हिणीम् । गुरुपुष्यं विवाहे च सर्वथा परिवर्जयेत् ॥’ इत्याहुः । अत्र  
समाधिः । अन्यशुभदिवसासम्भवे कृत्यस्य चावश्यकत्वे भौमाश्विन्यादौ  
निषिद्धेऽपि कार्यं कार्यमन्यथा नेति ॥ २२ ॥

अथानन्दादीनष्टाविंशतियोगान् शालिन्युपजातिभ्यामाह—

आनन्दाख्यः कालदण्डश्च धूम्रो  
धाता सौम्यो ध्वांक्षकेतू क्रमेण ।  
श्रीवत्साख्यो वज्रकं मुद्गरश्च  
द्वित्रं मित्रं मानसं पद्मलुम्बौ ॥ २३ ॥  
उत्पातमृत्यू किल काणसिद्धी



शुभोऽमृताख्यो मुसलो गदश्च ।

मातङ्गरक्षश्चरसुस्थिराख्य-

प्रवर्धमानाः फलदाः स्वनाम्ना ॥ २४ ॥

आनन्देति । स्पष्टार्थं पद्यद्वयम् । यदाह नारदः—‘आनन्दः काल-  
दण्डोऽथ धूम्रो धाता शुभाह्वयः । ध्वांक्षो ध्वजाख्यश्रीवत्सवज्रमुद्गर-  
छत्रकाः ॥ मित्रमानसपद्माख्यलुंवकोत्पातमृत्यवः । काणः सिद्धिः शु-  
भामृतमुसलान्तककुंजराः ॥ राक्षसाख्यश्चरस्थैर्यवर्धमानाः क्रमादमी ।  
योगाः स्वसंज्ञाफलदास्त्वष्टाविंशतिसंख्यकाः ॥’ इति ॥ २३ ॥ २४ ॥

अथैते योगाः कथं ज्ञेया इत्यनुष्टुभाह—

दास्रादकं मृगादिन्दौ सार्पाद्भौमे कराद्बुधे ।

मैत्राद्गुरौ भृगौ वैश्वाद्गण्या मन्दे च वारुणात् ॥ २५ ॥

दास्रादिति । अत्र नक्षत्राणां सांभिजितां गणना कार्या यतोऽष्टा-  
विंशतिरेते योगाः सम्भवन्ति । तथासत्यर्कवारे दास्रादश्विनीनक्षत्रा-  
त्साभिजिद्दिननक्षत्रं गणनीयं तद्यत्संख्याकं स्यात्तत्संख्याको योग  
आनन्दादिर्भवति । यथा दिननक्षत्रं श्रवणः तदाश्विनीतः साभिजि-  
द्गणनया त्रयोविंशतिसंख्यमस्ति तथासत्यानन्दादियोगेषु त्रयोविंशति-  
संख्यो गदयोगो जातः । एवमिदौ सोमवारे मृगशीर्षात्पूर्ववद्गणनया  
आनन्दादियोगा ज्ञेया इत्यर्थः । एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । सार्पमाश्लेषा,  
करो हस्तनक्षत्रं, मैत्रमनुराधा, वैश्वमुत्तराषाढा, वारुणां शततारका ।  
यदाह नारदः—‘रविवारक्रमादेते दास्रभादिदुभाद्विधौ । सार्पाद्भौमे  
बुधे हस्तान्मैत्रमाद्वैवमंत्रिणि ॥ वैश्वदेवाद्भृगुसुते वारुणाद्भास्करा-  
त्मजे, इति ॥ २५ ॥

अथानन्दादिषु ये दुष्टयोगास्तेषां कियतां सत्यावश्यकत्वे परिहार  
शालिन्याह—

ध्वांक्षे वज्रे मुद्गरे चेषुनाड्यो

वर्ज्या वेदाः पद्मलुम्बे गदेऽश्वाः ।



धूत्रे काणे मौसले भूर्ध्वं द्वे  
रक्षोमृत्यूत्पातकालाश्च सर्वे ॥ २६ ॥

ध्वांक्ष इति ध्वांक्षवज्रमुद्गरयोगेषु आद्या इषुनाड्यः पंच घट्यो  
वर्ज्याः । पट्टमलुं वयोगयोर्वेदाश्चतस्रो घटिका वर्ज्याः । एवं गदे अश्वोः  
सप्त घटिकाः, धूत्रे भूरेकैव घटिका, काणे घटिकाद्वयं, मुसलयोगे घटिके  
द्वे, रक्षोमृत्यूत्पातकालाः षष्टिघटिकात्मकाः सर्वेऽपि वर्ज्याः । अत्र श्लो-  
के अनुक्तेऽपि चरयोगे घटिकात्रयं वर्ज्यम् । उक्तं च ज्योतिःसारसा-  
गरे—‘ध्वांक्षेन्द्रायुधमुद्गरेषु घटिकास्त्याज्यास्तु पंचादितः पञ्चालुं वकयो-  
श्चतस्र उदिता धूत्रे सदैका पुनः । द्वे काणे मुसलाह्वयेऽपि च गदे  
सप्तैव तिस्रश्चरे मृत्यूत्पातकरक्षसां दिनगतास्ताः कालदण्डे तथा ॥’  
अत्र दिनशब्देनाहारात्रमुच्यते । पञ्चालुं वकयोरित्यत्राङ्प्रश्लेषश्छन्दो-  
ऽनुरोधार्थः ॥ २६ ॥

अथ दोषापवादभूतान् रवियोगाननुष्ठुभाह—

सूर्यभाद्वेदगोतर्कादिग्विश्वनखसम्मिते ।

चन्द्रर्क्षे रवियोगाः स्युर्दोषसङ्घविनाशकाः ॥ २७ ॥

सूर्यभादिति ॥ सूर्यो यस्मिन्नक्षत्रेऽस्ति ततश्चन्द्रर्क्षं दिननक्षत्रमि-  
त्यर्थः । तस्मिन् चतुर्नक्षत्रदशत्रयोदशविंशतिसंख्याके सति रवियोगाः  
स्युः । कीदृशाः दोषाणां संघः समूहस्तस्य विनाशका इत्यर्थः । उक्तं  
च वसिष्ठेन—‘सूर्याच्चतुर्थे दशमे च षष्ठे विश्वर्क्षके विंशतिमे नवर्क्षे ।  
भवन्ति षड् भानुमदार्क्षयोगाः कुयोगविध्वंसकराः शुभेषु ॥’ इति ॥ २७ ॥

अथ सूर्यादिवारेषु नक्षत्रविशेषैः सिद्धियोगानिद्रवज्रोपजाति-  
भ्यामाह—

सूर्येऽर्कमूलोत्तरपुष्यदार्क्षं

चन्द्रे श्रुतिब्राह्मशशीज्यमैत्रम् ।

भौमेऽश्च्यहिर्बुध्न्यकृशानुसार्पं

जे ब्राह्ममैत्रार्ककृशानुचान्द्रम् ॥ २८ ॥

जीवेऽन्त्यमैत्राश्व्यदितीज्यधिष्ण्यं  
शुकेऽन्त्यमैत्राश्व्यदिति श्रवोभम् ।

शनौ श्रुतिब्राह्मसमीरभानि

सर्वार्थसिद्ध्यै कथितानि पूर्वैः ॥ २६ ॥

सूर्येति । रविवारे हस्तमूलज्युत्तरापुष्याश्विन्यो नक्षत्राणि सिद्धि-  
योगाः स्युः । एवं चन्द्रे श्रवणरोहिणीमृगशिरपुष्यानुराधाः सिद्धियो-  
गाः । एवं भौमेऽश्विन्युत्तराभाद्रपदाकृत्तिकाश्लेषाः । ज्ञे बुधे रो-  
हिण्यनुराधाहस्तकृत्तिकाश्लेषाः । गुरौ रेवत्यनुराधाश्विनीपुनर्वसु-  
पुष्याः । शुके रेवत्यनुराधाश्विनोपुनर्वसुश्रवणाः । शनौ श्रव-  
णरोहिणीस्वात्यो नक्षत्राणि सर्वार्थसिद्ध्यै पूर्वैराचार्यैः कथिता-  
न्युक्तानि । अत्रैते सिद्धियोगाः 'दास्त्रादकं मृगादिदौ' इत्यादि-  
प्रकारेणानन्दादिसमीचीनयोगसम्बन्धिनक्षत्रैरुपनिबद्धाः । अत एवा-  
नयोः पद्ययोरार्षमूलाभावः । अमुमेवाशयं मनस्यभिसंधाय जगन्मोहन-  
ज्योतिःसारसागरादिनिबन्धेषु स्वेच्छया न्यूनाधिकनक्षत्रैः सिद्धियोगा  
उक्ताः । तत्र भोमपराक्रमः—मूलं रवौ पुष्यकरोत्तराणि बेधा मृगांकः  
श्रवणं च सोमे । कृशानुपुष्योत्तरभानि भौमे बुधेऽनुराधा वरुणः कृ-  
शानुः ॥ बृहस्पतौ पुष्यपुनर्वसू च भगोश्विनी च श्रवणं च शुके । श-  
नैश्चरे स्वातिपितामहौ च योगाः किलैते शुभदायिनः स्युः ॥' इति ।  
दोषिकायां च—'ध्रुवगुरुकरमूलपौष्णभान्यर्कवारे' इत्यादिभिर्नक्षत्रैः  
सिद्धियोगाभिधानं युक्तमेव । 'हस्तर्जमर्कवारेन्दाविन्दुभं प्रथमं कुजे ।  
सौम्ये मित्रभमाचार्ये पुष्यं पौष्णं भृगोः सुते ॥ रोहिणी मन्दवारे तु  
सिद्धियोगाह्वया अमी' इति । नारदोक्तवचनार्थेऽस्मिन्पद्ये उक्त एवेति  
स्वयं पुनर्नोक्तः ॥ २८ ॥ २६ ॥

अथोत्पातमृत्युकारणसिद्धियोगान् शालिन्याह—

द्वीशाक्षोयाद्वासवात्पौष्णभाच्च

ब्राह्मात्पुष्यादर्यमर्क्षाद्युगर्जैः(१) ।

(१) "ब्राह्मात्पुष्यादर्यमर्क्षाच्चतुर्भैः" अयमपि पाठः क्वचित् पुस्तके  
समुपलभ्यते ।



स्यादुत्पातो मृत्युकाणौ च सिद्धि-  
वारेऽर्काद्ये तत्फलं नामतुल्यम्(१) ॥ ३० ॥

द्वीशादिति । आदित्यवारादिषु क्रमाद्द्वीशाद्विशखातः, तोयभात्पूर्वा-  
षाढातः, वासवाद्दनिष्ठातः, पौष्णभाद्रेवतीतः, ब्राह्मद्रोहिणीतः, पुष्यात्,  
अर्यमर्क्षादुत्तराफल्गुनीत आरभ्य युगक्षैश्चतुर्भिर्नक्षत्रैः क्रमादुत्पातमृ-  
त्युकाणसिद्धियोगाः स्युः । यथा रवौ विशाखा उत्पातः, मैत्रं मृत्युः,  
ज्येष्ठा काणः, मूलं सिद्धिः । एवं सोमे पूर्वाषाढा उत्पातः, उत्तराषाढा  
मृत्युः, अभिजित्काणः, श्रवणं सिद्धिः । भौमे धनिष्ठोत्पातः, शततारका  
मृत्युः, पूर्वाभाद्रपदा काणः, उत्तराभाद्रपदा सिद्धिः । बुधे रेवत्युत्पा-  
तः, अश्विनी मृत्युः, भरणी काणः, कृत्तिका सिद्धिः । गुरौ रोहिण्यु-  
त्पातः, मृगो मृत्युः, आर्द्रा काणः, पुनर्वसुः सिद्धिः । शुके पुष्य उत्पातः,  
आश्लेषा मृत्युः, मघा काणः, पूर्वाफल्गुनी सिद्धिः । शनावुत्तराफ-  
ल्गुन्युत्पातः, हस्तो मृत्युः, चित्रा काणः, स्वातो सिद्धियोग इत्यर्थः ।  
तदुक्तं नारदेन 'विशाखादिचतुर्वर्गमर्कवारादिषु क्रमात् । उत्पातमृ-  
त्युकाणख्या योगाश्चामृतसंयुताः ॥' अमृतं सिद्धिः । ननु चायं पुन-  
रुक्तः श्लोकार्थः । आदित्यवारादिषु हि—'दास्वादकं मृगादिदौ' इत्या-  
दि क्रमेणानन्दादियोगगणनया उत्पातमृत्युकाणसिद्धियोगा एव स-  
म्भवन्ति नान्ये । किं च—'सूर्यैर्मूलोत्तरपुष्यदासम्' इति मूलादीना-  
मेव सिद्धियोगाभिधानात्पुनश्चाच्यते । बालानां शीघ्रबोधनार्थं त-  
थोक्तिः । अथ वावश्यं वज्र्या एते उत्पातमृत्युकाणाः सिद्धियोगोऽप्य-  
तिप्रशस्त इत्येतदर्थं तथोक्तिः । ननु तर्हि देशभेदेन परिहारो वक्ष्य-

(१) अथ दिननक्षत्रवशेनोत्पातादियोगचतुष्टयज्ञापकचक्रम् ।

| दिननाम  | र०       | चं०     | मं०     | बु०     | बृ०     | शु०    | श०     |
|---------|----------|---------|---------|---------|---------|--------|--------|
| उत्पातः | विशा     | पू० षा० | धनि०    | रेवती   | रोहिणी  | पुष्यः | उ०फ०   |
| मृत्युः | अनु०     | उ० पा०  | शत०     | अश्वि०  | मृग०    | आश्ले० | हस्तः  |
| काणः    | ज्येष्ठा | अभि०    | पू० भा० | भरणी    | आर्द्रा | मघा    | चित्रा |
| सिद्धिः | मूलं     | श्रवणः  | उ० भा०  | कृत्ति० | पुन०    | पू०फ०  | स्वाती |

माणोऽनुपपन्नः । सत्यं । कार्यस्यावश्यकर्तव्यत्वे समीचीनदिनांतरा प्रा-  
प्तावपवादप्रवृत्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः । तत्फलमिति । तेषामुत्पातमृत्यु-  
काणसिद्धियोगानां फलं नामतुल्यम् । यस्य योगस्य यादृशं नाम त-  
द्योगसत्त्वे प्रारब्धकार्यफलमपि तादृशमेवेत्यर्थः । उक्तं च नारदेन—  
'योगाद्यसंज्ञाफलदास्त्वष्टाविंशतिसंज्ञकाः' इति ॥ ३० ॥

अथ दुष्टयोगानां देशभेदेन परिहारमनुष्ठुभाह—

कुयोगास्तिथिवारोत्थास्तिथिभोत्था भवारजाः ।

हूणवङ्गखशेष्वेव वर्ज्यास्त्रितयजास्तथा ॥ ३१ ॥

कुयोगा इति ॥ तिथिवारोत्थाः कुयोगाः दुष्टयोगाः क्रकचादयः,  
तिथिभोत्थाः 'अनुराधा द्वितीयायाम्' इत्यादयः, भवारजाः 'याम्यं त्वा-  
ष्ट्रं वैश्वदेवम्' इत्यादयः तथा त्रितयजास्तिथिवारानक्षत्रजाः । 'वर्ज-  
येत्सर्वकार्येषु हस्तार्कं पञ्चमीतिथौ' इत्येवमादयस्ते सर्वे दुष्टयोगा  
हूणवङ्गखशेष्वेव । हूणवङ्गौ प्राच्यदेशौ । खशो देश उत्तरस्यां दिशि  
प्रसिद्धस्तत्रैते वर्ज्याः । अन्यदेशेषु निषिद्धा न भवन्तीत्यर्थसिद्धमेव ।  
उक्तं च नारदेन—'तिथिवारोद्भवानेष्टा योगा वारर्क्षसम्भवाः । हूणवङ्ग-  
खशेभ्योऽन्यदेशेष्वेते शुभप्रदाः ॥' अत्र तिथिवारयोर्वारर्क्षयोश्च युतेरुप-  
लक्षणत्वादन्ययुतावपि परिहारो ज्ञेयः ॥ ३१ ॥

अथ समस्तशुभकृत्ये वर्ज्यपदार्थान् शार्दूलविक्रीडितेनाह—

सर्वस्मिन्विधुपापयुक्तनुलवावर्धे निशाढोर्घटी-

त्र्यंशं वै कुनवांशकं ग्रहणतः पूर्वं दिनानां त्रयम् ।

उत्पातग्रहतोऽद्र्यं ह्यँश्च शुभदोत्पातैश्च दुष्टं दिनं

षण्मासं ग्रहभिन्नं त्यज शुभे यौद्धं तथोत्पातभम् ॥ ३२ ॥

सर्वस्मिन्निति । हे पण्डित ! सर्वस्मिन् शुभे कार्ये एतानि वस्तूनि  
वै निश्चयेन त्यज परिहरेत्यर्थः । कानीत्यत्राह—विध्विति । विधुश्चंद्रः  
पापाः क्षीणचंद्रसूर्यभौमशनयः । 'क्षीणोद्वर्कमहीसुतार्कतनयाः पापा  
बुधस्तैर्युतः' इति वराहोक्तः । राहुकेत्वोरपि पापत्वं दीपिकायामुक्तम्—  
'अर्धोनेद्वर्कसौराराः पापा ब्रह्मैर्युतोपरे । शुभाः पापौ तमः केतु विष्णु-



धर्मोत्तरोदितौ ॥' इति । वसिष्ठेनापि—सूर्यभौमशनिराहुकेतवः पाप-  
संहखचराः क्षयिचंद्रः । पूर्वाचंद्रगुरुशुक्रसोमजाः सर्वकर्मसु हि सौम्य-  
खेचराः ॥' इति । तत्र विधुना पापेन वा पापैर्वा युक्तौ तनुलवौ लग्ननवां-  
शौ त्यज । 'पूर्वाः क्षीणोपि वा चंद्रो लग्ने सर्वत्र गर्हितः' इति कश्यपो-  
क्तेः । श्रीपतिश्च—'सर्वार्थसिद्धिषु शशी न शुभो विलग्ने ।' इति । दैव-  
ज्ञमनोहरे गुरुः—'पापेन्दुलग्नगौ त्याज्यौ सर्वेषु शुभकर्मसु । अक्षीणं  
कर्किगोजस्थं केप्याहुर्लग्नं शुभम् ॥' इति । अथ निशाहोरर्धे रात्र्यर्धे  
दिनार्धे च घटीत्रयं विंशतिपलानि दश पूर्वं दश पश्चाच्च पलानि त्यज ।  
उक्तं च शाङ्गीये—'मूर्तः कालो निवसति महानिशायां दिने दले यस्मात् ।  
दश पूर्वं दश परतस्तस्माद्भज्यानि च पलानि ॥' इति । अथो कुनवांश-  
कं पापग्रहनवांशं त्यज । यदाह नारदः—'क्रूरांशा न च ग्राह्या न श-  
स्तारते नवांशकाः । कुनवांशकलग्नं यत्याज्यं सर्वगुणान्वितम् ॥' इति  
क्रूरैः क्रूरग्रहैरुप्रा भयजनका अंशा नवांशा न ग्राह्या इत्यर्थः । अथ ग्रहण-  
तः पूर्वं दिनानां त्रयं त्यज । ग्रहणतः सूर्यचंद्रग्रहणदिनात्प्रथमं दिवस-  
त्रयं त्याज्यम् । यदाह गर्गः—'चन्द्रसूर्योपरागेषु त्र्यहं प्रागशुभं भवेत् ।  
सप्ताहमशुभं पश्चात्समूर्तं ग्रहणशूलकम् ॥' इति । उपरागो ग्रहण-  
म् । 'उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विदौ च पूषणि' इत्यमरोक्तेः ।  
अथ उत्पातग्रहतोदयहांश्च, उत्पातो नाम स्वभावतो वैपरीत्यम् ।  
यदाह वराहः—'तेषां संक्षेपोयं प्रकृतेरन्यथात्वमुत्पातः' इति । ते चो-  
त्पातास्त्रिविधाः । दिव्या आन्तरिक्षा भौमाश्च । तत्र दिव्यः केत्वादिः  
आन्तरिक्षो गन्धर्वनगरादिः भौमो भूमिकम्पादिः । एतदप्याह वराहः—  
'अपचारेण नराणामुपसर्गः पापसञ्चयान्भवति । संसूचयन्ति दिव्या-  
न्तरिक्षभौमास्त उत्पाताः ॥ दिव्यं ग्रहर्तवैकृतमुल्कानिर्घातपवनपरि-  
वेषाः । गन्धर्वपुरपुरन्दरचापादि यदान्तरिक्षं तत् ॥ भौमं चरस्थि-  
रभयं तच्छान्तिभिराहतं शममुपैति' इति । ते ह्युत्पाता यस्मिन् दिने  
स्युस्तद्दिनमारभ्याद्रथहान् सप्त दिनानि त्यज । यदाह नारदः—'उत्पा-  
तग्रहणाद्भूयं सप्ताहं निखिलग्रहे' इति । दीपिकायां च—'अग्निष्टे  
त्रिविधोत्पाते सिंहिकासूनुदर्शने । सप्तरात्रं न कुर्वीत यात्रोद्वाहादि-  
मङ्गलम् ॥' इति । अग्निष्टे अकालवृष्ट्यादिदूषिते काले इति तट्टीका-  
कारो व्याख्यत । अद्रथहानोति अद्रयश्च तान्यहानि चेति कर्मधारय-  
समासे 'राजाह सखिभ्यष्ट्च' इतिसमासांते टचि कृते 'नस्तद्धिते'

इति टिलोपे च 'रात्राहाहाः पुंसि' इति पुल्लिङ्गत्वम् । अत एव 'ग्रहाः प्रदेया अविशुद्धशुद्धौ' इत्यादयः प्रयोगा उपपद्यन्ते । तथा ग्रहणतो ग्रहणत ऊर्ध्वं सप्त दिनानि त्यज । अत्र ग्रहणशब्देन सर्वग्रहणं विवक्षितम् । ततो न्यूनत्वे त्रैराशिकम् । यदाह वसिष्ठः—'सर्वग्रासे दिनान्यष्टौ सर्वकार्येषु वर्जयेत् । षट् दिनानि त्रिभागोने अर्धग्रासे चतुर्दिनम् ॥ चतुर्थींशे त्रिरात्रं स्याद्ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥' इति । नारदोऽपि—'निःशेषे सप्त सप्त च' इत्याह । एतच्च यद्यप्यविशेषणोक्तं तथापि ग्रहानन्तरमेव ज्ञेयम् । 'उत्पातग्रहणादूर्ध्वं सप्ताहं निखिलग्रहे' इति तस्यैवोक्तेः । अंगिरा अपि 'सर्वग्रासे तु सप्ताहमर्धग्रासे दिनत्रयम् । त्रिद्वयेकांगुलतो ग्रासे दिनमेकं तु वर्जयेत् ॥' इति । अनयोर्वाक्ययोर्विषयव्यवस्थादेशभेदेनाचारभेदादवगन्तव्या । क्वचित्सामान्यतो दिनसप्तकमुक्तम् । यदाह गार्गः—'सूर्यचन्द्रोपरागौ द्वौ महादोषाह्वयावुभौ । सप्तरात्रं तयोरूर्ध्वं सर्वशोभननाशनम् ॥' इति । एतदपि सर्वग्रासपरतया योज्यम् । शाङ्गीय-विवाहपटले चन्द्रस्य सर्वग्रासे उभयतो दिनसप्तकं त्याज्यमित्युक्तम्—'कृत्स्नचन्द्रग्रहे त्याज्यं प्राक् पञ्चादिनसप्तकम्' इति । उत्पातविशेषे ग्रहणे च बहूनि दिनानि वर्ज्यान्याहुः । यदाह चण्डेश्वरः—'ग्रहे रवीन्द्रोरवनिप्रकंपे केतूद्रमोल्कापतनादिदोषे । व्रते दशाहानि वदन्ति तज्ज्ञास्त्रयोदशाहानि वदन्ति केचित् ॥' इति । ग्रहे तु कार्यस्यावश्यकत्वविशेषे परिहार उक्तो ज्योतिर्निबन्धे—'पञ्च दिनानि वसिष्ठस्त्रिदिनं गार्गस्तु कौशिकस्त्येकम् । यवनाचार्यस्य मतं पञ्च मुहूर्तांश्च दूषयति राहुः ॥' इति ।

नित्यनैमित्तिकयोरयं दोषो न—

अयं च ग्रहणयोर्निषेधो नित्यनैमित्तिकादिकृत्यन्यतिरिक्तविषयः । यदाह गुरुः—'नित्ये नैमित्तिके काम्ये जपहोमक्रियासु च । उपकर्मणि चोत्सर्गे ग्रहवेधो न विद्यते ॥' इति । ग्रहो ग्रहणम् । अथ शुभदोत्पातैश्च दुष्टं दिनं त्यज, शुभं कल्याणं ददति लोकेभ्य इति शुभदा एतादृशा ये उत्पाता वसन्ताद्यृतपुरस्कारेणोत्पातविशेषाः शुभा इत्युक्तम् । तादृशैरुत्पातैर्दुष्टं दूषितं दिनं द्वित्वातिरिक्तसंख्याविशेषानवगमादेकत्वस्य च प्रतीतेरेकं दिनं त्याज्यमित्यर्थः । अत्र हेतुः शुभदत्वमुत्पातानां ।

शुभदा उत्पातयोगाः—

शुभदोत्पातानाह ऋषिपुत्रकृतैः श्लोकैर्वराहः—



'वज्राशनिमहीकंपाः सन्ध्यानिर्घातनिःस्वनाः ।  
 परिवेषरजोधूमरक्ताकारास्तमनोदयाः ॥ १ ॥  
 दुर्मेभ्योऽतरसः स्नेहमधुपुष्पफलोद्गमाः ।  
 गोपक्षिमधुवृद्धिश्च शिवाय मधुमाधवे ॥ २ ॥  
 तारोल्कापातकलुषं कपिलाकंदुमण्डलम् ।  
 अनग्निज्वलनास्फोटधूमरेखानिलाकुलम् ॥ ३ ॥  
 रक्तपद्मारुणं सान्ध्यं नभः क्षुब्धार्णवोपमम् ।  
 सरितां चाम्बुसंशोषं दृष्ट्वा ग्रीष्मे शुभं भवेत् ॥ ४ ॥  
 शक्रायुधपरीवेषविद्युच्छुष्कविरोहणम् ।  
 कम्पोद्वर्तनवैकृत्यं रसनं दारुणं क्षितेः ॥ ५ ॥  
 नद्युदपानसरसां वृद्ध्यूर्ध्वतरणप्लवाः ।  
 शीरणं चाद्रिगोहानां वर्षासु न भयावहम् ॥ ६ ॥  
 दिव्यस्त्रीभूतगन्धर्वविमानाद्भुतदर्शनम् ।  
 ग्रहनक्षत्रताराणां दर्शनं च दिवाम्बरे ॥ ७ ॥  
 गीतवादित्रनिर्घोषो वनपर्वतसानुषु ।  
 सस्यवृद्धिरपां हानिरपापाः शरदि स्मृताः ॥ ८ ॥  
 शीतानिलतुषारत्वं दर्शनं मृगपक्षिणाम् ।  
 रत्नो यक्षादिसत्त्वानां दर्शनं वागमानुषी ॥ ९ ॥  
 दिशोधूमान्धकाराश्च सनभोवनपर्वताः ।  
 उच्चैः सूर्योदयेऽस्ते च हेमन्ते शोभनाः स्मृताः ॥ १० ॥  
 हिमपाताऽनिलोत्पातविरूपाद्भुतदर्शनम् ।  
 कृष्णाक्षनाभमाकाशं तारोल्कापातपिंजरम् ॥ ११ ॥  
 चित्रगर्भोद्भवाः स्त्रीषु गोजाश्वमृगपक्षिषु ।  
 पत्राङ्कुरलतानां च विकाराः शिशिरे शुभाः ॥ १२ ॥  
 ऋतुस्वभावजा ह्येते दृष्टाः स्वर्तौ शुभप्रदाः ।  
 ऋतोरन्यत्र चोत्पाता दृष्टास्ते भृशदारुणाः ॥ १३ ॥' इति ।

अथ ग्रहभिन्नं ग्रहैर्भौमादिभिः पञ्चभिर्भिन्नं सिद्धान्तोक्तरीत्या  
 भेदयोगं प्राप्तमेतादृशं भं नक्षत्रं त्यज । तथा यौद्धं यन्नक्षत्रं भौमादि  
 पञ्चग्रहयुद्धमध्यपतितं सदृश्यते तस्यज । तत्र क्रूरयोगादेव दोषसत्त्वे  
 युद्धोपघातस्तु दोषाधिक्यसूचनार्थः । सौम्यग्रहयुद्धे तु स एव दोषः ।  
 अत्र केचित् यस्मिन् दिननक्षत्रे भौमादीनां युद्धं जातं तन्नक्षत्रं त्या-

ज्यमित्याहुस्तत्र, प्रमाणाभावात् । तथोत्पातभमुत्पातैर्दिव्यान्तरिक्षभौ-  
मैर्दूषितं भं त्यज । अयमर्थः । भौमान्तरिक्षयोरुत्पातयोर्ग्रहयुद्धं चेत्प्र-  
त्यक्षदृश्यनक्षत्राभावादिनक्षत्रमेव त्याज्यम् । दिव्योत्पाते तु केत्वा-  
दिना प्रत्यक्षतो यन्नक्षत्रमाक्रान्तं तत्त्याज्यम् । भौमान्तरिक्षोत्पातसाह-  
चर्यादिनक्षत्रमपि त्याज्यम् । एवं नक्षत्रचतुष्टयं परमासम् । 'काला-  
ध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । परमासमभिव्याप्येत्यर्थः । यदुक्तं  
शाङ्गीयविवाहपटले—'क्रूरैर्भुक्तं युक्तं भोग्यं च तथैव खेटयुद्धगतम् ।  
ग्रहभिन्नकेतुहतभं त्यजेन्महोत्पातदुष्टं यत् ॥ यद्राहुसंदर्शनदुष्टमृत्तं शी-  
तांशुयुक्तं च विद्याहलग्ने । आमासषट्कं विदधीत तस्मिन्विवाहयात्रा-  
दिशुभं न चैव ॥' इति । नारदोपि—'ग्रहणोत्पातभं त्याज्यं मङ्गलेषु ऋतुत्रय-  
म्' इति । मङ्गलेषु 'ऋतुत्रयमित्यत्र 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः । गुरुरपि-  
'उत्पातैः पीडितास्ताराः परमासं प्रकृतिं ययुः । राहुकेतुविभुक्तं यद्-  
क्षत्रं निपीडितम् ॥ वत्सरार्धेन शुध्येत ग्रहयुद्धगतं च भम् । नक्षत्र-  
ग्रहयोगेन यदुक्तं दोषसंचयम् ॥ तदिदं सर्वकार्येषु शुभेषु परिव-  
र्जयेत्' इति ।

ग्रहयुद्धे चत्वारो भेदाः—

ग्रहयुद्धे भेदाश्चत्वारः । भेदः, उल्लेखः, अंशुविमर्दनं, अपसव्यं  
चेति । यथा वराहः—'आसन्नक्रमयोगान्ने दोल्लेखांशुमर्दनाऽसव्यैः ।  
युद्धं चतुःप्रकारं पराशराद्यैर्मुनिभिरुक्तम् ॥' इति । तल्लक्षणानि सूर्य-  
सिद्धान्ते—'उल्लेखस्तारकास्पर्शज्ज्ञेदे भेदः प्रकीर्त्यते । युद्धमंशुविम-  
र्दाख्यमंशुयोगे परस्परम् ॥ अंशादूनेऽपसव्यं स्याद्युद्धमेकोऽत्र चेदणुः'  
इति । ननु ग्रहयुद्धादिकं सिद्धान्तविरुद्धम् । यतः 'कक्षाः सर्वा अपि  
दिविषदां चक्रलितांकितास्ता वृत्ते लब्ध्वो लघुनि महति स्युर्महत्त्यश्च  
लिताः । तस्मादेते शशिजभृगुजादित्यभौमेज्यमन्दा मन्दाक्रान्ता इव श-  
शधराद्भ्रान्ति यान्तः क्रमेण ॥' इति भास्कराचार्योक्तं महान्तरोर्ध्वाधो-  
भावेनावस्थितानां ग्रहाणां युद्धासम्भव एव । लोके हि समीपवर्तिनोः  
पुंसोर्युद्धादि दृश्यते तत्कथमियमत्र शास्त्रे ग्रहयुद्धोक्तिः । सत्यम् । अत्र  
युक्तिपुरःसरं वराह एव समादधातिस्म—'वियतिचरग्रहाणामुपर्युपर्या-  
त्ममार्गसंस्थानाम् । अतिदुरादृग्विषये समतामिव सम्प्रयातानाम् ॥  
आसन्नक्रमयोगान्ने दोल्लेखांश्च मर्दनाऽसव्यैः । युद्धं चतुःप्रकारं परा-



शराद्यैर्मुनिभिरुक्तम् ॥' इति । तेन भूवर्तिनां राक्षामन्येषां वा शुभाशुभ-  
फलसूचनार्थं युद्धसमागमाद्युक्तिः । उक्तं च सूर्यसिद्धान्ते—'भावाभा-  
वाय लोकानां कल्पनेयं प्रदर्शिता । स्वमार्गतः प्रयान्त्येते दूरमन्यो-  
न्यमार्गतः ॥' इति । ननु यथा ग्रहणं तिथिसंधौ भवति तथा  
नक्षत्रद्वयसंधौ जायमानं किं नक्षत्रं दूषयति किं परं किं पूर्वं कि-  
मुभयमिति । अधिशेषादुभयमिति वयं ब्रूमः । यदुक्तं शार्ङ्गयवि-  
वाहपटले—'यस्मिन् विधुं राहुरिनं च धिष्ये गृह्णाति तस्या-  
ज्यमृतुत्रयं स्यात् । पाणिग्रहे पुंमरणां विधत्ते द्वयोर्भयोश्चोद्द्वयमेव  
जह्यात् ॥' इति । अथासन्नपक्षद्वयग्रहणो किं द्वयोस्त्यागः परमासमुत्त-  
कस्यचित्कश्चिद्विशेषः । अयमपि निर्णयस्तत्रैवाभ्यधायि 'पक्षांतरेण  
ग्रहणद्वयं च यदा तदादिग्रहणोपगर्भम् । पक्षाद्विशुद्ध भवति द्वितीयं  
पाणिग्रहे शुद्ध्यति भोगषट्कात् ॥' इत्यलमतिप्रसंगेन ॥ ३२ ॥

अथ ग्रासभेदेन कियत्संख्याकेषु ग्रहणीयनक्षत्रनिषेधं तथा प्रागा-  
दिदिवसांश्च निषिद्धानिद्रवज्जाच्छन्दसाह—

नेष्टं ग्रहर्क्षं सकलार्धपादग्रासे

क्रमात्तर्कगुणैन्दुमासान् ।

पूर्वं परस्तादुभयोस्त्रिघत्ना

ग्रस्तेऽस्तगे वाप्युदितेऽर्धखण्डे ॥ ३३ ॥

नेष्टमिति । ग्रहर्क्षं ग्रहणनक्षत्रं क्रमात्संपूर्णार्धचतुर्थांशग्रासे सति षट्त्र्ये-  
कमासान् नेष्टम् । तथा—ग्रहणं सर्वग्रासे मासषट्कं, अर्धग्रासे मासत्रयं,  
चतुर्थांशग्रासे मासमेकं त्यजेदित्यर्थः । यदाह गुरुः—'सर्वग्रासे तु परमासां-  
स्त्रीन्मासांश्च दलग्रहे । आपादग्रहणे धिष्यं मासमेकं विवर्जयेत् ॥' इति  
अथ पूर्वमिति क्रमादित्यनुवर्तत एव । अत्रापि ग्रस्तेऽस्तगे ग्रस्तास्ते पूर्वं  
त्रिघत्नास्त्रिदिनं नेष्टम् । पूर्वं न सम्यक् त्रिदिनमित्यर्थः । अर्थादग्रेतनानि  
दिनानि समीचीनानि । तथा ग्रस्तेऽभ्युदिते ग्रस्तोदये परस्तात्पश्चा-  
त्त्रिदिनं नेष्टं पूर्वं सम्यक् त्रिदिनमित्यर्थः । तथा अर्धखण्डे ग्रस्तोदय-  
ग्रस्तास्तयोरभावेपि अर्धग्रासे विवसानादर्धग्रासे उभयोः कालयोः  
प्राक्पश्चात्त्रिदिनं नेष्टम् । यदाह गुरुः—'ग्रस्तास्ते त्रिदिनं पूर्वं पश्चा-  
द्ग्रस्तोदये तथा । खण्डग्रासे त्रिदिनं निःशेषे सप्त सप्त च ॥'

इति । कश्यपोऽपि—‘ग्रस्तोदये परो दोषो ग्रस्तास्तेऽर्वाक् शशीनयोः ।  
द्युनिशार्धे तूभयं स्यात्खंडिखंडव्यवस्थयोः ॥’ इति । वसिष्ठोऽपि—‘ग्र-  
स्तोदये चोर्ध्वमनिष्टमादौ ग्रस्तास्तमानेभ्युदुमासषट्कम् ॥’ इति । अतः  
खण्डग्रहणादिसद्भावेऽपि ग्रस्तोदयग्रस्तास्तत्वाभावात्पूर्वं पञ्चाच्चोक्तदि-  
नानि वर्ज्यानीति सर्वत्र विषयविवेकः ॥ ३३ ॥

अथ सामान्यतोऽवश्यं वर्ज्यानि पंचांगदूषणादीनि वसन्ततिलक-  
यानुदुभा चाह । जन्मर्तुमासतिथिप्रभृतयः पदार्थाः सर्वेषु कर्मसु वर्ज्या  
इति द्वितीयश्लोकेनान्वयः । तान् पदार्थानाह—

जन्मर्तुमासतिथयो व्यतिपातभद्रा-

वैधृत्यमापितृदिनानि तिथिचतुर्द्धी ।

न्यूनाधिमासकुलिकप्रहरार्धपाता

विष्कम्भवज्रघटिकात्रयमेव वर्ज्यम् ॥ ३४ ॥

परिघार्धं पञ्च शूले षट् च गण्डातिगण्डयोः ।

व्याघाते नव नाड्यश्च वर्ज्याः सर्वेषु कर्मसु ॥ ३५ ॥

जन्मर्तुंति । यस्मिन्नक्षत्रे जन्म भवेत्तज्जन्मर्तुं, यस्मिन् मासे जन्म  
भवेत्स जन्ममासः, यस्यां तिथौ जन्म भवेत्सा जन्मतिथिः एते  
वर्ज्याः । तदाह वसिष्ठः—‘स्वजन्ममासर्तुतिथिचतुरोषु वैनाशकाद्यृक्षगणेषु  
भेषु । नोद्वाहमात्माभ्युदयाभिलाषी नैवाद्यगर्भद्वितयं कदाचित् ॥’  
अयं च जन्मनक्षत्रमासतिथिनिषेधः आद्यगर्भस्यैव । यदाह नारदः—  
‘जन्ममासे न जन्मर्तुं न जन्मदिवसेऽपि वा । आद्यगर्भसुतस्यापि दु-  
हितुर्वा करग्रहः ॥’ इति । अनेनाद्यगर्भव्यतिरिक्तकन्यायास्तादृशवरस्य  
जन्मर्तुमासतिथिषु शुभफलत्वमुक्तं भवति । अत एवाह च्यवनः—‘जन्म-  
र्तुं जन्ममासे वा तारायामयं जन्मनि । जन्मलग्ने भवेदूढा पुत्राढ्या  
पतिवह्मभा ॥’ इति ।

जन्ममासलक्षणम्—

अथ जन्ममासलक्षणम् जगन्मोहने वृद्धधर्गाः—‘आरभ्य जन्मवि-  
वसं यावत्त्रिंशद्दिनं भवेत् । स जन्ममासो विज्ञेयो गर्हितः सर्वकर्मसु भा’  
इति अस्यापि विशेषस्तत्रैव—‘जातं दिनं दूषयते वसिष्ठः पंचैव गर्गसि-



दिनं तथात्रिः । तज्जन्मपङ्क्तं किल भागुरिश्च व्रते विवाहे गमने क्षुरे च ॥  
 इति । वस्तुतस्तु यस्मिन्चांद्रमासे चैत्रादौ जन्माभूत्स चांद्रमासो जन्म-  
 मासतया त्याज्य इति युक्तमुत्पश्यामः । 'इद्राग्नी यत्र हूयेते मासादिः स  
 प्रकीर्तितः । अग्नीषोमौ स्थितौ मध्ये समाप्तौ पितृसोमकौ ॥' इति हारीत-  
 वचनात् । उपवासव्रतोद्वाहयात्राक्षौरोपनायनम् । तिथिवर्षादिनिखिलं  
 चांद्रमानेन गृह्यते ॥' इति कश्यपोक्तेश्च । अथात्र तिथिशब्दो वसिष्ठवाक्य-  
 स्वरसादुक्तः । अत एव नारदसंहितायां रत्नमालादिग्रन्थेषु च दिवसपदं  
 तिथिपरं व्याख्येयम् । अन्यथा जन्मवारेऽप्यतिप्रसङ्गः स्यात् । अथ व्यती-  
 पातो वर्ज्यः । सप्तविंशतियोगेषु व्यतीपातो नामयोगः स्पष्टसूर्यचन्द्रयोगः  
 जन्मा सप्तदशसंख्याको निंद्यः । उक्तं च वसिष्ठेन—'स वैधृतो यो व्यतिपा-  
 तयोगः सर्वोप्यनिष्टः परिघार्धमाद्यम् ।' इति । तथा भद्रा वर्ज्या भद्रा  
 सप्तमं करणं वर्ज्यम् । यदाह वसिष्ठः 'न कुर्यान्मङ्गलं विष्ट्यां जीवि-  
 तार्थी कदाचन । कुर्गन्नृक्षस्तदा क्षिप्रं तत्सर्वं नाशतां व्रजेत् ॥' इति ।  
 भद्राप्रवृत्तिरङ्गविभागकल्पनं च विशेषतोऽग्रे वक्ष्यते । तथा वैधृतिः पूर्व-  
 लक्षणलक्षितः सप्तविंशतिसंख्याको योगो निंद्यः । अत्र सम्मतिः पूर्व-  
 मुक्ता । अथ 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' इतिन्यायमनुसृत्य भीमो भीम-  
 सेन इत्यादिवदमा अमावास्या निंद्या । 'सदैव दर्शं पितृकर्म चैव ना-  
 न्यद्विधेयं शुभपौष्टिकाद्यम् । मूढैः कृतं यच्च शुभोत्सवाद्यं विनाशमा-  
 यात्यचिराद्भृशं तत् ॥' इति वसिष्ठोक्तेः । अथ पितृदिनं माता च पिता  
 च पितरौ 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । पित्रोर्दिनं मातापित्रोर्मरणदिनं ।  
 श्राद्धदिनमिति यावत् तदपि निषिद्धम् । यदाह शार्ङ्गधरः—'भद्रा-  
 र्धयामकुलिकं व्यतिपातं वैधृतिं च परिघार्धम् । क्रान्तिस-  
 मत्वं जह्यात्संक्रांतिं क्षयदिनं पित्रोः ॥' इति अथ तिथिक्षयदूर्ध्वं वर्ज्यं  
 क्षयश्च ऋद्धिश्च क्षयदूर्ध्वं तिथेः क्षयदूर्ध्वं तिथिक्षयदूर्ध्वं तिथिक्षय-  
 स्तिथिवृद्धिश्चैते वर्ज्ये । अनयोः प्रसिद्धत्वाल्लक्षणं नोक्तम् ।

तिथिक्षयवृद्धिधस्वरूपादि—

तत्र तिथिक्षयलक्षणां तत्र यो धारस्तिथिद्वयान्तं स्पृष्ट्वा तृतीय-  
 तिथेः कंचिदादिमभागमपि स्पृशति तत्र वारे मध्यमा तिथिक्षयसंज्ञा ।  
 यथा नवमो रवौ घटिकाद्वयं पुनर्दशमो रवौ षट्पंचाशद्वटिकाः ५६  
 एकादश्याश्च घटिकाद्वयं रविवारेण सह संबद्धमिति दशमो तिथिः



क्षयसंज्ञिता अवमसंज्ञितेत्यपि चाहुः । अथ तिथिवृद्धिलक्षणां यत्र या तिथिवारद्वयांतं स्पृष्ट्वा तृतीयवारस्यादिमं कचिद्भागं स्पृशति तत्र सा तिथिवृद्धिसंज्ञा त्रिद्युस्पृगित्यपि चेत्याहुः । यथा तृतीया रवौ अष्टपंचाशद्वारिकाः ५८ ततश्चतुर्थी सोमे षष्टिवारिकाः ६० ततो भौमवासरे चतुर्थी घटिकात्रयं ३ अतश्चतुर्थी वारत्रयसंबद्धा तिथिवृद्धिसंज्ञा । यदाह वसिष्ठः—‘स्युस्तिष्ठस्तिथयो वारे एकस्मिन्नवमा तिथिः । तिथिवारत्रयं चैका त्रिद्युस्पृक् द्वेति निर्दिते ॥ कृतं यन्मंगलं तत्र त्रिद्युस्पृगवमे दिने । भस्मीभवति तत्क्षिप्रमग्नौ सम्यग्यथेधनम् ॥’ इति

आवश्यकं तिथिक्षयादीनां दोषाववादः—

अथ शुभकृत्यावश्यकत्वे तिथिक्षयतिथिवृद्धयोः परिहारमाह दोषापवादाध्याये वसिष्ठः—‘अवमाख्यं तिथेर्दोषं केंद्रगो देवपूजितः । हंति यद्वत्पाचय व्रतं द्वैवार्षिकं यथा ॥ त्रिद्युस्पृगाह्वयं दोषं सौम्यः केंद्रगतः सदा । हंति यद्वत्पाचयमशून्यशयनव्रतम् ॥’ इति । अथ न्यूनाधिमासौ क्षयमासाधिकमासौ वर्ज्यौ । ‘असंक्रांतिमासोधिमासः स्फुटं स्याद्विसंक्रांतिमासः क्षयाख्यः कदाचित्’ इति । द्वयोरपि लक्षणां सिद्धांतशिरोमणावभिहितम् । ग्रंथकृदपि संक्रांतिप्रकरणे—‘स्पष्टार्कसंक्रांतिविहीन उक्तो मासोऽधिमासः क्षयमासकस्तु । द्विसंक्रमः’ इति वक्ष्यति । एतच्च तत्रैव सम्यगव्याख्यास्यते । तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्—‘यस्मिन्दर्शस्यांतादवर्गिवापरं दर्शम् । उल्लंघ्य भवति भानोः संक्रान्तिः सोधिमासः स्यात् ॥ आद्यंतदर्शयोर्मध्ये भानोरेव कदाचन । संक्रांतिद्वितयं स्याच्चेन्न्यूनमासः स उच्यते ॥ मासप्रधानाखिलमेव कर्म मुक्त्वाऽखिलं कर्म न कार्यमत्र । यज्ञोपवासव्रततीर्थयात्राविवाहकर्मादि विनाशमेति ॥’ इति । अथ कुलिकः वारसंबन्धी मुहूर्तदोषो वर्ज्यः । तथा प्रहरार्धं वारसंबन्धेनार्धयामा वर्ज्याः । यदाह वसिष्ठः—‘निधनं प्रहरार्धं तु निःस्वत्वं यमघण्टके । कुलिके सर्वनाशः स्याद्रात्रावेते न दोषदाः ॥’ इति कुलिकादीन् दोषान् ग्रंथकृदग्रे वक्ष्यति । अथ पातो महापातो महागणितसाध्यो व्यतीपातनामको वैधृतिनामकश्च वर्ज्यः । यदाह नारदः—‘यस्मिन्दिने महापातस्तद्दिनं वर्जयेच्छुभे । अपि सर्वागुणोपेतं दंपत्योर्मरणप्रदम् ॥’ इति । कश्यपोऽपि—‘महानैधृतिपाताभ्यां दूषितं लग्नमुत्तमम् । राजावधूतं पुरुषं यद्वत्तत्संपरित्यजेत् ॥’ इति । पातो व्यतीपातः । महाश-



ध्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । महावैधृतिर्महाव्यतोपातश्च ताभ्यामित्यर्थः ।  
महापातो नाम रवीन्दुकान्तिसाम्यम् । तदानयनं तु गणितग्रन्थेभ्यः  
सूर्यसिद्धान्तादिभ्यो ज्ञेयम् । ततो महापातकालं निर्णयिष्य यत्तत्काल-  
स्यातिसूक्ष्मत्वात्कस्मिन्काले मङ्गलकृत्यं निषिद्धमित्याशङ्क्य महापात-  
स्थितिकालानयनमप्युक्तं तत्रैव । तत्प्रयोजनं सूर्यसिद्धान्ते—‘आद्यन्त-  
कालयोर्मध्ये कालो ज्ञेयोतिदारुणः । प्रज्वलज्ज्वलनोकारः सर्वकर्मसु  
गर्हितः ॥ स्नानदानजपप्रादुर्ध्वतहोमादिकर्मसु । प्राप्यते सुमहच्छ्रे-  
यस्तत्कालज्ञानतस्तथा ॥’ इति । आद्यन्तकालौ स्पर्शमोक्षस्थितिरूपौ । सि-  
द्धान्तशिरोमणावप्युक्तम् । ‘पातस्थितिकालान्तर्मङ्गलकृत्यं न शस्यते तज्ज्ञैः ।  
स्नानजपहोमदानादिकर्मत्रोपैति खलु वृद्धिम् ॥’ इति । यत्तु वसिष्ठेनोक्त-  
म्—‘महापातो वैधृतिश्च उपरागसमस्तदा । तस्माद्दिनत्रयं त्याज्यं मध्यपू-  
र्वापरमिधम् ॥’ इति । वराहेणापि बृहद्यात्रायामुक्तम्—‘पण्यो धनं क्षपयति  
व्यतिगतयोगो मृत्युं ददाति न धिरादपि वर्तमानः । सन्तोषशोकगदवि-  
घ्नभयान्यतोस्तस्माद्दिनत्रयमपि प्रजहीत विद्वान् । तदेव वचनद्वयमपि  
महापातोपयोगिगणिताशक्त्या कदा महापातः स्यादिति सूक्ष्ममहापात-  
स्थितिकालज्ञानाद्विवाहप्रकरणे ‘पञ्चास्याजौ’ इति वक्ष्यमाणरोत्या महा-  
पातसम्भावनापरया पातदिवसं निर्णयिष्य पूर्वपरवर्तमानदिनानां त्या-  
गपरमिति प्रतिभाति । ‘यस्मिन्दिने महापातस्तद्दिनं वर्जयेच्छुभे’ इति  
नारदवाक्यमप्येवमेव व्याख्येयम् । यदा तु महापातस्य स्थितिरूत्सू-  
क्ष्मकालज्ञानं स्यात्तदा ‘स्थूलात्सूक्ष्मं ज्यायः’ इति न्यायेन स एव पा-  
तमध्यकालो विवाहादिमङ्गलकृत्येषु त्याज्योऽन्यथा गणितग्रन्थेषु पा-  
तस्थितिकालानयनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्ग इति निष्कृष्टोऽर्थः । विष्कम्भेति ।  
विष्कम्भवज्रयोगयोः प्रथमातिक्रमे कारणाभावादादिमं घटिकात्रय-  
मेव वर्ज्यम् । तथा परिघस्य परिघाख्ययोगस्य घटिकानामाद्यमर्थं  
त्रिशद्वटिकात्मकं त्याज्यम् । शूले पञ्चादिमा घट्यो वर्ज्याः । गण्डा-  
तिगण्डयोगयोरादिमा षड् नाड्या वर्ज्याः । व्याघातयोगे नवादिमा  
नाड्यो वर्ज्याः । यदाह श्रोतृतिः—‘परिघस्य चार्धम् । तिस्रस्तु योगे  
प्रथमे सवज्जे व्याघातसंज्ञे नव पञ्च शूले । गण्डेतिगण्डे च षडेव  
नाड्यः शुभेषु कार्येषु विवर्जनीयाः ॥’ इति । ननु सवज्जे इदं कस्य वि-  
शेषणं प्रथमयोगस्य वा व्याघातयोगस्य वा भिन्नभिन्नघटिकानिर्देशा-  
दुभयोस्तद्विशेषणमप्युक्तम् । अत्र ब्रूमः । प्रथमस्यैव विशेषणं वज्रयोग-

सहिते प्रथमयोगे विष्कम्भयोगे तिस्रो नाड्यो वर्ज्या इत्यर्थः । कि-  
मत्र प्रमाणमिति चेच्छृणु । कश्यपादिशक्यस्वरसात् । यदाह कश्यपः—  
'विष्कम्भयज्ञयोस्तिष्ठः षट् च गण्डातिगण्डयोः । व्याघाते नव शूले  
तु पञ्च नाड्यस्तु गर्हिताः ॥' इति नारदोऽप्येवमेव । अनेन—'विष्क-  
म्भादिघटोत्रयं च नवकं व्याघातयज्ञोद्भवम्' इति वदन्महेश्वरः प्रत्या-  
ख्यातो भवति । एवं च—'विष्कम्भाद्यत्रिनाडीः शुभकृतिषु च षट् ग-  
ण्डयोः पञ्च शूले व्याघाते यज्ञकैऽकाः' इति गणेशज्योतिर्विदुक्तिरपि  
चिन्त्या ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अथ पक्षरन्ध्रतिथीरावश्यकत्वे सति तन्निष्ठवर्ज्यघटीश्चानुष्टुभाह—

वेदाङ्गाष्टनवार्केन्द्रपक्षरन्ध्रतिथौ त्यजेत् ।

वस्वक्कमनुतत्त्वाशाशरा नाड्योः पराः शुभाः ॥ ३६ ॥

वेदांगेति । चतुर्थी षष्ठी अष्टमी नवमी द्वादशी चतुर्दशी एताः पक्षर-  
न्ध्रसंज्ञास्तिथयो ज्ञेयाः । आसु शुभकृत्यावश्यकत्वे सति क्रमादादिमा  
वस्वक्कमनुतत्त्वाशाशरानाड्योस्त्यजेत् । यथा चतुर्थ्यामादिमा अष्टघटि-  
कास्त्याज्या इत्यर्थः । अथ परा उर्वरिता नाड्यः शुभकृत्ये शुभा ज्ञेयाः ।  
यदाह दोषनिरूपणाध्याये वसिष्ठः—

'चतुर्दशी चतुर्थी च अष्टमी नवमी तथा ।

षष्ठी च द्वादशी चैव पक्षिद्राह्वया इमाः ॥

क्रमादेतासु तिथिषु वर्जनोयाश्च नाडिकाः ।

भूताष्टमनुतत्त्वांकदश शेषास्तु शोभनाः ॥

दोषनाडीषु यत्कर्म शुभं सर्वं विनश्यति ।

विवाहे विधवा नारो ब्रात्यः स्याच्चोपनायने ॥

सोमन्ते गर्भनाशः स्यात्प्राशने मरणं ध्रुवम् ।

अग्निना दह्यते क्षिप्रं गृहारम्भे विशेषतः ॥

राजराष्ट्रविनाशः स्यात्प्रतिष्ठायां विशेषतः ।

किमत्र बहुनोक्तेन कृतं कर्म विनश्यति ॥' इति ।

कश्यपस्तु सर्वसाधारण्येन 'दशैव घटिकास्त्याज्या' इत्याह—'अष्टमी  
द्वादशी षष्ठी पक्षरन्ध्रास्तु तासु च । मङ्गले सर्वदा त्याज्यां नूनं हि दश  
नाडिकाः ॥' इत्यनेन एतस्यैव तिथिवारनक्षत्रयोगकरणात्मकस्य पञ्चां-



गस्य शुद्धिः पञ्चांगशुद्धिधरित्युक्तम् । नारदेन—‘तिथिवारर्क्षयोगानां क-  
रणस्य च मेलनम् । पञ्चांगमस्य शुद्धिः पञ्चांगशुद्धिबदाहता ॥  
यस्मिन् पञ्चांगदोषोस्ति तस्मिन्नङ्गं निरर्थकम् ॥’ इति ॥ ३६ ॥

अथ कुलिककालवेलायमघण्टकण्टकदोषाननुष्ठुभाह—

(१) कुलिकः कालवेला च यमघण्टश्च कण्टकः ।

वाराद्धिघ्नो क्रमान्मन्दे बुधे जीवे कुजे क्षणः ॥ ३७ ॥

(१) अत्रोपपत्त्यर्थं प्रथमं कस्यचित्पद्यानि—

रविवारादिशन्यन्तं गुलिकादि निरूप्यते ।

दिवसानष्टधा कृत्वा वारेशाद्वर्णयेत्क्रमात् ॥

अष्टमांशो निरीशः स्याच्छन्यंशो गुलिकः स्मृतः ।

रात्रोरप्यष्टधा भक्त्वा वारेशात्पञ्चमादितः ॥

गणयेदष्टमः खण्डो निष्पत्तिः परिकीर्तितः ।

शन्यंशो गुलिकः प्रोक्तो गुर्वंशो यमघण्टकः ॥

भौमांशो मृत्युरादिष्टो रव्यंशः कालसंज्ञकः ।

सौम्यांशोऽर्धप्रहरकः स्पष्टकर्मप्रदेशकः ॥

भावार्थः—ख्यादिवारेषु वसुभिर्विभज्यमाने दिनमाने लब्धान्यष्टौ  
खण्डानि तेषु प्रथमखण्डेशो वारेशो द्वितीयखण्डेशो वारेशादग्रिम-  
स्तृतीयखण्डेशश्च ततोऽग्रिम इत्येवं क्रमादीशत्वं सर्गखण्डानाम् ।  
अष्टमः खण्डः सर्वादौ निरीशः किञ्च शन्यंशो गुलिकः, गुर्वंशो यम-  
घण्टकः, कुजांशो मृत्युर्वुधंशोऽर्धप्रहरसंज्ञकः । तथाकृते रविवासरे  
रवोः सप्तमाच्छन्नेः सप्तमो गुलिकः, तृतीयो मृत्युः, चतुर्थोऽर्धप्रहरकः,  
पञ्चमो यमघण्टकः । चन्द्रे षष्ठो गुलिकः, द्वितीयो मृत्युः, तृतीयोऽर्ध-  
प्रहरः, चतुर्थो यमघण्टकः । कुजे पञ्चमो गुलिकः, प्रथमो मृत्युः,  
द्वितीयोऽर्धप्रहरः, तृतीयो यमघण्टकः । बुधे चतुर्थो गुलिकः, सप्तमो  
मृत्युः, प्रथमोऽर्धप्रहरः, द्वितीयो यमघण्टकः । गुरौ तृतीयो गुलिकः  
षष्ठो मृत्युः, सप्तमोऽर्धप्रहरः, प्रथमो यमघण्टकः । शुके—द्वितीयो  
गुलिकः, पञ्चमो मृत्युः, षष्ठोऽर्धप्रहरः, सप्तमो यमघण्टकः । शनौ  
प्रथमो गुलिकः, चतुर्थो मृत्युः, पञ्चमोऽर्धप्रहरः, षष्ठो यमघण्टकः ।

कुलिक इति । वारात् वर्तमानवारात् मन्दे शनैश्चरे गणिते सति योऽको भवेत्तस्मिन् द्विगुणे योऽकस्तत्संख्यः क्षणो मुहूर्तः कुलिको भवति । एवं वर्तमानवारात् बुधे, जीवे, कुजे, गणिते ततो द्विगुणिते सति योऽकः स क्रमात्कालवेलायमघटकएटकसंज्ञकाः दुष्टमुहूर्ताः स्युः । यथा रवितः शनिः सप्तसंख्याकः स द्विगुणश्चतुर्दश जाता अतस्तत्संख्याको मुहूर्तः कुलिकसंज्ञो रविवारे भवति । एवं रवावष्टमो मुहूर्तः कालवेला तथा रवौ दशमो मुहूर्तो यमघटः तथा रवौ षष्ठो मुहूर्तः कट-

प्राचीनोक्तगुलिकादीनां च त्रयाणां नामान्तराणि कुलिककएटककाल-वेलाख्यानि क्रमेण श्रीमता रामेण रक्षितानि चतुर्थो यमघटकोऽत्रापि यथोक्त एव रक्षितः ।

स्पष्टज्ञानार्थं चक्रम्—

| ख्यादयो दिवसाः         | २० | च० | म० | बु० | बृ० | शु० | श० |
|------------------------|----|----|----|-----|-----|-----|----|
| गुलिकः = कुलिकः        | ७  | ६  | ५  | ४   | ३   | २   | १  |
| मृत्युः = कएटकः        | ३  | २  | १  | ७   | ६   | ५   | ४  |
| अर्द्धप्रहरः = कालवेला | ४  | ३  | २  | १   | ७   | ६   | ५  |
| यमघटः प्रकृतीक एव      | ५  | ४  | ३  | २   | १   | ७   | ६  |

अथैतत्परिणामतो 'वाराद् द्विज्जे क्रमान्मन्दे-' इत्यादि सिद्ध्यर्थं प्रस्तुतमुच्यते । यस्मिन् दिने कुलिकादिज्ञानं क्रियते तत्र यदिनमानं तत् षोडशभिर्विभक्तं मुहूर्तं इति कथ्यते । अथ रविदिने सप्तमोऽष्टमांशः पूर्वं गुलिकः सिद्धस्तत्र दिनमानषोडशांशः ( अत एव द्वात्रिंशद् घटीमितदिनमानमाश्रित्य 'मुहूर्तो घटिकाद्वय'—मिति साधारण्येनोक्तं कैश्चित् ) मुहूर्तत्वात्सप्तमसंख्यको गुलिको ( कुलिको वा ) द्विगुणितश्चतुर्दशमिता भवन्ति मुहूर्तास्ते चैवम्  $७ \times २ = १४$  अर्थाद्रवोः शन्यवधिसप्तमितसंख्या द्विगुणा रविवासरे, चन्द्राच्छून्यवधिषरिमतसंख्या द्विगुणा चन्द्रवासरे कुलिकानामा भवति । एवं कुजादिवासरेष्वपि कुलिकानयनमुपपद्यते ।

अथ कएटकानयनोपपत्तिः । रविवासरे तृतीयोऽष्टमांशः कएटकः सिद्धः पूर्वोक्तया च द्विगुणितः (  $३ \times २ = ६$  ) षरिमता मुहूर्ता अतो रविवारात्कुजं यावत्त्रिमिता संख्या, तस्यां द्विगुणितायां षट्संख्यो



कसंज्ञ इत्यर्थः । एवं सोममारादावपि कुलिककालवेलायमघण्टकं-  
काः स्युरित्यर्थः । यदाह कश्यपः—‘शैलाक्षवेदा ७,५,४, स्तर्का-  
ब्धिनगाः ६,४,७, पंचाग्निवाहवः ५,३,२, । वेदाक्षिवाणा ४,२,५, लोकै-  
केभा ३,१,८, स्त्वक्षिगिरिबह्वयः २,७,३, ॥ चन्द्रतुंतर्काः १,६,६, कुलि-  
कयमघण्टार्धयामकाः । प्रहरार्धप्रमाणास्ते भानुवारादितः क्रमात् ॥’  
इति । अत्रार्धयामः संपूर्णस्याज्योऽन्वर्थत्वात् । कुलिकयमघण्टयोस्तू-  
त्तरार्धं त्याज्यम् । उक्तं च दैवज्ञमनोहरे—‘अहनि निशि गजांशः स्वे  
दिनेशादिकानां भवति तु गुरुभौमशार्किकालक्रमेण । प्रभवति यमघण्टः  
कंटकः कालवेला कुलिक इति विरुद्धस्तत्परार्धं निषिद्धम् ॥’ इति ।  
गजांशोऽर्धप्रहरः एते मुहूर्तदोषा दिनषोडशांशत्वेन ज्ञेयाः । गजांश इत्यु-  
क्त्वा तत्परार्धनिषिद्धमित्युक्तेः

एतेषां दोषफलानि

दाषफलमाह वसिष्ठः—‘निधनं प्रहरार्धे तु निःस्वत्वं यमघण्टके ।  
कुलिके सर्वनाशः स्याद्रात्रावेतेः न दोषदाः ॥’ इति । कंटककालवेलयो-  
न्वर्थत्वादत्र फलं नोक्तम् ।

एते रात्रौ न दोषदाः—

रात्रावेते न दोषदाः’ इत्यस्यार्थवादो रत्नकोशे—‘तमस्विनीगन्ध-  
मुपेत्य वारदोषास्तथा शक्तिमनाप्नुवन्तः । अन्धं समासाद्य विलासि-  
नीनां कटाक्षवाणा इव निष्फलाः स्युः ॥ इति । तथा च ‘न वारदोषाः  
प्रभवन्ति रात्रौ देवेज्यदैत्येज्यदिवाकराणाम् । दिवा शशांकार्कजभूसुतानां  
सर्वत्र निद्यो बुधवारदोषः ॥’ इति ज्योतिर्निबन्धकृदुक्तिः सङ्गच्छते ।

रवौ कण्टकः । चन्द्रवारेतु चन्द्रात्कुजावधि द्विमितैव तेन द्वे द्विगुणिते  
चतुःप्रमितः कण्टक इत्यादि कुजादिष्वपि ।

अथ कालवेलानयनम्—रवौ चतुर्थो हि कालवेलाः (४ × २ = ८)  
अष्टमिता मुहूर्ता जातास्ते च रविवाराद्बुधधावधि वेदमितसंख्यया द्वि-  
गुणितयैव समा एवं चन्द्रादिद्वारेषु ज्ञेयम् ।

अथ यमघण्टकानयनम्—पूर्वप्रदर्शितरीत्या पञ्चमो यमघण्टाख्यो  
द्वाभ्यां गुणितो दशमिता मुहूर्तास्ते च रवेर्गुहं यावत्पञ्चमितया द्विगु-  
णितया संख्यया समा एवमग्रेऽपि यमघण्टकानयनं विज्ञेयम् । अन्यत्सर्व  
टीकाकृद्भिरेव विशदीकृतमिति ।

देशभेदेन यमघण्टकादिदोषापवादः—

अथ शुभकृत्यावश्यकत्वे देशभेदेन यमघण्टकण्डकादिदोषपरिहार-  
माह गर्गः—‘विध्यस्योत्तरकूले तु यावदातुहिनाचलम् । यमघण्टकदोषो-  
स्ति नान्यदेशेषु विद्यते ॥ मत्स्यांगमगधान्धेषु यमघण्टस्तु दोषकृत् ।  
काश्मीरे कुलिकं दुष्टमर्धयामस्तु सर्वतः ॥’ इति ॥ ३७ ॥

अथ सूर्यादिवारेषु शिष्याणां सद्य एव दोषज्ञानार्थं दुर्मुहूर्तादिनाम-  
कान् मुहूर्तान् शार्दूलविक्रीडितवसन्ततिलकाभ्यामाह—

(१) सूर्ये षट्स्वरनागदिङ्मनुमिताश्चन्द्रेऽधिषट्कुञ्जरा-  
ङ्कार्काविश्वपुरन्दराः क्षितिसुते द्रव्यवध्यग्नितर्का दिशः ।  
सौम्ये द्रव्यविधगजाङ्गदिङ्मनुमिता जीवे द्विषड्भास्कराः  
शक्राख्यास्तिथयः कलाश्च भृगुजे वेदेषुतर्कग्रहाः ॥ ३८ ॥

(१) अत्र ‘कुलिकः कालवेला च यमघण्टश्च कण्टक’ इत्याद्यनन्तरो-  
क्तोपपत्तियुक्त्या रवेर्गुरुसंख्या पञ्चमिता तस्यां द्विगुणितायां दशमो  
मुहूर्त्तो यमघण्टकः, कुजसंख्या द्विगुणा तदा षट्संख्यो मुहूर्त्तः कण्ट-  
कः, शनिसंख्या द्विगुणिता तदा चतुर्दशसंख्यः कुलिकस्तथा बुधसं-  
ख्या द्विगुणा तदाष्टमः कालवेलाख्योऽथ “वारस्त्रिघ्नोऽष्टमिस्तष्टः  
सैकः स्यादर्धयामकः” इत्यनेन रवौ चतुर्थोऽर्धप्रहरो मुहूर्त्तमापनतः  
सप्तमो मुहूर्त्तोऽर्धयामाख्यः सिद्ध्यति, दुष्टक्षणे दुर्मुहूर्त्तश्च “रवावर्यमा  
ब्रह्मरक्षश्च सोमे कुजे वह्निपित्र्ये बुधे चाभिजित्स्या—” इत्यादिना विवा-  
हप्रकरणोक्तेन दर्शितस्तद्युक्तिस्तत्रैव स्पष्टं विलोक्या । चन्द्रवासरेतु  
चन्द्रवाराद्गुरुं यावच्चतुःप्रमिता संख्या तस्यां द्विगुणितायामष्टमो  
यमघण्टः, कुजसंख्या द्विगुणा चतुःसंख्यो मुहूर्त्तः कुलिकस्तथा सप्तमो-  
र्धप्रहरस्तेन त्रयोदशसंख्यो मुहूर्त्तोऽर्धयामाख्य इत्यादि सर्वदिनेष्वेवमे-  
वावधेयम् । तेन रविदिने ६, ७, ८, १०, १४ चन्द्रे ४, ६, ८, १२, १३,  
१४ कुजे २, ४, ३, ६, १०, बुधे २, ४, ८, १०, १४ जीवे २, ६, १२,  
१४, १५, १६ शुक्रे ४, ५, ६, ८, १०, १२, १४ शनौ १, २, ८, १०, ११,  
१२ मुहूर्त्ताः शुभे निषिद्धा इति पूर्वश्लोकस्य टीकायामे लिखितमित्य-  
लं पुनस्तदुल्लेखेन ।



दिग्भास्करा मनुमिताश्च शनौ शशिद्वि-

नागा दिशो भवदिवाकरसम्मिताश्च ।

दुष्टः क्षणः कुलिककण्टककालवेलाः

स्युश्चार्धयामयमघण्टगताः कलांशाः(१) ॥ ३६ ॥

सूर्ये इति । दिगिति । रविवारे षष्ठसप्तमाष्टमदशमचतुर्दशसंख्या मुहूर्ता निंद्याः । सोमवारे चतुर्थषष्ठाष्टमनवमद्वादशत्रयोदशचतुर्दशमुहूर्ता निंद्याः । भौमे द्वित्रिचतुःपड्दशसंख्या मुहूर्ता निंद्याः । बुधे द्विचतुरष्टनवदशचतुर्दशसंख्या मुहूर्ता निंद्याः । गुरौ द्विषड्द्वादशचतुर्दशपञ्चदशषोडशसंख्या मुहूर्ता निंद्याः । शुके चतुःपञ्चषणनवदशद्वादशचतुर्दशसंख्या मुहूर्ता निंद्याः । शनौ एकद्वित्रिसुदशैकादशद्वादशसंख्याका मुहूर्ता निंद्याः । एषु मुहूर्तेषु केषुचित् दुष्टक्षणो दुर्मुहूर्तो ज्ञेयः । केषुचित्कुलिककण्टककालवेलाः स्युः । केषुचिद्वर्धयामयमघण्टाः स्युः । तत्प्रमाणमाह—कलांशा इति । कलांशा षोडशांशाः । दिनस्येति शेषः । यस्मिन्दिने कुलिकादिजिज्ञासा तद्दिने यद्दिनमानं तत्षोडशभिर्भाज्यं यल्लब्धं घटीपलात्मकं तन्मुहूर्तपरिमाणं तेषु मुहूर्तेषु यथासम्भवं दुर्मुहूर्तादयो दोषा ज्ञातव्याः । तथा हि रवौ चतुर्दशसंख्यो मुहूर्तो दुर्मुहूर्तः कुलिकश्च षष्ठः कण्टकसंज्ञः सप्तमाष्टमवर्धयामाख्यौ । तत्राष्टमः कालवेलाख्यश्च दशमो यमघण्टाख्यः । एवं सोमवारादिष्वपि बोद्धव्यम् । तत्र कुलिककण्टककालवेलायमघण्टज्ञानं पूर्वश्लोकेऽभ्यधायि । दुर्मुहूर्तार्धयामान्विवाहप्रकरणे 'रघावर्धमा' इत्यादिना वक्ष्यति । ननु दुर्मुहूर्तकुलिकादेर्वाचनिकस्यार्थस्य 'सूर्ये षट्स्वर' इत्यादिलघुप्रकारेणाभिधानात्पूर्वं परस्ताच्च पुनर्ग्रन्थोक्तप्रकाराभिधानमुक्तं प्रतिभाति । केचिद्दृष्टान्तार्थमिदमभिधानम् । तथाहि ग्रन्थेषु दुर्मुहूर्तकुलिककण्टककालवेलावर्धयामयमघण्टानां श्लोकषट्केनाभिधा-

(१) "कला तु षोडशो भागः" इत्यमरोक्तेन कला-शब्देनैव षोडशांश इति गृह्यते किन्त्वहांश-षष्ठ्यंशकलाया भिन्नार्थद्योतनार्थं कलांशा इति निधापितं श्रीमता रामेण ।

नात् व्याख्यानगम्यार्थत्वाच्चेति गौरवम् । अत्र तु सर्वमप्यर्थं शब्दतः  
संक्षिप्य श्लोकद्वयेन व्याख्यानानपेक्षमभिधानमिति लाघवमिति दृष्टा-  
न्तदर्शनद्वारा सर्वत्र लाघवप्रकरणसूचनार्थं शिष्याणामत्र ग्रन्थपठनाद-  
रातिशयार्थं च पुनरुक्तिः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अथ विवाहादिशुभकृत्ये होलिकाष्टकनिषेधमनुष्टुभाह—

विपाशेरावतीतीरे शुतुद्र्वाश्च त्रिपुष्करे ।

विवाहादिशुभे नेष्टं होलिकाप्राग्दिनाष्टकम् ॥ ४० ॥

विपाशेति । विपाशा(१) नदी इरावती चैते नद्यौ पश्चिमदेशे प्रसिद्धे ।  
एतयोर्नद्योस्तीरवर्तिदेशेषु तथा शुतुद्रुर्नदी सापि तत्रैव प्रसिद्धा तस्या  
अपि तीरवर्तिदेशेषु तथा त्रिपुष्कराख्ये देशे च होलिका फाल्गुनपौ-  
र्णमास्यामभिदाहः ततः प्राग्दिनाष्टकं विवाहादिशुभकृत्ये नेष्टं नि-  
षिद्धमित्यर्थः । अत्र तावद्धोलिकाष्टकनिषेधः शीघ्रबोधे—‘शुक्लाष्टमीं  
सभारभ्य फाल्गुनस्य दिनाष्टकम् । पूर्णिमावधिकं त्याज्यं होलाष्टक-  
मिदं शुभे ॥’ इति ।

एतद्विषयपवादः—

अस्यापवादोपि तत्रैव—‘शुतुद्र्वां च विपाशांयामैरावत्यां त्रिपुष्क-  
रे । होलाष्टकं विवाहादौ त्याज्यमन्यत्र शोभनम् ॥’ इति ॥ ४० ॥

अथ मृत्युयोगादिदुष्टयोगपरिहारमाह—

मृत्युक्रकचदग्धादीनिन्दौ शस्ते शुभाञ्जगुः ।

केचिद्यामोत्तरं चान्ये यात्रायामेव निन्दितान् ॥ ४१ ॥

मृत्थ्विति । मृत्यवो मृत्युयोगा आनन्दादिष्वष्टाविंशतियोगेषु ‘दा-

(१) एतास्तिस्त्रोऽपि नद्योऽधुना पाश्चात्यविज्ञेषु क्रमेण व्यास-रावी-  
सतलज-नामप्रसिद्धास्तासां च सतलजनदीतटसन्निहितानि धावल-  
पुर-लुधिआना-सिमला-फिरोजपुर-इत्यादीनि, रावी-नदीतटगतानि  
मुलतान-लाहौर-अमृतसरप्रभृतीनि, व्यास-नदीतटगतानि च गुरुदास-  
पुर—(अत्रत्यानि मृद्भाण्डानि विशेषतः प्रशंस्यानि मनोहराणि च  
जायन्ते) होशियारपुर-कैङ्गडां-मण्डी-कपुरथला-मुलतान-मुख्यानि  
नगराण्यतोऽत्र प्रसिद्धानि सन्तीत्यलम्पाश्चात्यज्ञानिनाम् ।



स्वादर्क' इत्यादिना । प्रागुक्ताः । क्रकचः 'षष्ठ्यादितिथयो मन्दाद्विलो-  
मम्' इत्युक्तः । दग्धयोगः 'सूर्येशपञ्चाग्निरसाष्टनन्दा' इत्युक्तः ।  
आदिशब्देन विषयोगा हुताशनयोगाश्च गृह्यन्ते । चन्द्रे शस्ते समीचीने  
सति । समीचीनत्वं गोचरप्रकरणे वक्ष्यते । मृत्युक्रकचदग्धादीन् शुभा-  
ननिष्ठफलमपाश्य शुभफलदानं जगुरुचुः । यदाह राजमार्तण्डः—'क्रकचो  
मृत्युयोगाख्यो दिनं दग्धं तथैव च । चन्द्रे शुभे क्षयं यान्ति वृक्षा वज्रहता  
इव ॥' इति । अथ केचिदाचार्या यामोत्तरं मृत्युक्रकचदग्धादीन् शुभा-  
जगुः । तथा च दीपिकायां राजमार्तण्डः—'उत्पाते यमघण्टे च कारणे  
च क्रकचे तथा । तिथौ दग्धे च काले च प्राग्यामात्परतः शुभम् ॥' इति ।

अथान्ये आचार्या मृत्युक्रकचदग्धादीन् यात्रायामेव निन्दितान्  
जगुः । विवाहादीनि तु प्रतिषेधाभावादवश्यं कार्याणि । यदाह लल्लः—  
'वारक्षतिथियोगेषु यात्रामेव विवर्जयेत् । विवाहादीनि कुर्वीत गर्गादी-  
नामिदं वचः ॥' इति । वारक्षतिथियोगेषु निन्देष्वातिशेषः ॥ ४१ ॥

अथ पुनरप्यपवादं भुजङ्गप्रयातेनाह—

अयोगे सुयोगोपि चेत्स्यात्तदानी-

मयोगं निहत्यैष सिद्धिं तनोति ।

परे लग्नशुद्ध्या कुयोगादिनाशं

दिनार्धोत्तरं विष्टिपूर्वं च शस्तम् ॥ ४२ ॥

अयोग इति । अयोगे क्रकचादौ सति सुयोगः सिद्धियोगोपि चेत्स्यात्-  
तदा एष सिद्धियोगः अयोगं योगफलं निहत्य सिद्धिं कार्यसिद्धिं तनोति  
निष्पादयति । यदाह राजमार्तण्डः—'अयोगः सिद्धियोगश्च द्वावेतौ  
भवतो यदि । अयोगो हन्यते तत्र सिद्धियोगः प्रवर्तते ॥' इति । अन्य-  
च्च—'हन्यमृताख्यो योगः सर्वाण्यशुभानि लीलया नियतम् । न भवति  
पुनरिह शङ्को वैधृतिविष्टिव्यतीपाते' इति । यत्तु दीपिकाकारवचनम्—  
'यदि विष्टिव्यतीपातो दिनं वाप्यशुभं भवेत् । हन्यतेऽमृतयोगेन भा-  
स्करेण तमो यथा ॥' इति । तदमृतयोगस्यातिप्राशस्त्यसूचनार्थं न तु  
भद्राव्यतीपातादिदोषापवादकं । 'हन्यमृताख्यो योग' इत्येकवाक्यताब-  
लात् । अथ परे आचार्या लग्नशुद्ध्या समीचीनलग्नबलेन कुयोगानां  
मृत्युक्रकचादीनां नाशं वदन्तीति शेषः । यदाह स एव—'यत्र लग्नं

विना कर्म क्रियते शुभसंज्ञकम् । तत्र तेषामयोगानां प्रभावाज्जायते फलम् ॥' अथावश्यकशुभकृत्ये कालान्तरप्रतीक्षाऽयोग्यतायां परिहार-  
माह । विष्टिपूर्वं विष्टिर्भद्रा तत्पूर्वं तदादिव्यतीपातादिकं दिनाधोत्तरं मध्याह्नादनन्तरं शस्तं प्राहुः । अर्थान्मध्याह्नं यावत्कालो निषिद्धः ।  
'विष्टिरङ्गारकश्चैव व्यतीपातश्च वैधृतिः । प्रत्यरं जन्मनक्षत्रं मध्याह्नात्प-  
रतः शुभम् ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ ४२ ॥

अथ भद्रानिषिद्धेति पूर्वमुक्तं तदधुना प्रस्तावात्तन्निषिद्धकालं शा-  
लिनीछन्दसाह—

(१) शुक्ले पूर्वार्धेऽष्टमीपञ्चदश्यो-

भद्रैकादश्यां चतुर्थ्यां परार्धे ।

कृष्णेऽन्त्यार्धे स्यात्तृतीयादशम्योः

पूर्वं भागे सप्तमीशम्भुतिथ्योः ॥ ४३ ॥

शुक्ल इति ॥ शुक्लपक्षेऽष्टम्यां च पूर्णिमायां च पूर्वार्धे भद्रा भवति,  
एकादश्यां चतुर्थ्यां चोत्तरार्धे भद्रा । अथ कृष्णे कृष्णपक्षे तृतीयायां  
दशम्यां चांत्यार्धे भद्रा स्यात् । सप्तम्यां शम्भुतिथौ चतुर्दश्यां च पूर्वभागे  
पूर्वार्धे भद्रा स्यात् । पूर्वं इति । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इत्यस्मिन्भा-  
वपक्षे रूपं । अष्टम्यादीनां तिथीनां गतभोग्यघटिकायोगार्धं भद्राप्रमा-  
णमिति यावत् । 'तिथेर्गतैष्यैक्यदलं तन्मानं करणं भवेत्' इति बोप-  
देवोक्तेः । 'तिथ्यधभागं सर्वेषां करणानां प्रकल्पयेत्' इति सूर्यसिद्धां-  
तोक्तेश्च । उक्तं च दीपिकायाम्—'तृतीयादशमीशेषे तत्पञ्चम्योस्तु पूर्व-  
तः । कृष्णे विष्टिः सिते तद्वत्तासां प्रतिविष्टिष्वपि ॥' इति । बृहस्पतिना  
तु स्पष्टमुक्तम्—'सिते चतुर्थ्यामंत्यार्धमष्टम्याद्यार्धमेव च । एकादश्यां  
परार्धे तु पूर्वार्धे पूर्णशीतगौ ॥ कृष्णे तृतीयांत्यार्धं हि सप्तम्याद्यार्धमेव  
च । दशम्यामुत्तरार्धं तु चतुर्दश्यर्धमादितः ॥ विष्ट्याख्योयं महादोषः  
कथितोऽत्र समस्तगः । तदानीं कृतसत्कर्म कर्त्रा सह विनश्यति ॥' इति ।  
पूर्णशीतगौ पूर्णिमायाम् ।

(१) अत्रोपपत्तिः—कृष्णभूतोत्तरार्धादारभ्य शुक्लपक्षप्रतिपत्पूर्वार्धं  
यावच्छकुन्यादीनि चत्वारिस्थिरकरणानि ततस्तदुत्तरार्धाद्ववादिकर-



भद्रानामानि तत्स्वरूपञ्च—

रत्नकोशे प्रत्येकं भद्रानामानि—‘हंसी नदीन्यपि च त्रिशिराः सुमुखी करालीकाश्चैव । वैकृति रौद्रमुखी च चतुर्मुखी विष्टयः क्रमशः ॥’ चतुर्थ्यादितिथिसंबन्धिभद्रानामाभिधानं नाम सादृश्येन फलतारतम्यसूचनार्थम् । भद्रास्वरूपं रत्नमालायाम्—‘उद्बद्धोद्भटतरपीडिताऽतिरु-

णानाम्प्रवृत्तिरिति—

“चतुर्दशी या शशिना प्रहीना तदर्धभागे शकुनिर्द्वितीये ।  
दर्शार्धयोःस्तश्चतुरङ्घ्रिनागौ किंस्तुघ्नमाघे प्रतिपदले च ॥  
ववाह्यं वालवकौलवाख्ये ततो भवेत्तैलनामधेयम् ।  
गराभिधानं वणिजश्चविष्टिरित्याहुरार्याः करणानि सप्त ॥”

प्रमाणेनानेन स्पष्टमवगम्यते, तच्च तिथ्यर्धे करणमिति नियमात्प्रत्येकस्यां तिथौ करणद्वयमतोऽत्र तत्स्वीकाराच्छुक्लप्रतिपत्पूर्वार्धे किंस्तुघ्नम्, तदुत्तरार्धे ववकरणम्, द्वितीयापूर्वार्धे वालवम्, तदुत्तरार्धे कौलवम्, तृतीयापूर्वार्धे तैलम्, तदुत्तरार्धे गरसञ्ज्ञम्, चतुर्थ्याः पूर्वार्धे वणिजम्, तदुत्तरार्धे विष्टि—( भद्रा ) नाम । एवं पञ्चमीपूर्वार्धत आरभ्य प्रत्येकतिथौ करणद्वयनिवेशनतोऽन्ततोऽष्टमीपूर्वार्ध एव भद्रा भवति । पुनरप्यष्टम्युत्तरार्धादारभ्य तथैव गणयते चेत्तदैकादश्याः परार्द्ध एव भवति । एवञ्चक्रवच्चञ्चलकरणभ्रमणक्रमप्रदर्शनतस्तृतीयादशम्योरुत्तरार्धे कृष्णपक्षे सप्तमीशम्भुतिथयोः पूर्वार्द्धे भवतोत्यादि सर्वमुपपद्यते ।

अथ प्रसङ्गादिष्टदिनजकरणानयनविचारे प्रदर्शितयुक्तिपरिणामेन शुक्लादितोऽनन्तरं यस्मिंस्तिथ्यर्द्धे करणज्ञानमभीप्सितं तत्संख्याप्रमितः किंस्तुघ्नतो विष्टिपर्यन्तं करणानां गणो भवति ( जातकक्रोडकारास्तु शकुनितो विष्टिपर्यन्तं करणसमूहः स्यादिति भ्रमात्प्रोचुः ) परन्त्वभीष्टन्तु ववादितोऽतस्तिथ्यर्द्धसंख्या रूपोना ववादितः सप्त करणानि जायन्ते सप्ताधिकायां तिथ्यर्धसंख्यायां सप्ततष्टितकरणं युक्तियुक्तमेव करणभगणप्रयोजनाभावादत इदं—

“तिथ्यर्द्धसंख्या शुक्लादे रूपोना नगतष्टिता ।

करणानि ववादीनि चञ्चलानि भवन्ति हि ॥”

मदुक्तपद्यमुपपद्यते ।

ज्णा दंष्ट्रोऽप्रापृथुहनुगंडदीर्घनासा । कार्यध्नी हुतवहनं समुद्रिरंती  
विश्वान्तः पतति समंततोत्र विष्टिः ॥ इति ॥ ४३ ॥

अथ चतुर्थ्यादितिथिषु भद्रायां मुखपुच्छविभागादिकं शार्दूलवि-  
क्रीडितेनाह—

(१) पञ्चद्वयद्रिकृताष्टरामरसभूयामादिघट्यः शरा  
विष्टेरास्यमसद्गजेन्द्रसरामाद्रथशिवबाणाब्धिषु ।

( १ ) पञ्चद्वयद्रोत्यादि । अत्र युक्तिप्रदर्शनार्थं प्राचीनोक्तवाक्यम्—  
“धु-जा-टे-णी सिते पक्षे गै-छि-जू-ढ सितेतरे ।  
अक्षरेण तिथिर्ह्येया मात्रया प्रहराः स्मृताः ॥”

अर्थात् शुक्लपक्षे घ-ज्-ट्-ण-वर्णाप्रमितानान्तिथीनां क्रमेण उ-  
आ-ए-ई-स्वरप्रमितेषु प्रहरेषु, कृष्णपक्षे ग्-झ-ज्-ढ-वर्णाप्रमितति-  
थीनां ऐ-इ-ऊ-अ-स्वरप्रमितेषु प्रहरेषु प्रथमपञ्चघट्यो भद्राया मुखं  
वेदितव्यन्तथा घ-वर्णाः ककारादिगणनातश्चतुर्थं उ-स्वरश्च अ-  
कारादिस्वरक्रमगणनया पञ्चमस्तेन शुक्लपक्षे चतुर्थ्याः पञ्चमप्रहरे प्र-  
थमपञ्चमघट्यो ( तदर्थं टीकायां कश्यपोक्तं विलोक्यम् ) भद्राया मुख-  
न्तथैव ज-वर्णाः क्रमगणनयाष्टमः, तत्स्थ-आ स्वरो हि द्वितीयस्तेनाष्ट-  
म्या द्वितीयप्रहरे सिद्ध्यति । एवं सर्वासु तिथिषु विज्ञैरूहनीयम् । अथ  
“शुक्ले पूर्वार्द्धेऽष्टमी पञ्चदश्यो” रित्यादिश्लोकोपपत्तौ तिथ्यर्द्धे करण-  
त्वात्प्रहरचतुष्टय एव विष्टेः स्थितिरिति प्रदर्शितन्तेन यस्या मुखं  
चतुर्थ्याः पञ्चमप्रहरगतन्तत्पुच्छमवश्यमेवाष्टमप्रहरगतमन्यघटीत्रय-  
म्भवतीति स्वतः सिद्ध्यति । एवंमन्यास्वपि तिथिषु न किमपि विचार-  
काठिन्यन्तेन सर्वं रामोक्तमुपपद्यते ।

अत्राचार्येण भद्राभोगघटीमानं त्रिशन्मितम्प्रकल्प्य साधारण्येन  
मुखे पञ्च, पुच्छे तिस्रः, वक्षस्येकादश, इत्यादि निरूपितम् । अधिका-  
ल्पे भद्राभोगघटीमाने तु यथाकथञ्चिद्वैषम्यञ्जायतेऽतस्तदर्थमनुपातो  
यदि त्रिशन्मितभद्राभोगघटीषु मुखे पञ्च नाड्यो भवन्ति तदेष्टभोग-  
घटीषु कियत्य इति समागतफलमधिके युक्तमल्पे हीनन्तवा वास्तवि-  
कम्मुखमानं भवति । सर्वेष्वप्यङ्गविभागेषु रीतिरेषैवावगम्येत्यलम् ।



यामेष्वन्त्यघटीत्रयं शुभकरं पुच्छं तथा वासरे  
विष्टिस्तिथ्यपरार्धजा शुभकरी रात्रौ तु पूर्वार्धजा ॥४४॥

पंचेति । चतुर्थ्यादितिथीनां क्रमतः पंचादिप्रहरेषु शराः पंच ना  
ड्यः आदिमा विष्टेर्भद्राया आस्यं मुखं । यथा चतुर्थ्याः पंचमप्रहर  
आदिभूताः पंच घट्यो भद्रामुखम् । एवमष्टम्या द्वितीयप्रहरे एकादश्याः  
सप्तमप्रहरे पौर्णिमास्याश्चतुर्थप्रहरे, तृतीयाया अष्टमप्रहरे, सप्तम्यास्तृतीय-  
प्रहरे, चतुर्दश्याः प्रथमप्रहरे, भद्रामुखमित्यर्थः । तद्भद्राया मुखमसदशुभमि-  
त्यर्थः । अथ पुनश्चतुर्थ्यादितिथीनां क्रमेण गजादिप्रहरेषु अंत्यं अंते भव-  
मत्यम् । 'दिगादिभ्यो यत्' इति यत् । घटीत्रयं पुच्छं पुच्छसंज्ञं तच्छुभकरं  
समस्तकार्येष्वित्यर्थः । यथा चतुर्थ्या अष्टमप्रहरस्यांत्यघटीत्रयं भद्रापु-  
च्छं एवमष्टम्याः प्रथम प्रहरस्य एकादश्याः षष्ठप्रहरस्य पूर्णिमायास्तृ-  
तीयप्रहरस्य तृतीयायाः सप्तमप्रहरस्य सप्तम्याद्वितीयप्रहरस्य दशम्याः  
पंचमप्रहरस्य चतुर्दश्याश्चतुर्थप्रहरस्यांत्याघटीत्रयं भद्रापुच्छमित्यर्थः ॥  
यदाह गुरुः—'भूतदस्रस्वरांभोधिवसुवह्म' गरूपकाः । यामेष्वेषु क्रमा-  
दास्यं भवेत्तिथ्यर्धविष्टिषु ॥' इति । व्यवहारसमुच्चये—'दशम्यामष्टम्यां  
प्रथमघटिकापञ्चकपरं हरिद्युः सप्तम्या द्विदश १२ घटिकान्ते त्रिघटि-  
कम् । तृतीया राकायां खयम् २० घटिकाभ्यः परभवं शुभं विष्टेः पुच्छं  
शिवतिथिचतुर्थ्योस्तु विरमे ॥' इति । हरिद्युरेकादशी राकापूर्णिमा ।  
ननु भद्रा देवतेत्यभिधीयते तस्याः पुच्छकथनात्तु पशुत्वसिद्धिर्दृश्यते  
देवता च कथं पशुर्भवितुमर्हती । सत्यम् । दैत्यैर्द्रैर्देवेषु पराजि-  
तेषु रुद्रस्य ज्वालामालाकुलनेत्रालोकितशरीरादेवी भद्रासंज्ञा मु-  
खपुच्छादिमत्युत्पन्ना सती दैत्यक्षयान् । यदुक्तं श्रीपति-  
ना—'दैत्येन्द्रैः समरेऽमरेषु विजितेष्वीशः क्रुधा दृष्टवान्स्वं कायं किल  
निर्गता खरमुखी लांगूलिनी च त्रिपात् । विष्टिः सप्तभुजा मृगेन्द्रग-  
लका क्षामोदरी प्रेतगा दैत्यघ्नी मुदितैः सुरैस्तु करणप्रान्ते नियुक्ता  
सदा ॥' इति ।

चलकरणानि तत्र भद्रा—

करणान्याह गर्गः—'बवं च बालवं चैव कौलवं तैतिलं गरम् । वणिजं  
विष्टिमित्याहुः करणानि चराणि तु ॥' इति । विष्टिर्भद्रा । 'अंते कृ-  
ष्णचतुर्दश्याः शकुनिर्दर्शभागयोः । भवेच्चतुष्पदं नागं किंस्तुघ्नं प्रति-

पद्वले ॥' इति । अतस्तिथ्यर्धभागः करणमित्युक्तेः प्रतिपत्पूर्वार्धे स्थिरकरणं किंस्तुघ्नं ततो ववकरणं प्रतिपद्द्वितीयाधे । बालवकौलवकरणे द्वितीयायाः पूर्वोत्तरार्धयोः । तैतिलगरकरणे तृतीयापूर्वोत्तरार्धयोः । चतुर्थीपूर्वार्धे वणिक् उत्तरार्धे तु भद्रा । एवं पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषु ववबालवकौलवतैतिलगरवणिकरणानि भवन्ति । ततोष्टम्याद्यर्धे भद्रा भवति । एवं पुनः पुनरावृत्ताद्युक्ततिथिषु भद्रा ज्ञेयाऽत एवोक्तम् 'शुक्ले पूर्वार्धेष्टमीपञ्चदश्योः' इत्यादि । एवं चतुर्दश्याः पूर्वार्धे भद्रा । उत्तरार्धादारभ्य शकुन्यादीनि स्थिरकरणानि चत्वारि ।

भद्राकृत्यम्—

भद्राकृत्यमाह वसिष्ठः—'वधवन्धविषाग्न्यस्त्रच्छेदनोच्चाटनादि यत् । तुरङ्गमहिषोष्ट्रादिकर्म विष्ट्यां तु सिद्ध्यति ॥ न कुर्यान्मंगलं विष्ट्यां जीवितार्थं कदाचन । कुर्वन्नश्नस्तदा क्षिप्रं तत्सर्वं नाशतां व्रजेत् ॥' इति ।

भद्राङ्गविभागः फलञ्च—

तत्राङ्गविभागः फलं च कश्यपसंहितायाम्—'मुखे पञ्च गले त्वेका वक्ष्यस्येकादश स्मृताः । नाभौ चतस्रः षट् कट्यां तिस्रः पुच्छे तु नाडिकाः ॥ कार्यहानिमुखे मृत्युर्गले वक्षसि निःस्वता । कट्यामुन्मत्तता नाभौ च्युतिः पुच्छे ध्रुवो जयः ॥' इति ।

तत्र नाडीभेदे विशेषः—

अयं च भद्राङ्गविभागो नाडीनां त्रिंशतोक्तः । त्रिंशतो न्यूनाधिकत्वे तु त्रैराशिकेन मुखादीनामङ्गानां विभागज्ञानम् । यथा यदि नाडी त्रिंशता इदमुक्तमङ्गपरिमाणं तदेष्टपरिमाणेन किमिति त्रैराशिकं । एवं सति उक्ताङ्गपरिमाणं भद्राभोगमितघटीभिः संगुण्यं त्रिंशता भाज्यं लब्धं समोऽङ्गविभागः । त्रैराशिकस्वरूपं लोलावत्यामुक्तम्—'प्रमाणमिच्छा च समानजाती आद्यन्तयोस्तत्फलमन्यजाति । मध्ये तदिच्छाहतमाद्यहृतस्यादिच्छाफलं व्यस्तविधिर्विलोमे ॥' इति ।

भद्रामुखादिकालाः—

तत्र मुखादिकालो रत्नमालायाम्—'जलशिखिशशिरत्नःशर्वकीनाशवायुत्रिदशपतिककुप्सु प्रोक्तमास्यं हि विष्टेः । नियतमृषिमिराशाख्ययामक्रमेण स्फुटमिह परिहार्यं मङ्गलेष्वेतदेव ॥' इति । जलं वरुणः



कीनाशो यमः । शुक्रचतुर्थ्या उत्तरार्धे पश्चिमदिशि भद्रामुखं तच्चाशा-  
संख्यया क्रमेण पञ्चमे प्रहरे भवति । अर्थादेव भद्रायाः प्रहरचतुष्टया-  
धिकस्थितिभावादन्ते एव घटिकात्रयं पुच्छम् । ततोष्टम्यां द्वितीय-  
प्रहरे तेन प्रकारेण आग्नेय्यां दिशि मुखम् । मुखाच्च प्राक् पुच्छमिति  
प्रथमप्रहरान्त एव पुच्छघटिकामित्येवं सर्वास्वपि भद्रातिथिष्वव-  
गंतव्यम् ।

### तत्प्रयोजनम्—

प्रयोजनमपि तत्रैव 'मनुवसुमुनितिथियुगदशशिवगुणसंख्यासु ति-  
थिषु पूर्वस्याः । आयाति विष्टिरेषा पृष्ठे शुभदा पुरस्त्वशुभा ॥' इति ।  
तदेतदात्ययिककार्यसम्भवे सति मुखदिकसम्मुखयात्रानिषेधकमव-  
धेवम् । ग्रन्थान्तरे अन्यदप्युक्तम्—'असिते सर्पिणी ज्ञेया सिते विष्टिस्तु  
वृश्चिकी । सर्पिण्यास्तु मुखं त्याज्यं वृश्चिक्याः पुच्छमेव च ॥' इति ।

### परिहारः—

अथ परिहारमाह—तथेति । विष्टिस्तिथ्यपरार्धजा तिथ्युत्तरार्धे  
सम्भूता वासरे दिवसे यदि स्याद्भद्रा तदा शुभकरी । तेनैव प्रकारेण  
तिथिपूर्वार्धजा रात्रौ भद्रा चेत्स्यात्तदा शुभा शुभकरी स्यात् ।  
उक्तं च—'रात्रिभद्रा यदाऽहि स्याद्विवाभद्रा यदा निशि । न तत्र भद्रा-  
दोषः स्यात्सा भद्रा भद्रदायिनी ॥' इति । रात्रिभद्रा तिथ्युत्त-  
रार्धोद्भवा, दिवाभद्रा तिथिपूर्वार्धोद्भवा । अमुमर्थं स्पष्टमाहगुरुः—  
'निशि पूर्वार्धजा विष्टिर्दिवा चापरतः शुभा । क्रमागता तु या  
विष्टिः सैव हालाहलोपमा ॥' इति । लल्लोऽपि—'दिवा परार्धजा  
विष्टिः पूर्वार्धोत्था यदा निशि । तदा विष्टिः शुभायेति कमलासनभा-  
षितम् ॥' ब्रह्मसिद्धान्तेऽपि—'दिवा परार्धजा विष्टिर्विष्टिरेव दिवा-  
निशोः । सा त्याज्या त्वन्यथा विष्टिः सर्वकर्मशुभप्रदा ॥' इति । ननु  
यत्तु नारदकश्यपादिभिरुक्तम्—'करणानि बवादीनि शुभसंज्ञानि षट्  
क्रमात् । क्रमायाताक्रमायाता विष्टिर्नेष्टा तु मङ्गले ॥' इति । अत्र  
क्रमायाता दिवारात्रिक्रमायाता दिवाभद्रा रात्रौ रात्रिभद्रा च दि-  
वेत्यर्थः । एवं सति द्विविधाया अपि भद्राया दोषवत्त्वोक्तेः पूर्वो  
क्तपरिहाराभिधानमयुक्तम् । उच्यते । इदमेव क्रमायातेति वचनं  
ज्ञापकमुक्तार्थस्य । अन्यथा सामान्यतो भद्रा दुष्टेत्युक्ते द्विविधभद्राया

दोषवत्त्रसिद्धेरनर्थकमिदं स्यात् । तस्माच्छुभकार्याणां भद्रारूपदुष्ट-  
दिनव्यतिरिक्तकालप्रतीक्षायोग्यत्वे तदैव कार्यं न दुष्टदिने । 'अबा-  
धेनोपपत्तौ बाधो न न्याय्यः' इतिन्यायाद्वचनस्य निषेध एव तात्पर्या-  
च्च । अवश्यकर्तव्यस्य तु शुभकर्मणः कालान्तरप्रतीक्षामसहमानस्य  
वैमादि(?)परिहारमाश्रित्य दुष्टदिने कृतिरुचितैव । 'विष्टिरङ्गारकश्चैव'  
इत्यपि परिहार एतत्पर एवेत्यलं पल्लवितेन ॥ ४४ ॥

अथ भद्रानिवासं तत्फलं चानुष्टुभाह—

कुम्भकर्कद्वये मर्त्ये स्वर्गेऽब्जेऽजात्रयेऽलिगे ।

स्त्रीधनुर्जूकनक्रेऽधो भद्रा तत्रैव तत्फलम् ॥ ४५ ॥

कुम्भेति । अब्जे चन्द्रमसि कुम्भद्वये कुम्भमीनस्थे कर्कद्वये कर्क-  
सिहराशिस्थिते सति भद्रा मर्त्ये मनुष्यलोके तिष्ठति । अथ मेषादित्रये  
मेषवृषमिथुनस्थितेऽलिगे वृश्चिकस्थिते चन्द्रे स्वर्गे भद्रा तिष्ठति । क-  
न्याधनुस्तुलामकरराशिस्थितेऽधः पाताललोके भद्रा तिष्ठति । अथ  
भद्रा तत्रैव मर्त्यस्वर्गपातालेषु फलं स्वोक्तशुभाशुभफलं ददातीत्यपवा-  
दद्वारा प्रयोजनमुक्तं भवति । उक्तं च—'मेषोक्तकौर्ष्यमिथुनेघटसिंहमी-  
नकर्केषु चापमृगतौलिसुतासु चन्द्रे । स्वमर्त्यनागनगरीः क्रमशः प्रयाति  
विष्टिः फलान्यपि ददाति हि तत्र देशे ॥' इति । भूपालवत्समे—'क-  
न्यातुलामकरधन्विषु नागलोके मेषालिवैशिकवृषेषु सुरालये स्यात् ।  
पाठीनसिंहघटकर्कटकेषु मर्त्ये चन्द्रे वदन्ति मुनयस्त्रिविधां हि विष्टिम् ॥'  
इति । पाठोनो मीनः ॥ ४५ ॥

एवं महता ग्रन्थसन्दर्भेण पञ्चाङ्गदूषणान्युक्तान्यधुना कालाशुद्धौ नि-  
षेध्यवस्तूनि शार्दूलविक्रीडिताभ्यामाह—

वाप्यारामतडागकूपभवनारम्भप्रतिष्ठे व्रता-  
रंभोत्सर्गवधूप्रवेशनमहादानानि सोमाष्टके ।

गोदानाग्रयणप्रपाप्रथमकोपाकर्मवेदव्रतं

नीलोद्वाहमथातिपन्नशिशुसंस्कारान्सुरस्थापनम् ॥ ४६ ॥  
दीक्षामौञ्जिविवाहमुण्डनमपूर्वं देवतीर्थक्षेत्रं



संन्यासाग्निपरिग्रहौ नृपतिसंदर्शाभिषेकौ गमम् ।  
चातुर्मास्यसमावृती श्रवणयोर्वेधं परीक्षां त्यजेद्-  
वृद्धत्वास्तशिशुत्व इज्यसितयोन्यूनाधिमासे तथा ॥४७॥

वाप्यारामेति । दोहेति । वापी दोर्धिका, आराम उपवनं, तडागः  
पुष्करिणी, कूपः प्रसिद्धः, भवनं, गृहं एतेषामारभप्रतिष्ठे आरंभो निर्माणं,  
प्रतिष्ठा उत्सर्गः, तत्र गृहप्रतिष्ठा गृहप्रवेशो ज्ञेयः । व्रतारंभोत्सर्गौ व्रता-  
नामनंतशिवरात्रिव्रतादीनामारंभः । उत्सर्गोऽनंतव्रतादीनामुद्यापनं । महा-  
दानानि षोडशमहादानानि, सोमः सोमयागः, अष्टका अष्टकाश्वाद्धं,  
गोदानं केशान्तसंज्ञं कर्म, आग्रयणं नवान्नेष्टिः, प्रपा जलशाला, 'प्रपा  
पानीयशालिका' इत्यभिधानात् । महाराष्ट्राः पट्के(१) इति वदन्ति । पट्टा  
ईति कान्यकुब्जाः । प्रथमकोपाकर्म प्रथमारभ्यमाणं श्रावणीकर्म, वेदव्रतं  
महानाम्न्यादित्रयम् । उपनिषद्ब्रतं, महानाम्नीव्रतं, वेदव्रतं च । नीलोद्वाहः  
नीलशब्दवाच्यः काम्यो वृषोत्सर्गः । नत्वेकादशाहे क्रियमाणः तस्य तदैव  
विहितत्वान्मुहूर्तविचारानुन्मेषः । अतिपन्नशिशुसंस्काराः अतिपन्ना अति  
क्रांता जातकर्मनामकर्मादयः शिशूनां संस्काराः । दीक्षा मन्त्रग्रहणादिकाः ।  
मुण्डनं चैलं, अपूर्वं देवेक्षणां तीर्थेक्षणां च । अग्निपरिग्रहोऽग्निहोत्रमग्न्या-  
धानं, चातुर्मास्यं चातुर्मास्याख्यो यागः, समावर्तनं समावृत्तिः मौंजीमोक्षः,  
श्रवणयोर्वेधः कर्णवेधः, परीक्षा तप्तमाषादिरूपा दिव्यमितियावत् । अन्यानि  
कर्माणि नामतः स्पष्टानि एतानि सर्वाणि कर्माणि त्यजेन्न कुर्यात् । इज्य-  
सितयोर्वृहस्पतिशुक्रयोर्वृद्धत्वे शिशुत्वे बाल्ये च तथा न्यूनाधिमासे क्षय-  
मासे अधिकमासे च न कुर्यात् । अयं च निषेधः प्रथमोपक्रांतकृत्येषु ।  
न तु नित्यवदारब्धवार्षिकयात्रादौ । अत्र मूलवचनानि लिख्यन्ते । तत्र  
शुक्रास्तादिषु ज्योतिःसारसागरे कक्षोच्चयः—'वापीकूपतडागपानगमनं  
द्वौरं प्रतिष्ठाव्रतं विद्यामंदिर कर्णवेधनमहादानं वनं सेवनम् । तीर्थ-  
स्नानविवाहदेवभवनं मन्त्रादिदेवेक्षणां दूरेणैव जिजीविषुः परिहरेद्वस्तं-  
गते भार्गवे ॥ बाले शुक्रे घृद्धे जीवे घृद्धे शुक्रे जीवे बाले । जीवे सिंहे  
सिंहादित्ये जीवादित्ये नष्टे जीवे ॥ तथा मलिम्लुचे मासि सुराचार्ये  
तथास्तगे । वापिकूपतडागादिक्रियाः प्रागुदितास्त्यजेत् ॥' इति । वन-

(१) क्वचित् पुस्तके "पान पोई" इति पाठः ।

मारामादि । सेवनं राजादीनां । नष्टे जीवे नष्टबले नीचस्थिते गुरावित्यर्थः । लल्लः—‘उपनयनं गोदानं परिणयनगृहप्रवेशगमनानि । अस्तमितेषु न कुर्यात्सुरगुरुभृगुपुत्रचन्द्रेषु ॥’ इति शातातपः—‘अस्तङ्गते गुरौ शुक्रे बाले वृद्धे मलिम्लुचे । उद्यापनमुपास्मं व्रतानां नैव कारयेत् ॥’ अस्तमयादिफलमाह बादरायणः—‘गुरोरस्ते पतिं हन्याच्छुक्रास्ते चैव कन्यकाम् । चन्द्रे नष्टे उभौ हन्यात्तस्मादस्तं विवर्जयेत् ॥’ इति । विवाह इति शेषः । ‘बालभावे स्त्रियं हन्याद्वृद्धभावे नरं तथा । तस्माद्बाले च वृद्धे च विवाहं नैव कारयेत् ॥’ उपलक्षणमेतत् । एवं व्रतबन्धादिष्वपि कर्तुर्मरणं ज्ञेयम् । ‘एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि विनियुज्यते’ इतिन्यायात् । उक्तं च शार्ङ्गयविवाहपटले—‘विवाहो व्रतबन्धो वा यात्रा वा गृहकर्म च । गुरावस्तमिते शुक्रे ध्रुवं मृत्युं विनिर्दिशेत् ॥’ इति । अथाधिमासक्षयमासवर्ज्यानि । तत्र गृहपरिशिष्टे—‘सोमयोगादिकर्माणि नित्यान्यपि मलिम्लुचे । तथैवाग्रयणाधानचालुर्मास्यादिकान्यपि ॥ महालयाष्टकाश्राद्धोपाकर्मार्चयि कर्म यत् । स्पष्टमासविशेषाख्यविहितं वर्जयेन्मले ॥’ इति । गर्गबृहस्पती अपि ‘अग्न्याधानं प्रतिष्ठां च यज्ञदानव्रतानि च । वेदव्रतवृषोत्सर्गचूडाकरणमेखलाः ॥ माङ्गल्यमभिषेकं च मलमासे विवर्जयेत् ॥’ मरीचिः—‘गृहप्रवेशगोदानस्थानाश्रममहोत्सवम् । न कुर्यान्मलमासे तु संसर्पेऽहस्पतौ तथा ॥’ इति । यदा क्षयमासो भवति तदा पूर्वोत्तरावधिमासौ भवतः । तत्र पूर्वः संसर्पः । द्वितीयोहस्पतिः । एतान्यधिकमासक्षयमासवर्ज्यानि । गुरुशुक्रयोरस्तादावपि वर्ज्यानि । यदाह वृद्धगार्ग्यः—‘बाले वा यदि वा वृद्धे शुक्रे वास्तङ्गते गुरौ । मलमास इवैतानि वर्जयेद्देवदर्शनम् ॥’ इति । अत्र देवदर्शनमपूर्वं विवक्षितम् । यदाह गर्गः—‘अपूर्वदेवतां दृष्ट्वा शुचः स्युर्नष्टभार्गवे । मलमासेष्वनावृत्ततीर्थयात्रां परित्यजेत् ॥’ इति । अनावृत्ततीर्थयात्रामपूर्वतीर्थयात्राम् । दोषिका—‘नो शुक्रास्तेष्टमेऽर्के गुरुसहितरवौ जन्ममासेष्टमेन्दौ विष्टौ मासे मलाख्ये कुजशनिदिवसे जन्मतारासु चाथ । नाडीनक्षत्रहीने सुरगुरुरजनीनाथताराविशुद्धौ प्रातः कार्या परीक्षा द्वितनुचरगृहांशोदये शस्तलग्ने ॥’ इति । गुरुसहितरवौ गुर्वादित्ये इत्यर्थः । इदं सिंहस्थितमकरस्थितास्तमितगुरुणामुपलक्षणम् । उक्तं च व्यवहारोच्चये—‘सिंहस्थे मकरस्थे च जीवे चाऽस्तमिते तथा । मलमासे न कर्तव्या परीक्षा जयकांक्षिणा ॥’ इति ।



मलमासग्रहणं क्षयमासस्याप्युपलक्षणम् । नाडीनक्षत्राणि वैनाशिक-  
नक्षत्राणि । परीक्षा दिव्यम् । अयमत्र तात्पर्यार्थः । अनियतकाल-  
विहितानि चूडाकरणवाप्यारामादिशुभकृत्यानि गुर्वादिरस्तादिषु  
सर्वथा न कार्याणि । यानि तु नियतकालानि सीमन्तनामकर-  
णादीनि तानि गुर्वादिरस्तादिसत्त्रेपि स्वोक्तकाल एव भवन्ति । 'चतुर्थे  
गर्भमासे स्यात्सीमन्तोन्नयनक्रिया । षष्ठेऽष्टमे वा कुर्वीत सूत्रान्तरविधा-  
नतः ॥' इति शौनकादिमुनिवचनेभ्यः कालस्यापि नियामकत्वावगतेः ।  
अतएवाह बृहस्पतिः—'मासप्रयुक्तकार्येषु मूढत्वं गुरुशुक्रयोः । न  
दोषकृन्मलो मासो गुर्वादित्यादिकं तथा ॥' इति । यमोपि—'चन्द्रसूर्य-  
ग्रहे स्नानं श्राद्धदानजपादिकम् । कार्याणि मलमासेपि नित्यं नैमित्तिकं  
तथा ॥' इति । अन्यत्रापि 'सीमन्तजातकादोनि प्राशनान्तानि यानि  
वै । न दोषो मलमासस्य मौढ्यस्य गुरुशुक्रयोः ॥' इति । एवं सति प्र-  
तिबन्धवशादतिक्रान्तकालेषु जातकर्मादिषु सत्सु गौणकालस्य तुल्य-  
त्वात् । उक्तं च वसिष्ठेन—'अतीतकालान्यखिलानि तानि कार्याणि  
सौम्यायनगे दिनेशे । सिते गुरौ चाप्यथ दृश्यमाने तदुक्तपञ्चागदिने-  
ऽप्यखण्डे ॥' इति । अत एवोक्तं अतिपन्नशिशुसंस्कारानिति ॥४६॥४७॥

अथ सिंहस्थगुर्वादिदोषान् शालिन्याह—

अस्ते वर्ज्यं सिंहनक्रस्थजीवे  
वर्ज्यं केचिद्वक्रगे चातिचारे ।  
गुर्वादित्ये विश्वघस्त्रेऽपि पक्षे  
प्रोचुस्तद्वदन्तरत्नादिभूषाम् ॥ ४८ ॥

अस्ते वर्ज्यमिति । यदस्ते गुर्वादिरस्ते वर्ज्यमुक्तं तत् सिंहनक्र-  
स्थजीवे सिंहस्थगुरौ मकरस्थगुरौ च वर्ज्यं निषिद्धम् । यदाह वराहः—  
'उद्यानचूडाव्रतबन्धदीक्षाविवाहयात्रादिवधूप्रवेशः । तडागकूपत्रिदशप्र-  
तिष्ठा बृहस्पतौ सिंहगते न कुर्यात् ॥' इति देवीपुराणेऽपि—'सिंहसंस्थे  
गुरौ यत्नात्सर्वारम्भान् विवर्जयेत् । प्रारब्धं न च सिध्येत महाभयकरं  
भवेत् ॥ पुत्रभ्रातृकलत्राणि हन्याच्छीघ्रं न संशयः । कारको व्रजते  
नाशं सन्तानं क्षियतेऽचिरात् ॥ देवारामतडागाश्च प्रपोद्यानगृहाणि च ।

विवाहयज्ञोपनयचूडादि च न सिध्यति ॥ यथा सिंहस्थितो जीवस्त-  
थैव मकरस्थितः' इति । त्रिस्थलीसेतौ—'गुर्वादित्ये गुरौ सिंहे शुक्रे  
वास्तमुपागते । त्यजेद्यानं महादानं व्रतं देवविलोकनम् ॥' इति । लल्लो  
ऽपि—'नीचस्थे वक्रसंस्थेऽप्यतिचरणगते बालवृद्धेस्तगे वा संन्यासो  
देवयात्रा व्रतनियमविधिः कर्णबोधस्तु दीक्षा । मौजीबन्धो गणानां परि-  
णयनविधिर्वास्तुदेवप्रतिष्ठा वर्ज्याः सद्भिः प्रयत्नात्त्रिदशपतिगुरौ सिंह-  
राशिस्थिते वा ॥' इति । अयमपि निषेधो नियतकालविहितानां न  
भवति । उक्तं च शार्ङ्ग्ये—'सीमन्तजातकादीनि प्राशनान्तानि यानि वै ।  
कर्तव्यानि न दोषोस्ति पञ्चाननगते गुरौ ॥' इति । उपलक्षणमेतत् । एवं  
मकरस्थेऽपि कार्याणि शुभानि । क्वचिदूर्ध्वतोर्ययात्रायां मौढ्यदिदोषाभा-  
वोऽभिहितः । त्रिस्थलोसेतौ—'गोदावर्यां गयायां च श्रीशैले ग्रहणद्वये ।  
सुरासुरगुरूणां च मौढ्यदोषो न विद्यते ॥' वायुपुराणे—'गयायां सर्व-  
कालेषु पिंडं दद्याद्विधानतः । अधिमासे जन्मदिने हस्ते च गुरुशुक्र-  
योः ॥ न त्यक्तव्यं गयाश्राद्धं सिंहस्थेऽपि बृहस्पतौ ॥' इति । अत्र श्राद्ध-  
स्य यात्रापूर्वकत्वाद्वयायात्रापि न निषिद्धेति ज्योतिर्निबन्धे व्याख्यातम् ।  
गुर्वाद्यस्तस्योपलक्षणत्वात्सिंहस्थगुरावपि गोदावरीयात्रा न निषिद्धे-  
त्याहुः । अन्यच्च—'अधिमासे सिंहगुरावस्ते च गुरुशुक्रयोः । तीर्थ-  
यात्रा न कर्तव्या गयां गोदावरीं विना ॥' इति । अत्राधिमासे च जन्म-  
क्षिति इति पठन्ति तत्र यात्रायां जन्मनक्षत्रस्यातिनिषिद्धत्वाद्गोदावरीगया-  
यात्रयोरपवादो युक्त एव । तथा ग्रहणार्धोदयकपिलाषष्ठीसंक्रांत्युद्देशेना-  
पूर्वतीर्थयात्रायां कर्तव्यायां शुक्रास्तादिमहादोषो नास्तीत्युक्तम् । त्रि-  
स्थलोसेतौ लल्लेन—'उपप्लव शीतलभानुभान्वोरर्धोदये वा कपिला-  
स्थषष्ठ्याम् । सुरासुरेज्यास्तमयेऽपि तीर्थयात्राविधिः संक्रमणेऽपि शस्तः ॥'  
इत्यलमियता । अथ गुर्वाद्यस्ते यद्वर्ज्यमुक्तं तद्वक्रगे गुरावथवातिचारगे  
गुरौ वर्ज्यम् । यदाह वात्स्यः—'यात्रोद्वाहौ प्रतिष्ठां च गृहचूडाव्रता-  
दिकम् । वर्जयेद्यत्नतश्चैव जीवो वक्रातिचारगे ॥ कीर्तिभंगः प्रतिष्ठायां  
चौरभीतिस्तथाध्वनि । तथोद्वाहे भवेन्मृत्युर्व्रतेहानिर्भयं गृहे ॥'  
इति । क्वचिदस्यापवादोऽभिहितः राजमातङ्गे—'वक्रातिचारगे जीवो वर्ज-  
येत्तदनंतरम् । व्रतोद्वाहादिचूडायामष्टाविंशतिवासरान् ॥' इति । मुक्ता-  
वल्यां त्वतिचारस्यैवापवादः—'अतिचारे सुरपूज्यो भवनान्नवर्णान्तरं  
यदा याति । अष्टाविंशतिदिवसान् विवर्जयेत्परिणयं प्रयत्नेन ॥' इति ।



परिणय इत्युपलक्षणम् । अस्यापवादो दीपिकायां—‘त्रिकोणजायाधन-  
लोभराशौ वक्रातिचारेण गुरुः प्रयातः । यदा तदा प्राह शुभं विलग्नं  
हिताय पाणिग्रहणं वसिष्ठः ॥’ इति । अतएव लल्लः—‘प्रतिषिद्धो नो-  
द्वाहो वक्रिणि जीवे तथातिचारगते । गोचरबलं प्रधानं लग्नं च पराशरः  
प्राह ॥’ इति । विवाहे एव कर्तव्येऽयमपवाद इति केचित् । न तु यज्ञो-  
पवीतादौ लग्नं च पराशरः प्राहेति सामान्योक्तेः । सर्वस्यापि कमणो-  
पवाद इत्यन्ये । विशेषमाह लल्लः—‘यद्यप्यनुपचयस्थो जीवः कन्याति-  
कालमावहति । गुणवद्वारोपलब्धौ तथापि पाणिग्रहः कार्यः ॥’ इति ।  
अथ केचिद्गुर्वादित्ये गुरुसहिते आदित्ये सूर्ये एकराशिगतौ गुरुसूर्या-  
विति यावत् । स गुर्वादित्यस्तस्मिन्नपि सर्वमस्तोक्तं शुभकर्म वर्ज्य-  
म् । यदाह शौनकः—‘एकराशिगतौ सूर्यजीवौ स्यातां यदा पुनः । अत-  
बंधविवाहादिशुभकर्माखिलं त्यजेत् ॥’ इति । यत्तु गुरुवचनम् । ‘गुरु-  
क्षेत्रगतो भानुर्भानुक्षेत्रगतो गुरुः । गुर्वादित्यः स विज्ञेयो गर्हितः सर्व-  
कर्मसु ॥’ इति । तद्विचारितगमणीयम् । तथाहि गुरुक्षेत्रे धनुर्मीनौ  
तत्र भानुः सूर्ये गुर्वादित्यस्तदसत् । धनुरर्कस्य दक्षिणायनत्वादेव नि-  
षेधसिद्धेः । मीनार्कस्य तु यज्ञोपवीतव्यतिरिक्तकार्यमात्रनिषेधसिद्धेः ।  
तथा भानुक्षेत्रे सिंहस्तत्र गतो गुरुर्गुर्वादित्य इति चेन्न । तत्र सिंहस्थगु-  
रुत्वादेव निषेधसिद्धेः । अथ गणितवशेन यस्मिन्नेव क्षेत्रे भानुस्त-  
स्मिन्नेव राशौ गुरुः स गुर्वादित्य इति तन्न । संभवत्येकवाक्यताकरणो  
भिन्नवाक्यताकरणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । ननु गुरोर्बाल्यवृद्धत्वास्तमयानां  
पृथक्निषेधोऽनर्थकः गुर्वादित्यनिषेधेनैव सिद्धत्वादिति चेन्मैव वाचः ।  
राश्यादौ सूर्यः तद्वाशेरेवांतेऽष्टाविंशत्यंशे गुरुः तत्राष्टाविंशत्यंशानां  
व्यवधानात्तावद्गुरोरेस्ताभावः । कालांशाश्च गुरोरेकादश ११ तदंतरे ह्य-  
स्तमयत्वोक्तेः । सप्तदशांशांतरितत्वाच्च वार्धक्यमपि नास्ति । यतो बाल्यं  
वार्धक्यं च परमं पक्ष १५ मात्रं नारदादिभिरुक्तम् । तत्र दिनद्वयमधिक-  
मवशिष्यते । येषां तु दश वा सप्त वा दिनानि बाल्यं वार्धक्यं  
चेति पक्षस्तेषामपि सप्त वा दश वा दिनानि बाल्यवार्धकरहि-  
तान्यवशिष्यन्ते । तत्र गुर्वादित्यप्रयुक्तोपि दोषो यथा स्यादिति वच-  
नारंभः । एवं बाल्येपि द्रष्टव्यम् । नन्वेवं गुर्वादित्य एव तर्हि वक्त-  
व्यो गुरोर्बाल्यवार्धकास्तानां पार्थक्येन दोषाभिधानमनर्थकमिति चेन्न ।  
यदा यत्र राशौ सूर्यस्ततः प्राग्राशौ गुरोरुदयस्तत्र बाल्यदोषः सावकाशः ।



यदोत्तरराशौ गुरुस्तदा वार्धकदोषः सावकाशः । बह्वंशांतरत्वाद-  
स्तमयसंभाषणापि नास्ति । तत्र गुर्वादित्यदोषेण बाल्यवार्धकास्तमय-  
दोषाणां कथं निरासः कर्तुं शक्यः । नहि भिन्नराशिस्थयोरपि गुर्वा-  
दित्ययागुर्वादित्यदोषाभिधानं कैश्चिदुक्तम् । तस्मात्प्रागुक्तविषय एव  
गुर्वादित्यदोषः । यदा त्वेकराशिस्थितत्वं तदा यदि बाल्यवार्धकास्तमय-  
दोषाणां सम्भवस्तदा दोषस्याधिक्यन्यूनतातरतमभावो ध्येयः । तथाहि  
बृहस्पतेः खलु पञ्चावस्थाः सम्भवन्ति । पूर्वं गुर्वादित्यसंज्ञा सालंपदो-  
षा । ततो यथायथा रविसामीप्यं तथातथा क्षीणताधिक्याद्वार्धकक्य-  
पदेशो गुर्वादित्यव्यपदेशाददुष्टफलः । ततः सूर्यातिसान्निध्येनास्तङ्ग-  
तत्वेस्तमयाख्यो व्यपदेशः सोत्यन्तं दुष्टफलः । ततः पुनरपि कालांशा-  
तिक्रमेण रविधिप्रकर्षादुदये सति बालत्वव्यपदेशः प्राक्फलात् किञ्चि-  
न्यूनदोषकरः । ततः पुनरपि राश्यन्ते गुर्वादित्यव्यपदेशः सोऽल्पदोष  
इति । एवं गुरोर्बाल्यवार्धकदिनानामपि बहुत्वालपयोरपि व्यवस्था  
ध्येया । तथा हि । यदास्तोदयाभ्यां प्राक् पञ्चाच्च वार्धकं बाल्यं च  
पक्षमभिहितं तदा पक्षातिमदिनपञ्चकमलदोषदम् । यदा तु दशदिना-  
नीति पक्षस्तदा तदंतिमं दिनत्रयं मध्यमदोषम् । यदा तु सप्तदिनानीति  
पक्षस्तदा तु महादोष एव । एवं धीमद्भिरन्यत्रापि व्यवस्था विरोधे सति  
महादोषाल्पदोषजनिकावश्यकानावश्यकविषयिणी ध्येयेत्यलमतिप्रस-  
ङ्गेन । अथ केचिद्विश्वघस्त्रेपि पक्षे त्रयोदशदिने पक्षे यस्मिन् पक्षे  
तिथिद्वयह्रासः स त्रयोदशदिनात्मकः पक्षोऽतिनिघः । तदुक्तं ज्योतिर्निब-  
न्धे—‘पक्षस्य मध्ये द्वितिथी पतेतां तदा भवेद्भौरवकालयोगः । पक्षे विनष्टे  
सकलं त्रिनष्टमित्याहुराचार्यवराः समस्ताः ॥’ इति । तथा ‘त्रयोदशदिने  
पक्षे तदा संहरते जगत् । अपि वर्षसहस्रेण कालयोगः प्रकीर्तितः ॥’  
इति । एवंविधे काले सत्रं गुर्वाद्यस्तोक्तं शुभकर्म वर्ज्यं प्रोचुः । तदुक्तं  
व्यवहारचण्डेश्वरे—‘त्रयोदशदिने पक्षे त्रिवाहादि न कारयेत् । गर्गा-  
दिमुनयः प्राहुः कृते मृत्युस्तदा भवेत् ॥’ इति । त्रिवाहे दम्पत्योश्चौलो-  
पनयनादौ च शिशोर्मृत्युरित्यवधातव्यम् । संस्कार्यतया प्राधान्यात् ।  
ज्योतिर्निबन्धेपि—‘उपनयनं परिणयनं वेश्मारंभादिकर्माणि । यात्रां द्विज-  
यपक्षे कुर्यान्न जिजीविषुः पुरुषः ॥’ इति । अथ प्रसङ्गात्त्रयोदशदिनात्मक-  
पक्षः कथं संभवति कथं न सम्भवतीति विचारः प्रस्तूयते । कस्मिंश्चित्क-  
काले कस्मिंश्चित्पक्षे प्रतिपत्सोमचारे षट्कैका दशपलाधिका १ । १०



ततो द्वितीया क्षयोन्मुखत्वात्पक्षस्य सोमवार एवान्तर्हितात् एवावमाख्या  
जाता घट्यः ५७ पलानि ६, ततः पुनरपचयक्रमेण तिथीनां चतुर्दश्यापि  
क्षयं गतावमाख्या शुक्रवार एव । ततः शनिवारे पूर्णिमा क्षयोन्मुखी  
चतुर्दशीतुल्या वा एतादृशः पक्षत्रयोदशदिनात्मकः सम्भवति । यद्यपि  
‘पक्षपरिग्रहे’ इत्यस्माद्धातोः ‘पचाद्यचि’ पक्षशब्दो निष्पन्नो नानार्थ-  
श्चास्ति । तथापि ज्योतिःशास्त्रे प्रतिपदाद्यक्षणमारभ्य पञ्चदश्यन्तिम-  
क्षणपर्यन्तं पञ्चदशतिथ्यात्मके काले रूढः शिष्टपरिगृहीतत्वादगृह्यते ।  
दिनशब्दाप्यत्र त्रयोदशपदसमभिध्याहारादहोरात्रवाचको ‘दशाहं शा-  
वमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते’ इत्यादावह-शब्दवत् । तत्र दिवस-  
स्तु ‘यत्कृच्छ्रसूतकचिकित्सितवासराद्यं तत्सावनाच्च घटिकादिकमा-  
र्क्षमानात्’ इति भास्करोक्तेः । सावन एवात्र ग्राह्यः । स च सूर्योदयमारभ्या-  
परसूर्योदयं यावत् तावत्कालो रविवाराद्यपरपर्यायः सकललोकप्रसिद्धो  
गृह्यते । तत्र ‘त्रयोदशदिने पक्षे नूनं संहरते जगत’ इतिवचनादेतादृश-  
स्य त्रयोदशदिनात्मकस्य पक्षस्य दोषवत्ता स्मर्यते । कथमस्य पक्षस्य  
त्रयोदशदिनात्मकत्वम् । उच्यते । त्रयोदशसंख्याकानि दिनानि यस्मि-  
न्स त्रयोदशदिनस्तादृशे पक्ष इति व्युत्पत्त्या पक्षस्यान्यपदार्थकत्वात्तस्य  
पञ्चदशतिथ्यात्मकस्य त्रयोदशाहोरात्रसम्बन्धोभिहितो भवति । प्रस्तु-  
तोदाहरणे तावत्प्रतिपदन्तिमघटोसम्बन्धः प्रातःकाले सोमवारस्य  
जातः । ततो द्वितीयादितिथिसम्बन्धः सोमवारमारभ्यैव जातः । ततः  
क्रमेण पञ्चदश्याः शनिवारसम्बन्धोभूदिति पक्षस्य त्रयोदशदिनात्मक-  
त्वमजनिष्ट । यदि प्राग्लक्षणलक्षितस्य पक्षस्य त्रयोदशाहोरात्रसम्बन्धो  
विवक्ष्यते, तदा पक्षस्य त्रयोदशदिनात्मकता खपुष्पतुल्यैव भवेत् । यतो-  
पचयाभिमुखत्वात्तिथीनां मध्ये एकस्या एव तिथेः क्षयः स्यान्न द्वयोस्ति-  
थ्योस्तदा पक्षस्य चतुर्दशदिनात्मकता सम्भवति । ‘पक्षस्य मध्ये द्वि-  
तिथी पतेतां तदा भग्नद्वौरेवकालयोगः । पक्षे विनष्टे सकलं विनष्टमित्या-  
हुराचार्यवराः समस्ताः ॥’ इतिवाक्याद्द्वयोस्तिथ्योरेव क्षयपक्षस्य त्रयो-  
दशदिनात्मकता सम्भवेत् । सा चाल्पावशिष्टप्रतिपत्सम्भवेदिति निष्कृष्टो-  
ऽर्थः । अत्रैवं विधमन्यदप्युदाहरणम् । विंशत्युत्तरपञ्चदशशती १५२० मिते  
शककाले कार्तिकशुक्लपक्षे जातमस्ति तदेवं विधेयम् । एवं च यदा-  
कदाचिच्छुक्लकाले पञ्चदशी तिथिगुरुवारे घटिकैका १ पुनस्तस्मिन्नेव  
वारे प्रतिपत् ५६ क्षयगता ततस्तस्मिन्नेव वारे पुनर्द्वितीया संलग्ना



पुनः प्रातरारभ्य शुक्रवारसम्बन्धेन द्वितीया संपूर्णभूत्पुनः क्षयाभिमुख-  
त्वात्तिथीनां चतुर्दश्याः पञ्चदश्या वा क्षयः संवृत्तस्तदा पञ्चदशी  
तिथिगुरुवार एव समभूतदा चतुर्दशदिनात्मक एव पक्षो भवति ।  
यतः प्रतिपत्सम्बन्धः शुक्रवारे एकपलात्मकोपि नाभूत्किंतु गुरुवारेणैव ।  
ननु 'पक्षस्य मध्ये द्वितीया पतेताम्' इति लक्षणान्नत्रयोदशदिनात्मकः  
पक्षो भविष्यतीति चेन्न । यतोत्र मध्यशब्दः पठ्यते स यद्यष्टमीतिथिमुत्त-  
रपञ्चदश्यादितिथिपञ्चकात्मकविभागमाक्षिपति तथापि द्वितीया पतेतामिति  
वाक्यार्थासम्भव एव स्यात् । सम्भवस्तु वाक्यार्थे लक्षणयोपयुज्यते । अतो  
यदा हि पक्षे इति सप्तम्यन्तपदे वक्तव्ये मध्यपदोच्चारणसामर्थ्यादाक्षि-  
प्तयोराद्यन्तयोस्तिथ्योर्निवृत्तिमाह । स इति वाक्यार्थोऽवगम्यते । एवं  
सति प्रतिपत्पञ्चदश्यायुगपत्क्षये दोषवत्ता नैव भवति । किंतु द्विती-  
यामारभ्य चतुर्दश्यन्तं तिथिद्वयह्रासे त्रयोदशदिनात्मकः पक्षोतिदोषा-  
वहो भवति । यद्येवं द्वितीयापञ्चदशयोः क्षयेतिदोषवत्ता न स्यादिष्यते  
च तत्रापि । सत्यम् । नहीदमेव वचोतिनिर्णायकं किंतु त्रयोदशदिने पक्ष-  
इत्यनेनैकवाक्यतामापन्नं सत् । 'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि दूष-  
णम्' इत्युक्तेः । कथं तिथिद्वयक्षयवान् त्रयोदशाऽहोरात्रसम्बन्धवान्पक्ष-  
स्त्रयोदशदिनः पक्ष इत्यनुगतलक्षणं क्रियते । अतो नात्र व्याप्तिरि-  
त्यस्त्यतिदोषवत्ता । यत्र चतुर्दशदिनात्मकः पक्ष इति प्रसिद्धिस्तत्र  
पञ्चदशतिथीनां त्रयोदशाहोरात्रसम्बन्धात्पक्षस्य त्रयोदशदिनात्मकता  
स्यात्सा मा भूदिति तिथिक्षयद्वयवानित्युक्तम् । अतः प्रतिपत्तिथेश्च-  
तुर्दशीपञ्चदश्याोरन्यतरतिथेश्च युगपत्क्षये त्रयोदशदिनात्मकपक्षत्वं  
नास्त्येवेति सिद्धान्तः । अत एव भीष्मपर्वाणि कुरुपारुषसैन्यक्षयनि-  
मित्तभूतमुत्पातमाह दुर्योधनं प्रति भीष्मः—'चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां  
च षोडशीम् । इमां त्वमभिजानेहममावास्यां त्रयोदशीम् ॥' इति ।  
अस्यार्थः । पूर्वं हि पञ्चाङ्गगणनया प्रतिपदमारभ्यामावास्यां तिथि-  
चतुर्दशीं चतुर्दशाहोरात्रे निष्पन्नां भूतपूर्वां पूर्वभूतामहमभिजाने पक्ष-  
स्यैकतिथिक्षयसद्भावात् । तथामावास्यां पञ्चदशीं पञ्चदशाहोरात्रे पूर्व-  
जातामहमभिजाने । पक्षस्यैकतिथिक्षयवृद्धिराहित्यात् । तथामावास्यां षो-  
डशीं षोडशाहोरात्रे पूर्वं जातामहमभिजाने । पक्षस्यैकतिथिक्षयवृद्धिस-  
द्भावात् । पक्षमध्ये तिथिक्षयवृद्धिस्तु खपुष्पतुल्यैव । भूतपूर्वा-  
मित्यनेन गणितसाध्यपञ्चाङ्गेष्वनेकशो दृष्टत्वादाश्चर्याभावोऽभिहितः ।



अतः फलमप्यस्य वराहेण सामान्यत उक्तम्—‘शुक्ले पक्षे संप्रवृद्धिं प्रयाते ब्रह्मक्षत्रं याति वृद्धिं प्रजाश्च । हिने हानिस्तुल्यता तुल्यतायां कृष्णे सर्वं तत्फलं व्यत्ययेन ॥’ इति । व्यत्ययस्तु शुक्लपक्षापेक्षया । अत्रातिदुष्टफलाश्रवणाभ्योत्पातरूपत्वमस्य पक्षस्य परमस्मिन्नवसरे त्विमां पंचांगे मया दृष्टाममावास्यां त्रयोदशीं प्रतिपत्तिथिमारभ्य त्रयोदशाहोरात्रे तिथिद्वयह्रासाज्जातां कदाप्यननुभूतां नाहमभिजाने इति महानुत्पातो मया दृष्टोतो युद्धाभिवर्तस्वेति वाक्यतात्पर्यार्थः । ननु प्रकृतेरन्यत्वमुत्पात इत्युत्पातलक्षणानाक्रान्तत्वमत्रास्ति गणितज्ञानसाध्यत्वाच्छुकास्तादिरुत्पातः केनाप्यङ्गी क्रियते । सत्यम् । यद्यपि पक्षद्वयमध्ये तिथीनां क्षयगामित्वात्तिथिद्वयह्रासो दृश्यते बहुधा गणितसाध्यत्वात्तथाप्यास्मिन् कालेप्यस्मिन्नेकेकस्मिन्पक्षे प्रतिपदमारभ्य तिथिद्वयह्राससद्भावाद्बहुभिर्धर्षैरमावास्या त्रयोदशी जाता दृष्टा तादृशी च मया कदापि नानुभूतेति महोत्पातरूपत्वमस्य युक्तमेव संपन्नमिति । ‘ज्योतिर्विघ्नीलकण्ठस्य गोविन्देन तनूभुवा । त्रयोदशाहपक्षस्य तत्त्वं सम्यक् प्रकाशितम् ॥’ इति । अथ तद्वत्तेन प्रकारेण दन्तरत्नादिभूषां दन्ता हस्तिदन्तास्तत्सम्बन्धिनीं भूषां रत्नसम्बन्धिनीं भूषां तथादिशब्दात्सुवर्णमणिसम्बन्धिनीं भूषामपि वज्र्यां प्रोचुः । सर्वास्मिन्निषिद्धे काले इत्यर्थः । यदाह राजमातङ्गः—‘यात्रां चूडां विवाहं श्रुतिविवरविधिं शखसन्नप्रवेशं प्रासादोद्यानहर्म्यं सुरनरभवनारम्भविद्याविधानम् । मौज्जीबन्धं प्रतिष्ठां मणिकनकरदाधारणं कुर्वतो ये मृत्युः सिंहस्थितेज्ये गुरुदिनकरयोरेकराशिस्थयोश्च ॥’ इति । सिंहस्थगुरोरुपलक्षणत्वाद्गुर्वस्तादावपि प्रथमकर्तव्यसुवर्णादिधारणं वज्र्यमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

अथ सिंहस्थगुरोः प्रकारत्रयेण परिहारमिन्द्रवज्रयाह—

सिंहे गुरौ सिंहलवे विवाहो

नेष्टोऽथ गोदोत्तरतश्च यावत् ।

भागीरथीयाम्यतटे हि दोषो

नान्यत्र देशे तपनेऽपि मेषे ॥ ४९ ॥

सिंह इति । अथ प्रथममंशभेदेन परिहार उच्यते । गुरौ सिंहस्थिते सत्यपि सिंहांशे तृतीयांशसहितत्रयोदशांशकेभ्योनन्तरं १३ । २० तृतीयां

शसहितांशत्रयं ३ । २० पञ्चमो नत्रांशः सिंहांशस्तत्र गुरौ सति विवाहो नेष्टो निषिद्धः । उक्तं ज्योतिर्निबन्धे राजमार्तएडेन—‘सिहराशौ तु सिंहांशे यदा भवति वाक्पतिः । सर्वदेशेष्वयं त्याज्यो दम्पत्योर्निधनप्रदः ॥’ इति । विशेषमाह वसिष्ठः—‘सिंहे सिंहांशके जीवे कलिङ्गे गौडगुर्जरे । कालमृत्युरयं योगो दम्पत्योर्निधनप्रदः ॥’ इति । अतोऽवशिष्टेष्वंशेषु विवाहादि शुभं भवतीत्यर्थः । ‘सिंहेऽपि भगदैवत्ये गुरौ पुत्रवती भवेत् । अत्यन्तसुभगा साध्वी धनधान्यसमन्विता ॥’ इति । राजमार्तएडांकेः । अथ देशमेवेन द्वितीयः परिहार उच्यते । अथ गोदावरी नदी तस्या उत्तरदिशि भागीरथी गंगा तस्या याम्यतटं दक्षिणकूलं यावन्मर्यादीकृत्य-गदावरीगङ्गान्तरालवर्ती यो देशस्तत्र सिंहस्थगुरुर्वर्ज्यो नाऽन्यत्र । अन्यदेशेषु न सिंहस्थगुरुदोषः । तदाह लल्लः—‘गोदावर्युत्तरतो यावद्भागीरथीतटं याम्यम् । तत्र विवाहो नेष्टः सिंहस्थे देवपतिपूज्ये ॥’ इति । अर्थाद्गोदावरीदक्षिणे देशे भागीरथ्युत्तरे देशे च सिंहस्थगुरुदोषो नास्ति । यदाह वसिष्ठः—‘भागीरथ्युत्तरे कूले गौतम्या दक्षिणे तटे । विवाहो व्रतबन्धो वा सिंहस्थेज्ये न दुष्यति ॥ मृगेन्द्रसंस्थिते जीवे मध्यदेशे करग्रहः । मृत्युयोगो मृत्युदः स्यादपत्योः पचवर्षतः ॥’ इति । अत्र विवाहव्रतबंधावेव निषिद्धौ । आभ्यामन्यानि शुभकर्माण्यनिषिद्धान्येव । अपवादस्य संकोचाश्रयत्वादुपलक्षणत्वायोगात् । अथ सूर्यराशिवशेन तृतीयः परिहार उच्यते—तपनेऽपि मेषे, सूर्ये मेषराशौ विद्यमाने सति वा सिंहस्थगुरोर्दोषो नास्ति । “मङ्गलानीह कुर्वीत सिंहस्थो वाक्पतिर्यदा । भानौ मेषगते सम्यगित्याहुः शौनकादयः ॥” इति ज्योतिर्निबन्धोक्तेः । अन्यच्च तत्रैव “सिंहगते सुरमन्त्रिणि कन्या मेषगते तपने परिणीता । भूषणरत्नयुता च सुशीला सत्यवती सुखकीर्तिसमेता ॥ इति ॥ ४६ ॥

अथ सिहराशिगतगुरुनिषेधवाक्यानां प्रतिप्रसववाक्यानां च निर्गलितार्थमनुबुद्धयेनाह—

मघादिपञ्चपादेषु गुरुः सर्वत्र निन्दितः ।

गङ्गागोदान्तरं हित्वा शेषाङ्घ्रिषु न दोषकृत् ॥५०॥

मेषेऽर्के सन्नत्रतोद्वाहौ गङ्गागोदान्तरेऽपि च ।



सर्वः सिंहगुरुर्वर्ज्यः कलिङ्गे गौडगुर्जरे ॥ ५१ ॥

मघादिपंचेति । मेषेर्क इत्यादि च । श्लोकद्वयं स्पष्टार्थम् ॥ ५० ॥ ५१ ॥

अथ मकरस्थितगुरोः प्रकारद्वयेन परिहारं शालिन्याह—

रेवापूर्वे गण्डकीपश्चिमे च

शोणस्योदग्दक्षिणे नीच इज्यः ।

वर्ज्यो नायं कौङ्कणे मागधे च

गौडे सिन्धौ वर्जनीयः शुभेषु ॥ ५२ ॥

रेवापूर्वे इति । रेवा नर्मदा नदी तस्याः पूर्वे भागे, गण्डकी नदी तस्याः पश्चिमे भागे च शोणस्योत्तरे दक्षिणे च भागे नीच ईज्यः मकरस्थ-गुरुर्न वर्ज्यः । एषु देशेषु मकरस्थगुरोर्दोषो नास्ति । तदुक्तं लल्लेन—  
“नर्मदा पूर्वभागे तु शोणस्योत्तरदक्षिणे । गण्डक्याः पश्चिमे भागे कमरस्थो न दोषभाक् ॥” अर्थादन्येषु देशेषु निषिद्ध एव । तद्देशज्ञानार्थं द्वितियः परिहारः—अयं मकरस्थितगुरुः कौङ्कणे देशे मागधे देशे च गोडदेशे सिन्धुदेशे कटकाख्यनगराधस्ता-त् सिन्धुर्नाम नदोऽस्ति । तत्पारे शुभेषु शुभकृत्येषु वर्ज्यो निषिद्धः । उक्तञ्च दैवज्ञमनोहरे—“मागधे गौडदेशे च सिन्धुदेशे च कौङ्कणे । व्रतं चूडा विवाहं च वर्जयेन्मकरे गुरौ ॥” इति । अतोऽन्येषु देशेषु मंगलं कार्यमेवेत्यर्थतः सिद्धम् । व्यवहारचण्डेश्वरे तु विशेषः—“नीच-राशीगतो जीवः प्रशस्तः सर्वकर्मसु । नीचांशकगतस्त्याज्यो यस्मादंशे-षु नीचता ॥” इति । अतएव वामनपुराणे—“वापीकूपतडागादि निषिद्धं सिंहगे गुरौ । मकरस्थेऽपि तत्कार्यं न दोषः काललोपतः ॥” इति । काललोपो नाम कालनिषेधः स इह नास्ति । निषेधवाक्यस्य देशपरत्वादंशपरत्वाच्चेति भावः । गरुडपुराणेऽपि—“यदासिंहगतो जीवो नैव कल्याणमाचरेत् । मकरस्थेऽपि कर्तव्यं नात्र कार्या विचारणा ॥” इत्यत्रापि पूर्वोक्त एवाशयः ॥ ५२ ॥

अथ लुप्तसंवत्सरदोषापवादं वंशस्थवृत्तेनाह—

गोऽजान्त्यकुम्भेतरभेऽतिचारगो

नो पूर्वराशि गुरुरेति वक्तिः ।

तदा विलुप्ताब्द इहातिनिन्दितः

शुभेषु रेवासुरनिम्नगान्तरे ॥ ५३ ॥

गोऽजान्त्येति । गौर्वृषः, अन्यो मीनः, कुम्भ एतदितरमे यस्मिन् कस्मिन्  
 श्चिद्राशौ स्थितो गुरुराक्रान्तराशोः सकाशादग्रिमराशौ महातिचारेण स-  
 मागतः सन् पश्चात्क्रियद्भिर्दिनैर्वर्कितो यदा पूर्वराशि भुक्तराशि नो एति  
 तदा विलुप्ताब्दः लुप्तसंवत्सर उच्यते । स विलुप्ताब्दः इह शुभकृत्येषु  
 अतिनिन्दितः निषिद्ध इत्यर्थः । तदुक्तं व्यवहारोच्चये—“अतिचारगतो  
 जीवस्तं राशि नैति चेत्युनः । लुप्तसंवत्सरो ज्ञेयो गर्हितः सर्वकर्मसु ॥”  
 यदा तु गोजान्त्यकुम्भेषु पूर्वाशोः सकाशात् महातिचारेणायाति  
 पूर्वराशि च नैति तदा न लुप्तसंवत्सरदोषः । यदाह गुरुः—“मेषे वृषे  
 मृषे कुम्भे तद्यतोचारगे गुरौ । न तत्र कालदोषः स्यादित्याह भगवा-  
 न्यमः ॥” इति । यदि तु दशैकादश वा मासान्भुक्त्वा यस्मिन्क-  
 स्मिन्श्चिद्राशावतिचारेण गुरुः समायाति पूर्वं राशि च न गच्छति तदा  
 लुप्तसंवत्सर एव नास्ति । यदाह च्यवनः—“मासान् दशैकादश वा युप्र-  
 ज्य राशेर्यदा राशिमुपैति जीवः । भुंक्ते न पूर्वं च पुनस्तथापि न लुप्त-  
 संवत्सरमाहुरार्याः ॥” इति । अथ पूर्वराशिभेदेन परिहारमुक्त्वे-  
 दानीं देशभेदेन परिहारमाह—रेवेति । लुप्तसंवत्सरो रेवा नर्मदा सुर-  
 निम्नगा गङ्गा तयोर्नद्योरन्तरे मध्ये निषिद्धः । उक्तं च—“लुप्ताब्ददोषो-  
 ऽत्रिमतेन मध्ये सामोद्भवायाः सुरनिम्नगायाः ॥” इति । केषुचिद्रा-  
 शिषु लुप्तसंवत्सरदोषातिशयोस्त्युक्तं सारसागरे—“अतिचारगते  
 जीवे धनुःकर्कटमीनगे । लुप्तसंवत्सरो ज्ञेयो विवर्ज्यः सर्वकर्मसु ॥”

समसप्तकाख्यो दोषः—

अन्यैर्विवाहादिनिषेधकं समसप्तकाख्यं दोषान्तरमप्युक्तम् । यदाह  
 नारदः—“समदृष्टिर्गुरुः शुक्रस्तन्मासे तु प्रयत्नतः । विवाहादि न कुर्वीत  
 नर्मदातीर उत्तरे ॥” इति । गुरुरपि—“यदा जीवसितौ चक्रे परस्परनि-  
 रीक्षितौ । सप्तमस्थौ तदा दोषो मूढत्वादतिरिच्यते” इति । वसिष्ठोपि—  
 “समसप्तकयो जीवशुक्रयोश्च परस्परम् । तदा मूढसमो दोषः शुभकार्य-  
 विनाशदः ॥” इति ॥ ५३ ॥

अथ ग्रहाणां होरां वदयति सा च वारप्रवृत्त्यधीना । तदर्थं वारप्र-



वृत्तिमुपजात्याह—

(१) पादोनरेखापरपूर्वयोजनैः

पलैर्युतोनास्तिथयो दिनाद्धतः ।

ऊनाधिकास्तद्विवरोद्भवैः

पलैरूध्वं तथाधो दिनपप्रवेशनम् ॥ ५४ ॥

मध्यरेखा—

पादोनेति । रेखा भूमध्यरेखा “पुरी रत्नसां देवकन्याथ काञ्ची सितः प-

(१) अत्रोपपत्तिः । यदा लङ्कायां सूर्योदयस्तदैव सर्वत्र वारप्रवृत्तिरिति मन्यन्ते प्राचीनाः, स च लङ्कोदयः स्वदेशोदयात् कियन्मि ते काले पूर्वमनन्तरं वा भवतीति तावद्विचारः कियते, यथा—लङ्कातः पूर्वदेशे, लङ्कायाम्योत्तरवृत्तस्वयाम्योत्तरयोरन्तरं पूर्वदेशान्तरं स्पष्टभूपरिधौ, तत्सम्बन्धिघट्टयानयनार्थमनुपातो यदि मध्यभूपरिधियोजनैः षष्टिघटिका लभ्यन्ते तदा देशान्तरयोजनैः का इति देशान्तरसम्बन्धिघट्यः =  $\frac{६० \times \text{देशंयो}}{\text{मभूपयो}}$ , एताः षष्टिगुणिता

जातानि देशान्तरपलानि =  $\frac{६० \times ६० \times \text{देशंयो}}{\text{मभूपयो}}$  इह मध्यमभूपरिधियो-

जनमानं “खाम्नाष्टवेदैः प्रमितैस्तु योजनैः सदा भवेद्भूपरिधिप्रमाण-’

मित्यनेनाष्टचत्वारिंशच्छत- (४८००) समं प्रकलितन्तदुत्थापनादेशान्तर-

पलानि =  $\frac{६० \times ६० \times \text{देशंयो}}{४८००} = \frac{३ \times \text{देशंयो}}{४}$  । ततोऽस्य रूपान्तरम्

=  $\frac{(४-१) \text{देशंयो}}{४} = \frac{४ \text{देशंयो}}{४} - \frac{\text{देशंयो}}{४} = \text{देशंयो} - \frac{\text{देशंयो}}{४} = \text{देशंपलानि पा-$

दोनदेशान्तरयोजनसमानि । तथा लङ्कायाम्योत्तरक्षितिजयोरन्तरे पञ्चदश-

घटिकास्ताश्चानीतदेशान्तरपलैरूनिताः स्वयाम्योत्तरलङ्काक्षितिजयोर-

न्तरपलानि = १५ घ-  $\frac{३ \text{ देशंयो, प}}{४}$  । एतदूनं स्वदिनार्धं लङ्काक्षितिज-  
स्वक्षितिजान्तरमेवात एतैः पलैरूध्व स्वदेशोदयानन्तरं लङ्कायां सूर्योदयः ।

वर्ततः पर्यलीवत्सगुल्मम् । पुरी चोज्जयिन्याह्वया गर्गराटं कुरुक्षेत्रमेव  
भुवो मध्यरेखा ॥” इति भास्करोक्ता । उपलक्षणं चैतत् । लंकात  
आरभ्य सुमेरुपर्यन्तं यद्दत्तं सूत्रं तदधोवर्तिनो ये देशास्ते मध्यरेखा  
उच्यन्ते । तदुक्तं तेनैव—“यल्लकोज्जयिनीपुरोपरिकुरुक्षेत्रादिदेशान्स्पृशत्  
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः” इति । यस्मिन्देशे वार-  
प्रवृत्तिश्चिकीर्षिता स देशो यदि मध्यरेखातः प्राक्पश्चाद्वा यावति योज-  
नानि भवन्ति तानि स्वदेशचतुर्थ्यंशानानि कृत्वा तावद्भिः पलैस्तिथयः  
पञ्चदश युतानाः कार्याः । यदि मध्यरेखातः प्रत्यग्योजनानि तदा युताः,  
यदा तु प्राग्योजनानि तदोनाः कार्या इत्यर्थः । अथ यदिने वारप्रवृत्तिरिष्टा  
तद्दिने—“चरपलयुतहीना नाडिकाः पञ्चचन्द्राद्द्विदलमथ निशार्धं या-  
म्यगोले विलोमे” इति भास्करोक्तरीत्या दिनाद्धं साध्यम् । तस्मादिना-  
द्धात्संस्कारविशिष्टाः पञ्चदशोनाधिकाश्चेद्भवन्ति तद्विवरोद्भवैः पलैर्दि-  
नार्धस्य संस्कारविशिष्टपञ्चदशानां च यद्विवरमन्तरं तत्सन्ध्येनोत्थैरु-  
त्पन्नैः पलैरुद्धं तथात्रां दिनपस्य वारस्य प्रवेशनं वारप्रवृत्तिः स्यात् ।  
यदा दिनाद्धात्संस्कारविशिष्टा पञ्चदश चेदूनाः स्युस्तदा सूर्योदयादूर्ध्वं  
वारप्रवेशनम् । यदा ह्यधिकास्तदा सूर्योदयात्प्राग्वारप्रवृत्तिरित्यर्थः ।  
यथा वाराणसीप्राङ्मध्यरेखाभिधात् कुरुक्षेत्रात् त्रिषष्टियोजनानि ६३  
पादोनानि ४७।१५ प्राग्योजनत्वादेतैः पलैः ४७ ऊनाः पञ्चदश १५ जाताः  
१४ । १३ । दिनाद्धं १७ । २ अस्मात् न्यूना इति विवरं २।४६ सूर्योद-  
यादूर्ध्वं वारप्रवृत्तिः ।

अयमर्थो ग्रन्थकृता लाभवायोपनिबद्धः । राजमार्गस्तु वसिष्ठसंहि-  
तायां—“प्रभाकरस्योद्गमनात्पुरे स्याद्वारप्रवृत्तिदेशकन्धरस्य । चराद्धदे-  
शान्तरनाडिकाभिरुद्धं तथाधोथ परत्र तस्मात्” इति । श्रीपतिरपि—

एवमेव युक्त्या रेखातः पश्चिमे प्रदर्शितरीत्यानीतदेशान्तरपलैः पूर्वमेव  
स्वदेशोदयाल्लङ्कोदयस्तदैव च वारप्रवृत्तिरिति युक्तियुक्तम् । तावता  
श्रीरामदैवज्ञोक्तं सर्वमुपपद्यते । ननु रेखातः कियन्मितदूरे पूर्वं पश्चाद्वा-  
हमस्मीत्यादिज्ञानम् ।

“प्राग्भूविभागे गणितोत्थकालादनन्तरं प्रग्रहणं विधोः स्यात् ।  
आदौ हि पश्चाद् विवरे तयोर्या भवन्ति देशान्तरनाडिकास्ताः ॥”  
इत्यादि भास्करोक्ततः स्फुटमित्यलं प्रसङ्गागतविचारेण ।



“चरार्धदेशान्तरयोर्वियोगयोगोत्थपानीयपलैश्च सम्यक् । सूर्योदयादूर्ध्वमृणो धनेधो वारप्रवृत्तिं मुनयो वदन्ति ॥” इति । तत्र चरमुत्तरदक्षिणगोलवशाद्वर्णं धनं च ‘अस्वं स्वं चरगोलयोः स्यात्’ इति भास्करोक्तेः - देशान्तरमपि पूर्वापरयोजनवशाद्वर्णं धनं च । तत्र “योगे युतिः स्यात् क्षययोः स्वयोर्वा धनर्णयोरन्तरमेव योगः ॥” इत्युक्तेः ऋणयोर्देशान्तरचरयोर्योगे तूर्ध्वं वारप्रवृत्तिः । धनर्णयोर्योगे सूर्योदयादधो धनर्णयोर्योगेऽन्तरं कार्यम् । तद्यद्वर्णं धनं च तदा सूर्योदयादूर्ध्वमधश्च वारप्रवृत्तिः । ग्रन्थकृता तु चरसंस्कारो मध्याह्नस्य तद्विशिष्टत्वात् कृतः । देशान्तरसंस्करोऽवशिष्यते स लङ्कादिनार्थे पञ्चदशघटीमिते कार्यः । तथा कृते सति यदुभयोरन्तरं तावत्सूर्योदयादूर्ध्वमधश्च वारप्रवृत्तिः ॥ ५४ ॥

अथ वारप्रवृत्तिप्रयोजनपुरःसरां होरामनुष्ठुभाह—

(१) वारादेर्घटिका द्विघ्नाः स्वाहृच्छेषवर्जिताः ।

सैकास्तथा नगैः कालहोरेषा दिनपात्क्रमात् ॥ ५५ ॥

(१) वारादेर्घटिका द्विघ्ना इत्याद्युपपत्तिष्टीकाकर्त्रैव संक्षिप्तोक्ता तथा व्यस्माभिर्नव्यसंकेतेन विशदी क्रियते । सार्धंघटीद्वयेनैका कालहोरा भवतीत्यादि टीकाकारप्रदर्शितवसिष्ठवचनप्रमाणाद् ‘वारप्रवृत्तेर्गदिता दिनेशात्कालाख्य होरापतयः क्रमेण—’त्यादितो ज्ञेयमथेष्टवारप्रवृत्तिघटीजनितकालहोरासाधनार्थमनुपातो यदि सार्धंघटीद्वयेना— $(2 + \frac{1}{2})$  नेनैका कालहोरा लभ्यते तदेष्टवारप्रवृत्तिघटिभि—(६ घ) राभिः का इति फलं गतकालहोराः (गकाहो), शेषं वर्त्तमानकालहोरावयवरूपन्तच्छेषम् इकाहो =  $\frac{६ घ}{२ + \frac{१}{२}} = \frac{२६ घ}{५} = गकाहो + \frac{१}{५}$  ।

अतः  $\frac{२६ घ}{५} - \frac{१}{५} = गकाहो$  (पक्षयोः शरभक्तशेषशोधनेन )

वा,  $\frac{२६ घ - १}{५} = गकाहो$  ।

अथ वारेशकालहोरेषयोरन्तरानयनार्थमनुपातो यदि रूपमितया कालहोरेषा तयोरन्तरं पञ्चमितं लभ्यते तदा नियताभिः कालहोराभिः किमिति फलस्वरूपम् =  $\frac{५ \times गकाहो}{१}$  अत्र गतकालहोरा-

वारादेरिति । वारप्रवृत्तिप्रकारेण यस्मिन् क्षणो वारप्रवृत्तिर्जाता तत् इष्टघट्यो द्विगुणाः कार्याः । ता द्विस्थाने स्थाप्याः । तत्र पंचभिभक्ते यल्लब्धं तत् त्याज्यम् । यच्छेषं तत् द्विगुणघटिमध्ये वर्जितं कार्यम् ॥ एवंविधा घट्यः सैका एकयुक्ताः कार्याः । ततो नगैः सप्तभिस्तथा भक्ता अवशिष्टाः कालहोराः स्युः । तद्दिनपाद्वारात् क्रमाद्वर्णनीयाः । यथा रविवारे इष्टघटिकाः षट् ६ द्विगुणाः १२ पृथगक्षेत्रशेष २ वर्जिताः १० । नगैः ७ तष्टाः शेषं ३ सैकम् ४ रविवारक्रमगणनया चतुर्थो बुधस्तस्य होरा । अत्र वासना । तत्र वसिष्ठः—“वारप्रवृत्तेर्गद्विता दिनेशात्कालाख्यहोरापतयः क्रमेण । सार्धेन नाडीद्वितयेन तष्टः षष्ठश्च षष्ठश्च पुनः पुनः स्यात्” इति । तत्र कृतेऽहोरात्रे चतुर्विंशतिः कालहोरा भवन्ति ॥ अत्रानुपातः—यदि घटिकानां षष्ठ्या ६० चतुर्विंशतिः २४ होरा लभ्यन्ते तदैकया किमिति । अत्रैकेन गुणो विशेषाभावाच्चतुर्विंशतेः छेदः षष्टिर्जातः । उभयो द्वादशापवर्ते इष्टघटिकाद्विगुणाः पञ्चभक्ताः कालहोराः स्युरिति ॥ तथा चोक्तं रत्नमालायां “वारप्रवृत्तेर्घटिका द्विनिघ्नाः कालाख्यहोरापतयः शराप्ताः । दिनाधिपाद्या रविशुक्रसौम्यशशांकसौरेज्यकुजाः क्रमेण ॥” अथ ग्रंथकृदुक्ता वासना—सार्धघटिद्वयेनैकहोरा द्विगुणिताः सार्धद्विघट्यः पंच भवन्ति । अत एवोक्तं—“वारादेर्घटिका द्विघ्ना” इति । एकयोगे षट् जाता । एवं रविवारे क्रमेण गणनया द्वितीया शुक्रस्य कालहोरा प्रवृत्ता । अत उक्तं ‘सैका’ इति । भवन्मतेऽपि सूर्याष्टः शुक्रस्तस्यैव होरा । इयं च शुक्रहोरा पञ्चघटीपर्यन्तम् । स्वमते इष्टघटिका ४ द्विगुणाः ८ । अत्र पञ्चभ्य आधिक्यमनुचितमिति द्वितीयस्थाने स्थापयित्वा पञ्चभक्तावशिष्टत्रयेणोनाः पञ्च जाताः । अत उक्तं—“स्वान्हच्छेषवर्जिता” इति । एकयोगे षट् । एवं सति पुनः सैव होरा । एव-

$$\text{स्वरूपेणा-} \frac{२५४-२०}{५} \text{नेनोत्थापनाज्जातम्} \frac{५(२५४-२०)}{५} = २५४-२० ।$$

( हरगुणकयोस्तुल्ययोर्नाशात् ) फलमिदं वारेशकालहोरे शयोरन्तरं रूपयुक्तञ्चेत् क्रियते तदा वारेशादितः कालहोरे शावधिकायां तत्संख्या स्यादथ दिनानि सप्तैव तेन सप्ताधिकायां तत्संख्यायां नगदष्टीकरणं युक्तियुक्तमेव तद्गणप्रयोजनाभावादत उपपन्नं सर्वम् ।



मिष्टघटीभिः कालहोरानयनं सुगमम् । वाराणां सप्तसंख्यात्वात्तदाधिक्यमनुचितमिति—‘नगैस्तष्टा’ इत्युक्तम् । क्रमगणनायां त्वियं युक्तिः द्वयोर्होरास्वामिनोरन्तरं पञ्चकं सम्भवति । एकयोगस्तु वर्तमानकालहोराज्ञानार्थम् । अतः षष्टिक्रमगणनया भवद्विवक्षिता सैव होरा भवति ॥

अथ वारप्रवृत्तिरुदयात्तत्पूर्वं वेति ।

विवाहवृन्दावने तु उदयमारभ्योक्ताः कालहोराः । यथा—“तत्कालार्कन्यूनलगांशपिंडा भक्ताः पञ्चक्षोणिभिर्मुक्तहोराः । भास्वच्छुक्रबेन्दुसौरैज्यभौमाः संख्यायेरन्वारतस्ते तदीशाः ॥” इति । अनयोर्विषयविभागो वसिष्ठसंहितायां—“वारप्रवृत्तेर्भिज्ञानं क्षणवारार्थमेव हि । अखिलेष्वन्यकार्येषु दिनादिरुदयाद्भवेत् ॥” इति । क्षणवारः कालहोरारूपः । तदर्थं वारप्रवृत्तिः । अन्यकार्येषु दिक्छूलादिषु तिथिवारप्रयुक्तेषु नक्षत्रवारप्रयुक्तेषु चायोगेषु सुयोगेषु च सूर्योदयादेव वारा ग्राह्याः ॥५५॥

अथ कालहोराप्रयोजनमन्यच्च शालिन्याह—

वारे प्रोक्तं कालहोरासु तस्य

धिष्ण्ये प्रोक्तं स्वामितिथ्यंशकेऽस्य ।

कुर्यादिकछूलादिचिन्त्यं क्षणेषु

नैवोल्लङ्घ्यः पारिघश्चापि दण्डः ॥ ५६ ॥

वारे प्रोक्तमिति । यत्कर्म यस्मिन् वारे प्रोक्तं तद्दिनस्य सदोषत्वादत्याश्रयककृत्ये तस्य कालहोरायां कर्तव्यम् । यदाह नारदः—‘यस्य खेटस्य यत्कर्म वारे प्रोक्तं विधीयते । ग्रहस्य क्षणवारेपि तस्य तत्कर्म सवदा ॥’ इति ॥

होराफलानि—

अत्र केचित् । यस्य वारे यत्कर्म प्रोक्तं तस्य बलिनो नवांशे सूर्यश्चन्द्रो वा चेत्तिष्ठेत् तदा तत्कर्म कार्यमित्याहुः उक्तं च—“यस्य ग्रहदिने कर्म यत्किंचिदभिधीयते । तस्यांशे सस्थिते सूर्ये चन्द्रे वा तद्विधीयते ॥” इति । कैश्चित्प्रत्येकं होराफलान्युक्तानि—“भानुहोरा मूर्ति कुर्याच्चन्द्रहोरा स्थिरासनम् । काराबन्धं भौमहोरा बुधहोरा च पुत्रदा ॥

वस्त्रालङ्कारदा जीवहोरा शौक्री विवाहदा । जडत्वं शनिहोरायां सप्तहो-  
राफलं त्विदम् ॥ प्रश्नकाले तु या होरा तस्याः फलमवाप्नुयात् ॥” इति ।

उदयाद्वोरानयनप्रयोजनम्—

उदयादारभ्य होरानयनप्रयोजनं तु—“पादः स्ववर्षे च दलं स्वमासे  
दिने स्वकोये चरणोनूपम् । रूपं स्वहोरास्वितिकालवीर्यमुक्तं हि हो-  
रानिपुणैः पुराणैः ॥” इति । युक्तं चैतत् । वर्षेणादीनामुदयादितः प्र-  
वृत्तानां साहचर्याद्वारेणा अप्युदयादेव गणनीयाः । अथ प्रसङ्गाच्चक्षत्र-  
प्रयुक्तानां कर्मणामनुष्ठाने प्राप्तेऽपवादमाह—धिष्येय इति । यस्मिन् धिष्ये  
नक्षत्रे यत्कर्म वस्त्रपरिधानादिकमुक्तं तत्सत्यावश्यकत्वे अस्य धिष्येयस्य  
स्वामितिथ्यंशके स्वामिमुद्धर्ते कुर्यात् । उक्तं च नारदेन—“यस्मिन्नृक्षे तु  
यत्कर्म निखिलं कथितं च यत् । तदैवत्ये तन्मुद्धर्ते कार्यं यात्रादिकं  
तथा ॥” इति । मुद्धर्तस्वामिनो विवाहप्रकरणे वक्ष्यति । अत्रापि स्वा-  
मितिथ्यंशे इदमवश्यं चिन्त्यं विचारणीयम् । किम् ? दिक्शूलाद्यं वार-  
शूलं नक्षत्रशूलं च । आदिशब्देन लालाटिकयोगोपि । क्षणेषु मुद्धर्तेषु  
इदमवश्यं चिन्त्यं विचारणीयम् । एवं पारिघो दण्डः क्षणेषु नैवोल्ल-  
न्ध्यः । यदाह वसिष्ठः—“यत्कर्म कथितमृक्षे यस्मिस्तत्कर्म तत्क्षणे  
कार्यम् । दिक्शूलादिकमखिलं पारिघदण्डादिविज्ञेयम् ॥” इति । वि-  
ज्ञेयमवश्यं विचारणीयम् । दिक्शूलादिकं तु यात्राप्रकरणे वक्ष्यति ॥ ५६ ॥

अथ कार्यमात्रनिषिद्धान्मन्वादन्युगादींश्च शार्दूलविक्रीडितेनाह—

मन्वाद्यास्त्रितिथी मधौ तिथिरवी ऊर्जे शुचौ दिक्षिति  
ज्येष्ठेऽन्त्ये च तिथिस्त्विषे नव तपस्यरवाः सहस्ये शिवा ।  
भाद्रेऽग्निश्च सिते त्वमाष्ट नभसः कृष्णे युगाद्याः सिते  
गोग्नी बाहुलराधयोर्मदनदर्शौ भाद्रमाघासिते ॥ ५७ ॥

इति दैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामज्योतिर्विद्विरचिते

मुहूर्तचिन्तामणौ शुभाशुभप्रकरणं

प्रथमं समाप्तम् ॥ १ ॥





मन्वाद्या इति । एते चतुर्दश मन्वाद्या ज्ञेयाः । सिते इति वक्ष्यमाणं पदमनुकृष्य चैत्रादिमासेष्वपि सम्बध्यते । मघौ चैत्रमासे सिते शुक्लपक्षे त्रितिथी तृतीयापूर्णिमे । ऊर्जे कार्तिके शुक्लपक्षे तिथिरवी पूर्णिमाद्वादश्या । शुचावाषाढमासे शुक्लपक्षे दिक्त्रिथी दशमीपूर्णिमे । ज्येष्ठे अन्त्ये फाल्गुने च तिथिः पूर्णिमा । इषे आश्विने शुक्लपक्षे नव नवमी । तपसि मासे माघे मासि शुक्लपक्षे अश्वः सप्तमी । सहस्ये पौषे शुक्लपक्षे शिवा एकादशी । भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे ऽग्निस्तृतीया । नभसः श्रावणस्य कृष्णपक्षे अमा अमावास्या अष्ट अष्टमी । अत्राष्टमी जन्माष्टमी तदनन्तरभाविनी अमावास्या च गृह्यते । यदाह नारदः—“द्वादश्यूर्जे शुक्लपक्षे नवम्याश्वयुजे सिते । चैत्रे भाद्रपदे चैव तृतीयाशुक्लसंज्ञिता ॥ एकादशी सिता पौषे व्याषाढे दशमी सिता । माघे च सप्तमी शुक्ला नभस्येप्यसिताष्टमी ॥ श्रावणे मास्यमावास्या फाल्गुने मासि पूर्णिमा । आषाढे कार्तिके मासि चैत्रे ज्येष्ठस्य पूर्णिमा । मन्वादयः स्नादान् आद्धे भवानन्त्यपुरयदा ॥” इति । मत्स्यपुराणेपि—“आश्वयुक्शुक्लनवमी कार्तिके द्वादशी तथा । तृतीया चैत्रीमासस्य तथा भाद्रपदस्य च ॥ श्रावणस्य त्वमावास्या पौषस्यैकादशी तथा । आषाढस्यापि दशमीमाघमासस्य सप्तमी ॥ श्रावणस्याष्टमी कृष्णा आषाढस्यापि पूर्णिमा । कार्तिकी फाल्गुनी चैत्री ज्येष्ठी पञ्चदशी सिता ॥ मन्वन्तरादयश्चैतावत्तस्याऽक्षयकारिकाः ॥” इति । अत्र नारदवाक्ये ‘नभस्येप्यसिताष्टमी’ इति । तत् कृष्णादिमासाभिप्रायेण । मत्स्यपुराणवचनं तु ‘श्रावणस्याष्टमी कृष्णा’ इति । तच्छुक्लादिमासाभिप्रायेण ॥ एवं सति जन्माष्टमी सिद्धा उभयमते । अमावास्या शुक्लादिमासाभिप्रायेण जन्माष्टम्यनन्तरभाविनी गृह्यते ॥

### युगादयः—

अथ युगाद्याः युगादयश्चत्वार उच्यन्ते । बाहुलः कार्तिकः, राधो वैशाखः गोप्त्री नवमीतृतीये यथासंख्यं ज्ञेये । सिते शुक्लपक्षे कार्तिके शुक्लपक्षे नवमी । वैशाखे शुक्लपक्षे तृतीया । भाद्रमाघासिते यथासंख्यं मदनेकादशी भाद्रपदकृष्णपक्षत्रयोदशी माघकृष्णाऽमावास्या । एते युगादयश्चत्वारः । यदाह नारदः—“कार्तिके शुक्लनवमी चादिः कृतयुगस्य सा । श्रेतादिर्माधवे शुक्ला तृतीया पुरयसंमिता ॥ कृष्णा पञ्चदशी माघे द्वा

परादिरुदीरिता । कल्पादिः स्यात्कृष्णपक्षे नभस्ये च त्रयोदशी ॥” शु-  
क्लादिमासाभिप्रायेण श्राद्धपक्षत्रयोदशौ प्रसिद्धश्चिराज्यनन्तराभाविन्य-  
मावास्या च गृह्यते ॥

अनध्यायास्तु—

उशनाः—“अयने विषुवे चैव शयने बोधने हरेः । अनध्यायं, प्रकु-  
र्वीत मन्वादिषु युगादिषु ॥” इति । याज्ञवल्क्यस्त्वष्ट्रिंशत्तात्कालिका-  
ननध्यायानाह—

“सन्ध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने ।  
समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीत्य च ॥  
पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके ।  
ऋतुसन्धिषु मुक्त्वा च श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥  
पशुमण्डूकनकुलश्वाहिमार्जारमूषकैः ।  
कृतेन्तरे त्वहोरात्रं शुक्रपाते तथोच्छ्रये ॥  
खरोष्ट्रगर्दभोलूकसामवाणार्तनिःस्वने ।  
अमेध्यशवशूद्रान्त्यश्मशानपतितान्तके ॥  
देशेऽशुचावात्मनि च विद्युत्स्तनितसम्प्लवे ।  
भुक्त्वार्द्रपाणिरम्भोभिरर्द्धरात्रेतिमारुते ॥  
पांसुवर्षे दिशां दाहे सन्ध्यानीहारभीतिषु ।  
धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥  
खरोष्ट्रयानहस्यश्वनौवृक्षेरिणिरोगणे ।  
अष्टत्रिंशदनध्यायानेतास्तात्कालिकाञ्जगुः ॥” इति ।

अन्यच्च—“अहन्येते ह्यनध्यायाः शिष्यर्त्विगुरुबन्धुषु । उपाकर्म-  
णि चोत्सर्गे स्वशास्त्रश्रोत्रिये मृते ॥” एवमादयो न्येयनध्याया धर्मशा-  
स्त्रोक्ता अनुसन्धेयाः । ते च व्रतबन्धे विद्यारंभे व्रतविसर्गादौ नित्या-  
ध्ययने च यथायोग्यं वर्जनीयाः । सोपपदादीननध्यायान् ग्रन्थकृत् व्र-  
तबन्धप्रकरणे वक्ष्यतीति शिवम् ॥ ५७ ॥

शुभाशुभप्रकरणोपसंहारः—

शुभाशुभप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—इति श्रीदैवज्ञेति । “इति हेतु-  
प्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु ” इत्यमरः । श्रीशब्दो वाक्यालङ्कारे । शुभं



सिद्धियोगादि । अशुभं सिंहस्थादिः । तयोः प्रकरणनिरूपणम् ।  
अन्यत्स्पष्टम् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा  
पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणेः ।  
गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे  
व्याख्याने हि शुभाशुभप्रकरणं पूर्णत्वमध्यागमत् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वद्वरदैवज्ञमुकुटालकारनीलकण्ठज्योतिर्वित्पुत्र-  
गोविन्दज्योतिर्विद्विरचितायां मुहूर्तचिन्तामणि-  
टीकायां पीयूषधाराभिधायां शुभाशुभ-  
प्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

—:०:—

अथ नक्षत्रप्रकरणं द्वितीयम् ।

—○:०:○—

शर्वाणीतनयमधाब्धिदावमीशं नत्वा श्रीगुरुपदभक्तिलब्धविद्यः ।  
गार्विदो विबुधवरप्रहर्षिणीं तां नक्षत्रप्रकरणटिप्पणीं तनोति ॥

अथ नक्षत्रप्रकरणं व्याख्यायते । तत्रादौ नक्षत्राणां प्रसिद्धत्वादे-  
षावक्तव्यतायां सिद्धायां तत्स्वामिनः शार्दूलविक्रीडितेनाह—

नांसत्यान्तकवहिन्धातृशशभृद्रुद्रादितीज्योरगा  
ऋक्षेशाः पितरो भगोर्यमरवित्वष्टाशुगा(१)श्च क्रमात् ।

(१) “समीरमारुतमरुजगत्प्राणसमीरणः.....गन्धवाहा-  
निलाशुगा ।” इत्यमरः । अत एव बहुषु पुस्तकेषु ‘त्वष्टा समीरः क्रमा-’  
देवमेव पाठो दृश्यते ।

शक्राग्नी खलु मित्रशक्रनिर्ऋतिक्षीराणि विश्वे विधि-  
गोविन्दो वसुतोयपाऽजचरणाऽहिर्बुध्न्यपूषाभिधाः ॥१॥

नासत्यांतकेति । एते क्रमाद्वेशा नक्षत्राधीशा ज्ञेयाः । यथा-  
अश्विन्या नासत्यावश्विनीकुमारौ । भरण्या अन्तको यमः ।  
कृत्तिकाया वह्निरग्निः । रोहिण्या धाता ब्रह्मा । मृगस्य शश-  
भृच्चन्द्रः । आर्द्राया रुद्रो महादेवः । पुनर्वसोरदितिदवमाता ।  
पुष्यस्येज्यो बृहस्पतिः । आश्लेषाया उरगः सर्पः । मघायाः पितरः ।  
पूर्वफल्गुन्या भगः सूर्यविशेषः । उत्तरफल्गुन्या अर्यमा सूर्यविशेषः ।  
हस्तस्य रविः सूर्यः । चित्रायास्त्वष्टा विश्वकर्मा । स्वात्या आशुगो  
वायुः । विशाखायाः शक्राग्नी इन्द्राग्नी । अत्र समुदितयोर्देवतात्वम् ।  
अनुराधाया मित्रः सूर्यविशेषः । ज्येष्ठायाः शक्र इन्द्रः । मूलस्य निर्ऋती  
राक्षसः । पूर्वाषाढायाः क्षीरमुदकम् । उत्तराषाढाया विश्वे विश्वेदेवाः ।  
अभिजितो विधिः । श्रवणस्य गाविन्दो विष्णुः । धनिष्ठाया वसवोष्टौ  
देवताविशेषाः । शततारकायास्तोयपो वरुणः । पूर्वाभाद्रपदाया अज  
चरणः सूर्यविशेषः । उत्तराभाद्रपदाया अहिर्बुध्न्यः सूर्यविशेषः ।  
रेवत्याः पूषा सूर्यविशेषः । यदाह नारदः—“नक्षत्रेशाः क्रमादस्त्रयम-  
वहिषितामहाः । चन्द्रेशादितिजीवाहिषितरो भगसंज्ञिताः ॥ अर्यमार्क-  
स्त्वष्टुमरुच्छक्राग्निमित्रवासवाः । निर्ऋत्युदकविश्वेजगोविन्दो वसवो-  
ऽम्बुपः ॥ ततोऽजपादहिर्बुध्न्यः पूषा चेति प्रकोर्तिताः ॥” इति । प्रयोजनं  
तु तिथिप्रकरणे प्रोक्तमस्माभिः ।

अथ तेषां व्यासज्यवृत्तित्वमित्यादयः—

अत्र वसव इति बहुवचनात्त्वाद्बहुनामेव व्यासज्यवृत्तिदेवतात्वं  
प्रतीयते । “ धनिष्ठानक्षत्र वसवो देवताः ” इति श्रुत्युक्तेश्च । एवं सति  
केचिद्दीपिकाकारादयो बहुत्वमविवक्षितमिति मत्वा वसुशब्दं च द्रव्य-  
वाचकं मत्वा स्य धनं द्रव्यमित्यादिशब्दं धनिष्ठानक्षत्रवाचकं मन्यन्ते-ते  
चिन्त्योक्तयो वेदितव्याः ॥

प्रत्येकनक्षत्रकृत्यानि—

अत्र प्रसङ्गात्प्रत्येकं नक्षत्रकृत्यानि ग्रन्थकृदनुक्तान्यप्युच्यन्ते । ता-  
न्याह नारदः—



- “वस्त्रोपनयनक्षौरसीमन्ताभरणक्रिया ।  
 १ स्थापनाश्वेभयानखीकृषिविद्यादयोऽश्विभे ॥ १ ॥  
 वापीकूपतडागादिविषशस्त्रोग्रदारुणाः ।  
 २ विलप्रवेशगणितनिःक्षेपा याम्यभे शुभाः ॥ २ ॥  
 अग्न्याधानास्त्रशस्त्रोग्रसंधिविग्रहदारुणाः ।  
 संग्रामौषधवादित्रक्रियाः शस्ताश्च वह्निभे ॥ ३ ॥  
 सीमन्तोन्नयनोद्वाहवस्त्रभूषास्थिरक्रियाः ।  
 हयहस्त्यभिषेकाश्च प्रतिष्ठा ब्रह्मभे शुभाः ॥ ४ ॥  
 प्रतिष्ठाभूषणोद्वाहसीमन्तोन्नयनक्रियाः ।  
 क्षौरवास्तुगजोष्माश्वयात्राः शस्ताश्च चन्द्रभे ॥ ५ ॥  
 ध्वजतोरणसंग्रामप्राकारास्त्रक्रियाः शुभाः ।  
 सन्धिविग्रहवैराणि रसाद्याः शर्बभे शुभाः ॥ ६ ॥  
 प्रतिष्ठायोनसीमन्तवस्त्रवास्तूपनायनम् ।  
 क्षौराश्वकर्मादितिभे विधेयं धान्यभूषणम् ॥ ७ ॥  
 यात्राप्रतिष्ठा सीमन्तव्रतबन्धप्रवेशनम् ।  
 करग्रहं विना सर्वं कर्णं देवेज्यभे शुभम् ॥ ८ ॥  
 अनृतं व्यसनं द्यूतं धातुवादौषधाहवम् ।  
 विवादरसवाणिज्यं कर्म कद्रूजभे शुभम् ॥ ९ ॥  
 कद्रूजः सर्पः ।  
 कृषिवाणिज्यगोधान्यरणोपकरणादिकम् ।  
 विवाहनृत्यगीताद्यं निखिलं कर्म पितृभे ॥ १० ॥  
 विवादविषशस्त्राग्निदारुणो ग्रहवादिकम् ।  
 पूर्वात्रयोऽखिलं कर्म कर्त्तव्यं मांसविक्रयः ॥ ११ ॥  
 प्रतिष्ठोद्वाहसीमन्ताभिषेकव्रतबन्धनम् ।  
 प्रवेशस्थापनाश्वेभवास्तुकर्मोत्तरात्रये ॥ १२ ॥  
 प्रतिष्ठोद्वाहसीमन्तयानवस्त्रोपनायनम् ।  
 क्षौरवास्त्वभिषेकाश्च भूषणं कर्म भानुभे ॥ १३ ॥  
 प्रवेशवस्त्रसीमन्तप्रतिष्ठाव्रतबन्धनम् ।  
 त्वाष्ट्रभे वास्तुविद्याश्च क्षौरभूषणकर्म यत् ॥ १४ ॥  
 प्रतिष्ठोपनयोद्वाहवस्त्रसीमन्तभूषणम् ।  
 विवादश्चेभकृष्यादिक्षौरकर्म समीरभे ॥ १५ ॥

वस्त्रभूषणवाणिज्यरसधान्यादिसंग्रहम् ।  
 इन्द्राग्निभे नृत्यगीतशिल्पलेखनकर्म यत् ॥ १६ ॥  
 प्रवेशस्थापनोद्वाहव्रतबन्धाष्टमङ्गलम् ।  
 वस्त्रभूषणवास्तुश्च मैत्रभे सन्धिविग्रहम् ॥ १७ ॥  
 क्रूरोग्रशस्त्रवाणिज्यगोमहिष्यम्बुकर्म च ।  
 इन्द्रभे नृत्यवादित्रशिल्पलोहाश्मलेखनम् ॥ १८ ॥  
 विवाहकृषिवाणिज्यदारुणाहवभेषजम् ।  
 निऋतिभे नृत्यशिल्पसन्धिविग्रहलेखनम् ॥ १९ ॥ इति ।  
 पूर्वाषाढोत्तराषाढयोः कृत्यमुक्तम् ।  
 “प्रतिष्ठाक्षौरसीमन्तयानोपनयनौषधम् ।  
 पुरग्रामगृहारम्भा विष्णुभे पट्टबन्धनम् ॥ २० ॥  
 वस्त्रोपनयनक्षौरप्रतिष्ठायानभूषणम् ।  
 वसुभे वास्तुसोमन्तप्रवेशास्त्रविभूषणम् ॥ २१ ॥  
 प्रवेशस्थापनक्षौरमौजीबन्धनभेषजम् ।  
 अश्वारोहणसीमन्त वास्तुकर्म जलेशभे ॥ २२ ॥” इति ।  
 पूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदयोः कृत्यमुक्तं पूर्वम् ।  
 विवाहव्रतबन्धाश्च प्रतिष्ठायानभूषणम् ।  
 प्रवेशवस्त्रसीमन्तक्षौरभेषजमन्त्यभे ॥ २३ ॥” इति ॥ १ ॥

अथ ध्रुवगणं तत्कृत्यं चानुष्ठुभाह—

उत्तरात्रयरोहिण्यो भास्करश्च ध्रुवं स्थिरम् ।

तत्र स्थिरं बीजगेहशान्त्यारामादि सिद्धये ॥ २ ॥

उत्तरात्रयेति । उत्तरात्रयम् उत्तरफलगुन्युत्तराषाढा उत्तराभाद्रपदास्ति च  
 उत्तराः रोहिणी च एतानि नक्षत्राणि ध्रुवसंज्ञकानि स्थिरसंज्ञानि चेति  
 संज्ञाद्वयम् । तत्र ध्रुवनक्षत्रेषु स्थिरं कर्म कार्यम् । तथा बीजं यवादि, गेहं  
 गृहं, शान्त्यादि विनायकशान्त्यादि, आरामो नगरोपकरणवर्तिवनम्—आ-  
 दिशब्दान्मृदुनक्षत्रोक्तमपि कर्म सिद्धये भवति । तदुक्तं वसिष्ठेन—“स्थिर  
 सञ्ज्ञं भवतुष्टयमंबुजजस्यर्क्षमुत्तरात्रितयम् । नरपति पत्तनसदनप्रवे-  
 शबीजादि सिद्ध्यते तत्र । मृदुवृन्दे कथितान्यपि स्थिरवृन्दे तानि कार्या-  
 नि ॥” इति । संज्ञाद्वये प्रमाणमुच्यते—“ध्रुवमचलं क्षिप्रं लघु चरं चलं



मैत्रमृदुसंज्ञे । साधारणमिधाख्यं क्रूरोग्रं तीक्ष्णदारुणं तुल्यम् ॥”  
इति वसिष्ठोक्तम् । एवं भास्करो रविरपि स्थिरः । यदाह वसिष्ठः—  
“सूर्यः स्थिरः शीतकरश्चरात्मा धराज उग्रः शशिजो विमिश्रः । देवेन्द्र-  
पूज्यो लघुरिन्द्रशत्रूपूज्यो मृदुस्तीक्ष्णतनुश्च सौरिः ॥” इति । अत्रापि  
सामान्यतः स्थिरकृत्यं कार्यं मूलश्लोकोक्तम् । अन्यदपि वारोक्तकर्म  
कार्यमभिधानात् । यदाह नारदः—“नृपाभिषेकमांगल्यसेवायानास्त्रकर्म  
यत् । औषधाहवधात्वादि विधेयं भानुवासरे ॥” इति ॥ २ ॥

अथ चरगणं तत्कृत्यं चानुष्टुभाह—

स्वात्यादित्ये श्रुतेस्त्रीणि चन्द्रश्चापि चरं चलम् ।

तस्मिन्गजादिकारोहो वाटिकागमनादिकम् ॥ ३ ॥

स्वात्यादित्य इति । स्वाती आदित्यं अदितिर्देवतास्य आदित्य-  
म् । “दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः” इति एयः । आदिशृद्धिः । “य-  
स्येति च” इतीकारलोपः । आदित्यं पुनर्वसुः । श्रुतेः श्रवणमारभ्य  
त्रीणि श्रवणधनिष्ठाशततारकाः सोमवारश्च चरसंज्ञाश्चलसंज्ञाश्चैते  
ज्ञेयाः । तस्मिन्श्चरनक्षत्रे गजो हस्ती तदादयोऽश्वादयस्तेषामारोहो वा-  
टिका आरामस्तत्र गमनं यात्रा आदिशब्दाल्लघुनक्षत्रोक्तमपि कर्म ।  
सिध्यतीतिशेषः । तदाह वसिष्ठः—“अदितिः श्रुतिभात्रितयं चरसंज्ञं प-  
ञ्चकं मरुद्गं च । वाहनकर्मविभूषणचरकार्योद्यानमन्त्रसिद्ध्यै तत् ॥ क-  
थितान्यपि लघुवृन्दे चरसंज्ञे तानि कार्याणि । मणिमुक्ता फलहेमस-  
द्रजतत्रपुसीसकर्माणि ॥” इति । नारदः—“शंखमुक्ताम्बुरजतवृक्षेक्ष्मी-  
विभूषणम् । पुष्पगोतक्रतुक्षीरकृषिकर्मैन्दुवासरे ॥” इति ॥ ३ ॥

अथोग्रगणमनुष्टुभाह—

पूर्वात्रयं याम्यमघे उग्रं क्रूरं कुजस्तथा ।

तस्मिन्घाताग्निशाठ्यानि विषशस्त्रादि सिध्यति ॥ ४ ॥

पूर्वात्रयमिति । पूर्वात्रयं पूर्वाफाल्गुनीपूर्वाषाढापूर्वाभाद्रपदारूपं नक्षत्र  
त्रयं याम्यं भरणी मघा च तथा कुजो भौमश्च उग्रसंज्ञः क्रूरसंज्ञश्च । तस्मि-  
न्नुग्रनक्षत्रे घातो हननमग्निरग्निदाहः, शाठ्यं खलत्वं, विषं विषभक्षणादि,

शङ्खं शङ्खमारणादि आदिशब्दादन्यदपि अरिष्टकृत्यं दारुणनक्षत्रोक्तं सि-  
ध्यति निष्पद्यते । उक्तं च वसिष्ठेन—“पूर्वात्रितयं पित्र्यभमुग्रसंज्ञं च पञ्चकं  
ग्राम्यम् । मारणभेदनबन्धनविपहननं पञ्चमे कार्यम् ॥ यद्दारुणभे चोक्तं  
तत्कर्म त्वथोग्रभे कार्यम् ॥” इति । नारदः—“विषाग्निबन्धनस्तेयसं-  
धिविग्रहमासनम् । धात्वाकरप्रवाललीकर्मभूमिजवासरे” ॥ ४ ॥

अथ मिश्रगणमनुष्टुभाह—

विशाखाग्नेयमे सौम्यो मिश्रं साधारणं स्मृतम् ।

तत्राग्निकार्यं मिश्रं च वृषोत्सर्गादि सिद्ध्ये ॥ ५ ॥

विशाखेति । विशाखा, आग्नेयं कृत्तिका, सौम्यो बुधश्च एतत्रयं मिश्र-  
संज्ञं साधारणसंज्ञं च । तत्र मिश्रसंज्ञेषु नक्षत्रेषु अग्निकार्यमग्निहोत्रं  
मिश्रं नक्षत्रांतराक्तं कर्म, वृषोत्सर्गः काम्यः । आदिशब्दादुग्रमपि कर्म सि-  
द्ध्ये भवति । तदाह वसिष्ठः—“भद्रितयं श्वसनसंज्ञं सौद्राग्निभक्तं हि  
मिश्रसंज्ञं स्यात् । निखिलानि च साधारणकार्याण्युग्राणि तत्र कार्या-  
णि” इति ॥ नारदः—“नृत्यशिल्पकलागोतलिपिभूरससंग्रहम् । वि-  
वाहधान्यसंग्राहकर्म सौम्यस्य वासरे” इति ॥ ५ ॥

अथ लघुगणमनुष्टुभाह—

हस्ताशिवपुष्याभिजितः क्षिप्रं लघु गुरुस्तथा ।

तस्मिन्पण्यरतिज्ञानं भूषाशिल्पकलादिकम् ॥ ६ ॥

हस्ताश्वीति । पूर्वाङ्गं स्पष्टम् । तस्मिन् लघुनक्षत्रे परमं विक्रेय-  
वस्तु, रतिः स्त्रीभोगः, ज्ञानं शास्त्रादेः, भूषा आभरणां, शिल्पं चित्रादि,  
कलाश्चतुषष्टिकला नृत्यादिकाः—आदिशब्दाच्चरनक्षत्रोक्तमपि कार्य-  
म् । तदाह वसिष्ठः—“सुरसचिवाश्विनिहस्तास्ताराः स्युः क्षिप्रसंज्ञ-  
कास्तासु । औषधपण्यविभूषणशिल्पकलाज्ञानकर्मसिद्धिः स्यात् ॥  
चरधिष्ये कथितान्यपि कार्याण्यखिलानि लघुगणे नूनम् ॥” इति ।  
नारदोऽपि—“क्षिप्रं सूर्याश्विपुष्यभम्” इत्याह । अत्राभिजिज्ञोक्तः ।  
दैवज्ञमतोहरे ‘अष्टिषेण’ इत्युक्त्वा पठितं “लघुक्षिप्रं करस्तिष्योभिः



जिह्वाञ्च बृहस्पतिः ” इति । अत एवोक्तं श्रोपतिना—“अश्विनी गुरु-  
भमर्कदैवतं साभिजिह्वधुचतुष्टयं स्मृतम्” इति । वसिष्ठादिभिस्तु  
प्रत्येकं नक्षत्रकृत्येषु अभिजितोऽनुक्तेरित्यत्राऽप्युक्तिः । वारकृत्ये ना-  
दः—“यज्ञपौष्टिकमांगल्यस्वर्णवस्त्रादिभूषणम् । वृक्षगुल्मलतायानकर्म  
देवेज्यवासरे ॥” इति ॥ ६ ॥

अथ मृदुगणमनुष्टुभाह—

मृगान्त्यचित्रामित्रर्क्षं मृदु मैत्रं भृगुस्तथा ।  
तत्र गीताम्बरक्रीडामित्रकार्यविभूषणम् ॥ ७ ॥

मृगान्त्येति । मृगः, अंत्यं रेवती, चित्रा मित्रर्क्षमनुराधा, भृगुः शुक्रः  
मृदुसंज्ञं मैत्रसंज्ञं च । तत्र गीतम्, अंबरं वस्त्रम्, क्रीडा स्त्रिया सह  
क्रीडा, मित्रस्येष्टस्य कार्यं विभूषणमलंकार एतत्सिध्यति । यदाह  
वसिष्ठः—“मृदुवृन्दं भचतुष्टयमन्त्यत्वाष्ट्राख्यसौम्यमित्रर्क्षम् । मंग-  
लवनिताभूषणमंदिरगीतानि सिध्यन्ति ” इति । तत्र नारदः—“नृत्य-  
वादित्रगीतादिस्वर्णस्त्रीरत्नभूषणम् । भूषणयोत्सवगोधान्यकर्म भार्गव-  
वासरे ॥” इति ॥ ७ ॥

अथ तीक्ष्णगणमनुष्टुभाह—

मूलेन्द्रार्द्राहिभं सौरिस्तीक्ष्णं दारुणसंज्ञकम् ।  
तत्राभिचारघातोग्रभेदाः पशुदमादिकम् ॥ ८ ॥

मूलेन्द्रेति । मूलम्, ऐंद्रं ज्येष्ठा, आर्द्रा, अहिभमाश्लेषा, सौरिः  
शनैश्चरः तीक्ष्णसंज्ञं दारुणसंज्ञं च । तत्र तीक्ष्णनक्षत्रे अभिचारकर्मा-  
णि उग्रं भयंकरकृत्यं मारणादि, भेदः अत्यंतमित्रयोः कलहोत्पादनादि,  
पशूनां हस्त्यादीनां दमः शिक्षा, आदिशब्दात् बंधनादीनि । यदाह  
वसिष्ठः—“दारुणभानि पुरन्दरकोणपशिवसर्पदैवानि । दारुणबंधन-  
दहनप्रहरणकर्माणि सिद्धिमायांति ॥” इति । नारदः—“त्रपुसीसाय-  
साश्मास्त्रविषपानासवानृतम् । स्थिरकर्माखिलं वास्तुसंग्रहं सौरिवास-  
रे ॥” इति ॥ ८ ॥

अथ ध्रुवादिसंज्ञाज्ञापकचक्रम्—

| संज्ञाः          | नक्षत्राणि                    | दिवसाः  |
|------------------|-------------------------------|---------|
| ध्रुवं, स्थिरं   | रो. उ. फा. उ. पा. उ. भा.      | रविः    |
| चरं, चलं         | स्वा. पुन. अ. ध. श.           | चन्द्रः |
| उग्रं, क्रूरं    | पू. फा. पू. पा. पू. भा. भ. म. | भौमः    |
| मिश्रं, साधारणं  | वि. कृ.                       | बुधः    |
| क्षिप्रं, लघु    | ह. अश्वि. पुष्य. अभि.         | गुरुः   |
| मृदु, मैत्रं     | मृ. रे. चित्रा. अनु.          | शुक्रः  |
| तीक्ष्णं, दारुणं | मू. ज्ये. आर्द्रा. आश्ले.     | शनिः    |

अथाधोमुखोर्ध्वतिर्यङ्मुखनक्षत्राणीद्रवशयाह—

मूलाहिमिश्रोग्रमधोमुखं भवे-

दूर्ध्वास्यमार्द्रेज्यहरित्रयं ध्रुवम् ।

तिर्यङ्मुखं मैत्रकरानिलादिति-

ज्येष्ठाश्विभानीदृशंकृत्यमेषु सत् ॥ ६ ॥

मूलेति । मूलम्, अहिराश्लेषा, मिश्रं कृत्तिकाविशाखे, उग्रं पूर्वा-  
त्रयमघाभरणयः एतानि नवनक्षत्राण्यधोमुखानि ज्ञेयानि । एषु ईदृशकृ-  
त्यमधोमुखकृत्यं वापिकूपादि तत्समीचीनमुक्तम् । तदुक्तं गरुडपुरा-  
णे—“भरणीकृत्तिकाश्लेषामघामूलविशाखिकाः । तिस्रः पूर्वास्तथा  
चैव अधोवक्त्राः प्रकीर्तिताः ॥” एषु ‘वापिकूपतडागादिखननं च  
तृणादिकम् । देवतागारखननं निधानखननं तथा ॥ गणितं ज्योतिषा-  
रम्भं खनीबिलप्रवेशनम् । कुर्यादधोगतान्येव कार्याणि वृषभध्वज ॥”  
इति । अथार्द्रा, इज्यः पुष्यः, हरित्रयं श्रवणधनिष्ठाशततारकाः, ध्रुवमु-  
त्तरात्रयरोहिण्यः एतन्नक्षत्रनवकमूर्ध्वास्यमूर्ध्वमुखं भवेत् । अत्राप्येता-



दशकृत्यं प्रासादादि सत्स्यात् । तदुक्तं गरुडपुराणे—‘रोहिण्याद्रां तथा पुष्यो धनिष्ठा चोत्तरात्रयम् । वारुणं अत्रणं चैत्र नवचोर्ध्वमुखाः स्मृताः । एषु राज्याभिषेकं च पट्टबन्धं च कारयेत् ॥’ इति । ऊर्ध्वमुखानि उच्छिन्नानि सर्वाणि एषु च कारयेत् । अथमैत्रं मृदुनक्षत्रं मृगरेवतीचित्रानुराधाः, करो हस्तः, अनिलः स्वाती, अदितिः पुनर्वसुः, ज्येष्ठा, आश्विनम् आश्विनी एतन्नक्षत्रनवकं तिर्यङ्मुखं पार्श्वमुखं भवेत् । अत्रापि तादृशमेव कृत्यं चक्ररथहलादिकं भवेत् । तदुक्तं गरुडपुराणे—

“रेवतो चाश्विनी चित्रा स्वातो हस्तः पुनर्वसुः ।  
अनुराधा मृगो ज्येष्ठा एताः पार्श्वमुखाः स्मृताः ॥  
गजोष्ठाश्वग्रलीवर्द्धमनं महिषस्य च ।  
बीजानां वपनं कुर्याद्रमनागमनादिकम् ॥  
चक्रयन्त्ररथादीनां नावादीनां प्रवाहणम् ।  
पार्श्वेषु यानि कर्माणि कुर्यादेतेषु तानि च ॥” इति

ननु सर्वेषामेव कर्मणां पार्थक्येन नक्षत्राभिधानादिदं पुनरुक्तं किमर्थमुक्तमिति चेन्न । विशेषनक्षत्रविहितानां कर्मणामवश्यकर्तव्यत्वे सति कतिपयदिनमध्यमुहूर्तालब्धौ सत्यां कर्मण आकारमधोमुखादिकं विदित्वा तत्तन्नक्षत्रेषु तानि तानि कर्माणि कार्याणि । यानि सर्वथा विशेषतोऽनुक्तान्येव विलप्रवेशनिधिखननचक्रयन्त्रहलपरिखाद्यूतक्रीडामेषगर्दभगर्त्तादीनि तेषामेष्वेव नक्षत्रेषु कृतिरुचिता । एवमन्येषामप्यप्रसिद्धानां कर्मणां तिषङ्मुखाम्बाकारज्ञाने सत्येषु नक्षत्रेषु कर्तव्यतौचित्यात् । सामान्येन विशेषभावेन च सुदिनलब्धिः ‘द्विवर्द्धं सुबद्धं भवति’ इति न्यायादत्युत्तमैव । सद्यःकालपक्षे तु—‘धिःप्राये प्रोक्तं स्वाभितिः प्रशकस्य’ इति । वचनान्मुहूर्तं कार्यमित्यलमियता ॥ ६ ॥

अथ प्रबालदन्तशंखसुवर्णवस्त्रपरिधानमुहूर्तं वसन्ततिलकेनाह—

पौष्णध्रुवांशिवकरपञ्चकवासवेज्या-

दित्ये प्रबालरदशङ्खसुवर्णवस्त्रम् ।

धायं विरिक्तशनिचन्द्रकुजेहि न रक्तं

मौमे ध्रुवादितियुगे सुभगा न दध्यात् ॥ १० ॥

पौष्णेति । पौष्णं रेवती, ध्रुवाणि रोहिण्युत्तरास्तिस्रः, अश्विनी, करपञ्चकं हस्तचित्रास्वातोविशाखानुराधाः, वासवं धनिष्ठा, ईज्यः पुष्यः, आदित्यः पुनर्वसुः, अयं समाहारद्वन्द्वः—तत्र प्रवालं विद्रुमम् । पवलेति महाराष्ट्रभाषाज्ञाः । 'मूँगा' इति कान्यकुब्जाः(१) । रदा हस्तिदन्ता अर्थाद्वलयादि, शंखः शंखवलयं, सुवर्णं वस्त्रं श्वेतम् । एतानि चास्तूनि धार्याणि । तानि रिक्तातिथिशनिचन्द्रभौमरहितेहि दिने धार्याणि । यदाह श्रीपतिः—“रोहिणीषु करपञ्चकेश्विभे ज्युत्तरेपि च पुनर्वसुद्वये । रेवतीषु वसुदैवते शुभे नव्यवस्त्रपरिधानमिष्यते ॥” इति । प्रवालादोनां तु विशेषस्तेनैवोक्तः—“करादिपञ्चकेऽश्विभे सपौष्णवासरे स्मृता । धृतिश्च शंखकांचनप्रवालरक्तवाससाम् ॥” इति ।

तत्र दिनानि—

वारानप्याह—“जीर्णं रवौ सततमम्बुभिरार्द्रमिंदौ भौमे शुचे बुधदिने च भवेद्धनाय । ज्ञानाय मन्त्रिणि भृगौ प्रियसंगमाय मन्दे मलाय च नवाम्बरधारणं स्यात् ॥” इति । अतः परिशेषात्सूर्यभौमशनयो निषिद्धाः ।

वर्णभेदेन वस्त्रधारणम्—

रक्तं कौसुम्भादिरङ्गेण रक्तं वस्त्रं भौमे धार्यम् । “मांजिष्ठकौसुमकरागयोश्च महोसुतः कांचनभूषणेषु” इति तेनैवोक्तत्वात् । “नासत्यपौष्णवसुभैः करपञ्चकेन मार्तण्डभौमगुरुदानवमन्त्रिवारैः । मुक्तासुवर्णमणिविद्रुमशंखदन्तरक्ताम्बराणि विधृतानि भवन्ति सिद्धौ ॥” इति दैवज्ञवल्लभांकेश्च ।

तत्र स्त्रीणां विशेषः—

अथ स्त्रीणां विशेषः । ध्रुवादितियुगे उत्तरात्रयरोहिणीपुनर्वसुपुष्येषु सुभगा समर्तृका स्त्री प्रवालादिकं न दध्यात् । उक्तं च दीपिकायां—“पुष्टौ दौ समये शुभे ध्रुवसुराचार्यादितीर्थेऽगना नो रत्नं विभृयात्प्रवालकमणिं शंखेभदन्तौ तथा ॥” इति ।

स्नानादौ च स्त्रीणां निषेधादिः—

कचित्तु शततारानक्षत्रे स्त्रीणां स्नानमपि निषिद्धम् । उक्तं च—

( १ ) मैथिला अपि ।



“रोहिणीगुरुपुनर्वसूत्तरे या विभर्ति नववस्त्रभूषणम् । सा न योषिद्व-  
लम्बते पतिं स्नानमोचरति वारुणेपि या ॥” इति । चण्डेश्वरोपि—  
“स्नानं कुर्वति या नार्यश्चन्द्रे शतभिषान्विते । सप्तजन्मभवेद्वन्ध्या वि-  
धवा दुर्भगा भृशम् ॥ प्रमादाच्छ्रुतमे स्नानं नारीणां यदि जायते ।  
पूजयेत्स्वामिनं तत्र ह्यात्मना च धनेन च ॥” इति । विशेषो राजमार्त-  
ण्डे—“अस्तंगते भृगुसुते शयने च विष्णोर्जन्माद्यचापभूषणे दिनपे न  
दध्यात् । रक्तेन्दुभानुदिवसेशकवर्जिते च शंखं च रक्तपटकं युवतिः  
कथंचित् ॥” दिनपः सूर्यः । रक्तः भौम इत्याहुः ॥ १० ॥

अथ वस्त्रस्य नवधाविभक्तस्य दग्धादिदोषे शुभाशुभफलं शार्दूल-  
विक्रीडितेनाह—

(१) वस्त्राणां नवभागकेषु च चतुष्कोणेऽमरा राक्षसा  
मध्यत्र्यंशगता नरास्तु सदशे पाशे च मध्यांशयोः ।  
दग्धे वास्फुटितेम्बरे नवतरे पङ्कादिलिप्ते न स-  
द्रक्षोऽंशे नृसुरांशयोः शुभमसत्सर्वांशके प्रान्ततः ॥ ११ ॥

वस्त्राणामिति । वस्त्राणां नवभागाः कार्याः । कोणचतुष्टये अमरा  
देवाः स्थाप्याः । राक्षसा मध्यभूतांशत्रयगता ज्ञेयाः । नराः सदशे दशा  
सहिते पाशे च पुनर्मध्ययोरंशयोः स्थाप्याः । एतदुपलक्षणं—शयना-  
सनपादुकास्वप्ययं विचारः । तत्र चेद्रक्षोऽंशे नवतरे अतिनूतने  
अंबरे वस्त्रे दैवाद्दग्धे स्फुटिते प्राणघात्वादिभिर्निहते पङ्केन  
कर्दमेन आदिशब्दाद्गोमयादिभिर्लिप्ते उपहते सति तद्वस्त्रं न सत्  
शुभफलजनकं न भवति किन्तु मरणं विदधातीत्यर्थः । अथ नृसुरां-

(१) अत्र बालावबोधार्थं नवधाविभक्तवस्त्रे नरादीनां निवेशः—

|         |         |         |
|---------|---------|---------|
| देवता   | नरः     | देवता   |
| राक्षसः | राक्षसः | राक्षसः |
| देवता   | नरः     | देवता   |

शयोरेवं वस्त्रस्य दाहादिके सति शुभं कल्याणं स्यात् । मनुष्यांशे पुत्रप्राप्तिरित्यर्थः । सर्वांशके राक्षसमनुष्यदेवांशेषु प्रांततः प्रांतभागेऽनिष्टमशुभफलजनकम् ॥

शय्यादावप्येवमेव—

एतत्फलं शय्यासनपादुकास्वपि ध्येयम् । तदुक्तं श्रीपतिना—

“ कर्दमकज्जलगोमयलिप्ते वाससि दग्धवति स्फुटिते वा ।  
चित्यमिदं नवधाभिहितेस्मिन्निष्टमनिष्टफलं च सुधीभिः ॥  
निवसन्त्यमरा हि वस्त्रकोरो मनुजाः पाशदशांतमध्ययोश्च ।  
अपरेपि च रत्नसां त्रयोशाः शयने चासनपादुकासु चैवम् ॥  
भोगप्राप्तिर्देवतांशे नरांशे पुत्राप्तिः स्याद्राक्षसांशे च मृत्युः ।  
प्रांते सर्वांशेष्वनिष्टं फलं स्यात्प्लुष्टे वस्त्रे नूतने साध्वसाधु ॥”

तत्र शुभाशुभांशभागे विश्लेषोऽपि—

अथ राक्षसांशे छत्रध्वजादिसदृशी छेदाकृतिः शुभफलेति विशेषो ध्येयः । देवांशेपि काकोलूकसदृशी छेदाकृतिः शुभफलदेत्यपि विशेषो ज्ञेयः । तदुक्तं तेनैव—“छत्रध्वजस्वस्तिकवर्द्धमानश्रीवत्सकुम्भांबुजतोरणांनाम् । छेदाकृतिर्नैर्ऋतभागगापि पुंसां विधत्ते न चिरेण लक्ष्मी ॥ कंकप्लवोलूककपोतकाकक्रव्यादगोमायुखरोष्पूसर्पाः । शुष्कदुमप्रोतसमान शस्ता च्छेदाकृतिर्देवतभागगापि ॥” इति । अत एव कश्यपः—

“नवांशुकं समं कृत्वा चितयेच्च शुभाशुभम् ।

वसन्ति देवताः कोरो चांत्यमध्यद्वये नराः ॥

मध्यांशत्रितये दैत्याश्चैवं शय्यासनादिषु ।

अर्थप्राप्तिर्देवतांशे पुत्रवृद्धिर्नरांशके ॥

हानिः पीडा पिशाचांशे सर्वप्रांतेष्वशोभनम् ।

शंखचक्रांबुजच्छत्रध्वजतोरणसन्निभाः ॥

श्रीवत्ससर्वतोभद्रनद्यावर्त्तगृहोपमाः ।

वर्द्धमानः स्वस्तिकेन मृगकूर्मभूषाकृतिः ॥

छेदाकृतिर्दैत्यभागेऽप्यायुरर्थप्रदा नृणाम् ।

खरोष्त्रोलूककाकाहिजंबुकश्ववृकोपमाः ॥

त्रिकोणसूर्याकृतयो देवभागेऽप्यशोभनाः ।

निर्दिष्टं वसनं दद्याद्भिजेभ्यः स्वर्गासंयुतम् ॥

आशिषो वाचनं कृत्वा त्वन्यद्वस्त्रं च धारयेत् ॥” इति ॥ ११ ॥



अथ कचिदुष्टदिनेपि वस्त्रपरिधानमनुष्ठुमाह—

विप्राज्ञया तथोद्वाहे राज्ञा प्रीत्यार्पितं च यत् ।

निन्द्येऽपि धिष्ण्ये वारादौ वस्त्रं धार्यं जगुर्बुधाः ॥१२॥

विप्रेति । धिष्ण्ये नक्षत्रे वारादौ वारतिथियोगादौ व्यतीपात-  
भद्रादौ दुष्टयोगैर्निन्द्येपि दुष्टेऽपि यद्वस्त्रं ब्राह्मणानुज्ञया तथोद्वाहे राज्ञा  
सन्तोषेणार्पितं दत्तं तद् वस्त्रं धार्यमिति बुधा जगुः । उक्तं च रत्न-  
मालायां—“ विप्रादेशात्तथोद्वाहे । क्षमापालेन समर्पितम् । निन्द्येपि  
धिष्ण्ये वारादौ वस्त्रं धार्यं जगुर्बुधाः ॥ काश्यपेनापि—“प्रीत्या क्षमा-  
पालदत्तं यद्विप्रादेशात्करग्रहे । निन्द्येपि धिष्ण्ये वारादौ धारयेच्च  
नवांबरम् ॥” इति । इदं चोपलक्षणं—तुल्यन्यायत्वाद्वाज्ञा तथा  
ब्राह्मणादिभिस्तथा विवाहादिशुभकृत्ये हस्त्यश्वद्रव्यादिकं तद्भद्रादि-  
दुष्टदिनेपि ग्राह्यमित्यन्ये ॥ १२ ॥

अथ लतापादपारोपणराजदर्शनमद्यगोक्रयविक्रयमुहूर्तान् शार्दूल-  
विक्रीडितेनाह—

राधामूलमृदुध्रुवर्क्षवरुणक्षिप्रैर्लतापादपा-

रोपोऽथो नृपदर्शनं ध्रुवमृदुक्षिप्रश्रवोवासवैः ।

तीक्ष्णोग्राम्बुपभेषु मद्यमुदितं क्षिप्रांत्यवहीन्द्रभा-

दित्येन्द्राम्बुपवासवेषु हि गवां शस्तः क्रयो विक्रयः ॥१३॥

राधामूलेति । राधा विशाखा, मूलं, मृदु चित्रानुराधामृगश्वेत्यः  
ध्रुवर्क्षं रोहिणी उत्तरास्तिस्त्रः, वरुणः शततारका, क्षिप्रम् अश्विनीपुष्या-  
भिजितः । अत्राभिजित उत्तराषाढायामंतर्भावात् पृथगुक्तिर्न भवतीति  
ज्ञेयम् । कुतः । अश्विनीपुष्यहस्तानां लाघवात् मृदुत्वेनाभिधानादभि-  
जिदुक्तिरप्यर्थाक्षिप्ता । एवं चतुर्दश भानि । एतैर्नक्षत्रैर्लतानां पादपानां  
वृक्षाणां च रोपो वापनं कार्यम् । उक्तं च वराहेण—“ ध्रुवमृदुमूलवि-  
शाखागुरुभं श्रवणं तथाश्विनं हस्तम् । शस्तानि दिव्यदृग्भिः पादपसं-  
रोपणो भानि ॥” इति । यत्तु वसिष्ठवचनं—“द्विदैववारीशशशांकमूल-  
ध्रुवेषु तिष्यार्कभपौष्णभेषु । वनौषधीगुल्मलतादिकानामारोपणं तूत्त

ममत्र शस्तम् ॥ ” इति । तत्पादपुष्पतिरिक्तवनाद्यारोपणविषयम् । यतः पादपारोपणे चतुर्दशनक्षत्राणि तद्व्यतिरिक्तलताद्यारोपणे एकादश भानि उक्तानि । ननु “सावित्रतिष्याश्विनवारुणानि मूलं विशाखा च मृदुध्रुवाणि । लतौषधीपादपरोपणेषु शुभानि भानि प्रतिपादितानि ॥” इति श्रीपतिवचनं कथं संगच्छेत ? उच्यते । वराहपद्यस्थपादपग्रहणं लतादीनामुपलक्षणमिति मत्वा तदुक्तिः । अनेनैवाशयेन ग्रंथकृदुक्तिरपि ॥

राजदर्शनमुद्धर्तः—

अथ राजदर्शनमुद्धर्तः—तत्र ध्रुवमृदुक्षिप्रश्रवोवासवैः उत्तरात्रयो-  
हिणीचित्रानुराधामृगरेवत्यश्विनीपुष्यहस्तश्रवणधनिष्ठाभिज्योदशनक्ष-  
त्रैर्नृपदर्शनं राजदर्शनं कुर्यात् । उक्तं च रत्नमालायां—सौम्याश्वि-  
पुष्यश्रवणश्रिष्ठाहस्तध्रुवत्वाष्ट्रभूषभानि । मैत्रेययुक्तानि नरेश्वराणां  
विलोकने भानि शुभप्रदानि ॥” इति ।

मद्यारम्भमुद्धर्तः—

अथ मद्यारम्भमुद्धर्तः । तत्र तीक्ष्णोर्ग्राबुपमेषु मूलज्येष्ठाद्राश्लेषापूर्वा-  
त्रयमघाभरणीशततारकासु मद्यं मद्यप्रारंभ उदितः । तदाह श्रीपतिः—  
“रौद्रे पित्र्ये वारुणे पौरुषूते याम्ये सार्वे नैऋते चैत्र धिष्ये । पूर्वार्ज्येषु  
त्रिष्वपि श्रेष्ठ उक्तो मद्यारम्भः कालविद्भिः पुराणैः ॥ ” इति ॥

गवां क्रयविक्रयमुद्धर्तः—

अथ गोक्रयविक्रयमुद्धर्तः । तत्र क्षिप्रान्त्यवह्नीन्द्रमदित्येन्द्राम्बु-  
पवासत्रेषु अश्विनीपुष्यहस्तरेवतीविशाखापुनर्वसुज्येष्ठाशततारकाधनि-  
ष्ठासु गवां क्रयो मूल्येन परस्माद्ग्रहणं विक्रयो मूल्यग्रहणपूर्वकं  
दानं सः शस्तः । उक्तं च रत्नमालायाम्—“शाक्रवासवकरेषु  
विशाखापुष्यवारुणपुनर्वसुभेषु । अश्विपूषभयुतेषु विधेयां विक्रयः  
क्रयविधिः सुरभीणाम् ॥” इति । एतानि नवभानि । भीमपराक्रमेण  
तु पञ्चदशभान्यभिहितानि—“हस्तेनुराधात्रितये सपौष्णे मृगे च  
पूर्वाश्विविशाखभेषु । पुष्ये धनिष्ठाद्वितयेदितीशे गवां क्रयं विक्रय-  
मामनन्ति ॥” इति । अत्र श्रीपतिवाक्याद्यान्यधिकानि नक्षत्राणि—  
तान्यात्ययिकविषयाणि ॥ १३ ॥



अथ पशूनां रक्षामुहूर्तं स्थितिनिवेशयानमुहूर्तं चेन्द्रवंशेनाह—

लग्ने शुभे चाष्टमशुद्धिसंयुते

रक्षा पशूनां निजयोनिभे चरे ।

रिक्ताष्टमीदर्शकुजश्रवोध्रुव-

त्वाष्ट्रेषु यानं स्थितिवेशनं न सत् ॥ १४ ॥

लग्ने इति । शुभे शुभस्वामिके लग्नेष्टमशुद्धिसंयुते शुभपापाक्रान्ताष्टमभावरहिते सति स्त्रीययोनिनक्षत्रे पशूनां रक्षा शस्ता । यदाह श्रीपतिः—“शुभग्रहोदये शुद्धे नैधने स्वर्क्षयोनिषु । रक्षाविधिक्रिया शस्ता पशूनां मुनिभिः स्मृता ॥” इति । स्त्रीययोनिनक्षत्राणि विवाहप्रकरणे—‘अश्विन्यंबुपयोर्हयः’ इत्यादिना वक्ष्यति । चरे चरनक्षत्रेष्वपि रक्षा पशूनां विधेया । “तीक्ष्णे पशूनां दमनं चरे स्यात्पशुपोषणम्” इति भीमपराक्रमोक्तेः । रिक्ताश्रतुर्थीनवमीचतुर्दश्यः, अष्टमी, दशोऽमावास्या, कुजो मङ्गलः, श्रवणः, ध्रुवाणि उत्तरात्रयरोहिण्यः, त्वाष्ट्रं चित्रा । एषु भेषु पशूनां यानं गृहाद्बहिर्निस्सारणं स्थितिर्गोष्ठादौ वेशनं प्रवेशनं च न सत् सत्फलजनकं न भवतीत्यर्थः । उक्तं वसिष्ठेन—“त्वाष्ट्रध्रुवश्रीपतिभेषु रिक्ता दर्शाष्टमी भौमदिने पशूनाम् । यात्रा प्रवेशं न कदाचिदेव कुर्याच्च तेषामभिवृद्धिकांक्षी ॥” इति । चशब्दात्स्थितिमपि न कुर्यात् । व्यवहारतत्त्वेतु वाराधिक्यमुक्तम् “स्वयोनिधिष्ये विकुजे पशूनां कर्माथ कुर्याद्बुधेन्दुमन्दे । यानं प्रवेशं च तिथावशैवं चित्रोत्तरावैष्णवमान्यभेषु ॥” अशैवे चतुर्दशीरहिते । उपलक्षणत्वादमावास्यादिरहिते । व्यवहारोच्चये—“पूर्वात्रये धनिष्ठैर्द्रपौष्णे सौम्यविशाखयोः । आश्लेषायामथाश्विन्यां यात्रासिद्धिश्चतुष्पदाम् ॥” इति ॥ १४ ॥

अथौषधसूच्योर्मुहूर्तं मन्दाक्रान्ताच्छन्दसाह—

भैषज्यं सल्लघुमृदुचरे मूलभे द्वयङ्गलग्ने

शुक्रेन्द्रिज्ये विदि च दिवसे चापि तेषां रवेश्च ।

शुद्धे रिःफद्युनमृतिगृहे सत्तिथौ नो जनेर्भे

सूचीकर्माप्यदिति वसुभे तत्तमैत्राशिवधिष्ये ॥ १५ ॥

भैषज्यमिति । लघुमृदुचरे अश्विनीपुष्यहस्तचित्रामृगानुराधारेव-  
तीश्रवणघनि । शततारकास्वातीपुनर्वसुभेषु मूले च भैषज्यम् औषधं  
प्रारब्धं भक्षितं वा सत् शुभफलदं भवतीत्यर्थः । तथा चाह श्रीपतिः—  
“पौष्णद्वये चादितिभद्वये च हस्तत्रये च श्रवणत्रये च । मैत्रे च मूले  
च मृगे च शस्तं भैषज्यकर्मप्रवदन्ति संतः ॥” इति । वसिष्ठोपि—“ह-  
स्तत्रये पुष्यपुनर्वसौ च विष्णुत्रये चाश्विनिपौष्णभेषु । मित्रेन्दुमूलेषु  
च सूर्यवारे भैषज्यमुक्तं शुभवासरेपि ॥” इति । ब्रह्मलक्ष्मणे द्विस्वभा-  
वराशिषु मिथुनकन्याधनुर्मीनेषु सत्सु शुक्रैद्विज्ये विदि च शुक्रचन्द्रबृह-  
स्पतिबुधेषु द्विस्वभावलग्नस्थेषु सत्सु च पुनस्तेषां शुक्रैद्विज्यबुधानां  
रवेश्च दिवसे वारे सत्तिथौ रिक्तामारहिते दिने भैषज्यं सत् । उक्तं च  
दीपिकायां—“ब्रह्मोदये गुरुबुधेन्दुसितेषु तेषां वारे रवेश्च सुविधौ  
सुतिथौ सुयोगे ॥” इति । रिःफद्यनमृतिगृहे लग्नाद्द्वादशसप्तमाष्टमगृ-  
हेषु शुद्धेषु शुभपापरहितेषु सत्सु भैषज्यं सत् । तत्र वर्षफलप्रश्नादिना  
सत्यायुर्दाययोगे औषधसेवनं हितमित्ययं विशेषो ध्येयः । तदुक्तं श्री-  
पतिना “द्यूनशत्रुनिधनव्ययशुद्धौ सद्ग्रहेषु नितरां बलवत्सु । आयुषश्च  
हितकारिणि योगे कीर्तिता नियतमौषधसेवा ॥” इति । कश्यपोपि—  
“षट्सप्ताष्टान्त्यशुद्धौ च बलिनः शुभखेचराः । आयुर्दायकरे योगे कर्त्त-  
व्या ह्यौषधक्रिया ॥” इति । जनेर्भे जन्मनक्षत्रे नो भैषज्यं सत् । तदुक्तं  
दीपिकायां—“जन्मनक्षत्रगश्चन्द्रः प्रशस्तः सर्वकर्मसु । क्षौरभेषजवादा-  
ध्वकर्त्तनेषु च वर्जयेत्” इति ॥

सूचीकर्ममुद्धृतः—

सूचीकर्ममुद्धृतः । अदितिबुभुक्षुभत्वाष्टमित्राश्विधिष्ये पुनर्वसु-  
धनिष्ठाचित्रानुराधाश्विनीषु सूचीकर्म सूच्याः सम्बन्धि घटनसी-  
धनादि सकलं कर्म अपिशब्दात्कवचनमपि कुर्यात् । उक्तं च व्यवहारो-  
च्ये—“अदितिर्वासवं त्वाष्ट्रमैत्रमैदववाजिनः । सूचीकर्मतनुत्राणमे-  
भिर्भृद्दौः प्रशस्यते ॥” इति । तनुत्राणं कवचम् ॥ १५ ॥

अथ क्रयविक्रयनक्षत्रेषु परस्परनिषेधं वदन् क्रयविक्रयनक्षत्राण्य-  
नुष्टुभाह—

क्रयर्क्षे विक्रयो नेष्टो विक्रयर्क्षे क्रयोऽपि न ।

पौष्णाम्बुपाश्विनीवातश्रवश्चित्राः क्रये शुभाः ॥ १६ ॥



क्रयर्त्नं इति । वक्ष्याणक्रयनक्षत्रे विक्रयो न कार्यः । तथा विक्रयर्त्नं क्रयोपि न कार्यः । नन्विदमयुक्तं विक्रयो नाम मूल्यं गृहीत्वा वस्तुदानम् । क्रयो नाम मूल्यं दत्त्वा वस्तुग्रहणम् । यदा येन क्रयः कर्तव्यः तदान्येन विक्रयोऽपि कर्तव्यः । तत्र क्रयविक्रयनक्षत्राणां महाभेदादुभयविधमुहूर्तानुपपत्तिः । उच्यते—विक्रेत्रा यदा मुहूर्तो विक्रयार्थं गृह्यते तदा क्रयिणोऽनुष्ठां लब्ध्वा यावदिष्टं वस्तु स्वगृहात्पृथक् क्रियते तत्कर्म विक्रयशब्दवाच्यम् । यदा तु क्रयिणा क्रयमुहूर्तः प्राप्यते तदा विक्रेत्रे मूल्यं द्रव्यं दत्त्वा पृथक् कृतं विक्रीतं वस्तु गृह्यते तत्कर्म क्रयशब्दवाच्यमिति मत्वात्र समाधिः । अथवा क्रयविक्रेत्रोरन्यतरस्य क्रयिणः कदाचिन्मुहूर्तासम्भवे ज्ञेयः । अनावश्यकत्वात् । आवश्यकत्वे तु मुहूर्तगवेषणायां कालविलम्बनिष्पत्तावन्येन तृतीयमुहूर्तविचारमनङ्गीकृत्य समवस्तुप्राप्त्या वस्तुग्रहणसिद्धिसम्भवात् तदा केतुरेव मुहूर्तविचारः । एवं च केतुरप्यवश्यविक्रेतव्यस्य वस्तुनो यदा ग्रहीता सम्भवेत्तदैव मुहूर्तमनालोच्य वस्तुदानमावश्यकम् । मुहूर्तविचारतः कालविलम्बे तावद्द्रव्यानुपपत्तेः । तदा तु क्रयण एव मुहूर्तविचारः । नन्वेवमपि क्रयविक्रयनक्षत्राणां पार्थक्येनाभिधानात्तयोः परस्परगतनिषेधो न युज्यते । तथा राजदर्शनविहितनक्षत्रेभ्योन्यनक्षत्रेषु राजदर्शनं निषिद्धमित्यर्थाद्भ्रम्यते । ‘सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति’ इति न्यायात् । उच्यते क्रयनक्षत्रे क्रयः कार्य इत्युक्ते विक्रयस्य स्वतन्त्रकर्मत्वात्तत्र क्रयर्त्नं निषेधाभावः । एवं विक्रयर्त्नं चपि क्रयनिषेधाभावः । तत्र निषेधे सत्यन्यनक्षत्राणां मायमध्यमत्वावगतेः । कदाचित्क्रयनक्षत्राणां मध्यमत्वमङ्गीकृत्य विक्रयस्य विहितमुहूर्तानुपलब्धौ तत्र मुहूर्तो मध्यमोपि ग्राह्यः । तदर्थमपि वाचनिकस्तन्निषेधः । अतः क्रयविक्रयनक्षत्रेभ्यो भिन्ननक्षत्रेषु क्रयविक्रयौ मध्यमावित्यनुमिमीमः । निषेधस्य वाचनिकत्वमुक्तं दीपिकायां—“यमादिशक्रादिहुताशपूर्वा नेष्टाः क्रये विक्रयणेऽतिशस्ताः । पौष्णाश्विचित्राश्विनिविष्णुवाताः शस्ताः क्रये विक्रयणे निषिद्धाः ॥” इति ।

अथ क्रयमुहूर्तः—

अथ क्रयमुहूर्त उच्यते । तत्र पौष्णं रेवती, अंबुपः, शकतारका । अश्विनी, वातः स्वाती, श्रवः श्रवणः, चित्रा ॥ एतानि भानि क्रये शुभानि विक्रयणे निषिद्धानि च । सम्मतिरत्रोक्तैव ॥ १६ ॥

अथ विक्रयविषयोर्मुहूर्तौ शार्दूलविक्रीडितेनाह—

पूर्वाद्रीशकृशानुसार्पयमभे केन्द्रत्रिकोणे शुभैः  
षट्त्रयायेष्वशुभैर्विना घटतनुं सन्विक्रयः सत्तिथौ ।  
रिक्ता भौमघटान्विना च विपणिमैत्रध्रुवक्षिप्रभै-  
र्लग्ने चन्द्रसिते व्ययाष्टरहितैः पापैः शुभैर्द्वयायखे ॥१७॥

पूर्वेति । पूर्वास्तिस्रः । द्रीशं विशाखा, कृशानुः कृत्तिका, सार्पमा-  
श्लेषा, यमभं भरणी । समाहारद्वन्द्वः । एषु नक्षत्रेषु विक्रयः सन् शुभो  
ज्ञेयः । क्रयो निषिद्धश्च । उक्तैवात्रापि सम्मतिः । अथ केन्द्रे प्रथमचतुर्थ-  
सप्तमदशमस्थानेषु त्रिकोणे च शुभैः शुभग्रहस्थितैः षट्त्रयायेषु षष्ठतृती-  
यैकादशस्थानेषु स्थितैः अशुभैः पापग्रहैः करणै (कृत्वा) घटतनुं कुंभलग्नं  
विहाय त्यक्त्वा सत्तिथौ शुभतिथौ विक्रयः सन् ज्ञेयः । तदुक्तं श्रीपतिना-  
“दशमैकादशे लग्ने वित्तकेंद्रत्रिकोणगैः । शुभं पुण्यस्य कर्मोक्तं वर्ज-  
यित्वा घटोदयम् ॥” इति । केंद्रसंज्ञा बृहज्जातके—“कंटककेंद्रचतुष्ट-  
यसंज्ञाः सप्तमलग्नचतुर्थखमानाम् ॥” इति ।

विपणिमुहूर्तः—

अथ विपणिः—रिक्ताश्चतुर्थीनवमीचतुर्दश्यः, भौमो मंगलवारः, घटः  
कुंभलग्नम्, एतान्विना वर्जयित्वेत्यर्थः । अन्येषु तिथिवारलग्नेषु विपणिः  
हृद्वे स्थित्वा क्रयविक्रयाख्यं कर्म तच्छुभम् । तथा मित्रध्रुवक्षिप्रमैत्रि-  
त्रानुराधामृगरेवतीरोहिण्युत्तरात्रयाश्विनीपुष्यहस्तैर्विपणिः । लग्ने चन्द्र-  
सिते मूर्तौ चन्द्रे शुके च सतीत्यर्थः । व्ययाष्टरहितैः पापैः क्रूरग्रहैर्द्वयायखे  
द्वितीयैकादशदशमे शुभैः शुभग्रहैः । उक्तं च रत्नमालायां—“कुंभराशि-  
मपहाय साधुषु द्रव्यकर्मभवमूर्तिवर्तिषु । अव्ययेष्वशुभदायिषूद्गमे भा-  
गवे विपणिरिन्दुसंयुते ॥” इति ॥ १७ ॥

अथाश्वहस्तिमुहूर्तानिन्द्रवज्रयाह—

क्षिप्रान्त्यवस्विन्दुमरुज्जलेशा-  
दित्येष्वरिक्तारदिने प्रशस्तम् ।  
स्याद्वाजिकृत्यं त्वथ हस्तिकार्यं  
कुर्यान्मृदुक्षिप्रचरेषु विद्वान् ॥ १८ ॥



क्षिप्रांत्येति । क्षिप्रमश्विनीपुष्यहस्ताः, अंत्यं रेवती, वसुधनिष्ठा, इंदुर्मृगः । मरुत्स्वाती । जलेशः शततारका । आदित्यं पुनर्वसुः । एषु भेषु वाजिकृत्यमश्वसंबन्धि क्रयविक्रयादिकृत्यं कार्यम् । तदुक्तं रत्नमालायां—“पुष्यश्रविष्ठाश्विनिसौम्यभेषु पौष्णानिलादित्यकराव्ययेषु । सवासवर्देषु बुधैः स्मृतानि सर्वाणि कार्याणि तुरंगमाणाम्” इति ॥

अत्राश्वचक्रं दैवज्ञमनोहरे—

“अश्वाकारं खिलेच्चक्रं साभिजिज्ञानि विन्यसेत् ।  
स्कंधे च सूर्यभात्पंच पृष्ठे च दश भानि च ॥  
पुच्छे द्वे स्थापयेत्प्राज्ञश्चतुः पादे चतुष्टयम् ।  
उदरे विन्यसेत्पंच मुखे द्वे तुरगस्य च ॥  
अर्थलाभो मुखे सम्यग्वाजी नश्यति चोदरे ।  
चरणस्थे रणे भंगः पुच्छे पत्नी विनश्यति ॥  
अर्थसिद्धिर्भवेत्पृष्ठे स्कंधे लक्ष्मीपतिर्भवेत् ॥” इति ।

इदमश्वारोहणे विचार्य न ग्रहणो । तथारिक्तारदिने रिक्ताश्चतुर्थीनवमीचतुर्दश्यः, आरो भौमः । “आरो वक्रः क्रूरदृक् चावनेयः” इति वराहोक्तेश्च । रिक्ताभौमान् वर्जयित्वान्यदिने वाजिकृत्यं प्रशस्तम् । अत्र सामान्य एव निषेध उपनिबद्धो न विशेषतः ॥ अथेति । अथ विद्वान् ज्ञाता । मृदूनि चित्रानुराधामृगरेवत्यः, क्षिप्राणि अश्विनोपुष्यहस्ताः, चराणि श्रवणधनिष्ठाशततारकापुनर्वसुस्वात्यः । एषु द्वादशनक्षत्रेषु हस्तिकार्यं कुर्यात् । तदाह वसिष्ठः—“हस्तत्रये सौम्यहरित्रये च पौष्णद्वये पुष्यपुनर्वसौ च । मैत्रेपि सर्वाण्यपि कुंजराणां कर्माणि शस्तान्यखिलानि यानि ॥” इति ।

हस्तिष्वंकुशार्पणमुहूर्तः—

अथ हस्तिष्वंकुशार्पणमुहूर्तो व्यवहारोच्यते—“शुभतारे शुभ लग्ने शुभांशे शोभने तियौ । अंकुशः करिणां योज्याः शनिलग्नौ शनेर्दिने” इति ॥

अश्वगजाद्यारोहणमुहूर्तः—

अथाश्वगजाद्यारोहणमुहूर्तोपि तत्रैव “पौष्णाश्विनीवरुणमारुतशीतरश्मिचित्रादितिश्रवणपाणिसुरेज्यवितैः । वारेषु जीवशशिसूर्यसितेन्दु-

जानामारोहणं गजतुरंगरथेषु शस्तम् ॥” इति । पाणिर्हस्तः, विरं धनिष्ठा ॥ १८ ॥

अथ भूषाघटनादिमुहूर्तं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

स्याद्भूषाघटनं त्रिपुष्करचरक्षिप्रध्रुवे रत्नयुक्  
तत्तीक्ष्णोग्रविहीनभे रविकुजे मेषालिसिंहे तनौ ।  
तन्मुक्तासहितं चरध्रुवमृदुक्षिप्रे शुभे सत्तनौ  
तीक्ष्णोग्राशिवमृगे द्विदैवहने शस्त्रं शुभं घटितम् ॥ १९ ॥

स्याद्भूषेति । त्रिपुष्करलक्षणं—‘मंद्रातिथी रविज-’ इत्योदिना व-  
क्ष्यति एवं विधे त्रिपुष्करदिवसे चरक्षिप्रध्रुवे श्रवणधनिष्ठाशततार-  
कापुनर्वसुस्वातीपुष्याश्विनीहस्तरोहिण्युत्तरात्रितयेषु मेषु भूषाघटनम्  
आभरणघटनं शुभं स्यात् । यदाह वसिष्ठः—“क्षिप्रचलाचलऋते रि-  
क्तामावर्जितेषु दिवसेषु । निखिलेषु वासरेष्वपि त्रिपुष्करे भूषणं  
कार्यम् ॥” इति ।

रत्नयुतभूषाघटनम्—

अथ तद्भूषाघटनं रत्नयुतं माणिक्यहीरकादिरत्नयुतं चेच्चिकीर्षितं  
तदा तीक्ष्णोग्रविहीनभे मूलज्येष्ठाद्राश्लेषापूर्वात्रयभरणीमघास्त्यक्त्वान्ये-  
ष्वष्टादशनक्षत्रेषु कार्यम् । तथा रविभौमवारे कार्यम् । तथा मेषालिसिंहे  
मेषवृश्चिकसिंहलग्ने कार्यम् । तदुक्तं वसिष्ठेन—“स्थिरसाधारणचरमे  
लघुमैत्रेयवर्ककुजवारे । तेषामेव विलग्ने माणिक्यमयं विभूषणं कार्य-  
म् ॥” इति । माणिक्यग्रहणमुपलक्षणं रत्नादेः ।

मुक्तासहितभूषाघटनम्—

चरध्रुवमृदुक्षिप्रसंज्ञेषु नक्षत्रेषु तद्भूषणघटनं मुक्तासहितं शुभं  
भवति । मुक्ताफलग्रहणं रजतादेरुपलक्षणम् । अत्र चन्द्रशुक्रयोर्वारे  
कर्कवृषतुलालग्न्येषु कार्यमित्यपि विशेषो ध्येयः । तदुक्तं वसिष्ठेन—  
“क्षिप्रमृदुध्रुवचरमे शशिसितयोर्वासरेषु तल्लग्न्ये । मुक्ताफलरजतमयं  
भूषणमखिलं सवज्रकं कार्यम् ॥” इति ।

धारणमेषामेषु मुहूर्तेष्विति कस्यचिन्मतम्—

केचिदिदं निष्पन्नमेवाभरणमस्मिन्नेव मुहूर्ते धार्यमित्याहुः । अथ



तीक्ष्णानि चत्वारि भानि, उग्राणि पञ्च भानि, अश्विनी, मृगः, द्विदैव' विशाखा, दहनः कृत्तिका एषु नक्षत्रेषु घटितं शस्त्रं शुभं स्यात् । 'घट्ट चलने' संयोगान्तश्चुरादिर्धातुस्ततः स्वार्थण्यन्तान्निष्ठाक्तः । "आर्द्ध-धातुकस्येड्वलादेः" इतोऽ । "निष्ठायां सेटि" इति णिलोपः । उक्तं च ज्योतिःसागरे—"कृत्तिकासु विशाखासु भौमार्कशनिवासरे । तद्दिने घटितं शस्त्रं नृपाणां जयदायकम् ॥" इति । दीपिकायां—"मूलेन्दु-पूर्वात्रयाम्यपि त्र्यशक्राश्विसर्पानलशूलिनश्च । खड्गादिसाधारणकर्म कुर्यात्तिथौ विलग्ने च शुभे शुभाहे ॥" इति । साधारणं घट्टनोज्ज्वलीकरणादिकम् ।

रौप्यसुवर्णादिभाजने भोजनमुहूर्तः—

अथ सुवर्णरूप्यादिभाजने भोजनमुहूर्तोऽपि प्रसङ्गादुच्यते । तत्र व-सिष्ठः—"लघुमैत्रध्रुवमृदुभे सितेन्दुबुधजीववारेषु । हेमरजतादिभाजने भोजनमारोग्यममृतयोगेषु ॥" इति । आरोग्यं नीरोगत्वं भोजनकर्तुः स्यादित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ मुद्रापातनवस्त्रक्षालनमुहूर्तं स्रग्धराछन्दसाह—

मुद्राणां पातनं सद्भ्रुवमृदुचरभक्षिप्रभैर्वीन्दुसौरै  
घस्त्रे पूर्णजयाख्ये न च गुरुभृगुजास्ते विलग्ने शुभैः स्यात् ।  
वस्त्राणां क्षालनं सद्भ्रुसुहयदिनकृत्पञ्चकादित्यपुष्ये  
नो रिक्तापर्वषष्ठीपितृदिनरविजज्ञेषु कार्यं कदापि ॥ २० ॥

मुद्राणामिति । ध्रुवमृदुक्षिप्रसंज्ञकैर्नक्षत्रैः राजमुद्राङ्कितसुवर्णरूप्या-दिनिष्पादनं मुद्रापातनमित्युच्यते । 'टंकसाल' इति यवनभाषयाहुः । तत् सत् शुभमित्यर्थः । तथा वीन्दुसौरै सोमशनिरहिते दिवसे तथा पूर्णजया-ख्ये पञ्चमीदशमीपूर्णिमातृतीयाष्टमीत्रयोदश्यः, एतत्संज्ञके घस्त्रे दिवसे एतत्संज्ञितासु तिथिषु शुभम् । तथा गुरुशुक्रास्तयोर्मुद्रापातनं न कार्यम् । तत्र विलग्ने शुभैः लग्ने शुभग्रहैः सद्भिरित्यर्थः । उक्तं च सारसमुच्चये—"मृ-दुध्रुवक्षिप्रचरेषु भेषु योगे प्रशस्ते शनिचन्द्रवर्ज्ये । वारे तिथौ पूर्णजया-ख्ययोश्च मुद्राप्रतिष्ठा शुभदा नाराणाम् ॥ गुर्वस्ते वा सितास्ते वा मुद्राया घट्टनं क्वचित् । क्रूरग्रहर्क्षांशलग्ने न काय भूतिमिच्छता ॥" इति । अथ वस्तु-

धनिष्ठा, हयोऽश्विनी, दिनकृत्यश्चकानि हस्तचित्रास्वातीविशाखानुरा-  
धाः, आदित्यं पुनर्वसुः, पुष्यः एषु नक्षत्रेषु वस्त्राणां क्षालनं स्वतः शक्तौ  
स्वयं क्षालनं कार्यम् । नोचेद्रजकाय धावनार्थं देयमित्यर्थः । रिक्तेति ।  
रिक्ताः प्रसिद्धाः । पर्वाणि प्राक् मयोक्तानि । षष्ठी, पितृदिनममावास्या,  
रविजज्ञेषु शनैश्चरबुधदिवसेषु कदापि वस्त्रधावनं नो कार्यम् । उक्तं  
च गणेशदेवज्ञैः—“पौष्णादित्यादिपञ्चाश्विबसुषु च भवेद्वाससां क्षाल-  
नाद्यं हित्वा षष्ठीं च पर्वाञ्जसुतशनिदिनं श्राद्धघस्त्रं शुभं स्यात् ॥”  
इति । अदितिः पुनर्वसुः । आदिरादित्यः । कचिद्भौमशनिवारो संक्रा-  
न्त्यादिकं निन्द्यम् । यदाह चण्डेश्वरः—“शनौ भूमिसुते श्राद्धे षष्ठ्यमा-  
वास्ययोस्तथा । वस्त्रक्षालनजो दोषो दहत्यासत्तमं कुलम् । संक्रात्यां प-  
ञ्चदश्यां च द्वादश्यां च रवेर्दिने । वस्त्रं निष्पीडयेन्नैव क्षारेणापि न  
योजयेत् ॥” इति ॥ २० ॥

अथ खड्गादिधारणं शय्याद्युपभोगं च स्रग्धरयाह—

सन्धार्याः कुन्तवर्मेष्वसनशरकृपाणासिपुत्रयो विरिक्ते  
शुक्रेज्यार्केहि मैत्रध्रुवलघुसहितादित्यशाक्रद्विदैवे ।  
स्युर्लग्ने हि स्थिराख्ये शशिनि च शुभदृष्टे शुभैः केन्द्रगैः स्या-  
द्भोगः शय्यासनादेर्ध्रुवमृदुलघुहर्यन्तकादित्य इष्टः ॥ २१ ॥

सन्धार्या इति । विरिक्ते रिक्तावर्जिते शुक्रबृहस्पतिरविवारे तथा  
मैत्रध्रुवलघुसंज्ञभसहिते पुनर्वसुज्येष्ठाविशाखानक्षत्रेषु कुन्तादयो धार्याः  
स्युः । कुन्तः । “प्रासस्तु कुन्तः” इत्यमरः । वर्म कवचम्, इषवो बाणा  
अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽनेनेतीष्वसनं धनुः, शरो बाण, कृपाणः खड्गः । असिपुत्री  
क्षुरिका । सन्नाहोपीति केचित् । तथा स्थिराख्ये वृषसिंहवृश्चिककुंभानाम-  
न्यतमे राशौ लग्ने स्थिते सति शशिनि च समीचीनस्थानस्थिते शुभदृष्टे  
शुभग्रहदृष्टे शुभग्रहैः केन्द्रगैः सद्भिः कुन्तादयो धार्याः स्युः । तदुक्तं व्यव-  
हारोच्चये—“पुष्येचादितिचित्रपद्मतनये शक्रोत्तरारेवती वाजीहस्तविशाख-  
मित्रसहिते भानौ गुरौ भार्गवे । कुंभे कीटगृहे वृषे मृगपतौ चन्द्रे शुभैर्वी-  
क्षिते सन्नाहः शरखड्गकुन्तक्षुरिका धार्या नृपाणां हिताः ॥” इति ॥

खट्वापादुकाद्युपभोगमुद्धर्ताः—

अथ ध्रुवमृदुलघुनक्षत्रेषु । हरौ श्रवणो, अंतकं भरणी, आदित्ये



पुनर्वसावेषु शय्यायसनादेः—शय्या खट्वादिरूपा । आसनमौर्णापीठ-  
मृगतृगादि । आदिशब्दात्पादुकाः । एषामुपभोग इष्टो हितः । उक्तं च  
दीपिकायां—“मैत्रेदुपुष्ययमभादितिवाजिचित्रहस्तोत्तरात्रयहरीज्यवि-  
धातृभानि । एतेष्वतीव शयनासनपादुकानां संभोगकार्यमुदितं मुनि-  
भिः शुभाहे ॥” इति । शुभाहे शुभग्रहवारे ॥ २१ ॥

अंधाक्षकादिनक्षत्राणि शार्दूलविक्रीडितेनाह—

अन्धाक्षं वसुपुष्यधातृजलभद्रीशार्यमान्त्याभिधं  
मन्दाक्षं रविविश्वमैत्रजलपाश्लेषाश्विचान्द्रं भवेत् ।  
मध्याक्षं शिवपित्रजैकचरणत्वाष्ट्रैन्द्रविध्यन्तकं  
स्वक्षं स्वात्यदितिश्रवोदहनभाहिर्बुध्न्यरक्षोभगम् ॥ २२ ॥

अंधाक्षमिति । अंधाक्षमिति जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । एवं मन्दा-  
क्षमित्यादावपि ।

तेष्वन्धनक्षत्राणि—

वसुर्धनिष्ठा, पुष्यः, धाता रोहिणी, जलभं पूर्वाषाढा, द्रीशं  
विशाखा, अर्यमा उत्तरा फल्गुनी, अंत्यं रेवती एतान्यन्धनक्षत्राणि ।

मन्दाक्षनक्षत्राणि—

रविर्हस्तः, विश्वे उत्तराषाढा, मैत्रमनुराधा, जलपं शततारका,  
आश्लेषा, अश्विनी, चान्द्रं मृगः, एतानि मन्दाक्षनक्षत्राणि ।

मध्याक्षनक्षत्राणि—

शिव आर्द्रा, पितरो मघा, अजैकचरणः पूर्वाभाद्रपदा, त्वाष्ट्रं  
चित्रा, ऐंद्रं ज्येष्ठा, विधिरभिजित्, अंतकं भरणी, एतानि मध्याक्षन-  
क्षत्राणि ।

सुलोचननक्षत्राणि—

स्वाती, अदितिः पुनर्वसुः, श्रवः श्रवणां, दहनभं कृत्तिका,  
अहिर्बुध्न्यमुत्तराभाद्रपदा, रक्षो मूलम्, भगं पूर्वाफल्गुनी सुलोच-  
ननक्षत्राणि । यदाह वसिष्ठः—“अंधकमथ मन्दाक्षं मध्यमसंज्ञं सुलोचनं  
पश्चात् । पर्यायेण च गणयेच्चतुर्विधं ब्रह्मधिष्ण्यातः ॥” इति । धिष्ण्या-  
शब्दः स्त्रीलिंगे आर्षः । ब्रह्मधिष्ण्या रोहिणी ततश्चतुर्द्धा पुनः पुनः

उक्तान्येव नक्षत्राणि भवन्ति । ननु लाघवार्थं ग्रंथकृत् प्रवृत्तो ऽतो वसिष्ठ-  
वचनत्रयपद्ये नैव तदर्थसिद्धेः प्रत्येकं नक्षत्रगणनारूपं गौरवं व्यर्थं  
कृतमिति चेन्न । जद्यपि तत्र शब्दलाघवमस्ति तथापि पुनःपुनर्गणन-  
या प्रमादादन्यथापि गणनया मंदाक्षान्नक्षत्राणां विपर्याससिद्धौ गौर-  
वमर्थतोऽस्त्येव । प्रस्तुते पद्येऽपि शब्दबाहुल्यम् । तथाप्यर्थस्य निःसं-  
देहोपनिबन्धादतोव लाघवमस्तीत्यस्मिन्पाठे महागुणः ॥ २२ ॥

अथांधादिनक्षत्राणां फलान्यनुष्टुप्छन्दसाह—

विनष्टार्थस्य लाभोऽन्धे शीघ्रं मन्दे प्रयत्नतः ।

स्याद्दूरे श्रवणं मध्ये श्रुत्यासी न सुलोचने ॥ २३ ॥

विनष्टार्थस्येति । अंधनक्षत्रेषु विनष्टस्यापहतस्यार्थस्य शीघ्रं  
लाभः प्रातिभञ्जति । मंदाक्षनक्षत्रेषु विनष्टार्थस्य प्रयत्नतो लाभो भवति ।  
मध्ये मध्याक्षनक्षत्रेषु विनष्टार्थस्य दूरे स्वनगरादतोव दूरे भूभागे श्रवणं  
त्वदीयं द्रव्यममुकेन हृतममुकस्मिन् स्थले तिष्ठति इति लोकश्रुतिर्भ-  
वति लब्धिस्तु नास्त्येव । सुलोचननक्षत्रेषु श्रुत्यासी न श्रवणमपि न  
लब्धिरपि नेत्यर्थः । उक्तं च रत्नमालायां—“लाभोऽन्धके निकट एव  
हृतस्य चौरैर्द्रव्यस्य लब्धिरिह केकरभे प्रयत्नात् । दूरश्रुतिश्चिपिटभेषु  
कथंचिदेव न प्राप्तिरुत्तमविलोचनभे कदाचित् ॥ ” इति । केकरभे  
मंदाक्षनक्षत्रे । चिपिटभे मध्यनक्षत्रे ॥ २३ ॥

अथ धनप्रयोगे निषिद्धनक्षत्राण्यनुष्टुभाह—

तीक्ष्णमिश्रध्रुवोग्रैर्यद्द्रव्यं दत्तं निवेशितम् ।

प्रयुक्तं च विनष्टं च विष्ट्यां पाते न चाप्यते ॥ २४ ॥

तीक्ष्णोति । तीक्ष्णमिश्रध्रुवोग्रसंज्ञकैर्नक्षत्रैर्यद्द्रव्यं सुवर्णादि दत्तं  
कालान्तरं विनैव दत्तं नतु स्वसत्तापरित्यागेन दत्तमित्युच्यते । निवेशि-  
तं स्वेष्टसमोपे प्रत्ययार्थं स्थापितं प्रयुक्तं कालान्तरे रीतिपुरःसरोत्तम-  
णार्धमर्णव्यवहारेण कस्मैचिद्दत्तं विनष्टं चौरादिना हृतं स्वयमेव वा  
कचिर्युक्तं तद्द्रव्यं निश्चयेन कदाचिदपि नाप्यते तथा विष्ट्यां भद्रायां  
पाते व्यतीपाते महापाते वा हृतं द्रव्यं न प्राप्यते । चकाराद्ग्रहणेपि  
न देयमिति व्याख्येयम् । वसिष्ठवाक्यस्वारस्यात् । उक्तं च वसिष्ठेन—



“ध्रुवोऽग्रसाधारणदारुणार्त्तं निक्षिप्तमर्थं त्वथवा प्रनष्टम् । चौरैर्हृतं दत्तमुपप्लवे वा विष्ट्या च पाते नच लभ्यते तत्” इति । उपप्लवे ग्रहणे । यत्तु केचिद्व्याकुर्वन्ते । निश्चयेन चौरहृतस्य द्रव्यस्य प्राप्त्यस्य । यत्तु केचिद्व्याकुर्वन्ते । निश्चयेन चौरहृतस्य द्रव्यस्य प्राप्त्यस्य । प्राप्तिविचारौघकादिनक्षत्रैरेव वा । ‘लाभौघके निकट एव हृतस्य चौरैः’ इत्युक्तवात् । चौरानिर्णये त्वनेनैव विचार इति । तच्चिन्त्यम् । वसिष्ठवाक्येपि चौरैर्हृतमिति साक्षाच्चौरपदोपादानाद्येन केनापि विचारः कर्तव्य इति युक्तमुत्पश्यामः । एवं चौरानिर्णयेपि स्वेच्छया विचारः तत्रोभयैक्ये प्राप्यप्राप्तिनिश्चय एव । उभयैक्याभावे तु प्रयत्नेनेति ॥ २४ ॥

अथ जलाशयखनननृत्यारम्भयोर्मुहूर्तं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

मित्रार्कध्रुववासवाम्बुपमघातोयान्त्यपुष्येन्दुभिः  
पापैर्हीनबलैस्तनौ सुरगुरौ ज्ञे वा भृगौ खे विधौ ।  
आप्ये सर्वजलाशयस्य खननं व्यम्भोमघैः सेन्द्रभै-  
स्तैर्नृत्यं हिवुके शुभैस्तनुगृहे ज्ञेऽब्जे ज्ञराशौ शुभम् ॥ २५ ॥

मित्रार्कंति । मित्रोनुराधा, अर्को हस्तः, ध्रुवं रोहिण्युत्तरात्रयम्, वासवं धनिष्ठा, अंबुपः शततारका, तोयं पूर्वाषाढा, अन्त्यं रेवती, पुष्यः, इन्दुर्मृगः, एतैर्नक्षत्रैस्त्रयोदशभिः सर्वेषां जलाशयानां वापीकूपतडागानाम्नां तोयाधाराणां खननं शुभमुक्तम् । उक्तं च व्यवहारतत्त्वे—“आप्याम्बुपान्त्यपितृमित्रवसूत्तरार्ककैर्द्विज्यभेषु खननं सलिलाश्रयाणाम् ॥” इति ।

जलाशयखनने लग्नविचारः—

जलाशयखनने लग्नविचारः । पापैः पापग्रहैर्बलरहितैः सद्भिः तनौ लग्ने सुरगुरौ बृहस्पतौ ज्ञे बुधे स्थिते सतीत्यर्थः । लग्नात्खे दशमस्थाने भृगौ, आप्ये जलचरराशौ विधौ सति जलाशयखननं हितम् । उक्तं च रत्नमालायाम्—“लग्ने जीवे ज्ञेऽथवा दुर्बलैश्च क्रूरैः शुक्रे चापि मेषूरणस्थे । आप्ये चन्द्रे सर्वतोयाश्रयाणामारम्भाः स्युः सिद्धये निर्विकल्पम् ॥” इति । कश्यपेनाप्युक्तम्—“गुरौ ज्ञे वा लग्नगते शुक्रे कर्मगते विधौ । आप्यमे जलकार्याणामारम्भः सिद्धिदः स्मृतः ॥” इति । दीपिकायां तु विशेषः—“पुष्ये मित्रकरोत्तरस्ववरुणब्रह्मांबुपित्र्येन्दुभिः शस्तेर्के शुभवारयोगतिथिषु क्रूरैर्षवीर्येषु च । पुष्टेदौ जलराशिगे दशमगे शुक्रे शुभां शोदये प्रारंभः सलिलाशयस्य शुभदो जीवेदुपुत्रोदये ॥” इति । स्वं ध-

निष्ठा । ग्रंथे तु वापीकूपतडागानामाकृतिभेदात्प्रत्येकं भिन्नानि नक्षत्रा-  
ण्युक्तानि । तत्र वापीखननमाह ऋक्षोच्चयः—“स्वात्यश्विपुष्यहस्तेषु सर्व-  
दा च पुनर्वसौ । रेवत्यां वारुणो चैव वापीकर्म प्रशस्यते ॥” इति ॥

कूपारम्भमुद्धृतः—

अथ कूपारम्भमाह श्रीपतिः—हस्तः पुष्यो वासवं वारुणं च मैत्रं  
पित्र्यं त्रीणि चैवोत्तराणि । प्राजापत्यं चापि नक्षत्रमाहुः कूपारम्भे श्रेष्ठ-  
माद्या मुनीन्द्राः ॥” इति ।

तडागारम्भमुद्धृतः—

तडागारम्भमाह वसिष्ठः—“मैत्रेदुपौष्णोत्तररोहिणीषु देवेज्यवारीश्व-  
रवारिभेषु । प्रारम्भणं सर्वजलाशयानां कार्यं सितेन्द्रशकवारलग्ने ॥”  
इति । अत्र वापीकूपनक्षत्राणां पार्थक्येनाभिधानात् तडागारम्भार्थमिदं  
वचनमवसीयते । बहुवचनमाश्रयाभिप्रायेण । सर्वशब्दोपादानं छंदः  
परिपूरणार्थम् । तत्र कूपतडागनक्षत्रेषु सदृशनक्षत्रत्यागावशीष्टानां  
मेलने त्रयोदश नक्षत्राणि भवन्ति । तत्र संक्षेप्तुकामेन व्यवहारतत्त्वकर्त्रा  
सर्वजलाशयानामारम्भे सामान्यतो जलाश्रयत्वसाधर्म्यादेतानि त्र-  
योदश भान्युक्तानि तान्येव च ग्रंथकर्त्रोक्तानि । तत्र वापीकूपतडागा-  
नां भेदो लोकप्रसिद्ध एव ।

जीर्णोद्धारकूपादौ मुद्धृतः—

यत्तु पुनर्वसिष्ठेनोक्तम्—“शशांकतोयांशकरार्यमित्रध्रुवांबुपित्र्ये  
वसुरेवतीषु । उद्यानवाप्यादितडागकूपकार्याणि सिध्यन्ति जलं ध्रुवं  
स्यात् ॥” इति तज्जीर्णोद्धारविषयम् । प्रागुक्तवाक्यं प्रारम्भणपदोपा-  
दानान्नूतनखननविषयमिति पुनरुक्तिपरिहारः ।

नृत्यारम्भमुद्धृतः—

अथ नृत्यारम्भः । तैः प्रागुक्तनक्षत्रैर्व्यंभोमघैः पूर्वाषाढामघारहितैः  
सैद्रभैर्ज्येष्ठासहितैः मित्रार्कध्रुववासवांबुपांत्यपुष्येदुनक्षत्रैर्नृत्यं शुभं नृ-  
त्यारम्भः शुभ इत्यर्थः । नृत्यं नर्त्तनम् । यदाह वसिष्ठः—“तिस्रोत्तरामित्र-  
गुरुश्रविष्ठाहस्तेन्द्रवारीश्वरपौष्णभेषु । संगीतनृत्यादिसमस्तकर्म कार्यं  
विभौमार्कजवासरेषु ॥” इति । श्रीपतिरपि—“हस्तः पुष्यो वासवं  
चानुराधा ज्येष्ठा पौष्णं वारुणं चोत्तराश्र । पूर्वाचार्यैः कीर्तितश्रद्धवर्त्ती



नृत्यारम्भे शोभनोऽयं भवर्गः ॥” इति। अथ लग्नशुद्धिः—तत्र हिवुकेः लग्नाच्चतुर्थस्थाने स्थितैः शुभग्रहैः। वीक्षिते इत्यध्याहारः। कश्यपवाक्यानुरोधात्। तनुगृहे लग्ने बुधसहिते सति अञ्जे चन्द्रे बराशौ मिथुनकन्यास्थे चतुर्थस्थैः शुभग्रहैर्वीक्षिते सति नृत्यारम्भः। यदाह कश्यपः—“लग्नसंस्थे बुधे चन्द्रे बुधराशौ तु वीक्षिते। शुभग्रहैश्चतुर्थस्थैर्नाट्यारम्भः प्रशस्यते ॥” इति। अत एव रत्नमालायामपि—“बुधे विलगने शशिनित्तराशौ शुभवीक्षिते। हिवुकस्थैः शुभैर्नाट्यप्रारम्भः सद्भिरिष्यते ॥” इति। इदं पद्यमेव व्याख्येयम् ॥ २५ ॥

अथ सेवकस्य स्वामिसेवायां मुहूर्तं शालिन्याह—

क्षिप्रं मैत्रे वित्सितार्कज्यवारे

सौम्ये लग्नेऽर्के कुजे वा खलाभे।

योनेर्मैत्र्यां राशिपोश्चापि मैत्र्यां

सेवा कार्या स्वामिनः सेवकेन ॥ २६ ॥

क्षिप्रं मैत्रे इति। क्षिप्रं मैत्रे अश्विनीपुष्यहस्तचित्रानुराधामृगश्वतीनक्षत्रेषु वित्सितार्कज्यवारे बुधशुक्रसूर्यगुरुवारेषु तथा सौम्यग्रहे लग्नसंस्थे सति अर्के सूर्ये वाऽथवा कुजे भौमे वा खलाभे दशमैकादशस्थे सति सेवकेन भृत्येन स्वामिनो राजादेः सेवा कार्या। राजादिदर्शनं प्रागुक्तम्। वेतनग्रहणकार्याद्यंगीकाररूपा सेवास्मिन् मुहूर्ते कार्या। तत्रापि स्वामिसेवकयोर्योनिर्मैत्र्यां सत्याम्। च पुनः राशिपोः स्वामिसेवकयोर्यो जन्मराशौ तयोर्वावधिपती तयोरपि मैत्र्यां प्रीतौ सत्यां कार्या। उक्तं च श्रोपतिना—“शुभे विलगने दशमायगे च रवौ कुजे वाथ वशेन योनेः। विद्यायुधाभ्यासरतेन कार्यः समाश्रयः स्वामिनि सेवकेन ॥” इति। कश्यपोपि—“दशमैकादशे सूर्ये कुजे वा शुभलग्ने। विद्यायुधाभ्यासयुक्तसेवाकर्मापि सिद्ध्यति ॥” इति। राशिमैत्रीसाहित्यं तु—“बभ्रूरंगं श्वैणमिमेन्द्रसिंहमोत्वाखुसंज्ञं त्वजवानरं च। गोव्याघ्रमश्वोत्तरमाहिषं च वैरं नृनार्योर्नृपभृत्ययोश्च ॥” इति। वसिष्ठोक्तिर्मंगीकृत्य तुल्यन्यायत्वादत्राप्युक्तं ग्रंथकृता। योनिर्मैत्री राशिमैत्री च विवाहप्रकरणे “अश्विन्यंबुपयोः” इति “भित्राणि द्युमणोः” इति च वक्ष्यति ॥ २६ ॥

अथ द्रव्यप्रयोगऋणग्रहणमुद्धतं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

स्वात्यादित्यमृदुद्विदैवगुरुभे कर्णत्रयाश्वे चरे  
लग्ने धर्मसुताष्टशुद्धिसहिते द्रव्यप्रयोगः शुभः ।  
नारे ग्राह्यमृणं तु संक्रमदिने वृद्धौ करेर्केहि य-  
त्तद्वंशेषु भवेदणं न च बुधे देयं कदाचिद्धनम् ॥ २७ ॥

स्वात्यादित्येति । स्वातीपुनर्वसुचित्रानुराधामृगरेवतीविशाखापुष्य-  
श्रवणधनिष्ठाशततारकाश्विनीष्वेकादशतक्षत्रेषु द्रव्यप्रयोगः शुभः । द्रव्यं  
परस्मै ऋणत्वेन देयम् । यदाह भौमपराक्रमः—“मृदुपुष्याश्विनी चैव  
विशाखाश्रवणत्रयम् । पुनर्वसौ च शंसन्ति धनादिनिधिवर्त्तनम् ॥” इति ।  
वर्त्तनमृणादिरूपेण दानम् । मिश्रनक्षत्रत्वाद्विशाखानिषेधे प्राप्तं ऋणदाने  
एव निषेध इति विशेषः । हस्तनष्टादौ तु निषिद्धैव । अथ लग्ने चरे मेघ-  
तुलामकराणामन्यतमे । धर्मो नवमम्, सुतः पञ्चमम्, अष्टशब्देन ल-  
क्षणयाष्टमस्थानमुच्यते तेषां शुद्धिः नवमपञ्चमस्थानयोः शुभग्रहसत्त्वं  
पापग्रहराहित्यं च । अष्टमे तुभयराहित्यमित्यर्थः । एवंप्रकारं शुद्ध्या स-  
हिते लग्ने ऋणं देयम् । उक्तं च रत्नमालायां—“शुद्धेषु धर्मात्मजनै-  
धनेषु चरे विलग्नं द्रविणप्रयोगः” इति । आरे मङ्गलवारे ऋणं न ग्रा-  
ह्यम् । तदुक्तं ज्योति प्रकाशे—“ऋणं भौमे न गृहणीयात्त देयं बुधवासरे ।  
ऋणच्छेदं कुजे कुर्यात्सञ्चयं सोमनन्दने ॥” इति । ऋतुविशेषसंक्रमः  
संक्रान्तिः । तद्विवसे वृद्धौ वृद्धियोगे करेर्केऽहि हस्तनक्षत्रसहिते रवि-  
वारे । हस्तार्के इति यावत् । तत्रापि ऋणं न ग्राह्यमिति प्रत्येकं सम्ब-  
न्धः । ननु कुतो न ग्राह्यमित्यत आह—यदिति । यद्यस्माद्धेतोस्तदणं  
तद्वंशेषु ऋणग्रहोत्कुलेषु भवेत् । तदणं तत्पुत्रपौत्रादिभिरपि परिहर्तुम-  
शक्यमित्यर्थः । अथादिषु भौमसंक्रात्यादि दिनेषु ऋणमवश्यं  
परिहर्तव्यमिति निष्कृष्टार्थः । “हस्तेर्कवारे संक्रान्तौ यदणं स्यात्कुलेषु  
तत् । वृद्धियोगे तथा ज्ञेयमृणच्छेदं तु कारयेत् ॥” इति ज्योतिःप्रकाश-  
कारोक्तेः । अथ बुधे बुधवारे कदाचिदपि ऋणं न देयम् । “न देयं बुध-  
वासरे” इत्यधुनैवोक्तत्वात् ॥ २७ ॥



अथ हलप्रवहणमुद्धृतं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

मूलद्वीशमघाचरध्रुवमृदुक्षिप्रैर्विनाकं शनिं  
पापैर्हीनबलैर्विधौ जललवे शुक्रे विधौ मांसले ।  
लग्ने देवगुरौ हलप्रवहणं शस्तं न सिंहे घटे  
कर्काजैणघटे तनौ क्षयकरं रिक्तासु षष्ठ्यां तथा ॥ २८ ॥

मूलेति । मूलविशाखामघाभिश्चरध्रुवमृदुक्षिप्रैश्च एकोनविंशतिनक्षत्रैः हलप्रवहणं हलप्रवृत्तिं कुर्यात् । यदाह नारदः । “मृदुध्र वक्षिप्रचर-विशाखापितृभेषु च । हलप्रवाहं प्रथमं विदध्यान्मूलमे वृषः” इति । विशेषमाह श्रोपतिः—“मृदुध्र वक्षिप्रचरेषु मूले मघाविशाखासहितेषु भेषु । हलप्रवाहं प्रथमं विदध्यान्नीरोगमुष्कान्वितसौरभेयैः ॥ ” इति । नीरोगाः पीडारहिता ये मुष्का वृषणास्तैरन्विता ये सौरभेया वृषास्तैर्विदध्यादित्यर्थः । युक्तं चैतत् । वृषाणां वृषणास्तु फलरूपा अतस्तादृशैर्वृषैः कृतं कर्षणं सफलं स्यात् । चूर्णितवृषणैर्वृषैः कृतं कर्षणं निष्फलमेव भवति । तथाकं सूर्यवारं शनिवारं च त्यक्त्वा अन्यवारेषु चन्द्रमङ्गलबुधवृहस्पतिशुक्रवारेषु हलप्रवहणं शुभम् । “पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्” इति विनायोगे द्वितीया । उक्तं च व्यवहारतत्त्वे—“पूर्वाद्वीशयमाग्निभेर्कयमयोरिक्तासु नष्टा कृषिः ॥” इति ।

सामान्यतो लग्नशुद्धिः—

अथ सामान्यतो लग्नशुद्धिः । तत्र पापग्रहैर्हीनबलैर्निबलैरुपलक्षिते लग्ने विधौ चन्द्रे शुक्रे मांसले बलिनि पुष्टे उदित इत्यर्थः । तत्र विधौ चन्द्रे जलगृहे जलराशिस्थिते सति देवगुरौ लग्नस्थे च सति हलप्रवहणं शुभम् । उक्तं च रत्नमालायां—“शक्तिशालिनि सितेथ शीतगौ दुर्बलैरसितभौमभास्करैः । आश्रिते शशिनि वारिजोदये लग्नवर्तिनि गुरौ कृषिक्रिया ॥” इति । कश्यपोपि—“गुरौ लग्नगते शुक्रे बलिन्यापोदये विधौ । शस्ता कृषिक्रिया तत्र दुर्बलैः क्रूरखेचरैः ॥” इति ।

विशेषतो लग्नशुद्धिः—

अथ विशेषतो लग्नशुद्धिः । तत्र सिंहे, घटे कुम्भे, कर्के, अजे मेषे, एणं मकरे, धटे तुलायामेषु लग्नेषु कृषिकर्म न शस्तम् । यतस्तत्क्षयकरं पीडाकरम् । तथा रिक्तासु चतुर्थीनवमीचतुर्दशीषु षष्ठ्यां च क्षयकरम् ।

म् । तथाशब्दोक्तसमुच्चयार्थः । तेनाष्टम्यामपि न शस्तं कृषिकर्म ।  
उक्तं च ज्योतिःसारसागरे—“मेषलग्ने पशून् हन्ति कर्कटे जलजं भयम् ।  
सिंहे सस्यभयं ज्ञेयं तुलायां हलसंक्षयः । मकरे शस्यनाशः स्यात्कुम्भे चै-  
रभयं तथा ॥ हन्त्यष्टमी बलीवर्दाक्षत्रमी सस्यघातिनी । पृथ्वी च कीटजन-  
नी पशून्हन्ति चतुर्दशी ॥” इति । चतुर्थ्यामपीदं फलं ध्येयम् ॥ २८ ॥

अथ बीजोप्तिमुद्धर्तफणिचक्रहलचक्राणि शार्दूलविक्रीडितेनाह—

एतेषु श्रुतिवारुणादिति विशाखोडूनि भौमं विना  
बीजोप्तिर्गदिता शुभा त्वगुभतोऽष्टाग्नीन्दुरामेन्दवः ।  
रामेन्द्रग्नियुगान्यसच्छभकराण्युप्तौ हलेऽर्कोऽभिक्ता-  
द्भाद्रामाष्टनवाष्टभानि मुनिभिः प्रोक्तान्यसत्सन्ति च २९ ॥

एतेष्वति । श्रुतिः श्रवणः, वारुणं शततारका, अदितिः पुनर्वसुः,  
विशाखा प्रसिद्धा, एतैरुदभिर्नक्षत्रैर्धिनैतेषु पूर्वोक्तनक्षत्रेषु मूलमघा-  
ध्रुवमृदुक्षिप्रधनिष्ठास्वातीषु पञ्चदशनक्षत्रेषु बीजोप्तिर्बीजवपनं शुभम् ।  
उक्तं च रत्नमालायां—“हस्ताश्विपुष्योत्तररोहिणीषु चित्रानुराधामृग-  
रेवतीषु । स्वातौ धनिष्ठासु मघासु मूले बीजोप्तिरुत्कृष्टफला प्रदिष्टा ॥”  
इति । वसिष्ठेनाप्येतावन्त्येव नक्षत्राण्युक्तानि—“धातृद्वये कौणपपि-  
त्र्यपुष्ये हस्तत्रये ज्युत्तरमैत्रभेषु । पौष्णे धनिष्ठास्वथवाश्विनीषु बीजो-  
प्तिरुत्कृष्टफलप्रदा स्यात्” इति । कौणपो मूलम् । नारदेनाप्युक्तानि—  
“मृदुध्रुवक्षिप्रभेषु पितृवायुवसूडुषु । समूलभेषु बीजोप्तिरत्युत्कृष्टफल-  
प्रदा ॥” इति । कश्यपेनापि—“धसुवायुजनैर्ऋत्यक्षिप्रध्रुवमृदूडु-  
षु । सीतां स्मृत्वाथ बीजोप्तिरत्युत्कृष्टफलप्रदा ॥” इति । अत्र  
मघा नोक्ता । भौमो मंगलवारो निषिद्धः । अर्थात् सूर्यचंद्रबुधगुरु-  
शुक्रशनीनां वारेषु बीजोप्तिः शुभा । अत्र विनायोगे द्वितीया । ‘एष्वैद्र  
श्रुतिवारुणेषु च कुजे बीजोप्तिः’ इति व्यवहारतत्त्वे उत्तत्वात् । ‘नेष्टा  
कृषिः’ इत्यतो नशब्दोऽत्रानुवर्तते । तेन बीजोप्तिर्नेष्टेत्यर्थः । अत्र  
कालविशेषनिषेधो राजमार्तंडे—“रवौ रौद्राद्यपादस्थे भूमेः संजायते  
रजः । तस्माद्दिनत्रयं तत्तु बीजवापे परित्यजेत् ॥” इति ॥



## बीजोत्तौ फणिचक्रम्—

अथ बीजोत्तौ फणिचक्रमुच्यते । अगुमतो न विद्यन्ते गावः किरणा यस्यासावगुः । यस्य स्वरूपाभावः तस्य कुतस्तरां किरणाः तादृशोऽगु राहुस्तस्य भं नक्षत्रं तस्मादित्यर्थः । राहुधिष्ठिनक्षत्रादष्टौ भानि अस- दसमीचीनानि । ततस्त्रीणि शुभानि । तत एकमशुभम् । ततस्त्रीणि शुभानि । ततोप्येकमशुभम् । ततस्त्रीणि शुभानि । ततोप्येकमशुभम् । ततस्त्रीणि शुभानि । ततश्चत्वार्यशुभानि । एवं बीजोत्तौ सप्तविंशतिनक्ष- त्राणां शुभाशुभत्वम् । उक्तं च नारदेन—“ भवेद्भूत्रितयं मूर्ध्नि धान्य- नाशाय राहुभात् । गले त्रयं कज्जलाय वृद्ध्यै द्वादश चोदरे ॥ निस्तंडु- लत्वं लांगूले भचतुष्टयमीरितम् । नाशो बहिःपंचके स्याद्बीजोत्ताविति चितयेत् ॥” इति । राहुर्यस्मिन्नृक्षेस्ति तस्मान्नक्षत्रत्रयं मूर्ध्नि मस्तके स्थाप्यं धान्यनाशकरं भवति । ततस्त्रयं गले स्थाप्यं कज्जलाय श्यामि- कासंपादनाय स्यात् । ततो द्वादश भानि बहिर्नक्षत्ररहितानि उदरे स्था- प्यानि । तानि धान्यवृद्धये स्युः । ततो नक्षत्रचतुष्टयं पुच्छे निस्तंडु- लत्वकरं स्यात् । ततोवशिष्टं बहिर्नक्षत्रपंचकं धान्यनाशकरं स्यात् । रत्नमालायामपि—“ मूर्ध्नि त्रीणि गले त्रयं च जठरे धिष्ण्यानि च द्वादश स्यात्पुच्छे च चतुष्टयं बहिरतो भानां स्थितं पंचकम् । त्वेडं कज्जलमन्नवृद्धिरधिका निस्तंडुलत्वं क्रमात्स्यादीतिप्रभवं भयं च फणि- भाद्बीजोत्तिकाले स्फुटम् ॥” इति । अत्र केचित्-फणिभात्सूर्यनक्षत्रा- दिति व्याचष्ट्युः । तत्र युक्तिः—‘ सूर्यमादुरगः स्थाप्यः ’ इति स्व- रोदयवाक्यैकवाक्यतालाभात् । तत्र नारदवाक्ये साक्षाद्राहुभादित्यु- क्त्वात् । ‘ राहुधिष्यात्समारभ्य धिष्येष्वष्टसु निस्फलम् ’ इति इति कश्यपोक्तेश्च । बीजवापने लग्नशुद्धिमाह वसिष्ठ—“ भवरिपु- हजे पापैस्त्रिकोणकेंद्रस्थितैश्च शुभैः । कथितेषु च धिष्येष्वपि शुभ- लग्ने बीजवापनं कार्यम् ॥” इति ॥

## हलप्रवहणचक्रम्—

अथ हलप्रवहणं चक्रमुच्यते । हले इति । हले हलचक्रेऽर्कोऽभिज्ञता- त्सूर्यभुक्तान्नक्षत्रात्क्रमेण त्रीणि असन्ति अशुभफलानि । ततोष्टभानि सन्ति शुभफलदानि । ततो नवभान्यसन्ति । ततोष्टौ भानि सन्ति । यथा सूर्य आर्द्रायां भुक्तभं मृगः तत आरभ्य त्रीणि मृगार्द्रापुनर्वसुभान्यशु- भानि । ततः पुष्याश्लेषामघापूर्वफलगुन्युत्तरफलगुनीहस्तचित्रास्वा-

तीनक्षत्राणि शुभानि । ततो विशाखानुराधाज्येष्ठामूलपूर्वाषाढोत्तरा-  
षाढाभिजिच्छ्रवणधनिष्ठानक्षत्राणि अशुभानि । ततः शततारका पूर्वा-  
भाद्रपदोत्तरभाद्रपदारेवत्यश्विनीभरणीकृत्तिकारोहिणीनक्षत्राणि शुभो-  
नि । एवमष्टाविंशति भानि भवन्ति । यदाह वसिष्ठः—“अर्कगतगत-  
संस्थ भत्रितयं नेष्टमुभयतस्त्वष्टम् । षोडशधिष्ययं नवकं शिष्टमनिष्टं  
च लांगले चक्रे ॥ ” इति । अर्केण गतं भुक्तम् । आगतं भोग्यम् ।  
संस्थमाक्रांतम् । एतन्नत्रितयं नेष्टम् । तत उभयतः षडोशधिष्ययम् इ-  
ष्टम् । यथा सूर्यभुक्तभात्प्राक्तनान्यष्टौ शुभानि सूर्यभोग्यभादग्रेततानि  
शुभानि स्युरित्यर्थः । शिष्टमुर्वरितं मध्यगतनक्षत्रनवकमनिष्टम् ।  
एवमत्राप्यष्टाविंशति भानि । नारदोपि—“हलादौ वृषनाशाय भत्रयं  
सूर्यभुक्तभात् । अग्रे ऋक्षत्रयं लक्ष्म्यै सौख्यं पार्श्वस्थपञ्चके ॥ शूलत्रये-  
पि नवकं मरणायान्यपञ्चकम् । श्रियै पुच्छत्रयं श्रेष्ठस्याच्चक्रे लांगले शु-  
भे ॥ ” इति । अस्यार्थः—हलप्रवहणसमये सूर्यभुक्तनक्षत्रानक्षत्रत्रयं वृ-  
षनाशाय स्यात् । तदग्रे नक्षत्रत्रयं लक्ष्म्यै स्यात् । तदग्रे पार्श्वनक्षत्रपं-  
चकं सौख्याय स्यात् । तदग्रे शूलत्रयगतं नक्षत्रनवकं मरणाय स्यात् ।  
तदग्रेन्यत्पार्श्वपंचकं श्रियै स्यात् । तदग्रे पुच्छगतं नक्षत्रत्रयं श्रेष्ठं शुभ-  
फलदमिति । अनेनापि प्रकारेण मृगादीनि तान्येव शुभाशुभानि  
संभवन्ति ।

हलचक्राकृतिः—

तत्र हलचक्राकृतिर्लिख्यते । कश्यपोपि—“ त्रिष्वष्टसु नवर्क्षेषु  
सप्तस्वर्कविमुक्तभात् । हानिवृद्धिः कर्तृमृत्युर्लक्ष्मीश्चैव यथाक्रमम् ॥ ”  
इति हलनक्षत्रोक्त्यनंतरमुक्तवान् ॥ अस्यार्थः—अर्कविमुक्तभात्रिषु  
भेषु हानिः, ततो नवसु भेषु कर्तुर्नाशः, ततः सप्तसु भेषु लक्ष्मीप्राप्तिरि-  
ति यथाक्रमं फलं ज्ञेयम् । अत्र सप्तिविंशतिनक्षत्रोक्तेरभिजिज्ञाना नास्ति-  
एवं बहुमुनिसंवादे सति “इनप्रोजिभूतर्क्षान्निवित्रीषुत्रिषु त्रिरामाय-  
शुभदशुभदानि ( ३ । ३ । ३ । ५ । ३ । ५ । ३ । ३ ) क्रमालांगलाख्ये ॥ ”  
इति तदुक्तं केशवदैवज्ञैर्मूर्ध्वतत्त्वे—तच्चित्यम् । ऋषिवाक्यमूलाभावा-  
त् । नन्विदम् “ अर्काक्रांतगतगतान्यनडुहां नाशाय भान्यग्रतो वृद्धयै  
भत्रितयं ततश्च कृषिकृद्घाताय शूलत्रये । धिष्यानां नवकं तदतरगते  
स्यातां श्रियै पंचके यच्चान्यत्रितयं तदत्र कथितं चक्रे शुभं लांगले ॥ ”



इति श्रीपतिवाक्यालोचनेनोक्तम् । तथाहि । अर्काक्रान्तगतागतानि भान्यनडुहां नाशाय स्युः । तदग्रतो भत्रयं वृद्ध्यै । ततः शूलत्रये धिष्यानां नवकं लेख्य कृषिकृद्धाताय स्यात् । शूलत्रयमध्यगते पञ्चके नक्षत्रदशकमित्यर्थः श्रियै स्याताम् । यच्चान्यत्रितयं नक्षत्रत्रयं शुभं स्यादिति । एवं सति चक्रन्यासः । अनेन प्रकारेण प्रोज्झितर्क्षात्रीणां तथादीनि शुभाशुभानि भानि सम्भवतीति चेत् । तदेतदविचारितरमणीयम् । नायं श्रीपतिवाक्ये शब्दार्थ उच्यते । किन्तु मूलवाक्यादर्शनाबोधपुरस्सरस्वाज्ञानप्रकाशकः । शब्दार्थस्त्वयम् । अर्काक्रान्तगतागतानि त्रीणि भानि वृषनाशकराणि स्युः । हलमध्यमभागप्रान्ते ततस्त्रीणि वृद्ध्यै हलदण्डाधोभागे ततः पञ्चनक्षत्रायपास्याग्रिमाणि नवभानि शूलत्रये त्रिकं त्रिकं कृषिकृद्धाताय स्थाप्यानि । नन्वत्र पञ्चनक्षत्रत्यागे को हेतुरित्यत आह—तदन्तरगत इति । तच्छब्देन हलोर्ध्वदण्डशूलोर्ध्वदण्डाबुच्येते । तयोरन्तरगते मध्ये विद्यमाने पञ्चकं पञ्चकं च पञ्चके श्रियै स्थाप्ये । नक्षत्रदशकमिति यावत् । तच्चान्यद्भूतितयं हलदण्डोर्ध्वभागे शुभफलदं लेख्यम् । एवं सति ऋषिवाक्यैः सहास्यैकार्थता सम्पद्यते । यत्तु महेश्वरः—“सूर्याधिष्ठितभस्त्रिवेदविषयांकांशेशविश्वार्ककैस्तुल्यान्येवगतानि भानि मुनिभिः प्रोक्तानि शस्तानि च । आद्ये लांगलयोजने” इत्युवाच—तदपि चिन्त्यमेव । यत्वेवमेव टोडरानन्दे—“अर्काक्रान्ते” इत्यादिपद्यव्याख्यानं पितृचरणकृतं, तदपि स्पष्टार्थवसिष्ठाद्यृषिवाक्यविशेषादर्शनकृतं प्रतिभाति । विशेषवाक्यादर्शने तु सामान्यवाक्यस्य नानाविधोर्थो व्याकर्तुं शक्यते । विशेषदर्शने तु सामान्यवाक्यस्य विशेष एव पर्यवसानमित्यलमतिप्रसक्तानुसक्तेन । अत्र हलचक्रबीजोत्तिचक्रे वा विहितनक्षत्राणामिष्टफलदस्थानपातसत्त्वे च परिग्रहो न्याय्यः अन्यथात्वे त्यागः । निषिद्धानां तु सर्वथैव त्याग इति निःकृष्टोर्थः ॥ २६ ॥

अथ शिरामोक्षणविरेकादिधर्मक्रियामुहूर्तान् शादूँलविक्रीडितेनाह—

त्वाष्ट्रान्मित्रकभाद्वयेऽम्बुपलघुश्रोत्रे शिरामोक्षणं

भौमार्कज्यदिने विरेकवमनाद्यं स्याद्बुधार्कं विना ।

मित्रक्षिप्रचरध्रुवे रविशुभाहे लग्नवर्गे विदो  
जीवस्यापि तनौ गुरौ निगदिता धर्मक्रिया तद्वले ॥३०॥

त्वाष्ट्रादिति । त्वाष्ट्राद्वयं चित्रास्वाती, मित्राद्वयमनुराधा, ज्येष्ठा, कमाद्वयं रोहिणीमृगौ, अंबुपः शततारका, लघूनि अश्विनीपुष्यहस्ताभि-  
जितः, श्रोत्र श्रवणः, एषु नक्षत्रेषु तथा भौमाकंज्यदिने मंगलगुरुरवि-  
वासरेषु शिरामोक्षणां रुधिरवाहिनी नाडी शिरा तस्या मोक्षणां सूक्ष्मशस्त्र-  
घातेन शिरातो रक्तमोक्षणां कुर्यादित्यर्थः । उक्तं च ज्योतिःसारसागरे—  
“चित्रायुगे विधियुगे मित्रयुगे लघुषु वारुणे विष्णौ । वस्तिविरे-  
चनवेधाः शुभदिनतिथिचंद्रलग्नेषु ॥” इति । वारे संमत्यभावः । बुधा-  
कीं बुधशनैश्चरावपास्यान्यचारेषु पूर्वोक्तनक्षत्रेषु च विरेकं वमनाद्यम् ।  
औषधेन सुखप्रवृत्तिर्विरेकः वमनं प्रसिद्धमेव । तदाद्यं कर्म कार्यमुक्तम् ।  
अथ मित्रक्षिप्रचरध्रुवेषु त्रयोदशनक्षत्रेषु तथा रवौ रविवारे शुभाहे चंद्र-  
बुधगुरुशुक्रवारेषु धर्मक्रिया कोटिहोमरुद्रानुष्ठानादिका कार्या । उक्तं  
च दीपिकायां—“ शुभग्रहार्कवारेषु मृदुक्षिप्रध्रुवोडुषु । शुभराशिविल-  
ग्नेषु शुभं शांतिकपौष्टिकम् ॥” इति । शांतिकं धर्मकृत्यं कोटिहोमादिक-  
म् ॥ अथ विदो बुधस्य जीवस्य गुरोर्लग्नवर्गे यस्मिन् कस्मिंश्चिल्लग्नौ गुरु-  
बुधयोः षड्वर्गे सति तनौ लग्ने च गुरौ सति कर्तुंश्च गुरुबले च सति  
धर्मक्रिया हिता निगदिता । उक्तं च रत्नमालायां—“ हिबुकेर्के गुरौ  
लग्ने धर्मारंभो रवेर्दिने ॥” इति । अन्यच्च “श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रोक्ता-  
नां धर्मकर्मणाम् गुरुज्ञलग्नवर्गेषु प्रारंभस्तद्वले सति ॥” षड्वर्गज्ञानं  
विवाहप्रकरणे ग्रंथकर्तव्यं वक्ष्यति ॥ ३० ॥

अथ धान्यच्छेदमुद्धृतं वसंततिलकेनाह—

तीक्ष्णाजपादकरवह्निवसुश्रुतीन्दु-

स्वातीमघोत्तरजलान्तकतक्षपुष्ये ।

मन्दाररिक्तरहिते दिवसेऽतिशस्ता

धान्यच्छिदा निगदिता स्थिरभे विलग्नौ ॥ ३१ ॥

तीक्ष्णाजपादेति । तीक्ष्णसंज्ञानि मूलज्येष्ठाद्राश्लेषा अजपादः  
पूर्वाभाद्रपदा । अन्यानि प्रसिद्धानि । तथा चित्रा पुष्यश्च । एतेष्वे-



कोनविंशतिनक्षत्रेषु तथा मंदः शनिः, आरो-मंगलः, रिक्तातिथयः प्रसि-  
द्धाः एतेषां समाहारः मंदाररिक्तं तेन रहिते विहीने दिवसे तथा स्थिर-  
मे स्थिराशौ लग्ने सति धान्यच्छेदनम्—“ षिद्धिदादिभ्योङ् ” इत्यङ् ।  
स्त्रियां टाप् । धान्यानां यवादीनां छिदा निगदितोक्ता । निष्फन्नधान्यानां  
छेदनं कार्यमित्यर्थः । यदाह राजमातङ्गः—“ रोद्रे पित्र्ये तथा सौम्ये  
हस्ते पुष्येनिले तथा । सस्यच्छेदं प्रशंसन्ति मूलश्रवणवासवे ॥ ” इति ।  
दीपिकायां तु—“ याम्याजपादहिधनानलतोयशक्रधित्रोत्तरोदुषु कुजा-  
र्कजवारवर्ज्यम् । शस्तेन्दुयोगकरणेषु तिथावरिक्ते धान्यच्छिदा स्थिरन-  
रस्वगृहोदयेषु ॥ ” इति ॥ अहिराश्लेषा । अत्र पूर्ववाक्ये नवनक्षत्राणि  
युक्तानि । द्वितीयवाक्ये एकादशभानि । वाक्यद्वये धनिष्ठोपादानात्त-  
त्थागे एकोनविंशतिभान्येव संपद्यन्ते । तानि वचनद्वयप्रामाण्याद्ग्रन्थक-  
र्त्रोपनिबद्धानि । व्यवहारतत्त्वे तु वाराखुक्तौ “धान्यानां लवनं कुर्याद्गुरौ  
शुक्रे च सर्वदा । ” इति ॥ ३१ ॥

अथ कणमर्दनसस्यरोपणमुहूर्तौ वसंततिलकेनाह—

भाग्यार्यमश्रुतिमघेन्द्रविधातृमूल-

मैत्रान्त्यभेषु कथितं कणमर्दनं सत् ।

द्वीशाजपात्तिर्ऋतिधातृशतार्यमर्चं

सस्यस्य रोपणमिहार्किकुजौ विना सत् ॥ ३२ ॥

भाग्येति । भाग्यं पूर्वफलगुनी, विधाता रोहिणी, अन्यान्यतिप्रसिद्धानि ।  
एषु नवनक्षत्रेषु कणाश्रणकादयस्तेषां मर्दनं यष्ट्याघातादिना वितुषी-  
करणं समीचीनमित्यर्थः । तदुक्तं व्यवहारोच्चये—“फलगुन्यौ श्रवणश्चैव  
मघा मूलं तथा मता । अनुराधा तथा ज्येष्ठा रेवती धान्यमर्दने ॥  
केत्रले सिंहलग्ने वा गुरुशुक्रोदयेथवा । ” इति । एवमत्राष्टौ भान्यु-  
क्तानि । ‘ रोहिण्यां मर्दनं कुर्यात् ’ इति राजमातङ्गोक्तेः । रोहिण्युपा-  
दानं च तद्वाक्यविदां—“ हस्ते च वापयेद्दबीजं संग्रहं वैश्वदैवते ।  
रोहिण्यां मर्दनं कुर्यादुत्तरासु प्रवेशयेत् ॥ ” इति । अत्र कर्मविशेषे-  
णैकस्यैव नक्षत्रस्योपादानमतिमुख्यतासूचनार्थं न त्वितरनिषेधार्थम् ॥  
कुतः वाक्यांतराणां वैयर्थ्यापत्तेरिति । अथ द्वीशं विशाखा, अजपात्तू-  
र्वाभाद्रपदा, निर्ऋतिमूलम्, धाता रोहिणी, शतं शततारका, अर्यमर्चं

उत्तरफल्गुनी, एषु षट्सु भेषु सस्यस्य धान्यस्य रोपणं पूर्ववापितस्थानात्स्थलांतरे आरोपणं सच्छुभम् । इह सस्यरोपणो । आर्किंकुजौ शनिभौमौ विना त्यक्त्वान्यवारेषु सूर्यचंद्रबुधगुरुशुक्रवारेषु कार्यं सस्यस्य रोपणम् । उक्तं च राजमार्तंडे—“पूर्वाभाद्रपदामूलरोहिण्युत्तरफल्गुनी । विशाखा वारुणा चैव धान्यानां रोपणो वराः ॥” इति ॥ ३२ ॥

अथ धान्यस्थितिधान्यवृद्धिमुद्धतौ वसंततिलकेनाह—

मिश्रोग्ररौद्रभुजगेन्द्रविभिन्नभेषु  
कर्काजतौलिरहिते च तनौ शुभाहे ।  
धान्यस्थितिः शुभकरी गदिता भ्रुवेज्य-  
द्वीशेन्द्रदसूचरभेषु च धान्यवृद्धिः ॥ ३३ ॥

मिश्रोऽग्रेति । मिश्रं विशाखाकृत्तिके, उग्रं पूर्वात्रयभरणीमघाः, रौद्रमार्द्रा, भुजग आश्लेषा, इन्द्रो ज्येष्ठा, एभ्यो दशभ्यो विभिन्नेष्वन्येषु सप्तदशसु भेषु नक्षत्रेषु तथा कर्कः, अजो मेषः, तौलिस्तुला, एतैर्विहीनतनौ मकरे स्थिरे द्विस्वभावे राशौ लग्नेषु तथा शुभाहे शुभग्रहाणां वारे धान्यस्थितिरेकत्र राशीकरणं नाम सा निगदिता । उक्तं च दीपिकायां—“याम्याग्निरुद्राहिविशाखपूर्वामहेंद्रपिज्येतरभैः शुभाहे । धान्यादिसंस्थापनमेषु शस्तं मृगस्थिरद्वयं गगृहोदयेषु ॥” इति । भ्रुवाणि प्रसिद्धानि । इज्यः पुष्यः, द्वीशं विशाखा, इन्द्रो ज्येष्ठा, दक्षावशिनी, चराणि प्रसिद्धानि । एषु धान्यवृद्धिः—त्वं मह्यं तावत् धान्यं देहि ततोहं मासद्वयेन तुभ्यं सपादं साधं वा दास्यामित्येवंरूपा सा निगदिता । उक्तं च दीपिकायां—“भ्रवणत्रयं विशाखा भ्रुवपुष्यपुनर्वसूनि वायुश्च । अश्विन्यथ च ज्येष्ठा धनधान्यविवर्द्धने शस्ताः ॥” इति ॥ ३३ ॥

अथ शांतिकपौष्टिकादिकृत्येषु मुद्धतं वसंततिलकेनाह—

क्षिप्रभ्रुवान्त्यचरमैत्रमघासु शस्तं  
स्याच्छान्तिकं च सह मङ्गलपौष्टिकाभ्याम् ।



खेऽर्के विधौ सुखगते तनुगे गुरौ नो  
मौढ्यादिदुष्टसमये शुभदं निमित्तो ॥ ३४ ॥

क्षिप्रं ति ॥ क्षिप्रादीनि मघांतानि प्रसिद्धानि । तेषु पौष्टिकं पुष्टिका-  
मकं मंगलं विनायकशांत्यादि शांतिकं दुष्टफलदमूलनक्षत्राद्युत्पन्नशांत्या-  
दि एतानि कर्माणि कार्याणि । उक्तं च दीपिकायां—“मित्रादित्यमघो-  
त्तराशतभिषक्स्वातीविरंच्याच्युतस्वर्गाधीश्वरपूज्यपौष्णरविषु स्फीते  
तुषारत्विषि । रिक्तां पर्वं विहाय सौम्यदिवसे शस्ते नृणां भूतये सर्वैः  
शांतिकपौष्टिकं निगदितं गर्गादिभिर्निश्चयात् ॥” इति ॥

लग्नशुद्धिः—

अथ लग्नशुद्धिः । तत्रार्के सूर्ये खे दशमे सति विधौ चन्द्रे सुखगते  
चतुर्थस्थे गुरौ तनुगे लग्नस्थे सति शांत्यादिकं कार्यम् । उक्तं च रत्न-  
मालायां—“पूर्णे चन्द्रे वेश्मगेर्कैवरस्थे लग्ने जीवे वाक्पतेर्वासरे च ॥  
श्रोमत्यायुष्याणि कर्माणि कार्याणि ॥” इति तच्छांतिकादिमौढ्ये  
गुरुशुक्रयोरस्तादिके बाल्यवार्द्धक्यसिंहस्थगुर्वादिरूपे दुष्टसमयेपि शुभ-  
दम् । तथा निमित्तं केत्वाद्युत्पातदर्शने सति शुभदम् । उक्तं च दीपि-  
कायां—“शांतिकर्माणि कुर्वीत रोगे नैमित्तिके तथा । गुरुभार्गवमौ-  
ढ्येपि दोषस्तत्र न विद्यते ॥” इति । उक्तं चैतत्—यतोस्तीदं शांति-  
कं नैमित्तिकम् । “अनिमित्तकृता शांतिर्निमित्तायोपजायते” इति  
स्मृणात् । तत्र निमित्तं रोगरूपे केत्वाद्युत्पातांतरदर्शनरूपे च भवति  
नैमित्तिकम् । तच्च बहुदिनव्यापके गुरुशुक्रास्तादिदोषेऽप्यवश्यं विधेय-  
म् । ततो जन्मांतरीयदुरदृष्टसूचकमिदं निमित्तमुत्पन्नं तस्य शांत्या नि-  
रासादशुभादृष्टस्यापि निरासः । बहुदिनप्राप्ये निर्दोषे काले क्रियमाणं  
शांतिकं किंचिद्दृष्टशामकं यद्यपि भवति तथापि तावद्भिर्दिनैर्दुरदृ-  
ष्टस्य प्राबल्याद्दुःखप्राप्तिः । यथाऽल्पोप्यग्निरल्पेनैव जलेन शांतो भवति  
तथा सकलनगरदाहको मनुष्यैर्बहुभिर्गुणपद्गृहीतजलपूर्णघटैरेकदा  
निर्वापितोपि सकलोऽग्निर्न निर्वाप्यते इत्यर्थतः सर्वथा मौढ्यादिदोषं वि-  
नैव यथा कथंचित्कथितं तत्प्रकारेण दिनशुद्धिमंगीकृत्य शांतिकाद्यवश्यं  
विधेयम् ॥ ३४ ॥

अथ होमाहुतेः शुद्धमुद्धर्तमनुष्टुब्धं दसाह—

सूर्यभात्त्रिभिर्मे चान्द्रे सूर्यविच्छक्रपङ्कवः ।

चन्द्रारेज्यागुशिखिनो नेष्टा होमाहुतिः खले ॥३५॥

सूर्यभादिति । सूर्यः स्पष्टमानेन यत्रक्षत्रेस्ति तस्मात्त्रिभिर्मे आदितो भन्नयनेकत्रिकमेवं सप्तविंशतिभेषु नवत्रिकानि भवन्ति । तत्र सूर्यनक्षत्रादा-  
रभ्य प्रथमद्वितीयादित्रिकस्थे चन्द्रे सति क्रमादेवमुखे आहुतिः पतति ।  
यथा प्रथमत्रिके सूर्यस्य ततो बुधस्य ततः शुक्रस्य ततः पङ्गोः शनेस्तत-  
श्चन्द्रस्य ततः आरस्य भौमस्य ततः इज्यस्य गुरोस्ततोऽगो राहोः ततः  
शिखिनः केतोः । एवं सति यद्विने पापग्रहमुखे होमाहुतिः पतित सा  
नेष्टा न शुभदा । अर्थादेव शुभग्रहमुखे शुभग्रहमुखे आहुतिपातः शुभ-  
फलदः । उक्तं च कश्यपेन—

“ नक्षत्रे यत्र भातुः स्यात्तदाद्यं भत्रिकं त्रिकम् ।

सूर्यश्चशुक्रसौरीणामिदुभौमबृहस्पतेः ॥

राहोः केतोश्च निर्दिष्टं वदनादौ शुभाशुभम् ।

सौख्यार्थनाशः सूर्ये स्यादिदौ जलमयी कृषिः ॥

भौमेग्निदाहो राष्ट्रस्य बुधे बुद्धिविद्धनम् ।

गुरौ लब्धिरभीष्टस्य राज्यं सौभाग्यनन्दितम् ॥

भार्गवे कार्यसंपत्तिरैहिकामुष्मिकि भवेत् ।

शनेर्मुखाहुतौ ज्ञेयो राज्यभङ्गो धन्यक्षयः ॥

राहोर्मुखाहुतौ हानिः सर्वस्य परिकीर्तिता ।

केतोर्मुखाहुतौ ज्ञेयं दुर्भिक्षं देशविप्लवम् ॥

मरणां प्राणिनां चैव राज्यभङ्गस्तथैव च ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ग्रहनक्षत्रसंगमे ॥

दुष्टे न कुर्याद्बध्वनमित्याहुर्भार्गवादयः ॥ ” इति ।

तदयमत्रनिष्कृष्टोर्थः । सूर्याक्रान्तनक्षत्राच्चन्द्रनक्षत्रस्थत्रिकत्रिकग-  
णनया पापमुखे आहुतिर्निधा । शुभग्रहमुखे समीचीना । अत एव  
पितृचरणैरप्युक्तं—“विवस्वदक्षत्रिकमे कमेवं विधौ स्थितेर्कक्षसितार्कजा-  
नाम् । चन्द्रारजीवागुशिखावदास्ये होमाहुतिः पापमुखे निषिद्धा ॥ ”  
इति । गुर्जरदेशे प्रसिद्धमिदम् ।



पापग्रहमुखे हवने शांतिः—

अथ दैवात्कृतस्य पापग्रहमुखे हवनस्य शांतिरुक्ता विष्णुधर्मोत्तरे—  
“ कूरग्रहमुखे चैव संजाते हवने शुभे । शांतिं विधाय गां दद्याद्ब्राह्म-  
णाय कुटुंबिने ॥ आयसीं प्रतिमां कृत्वा निःक्षिपेत्तामधोमुखीम् । गो-  
मूत्रमधुगंधाद्यैरर्चितां प्रतिमां ततः ॥ कुरडे निधाय संपूज्य तत्र होमो  
विधीयते ॥ ” इति ॥ ३५ ॥

अथ यदिने होमश्चिक्रीर्षितस्तद्दिने वह्निवासवशेन शुभाशुभफलमिन्द्र-  
वज्रयाह—

सैका तिथिर्वारयुता कृतासा  
शेषे गुणेऽग्रे भुवि वह्निवासः ।  
सौख्याय होमे शशियुग्मशेषे  
प्राणार्थनाशौ दिविभूतले च ॥ ३६ ॥

सैकेति । शुक्लादिमासगनया वर्त्तमानतिथिर्गण्यैकयुता वर्त्त-  
मानवारयुता चतुर्भक्ता यच्छेषं तद्रूपमितं शून्यमितं च तदा वह्ने-  
र्वासो वसतिस्थानं भुवि वर्त्तते । तत्फलमाह सौख्यायेति । होमदिवसे  
भुवि वह्निवासः सौख्यजनको भवतीत्यर्थः । अथ शशियुग्मशेषे क्रमैरौ-  
कद्विमिते शेषेऽग्निवासो दिवि स्वर्गे । तत्फलं कर्तुः प्राणनाशो मरणां  
भवेत् । द्विमिते शेषेऽग्निवासो भूतले पातालेस्ति । तत्फलं कर्तुरर्थनाशो  
द्रव्यनाशः । उक्तं—“ तिथिवारयुतिः सैका वेदभक्तावशेषकात् ।  
निवासोऽग्नेर्व्योम्नि रूपे वित्तप्राणविनाशकः । पातालेद्विकशेषेण  
धनसंचयनाशकः । गुणवेदावशेषेण भूमौ विपुलसौख्यदः । संस्कारेषु  
विचारोस्य न कार्यो नापि वैष्णवे । नित्ये नैमित्तिके कार्ये नचाब्दे  
मुनिभिः स्मृतः ॥ ” इति ॥ ३६ ॥

अथ प्रतिवर्षोत्पन्ननवान्नभक्षणमुहूर्तमनुष्ठुभाह—

नवान्नं स्याच्चरन्निप्रमृदुभे सत्तनौ शभम् ।

विना नन्दाविषघटीमधुपौषार्किभूमिजान् ॥ ३७ ॥

नवान्नमिति । चरन्निप्रमृदुसंज्ञकद्वादशभेषु तथा सत्तनौ समीची-

नलग्ने शुभग्रहैर्युते दृष्टे चेत्यर्थः । परन्तु नन्दाः प्रतिपत्षष्ट्येकादश्यः  
विषघटीर्विवाहप्रकरणे वक्ष्यमाणाः मधुं चैत्रमासं पौषं च आर्किं शनिं  
भूमिजं मङ्गलवारम् एतान्विना वर्जयित्वा नवाक्षभक्षणं शुभं स्यात् ।  
यदाह भुजबलः—“नवाक्षभोजनं नृणां मृदुक्षिप्रचरैः शुभम् । शुभे-  
क्षितयुते लग्ने विषनाडीं विवर्जयेत् । नवाक्षं न च नन्दायां मासे पौषे  
मधौ तथा ॥” इति ॥ ३७ ॥

अथ नौकाघटनमुद्धर्तमनुष्टुभाह—

याम्यत्रयविशाखेन्द्रसार्पपित्र्येशभिन्नमे ।

भृग्वीज्यार्कदिने नौकाघटनं सत्तनौ शुभम् ॥ ३८ ॥

याम्येति । याम्यत्रयं भरणीकृत्तिकारोहिण्यः, विशाखा इन्द्रो ज्येष्ठा,  
सार्पमाश्लेषा, पित्र्यं मघा, ईश आर्द्रा एतैर्वर्जिते रहिते अवशिष्टेष्वष्टा-  
दशनक्षत्रेषु तथा शुक्रगुरुसूर्यवारे लत्तनौ प्राग्व्याख्यातगुणविशिष्टे  
लग्ने नौकाघटनं निर्माणं शुभम् । उक्तं च दीपिकायां—“क्षमहरिघट-  
लग्ने शक्रपित्र्यद्विदैवे त्रिनयनविधियाम्यद्वन्द्वसार्पान्त्यभेषु । सुकरणति-  
थियोगे शुक्रजीवार्कवारे तरणिघटनमिष्ट चन्द्रतारा विशुद्धौ ॥” इति ।  
क्षमे मिथुनकन्ये । हरिः सिंहः । तरणिनौः ।

नौकाया घटनस्थानाच्चालने यात्रायां च मुहूर्ताः—

अथ घटनस्थानाच्चालनमुद्धर्तो मयोच्यते । दीपिकायां—“शुभाहे  
विष्णुयुग्मेन्दुभगमैत्राश्विपाणिषु । चालनं घटनस्थानान्नावः शुभतिथी-  
न्दुषु ॥” इति । दीपिकायां नौकायात्रामुद्धर्तोपि—“अश्विकरेज्यसुधानि-  
धिपूर्वाभिन्नघनाच्युतमे शुभलग्ने । तारकयोगतिथीन्दुविशुद्धौ नौगमनं  
शुभदं शुभवारे ॥” इति ॥ ३८ ॥

अथ वीरसाधनाभिचारयोर्मुद्धर्तमनुष्टुभाह—

मूलार्द्राभरणीपित्र्यमृगे सौम्ये घटे तनौ ।

सुखे शुक्रेऽष्टमे शुद्धे सिद्धिर्वीराभिचारयोः ॥ ३९ ॥

मूलेति । मूलार्द्रादिनक्षत्रपञ्चके तथा घटे तनौ कुम्भलग्ने तत्र स्थिते  
सौम्ये बुधे सति तथा शुके सुखे चतुर्थस्थे अष्टमे शुद्धे । शुद्धत्वं प्राग्व्या-  
ख्यातम् । तादृशे लग्ने वीरस्य वीरसाधनाय अभिचारकर्मणः सिद्धिर्नि-



पत्तिः । उक्तं वसिष्ठेन—“शशिनैर्ऋते यमपितृभेष्वष्टमशुद्धौ भृगौ च पाताले । घटलग्नगते शशिजे निखिला वेतालसिद्धिः स्यात् ॥” इति । आर्द्राग्रहणं रत्नमालायां—“पिङ्ग्येश्याम्यमूलेन्दुभेषु शुद्धेऽष्टमेपि च । वेतालसिद्धिः पाताले भृगौ द्वे घटलग्नगे ॥” इति । वेतालो नाम वीरसाधनम् ॥ ३६ ॥

अथ रोगनिर्मुक्तस्नानमुद्धर्त्तुं वसन्ततिलकेनाह—

व्यन्त्यादितिध्रुवमघानिलसार्पधिष्ये  
रिक्ते तिथौ चरतनौ विकवीन्दुवारे ।  
स्नानं रुजा विरहितस्य जनस्य शस्तं  
हीने विधौ खलखगैर्भवकेन्द्रकोणे ॥ ४० ॥

व्यन्त्येति । अन्त्यं रेवतो, अदित्यादौ नि भानि प्रसिद्धानि एतानि वि-  
गतानि नवधिष्ययानि येषु तान्यवशिष्टान्यष्टादशभानि तेषु तथा रिक्ता-  
संज्ञासु तिथिषु तथा कविः शुक्रः, इन्दुश्चन्द्रः, आभ्यां रहितेषु वारेषु तथा  
विधौ चन्द्रे हीने निषिद्धस्थानस्थिते । निषिद्धस्थानानि गोचरप्रकरणे  
वक्ष्यति । तथा भवे एकादशे केन्द्रे प्रथमचतुर्थसप्तमदशमस्थाने कोणे  
नवमपञ्चमे षष्ठे स्थानेषु स्थितैः पापग्रहैरुपलक्षिते लग्ने सति रुजा  
रोगेण विरहितस्य निर्मुक्तस्य जनस्य स्नानं आरोग्यस्नानं शस्तं  
शुभम् । उक्तं च कश्यपेन—“पितृमारुतसर्पान्त्यस्थिरर्क्षेष्विदुशुक्रयोः ।  
न कुर्याद्धारयो रोगमुक्तः स्नानं कदाचन ॥” इति । पुनर्वसोरपि निषेधो  
रत्नमालायां—“इन्दोर्वारे भार्गवे च ध्रुवेषु सार्पादित्यस्वातियुक्तेषु  
भेषु । पिङ्ग्ये चान्त्ये चैव कुर्यात्कदाचिन्नैव स्नानं रोगमुक्तस्य जन्तोः ॥”  
इति । पुष्यशततारकयोर्निषेधो नारदसंहितायां—“स्थिरेज्यादितिसार्पा-  
न्त्यपितृवारुणभेषु च । न कुर्याद्रोगमुक्तस्य स्नानं वारेज्यशुक्रयो ॥”  
इति । अर्थादन्यनक्षत्रेषु कार्यमित्यर्थः ।

लग्नादिशुद्धिः—

अथ लग्नादिशुद्धिमाह श्रोपतिः—लग्ने चरे सूर्यकुजेज्यवारे रिक्ते  
तिथौ चन्द्रबले च हीने । त्रिकोणकेन्द्रोपगतैश्च पापैः स्नानं हितं रोग-  
विमुक्तकानाम् ॥” इति । दीपिकायां तु विशेषः—“व्यादित्येषु चरेषु श-  
क्रदिनकृतपुष्योग्रचन्द्रेषु च क्रूराहव्यतिपातविष्टिदिवसेष्विदावशस्ते

तिथौ । केन्द्रस्थेष्वशुभेष्वकामतिथिषु स्नानं गदान्मुक्तिदं शस्तं नात्र सुशोभना विधिभुजङ्गनैदुसद्वासराः ॥” इति । अकामतिथिषु त्रयो दशीरहितासु तिथिषु ॥ ४० ॥

अथ शिल्पविद्यामुहूर्तमनुष्ठुभाह—

मृदुध्रुवक्षिप्रचरे ज्ञे गुरौ वा खलग्नगे ।

विधौ ज्ञजीववर्गस्थे शिल्पविद्या प्रशस्यते ॥ ४१ ॥

मृदुध्रुवेति । मृदुगणध्रुवगणक्षिप्रगणचरणेषु शिल्पं काष्ठतक्षण-  
पाषाणादिघटननानावर्णनिर्मितमूर्त्यादिकल्पनं तद्विद्यायाः प्रारम्भः प्र-  
शस्यते ।

अथ लग्न शुद्धिः—

तत्र ज्ञे बुधे खलग्नगे दशमस्थे लग्नस्थे च वा अथवा गुरौ  
बृहस्पतौ खलग्नगे दशमस्थे लग्नस्थे च सति तथा विधौ चन्द्रे  
ज्ञजीववर्गस्थे बुधगुरुषड्वर्गस्थे च सति शिल्पविद्या प्रशस्यते ।  
उक्तं च रत्नमालायाम्—“लग्नकर्मगते सौम्ये जीवे वामृतदोधितौ ।  
तयोर्वर्गस्थिते शिल्पविद्यारंभः प्रशस्यते ॥ ” इति । वसिष्ठेन त्वन्यथै-  
वोक्तम्—“ शशितनये जीवे वा चन्द्रे वा लग्नवल्लिनि धर्मे वा । तद्वर्गं  
लग्नगते शिल्पारंभः प्रशस्यते सततम् ॥ ” इति ॥ ४१ ॥

अथ सन्धानमुहूर्तमनुष्ठुभाह—

सुरेज्यमित्रभाग्येषु चाष्टम्यां तैतिले हरौ ।

शुक्रदृष्टे तनौ सौम्यवारे सन्धानमिष्यते ॥ ४२ ॥

सुरेज्येति । सुरेज्यमित्राः प्रसिद्धाः, भाग्यं पूर्वफलगुनी एषु भेषु  
तथाष्टम्यां हरौ द्वादश्यां वा तैतिले करणे वा तथा शुक्रदृष्टे शुक्रयुत  
इत्यपि वक्तव्यम् । तोदशे तनौ लग्ने तथा सौम्यग्रहाणां वारे सन्धानं  
मैत्री प्रीतिरिष्यते । उक्तं च रत्नमालायां—“ भाग्ये मैत्रे शीतरश्मौ सपु-  
ष्ये द्वादश्यां वा शुक्रदृष्टे च लग्ने । अष्टम्यां वा तैतिलाख्ये प्रदिष्टा पूर्वा-  
चार्यैस्तत्र सन्धानसिद्धिः ॥ ” अत्र केचिदेवं व्याकुर्वन्ते—पुष्येण  
सहिते सपुष्ये भाग्ये मैत्रे च एतन्नक्षत्रत्रयसंस्थे शीतरश्मौ चन्द्रे सति  
सन्धानं कार्यम् । अनेन भाग्यमैत्रपुष्यात्मकं नक्षत्रत्रयमुक्तं भवति । यदाह



वसिष्ठः—“सुरुगुरुमैत्रे भाग्ये द्वादश्यां वाथ पक्षमध्यतिथौ । सितयुत-  
वीक्षितलग्ने तैतिलकरणे च सन्धिः स्यात् ॥” इति । कश्यपोपि—“भा-  
ग्ये पुष्ये समैत्रे च लग्ने शुक्रेक्षिते युते । करणे तैतिलेऽष्टम्यां द्वादश्यां  
सन्धिरिष्यते ॥” इति । एतदेव रत्नमालापद्यव्याख्यानं ज्यायः । संम-  
तिवाक्ययोरार्षत्वात् । “भाग्ये मैत्रे शीतरश्मौ” इति वक्रोक्तावाशयं  
न विद्मः । एवं च मूलपद्ये देवेज्यमित्रभाग्येष्वित्येव पठनीयम् ॥ ४२ ॥

अथ परीक्षामुहूर्तं वसंततिलकेनाह—

त्यक्त्वाष्टभूतशनिविष्टिकुजाञ्जनुर्म-  
मासौ मृतौ रविविधू अपि भानिनाड्याः ।  
द्वयङ्गे चरे तनुलवे शशिजीवतारा-  
शुद्धौ करादितिहरीन्द्रकपे परीक्षा ॥ ४३ ॥

त्यक्त्वेति । अष्ट अष्टमी, भूतश्चतुर्दशी, शनिकुजौ वारौ प्रसि-  
द्धौ, विष्टिर्भद्रा, जनुर्ममासौ जननकालीननक्षत्रं जन्ममासं च, मृता-  
वष्टमस्थाने रविविधू जन्मराशेः सकाशादष्टमं सूर्यं चन्द्रं च तथा नाड्याः  
भान्यपि नाडीनक्षत्राण्यपि । रविविधू अपीत्यत्र—“इदुदेद्विवचनं प्रगृह्य-  
म्” इति प्रगृह्यसंज्ञायां “प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्” इति प्रकृतिभा-  
वः । एतावत्पदार्थकदंबकं त्यक्त्वा परीक्षा कार्या । परीक्षा नाम सुवर्ण-  
स्तेयादिमहापातकाभिश्चस्तशुद्ध्यशुद्धिविचारात्मिका तप्तभाषादिरूपा  
दिव्यमिति यावत् । सामान्यतो भद्रानिषेधेऽपि पुनर्भद्रानिषेधो ‘रात्रिभद्रा  
यदा हि स्यात्’ इत्यादिपरिहाराणामप्यनवकाशतां सूचयितुमुपात्तः ।  
जन्मभस्य नाडीनक्षत्रत्वादेव निषेधे पुनरूपादानमावश्यकत्वं द्योतयितु-  
म् । जन्ममासस्य तु पुनर्निषेधो नाद्यगर्भविषये यथा स्यादित्येवमर्थम् ।  
सामान्यवाक्यमाद्यगर्भविषयमेव, एतच्चाग्रे निर्णोप्यते । एवं परीक्षायां  
निषिद्धनिमित्तान्यभिधाय विहितनिमित्तान्याह—द्वयंग इति । तनुलव  
इति प्रत्येकं संबंधः । द्वयंगे द्विस्वभावे मिथुनकन्याधनुर्मनरूपे तनौ लग्ने  
अंशे नवांशे च द्विस्वभावे तथा चरे मेषकर्कतुलामकररूपे लग्ने नवांश  
च तथा शशिजीवताराशुद्धौ चंद्रशुद्धौ गुरुमुद्धौ, ताराशुद्धौ च सत्या-  
म् । एषां शुद्धिश्च गौचरप्रकरणेऽभिधास्यते । तथा करादितिहरीन्द्रकपे

करो हस्तः, अदितिः पुनर्वसुः, हरिः श्रवणः, इंद्रो ज्येष्ठा, कपो वरुणः  
तद्भं शततारका एषु च भेषु परीक्षा स्यादित्यर्थः । अत्रानुक्तोपि  
प्रातःकालोतिशस्तः । उक्तं च दीपिकायां—“ नो शुक्रास्तेष्टमाकं गुरु-  
सहितरवौ जन्ममासेष्टमैदौ विष्टौ मासे मलाख्ये कुजशनिदिवसे जन्म-  
तारासु चाथ । नाडीनक्षत्रहीने सुरगुरुरजनीनाथताराविशुद्धौ प्रातः  
कार्या परीक्षा द्वितनुचरगृहांशोदये शस्तलग्ने ॥ ” इति । व्यवहारोच-  
यः—“ अष्टम्यां च चतुर्दश्यां प्रायश्चित्तपरीक्षणो । न परीक्षाधिवासश्च  
शनिमौमदिने भवेत् ॥ ज्येष्ठाश्रवणहस्ताश्च तथा ज्ञेयः पुनर्वसुः । तद्भ-  
च्छ्रुतमिषा प्रोक्ता त्वभियुक्तविचारणे ॥ ” इति । अभियुक्तः सुवर्णस्ते-  
यादिपातकसंभावनावांस्तस्य विचारणे शुद्ध्यंशुद्धिनिर्णये । नाडीनक्ष-  
त्राणि दीपिकायामुक्तानि । “जन्माद्यं कर्म ततो दशमभं सांघातिकं च  
षोडशकं । समुदायमष्टादशमं धिनाशसंज्ञं त्रयोविंशम् ॥ “आद्यात्तु पंचविं-  
शं मानसमेव नरः षष्ठः । नवनक्षत्रान्नुपतिः स्वजातिदेशोभिषेकज्ञैः ॥”  
इति । एतानि नाडीनक्षत्राणीति वाक्यशेषो दीपिकाकृताभिहितः ।  
जातिब्राह्मणादिका तन्नक्षत्राणि—“ पूर्वार्चयं सानिलमग्रजानाम् ” इति  
वराहोक्तानि । तद्वाक्यं च भया यात्राप्रकरणे लिखिष्यते । देशोऽर्गलापु-  
रादिकः । तन्नक्षत्राणि शतपदचक्रानुसारेण ज्ञेयानि । तद्वाक्यं च नाम-  
कर्मप्रकरणे लिखिष्यते । यस्मिन् पुण्यादिके नक्षत्रेऽभिषिक्तो राजा  
तदभिषेकज्ञम् ॥ ४३ ॥

अथ सामान्यतः समस्तशुभकार्येषु लग्नशुद्धिमनुष्ठमाह—

व्यधाष्टशुद्धोपचये लग्नगे शुभदृग्युते ।

चन्द्रे त्रिषड्दशायस्थे सर्वारम्भः प्रसिद्ध्यति ॥४४॥

व्यधेति । व्ययो द्वादशस्थानमष्ट अष्टमस्थानमेतत्स्थानद्वयं शु-  
द्धं शुभपापग्रहसाहित्यदोषरहितं यस्मिन् तादृशे स्वजन्मराशेः स्वज-  
न्मलग्नाद्वोपचयभवने त्रिषडेकादशदशमस्थाने लग्नगते शुभग्रहैर्दृष्टे युते  
तथा चन्द्रे त्रिषड्दशमायस्थानस्थिते सति सर्वे षां शुभकार्याणामारम्भः  
प्रसिद्ध्यति । यदाह वसिष्ठः—उपचयमे लग्नगते व्ययनैघनशुद्धिसंयुते  
लग्ने । उपचयगे शीतकरे मंगलकर्माणि कार्याणि ॥ ” इति ॥ ४४ ॥



अथ नक्षत्रेषु ज्वरोत्पत्तौ सत्यां तन्निवृत्तौ दिनसंख्यादिकं द्वितीयो-  
पजातिकयोपेन्द्रवज्रया चाह—

स्वातीन्द्रपूर्वाशिवसार्पभे मृति-  
ज्वरेन्त्यमैत्रे स्थिरता भवेद्रुजः ।  
याम्यश्रवोवारुणतक्षमे शिवा  
घस्त्राहिपक्षो द्व्यधिपार्कवासवे ॥ ४५ ॥  
मूलाग्निदास्रं नव पित्र्यभे नखा  
बुध्न्यार्यमेज्यादितिधातृभे नगाः ।  
मासोऽब्जवैश्वेऽथ यमाहिमूलभे  
मिश्रेशपित्र्ये फणिदंशने मृतिः ॥ ४६ ॥

स्वातीन्द्रेति । स्वाती, इन्द्रो ज्येष्ठा, पूर्वास्तिस्रः, शिव आर्द्रा, सार्प-  
भमाश्लेषा, एषु भेषु ज्वरे पुंसः स्त्रियो वा ज्वरोत्पत्तौ मृतिरेव स्यात् ।  
उक्तं च वसिष्ठेन—“पूर्वात्रयस्वातिभुजङ्गरौद्रसुरेश्वरक्षेषु च यस्य रोगः ।  
स्याद्रक्षितुं देवचित्सकोऽपि क्षितावशक्तः खलु रोगिणं च ॥” इति । दे-  
वचित्सको देववैद्यो धन्वंतरिः । अथान्त्यमैत्रे रेवत्यनुराधयोज्वरोत्पत्तौ  
रुजो रोगस्य स्थिरता भवेत् बहुकालेन रोगनिवृत्तिः स्यादित्यर्थः ।  
तथा भरण्यादिनक्षत्रचतुष्के शिवा एकादश घस्त्रा दिवसाः रोगस्थैर्यं  
स्यात्तदनन्तरं रोगमुक्तिरिति सर्वत्र व्याख्येयम् ‘धस्त्रो दिनाहनी वा तु’  
इत्यमरः । द्व्यधिपं विशाखा, अर्को हस्तः, वासवं धनिष्ठा, एषु त्रिषु  
भेषु पक्षः पंचदशदिवसा रोगस्थैर्यस्य । मूलकृत्तिकाश्विनीषु त्रिषु नव  
दिवसाः । पित्र्यभे मघायां नखा विंशतिर्दिवसाः । ‘नामैकदेशे नामग्रह-  
णम्’ इति न्यायेन बुध्न्योऽहिर्बुध्न्य उत्तराभाद्रपदा अर्यमोत्तराफल्गुनी  
इज्यादितिधातृभानि प्रसिद्धानि एषु पंचभेषु नगाः सप्तदिवसाः । अब्ज-  
वैश्वे मृगोत्तराषाढयोर्द्वयोर्मासस्त्रिंशद्दिनानि रोगस्थैर्यं ततो रोगनिवृ-  
त्तिः । यदाह वसिष्ठः—“कृच्छ्रात्स्फुटं प्राणिति मित्रपौष्णधिष्ये च मासा-  
च्छशिबिम्बधिष्ये । रोगस्य मुक्तिः पितृदेवधिष्ये वारैर्भवेद्विंशतिभिश्च  
नूनम् ॥” इति । प्राणिति जीवतीत्यर्थः । “पक्षाढसुद्वीशकरेषु भेषु मूला-

श्विनाग्नित्रितये नवाहात् । तोयेशचित्रान्तकविष्णुभेषु नैरुज्यमेकादश-  
भिर्दिनैश्च ॥ पुष्ये त्वहिर्बुध्न्यपुनर्वसौ च ब्रह्मार्यमर्क्षेषु च सप्त  
रात्रात् ॥” इति ॥

रोगनिवर्त्तकशान्तिः—

अत्र शीघ्रं रोगविमुक्तये संक्षिप्ता शांतिरप्यभिहिता वसिष्ठेन “ऋ-  
क्षेशरूपं कनकेन कृत्वा तल्लिगमंत्रैश्च सुगन्धिपुष्पैः । वस्त्राक्षतैर्गुग्गु-  
लधूपदीपनैर्बेद्यतांबूलफलैश्च सम्यक् ॥ पूजां च कृत्वाऽऽमयनाशनाय  
द्विजाय दद्यादतुलं शिवाय ॥ ” इति । आमयो रोगः । अतुलमपरिभि-  
तद्रव्यम् । प्रत्येकनक्षत्रशांतिर्विशदा नक्षत्रशांत्यध्याये वसिष्ठेनोक्ता । सा  
तत एव सम्यगवधार्या ।

एतेषु भेषु सर्पदंशे मृत्युः—

अथ सर्पदंशे नक्षत्राण्याह—अथेति । अथानंतरं यमाहिमूलभे भरण्या-  
श्लेषामूलेषु तथा मिश्रेशपित्र्ये कृत्तिकाविशाखाद्रामघासु एवं सप्तसु भेषु  
यस्य कस्यचित्फणिदंशने सर्पदंशे मृतिर्मरणमेव भवेदित्यर्थः । यदाह व  
सिष्ठः—“मघाविशाखानलसार्पयाम्यनैऋत्यरौद्रेषु च सर्पदष्टः । सरक्षितो  
विष्णुरथेन सोपि प्राप्नोति कालस्य मुखं मनुष्यः ॥ ” इति । विष्णुरथे-  
न गरुडेन । अत्र सर्पदंशे यस्यैषु नक्षत्रेषु गोचरवशेन चन्द्रबलं न भ-  
वति तस्यैव सर्पदंशेऽवश्यमरणं स्यात् । उक्तं च दीपिकाटीकाकृता-  
च्युतभट्टेन—“यद्यत्र चन्द्रस्तस्यैव गोचरे चाशुभप्रदः । तदा नूनं भ-  
वेन्मृत्युः सुधासंसिक्तदेहिनः ॥ ” इति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

अथ शीघ्ररोगमरणो विशिष्टं योगं द्वितीयोपजातिकयाह—

रौद्रादिशाक्राम्बुपथाम्यपूर्वा-

द्विदैववस्वग्निषु पापवारे ।

रिक्ताहरिस्कन्ददिने च रोगे

शीघ्रं भवेद्रोगिजनस्य मृत्युः ॥ ४७ ॥

रौद्रादीति । रौद्रादीनि भाणि प्रसिद्धानि, पापवाराः सूर्यमौमशनयः,  
रिक्ताः प्रसिद्धाः, हरिर्द्वादशी, स्कन्ददिनं षष्ठी । एतास्तिथयः एवंविधे विशि-  
ष्टयोगे यस्य रोगोत्पत्तिर्भवेत्तस्य रोगीजनस्य शीघ्रं मृत्युर्भवेत् । उक्तं



च दैवज्ञमनोहरे—“उरगवरुणरुद्रा वासवैन्द्रत्रिपूर्वा यमदहनविशाखाः पा-  
पवारेण युक्ताः । तिथिषु नवमिषष्टी द्वादशी वा चतुर्थी सहजमरणयोगो  
रोगिणां कालहेतुः ॥” इति । चतुर्थीग्रहणं चतुर्दश्युपलक्षकं मत्वा  
मूले रिक्ताग्रहणं कृतम् । एतएवाह वसिष्ठः—“आश्लेषार्द्रा त्रिपूर्वाय-  
मवरुणमरुच्छक्रतारानलाः स्युर्द्वादश्यां स्कन्दरिक्तातिथिषु च रवि-  
जाकारवारेषु येषाम् । रोगः संजायते ते यमपुरमचिरात्प्राप्नुवन्त्येव  
चन्द्रे जन्मन्यष्टाख्यबंधुव्यमभवनगते मृत्युलग्ने च राशौ ॥”  
इति ॥ ४७ ॥

अथ प्रेतदाहमुहूर्तं प्रेतदाहादिनिषिद्धदिनं चेन्द्रवंशाच्छन्दसाह—

क्षिप्राहिमूलेन्द्रहरीशवायुभे  
प्रेतक्रिया स्याज्जम्भकुम्भगे विधौ ।  
प्रेतस्य दाहं यमदिग्गमं त्यजे-  
च्छय्यावितानं गृहगोपनादि च ॥ ४८ ॥

\* क्षिप्रेति । अश्विनीपुष्यहस्ताश्लेषामूलज्येष्ठाश्रवणार्द्रास्वाति-  
नक्षत्रेषु प्रेतक्रिया प्रेतानां प्रेतत्वविमुक्तिपूर्वकोत्तमलोकप्राप्तिकारकं  
आद्धादिकमं क्रियाशब्देनोच्यते । सा यदि कारणवशाच्छ्रवदाहसमये  
अकृता तदैषु भेषु कार्या स्यात् । उक्तं च हेमाद्रौ ज्योतिःपराशरेण—  
“साधारणध्रुवोर्ग्रैमैत्रेषु न शस्यते मनुष्याणाम् । प्रेतक्रिया न शस्ता  
त्रिपुष्करे यमलधिष्ये च ॥” इति । अत्रैतानि निषिद्धानि कृत्तिका-  
विशाखारोहिण्युत्तरात्रयं पूर्वात्रयं मघाभरणीमृगश्रित्रानुराधारेवतीत्येवं  
पंचदशभानि तथा त्रिपुष्करे त्रिपादनक्षत्रे तत्रान्येषु त्रिपादनक्षत्राणां  
उक्तभेष्वंतर्भूतत्वात्पुनर्वसुरवशिष्टः । तथा यमलधिष्ये द्विपादनक्षत्रे  
इति हेमाद्रिणा व्याख्यातम् । तत्र मृगश्रित्रयोर्मैत्रनक्षत्रेष्वंतर्भावाद्द्विनिष्ठा  
यमलधिष्ये अत्र गृह्यते । धनिष्ठापंचकेनिषेधश्चाधुनैव वक्ष्यते ।  
एवमष्टादशभानि प्रेतक्रियायां निषिद्धानि अवशिष्टानि भानि अश्विनी-  
पुष्यहस्ताश्लेषाज्येष्ठासूतश्रवणार्द्रास्वातीषु नव ऋक्षेषु प्रेतक्रिया  
कार्येत्यर्थादुक्तं भवति । अत एव तान्येव ग्रन्थकर्त्रोपनिबद्धानि—‘क्षिप्रा  
हि’ इत्यादिना । अत एव ‘कराश्वहिरुद्रपुष्यस्त्रातीन्द्र मूलहरिभेषु

मृतक्रियेष्टे'ति व्यवहारतत्त्वकत्रोक्तम् । ऋषकुम्भराशिस्थिते चन्द्रे सति धनिष्ठोत्तराद्धार्दादारभ्य शततारकापूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदारे-  
वतीषु प्रेतस्य मृतस्य दाहं ज्वलनं त्यजेन्न कुर्यात् । च पुनर्यमदि-  
ग्गमं दक्षिणदिशि गमनं यात्रां त्यजेत् । तथा शय्यायाः खट्वाया वि-  
तानं वयनं तथा गृहगोपनं गृहाच्छादनमादिशब्देन तृणकाष्ठसंग्रहं च  
त्यजेत् । यदाह वसिष्ठः—“वस्वपराद्धार्तापञ्चकधिष्ये कार्यं गृहस्य गो-  
पनं नैव । दक्षिणदिङ्मुखगमनं दाहं प्रेतस्य काष्ठसंग्रहणम् ॥” इति ।  
नारदः—“वस्यन्त्यार्द्धादिपञ्चके संग्रहं तृणकाष्ठयोः । याम्यदिग्गमनं श-  
य्यां न कुर्याद्गृहगोपनम् ॥” इति । श्रोपतिरपि—“वासवोत्तरदलादि-  
पञ्चके याम्यदिग्गमनगोहगोपनम् । प्रेतदाहतृणकाष्ठसंग्रहं छुष्यका  
विततनं चवर्जयेत् ॥” इति । त्रिविक्रमोपि—“शय्यावितानं प्रेतदि-  
क्रियां काष्ठतृणार्जनम् । याम्यदिग्गमनं कुर्यान्न चन्द्रे कुम्भमीनगे ॥” इति ।  
ननु प्रेतदाहे किं नक्षत्रांतरे मृतस्य धनिष्ठोत्तराद्धार्दिके दाहो न कार्यं  
इति, उत पंचक एव मृतस्य पंचके दाहो न कार्यं इति, आहोस्विद्यस्मि-  
न्कस्मिन्श्चन्नक्षत्रे पंचकातिरिक्ते पंचके वा मृतस्य पंचके दाहो न  
कार्यं इति त्रयः पक्षाः संभवन्ति । तत्र यदि विज्ञायते—नक्षत्रांतरे मृतस्य  
पंचके दाहो न कार्यं इति तर्हि पंचके मरणस्य दोषवत्ता न प्राप्नोति ।  
तच्चायुक्तम् । यस्मादुक्तं ब्रह्मपुराणे—“ कुम्भमीनस्थिते चन्द्रे मर-  
णं यस्य जायते । न तस्योर्ध्वगतिर्दृष्टा संततौ न शुभं भवेत् ॥ ”  
इति । यदिह विज्ञायते—पंचक एव मृतस्य पंचके दाहो न कार्यं इति  
तदपि न । श्रवणे धनिष्ठापूर्वार्धे च मृतस्य पंचके दाहनिषेधो न  
प्राप्नोति किंतु दाहः कर्तव्य इत्येव प्राप्नोति । अस्त्येवमिति चेन्न । प्रे-  
तस्य दाहं त्यजेदिति दाहस्यैव क्रियाकारकसंबन्धेन प्राधान्यतो निषे-  
धात् । किं च—“ त्रिगुणफलदो वृद्धौ नष्टे हृते च मृतेपि वा ”  
इति त्रिपुष्करयोगफलवत्पंचकमरणनिषेध एव वक्तव्ये दाहनिषेध-  
स्य पृथगुपादानात्कर्तव्यतापत्तिः । तस्माद्यस्मिन्कस्मिन्श्चिन्नक्षत्रे मृतस्य  
पंचके दाहो न कार्यं इति तृतीयः पक्षः साधीयान् । प्राधान्यादाहस्यैव  
निषेध इत्युक्तं प्राक् । अतः पंचकात्प्राङ्मरणदोषो नास्ति तथा तत्रैव-  
दाहोपि न दोषाय । यदि क्रियाकरणयशात्कालातिक्रमे सति पंचकप्र-  
वृत्तिस्तदा शान्तिं विधाय दाहः कार्यः । पंचके तु द्वयमपि निषिद्धं  
मरणं दाहश्चेति । उक्तं च ब्रह्मपुराणे—“कुम्भमीनस्थिते चन्द्रे मरणं यस्य



जायते । न तस्योर्ध्वगतिर्दृष्टा संततौ न शुभं भवेत् ॥ न तस्य दाहः कर्तव्यो विनाशः स्वेषु जंतुषु । पंचकानंतरं कार्यं कार्यं दाहदिकं खलु ॥ अथवा तद्दिने कार्यो दाहस्तु विधिपूर्वकम् ॥ ” रेवती-प्रान्ते मृतस्य रेवतीमपहाय दाहः कार्य इत्यर्थः । धनिष्ठोत्तरार्द्धादिमृतस्य दाहस्तु सद्य एव । पञ्चकस्य बहुकालव्यापित्वात्पर्युषितदाह-निषेधाच्च । स च दाहः शान्तिविधिपूर्वकः कार्यः । स विधिरुक्तो ब्रह्मपुराणे—“दाहदेशे शत्रं नीत्वा स्नापयेच्च प्रयत्नतः । दर्भाणां प्रतिमाः कार्याः पञ्चोर्णासूत्रवेष्टितः । यामपिष्टे नानुलिप्तास्ताभिः सह शवं दहेत् । प्रेतवाहः प्रेतसखः प्रेतपः प्रेतभूमिपः । प्रेतहर्त्ता पञ्चमश्च नामान्येतानि च क्रमात् ॥ ” इति । विशेषस्त्वन्त्येष्टिपद्धत्याद्रौ द्रष्टव्यः । नन्वत्र “त्रिगुणफलदौ बृद्धौ नष्टे हृते च मृतेषु वा” इति मरणनिषेध एव वक्तव्ये किं पुनर्दाहनिषेधेन । उच्यते । दोषाधिक्यसूचनार्थं हि पुनर्दाहनिषेधः । अत एव पञ्चके मृतस्य पुत्तलकविधानं कृत्वा दाहः कार्यः । ततः सूतकान्ते पुत्रादिभिः शान्तिकं च विधेयं । उक्तञ्च गरुडपुराणे—“ततो दाहः प्रकर्त्तव्यस्तैश्च पुत्तलकैः सह । सूतकान्ते तदा पुत्रैः कार्यं शान्तिकपौष्टिकम् । पञ्चके तु मृतो योऽसौ न गतिं लभते नरः । तिलांश्चैव हिरण्यं च तमुद्दिश्यधृतं दहेत् ॥ ” इति । अतो नक्षत्रान्तरे मृतस्य पञ्चके दाहप्राप्तौ पुत्तलकविधिरेव भवति । ततः सूतकान्ते शान्तिकं च । एवं पञ्चकान्ते मृतस्याश्विन्यां दाहप्राप्तौ पुत्तलकविधिर्न । किन्तु सूतकान्ते शान्तिकमेव विधेयमित्यलमतिप्रसङ्गेन । अत्र दीपिकायां—“छेदनं संग्रहं चैव काष्ठादीनां न कारयेत् । श्रवणादौ बुधः षट्के न गच्छेद्दक्षिणां दिशम्” इति यदुक्तं तच्चिन्त्यम् । आर्षमूलवाक्यानुपलब्धेर्गसिष्ठादिमुनिवाक्यविरोधाच्च । अत एव तट्टीकाकृताच्युतभट्टेनाप्यस्य श्लोकस्य व्याख्यानान्ते कदाचिच्छ्रवणधनिष्ठापूर्वार्द्धयोरेतानि समाचरेत् न ज्ञातु धनिष्ठोत्तरार्द्धादिपंचके तथा च रत्नमालायाम्—“वासवोत्तरदलादिपंचके” इत्यादिसंमतिवाक्यमुक्तम् । काष्ठादीनामित्यत्रादिशब्देन गृहगोपनं प्रेत-दाहं खट्वाया वयनं च न कुर्यादिति व्याख्यातम् ॥ ४८ ॥

अथ काष्ठ-गोमयपिण्डादीनां संग्रहमुद्धृतं शार्दूलविक्रीडितेनाह—  
(१) सूर्यर्चाद्रसभैरधःस्थलगतैः पाको रसैः संयुतः

(१) श्लोकोऽयं सर्वैरपि महामतिमद्भिः पीयूषधारासंस्करणकृद्भिः

शीर्षे युग्ममितैः शवस्य दहनं मध्ये युगैः सर्पभीः ।  
प्रागाशादिषु वेदभैः स्वसुहृदां स्यात्सङ्गमो रोगभीः  
काथादेः करणं सुखं च गदितं कष्टादिसंस्थापने ॥४६॥

सूर्यर्क्षादिति । स्पष्टार्थम् ।

अथ त्रिपुष्करयोगं सफलं वसन्ततिलकयाह—

भद्रातिथी रविजभूतनयार्कवारे  
द्वीशार्यमाजचरणादिति वह्निवैश्वे ।  
त्रैपुष्करो भवति मृत्युविनाशवृद्धौ  
त्रैगुण्यदो द्विगुणकृद्सुतक्षचान्द्रे ॥ ५० ॥

भद्रेति । भद्रासंज्ञिका तिथिः, द्वितीया, सप्तमी, द्वादशी । अत्र “रो-  
रि” इति रेफलोपे “दूलोपे पूर्वस्य दोर्घोऽणः” इति पूर्वस्याणो दीर्घः ।  
तथा शनिभौमयोर्वारि तथा द्वीशं विशाखा, अर्यमोत्तराफल्गुनी, अज-  
चरणः पूर्वाभाद्रपदा, अदितिः पुनर्वसुः, वह्निः कृत्तिका, विश्वमुत्त-  
राषाढा, एषु षट्सु नक्षत्रेषु उक्ततिथिवारनक्षत्ररूपविशिष्टयोगे सति  
त्रिपुष्करः । त्रिपुष्कर एव त्रैपुष्करः । “प्रज्ञादिभ्यश्च” इति स्वार्थेऽण् ।  
त्रिपुष्करयोगो भवतीत्यर्थः । कोटशः, मृत्युविनाशवृद्धौ त्रैगुण्यदः ।

पुस्तकादेव परित्यक्त इति प्रमिताक्षरातः समानीय रक्षितः । एतद्व्या-  
ख्यापीत एव मयोच्यते । सूर्यर्क्षात् सूर्याधिष्ठितनक्षत्रादारभ्य षड् नक्षत्रा-  
णि याददधः स्थलगतानि तेषु काष्ठादिनिवेशने रसयुक्तः पाको भवति ।  
ततो द्वे नक्षत्रे शीर्षे स्थाप्ये तयोः कष्टादिसंस्थापने तैः (काष्ठादिभिः)  
शवस्य (मृतस्य) दहनं (दाहो) भवति । चत्वारि नक्षत्राणि मध्यगतानि-  
कार्याणि तेषु सर्पभीः सर्पभयमर्थात्तत्र सर्पाणां निवसत्वेन भयमूहम् ।  
प्रागाशादिष्विति, पूर्वादिचतुर्दिक्षु चत्वारि चत्वारि नक्षत्राणि स्थाप्या-  
नि तेषु क्रमेण स्वसुहृदां सङ्गमः, रोगभीः, काथादेः करणम्, सुखमिति-  
चतुष्टयमर्थतः पूर्वदिग्गतनक्षत्र चतुष्टये काष्ठादिसन्निवेशने निजमित्रस-  
मागमः, दक्षिणदिग्गतेषु रोगभयम्, पश्चिमदिग्गतेषु काथा- (‘काढ़ा’ इति-  
मैथिली) दिकरणम्, उत्तरगतेषु नक्षत्रेषु सुखं भवतीति ।



तद्दिने यदि कश्चिन्म्रियेत तदा तदीयास्तत्सहितास्त्रयो म्रियेरन् । यदि किञ्चिद्वस्तु विनष्टं तदा तस्य वस्तुत्रयनाशः तथा किञ्चिद्वस्तु लब्धं तदा त्रिगुणतद्वस्तुलाभ इत्यर्थः । उक्तं च वसिष्ठेन—  
 “रविरविजभौमवारे भद्रायां विषमपादमृक्षं चेत् । त्रैपुष्कराख्य-  
 योगस्त्रिगुणफलो यमलमैर्द्विगुणः ॥” इति नारदेनापि—अर्काकिंभौ-  
 मवारे चेद्भद्रायां विषमांघ्रिभम् । त्रिपुष्करस्त्रिगुणदो द्विगुणो यमलां-  
 घ्रिभे” इति । अत्र यस्मिन्नक्षत्रे प्रथमपादान्ते तृतीयपादान्ते वा राशि-  
 समातिस्त्रिगुणपादमृक्षमुच्यते । तदेव स्पष्टं ‘द्वीशार्यमा’ इत्यादिनोप-  
 निबद्धम् । अथ वासवो धनिष्ठा, तद्वा चित्रा, चान्द्रं मृगः, एतानि  
 भानि भद्रास्तिथयो रविजभूतनयार्कवाराश्च । अत्रापि विशिष्टयोगे सति  
 द्विपुष्करनामा योगो भवति । तत्फलं—मृत्युविनाशवृद्धौ द्वैगुण्यकृत ।  
 ते नष्टे वृद्धौ द्विगुणतां करोतीत्यर्थः । “द्विगुणो यमलाङ्घ्रिभे” इत्यु-  
 क्तेः । यन्नक्षत्रे द्वितीयचरणान्ते राशिसमातिस्त्रिगुणपादमृक्षमुच्यते । तच्च  
 मृगचित्राधनिष्ठारूपमेव ।

त्रिपुष्करादायेव मरणे शान्तिः, गुरुवारयोगेपि त्रिपुष्करयोगश्च—

अथ दैवात्रिपुष्करादिके तिथिवारनक्षत्रात्मके विशिष्टयोगे सति क-  
 स्यचिन्मरणसंभवस्तदा तद्दोषशान्त्यर्थं दानं विधेयम् । यदाह वसिष्ठः—  
 “त्रितयं गवां हि दद्याद्दोषस्थापनुत्तये विद्वान् । द्वितयं द्विपुष्करेऽपि च  
 तिलपिष्टैर्विप्रमुख्येभ्यः ॥” इति । द्वितयं गवाभिति शेषः । अत्र तिथिवार-  
 योरभावे केवलं विषमांघ्रिभे यमलांघ्रिभे वा मरणसंभवे दोषो नास्तीत्यर्थः ।  
 अमुमर्थं स्पष्टमाह नारदः—“दद्यात्तद्दोषनाशाय गोत्रयं मूल्यमेव वा ।  
 द्विपुष्करे द्वयं दद्यान्न दोषस्त्वर्द्धमात्रतः ॥” इति । अत्र त्रिपुष्करयोगे  
 क्वचिद्बृहस्पतिवारोऽप्युक्तः । यदाह कश्यपः—“भद्रातिथिशनी-  
 ज्यारवारेचेद्विषमांघ्रिभम् । त्रिपुष्करं त्रिगुणदं द्विगुणं द्वयंघ्रिभे मृतौ”  
 इति । इदमेव दृष्ट्वा श्रोपतिनाप्युक्तं—“विषमचरणं धिष्यन् भद्रा-  
 तिथिर्यदि जायते सुरगुरुशनिद्विमापुत्राणां कथंचन वासरे । मुनिभिरु-  
 दितः सोयं योगस्त्रिपुष्करसंज्ञितस्त्रिगुणफलदो वृद्धौ नष्टे हते च मृ-  
 तेपि वा ॥” इति । अस्य पूर्वोक्तवाक्यस्य चैकवाक्यतां देवाः  
 कर्तुमर्हन्ति । कश्यपवाक्ये मृताविति पदोपादानान्मरण ए-  
 वायं विचारो नतु नष्टे वृद्धौ च । तदुक्तं ब्रह्मपुराणेपि—

“धनिष्ठापंचके जीवो मृतो यदि कथंचन । त्रिपुष्करे याम्य-  
भे च कुलजान्मारयेद्भुवम् ॥ तदनिष्टविनाशार्थं विधानं समुदीर-  
येत् ।” इति । ग्रंथकर्त्रा तु श्रीपत्युक्तिमंगीकृत्य मृत्युविनाशवृद्धावित्यु-  
क्तम् । वसिष्ठनारदवाक्ययोः सामान्यतोऽभिधानं दानं च मृतावेवेति  
विषयविवेकः ॥ ५० ॥

अथ शवप्रतिकृतिदाहे निषिद्धकालं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

शुक्रारार्किषु दर्शभूतमदने नन्दासु तीक्ष्णोग्रभे  
पौष्णे वारुणभे त्रिपुष्करदिने न्यूनाधिमासेऽयने ।  
याम्येऽब्दात्परतश्च पातपरिधे देवेज्यशुक्रास्तके  
भद्रावैधृतयोः शवप्रतिकृतेर्दाहो न पक्षे सिते ॥ ५१ ॥

शुकरेति । एवंविधे दिने शवस्य मृतस्य प्रतिकृतिः पर्यंशरादिना सा-  
वयवत्वकल्पनं तस्य दाहो न कार्यः । कुतः । यतो द्विविधः प्रेतसंस्कारः  
प्रत्यक्षशरीरस्यैकः । प्रतिकृतेरन्यः । तत्र प्रत्यक्षशरीरसंस्कृतौ शुभाशुभ-  
दिनविचाराभावः । यदाह गार्ग्यः—“प्रत्यक्षशवसंस्कारे दिनं नैव विशो-  
ध्येत् ।” इति । प्रतिकृतिसंस्कारस्य हि कालत्रयं—आशौचमध्ये वर्षमध्ये  
वर्षानंतरं चेति । अत्राशौचमध्ये यदि प्रतिकृतिसंस्कारश्चिकीर्षितस्तदा  
यथासंभवं दिनशुद्धिर्विचार्या । वर्षमध्ये वर्षानंतरं वा प्रतिकृतिसं-  
स्कारस्तदा अवश्यं कालशुद्धिर्विचार्या । एतदप्याह गार्ग्य एव—  
“आशौचमध्ये क्रियते पुनः संस्कारकर्म चेत् । शोधनीयं दिनं तत्र यथा-  
संभवमेव तु ॥ आशौचविनिवृत्तौ चेत्पुनः संस्क्रियते मृतः । संशोध्यैव  
दिनं ग्राह्यमूर्ध्वं संवत्सराद्यदि ॥ प्रेतकार्याणि कुर्वीत” इति । अत ए-  
वोक्तम् ‘आशौचात्परतो विचार्यमखिलं मध्ये यथासम्भवम्’ इति एत-  
द्वाक्यमत्रैव स्पष्टं व्याख्यास्यते । तत्र दिनशुद्धिरुच्यते । शुक्रारेत्यादि-  
ना । शुक्रः प्रसिद्धः, आरौ मंगलः, आर्किः शनिः, एषां वारे प्रतिकृतेर्दा-  
हो नेति प्रत्येकं संबंधः । तथा दशोऽमावस्या, भूतश्चतुर्दशी, मदनख-  
योदशी, नन्दाः प्रतिपत्पष्ठ्येकादश्यः, आसु तिथिषु दाहो न कार्यः । य-  
दाह मरीचिः—“नन्दायां भार्गवदिने चतुर्दश्यां त्रिपुष्करे । पितृधाद्धं  
न कुर्वीत गृहो पुत्रधनक्षयात् । एकादश्यां तु नन्दायां सितीवाल्यां भृगो-  
र्दिने । नमस्ये च चतुर्दश्यां कृत्तिकासु त्रिपुष्करे ॥” इति—द्वितीयवा-



क्यमतिदुष्टताकथनार्थम् । सिनीवाल्ल्याममावास्यायां भृगोर्दिने शुक्रवारे इति सम्बन्धो व्याख्येयः । अत्र आद्यं न कुर्वीतेत्यनुषङ्गः । आद्यशब्देनात्र प्रेतक्रिया विवक्षिता । तथा तीक्ष्णोप्रभे—मूलज्येष्ठाद्राश्लेषोस्तीक्ष्णानि, उग्राणि पूर्वात्रयभरणीमघाः, पौष्णे रेवत्याम्, वारुण्ये शततारकासु, त्रिपुष्करदिने—भद्रातिथयः सूर्यभौमशनिवारः, कृत्तिकापुनर्वसुत्तराफल्गुनीविशाखोत्तराषाढापूर्वाभाद्रपदाः, एतद्विषयसंहतिरूपदिने, प्रतिकृतेर्दाहो न कार्य इति केचिद्व्याकुर्वन्ते । तत्र, पूर्वपद्येनैव निषेधसत्त्वात् । ननु प्रत्यक्षमृतौ स निषेधो नतु प्रतिकृतिदाहे । एवं तर्हि सम्मतिवाक्याभावाच्चायमर्थ इति ब्रूमः । तदुक्तं ज्यांतिःपराशरेण—“साधारणे ध्रुवोप्रे मैत्रे नो शस्यते मनुष्याणाम् । प्रेतक्रिया कथंचित्रिपुष्करे यमलधिष्ण्ये वा ॥” इति । अत्र त्रिपुष्करशब्देन विशिष्टो योगो विवक्षित इति चेत्, अत्र ब्रूमः—त्रिचरणानक्षत्राण्येव त्रिपुष्करपदेनोच्यन्ते । अतो हेमाद्रिणापि कृत्तिकादीन्येव त्रिचरणानि भानि त्रिपुष्करशब्देन व्याख्यातानि । अत एवाह कश्यपः—“भरण्यार्द्रा मघाश्लेषा मूलं त्रिचरणानि च । प्रेतक्रियातिदुष्टानि धनिष्ठाद्यं च पञ्चकम् ॥” इति । पराशरवाक्ये बहूनि प्रेतकृत्ये सामान्यतो निषिद्धानि । कश्यपवाक्येऽन्यान्यपि दुष्टान्युक्तानि । इदमेवाभिप्रेत्य ग्रन्थकृतोक्तानि । तत्र धनिष्ठाया अग्रहरणं मध्यमेषु भेषु ग्रहणस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

अथ न्यूनधिमासे क्षयमासे अधिमासे च शवप्रतिदाहो न कार्यः । उक्तं च ज्योतिर्निबन्धे गरुडपुराणे—“न कुर्याद्गुरुशुक्रास्ते पौषे स्वापे मलिम्लुचे । विलम्बितं प्रेतकार्यं गयां गोदावरीं विना ॥” इति । मेधातिथिः—“अस्तङ्गते गुरौ शुके पौषाषाढाधिमासके । प्रेतकार्यं न कुर्वीत गयां गोदावरीं विना ॥” इति । अधिमासस्योपलक्षणत्वात् क्षयमासेपि न कार्यं प्रेतकार्यमित्यर्थः । अत एव मूले न्यूनमासनिषेधः । अथाब्दादेकस्माद्वर्षात्परतः ऊर्ध्वं याम्यायने दक्षिणायने कर्कादिषड्राशिस्थिते सूर्ये न दाहः कार्यः । अर्थादुत्तरायणं सम्यक् । उपलक्षणत्वादवमदिनमपि निषिद्धम् । उक्तं च गार्ग्येणः ‘ऊर्ध्वं संवत्सराद्यदि । प्रेतकार्याणि कुर्वीत श्रेष्ठं तत्रोत्तरायणम् । कृष्णपक्षश्च तत्रापि वर्जयेत्तु दिनक्षयम् ।” इति । गरुडपुराणेपि—“न कुर्याद्गुरुशुक्रास्ते पौषे स्वापे मलिम्लुचे । विलम्बितं प्रेतकार्यं गयां



गोदावरीं विना ॥” इति । यदत्र वाक्ये पौषस्वापयोर्निषिद्धत्वान्मार्ग-  
शीर्षस्य मध्यमत्वं प्रतीयते तदावश्यकविषयम् । प्रथमवर्षे तु दक्षिणा-  
यनमपि शुभमेव । पातपरिधे व्यतीपाताख्ये योगे गणितागते । व्यतीपा-  
ताख्ये महापात इत्यपि केचित् । परिधाख्ये योगे तथा देवेज्यशुक्रास्तके ।  
शुक्रशुक्रयोरस्ते । अत्र स्वार्थे कः । तथा भद्रावैधृतयोः भद्रावैधृतौ प्रसिद्धौ,  
गणितसाध्यो वैधृताख्ये महापाते इत्यपि केचित् । तथा सिते पक्षे शुक्लप-  
क्षे शवप्रतिकृतैर्दाहो न कार्यः । तदुक्तं नारदेन श्राद्धलक्षणाध्याये—“चतु-  
र्दशीं तिथिं नन्दां शुक्रभौमार्किवासरम् । सितेज्ययोरस्तमयं द्व्यग्निमं  
विषमाग्निभम् ॥ शुक्लपक्षं च सन्त्यज्य पुनर्दहनमुच्यते ।” इति । अन्य-  
त्रापि—“नन्दामदनभूतायां पातवैधृतिविष्टिषु । शुक्रार्किभौमपरिधध्रुव-  
मिश्रोग्रमैत्रभे । कर्तुंश्चन्द्रेष्टवेदान्त्ये जन्मप्रत्यरितारके । त्रिपादमे सिते  
पक्षेऽयने याम्येवदतः परम् । शवप्रतिकृतैर्दाहः शुक्रेस्ताधिकमासके ।  
नेष्टो मध्यो द्विपात्मैत्रद्वीशादितिभगध्रुवे ॥” इति ॥ ५१ ॥

अन्यदपि शार्दूलविक्रीडितेनाह—

जन्मप्रत्यरितारयोर्मृतिसुखान्त्येऽब्जे च कर्तुर्न स-  
न्मध्यो मैत्रभागादितिध्रुवविशाखाद्वयङ्घ्रिभे ज्ञेऽपि च ।  
श्रेष्ठोऽर्केज्यविधोर्दिने श्रुतिकरस्वात्यश्विपुष्ये तथा

त्वाशौचात्परतो विचार्यमखिलं मध्ये यथासम्भवम् ॥५२॥  
जन्मप्रत्यरितारयोरिति । तथा कर्तुः प्रेतश्राद्धाद्यधिकरिणो जन्मप्रत्य-  
रितारयोः जन्मतारा उत्पत्तिनक्षत्रं दशममेकोनविंशं चेति । प्रत्यरितारा  
जन्मभात्पंचमं चतुर्दशं त्रयोविंशं चेति तेषु । तथा कर्तुर्मृतिसुखान्त्येऽब्जे  
स्वजन्मराशेरष्टमचतुर्थद्वादशस्थे चन्द्रे सति दाहो न सन् न प्रशस्तः ।  
तदुक्तं वाराहपुराणे—“चतुर्थाष्टमगे चन्द्रे द्वादशे च विवर्जयेत् ।  
प्रेतकृत्यं व्यतीपाते वैधृतौ परिधे तथा । करणे विष्टिसंज्ञे च शनैश्चर-  
दिने तथा ॥” इति । विष्टिसंज्ञं करणं भद्रा । महाभारते—“नञ्च  
हि न कुर्वीत यस्मिञ्जातो भवेन्नरः । न प्रौष्ठपदयोः कार्यं तथाग्नेयेपि  
भारत ॥ दारुणेषु च सर्वेषु प्रत्यरि च विवर्जयेत् ॥” इति । प्रौष्ठपदयोः  
पूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदयोः । आग्नेये कृत्तिकायाम् । कालविशेषादिकं  
नारदेनोक्तम्—“दिनोत्तरार्द्धे तत्कर्तुंश्चन्द्रतारावलान्विते । पाप-  
ग्रहे बलयुते शुक्लप्रांशवर्जिते ॥ तत्पुनर्दहनं प्रोक्तम् ॥” इति ॥



प्रतिकृतिदाहे मध्यमनक्षत्राणि—

अथ शवप्रतिकृतिदाहे मध्यमनक्षत्राण्युच्यन्ते । मैत्रमनुराधा, भगः पूर्वाफलगुनी, अदितिध्रुवविशाखाः प्रसिद्धाः, द्वयंघ्रिभं मृगचित्रा-धनिष्ठाः, एषु द्वेपि बुधवारेपि शवप्रतिकृतिदाहो मध्यमः । न शुभफल-दो नाप्यनिष्टफलद इत्यर्थः । उक्तं च कश्यपेन—“फलगुनीद्वितयं रोहि-ण्यनुराधा पुनर्वसुः । द्वे आषाढे विशाखा च भानि द्विचरणानि च ॥ ए-तानि किञ्चिद्दृष्टानि वर्जयेत्सति संभवे ॥” इति । “नेष्टो मध्यो द्विपान्मैत्र-द्वोशादितिभगध्रुवे” इति चेत्युक्तेर्बुधे संमत्यभावः । अर्केज्यविधौऽर्के-ज्याभ्यां सहितो विधुरिति मध्यपदलोपी समासः । सूर्यगुरुचन्द्राणां दिने वारे दाहः श्रेष्ठः । तथा तेन कारणेन श्रुतिकरस्वात्यश्विपुष्ये एषु नि-षिद्ध्यनक्षत्रगणानुबर्णितेषु पंचसु भेषु शवप्रतिकृतेर्दाहः श्रेष्ठोऽनुष्ठीयमा-नः शुभफलद इत्यर्थः । आशौचात्परत इत्यादिव्याख्यातार्थम् । ननु प्रति-कृतिसंस्कारः किंनिमित्तः । उच्यते, दैवान्मानुषाद्वापराधान्मृतस्य विधि-वद्दाहो नाभूत्किन्तु काष्ठवद्दाहो जातोऽथवापरदेशगतस्य चौरदंष्ट्रादि-हतस्य तद्गीतेरेव केन चित्काष्ठवद्दाहोपि न कृतोऽथवैकाकित्वान्न जातस्त-दा प्रतिकृतिदाहो विधेयः । उक्तं च ब्रह्मपुराणे—“अनाहिताग्नेर्देहस्तु दह्यो गृह्याग्निना द्विजैः । तदभावे पलाशोत्थैः पत्रैः कार्यः पुमानपि ॥ सुपिष्टैर्जलसंभिधैर्दग्धव्यश्च तथाग्निना । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहेत्युक्त्वा सबांधवैः ॥ एवं पराशवं दग्ध्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥” इति । तदभावे देहाभावे तथाग्निना गृह्याग्निना । अपिशब्दात्स्त्रीमरणे तद्देहाभावे स्यपि पलाशोत्थैः पत्रैः कार्येत्यर्थः ॥

आहिताग्निमरणविषये तु निर्णयस्त्रिधा—

अहिताग्नेस्तु श्रौतसूत्रोक्तविधिमाहापस्तंबः—“यद्याहिताग्निः प्रो-षितः प्रमीतो न प्रज्ञायेत स यां दिशमभिप्रस्थितस्तां दिशमस्याग्नि-भिः कक्षं दहेयुरपि वा वाजसनेयकमिति त्रीणि षष्टिशत्यापि पलाश-वृंतानि तैः कृष्णाजिने पुरुषाकृतिं कृत्वा तामस्याग्निभिर्दहेयुः” इति वा अत्र पक्षद्वयम् । यथा—प्रवासगतो यदि न प्रज्ञायेत प्रमीत इति अतो मृत इत्येवमनिर्णये स यां दिशं प्रति प्रस्थितो भवेत्तस्यां दिशि यः कक्षोऽकृष्टोभूमिप्रदेशस्तृणवांस्तं देशमस्य मृतस्य प्रतिकृतिभाव-नया श्रौताग्निभिस्तृष्णीं दहेयुर्बांधवाः पितृमेधविधिना । अयमेक पक्षः ।

अपि वा अथ वा त्रीणि षष्ठ्युत्तराणि शतानि ३६० पलाशवृन्तानि पलाशानि पर्णानि यत्र तिष्ठन्ति तादृशानि वृन्तानि संपाद्य तैर्वृन्तैः पलाशवृक्षीयैस्त्रिपत्रैर्वृन्तैः कृष्णाजिने पुरुषाकृतिं कृत्वा तामाकृतिमस्याग्निमिः पितृमेधविधिना दहेयुरिति वाजसनेयिनां मतमिति द्वितीयः पक्षः । पराशरेण तु—‘कुशैः प्रतिकृतिः कार्या’ इत्युक्त्वा—“कृष्णाजिने समास्तीर्य कुशैस्तु पुरुषाकृतिम्” इत्युक्तम् । कुर्यादिति शेषः । अत्र पलाशवृन्तकुशविध्योरन्यतरेणानुष्ठानम्, ब्रीहियववचतुल्यबलत्वात् । शवप्रतिकृतिदाहानुष्ठानविधिस्तु शौनकाद्युक्तदिशा ज्ञेया । नात्राप्रस्तुतत्वाल्लिख्यते ।

तत्र प्रतिकृतिविधिहेतुश्च—

अयं च पलाशवृन्तादिभिः प्रतिकृतिविधिरस्थ्यलाभे । यदा तु मृतास्थनां लाभस्तदा तैरेव प्रतिकृतिः कार्या । तदुक्तं छंदोगसूत्रे—“अथातः पुनर्दाहविधिं व्याख्यास्यामो यदि शरीरं नश्येदस्थीन्यादायास्थीनि क्षीरोदेकेन प्रक्षाल्यास्थिभिः कृष्णाजिने पुरुषाकृतिं कृत्वा पूर्ववद्दहेत्तेषामलाभे पलाशवृन्तैः कृष्णाजिने पुरुषाकृतिं कृत्वा चत्वारिंशता शिरो दशभिर्ग्रीवां विंशत्योरक्षिशतोदरं पञ्चाशता पञ्चाशता याङ्ग तयोरेव पञ्चभिः पञ्चभिरंगुलीः सप्तत्या सप्तत्या पादौ तथैवांगुलीरष्टाभिः शिश्नं द्वादशभिर्वृषणम् । तां कुशैर्वैष्टयित्वा तस्मिन्नेव पूर्ववद्दहेत्” इति । अस्यार्थः—चत्वारिंशत्पलाशवृन्तैः शिरः संपाद्य दशभिर्ग्रीवां विंशत्योरक्षिशता जठरं पञ्चाशतैकबाहुं तैथव पञ्चाशतापरबाहुं पञ्चभिः पञ्चभिर्गुलीस्तथा सप्तत्या सप्तत्या पादद्वयं तत एव पञ्चभिः पञ्चभिरंगुलीरेवं पञ्चसप्तत्यैकः पादः । अष्टाभिः शिश्नं द्वादशभिर्वृषणद्वयम् । एवञ्च षष्ठ्यधिकत्रिंशत्या पलाशवृन्तैरवयवकल्पना भवति । तां प्रतिकृतिम् तस्मिन्नेव कृष्णाजिने च पूर्ववदिति पितृमेधविधिना दहेदित्यर्थः । एतादृशे विषये कालनियमः—“शुक्रारक्षिषु ।” इत्यादिनोक्तः । यतः “अथातः सम्प्रवक्ष्यामि यत्पुनर्दहनं नृणाम्” इत्यादिना पद्यसमुदायेन कालशुद्धिमुक्त्वा “अतीतविषये काम्ये न्यूनं आद्धे महालये । एतत्सर्वं विचिन्त्याशु कुर्याच्छ्राद्धमतन्द्रितः ॥” इतिकथ्यपेन कालातीतविषयत्वेनाभिधानात् ।

अशौचारम्भकालनिर्णयः—

तत्राधिकारी पुत्रादिर्यस्मिन्नेव क्षणे पित्रादिमरणं शृणुयात्तद्दिन-



मारभ्यैव यथोक्ताशौचाधिकारी भवति । तदाह पैठीनसिः—“ पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोपि हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत् ॥ ” । अन्येषां तु देशांतरमरणो विशेषमाह वृद्धवसिष्ठः—“ मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्वरमासात्पक्षिणी तथा । अहस्तु नवमादवागू-  
र्ध्वं स्नानेन शुध्यति ॥ ” इति । पक्षिणी सार्द्धं दिनम् । “ आगामिव-  
र्त्तमानाहयुक्तायां निशि पक्षिणी ” इत्यमरोक्तेः । अत्र श्रुत्वेत्युक्ते-  
र्मरणश्रवणमेवाशौचनिमित्तम् । ‘ निर्देशं ज्ञातिमरणां श्रुत्वा ’ इतिम-  
नूक्तेश्च । दशाहेभ्यो बहिरित्यर्थः । दशाहपदं स्वस्ववर्णाशौचोपलक्ष-  
णम् । षट्त्रिंशन्मतेपि—“ उभाभ्यामपरिज्ञाते सूतकं नैव दोषकृत् । एके-  
नापि परिज्ञाते भोक्तुर्दोषमुपावहेत् ” इति । यदि तु दशाहमध्ये शृणु-  
यात्तदा शेषाहोभिरेवाशौचं तस्य स्यात् । उक्तं च मिताक्षरायां—“ वि-  
गतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्देशम् । यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवा-  
शुचिर्भवेत् ” इति । दशरात्रस्येत्युपलक्षणम् । वर्णापेक्षया वयोवस्थापेक्षया  
यस्य यावानाशौचकाल उक्तस्तन्मध्ये एव विदेशगतमरणश्रवणो सत्या-  
शौचावशिष्टैरेवाहोभिर्विशुध्यतीत्यर्थः । अत एव—“ जनने मरणो नित्यमा-  
शौचमनुधावति । सपिडांश्चैव बन्धूंश्च यत्र क्वचन गच्छति ” इत्या-  
द्योर्विधानि देवलादिमुनिवाक्यानि श्रवणानिमित्ताशौचपराणि व्या-  
ख्येयानि ।

अथ वर्णानामाशौचानुष्ठानदिनसंख्याः—

तत्र वर्णाशौचदिनसंख्यामाह दत्तः—“ शुद्धेद्विप्रो दशाहेन द्वादशा-  
हेन भूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ” इति ॥

प्रतिकृतिदाहे यथासम्भवम् शुद्धिकालविषयौ—

तत्र यदा मरणदिनादारम्भं यथोक्ताशौचदिनमध्ये एव चेन्मरणां  
शृणुयात्तदावशिष्टाशौचदिनमध्ये अथवा स्वस्ववर्णाकाशौचदिवसाति-  
क्रमानन्तरं चेन्मरणां शृणुयात्तदा तद्दिनादारभ्य यथोक्ताशौचदिनमध्ये  
प्रतिकृतिसंस्कारश्चिकीर्षितः तदा यथा सम्भवं दिनशुद्धिर्विचार्या । अत  
एवोक्तं गर्गेण—‘ आशौचमध्ये क्रियते ’ इत्यादि । भद्राभरणीधनिष्ठा-  
पञ्चकादिदोषराहित्यमपेक्षितम्, नैव बहुकालव्यापिशुक्रास्तादिदोषरा-  
हित्यापेक्षा कार्येति गर्गाकथे यथासम्भवपदस्यार्थः । सर्वथात्वाशौच-  
दिनेषु दुष्टेषु दोषतारतम्येन महादोषत्यागोल्पदोषाङ्गीकारो यथा लोक-

प्रसिद्धिः, तादृशे दिने शवप्रतिकृतिदाहो विधेयः । सर्वथा दोषरहिते दिने तुत्तम एव सः ।

प्रतिकृतिदाहनिर्णयः—

अथ यदि मरणश्रवणानन्तराशौचदिनानां राजिकदैविकब्राह्मणाद्या-  
लामरूपप्रतिबन्धादतिक्रमणमभूत्तदाशौचमस्ति न वेति विचारः । रा-  
जिकदैविकसम्भावनायां सत्यां सद्य एव शौचं स्यान्न त्वाशौचम् । यदाह  
पराशरः—“ दुर्मिते राष्ट्रसन्तापे आपदां च समुद्भव । उपसर्गमृते चैव  
सद्यः शौचं विधीयते ” इति । यमवृहस्पती—“ दैवे भये समुत्पन्ने प्र-  
धानांशे विनाशिते । सद्यः शौचं समाख्यातं कांतारापदि संयति ”  
इति । पैठीनसिरपि—“ विवाहदुर्गयज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि । न तत्र  
सूतकं तद्वत्कर्म यज्ञादि कारयेत् ” इति । कालांतरालभ्यायां गयादिया-  
त्रायां तादृशे एव तीर्थकर्मणि तीर्थस्नानदानादिकर्मणि तादृशे विषये  
आशौचग्रहाभावादेव शवप्रतिकृतिदाहाभावः । यदा तु ब्राह्मणाद्यालाम-  
स्तदाशौचपरिग्रहः स्यादेव । परं त्वाशौचदिनानंतरं वर्षमध्ये दिनशु-  
द्धिमपेक्ष्यैव शवप्रतिकृतिदाहो विधेयः । “ आशौचस्य निवृत्तौ चेत्युनः  
संस्क्रियते मृतः । संशोध्यैव दिनं ग्राह्यम् ” इति गर्गैवकारसहितदिन-  
पदोक्तेः । अयमर्थः—अत्रापि भद्राभरणीपंचकादिदोषः कतिपयदिन-  
व्यापी त्याज्य एव नतु शुक्रास्तादिबहुकालव्यापिदोषप्रतीक्षा । तदुक्तं  
ज्योतिर्निबंधे पितृवृण्डे—“ शुक्रस्यास्तमने चैव देवेज्यस्य तथैव  
च । प्रेतकार्यं प्रदुष्येत प्रथमं वत्सरं विना ॥ ” इति ।

वर्षमध्ये दैविकादिप्रतिबन्धनिवृत्तौ तत्र निर्णयः—

अथ यदि वर्षमध्ये राजिकदैविकाद्युपद्रवः संपन्नस्तदा वर्षोत्तरं  
निषिद्धदक्षिणायनशुक्रास्तादिमहादोषरहिते भद्राभरणीपंचकादिदोषर-  
हिते च काले शवप्रतिकृतिदाहः कार्यः । उक्तं च गार्ग्येण—“ ऊर्ध्वं  
संवत्सराद्यदि । प्रेतकार्याणि कुर्वीत श्रेष्ठं तत्रोत्तरायणम् ” इत्यादीनि  
मूलवाक्यानि प्रागभिहितानि । अत एव मूलपद्येप्यब्दात्परतो याम्येऽ  
यने तथा देवेज्यशुक्रास्तके शवप्रतिकृतिदाहो न कार्य इति व्याख्येयम् ।  
प्रथमे वर्षे तु नायं दोषः ।

सर्वत्रापि गयोगोदावर्ग्योस्तीर्थयोः प्राप्तयोः सतोरयं शुक्रेज्यास्त-  
दक्षिणायनादिमहादोषविचारः कोपि नास्ति । तदुक्तं ज्योतिर्निबंधे



प्रेतमंजर्याम्—“प्रेतकार्याणि सर्वाणि व्रतस्नानजपादिकम् । वज्रं  
शुक्रज्ययोरस्ते गयां गोदावरीं विना ” इति । अन्यानि तु गयागोदाव-  
रीविषयाणि वचांसि प्रागुक्तानीत्यलमतिप्रसंगेन ॥ ५२ ॥

अथ नक्षत्रसंबन्धेन मुहूर्तानुक्त्वा नक्षत्रप्रसंगान्नक्षत्रविशेषोत्पन्न-  
स्याभुक्तमूलदोषमनेकविधमुपजातिकयाह—

अभुक्तमूलं घटिकाचतुष्टयं  
ज्येष्ठान्त्यमूलादिभवं हि नारदः ।  
वसिष्ठ एकद्विघटीमितं जगौ

बृहस्पतिस्त्वेकघटीप्रमाणकम् ॥ ५३ ॥

अभुक्तमूलमिति । अत्राभुक्तमूलस्यानेके भेदाः । तत्रैकस्ता-  
वदयं भेदः । ज्येष्ठानक्षत्रांते भवं ज्येष्ठांत्यं, मूलादौ भवं मूला-  
दिभवं, ज्येष्ठांत्यजातं घटीचतुष्टयं मूलादिजातं घटीचतुष्टयं मिलि-  
त्वाष्टौ घटिकाः । प्रहर इति यावत् । तावान्कालोऽभुक्तमूलाख्य इति ना-  
रदमतम्, उपलक्षणत्वादाश्लेषांतिमघटोचतुष्टयं मघादिमघटीचतुष्टयं  
चाभुक्तमूलाख्यः कालः । यदाह नारदः—“यो ज्येष्ठामूलयोरन्तरालप्रहरजः  
शिशुः । अभुक्तमूलजः सार्पमघानक्षत्रयोरपि” इति । तथोपरो भेदः । ए-  
केति । ज्येष्ठांते एकघटीमितं मूलादौ घटीद्वयमितमेवं मिलित्वा त्रिघटि-  
कमभुक्तमूलं स्यादिति वसिष्ठो मुनिर्जगौ । यदाह वसिष्ठः—“ज्येष्ठांत्यपा-  
दघटिकामितमेव केचिन्मूलं अभुक्तमपरे पुनरासनंति । मूलाद्यपादघटिका  
द्वितयेन सार्द्धमष्टौ समाः परिहरेदिह जन्मभाजम्” इति । समा वर्षाणि ।  
अथान्यो भेदः । एकेति । ज्येष्ठांत्यार्द्धघटिकामूलाद्यर्द्धघटिकेति मिलि-  
त्वा एकघटीप्रमाणमस्य तदेकघटीप्रमाणकम् । “शेषोद्विभाषा ” इति  
कप् । तादृशमभुक्तमूलं स्यादिति बृहस्पतिर्जगौ यदाह गुरुः—“ज्ये-  
ष्ठांत्यघटिकार्द्धं च मूलादौ घटिकादूर्ध्वकम् । तयोरन्तर्गता नाडी ह्यभुक्त-  
मूलमुच्यते ” इति ॥ ५३ ॥

अथान्यदपि सफलमुपजातिकयाह—

अथोचुरन्ये प्रथमाष्टघट्यो

मूलस्य शाक्रान्तिमपञ्चनाख्यः ।

जातं शिशुं तत्र परित्यजेद्वा

मुखं पितास्याष्टसमा न पश्येत् ॥ ५४ ॥

अथोचुरन्य इति । अथशब्दः पादपूरणो । मूलनक्षत्रस्य प्रथमा आदिमा अष्टघटिकाः, शाकस्य ज्येष्ठाया अंतिमाः पंच नाड्यो घटिकाः एवमुभयोर्य्येष्ठा मूलयोस्तन्तरालवर्तिन्यस्त्रयोदशघटिका । अभुक्तमूलमिति लोका ऊचुः । “ज्येष्ठांत्यघटिकाः पंच मूलाद्या वसुनाडिकाः । अभुक्तमूलमित्युक्तं तत्र जातं शिशुं त्यजेत्” इति स्मरणात् ॥

अभुक्तमूलेषु नारदोक्तस्य महादुष्टत्वम्—

एवमभुक्तमूलस्यानेकभेदसम्भवे कः साधीयान् पक्ष इति चेत् । उच्यते—नारदोक्तः पक्ष एव साधीयान् किमत्र प्रमाणमिति चेत्, शृणु । बहुमुनिसम्वाद एवात्र प्रमाणम् । तदाह कश्यपः—“ज्येष्ठान्त्यमूलयोस्तन्तरालयामोद्भवः शिशुः । अभुक्तमूलजः सोप्याश्लेषापितृभयोरपि ॥” इति । वसिष्ठोपि—“भुजङ्गपौरन्दरपौष्णभानां तदग्रभानां च यदन्तरालम् । अभुक्तमूलं प्रहरप्रमाणं त्यजेत्सुतं तत्र भवां सुतां च ” इति । अत एव पूर्वमुक्तं वसिष्ठवाक्यं केचिन्मताभिप्रायेण । यतस्तद्वाक्ये ‘केचिदिति अपरे’ इति चेत्त्युक्तिरस्ति । यद्येवं घटीन्यूनाधिकभावाभिधायिनां प्रागुक्तवाक्यानां का गतिरिति चेत् । उच्यते—दोषस्थाधिक्याल्पत्वसूचनमेव गतिः ।

अभुक्तमूलजातस्यापत्यस्य त्याग एव श्रेयः—

अथाभुक्तमूलसंज्ञाकथनस्य प्रयोजनमाह—जातमिति । तत्राभुक्तमूलाख्ये काले जातं शिशुं बालकम्, उपलक्षणत्वात्तत्र जातां कन्यां वा पिता परित्यजेन्निष्कासयेत् । ‘त्यजेत्सुतं तत्रभवां सुतां च’ इति वसिष्ठोक्तेः ।

त्यागाशक्यत्वे तद्दोषनिरसनोपायाः—

यद्यशक्यं निष्कासनं स्यात्तदा किं कार्यमित्यत आह—वेति । वा अथ वा पूर्वपक्षकर्तव्यताशक्तौ पितास्य शिशोः कन्याया वा मुखमष्टसमाः अष्टौ वर्षाणि ‘सम्बत्सरो वत्सरोब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः’ इत्य-



मरः । तावत्कालं न पश्येत् । यदाह नारदः—“अभुक्तमूलजं पुत्रं पुत्री-  
मपि परित्यजेत् । अथ वाऽब्दाष्टकं तातस्तन्मुखं न विलोकयेत् ॥”  
इति । ज्यवनोपि—“अभुक्तमूलमे भवं परित्यजेच्च बालकं समाष्टकं  
पिताथवा न तन्मुखं विलोकयेत्” इति । गरुडान्तदोषस्तु विवाहप्रकरणे  
वक्ष्यत इति कृत्वात्र नोक्तः ॥ ५४ ॥

अथ प्रसङ्गान्मूलाश्लेषाजातस्य बालस्य चरणवशेन शुभाशुभ-  
फलमुपजात्योह—

आद्ये पिता नाशमुपैति मूल-

पादे द्वितीये जननी तृतीयै ।

धनं चतुर्थोस्य शुभोथ शान्त्या

सर्वत्र सत्स्यादहिमे विलोमम् ॥ ५५ ॥

आद्ये इति । मूलनक्षत्रस्याद्यपादे प्रथमे चरणे चतुर्थोऽंशे इति या-  
वत् । तत्र जातस्य शिशोः कन्याया वा पिता नाशं मरणमुपैति प्राप्नोति ।  
तथा मूलद्वितीयपादे जननी माता नाशमुपैति । तथा तृतीयमूलपादे  
धनं द्रव्यं नाशमुपैति । चतुर्थो मूलपादोस्य शिशोः शुभः शुभफलदः ।  
उक्तं च ब्रह्मपुराणे—“मूलाद्यंशे पितुर्नाशो द्वितीये मातुरेव च । तृतीये  
धनधान्यादिनाशस्तुर्ये धनागमः ॥” इति । तुर्ये चतुर्थे । रत्नमालायाम्-  
तदाद्यपादके पिता विपद्यते जनन्यथ । तृतीयके धनक्षयश्चतुर्थकः शुभा-  
वहः ॥” इति ।

अत्र मातृपदेन सापत्नमातृग्रहणाग्रहणविचारः—

अत्र पितुर्बहुस्त्रीत्वेपि स्वमातुरेव नाशो वाच्यो न सापत्नमातुः ।  
यदाह कश्यपः—“मूलाद्यपादजो हन्ति पितरं तु द्वितीयजः । मातरं  
स्वां तृतीयोऽर्थान्सुहृदश्च तुरीयजः ॥” इति । अन्येऽत्र स्वमातुरिव सा-  
पत्नमातुरपि नाशो वाच्यः । यतो मातृशब्दः सापत्नमातुरपि वाचकः ।  
यदाह गौतमः—“पितृपत्न्यः सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलास्तदप-  
त्यानि मातुलेयानि” इति । स्पष्टार्थमेव कश्यपवाक्ये स्वामितिपदो-  
पादानम् ।

दिनरात्रिभेदे मूलजातविषये दोषपरिहारः—

अत्र विशेषो वसिष्ठसंहितायाम्—

“मूलाद्यपादो दिवसे यदि स्यात्तज्जः पितुर्नाशनकारणं स्यात् ।  
द्वितीयपादो यदि रात्रिभागे तदुद्भवोमातृविनाशकः स्यात् ॥  
मूलाद्यपादो यदि रात्रिभागे तदात्मनो नास्ति पुनर्विनाशः ।  
द्वितीयपादो दिनगो यदि स्यान्न मातुरूपोपि तदास्ति दोषः ॥” इति ।  
नोरदसंहितायां च—

“ दिवा जातस्तु पितरं रात्रौ तु जननीं तथा ।

आत्मानं सन्वयोर्हन्ति ततो गण्डं विवर्जयेत् ॥” इति ।

एतदेव मातापितृगण्डमिति जीर्णा व्यवहरन्ति ॥

अभुक्तमूलजन्मदोषनिवृत्तिस्तद्वक्ष्यन्त्यै उपायः—

अथ दोषसत्त्वे किं कार्यमत आह—अथेति । अथानन्तरं शान्त्या  
मूलाश्लेषाशान्त्या स्वनुष्ठितया सर्वत्र चरणचतुष्टयेपि शुभमनिष्टफल-  
नाशकं कल्याणकरं स्यात् । उक्तं च वसिष्ठेन—“नैऋत्यमौजङ्गमग-  
ण्डदोषनिवारणायाभ्युदयाय नूनत् । पितामहोक्तां रुचिरां च शान्तिं  
प्रवक्षिमी लोकस्य हिताय सम्यक् ॥ शास्त्रोक्तरीत्या खलु सूतकान्ते मासे  
तृतीयेप्यथ वत्सरान्ते ॥” इति । नैऋत्यं मूलं तद्दोषः । मौजङ्गमाश्लेषा  
तद्दोषः । गण्डो वक्ष्यमाणस्तद्दोषश्च । ‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येक-  
मभिसम्बध्यते’ इति न्यायात् । तद्दोषाणां निवारणाय तदर्थम् । अतः  
एव कश्यपेन—तद्दोषशमनार्थं हि शान्तिं कुर्यात्प्रयत्नतः” इति सामा-  
न्यत उक्तम् ।

अत्र वसिष्ठवाक्ये कालत्रयकथनं सामर्थ्यासामर्थ्यकृतं ध्येयम् । तथा-  
हि । यदि मातुः शीतोदकस्नाने सामर्थ्यं स्यात्तदा सूतकान्त एव शान्तिः ।  
तत्राप्यशक्तौ तृतीये मासि शान्तिः । दीर्घरोगादिना तदाप्यशक्तिश्चेत्तर्हि  
वर्षसमाप्तिदिवसे शान्तिः ।

मातृगण्डे जन्मनि शान्तिकालः—

मातृगण्डे तु विशेषस्तेनैवौक्तः—“मातृगण्डे सुते जाते सूतकान्ते  
विचक्षणः । कुर्याच्छान्तिं तद्वत् वा तद्दोषस्यापनुत्तये ॥” इति ।



शिष्टाचारानुविद्धः शान्तिकालस्त्वत्र सर्वत्र तद्वत् एव—

शिष्टास्तु सर्वत्र यस्मिन्नक्षत्रे जन्म तन्नक्षत्र एव शान्तिरिति व्यवह-  
रन्ति । ननु मूलपादचतुष्टयेपि शान्तिः कर्तव्येत्युक्तम् । तत्र चतुर्थ-  
चरणस्य शुभफलत्वात् शान्तिरयुक्तेति प्रतिभाति । “अनिमित्तकृता  
शान्तिर्निमित्तायोपजायते” इति स्मरणात् । उच्यते—यद्यपि चतुर्थचर-  
णे धनागमरूपं शुभफलमभिहितम्, तथापि कश्यपेन—‘सुहृदश्च तुरी-  
यजः’ इति सुहृन्नाशरूपफलस्यानिष्टस्योक्तेस्तदपाकरणार्थमवश्यं कर्त्त-  
व्या शान्तिः । नहि कस्यचिद्वैरिनाशवन्मातुलाद्यनेकसुहृन्नाश इष्टः ।  
किंच मूलवृक्षविचारेपि चतुर्थपादे पुरुषकन्ययोरशुभफलकथनाच्च ।  
मूलवृक्षस्तु समनन्तरमेव मया वक्ष्यते ।

उक्तशान्त्यकरणो—महान्प्रत्यवायः—

यदि मूलाश्लेषादिदोषसंभवे शान्तिर्न क्रियते तदानिष्टं भवत्येवे-  
त्याह नारदः—

“वत्सरात्पितरं हन्ति मातरं तु त्रिवर्षतः ।

द्युम्नं वर्षद्वयेनैव श्वशुरं नववर्षतः ॥

जातं बालं वत्सरेण वर्षैः पंचभिरग्रजम् ।

श्यालकं चाष्टभिर्वर्षैरनुक्तान् हन्ति सप्तभिः ॥

तस्माच्छान्तिं प्रकुर्वीत प्रयत्नाद्विधिपूर्वकम् ॥” इति । द्युम्नं धनम् ।

तस्मादवश्यं चरणचतुष्टयेपि शान्तिर्विधेयेति ॥

आश्लेषायां जन्मनि फलं मूलजन्मफलतो विलोमम्—

अहिमे विलोममिति । अहिमे आश्लेषायामुक्तं फलं विलोमं  
विपरीतं ज्ञेयम् । तद्यथामूलस्य प्रथमे पादे पितृनाश इति फलमुक्तम् ।  
तत्फलमाश्लेषाचतुर्थपादोत्पन्नस्य स्यात् । मूलस्य द्वितीयपादे मा-  
तृनाश इत्युक्तं फलं तदाश्लेषातृतीयचरणोत्पन्नस्य स्यात् । मूलस्य  
तृतीयचरणे धननाश इत्युक्तं फलं तदाश्लेषाद्वितीयचरणोत्पन्नस्य स्या-  
त् । मूलस्य चतुर्थपादः शुभ इत्युक्तं फलं तदाश्लेषाप्रथमचरणोत्पन्नस्य-  
स्यादित्यर्थः । तदाह कश्यपः—“फलं तदेवं सार्पद्वौ प्रतीपं त्वन्त्यपादतः ।”  
इति वसिष्ठोऽपि “मूलादिपादजनितः पितरं निहन्ति द्वैतीयजः स्वजननीं त्रि-  
पदर्थवन्दम् । तौरीयजः शुभकरः फलमेतदेव विलोमतो भुजगधिष्यभयभवस्य  
सर्वम्” इति । द्वितीय एव द्वैतीयः । “प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात्स्वार्थेण” । एवं

तौरीयवैलोमशब्दौ साध्यौ । अयमर्थः स्पष्टमुक्तो भास्करव्यवहारे—“सर्पांशे प्रथमे राज्यं द्वितीये तु धनक्षयः । तृतीये जननीनाशश्चतुर्थे मरणां पितुः” इति । अंशश्चरणः । अत्र लग्नदौष्ट्ये सति दुष्टं फलमविकलं भवतीत्याह बादरायणः—“मूलसर्पादिजं दौष्ट्यं स्यात्सम्पूर्णं तु लग्नपे । सक्रोडेब्जे च विबले शुभदृष्टिविवर्जिते ॥” इति । अत आश्लेषादौष्ट्येपि शान्तिकं विधेयम् । तथाश्लेषान्त्यमघादिस्थान्तरालप्रहरात्मको भुक्तमूलाख्यकालो विहितः तत्रोत्पन्नस्यापि शान्तिकं विधेयम् । अत्र संमतिवाक्यं प्रागभिहितम् । तत्र मूलशान्तिराश्लेषाशान्तिश्च ‘गण्डान्तेन्द्रम’ इति पद्यव्याख्यानानन्तरं लिख्यते ।

मूलवृक्षः—

अत्र प्रसङ्गान्मूलवृक्षविचारोभिधीयते जयार्णवे—  
“मूलं स्तम्भस्त्वचा शाखा पत्रं पुष्पं फलं शिखा ।  
मुनयोष्टौ दिशो रुद्राः सूर्याः पञ्चाब्धयोग्नयः ॥  
मूले तु ७ मूलनाशः स्यात्स्तम्भे ८ वंशविनाशनम् ।  
त्वचि १० मातुर्भवेत्क्षेत्रः शाखायां ११ मातुलस्य च ॥  
पत्रे १२ राज्यं विजानीयात्पुष्पे ५ मन्त्रिपदं स्मृतम् ।  
फले च ४ विपुला लक्ष्मीः शिखाया ३ मल्पजीवितम् ॥” इति ।

मूलाख्यपुरुषस्याङ्गेषु घटीविन्यासः—

अस्य मूलाख्यस्य पुरुषस्याङ्गेषु घटीविन्यासस्तत्रैव—  
“मूलस्य घटिकान्यासो मूर्ध्निपञ्च ३ नृपो भवेत् ।  
मुखे सप्त ७ मृतिः पित्रोः स्कन्धे वेदा ४ महाबलः ॥  
बाह्वोरष्टौ ८ बली ३ पारयोस्तिस्रो ३ हस्तान्वितो भवेत् ।  
हृदि खेटा ६ भूपमन्त्री नाभौ द्वौ ब्रह्मविद्भवेत् ॥  
गुह्ये दशा १० तिकामी स्याज्जानुनोः षण् ६ महामतिः ।  
पादयोः षण् ६ मतिस्तस्येत्युक्तवान् कमलासनः ॥” इति ॥

मूलाङ्गविभागः फलं च कन्याजन्मनि—

अथ मूलोद्भूतायाः कन्यायाः फलार्थं मूलाङ्गविभागस्तत्रैव—  
“चतस्रो ४ नाडिकाः शीर्षे कुर्वन्ति पशुनाशनम् ।  
मुखे षड् ६ धनहानिश्च कण्ठे पञ्च ५ धनागमः ॥  
कौटिल्यं हृदये पञ्च ५ बाह्वोर्वित्तागमं च तत् ।



वेदाः ४ पाण्योर्दयाधर्मं वेदा ४ गुह्योऽतिकामिनि ॥  
 ज्येष्ठमातुलनाशश्च जन्धयोर्युग ४ नाडिकाः ।  
 ज्येष्ठभ्रातृविनाशश्च चतस्रो ४ जानुयुग्मके ॥  
 पादयोर्दशनाड्यश्च १० तत्र वैधव्यमादिशेत् ।  
 इति मूलजकन्यायाः फलमीरितमीदृशम् ॥” इति ।

अस्यार्थः—शीर्षे चतस्रो ४ घटिकाः मुखे षट् ६ करटे पञ्च ५ हृदये  
 पञ्च ५ बाह्वोर्बाहुद्वये पञ्च पञ्चेति ५ । ५ कल्याणीप्ला । पाण्योर्मणिबंधा-  
 दधोभागयोश्चतस्र इत्यत्रापि वीप्साकल्याणी । गुह्ये चतस्रः ४ जन्धयोर्ज-  
 घाद्वये द्वे द्वे २ । २ । एवं चतस्रः । जानुद्वये द्वे द्वे २ । २ । एवं चतस्रः पा-  
 दयोः पादद्वये पञ्च पञ्चेत्येवं दश १० एवं मिलित्वा षष्टिघटिका ६० भवन्ति ॥

आश्लेषाजातयोः स्त्रीपुंसयोः फलम्—

आश्लेषाजातयोः पुत्रकन्ययोरंगविभागेन फलं तत्रैवोक्तं—

“मूर्ध्नि पञ्च ५ सुपुत्रा ( राज्या ) सिर्मुखे सप्त ७ पितृक्षयः ।

नेत्र द्वे २ जननीनाशो ग्रीवायां लंपटस्त्रिषु ॥

स्कंधे वेदा ४ गुरौ भक्तिर्हस्तेष्टौ च ८ बली भवेत् ।

हृद्येकादशभि ११ आत्मघाती संजायते नरः ॥

श्रीमात्राभौ भ्रमः ६ षड्भिर्गुदेनन्दै ६ स्तपोधनः ।

पादे पञ्च ५ धनं हन्ति सार्पादितत्फलं क्रमात् ॥” इति

आश्लेषावृक्षः—

आश्लेषावृक्षोऽपि तत्रैवोक्तः—

“फलं पुष्पं दलं शाखात्वग्लताकन्द एव च ।

सार्पवल्लीनां दशा १० क्षां ५ क ६ स्वर ७ विश्वा १३ क १२ सागराः ४॥

नाडिकास्तद्भये बाले फलं ज्ञेयं यथाक्रमम् ।

श्रीः श्री राजभैयं हानिर्मातृपित्रात्मसंक्षयः” इति ।

अस्यात्र ६० घटिकाधिक्ये त्रैराशिकम्—

अयं च विभागो नक्षत्रस्य ६० षष्टिघटिकात्मकत्वे ज्ञेयः । न्यूनाधि-  
 कत्वे तु त्रैराशिकमूहम् (१) ।

( १ ) तच्चैवम् । यदि षष्टिघटिकात्मके नक्षत्रमानेऽयमंशविभा-  
 गस्तदेष्टेऽधिकाल्पे नक्षत्रमाने क इत्यागतफलमधिकेष्टनक्षत्रमानेऽधिक-  
 मल्पेऽल्पं भवातीति स्फुटम् ।

चित्राद्यन्यतमनक्षत्रे जन्मनि दोषस्तत्परिहारश्च—

वसिष्ठेनान्येष्वपि कियत्सु नक्षत्रेषु जातस्यारिष्टमुक्तं—

“चित्राद्यर्द्धे पुष्यमध्ये द्विपादे पूर्वाषाढाधिप्यपादे तृतीये ।

जातः पुत्रश्चोत्तराद्ये विधत्ते मातापित्रोर्भ्रातरं चात्मनाशम् ॥

द्विमासस्योत्तरादोषः पुष्ये चैव त्रिमासकः ।

पूर्वाषाढाष्टमे मासि चित्रा षारमासिकं फलम् ॥” इति ।

अत्रोत्तराशब्देनोत्तराषाढा गृह्यते । पूर्वाषाढासाहचर्यात् । अत एष्वपि नक्षत्रेषु यथाशक्ति मूलवच्छांतिकं दोषप्रतिहारार्थं विधेयम् । परन्त्वत्र देवताभेद एव केवलं ध्येयः । सच तत्त्वामिकृतः, तत्तन्मन्त्राश्च देवादेवावगंतव्यास्तच्छांतिकं च तिथिगंडांतशान्तावस्माभिर्वक्ष्यत इत्यलमतिप्रसंगेन ॥ ५५ ॥

अथ मूलनिवासं सफलमिन्द्रवज्राच्छन्दसाह—

स्वर्गे शुचिप्रौष्ठपदेषमाद्ये

भूमौ नभः कार्तिकचैत्रपौषे ।

मूलं ह्यधस्तात्तु तपस्यमार्ग-

वैशाखशुक्रेष्वशुभं च तत्र ॥ ५६ ॥

स्वर्गे इति । शुचिराषाढः, प्रौष्ठपदो भाद्रपदः, इष आश्विनः, माघः प्रसिद्धः, एषु मासेषु मूलं मूलनक्षत्रं स्वर्गेऽस्ति । स्वर्गे निवासस्तस्य । नभः श्रावणः, अन्ये प्रसिद्धाः श्रावणकार्तिकचैत्रपौषेषु भूमौ मूलं तिष्ठति । तपस्यः फाल्गुनः, शुक्रो ज्येष्ठः, अन्यौ प्रसिद्धौ । फाल्गुनमार्गशीर्षवैशाखज्येष्ठेष्वधस्तात्पाताले मूलं तिष्ठति ॥ एष मूलनिवास उक्तः ।

एवं वासस्य फलं शान्तिसौकर्यायैव—

एतत्फलं च—मूलनक्षत्रं यदा यस्मिन्मासे यत्र वसति तत्रैव स्वर्गभूमिपातालेष्वेव स्वोक्तशुभाशुभफलं ददाति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । द्रव्याद्यभावेन शान्तिकं कर्तुमशक्नुवतः पुंसः स्वर्गपातालनिवासित्वेन मूलस्यारिष्टदोषस्तथा न प्रभवेत् । यदा तु भूमावेव निवासस्तदा दोषनिवारणां नैव स्यादित्यशक्तेनापि शान्तिकं विधेयम् । नैतावता प्रागुक्ते विषये शान्त्यभाव एव किंतु यथाशक्ति तत्रापि शान्तिकं विधे-



यम् । शक्तेन तु सर्वत्रैव विधेयम् । तदुक्तं ज्यौतिषार्णवे—

“मार्गफाल्गुनवैशाखज्येष्ठे मूलं रसातले ।  
माघाश्विननभस्येषु शुचौ मूलं सुरालये ॥  
पौषश्रावणचैत्रेषु कार्तिके भूमिसंस्थितम् ।  
भूमिष्ठं दोषबहुलं स्वल्पमन्यत्र संश्रितम् ॥” इति ।

मूलस्य संक्रमरीत्या वासस्थानम्—

क्वचित्संक्रातिपरत्वे मूलनिवासोऽभिहितः—

“वृषालिंसिंहेषु घटे च मूलं दिविस्थितं युग्मतुलांगनांत्ये ।  
पातालगं मेघधनुःकुलीरनक्रेषु मृत्याविति संस्मरन्ति ॥  
स्वर्गे मूले भवेद्राज्यं पाताले च धनागमः ।

मृत्युलोके यदा मूलं तदा शून्यं समादिशेत् ॥” इति ज्यौतिष-  
रत्नेभिहितत्वात् ॥ ५६ ॥

अथ मूलप्रसंगाद्दृष्टेषु गंडांतादिनिमित्तेषु सत्सु जातस्यारिष्टं सप-  
रिहारं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

गण्डान्तेन्द्रभशूलपातपरिघव्याघातगण्डावमे  
सङ्क्रान्तिव्यतिपातवैधृतिसिनीवालीकुहूदर्शके ।  
वज्रं कृष्णचतुर्दशीषु यमघण्टे दग्धयोगे मृतौ  
विष्टौ सोदरभे जनिर्न पितृभे शस्ता शुभा शान्तितः ॥ ५७ ॥

गण्डान्तेन्द्रेति । एतेषु पदार्थेषु सत्सु जनिः शिशोरुत्पत्तिर्न शस्ता  
दुष्टफलदा । गण्डांतः सन्धिविशेषः । स त्रिविधो नक्षत्रतिथिलभमे-  
देन । तल्लक्षणं—‘ज्येष्ठापौष्णभ’ इत्यादिना वक्ष्यति । इन्द्रं ज्येष्ठा-  
नक्षत्रम्, शूलः शूलाख्यो दुष्टयोगः, पातो महापातो गणितसाध्यो  
व्यतीपाताख्यो वैधृताख्यश्च । परिघव्याघातगण्डा अपि दुष्टा योगाः ।  
अवमस्तिथिलयः । संक्रान्तिः सूर्यस्य राश्यंतरसंक्रमपुण्यकालः । व्य-  
तीपातवैधृती सप्तदशसप्तविंशतितमौ दुष्टयोगौ । सिनीवाली दृष्टेदुरमा-  
वास्या कुहूर्नष्टेदुरमावास्या । ‘सा दृष्टेदुः सिनीवाली सा नष्टेदुः  
ला कुहूः’ इत्यभिधानात् । दर्शश्चंद्रदर्शनरहितामावास्या । एतच्चाग्रे स-  
म्यक् प्रतिपादयिष्यते । वज्रं दुष्टयोगे कृष्णो कृष्णपक्षे चतुर्दशीषु ।

बहुवचनमावृत्यभिप्रायम् यमघण्टे 'मघा विशाखा' इत्युक्ते दुष्टयोगे ।  
दग्धयोगे—'सूर्येशपंचाग्निरसाष्टनंदा' इत्युक्ते दुष्टयोगे । केचित्तु—'चा-  
पांत्यगे गोघटगे पतंगे' इति वक्ष्यमाणो दुष्टयोग इति व्याचक्ष्युः ।  
मृतौ 'द्वीशात्तोयात्' इत्यादिनोक्ते मृत्युयोगे, विष्टौ भद्रायाम्, सोदर-  
स्य भ्रातुर्भगिन्या वा भे नक्षत्रे, पितृभे माता च पिता च पितरौ त-  
र्योभे मातृभे पितृभे च । एषु निमित्तेषु सुतस्य सुताया वा जन्म चे-  
त्स्यात्तदानिष्टकृत्स्यादित्यर्थः ।

उपरागजन्म—त्रीतरजन्माप्यनिष्टम्—

दुष्टनिमित्तस्योपलक्षणत्वात्सूर्यचन्द्रग्रहणजन्मत्रीतरजन्माप्यनिष्टम् ।  
सजातीयापत्यत्रयप्रसवानंतरं विजातीयापत्यप्रसवस्त्रीतरः । यथा पुत्र-  
त्रयप्रसवानंतरम् कन्याया जननम् । कन्यात्रयप्रसवानंतरम् पुत्रस्य  
जननम् । अत एव त्रिभ्यः सजातीयेभ्य इतरो विजातीयस्त्रीतरः,  
स्त्री च त्रीतरेति । व्युत्पत्तिश्च त्रीतरश्च त्रीतरा च त्रीतरौ । "पुमान्-  
स्त्रिया" इत्येकशेषः ।

तच्छान्तिरपि—

परिहारोप्युच्यते—सा जनिः शान्तितो वसिष्ठाद्यृषिप्रोक्तायाः शां-  
त्याः स्वनुष्ठितायाः शुभा परिणामे सुखदायिनी सारौरङ्गेशानुभवपूर्व-  
कनीरोगदीर्घायुष्ट्वं शिशोः स्यादित्यर्थः ।

मूलजातस्य शान्तिः कार्येति विधिरूपायान्तरं च—

अत्र मूलवाक्यानि सशान्तिकानि लिख्यन्ते । तत्र प्राक्पद्यप्रतिज्ञा-  
तसकलशान्तिसामान्यभूता औपयिकी च मूलशान्तिस्तावदुच्यते । शौ-  
नक उवाच ।

“अथातः संप्रवक्ष्यामि मूलजातहिताय च ।

मातापित्रोर्धनस्यापि कुले शान्तिं हिताय च ॥

त्यागो वा मूलजातस्य स्यादष्टाब्दात्प्रदर्शनम् ।

अभुक्तमूलजातानां परित्यागो विधीयते ॥

अदर्शने वापि पितुः स तु तिष्ठेत्समाष्टकम् ।

एवं च दुहितुर्भयं मूलजातफलं बुधैः ॥

मुख्यकालं प्रवक्ष्यामि शान्तिहोमस्य यत्नतः ।

जातस्य द्वादशाहे तु जन्मर्क्षे वा शुभे दिने ॥



समाष्टके वा मतिमान्कुर्याद्वै शांतिमादरात् ।  
 यदैव शांतिकं कुर्यात्कर्म तत्र प्रचक्ष्महे ॥  
 सुसमे पुण्यदेशे तु मंडपं कारयेद्बुधः ।” इति ।  
 मंडपपरिमाणं च वसिष्ठोक्तम्—  
 “पेशान्यामथवा प्राच्यामुदीच्यां दिशि कल्पयेत् ।  
 मंडपं त्वष्टभिर्हस्तैश्चतुर्भिर्वा समंततः ॥  
 चतुर्द्वारसमायुक्तं तोरणाद्यैरलंकृतम् ।  
 कदलीस्तम्भसंयुक्तमाभ्रपल्लवराजितम् ॥  
 पुष्पमालायुतं सम्यक् तूर्यघोषनिनादितम् ।  
 पिष्टेन कल्पयेत्सर्वं तथा गोमयमंडले ॥  
 कुंडं च तद्बहिः कुर्याद्ग्रहयज्ञोक्तमार्गतः ।” इति ।  
 मूलशान्तिप्रकारः तत्र जातदोषपरिहारार्थः—

शौनकः—रुद्रकुम्भस्थापनम्—

“पुण्यर्गिभर्मन्त्रितैस्तोयैः प्रोक्षितायां क्षितौ ततः ।  
 तत्रोदकुम्भं सुशुद्धं रक्तं व्रणविवर्जितम् ॥  
 अकृष्णमलनिर्णिकं पूरयेन्निर्मलांभसा ।  
 वस्त्रावगुण्ठितं कुर्यात्पूरयेत्तीर्थवारिणा ॥  
 कूर्चहेमसमायुक्तं नूतनपल्लवसंयुतम् ।  
 स्वस्तिकोपरि विन्यस्य क्षीरिद्रमसुपल्लवैः ॥  
 द्रोणव्रीहीश्च निक्षिप्य पेशाने च निधापयेत् ।  
 पञ्चरत्नानि निक्षिप्य सर्वाङ्गधिसमन्वितम् ॥  
 अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैः श्रीरुद्रं स्थापयेत्ततः ।  
 तत्राप्रतिरथं १ सूक्तं शतः २ रुद्रानुवाककम् ॥  
 रक्षामन्त्रं तथा पुण्यं रक्षोघ्नं च स्पृशञ्जपेत् ।  
 त्रियम्बकं जपेत्सम्यगष्टोत्तरसहस्रकम् ॥  
 एकैकवारं जापी च पावमानीः स्पृशञ्जपेत् ।  
 जपस्य पञ्च कुम्भांश्च द्वयं वा तदलाभतः ॥  
 श्रीरुद्रस्यैककुम्भश्च सर्वसूक्तानि तत्र तु ।  
 ततो देवताप्रतिष्ठा—अग्निस्थापनं च—  
 अथान्यं पञ्चमं कुम्भं पूर्वोक्तैर्लक्षणैर्युतम् ।  
 चतुःप्रस्रवणं कुर्यात्पञ्चवक्त्रं च तद्भवत् ॥

वस्त्रावगुण्डितं कुर्यात्पूरयेत्तीर्थवारिणा ।  
 पञ्चरत्नसमायुक्तमाभ्रपल्लवसंयुतम् ॥  
 गजाश्वरथ्यावलमीकसंगमाद्भद्रगोकुलात् ।  
 राजद्वारेप्रदेशाच्च मृदमानीय निःक्षिपेत् ॥  
 कुम्भस्य नैऋते देशे होमदेशं प्रकल्पयेत् ।  
 गोमयालोपिते देशे कुर्यात्स्थंडिलमुत्तमम् ॥  
 कृत्वाग्निमुखपर्यन्तमुल्लेखादिस्वशाखतः ।  
 पूर्णपात्रनिधानान्तं कृत्वा पूजां समारभेत् ॥  
 नक्षत्रदेवतारूपं सुवर्णेन प्रयत्नतः ।  
 निष्कमानेन चार्द्धेन पादेनापि स्वशक्तितः ॥  
 प्रतिमां लक्षणेनैकां कारयित्वा विचक्षणः ।  
 यद्वा मूल्यं सुवर्णस्य स्थापयित्वा प्रपूजयेत् ॥  
 सुवर्णं सर्वदैवत्यं सर्वदेवात्मकोऽनलः ।  
 सर्वदेवात्मको विप्रः सर्वदेवमयो हरिः ॥  
 संस्मरेन्निऋतिं १६ श्यामं सुमुखं नरवाहनम् ।  
 रक्षोधिपं खड्गहस्तं दिव्याभरणभूषितम् ॥  
 प्रतिमापूजनार्थाय वस्त्रयुग्मं प्रकल्पयेत् ।  
 पङ्कजं कारयेद्भूमौ रक्ताभैर्व्रीहितण्डुलैः ॥  
 चतुर्विंशदलोपेतं शुक्लैर्वा कर्णिकान्वितम् ।  
 तस्योपरि न्यसेत्पात्रं स्वर्णं वा रौप्यमृगमयम् ॥  
 शुद्धवस्त्रेण संच्छाद्य तत्र मूलानि निःक्षिपेत् ।

मूलानि शतमूलानि । तदलाभे

विष्णुकान्ता सहदेवी तुलसी तु शतावरी ॥  
 मूलानीमानि गृह्णीयाच्छ्रृतालाभे विशेषतः ।  
 स्थापयेत्कर्णिकामध्ये वस्त्रगन्धाद्यलंकृतम् ॥  
 कूर्चहेमजलोपेतं कुङ्कुमौषधिसंयुतम् ।  
 कुम्भोपरिन्यसेद्विद्वान्मूलनक्षत्रदैवतम् ॥  
 अधिप्रत्यधिदेवौ च दक्षिणोत्तरदेशयोः ।  
 अधिदेवं जपेदादौ ज्येष्ठानक्षत्रदैवतम् ॥”

पूर्वाषाढायां जलम् । उत्तराषाढा २१ ऋते विश्वेदेवाः । विष्णुः २२  
 वसवः २३ वरुणः २४ अजैकपात् २५ अहिर्बुध्न्यः २६ पूषा २७ अ-



श्विनौ १ यमः २ अग्निः ३ प्रजापतिः ४ सोमः ५ रुद्रः ६ अदितिः ७  
 बृहस्पतिः ८ सर्पाः ९ पितरः १० भगः ११ अर्यमा १२ सविता १३  
 त्वष्टा १४ वायुः १५ इन्द्राग्नी १६ मित्रः १७ इत्याद्यनुराधान्तमन्त्रयेत् ।  
 ततः पूजा—

“पेन्द्रादीशानपर्यन्तं पूजयेत्स्वस्वनामतः ।  
 स्वलिङ्गोक्तैश्च मन्त्रैश्च प्रधानादीन्प्रपूजयेत् ॥  
 पञ्चामृतेन संस्ताप्य आवाहाय समन्त्रयेत् ।  
 उपचारैः षोडशभिर्यद्वा पञ्चोपचारकैः ॥  
 रक्तचन्द्रनगन्धाढ्यैः पुष्पैः कृष्णसितादिभिः ।  
 मेघशृङ्गादिधूपैश्च घृतदीपैस्तथैव च ॥  
 सुरापौलिकमांसाद्यैर्नैवेद्यैर्भोजनादिभिः ।  
 मत्स्यमांससुरादोनि ब्राह्मणानां विवर्जयेत् ॥  
 सुरास्थाने प्रदातव्यं क्षीरं सैन्धवमिश्रितम् ।  
 पायसं लवणोपेतं मांसस्थाने प्रकल्पयेत् ॥  
 उक्तगन्धाद्यलामे तु यथालाभं समर्पयेत् ।

ततो होमः—

पुष्पान्तं तु समभ्यर्च्य होमं कुर्याद्यथोदितम् ।  
 निर्वापप्रोक्षणादीनि चरोः कुर्याद्यथाविधि ॥  
 हविर्गृहीत्वा विधिवन्नैर्ऋत्यां च ऋचा हुनेत् ।  
 मोषुणः परापरेति यत्तेदेवेति वा पुनः ॥  
 पायसं घृतसम्मिश्रं हुनेदष्टोत्तरं शतम् ।  
 समिदाज्यचरुपश्चाच्छ्रुक्तितः संख्यया हुनेत् ॥  
 अधिदैवतयोश्चैव जुहुयात्स्वस्वमन्त्रतः ।  
 चतुर्थ्यतैर्नमोन्तैश्च स्वाहातैः स्वस्वमन्त्रकैः ॥  
 नक्षत्रदेवताभ्यश्च पायसेन तु होमयेत् ।  
 कृष्ण्येति पञ्चदशभिर्जुहुयात्कृसरं ततः ॥  
 ‘गायत्र्या जारतेवेदे’ति ‘त्रियम्बक’मिति क्रमात् ।  
 सीरायुजन्ति तामग्निं वास्तोष्यत्यग्निमेव च ॥  
 तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् ।  
 दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरसितरसे नमः ॥  
 क्षेत्रस्य पतिना गृणानोऽग्निं दूतं तथैव च ।

श्रीसूक्तेन तथा विद्वान्समिदाज्यचरून्क्रमात् ॥  
 अष्टोत्तरशतैर्वापि अष्टाविंशतिभिः क्रमात् ।  
 अष्टाष्टसंख्यया वापि जुहुयाच्छक्तितो बुधः ॥  
 त्वं ब्रः सोमेन पायसं जुहुयात्तु त्रयोदश ।  
 चतुर्गृहीतमाज्यं च या ते रुद्रेति मन्त्रतः ॥  
 खुर्वेण जुहुयादाज्यं महाव्याहृतिभिः क्रमात् ।  
 हुत्वा स्विष्टकृतं पश्चात्प्रायश्चित्ताहुतीर्हुनेत् ॥  
 आचार्यो यजमानो वा अग्नौ पूर्णाहुतीर्हुनेत् ।  
 होमशेषं समाप्याथ वह्निमारोपयेद्बुधः ॥  
 कुम्भाभिमन्त्रणं कुर्याद्दक्षिणेनाभिमन्त्रयेत् ।  
 मृत्युप्रशमनार्थाय जपेन्नैयंबकं शतम् ॥  
 रुद्रकुम्भोक्तमार्गेण रुद्रमन्त्रं स्पृशञ्जपेत् ।  
 धूपं दोषं च नैवेद्यं कुम्भयुग्मे निवेदयेत् ॥  
 प्रसादयेत्ततो देवमभिषेकार्थमादरात् ।  
 तस्मिन्काले ग्रहातिथ्यं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥  
 पृथक्प्रशस्तं तच्चैव नक्षत्रेष्ट्या सहैव च ।  
 ततोभिषेकः—

अभिषेकविधिं वक्ष्ये सर्वाचार्यैरुदीरितम् ।  
 भद्रासनोपविष्टस्य यजमानस्य ऋत्विजः ॥  
 दारपुत्रसमेतस्य कुर्युस्तस्याभिषेचनम् ।  
 अक्षीभ्यामिति सूक्तेन पावमानीभिरेव च ॥  
 आपोहिष्ठेति नवभिरप इद्वा द्वयेन च ।  
 सहस्राक्षत्र्यूचेनापि देवस्य त्वेति मन्त्रकैः ॥  
 शिवसङ्कल्पमन्त्रेण वक्ष्यमाणैश्च मन्त्रकैः ।  
 योसौ वज्रधरो देवो महेन्द्रो गजवाहनः ॥  
 मूलजातशिशोर्दोषं मातापित्रोर्व्यपोहतु ।  
 योसौ शक्तिधारो देवो हुतभुग्मेषवाहनः ॥  
 सप्तजिह्वश्च देवोऽग्निर्मूलदोषं व्यपोहतु ।  
 योसौ दण्डधरो देवो धर्मो महिषवाहनः ॥  
 मूलजातशिशोर्दोषं व्यपोहतु यमो मम ।  
 योसौ खड्गधरो देवो निऋती राक्षसाधिपः ॥



प्रशामयतु मूलोत्थदोषं गरुडान्तसम्भवम् ।  
 योसौ पाशधरो देवो वरुणश्च जलेश्वरः ॥  
 नक्रवाहः प्रचेताहो मूलोत्थाघं व्यपोहतु ।  
 योसौ देवो जगत्प्राणो मारुतो मृगवाहनः ॥  
 प्रशामयतु मूलोत्थं दोषं बालकशान्तिदः ।  
 योसौ निधिपतिर्देवः खड्गभृद्वाजिवाहनः ॥  
 मातापित्रोः शिशौश्चैव मूलदोषं व्यपोहतु ।  
 योसौ पशुपतिर्देवः पिनाकी वृषवाहनः ॥  
 आश्लेषामूलगरुडान्तदोषमाशु व्यपोहतु ।  
 विघ्नेशः क्षेत्रपो दुर्गा लोकपाला नवग्रहाः ॥  
 सर्वदोषप्रशमनं सर्वं कुर्वतु शान्तिदाः ।  
 तच्छृङ्गयोरभिषेकं तु सर्वदोषोपशान्तिदम् ॥  
 सर्वकामप्रदं दिव्यं मंगलानां च मंगलम् ।  
 वस्त्रांतरितकुंभाभ्यां पश्चात्तु स्नापयेत्ततः ॥  
 ततः ऋत्विगादिभ्यो दक्षिणा तारतम्येन—  
 ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।  
 यजमानो दक्षिणाभिस्तोषयेदृत्विगादिकान् ॥  
 धेनुं पयस्विर्नि दद्यादाचार्याय सवत्सकाम् ।  
 निऋतिप्रतिमां वस्त्रकुम्भहेमादि दापयेत् ॥  
 श्रीरुद्रजापिने देयः कृष्णोऽनङ्गान् प्रयत्नतः ।  
 तत्कुम्भवस्त्रप्रतिमास्तस्मै दद्यात्प्रयत्नतः ॥  
 इतरेभ्योपि विप्रेभ्यो दद्याच्छक्त्या च दक्षिणाम् ।  
 उक्तालाभे ततो दद्यादाचार्यं ब्रह्मऋत्विजाम् ॥  
 तन्मूल्यं च प्रदातव्यं शक्त्या वापि प्रदापयेत् ।  
 आचार्याय च यद्वत्तं तदद्धं ब्रह्मणो भवेत् ॥  
 सदस्याय ब्रह्मणोद्धं मृत्विग्भ्यश्च तदद्धं कमम् ।  
 आशीश्च तेभ्यो गृह्णीयात्प्रणम्याथ क्षमापयेत् ॥  
 ब्राह्मणभोजनम्—

दद्यादन्नं पायसादि ब्राह्मणान्भोजयेच्छुभ्रम् ।  
 अलाभे सति पञ्चाशद्वशकं तदभावतः ॥  
 सर्वशांतेश्च पठनं ब्राह्मणैराशिषस्तथा ।

गृही क्षमापयेद्विद्वान्निर्द्धृतिः प्रीयतामिति ॥  
विधाने चरितेस्मिन्स्तु ततः शान्तिर्भवेद्भुवम् ।  
गण्डांतेपि तथा कार्यं पुण्यार्थं तद्वदेव तु ॥  
समाष्टके द्वादशाहे कुर्याद्वा शान्तिमादरात् ।  
इत्युक्तं मनुना सम्यङ्मूलजातहिताय च ॥  
मातापित्रोर्धनस्यापि बन्धोः शोकोपशान्तये ।” इति ।  
इति श्रीशौनकप्रोक्तो मूलजननशान्तिविधिः समाप्तः ।

अथाश्लेषाजन्मशान्तिविधिर्मनूक्तः—

“आश्लेषायां तु जातानां शान्तिं वक्ष्याम्यतः परम् ।  
जातस्य द्वादशाहे च शान्तिहोमं समाचरेत् ॥  
असम्भवे तु जन्मर्क्षमन्यस्मिन्वा शुभे दिने ।  
स्नातोभ्यङ्गादिभिस्तस्मिन्वरयेत्तु द्विजोत्तमान् ॥  
विभवे पञ्चकम्भांस्तु द्वयं वा तदलाभतः ।  
देवतास्थापने चैकमेकं रुद्राभिमन्त्रणे ॥  
मूलर्क्षोक्तप्रकारेण कुम्भे निक्षिप्य पूजयेत् ।  
गौमवालेपिते देशे धात्वाद्यैः परिशोभिते ॥  
पङ्कजं कारयेत्तत्र चतुर्विंशतिपत्रकैः ।  
तण्डुलैः कारयेद्यद्वा रक्तपीतसितासितैः ॥  
कर्णिकायां न्यसेद्ब्रीहोन्स्थापयेत्तेषु कुम्भकम् ।  
आकलशेष्वित्यनया कलशस्थापनं शुभम् ॥  
‘इमं मे’ इति मन्त्रेण पूरयेत्तीर्थवारिणा ।  
कुम्भं सुवस्त्रगन्धाद्यैस्तत्तन्मन्त्रैश्च पूजयेत् ।  
याः फलिनीरित्यनया क्षिपेद्रत्नौषधादिकान् ॥

ततः पूजा—

कुम्भोपरिस्थपात्रे तु आश्लेषाप्रतिमां यजेत् ।  
निष्कनिष्कार्द्धपादैर्वा कारयित्वा स्वशक्तितः ॥  
तत्पूर्वोत्तरनक्षत्रे दक्षिणोत्तरयोर्यजेत् ।  
पेन्द्रादीशानपर्यन्तमितरर्क्षाणि पूजयेत् ॥  
मूलोक्तेन विधानेन कुम्भयोरभिमन्त्रणम् ।  
रुद्रार्चा रुद्रकुम्भे तु पूर्ववच्छेषमाचरेत् ॥  
‘नमोस्तु सर्वेभ्य’ इति पूजामन्त्र इहोदितः ।



सर्पो रक्तस्त्रिनेत्रश्च द्विभुजः पीतवस्त्रकः ॥  
फलकासिधरस्तीक्ष्णो दिव्याभरणभूषितः ।

ततो होमः—

एवं ध्यात्वा ततोभ्यर्च्य होमकर्म समाचरेत् ।  
कर्तुःशाखोक्तमार्गेण आचार्यस्याथवाचरेत् ॥  
मुखांतं कर्म निर्माय हविरादाय शास्त्रतः ।  
'इदं सर्पेभ्यो' जुहुयात्साधिप्रत्यधिदैवतम् ॥  
अष्टोत्तरशतं वाथ अष्टाविंशतिमेव च ।  
मूलनक्षत्रवच्छेषहोमं तत्र समापयेत् ॥  
पूर्णाहुत्यंतकर्माणि कृत्वा संपातकं तथा ॥

ततोऽभिषेकः—

कुंभाज्जलं तु प्रक्षिप्य त्वभिषेकमथाचरेत् ।  
दारपुत्रसमेतस्य यजमानस्य पूर्ववत् ॥  
अभिषेचेत्तदाचार्यऋत्विग्भिः सहितस्ततः ।  
अभिमंत्रितकुम्भाद्भिरभिषेचनमाचरेत् ।  
तथा पौराणमंत्रैश्च पल्लवैरभिषेचयेत् ॥  
आश्लेषाऋक्षजातस्य मातापित्रोर्धनस्य च ।  
भ्रातृज्ञातिकुलस्थानां दोषं सर्वं व्यपोहतु ।  
योऽसौ वागीश्वरो नाम चाधिदेवो बृहस्पतिः ॥  
मातापित्रोः शिशोश्चैव गण्डांतं च व्यपोहतु ।  
जातारः सर्वभूतानां रक्षन्तु पितरः सदा ॥  
सर्पनक्षत्रजातस्य धित्तं च ज्ञातिबांधवान् ।  
एवं कृतेऽभिषेके तु सर्पशांतिर्भवेद्भूधुवम् ॥

तत ऋत्विगादिदक्षिणादानम्—

ततः शुक्लांबरधरो यजमानः सुभूषितः ।  
दक्षिणाभिस्ततो विप्रान्मूलवच्च प्रतोषयेत् ॥  
भुक्तवद्भ्यश्च विप्रेभ्यः स्वीकुर्यादाशिषं गृही ।  
इत्युक्तेन विधानेन सर्वारिष्टं व्यपोहति ॥  
सर्वे कामाश्च सिद्ध्यन्ति वेदोक्तायुर्भविष्यति ।  
इत्युक्तं सर्पशांत्यर्थं सारमागमनोदितम् ॥

मानवानां हितार्याय मनुना सार्वकामिकम् ।  
 सर्पाधीश ! नमस्तुभ्यं नागानां च गणाधिप ! ।  
 गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वारिष्टप्रशान्तये ॥ इत्यर्चमंत्रः ।  
 मूलनक्षत्रकुल्यात्सर्पगण्डे स्वनामतः ” ॥ इति  
 श्रीमानवसंहितायामाश्लेषाजननशांतिविधि समाप्तः ।

विवाहे मूलाश्लेषोत्पन्नवधूवरयोरपि शांतिः—

एतच्च मूलाश्लेषांतिद्वयं विवाहे उपस्थिते श्वशुरस्य श्वश्र्वाश्च  
 सत्ये मूलाश्लेषोत्पन्नयोरपि वधूवरयास्तत्तदनिष्टनिवृत्त्यर्थं विधेयम् ।  
 उपलक्षणत्वाच्च ज्येष्ठाविशाखयोरुत्पन्नाया वध्वास्तत्रोत्पन्नवरस्य ज्ये-  
 ष्ठवन्धुकनिष्ठवन्धुपीडाशांतये च । यदाह वसिष्ठः—“नैऋत्यभोद्भूतसु-  
 तः सुता वा क्षिप्रं त्ववश्यं श्वशुरं निहन्ति । तदन्त्यपादे जनिता निह-  
 न्ति नैवोत्क्रमेणाहिभयः कलत्रम् ” इति । अहिराश्लेषा । अहिभय इति  
 पुंस्त्वमविधक्षितम् । तदाह—“सुरेशताराजनिता धवाग्रजं द्विदैवतारा-  
 जनिता तु देवरम् ” इति । नारदोपि—“मूलजा श्वशुरं हन्ति व्यालजा  
 च तदङ्गनाम् । ऐद्री पत्यग्रजं हन्ति देवरं तु द्विदैवजा ॥ शांतिर्वा पुष्कला  
 चेत्स्यात्तर्हि दोषो न कश्चन ” इति ॥

अथान्याः शांतयः श्लोकक्रमेणोच्यन्ते ।

तत्र तावन्नक्षत्रगण्डांतशांति- विधिरुच्यते—

गण्डशांतिं प्रवक्ष्यामि सोममन्त्रेण भक्तिमान् ।

कांस्यपात्रं प्रकुर्वीत पलैः षोडशभिर्नवम् ॥

अष्टभिश्च चतुर्भिर्वा द्वाभ्यां वा शोभनं तथा ।

तन्मध्ये पायसं शंखे नवनीतेन पूरिते ॥

राजतं चन्द्रमर्चेत्तु सितपुष्पसहस्रकैः ।

दैवज्ञः क्षौमवासाश्च शुक्लमाल्यांबरार्चितः ॥

सोमोऽहमिति संचित्य पूजां कुर्यादतद्रितः ।

जपेत्साहस्रकं मन्त्रं श्रद्धधानः समाहितः ॥

आप्यायस्वेति मन्त्रेण पूजां कुर्यात्समाहितः ।

दद्याद्वै दक्षिणामिष्टां गण्डदोषप्रशान्तये ॥

शुक्लं वागीश्वरं चैव ताम्रपात्रसमन्वितम् ।

गण्डदोषोपशान्त्यर्थं दद्याद्वेदविदे शुचिः ॥”

इति श्रीमानवसंहितायां नक्षत्रगण्डान्तजननशांतिविधिः ।



नक्षत्रगण्डान्तलक्षणमन्यैर्मुनिभिरेवमुक्तम्—

अश्विनीमघमूलादौ त्रिषट्कनवनाडिकाः ।  
 रेवतीसार्पणशक्रान्ते मासाश्च ऋतुसायकाः ॥  
 अश्विनीमघमूलादौ नाडिकाद्वितयं तथा ।  
 रेवतीसार्पणशक्रान्ते नाडिकाद्वितयं तथा ॥  
 अश्विनीमघमूलानां पूर्वार्द्धे बाध्यते पिता ।  
 पूषाहिशक्रपश्चार्द्धे जननी बाध्यते शिशोः ॥  
 पितृहा तु दिवाजातो रात्रिजातस्तु मातृहा ।  
 आत्मभुक् सन्ध्ययोजातो नास्ति गण्डो निरामयः ॥  
 सर्वेषां गण्डजातानां परित्यागो विधीयते ।  
 वर्जयेद्दर्शनं तावत्तच्च षाण्मासिकं भवेत् ॥ ” इति ।

तिथिलग्नगण्डातशांतिविधिरुच्यते—

अभुक्तेतरजातस्य सूतकांत्यदिने पिता ।  
 शांतिं शुभेहि वा कुर्यात्तावत्पुत्रं न लोकयेत् ॥  
 तिथिगण्डे त्वनङ्गाहं नक्षत्रे धेनुरुच्यते ।  
 काञ्चनं लग्नगण्डे तु गण्डदोषो विनश्यति ॥  
 आद्यभागे पितुर्गण्डं त्रयोणामभिषेचनम् ।  
 इतरत्र शिशोर्मातुरभिषेकं च कारयेत् ॥  
 उत्तरे तिलपात्रं स्यात्तिथ्ये गोदानमुच्यते ।  
 अजाप्रदानं त्वाष्ट्रे च पूर्वाषाढे च काञ्चनम् ॥  
 उत्तरातिथ्यचित्रासु पूर्वाषाढोद्भवस्य च ।  
 कुर्याच्छांतिं प्रयत्नेन नक्षत्राकारजां बुधः ॥  
 सुवर्णेन तदूर्ध्वेन यथावित्तानुसारतः ।  
 नक्षत्राधिपते रूपं कृत्वा वस्त्रद्वयान्वितम् ॥  
 वरुणस्यार्चनं कार्यं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।  
 शतौषधानि रत्नानि मृत्त्वक्पल्लवसंयुतान् ॥  
 पूजांते समिदन्नाज्यैर्होमं तिलयवैस्तथा ।  
 ततः पूर्णाहुतिं हुत्वा वेदाभ्यायिकुटुंबिने ॥  
 उत्तराप्रथमे पादे तिलपात्रं तथैव च ।  
 तिथ्ये तु गां सवत्सां च सुशीलां च पयस्विनीम् ॥  
 अजां चित्रासु वै दद्यात्पूर्वाषाढे तु काञ्चनम् ।

यवांश्च ब्रीहिभाषांश्च तिलमुद्रांश्च दापयेत् ॥  
 यथावित्तानुसारेण कारयेद्विप्रभोजनम् ।  
 पितुरायुष्यवृद्धयर्थं शान्तिरत्र विधीयते ॥  
 एवं यः कुरुते सम्यक्शान्तिकर्म समाहितः ।  
 न दोषैर्लिप्यते नूनं पद्मपत्रमिवांभसा ॥  
 आयुरारोग्यमैश्वर्यं स प्राप्नोति दिनेदिने ।  
 धनधान्यसमृद्धिं च पुत्रपौत्रसमृद्धिमान् ॥”  
 इत्युत्तरगाग्योक्ततिथ्यादिगण्डान्तजननशान्तिविधिः ॥

अथ ज्येष्ठाजननशान्तिः—

ज्येष्ठाशान्तिविधिरुच्यते तत्र जन्मनि फलम्—तत्र प्रत्येकं घटिका-  
 षट्कस्य फलान्याह भारद्वाजः—

“ज्येष्ठादौ मातृजननीं मातामहं द्वितीयके ।  
 तृतीये मातुलं हन्ति मातरं तु चतुर्थके ॥  
 आत्मानं पञ्चमे हन्ति षष्ठे गोत्रक्षयो भवेत् ।  
 सप्तमे कुलनाशः स्यादष्टमे ज्येष्ठसोदरम् ॥  
 नवमे श्वसुरं हन्ति सर्वस्वं दशमे तथा ।” इति ।  
 “सुखासीनमृषिश्चेष्टं गर्गं मुनिगणान्वितम् ।  
 कृताञ्जलिपुटो भूत्वा पप्रच्छ किल शौनकः ॥

शौनक उवाच ।

ज्येष्ठानक्षत्रसम्भूतगण्डदोषविनिर्णयम् ।  
 तस्य शान्तिविधानं च वद मे मुनिसत्तम ॥  
 शौनकस्य वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच महामुनिः ।  
 शृणु शौनक यत्नेन गण्डदोषविनिर्णयम् ॥  
 तस्य शान्तिविधानं च यथावत्कथयाम्यहम् ।  
 घटिकैका च मैत्रांते ज्येष्ठादौ घटिकाद्वयम् ॥  
 तयोः संधिरिति ज्ञेयं शिशुगण्डं समीरितम् ।  
 प्रथमे च द्वितीये च ज्येष्ठौ च तृतीयके ॥  
 पादत्रये जातनरः श्रेष्ठोऽप्यत्र प्रजायते ।  
 ज्येष्ठांत्यपादजातस्तु पितुः स्वस्यविनाशनः ॥  
 जायते नात्र संदेहो दशाह्वाभ्यंतरे तथा ।



ज्येष्ठर्दो कन्यका जाता हन्ति शीघ्रं धवाग्रजम् ॥

शान्तिकालः—

तच्छांतिं तस्य वक्ष्यामि गण्डदोषप्रशांतये ।  
सुदिने शुभनक्षत्रे चन्द्रताराबलान्विते ॥  
सूतकांते तथा कुर्याज्ज्येष्ठाशांतिं विधानतः ।

कलशप्रतिष्ठा—

वज्रांकुशधरं देवमैरावतगजान्वितम् ॥  
कुर्याच्छचीपतिं रम्यं देवन्द्रं सुरनायकम् ।  
कर्षमात्रसुवर्णेन कर्षार्द्धेनाथ पादतः ॥  
यथाविधि प्रकुर्वीत वित्तशाठ्यं न कारयेत् ।

ततःपूजा—

शालितंडुलसंपूर्णकुंभस्योपरि पूजयेत् ॥  
इंद्रायं दोमरुत्वते इति मंत्रेण वाग्यतः ।  
गन्धपुष्पैर्धूपदीपैर्नानाभक्ष्यनिवेदनैः ॥  
पूजयेद्विधिना विप्रो लोकपालान् गणान्वितान् ।  
पुण्योदकसमायुक्तान्वस्त्रयुग्मेन वेष्टितान् ॥  
कुम्भेषु विन्यसेद्दीमान्पञ्चगव्यं समन्त्रकम् ।  
पञ्चवृक्षकपायांश्च पञ्चपल्लवकांस्तथा ॥  
सुवर्णकुशदूर्वाश्च निक्षिपेच्छतमौषधीः ।  
पूजयेद्धारुणैर्मन्त्रैः कुम्भान्धीमान्प्रयत्नतः ॥  
त्वं नो अग्ने जपेदादौ सत्त्वं नोपि द्वितीयकम् ।  
समुद्रज्येष्ठा इति चेमस्मे गङ्गे चतुर्थकम् ॥  
पूजयेद्वस्त्रयुग्माद्यैश्चतुरः कलशानपि ।  
जपं कुर्युः प्रयत्नेन मन्त्रैरेभिर्द्विजोत्तमाः ॥  
आनोमद्राजपं चादौ भद्रा अग्नेर्द्वितीयकम् ।  
इन्द्रसूक्तं रुद्रजाप्यं जपं मृत्युञ्जयं ततः ॥  
इत्थं सम्पूज्य देवेशं वरुणं कुम्भसंस्थितम् ।

ततो होमः—

सुसंकल्पविधानेन होमकर्म ततश्चरेत् ।  
समिद्धिर्ब्रह्मवृक्षस्य शतमष्टोत्तरं तथा ॥

सर्पिषा चरुणा चैव मूलमन्त्रेण वाग्यतः ।  
हुनेज्जाप्यं च तेनैव यत इन्द्रभयेति च ॥  
तिलान्व्याहृतिभिर्हुत्वा शतमष्टोत्तरं पृथक् ।  
भार्याशिशुसमोपेतं यजमानं विशेषतः ॥  
अभिषेकं प्रकुर्वीत सूक्तैर्वारुणसंज्ञितैः ।  
समुद्रज्येष्ठादिभिर्मन्त्रैरिमं मे वरुणस्तथा ॥

ततोभिषेकः—

द्यौः शान्तिरित्यादिभिर्मन्त्रैरभिषेकं समाचरेत् ।  
अभिषेकनिवृत्तौ तु यजमानः समाहितः ॥  
शुक्लांवराणि धृत्वा च कुर्यादाज्यावलोकनम् ।  
रूपं रूपेति मन्त्रेण चित्रं तच्चक्षुरेव च ॥  
देवतापुरतः स्थित्वा धूपदोपनिवेदनम् ।  
दद्यादाचमनं सम्यक्तांबूलार्थं तथैव च ॥  
नमस्ते सुरनाथाय नमस्तुभ्यं शचीपते ।  
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं गण्डदोषप्रशांतये ॥  
कार्यं तत्पूजकादीनां कर्मणा यत्फलं शुभम् ।  
लब्ध्वा तु तत्फलं सर्वं देवेन्द्राय समर्पयेत् ॥

ततो दक्षिणा—

आचार्याय च गां यद्यात्सुशीलां च पयस्विनीम् ।  
रक्तवर्णां वत्सयुतां सर्वालंकारभूषिताम् ॥  
वस्त्रयुग्मपिधानां च यथाविभवसारतः ।  
यक्षगन्धर्वसिद्धैश्च पूजितोसि शचीपते ॥  
दानेनानेन देवेश गण्डदोषं विनाशय ।  
अष्टोत्तरशतं सद्यः कुर्याद्ब्राह्मण भोजनम् ॥  
तेभ्योपि दक्षिणां दत्त्वा प्रणिपत्य क्षमापयेत् ।  
ज्येष्ठाशांतिमिमां कृत्वा यथाविध्युक्तमागर्तः ॥  
गण्डदोषं विनिर्जित्य आयुष्माञ्जायते नरः ।  
इत्युक्तं वृद्धगाग्येण शौनकाय विशेषतः ॥  
ज्येष्ठानक्षत्रसंभूतगण्डदोषप्रशांतये ।  
अज्ञानाद्वाथवा ज्ञानाद्वैकल्याद्वा धनस्यच ॥



यन्यूनमतिरिक्तं च तत्सर्वं क्षतुमर्हसि ।”

इति श्रीवृद्धगार्ग्यसंहितायां ज्येष्ठानक्षत्रप्रसूतिशान्तिः ॥

शूलयोगादिषु द्वादशसु जन्मनि शान्तिः—

शूलयोगस्य गणितसाध्ययोर्वैधृतिव्यतीपाताख्ययोः पातयोश्च  
परिघव्याघातगरुडावमानांच भद्रायाश्च वज्रस्य यमघण्टस्य मृत्यु-  
योगदग्धयोगयोश्च शान्तिविधिरभिधीयते—

“ अथातः संप्रवक्ष्यामि जन्मकाले विशेषतः ।

गरुडांतानां च नामानि महादोषकराणि च ॥

दिनक्षये व्यतीपाते व्याघाते विष्टिवैधृतौ ।

शूले गरुडे च परिवे वज्रे च यमघण्टके ॥

कालगरुडे मृत्युयोगे दग्धयोगे सुदारुणे ।

तस्मिन्गरुडदिने प्राप्ते प्रसूतिर्यदि जायते ॥

अतिदोषकरी प्रोक्ता तत्र पापयुते सति ।

विचार्य तत्र दैवज्ञं शान्तिं कुर्याद्यथाविधि ॥

यजनं देवतानां च ग्रहाणां चैव पूजनम् ।

दीपं शिवालये भक्त्या घृतेन परिदापयेत् ॥

अभिषेकं शंकराय चाश्वत्थस्य प्रदक्षिणम् ।

आयुर्वृद्धिकरं जाप्यं सर्वारिष्टविनाशनम् ॥

गुरुदैवतविप्राणां पूजनं गोत्रवर्द्धनम् ।

पुष्ट्यायुस्तुष्टिशान्त्यर्थमभीष्टफलसिद्धये ॥

सर्वारिष्टपरीहारार्थाय यज्ञं समाचरेत् ।

शिवाय विधिवद्भक्त्या दीपदानं करोति यः ॥

अखण्डगोघृतेनैव स वै मृत्युञ्जयेन्नरः ।

विष्णुमूर्तिं महापुण्यमश्वत्थं श्रीकरं सदा ॥

प्रदक्षिणं नरो भक्त्या कृत्वा मृत्युञ्जयं जपेत् ।

सर्वसम्पत्समृद्धयर्थं नित्यं कल्याणवृद्धये ॥

अभीष्टफलसिद्धयर्थं कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।

अभिषेकं शिवे शान्तिं कृत्वा भक्त्या नरोत्तमः ॥

अकालमृत्युं निर्जित्य दीर्घायुर्जायते नरः ।

गाणपत्यं पुरुषसूक्तं सौरं मृत्युञ्जयं शुभम् ॥

शान्तिजाप्यं पुनश्चैव कृत्वा मृत्युञ्जयी भवेत् ।

मूले वा सार्पगण्डे वा कुर्यादेतानि यत्नतः ।

आयुर्वृद्धिफलार्थाय गण्डदोषप्रशान्तये ॥”

इति श्रीउत्तरगार्ग्यप्रोक्तशूलादिदुष्टयोगजननशान्तिविधिः ।

अथ सूर्यसंक्रान्ति-व्यतीपात-वैधृति-योगेषु जन्मनि शान्तिः—

सूर्यसंक्रान्तिव्यतीपातवैधृतियोगानां शान्तिरभिधीयते—

गार्ग्य उवाच—

“अथातः सम्प्रवक्ष्यामि जन्मकाले विशेषतः ।

वैधृतौ च व्यतीपाते महादोषोऽभिजायते ॥

कुमारजन्मकाले तु व्यतीपातश्च वैधृतिः ।

संक्रान्तिश्च रवेस्तत्र जातो दारिद्र्यकारकः ॥

दरिद्राणां महदुःखं व्याधिपीडा महद्भयम् ।

अश्रियं मृत्युमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥

स्त्रीणां च शोको दुःखं च सर्वनाशकरं भवेत् ।

शान्तिर्वा पुष्कला चेत्स्यात्तत्र दोषो न कश्चन ॥

गोमुखप्रसवं कुर्याच्छ्रान्तिं कुर्यात्प्रयत्नतः ।

जपाभिषेकदानैश्च होमादपि विशेषतः ॥

नवग्रहमखं कुर्यात्तस्य दोषोपशान्तये ।

प्रथमं गोमुखाज्जन्म ततः शान्तिं समाचरेत् ॥

गृहस्य पूर्वदिग्भागे गोमयेनानुलिप्य च ।

अलंकृतं स्वदेशे तु व्रीहिराशिं प्रकल्पयेत् ॥

पञ्चद्रोणमितं धान्यं तदद्धं तंडुलेन च ।

तदद्धं तु तिलैः कुर्यादन्योन्योपरि कल्पयेत् ॥

तृतीयराशौ द्रव्यस्य चाष्टपत्रं लिखेद्बुधः ।

पुण्याहं वाचयित्वा तु आचार्यं वृणुयात्पुरा ॥

आचारवन्तं धर्मज्ञं कुलीनं च कुटुम्बिनम् ।

मंत्रतत्त्वार्थतत्त्वज्ञं शान्तिकर्मणि कोविदम् ॥

पचांगभूषणं दद्यात्पट्टवस्त्रांगुलीयकम् ।

राशौ प्रतिष्ठितं कुम्भमव्रणं सुमनोहरम् ॥

तीर्थोदकेन संपूर्य समृद्धौषधिपल्लवम् ।

पञ्चगव्यं पञ्चरत्नं वस्त्रयुग्मेन वेष्टयेत् ॥



तस्योपरि न्यसेत्पात्रं सूक्ष्मवस्त्रेण संयुतम् ।  
 प्रतिमां स्थापयेद्धीमान्साधिप्रत्यधिदेवताम् ॥  
 चन्द्रादित्याकृती पार्श्वे मध्ये वैधृतिमन्त्रं यजेत् ।  
 एवमेव व्यतीपातशान्तौ संक्रमणस्य च ॥  
 भानोरुत्तरतो रुद्रमग्निदक्षिणतो यजेत् ।  
 निष्कमात्रेण चादूर्ध्वेन पादेनापि स्वशक्तितः ॥  
 प्रतिमाः कारयेद्धीमांस्तत्तल्लक्षणाक्षिताः ।  
 प्रतिमापूजनार्थाय वस्त्रयुग्मं निवेदयेत् ॥  
 अधिदैवं भवेत्सूर्यश्चन्द्रः प्रत्यधिदैवतम् ।  
 तत्तद्व्याहृतिपूर्वेण तत्तन्मन्त्रेण पूजयेत् ॥  
 त्रैयंबकेण मन्त्रेण प्रधानप्रतिमां यजेत् ।  
 उत्सूर्य इति मन्त्रेण सूर्यपूजां समाचरेत् ॥  
 आप्यायस्वेति मन्त्रेण सोमपूजां समाचरेत् ।  
 उपचारैः षोडशभिर्यद्वा पंचोपचारकैः ॥  
 अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैर्गुण्डनैश्चैव मर्पयेत् ।  
 मृत्युञ्जयेन मन्त्रेण प्रधानप्रतिमां स्पृशन् ॥  
 अष्टोत्तरसहस्रं वा अष्टोत्तरशतं तु वा ।  
 अष्टाविंशति वा चाथ प्रजप्याथ स्वशक्तितः ॥  
 सर्वसौरं प्रजप्याथ सोमार्थं सोममन्त्रतः ।  
 आनोमद्रेति सूक्तं च भद्रा अग्नेश्च सूक्तकम् ॥  
 जपेच्च पौरुषं सूक्तं त्रैयंबकमतः परम् ।  
 कुम्भं स्पृष्ट्वा चतुर्दिक्षु जपं कुर्युस्त्वथ त्विजः ॥  
 कुम्भस्य पश्चिमे देशे स्थण्डिलेऽग्निं प्रकल्पयेत् ।  
 स्वगृह्योक्तविधानेन कारयेत्संस्कृतानलम् ॥  
 त्रैयम्बकेण मन्त्रेण समिदाज्यचरुन्हुनेत् ।  
 अष्टोत्तरसहस्रं वा त्वष्टोत्तरशतं तु वा ॥  
 अष्टाविंशतिहोमं वा स्वस्वशक्त्यनुसारतः ।  
 मृत्युञ्जयेन मन्त्रेण तिलहोमं समाचरेत् ॥  
 ततः स्विष्टकृतं हुत्वा ह्यभिषेकं च कारयेत् ।  
 समुद्रज्येष्ठाः सूक्तेन चापोहिष्ठा त्र्यम्बकेन च ॥  
 अक्षीभ्यामिति सूक्तेन पावमानीभिरेव च ।

त्रैयंबकेण उत्सूर्य आप्यायस्वेति मन्त्रतः ॥  
सुरास्वाभिति मंत्रेण त्वभिषेकं समाचरेत् ।  
अभिषेकान्नुतं वस्त्रमाचार्याय प्रदापयेत् ॥  
श्वेतवस्त्रधरो भूत्वा भूषणाद्यैरलंकृतः ।  
यजमानः स्त्रिया युक्त आज्यावेक्षणमाचरेत् ॥  
आचार्यं पूजयेत्पश्चाद्वस्त्रहेमांगुलीयकैः ।  
गोदानं वस्त्रदानं च स्वर्णदानं विशेषतः ॥  
तद्दोषशमनार्थाय आचार्याय प्रदापयेत् ।  
प्रच्छादनपटं दद्यात्ततः शान्तिर्भविष्यति ।  
जापकेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दक्षिणाभिश्च तोषयेत् ॥  
दीनान्धकृपणेभ्यश्च प्रदद्याद्भूरिदक्षिणाः ।  
ब्राह्मणाञ्छतसंख्याकान्मिष्टान्नैर्भोजयेच्च तान् ॥  
बंधुभिः सह भुंजीत यथाविभवसारतः ।  
एव यः कुरुते मर्त्यो नैव दुःखमवाप्नुयात् ॥  
आयुरारोग्यमैश्वर्यं मातापित्रोः शिशोरपि ।  
सर्वदुःखनिवृत्त्यर्थं पुत्रपौत्रप्रवर्द्धनम् ॥  
सर्वान्कामानवाप्नोति शान्तिं कुर्वन्हि मानवः ॥”

इति श्रीउत्तरगाग्योक्तव्यतिपातवैधृतिसंक्रान्तियोगजन्मशान्तिविधिः ।

कुङ्कुमसिनीवालीदर्शशान्तिरुच्यते । तत्रेयमुपपत्तिः । यथा त्रिविधो दर्शः कुङ्कुरूपः, सिनीवालीरूपः, उभयलक्षणव्यतिरिक्तश्चेति । यतो द्विविधामावास्या । “अमावास्या त्वमावास्या दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः । सा दृष्टेन्दुःसिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुङ्कुः ॥” इत्यमरोक्तेः । निशि चन्द्रवती या तु पूर्णिमा सानुमतिः । सा दिवा चन्द्रवती राका । तद्वदेव द्विधाऽमा । “सिनीवाली चन्द्रवती नष्टचन्द्रा कुङ्कुर्भता ” इति कश्यपोक्तेश्चामावास्याया द्विविधत्वमेवावसीयते । युक्तंचैतत् दृष्टचन्द्रात्वं नष्टचन्द्रात्वममावास्यायाः संभवति न पुनरुभयाभावेन तृतीयामावास्येति । नन्विदमप्ययुक्तम् । यतो रवेर्द्वादशांशविप्रकर्षे चन्द्रदर्शनं कालांशवशेनोक्तम् । तदाह भास्करः—“ दसैर्दवः शैलभुवश्च शका रुद्राः खचन्द्रास्तिथयः क्रमेण । चन्द्रादितः काललवा निरुक्ता शशुक्रयोर्वक्रगयोर्द्विहीनाः ॥ ” इति । द्वादशांशमितेन चांतरेणामावास्यालक्षणस्य तिथेर्निष्पत्तिः । उक्तं च सूर्यसिद्धांते—“ अर्काद्विनिःसृतः प्राचीं यद्यात्यहरहः शशी ।



तच्चाद्रमानमंशैस्तु ज्ञेयो द्वादशभिस्तिथिः ॥ ” इति । एवं च कथं दृष्ट-  
चन्द्रा सिनीवालीत्युक्तं, कथं च नष्टचन्द्रा कुङ्कः, कथं चानयोर्भेद इति ।  
विना प्रयोजनं चैकस्य वस्तुनोऽनेकसंज्ञाकरणां न युक्तमिति चेत्, उच्यते  
नहि कालांशवशेन ग्रहाणांमस्तोदयौ । किं तर्हि ? क्षेत्रांशवशेन । तदु-  
क्तं सूर्यसिद्धांते—“ अष्टादशशताभ्यस्ता दृश्यांशाः स्वोदयासुभिः ।  
विभज्य लब्धं क्षेत्रांशास्तैर्दृश्यादृश्यता मता ॥ ” इति । तथा च—“सू-  
र्यास्तकालिकौ पश्चात्प्राच्यामुदयकालिकौ । दिवाकरग्रहौ कुर्यादृक्कर्मा-  
र्थं ग्रहस्य तु ” इत्यादिना प्रकारेण द्विविधदृक्कर्म्मसंस्कृताच्चन्द्रादे रा-  
श्यादयवैषम्येण देशभेदेन च नियतत्वात्कदाचिदमावास्यायामपि साधै-  
तर्दशभिरंशैरन्तरितश्चन्द्रो दर्शनगोचरो भवति । कदाचित्पण्डशांशां-  
तरितो द्वितीयायामपि चन्द्रो दृग्गोचरो भवति । एवंमेव कदाचिच्चतुर्द-  
शीशेषे च न दृश्यते । कदाचिदल्पावशिष्टायां प्रतिपद्यपि दृश्यते ।

प्रतिपच्चन्द्रदर्शने फलविशेषः—

अत एव गर्गेण प्रतिपदुदितस्य चन्द्रस्य फलविशेषोभिहितः ।  
यथा च गर्गसंहितायाम्—“ यदा चन्द्रः प्रतिपदि नौसंस्थाय  
प्रदृश्यते । उत्तरोज्ज्वलशृङ्गः स्यात्स्निग्धश्चातिमनोहरः ॥ क्षेमं सुभिन्न-  
मारोग्यं सर्वभूतेषु निर्दिशेत् । ” इति । अत एव भारविणापि—“प्रण-  
मन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्” इति किरातार्जुनोये  
प्रयुक्तम् । अत्रैतस्य टीकाकाराः—प्रतिपच्छब्देन प्रतिपत्सहचरिता द्वि-  
तोया गृह्यते । प्रतिपदि चन्द्रदर्शनाभावादिति (१) व्याचष्ट्युः—ते चिन्त्यो-  
क्तयो ध्येयाः । ननु प्रतिपदि चन्द्रोदय उत्पातः, तद्दर्शनमशुभफल-  
मिति चेन्न । गणितविसंवादिबुधादिदर्शनं गणितज्ञानाशक्यमेव । के-  
त्वादिदर्शनं चोत्पात इति । तल्लक्षणं प्रागुक्तं मया । चन्द्रोदयस्तु क-  
दापि गणितं न व्यभिचरति, प्रत्यक्षदर्शनात् । प्रतिपदुदितचन्द्रस्य  
गर्गेण प्रशस्तफलाभिधानाच्च । न ह्युत्पातानां समीचीनं फलं कुत्रा-  
प्युक्तं स्वर्तुजानुत्पातान्विहाय वचनात्, येन प्रतिपदि चन्द्रोदय  
उत्पात इत्युच्यते तेन चतुर्दशीशेषे प्रातश्चन्द्रोदयाभावो ह्युत्पातो वाच्य  
इति, तच्चायुक्तम् । उक्तादेव हेतोः । तस्मात् क्षेत्रांशवशेनैव ग्रहाणां-  
मस्तोदयौ भवतः । कालांशोक्तिस्तु क्षेत्रांशनिदानभूतत्वाय सामान्यत

(१) भवतु, शाब्दिकास्ते ।

उदयास्तज्ञानसिद्धयैव । तदेतत्पितृचरणैस्तोडरानन्दे चन्द्रचारविलासे  
सम्यक् प्रतिपादितम् । तस्माद्दृक्कर्मसंस्कारवशेन चतुर्दशीशेषे प्रात-  
श्चन्द्रोदयो दृश्यते न दृश्यते । एवं च प्रातरमावास्यायामपि चन्द्रोदयो  
न दृश्यते, दृश्यते । तस्मात्सुष्ठुक्तं—“सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा  
नष्टेन्दुकला कुहूः” इति, तद्वदेव द्विधा ह्यमा । “सिनीवाली चन्द्रवती  
नष्टचन्द्राकुहूर्मता” इति । कश्यपोपि ‘द्विधैवामावास्या’ इत्याहस्म ।  
युक्तमेव—यद्यमावास्यायां चन्द्रो दृश्यते तदामावास्या सिनीवाली, यदा  
चन्द्रोमावास्यायां न दृश्यते तदा कुहूरिति । परन्तिवदमयुक्तम् । यदुभयरा-  
हित्येनामावास्यान्तरमप्यस्तीति । अस्यासम्भवात् । अत्र समाधि (१) वा-  
वदूकास्तावदाहुः । यस्याः कस्याश्चिदमावास्यायां अष्टौ विभागान्कृत्वा  
प्रथमविभागे चन्द्रदर्शनमस्ति नवेति विचार्य । यदा चन्द्रदर्शनं तदा सि-  
नीवाली, यदा चन्द्रादर्शनं तदामावास्या सकलचन्द्रक्षये कुहूरिति ।  
तदेतदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे ‘इन्दुक्षयकालः श्राद्धकालः’ इति प्रस्तुत्ये-  
न्दुलक्षकालपरिमाणमुक्तम्—“अष्टमंशे चतुर्दश्याः क्षीणो भवति च-  
न्द्रमाः । अमावास्याष्टमे भागे पुनः किल भवेदणुः” इति । “आग्रहाय-  
ण्यमावास्या तथा ज्येष्ठस्य या भवेत् । विशेषमाभ्यां ब्रुवते चन्द्रचार-  
विदो जनाः ॥ अत्रेन्दुराद्ये प्रथमेवतिष्ठते चतुर्थभागोनकलावशिष्टः ।  
तदन्त एव क्षयमेति कृत्स्न एवं ज्योतिश्चक्रविज्ञा वदन्ति” इति ।  
आभ्यामिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । एते अमावास्ये प्रकृत्येत्यर्थः । एत-  
त्कारिकात्रयं तद्भाष्यकारेण व्याख्यातं—“प्रहरनवात्मकश्चन्द्रक्षयकालः”  
इति । तत्रामायाः सप्तमाष्टमयामौ कृत्स्नक्षयकालः चतुर्दशीशेषयामदर्शा-  
दियामौ चन्द्रसूक्ष्मताकाल इति । पुनः किलशब्दाभ्यामयमर्थो द्योत्यते  
चतुर्दश्याः क्षयं सूक्ष्मममान्त्यभागे कृत्स्नक्षयकाल इति । अमावा-  
स्याविशेषे ज्येष्ठादावमाद्ययामे चन्द्रो दृश्यत इत्यर्थः । ज्योतिश्च-  
क्रविज्ञा इत्यस्यार्थः पितृचरणैरभिहितः । तेन देशकालगणनाकुशला  
यथायथा गणयन्ति तदेवाङ्गीकार्यमिति सूच्यते । ततश्च ज्येष्ठादिकालमि-  
न्नकालेऽप्येवंविधोपलम्भः । ज्येष्ठादौ च नोपलम्भो देशकालभेदेन संभवती-  
ति । तदयमत्र विवेकः—यस्याममावास्यायां प्रथमे प्रहरे शास्त्रात्प्रत्यक्षतो  
वा चन्द्रदर्शनं स्यात्सा सिनीवाली सर्ववादिसिद्धा । तत्रोत्पन्नस्य सिनी-



वालीजननफलमादेश्यं सिनीवालीप्रयुक्ता शांतिश्च विधेया । अथ  
यस्याममावास्यायां यदा नष्टेदुकलात्वं स्यात्तदा कुहूरिति । तत्रैकस्या-  
श्चंद्रकलायाः किञ्चिन्नाशो वा अखिलनाशो वेति संदेहे विनिगमनाविरहा-  
त्कृत्स्नकलाक्षय एव विवक्षितः, मुख्यत्वात् । यत्किञ्चिन्नाशस्त्वपचीय-  
मानत्वादौः । “गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः” इति न्यायान्मुख्य-  
स्यैव ग्रहणं युक्तम् । स च कृत्स्नक्षयकालोभावास्यांतिमक्षण एव ।  
यस्य चातिसूक्ष्मत्वादुद्भानत्वात्सप्तमाष्टमप्रहरात्मकः कालः कुहूशब्दवा-  
च्यः, तत्रोत्पन्नस्य कुहूजननफलं तच्छांतिश्चादेश्या । पुनस्तस्यामेवा-  
मावास्यायां प्रथमप्रहरानंतरं सप्तमप्रहरादर्वाक् प्रहरपञ्चकात्मकः कालो  
दर्शशब्दवाच्यः इति । तत्रोत्पन्नस्य दर्शजननफलं तच्छांतिश्चादेश्या ।  
एवमेकस्यामेवामावास्यायां कालभेदेन त्रयं संभवति । अत्र केचित्सिनी-  
वाल्यां विशेषमाहुः । चतुर्दशीशेषे सूर्योदयात्प्राक् चन्द्रदर्शने जाते सति  
परदिने याऽमावास्या सा सिनीवाली । तथा च जगन्मोहने बौधायन  
इत्युक्त्वा पठितं—“मध्याह्नसमयं यावच्चतुर्दश्यनुवर्तते । सिनीवाली-  
ति सा त्वेषा पितृकर्मणि शस्यते ॥” इति । धर्मशास्त्रेष्वेतादृशानि भू-  
यांसि वचनानि सन्ति । तेषामिदं श्राद्धकालनिर्णयोपयोगिपारिभाषिकं  
सिनीवालीत्वं, न पुनर्जननादौ । कुतः निरुक्तिविरोधात् । तथाहि, ‘सा  
दृष्टेन्दुःसिनीवाली’ इत्यादिवाक्येषु दृष्टश्चन्द्रो यस्यां सा सिनीवालीति  
बहुव्रीहिः । स च “अनेकमन्यपदार्थे” इति विहितः । तत्रान्यपदार्थतयो-  
पस्थितामावास्यैव गृह्यते, प्रकरणात् । न चैवं सति चतुर्दश्यां चन्द्रोदये  
सिनीवालीत्वं स्यात् । ‘दृष्टचन्द्रा सिनीवाली’ इत्येतावतैव लक्षणैः  
सर्वासामपि दृष्टेन्दुत्वात्सिनीवालीति तच्छान्तिकोक्तिरनर्थिका स्यात् ।  
ननु दृष्टश्चन्द्रो यस्यामित्यन्यपदार्थे सप्तमी सामीप्यपरेति व्याख्यायते  
इति चेत्, न । तस्याः सामीप्यसप्तम्यागौणाधारपरत्वात् । मुख्यासम्भवे  
हि गौणग्रहणं युक्तम् । अत्र तु मुख्य एवाधारः अमावास्यारूपः सम्भव-  
तीति गृह्यते । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः” इति न्यायात् । ननु  
दृष्टश्चन्द्रो यस्या इति षष्ठ्यर्थेऽन्यपदार्थे बहुव्रीहौ सम्बन्धमात्रं मु-  
ख्य एव षष्ठ्यर्थ इति सामीप्यसम्बन्धवत्षष्ठ्यन्तेन्यपदार्थे बहुव्रीहिरयं  
भविष्यतीति चेत्, न । सामीप्यादिसम्बन्धे मत्वर्थीयः प्रत्ययो बहुव्री-  
हिरा न कैरपि वैयाकरणैरिष्यते । तदेतत् ‘तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्’  
इत्यत्र महाभाष्यकारेण प्रत्यपादि । नचैवमपि ‘कुहूः सिनीवाल्यपि न-

ष्टदृष्टचन्द्रे स्मृते चासितपञ्चदशयौ ” इत्यादिवाक्येषु बहुव्रीहिनिर्देशो मनुवर्निर्देशो वा नास्ति । तत्र कृष्णचतुर्दश्यामपि चन्द्रोदयस्य दृष्टत्वा-  
 दमावास्यायाः सिनीवालीति संज्ञा स्यादिति चेत्, न सम्भवति ।  
 ‘सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यस्यान्याव्ययत्वात्’ इति न्यायाच्चन्द्रोदयस-  
 मानाधिकरणात्मावास्याग्रहणस्यैव युक्तत्वात् । किं च सिनीपदेन श्वे-  
 तचन्द्रकलोच्यते । सितशब्दः श्वेतवर्णावाची । तस्मात् स्त्रियां “वर्णा-  
 दनुदात्तात्तोपधात्तो नः ” इति डोप्नकारौ । सिनी तां वलते  
 प्राप्नोतीति सिनीवालीति व्युत्पत्तेश्चतुर्दश्युदितं चन्द्राश्रयायाममा-  
 वास्यायां न युज्यते “कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकम् ” इति  
 भाष्यकारस्मरणादिति । तस्मात् दृष्टेदुः सिनीवालीत्यमावास्यैवाभिधी-  
 यत इति यत्प्रागुक्तं तदेव ज्यायः । एवमेकस्यामेवामावास्यायां सिनी-  
 वालीकुहूदर्शरूपं भेदत्रयं युक्तम् । अथ सिद्धांतविदोन्यथा समादधुः ।  
 तत्र “ सा दृष्टेदुः सिनीवाली सा नष्टेदुकला कुहूः ” इत्यादिषु हि  
 दर्शनशब्देन चाक्षुषं दर्शनं विवक्षितम् । तच्चोदयास्ताधिकाररीत्या  
 दर्शनयोग्यत्वे सति पूर्वक्षितिजक्रांतिवृत्तसंबन्धवत्त्वं ग्रहादेर्दर्शनशब्दवा-  
 च्यम् । मेवाद्यावरणो हि शास्त्रोये दर्शने दृशिर्वर्तते । आत्मा द्रष्टव्य  
 इत्यादिवत् । अत्रार्थे “ पश्याथैश्चानालोचने ” इति पाणिनिरप्यनुकू-  
 लः । अतो भास्करेणाप्युक्तं—“ निजनिजोदयलग्नसमुद्रमे समुदयोपि  
 भवेद्भनभःसदाम् ” इति तथैव रोत्या दर्शनायोग्यत्वे पूर्वक्षितिजक्रा-  
 न्तिवृत्तसंबन्धवत्त्वमदर्शनशब्दवाच्यम् । यत्तु “ भवति चास्तविलग्न-  
 समुद्रमे प्रतिदिनेऽस्तमयः प्रवहन्नमात् ” इति भास्करेणोक्तं तद्भनभः-  
 सदां क्रांतिवृत्तपश्चिमक्षितिजसन्निधिवशेनास्तलक्षणमुक्तं न तु पूर्वक्षि-  
 तिजदर्शनाभावलक्षणमिति मयोक्तं दर्शनाभावलक्षणम्, अतो दर्श-  
 नलक्षणवत्यमावास्या सिनीवाली नामादर्शनलक्षणवत्यमावास्या कु-  
 हूर्नाम, लक्षणद्वयानाक्रांतामावास्या दर्शशब्दवाच्येति ।

अथ सिनीवालीकुहूदर्शानां तच्छ्रान्तीनां च व्यवस्था—

यदा खल्वमावास्या सूर्योदयात्प्राग्घटिकात्रयवती तदा दृक्कर्म-  
 संस्कारवशेन चन्द्रस्य दृश्यत्वमागतं चेत् तदा सा सम्पूर्णा-  
 मावास्या सिनीवालीनाम । तादृश्याममायां द्वितीयसूर्योदयाव-  
 धिकायामुत्पन्नस्योरिष्टशान्तये सिनीवाली शान्तिस्तत्फलं चादे-  
 श्यम् । अतिवृद्धौ वा तस्या अमावास्याया द्वितीयसूर्योद-



यानन्तरमवशिष्टामावास्याघटीषूत्पन्नस्य कुहूशान्तिरेव चन्द्रदर्शनलक्षणसत्त्वात् । यदि सैवामावास्या सूर्योदयात्प्राग्घटिकाचतुष्टयं वा प्रतिपत्संबद्धा तदा सिनीवालेवेव । अथ तादृश्यामेव न्यूनायां वाधिकायां वामावास्यायां तु दृक्कर्मसंस्कारवशेन चन्द्रस्यादृश्यत्वमागतं सामावास्या संपूर्णा कुहूर्नाम, चन्द्रादर्शनलक्षणत्वात् । तत्र कुहूजननफलं सा शान्तिश्चादेश्या । यदा तु सूर्योदयानन्तरं कियतीषु घटीष्वतिक्रान्तास्वमावास्याप्रवृत्तिस्ततः पूर्वं चतुर्दश्येवावस्थिता तस्यामुषसि दृक्कर्मवशतश्चन्द्रो दृष्टोऽमावादृशि । तस्याममावास्यायां चन्द्रदर्शनादर्शनलक्षणानाक्रान्तत्वात्सामावास्या संपूर्णा दर्शो नाम । तत्र दर्शनजननफलं शान्तिश्च विधेयेति । एवममावास्याभेदेन सिनीवालीकुहूदर्शरूपसंज्ञात्रयं सावकाशमित्यस्मन्मतम् ।

अन्यथापि भेदत्रयम्—

तत्र सिनीवाली सर्ववासिद्धा सैव । कुहूस्तु प्रकारान्तरेण पारिभाषिकी । यदाह वसिष्ठः—“नक्षत्रे यस्य दर्शान्तो विषनाड्यां भवेद्यदि । कुहूयोग इति ख्यातो व्याधिमृत्युभयादिकृत् ॥” इति । अयमर्थः । यस्मिन्नक्षत्रे या विषनाड्य उक्तास्तस्मिन्काले यदि दर्शस्य समाप्तिर्दर्शचरमनाडी भवेत् तन्नक्षत्रं यस्य पुरुषस्य जन्मर्क्षं जन्मकाले कालान्तरे वा स्यात्तस्य पुंसो व्याधिमृत्युभयकृत्कुहूः योगो ध्येयस्तत्र कुहूजननफलं शान्तिश्च स्यात्, कालान्तरेऽपि कुहूयोगसंभवे शान्तिर्विधेया । अत्र कुहूयोगे विशेषमाह स एव “जन्मांशे यदि कुहूस्यात्परमासान्मृत्युमाप्नुयात् । जन्मलग्नेऽथ जन्मांशे मृत्युर्मासत्रयाद्भवेत् ।” इति । पूर्वोक्तकुहूयोगकाले यदि जन्मनवांशे चन्द्रस्तदा परमासमध्ये मृत्युः । यदि जन्मलग्नं तस्मिन्काले जन्मांशगश्चन्द्रश्चेत्युभयसम्भवे मासत्रयेण मृतिरिति भावः । अत एवोक्तं जगन्मोहने वसिष्ठः—“यस्य जन्मर्क्षगश्चन्द्रो विषनाड्यां कुहूभवेत् । अभिचारेण किं तस्य स्वयमेव मरिष्यति ॥” इति । अतो विषघटिकातः पूर्वकालो दर्शशब्दवाच्य इति । एवमस्माभिः प्रकारत्रयेण सिनीवालीकुहूदर्शानां भेद उपपादितः । तत्र यथासंप्रदायं व्यवस्थेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

ज्योतिःशास्त्रमहोदयदवगाहनिविष्टधीः ।

नीलकण्ठांशगोविन्दहनूमान्केन गीर्यताम् ॥ १ ॥

सिनीवालीकुहोर्जन्मनि शान्तिः—

प्राक्प्रतिज्ञाता सिनीवालीकुह्वांतिस्तावदुच्यते, गार्ग्यः—  
 “सिनीवाल्यां प्रसूता स्याद्यस्य भार्या पशुस्तथा ।  
 गवाश्वं महिषी चैव शक्रस्यापि श्रियं हरेत् ॥  
 ये च संति द्विजा—( १ ) श्वान्ये स्वप्रसादोपजीविनः ।  
 वर्जयेत्तानशेषांस्तु पशुपक्षिमृगादिकान् ॥  
 कुह्मप्रसूतिरत्यर्थं सर्वदोषकरी नृणाम् ।  
 यस्य प्रसूतिरत्र स्यात्तस्यायुर्धननाशनम् ॥  
 सर्वगण्डसमस्तत्र दोषस्तु प्रबलो भवेत् ।  
 नारीं विना विशेषाणां परित्यागो विधीयते ॥”

गोमहिष्यादीनां सिनीवालीकुहोः जातानां त्यागो न तु नारी-  
 णामिति भावः ।

“परित्यागात्तत्र शान्तिं कुर्याद्धीमान्विचक्षणः ।  
 तत्फलं तत्क्षणाद्धेन पुनरेव विलीयते ॥  
 न त्यजेत्परिडितो मोहादथादज्ञानतोपि वा ।  
 तद्योगं नाशयेदाशु स्वयं वा नाशमृच्छति ॥  
 कल्पोक्तशान्तिः कर्तव्या शीघ्रं दोषानुपत्तये ।  
 रुद्रः शक्रश्च पितरः पूज्याः स्युर्देवताः क्रमात् ॥  
 कर्षमात्रसुवर्णेन तदर्द्धाद्धेन वा पुनः ।  
 अथ वा शक्तिः कुर्याद्विचक्षाद्यविवर्जितः ॥  
 प्रतिमां कारयेच्छम्भोश्चतुर्भुजसमन्विताम् ।  
 त्रिशूलखड्गवरदाभयहस्तां यथाक्रमात् ॥  
 श्वेतवर्णां श्वेतपुष्पां श्वेतांबरवृषस्थिताम् ।  
 त्रैलोक्यकेण मन्त्रेण पूजां कुर्याद्यथाविधि ॥  
 इन्द्रश्चतुर्भुजो वज्राकुशचापससायकः ।  
 रक्तवर्णो गजारूढो यत इन्द्रेति मन्त्रः ॥  
 पितरः कृष्णवर्णाश्च चतुर्हस्ता विमानगाः ।  
 यष्ट्यक्षसूत्रकमण्डलवभयानां च धारिणः ॥  
 ये सत्या इति मन्त्रेण पूजां कुर्यादनन्तरम् ।

(१) द्विजाः पक्षिणः ।



आग्नेयीं दिशमारभ्य कुम्भान्कोणेषु विन्यसेत् ॥  
 तन्मध्ये स्थापयेत्कुम्भं शतच्छिद्रसमन्वितम् ।  
 तेष्वेव पञ्चगव्यादींस्तत्तन्मंत्रैश्च निःक्षिपेत् ॥  
 कल्पोक्तशान्तिः कर्त्तव्या शीघ्रमेव प्रयत्नतः ।  
 गोदानं वस्त्रदानं च सुघर्णं चौर्णकं शुभम् ॥  
 दश दानानि चोक्तानि क्षीरमाज्यं गुण्डन्तथा ।  
 आज्यावेक्षणमेतानि तत्तन्मंत्रैश्च कारयेत् ॥  
 समिदाज्यचरोहोमं तिलमाषैश्च सर्षपैः ।  
 अश्वत्थप्लक्षपालाशसमिद्धिः खदिरैः शुभैः ॥  
 अष्टोत्तरशतं मुख्यं प्रत्येकं जुहुयाद्द्विजः ।  
 त्रैयंबकेण मंत्रेण तिलान्व्याहृतिभिः पुनः ॥  
 चतुर्भिः कलशैर्युक्तं बृहत्कुम्भसमन्वितम् ।  
 शान्तिवत्कलशैः कार्यमभिषेकं च मन्त्रतः ॥  
 पितृमातृशिशूनां च अभिषिचेत्तु वारुणैः ।  
 शंकरस्याभिषेकं च कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ॥  
 अन्येषां चैव सर्वेषां ब्राह्मणानां च तर्पणम् ।  
 यथाशक्ति तदा कार्यं द्विजवाचनकं तथा ॥”  
 इत्युत्तरगायत्रीं कसिनीवालीकुड्मशान्तिविधिः ।

अथ नारदोक्ता दर्शजन्मशान्तिः—

“अथातो दर्शजातानां मातापित्रोर्दरिद्रता ।  
 तद्दोषपरिहारार्थं शान्तिं वक्ष्यामि नारदः ॥  
 पुण्याहं वाचयित्वादौ क्रतुसंकल्पपूर्वकम् ।  
 कुण्डं च मण्डपं कुर्यात्तद्देशे स्थापयेद्धटम् ॥  
 तत्कुम्भे निःक्षिपेद्द्रव्यं दधिक्षीरघृतादिकम् ।  
 न्यग्रोधोद्बराश्वत्थाः सचूता निंबकास्तथा ॥  
 एतेषां वृक्षमूलानां त्वगादीन्पल्लवांस्तथा ।  
 पञ्चरत्नानि (१) निःक्षिप्य वस्त्रयुग्मेन वेष्टयेत् ॥

(१) पञ्चरत्नानि वसिष्ठसंहितोक्तानि—

वज्रमौक्तिकवैदूर्यपुष्परामेन्द्रनीलकम् ।  
 पञ्चरत्नमिदं प्रोक्तं मन्त्रैः कुम्भेषु निःक्षिपेत् ॥

सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदानदाः ।  
 आयांतु यजमानस्य दुरितक्षयकारकाः ॥  
 आपोहिष्ठाञ्चैव नाथ कयानश्चित्र इत्यृचा ।  
 यत्किंचेदमृचा चैव समुद्रज्येष्ठा इत्यृचा ॥  
 अभिमंज्योदकं पश्चादग्नेः पूर्वप्रदेशके ।”  
 उदकमभिमंज्य पश्चाद्दर्शदेवताः स्थापयेदित्यर्थः ।

मंडलं कुर्यादिति यदुक्तं तत्—

“हारिद्रं रक्तकं चैव कृष्णं श्वेतं च नीलकम् ।  
 एतेषां तण्डुलैश्चैव सर्वतोभद्रमुद्धरेत् ॥  
 दर्शस्य देवतायाश्च सोमसूर्यस्वरूपकाः ।  
 प्रतिमाः स्वर्णजा नित्यं राजतीस्ताम्रजास्तथा ॥”

दर्शदेवतारूपां सोमसूर्यस्वरूपप्रतिमां स्थापयेदित्यभेदेनान्वयः ।  
 कुहूमपि, तत्रापीदम् ।

“सर्वतोभद्रमध्ये च स्थापयेद्दर्शदेवतम् ।  
 ग्रहवर्णं वस्त्रयुग्मं तद्वर्णं गन्धपुष्पकम् ॥  
 आप्यायस्वेति मंत्रेण सविता पश्चात्तमेव च(?) ।  
 उपचारैः समाराध्य ततो होमं समाचरेत् ॥  
 कृत्वा वह्निं प्रतिष्ठाप्य क्रतुसंकल्पमीदृशम् ।  
 आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं सर्वारिष्टप्रशांतये ॥  
 पुत्रस्य दर्शजननदोषनिर्हरणाय च ।  
 मातापित्रोः कुमारस्य सर्वारिष्टप्रशांतये ॥  
 तेषामायुःश्रियं लब्धुं शान्तिहोमं करोम्यहम् ।  
 समिधश्च चरुद्रव्यं क्रमेण जुहुयाद्गृही ॥  
 हुनेत्सवितृमंत्रेण सोमो धेनुं च मंत्रतः ।  
 एतैर्मंत्रैश्च प्रत्येकं हुनेदष्टोत्तरं शतम् ॥  
 दर्शस्य देवताहोममष्टाविंशतिसंख्यया ।  
 होममेवं तु कृत्वाथ विध्याचाराभिषेचनम् ॥  
 श्रीसूक्तमायुष्यसूक्तं समुद्रज्येष्ठषड्ऋचा ।  
 एतैर्मंत्रैरभिषेकं मातापित्रोः शिशोस्तथा ॥  
 ततः स्विष्टकृदादि स्याद्दधोमशेषं समापयेत् ।



हिरण्यं रजतं चैव कृष्णा धेनुश्चदक्षिणा ॥  
 अन्येभ्योपि यथाशक्ति दातव्या दक्षिणा तथा ।  
 ब्राह्मणान् भोजयेत्तत्र कारयेत्स्वस्तिवाचनम् ॥”  
 इति श्रीनारदोक्तो दर्शजननशान्तिविधिः ।

अथ कृष्णचतुर्दशीशान्तिविधिः—

मंदरस्थं सुखासीनं गगं मुनिवरं शुभम् ।  
 नमस्कृत्वाऽथ पप्रच्छ शौनको मुनिपुंगवः ॥  
 शान्तिकर्माणि सर्वाणि त्वत्तो जानाम्यहं पुरा ।  
 अधुना श्रोतुमिच्छामि कृष्णपक्षचतुर्दशीम् ॥  
 दिवा वा यदि वा रात्रौ प्रसूतेः किं फलं वद ।

गगं उवाच—

कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां प्रसूतेः षड्विधं फलम् ।  
 चतुर्दशीं च षड्भागां कुर्यादादौ शुभं स्मृतम् ॥  
 द्वितीये पितरं हन्ति तृतीये मातरं तथा ।  
 चतुर्थे मातुलं हन्ति पंचमे वंशनाशनम् ॥  
 षष्ठे तु धनहानिः स्यादात्मनो वंशनाशनम् ।  
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शान्तिं कुर्याद्विधानतः ।  
 आचार्यं वरयेद्धोमान्पुत्रदारसमन्वितम् ।  
 स्वकर्मनिरतं शान्तं श्रोत्रियं वेदपारंगम् ॥  
 सर्वालङ्कारसंयुक्तं सर्वलक्षणसंयुतम् ।  
 ब्राह्मणानृत्विजश्चैव स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥  
 रुद्रोधिदेवता तस्याः कर्षमात्र—(१)सुवर्णतः ।  
 तदद्धेनं च वा कुर्याद्विज्ञातयेन वर्जितः ॥  
 प्रतिमां कारयेच्छम्भोः सर्वलक्षणसंयुताम् ।  
 वृषभे च समासीनं वरदाभयपाणिकम् ॥  
 शुद्धस्फटिकसंकाशं श्वेतमालयांबरान्वितम् ।  
 त्रैयंबकेण मंत्रेण पूजां कुर्याद्विधानतः ॥  
 स्थापयेच्चतुरः कुम्भांश्चतुर्दिक्षु यथाक्रमम् ।

(१) ‘दशार्धगुलं’ प्रवदन्ति माषं माषाह्वयैः षोडशभिश्च कर्षम्  
 इति भास्कराचार्यः ।

पुण्यतीर्थजलोपेतान्धान्यस्योपरि विन्यसेत् ॥  
 शतौषधानि(१) निःक्षिप्य श्वेतवस्त्रैश्च वेष्टयेत् ।  
 शुभानि चैव पुष्पाणि श्वेतानि परिवेदयेत् ॥  
 सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदानदाः ।  
 आयांतु यजमानस्य दुरितक्षयकारकाः ॥  
 आवाह्य वारुणैर्मन्त्रैरनेन च विधानतः ।  
 इमं मे वरुणेत्यनया तस्वायामीत्यृचा तथा ॥  
 'त्वन्नो अग्ने' इत्यनया सत्वन्न इति मन्त्रतः ।  
 आग्नेयकुम्भमारभ्य पूजां कुर्याद्यथाक्रमम् ॥  
 आनोभद्राख्यसूक्तेन भद्रा अग्नेश्च सूक्तकम् ।  
 जप्त्वा पुरुषसूक्तं च कद्रुद्रं तु क्रमाज्जपेत् ॥  
 ईश्वरस्याभिषेकं च ग्रहपूजां च कारयेत् ।

(१) शतौषधीमूलानि—१ अश्मरी, २ सहदेवी, ३ अपराजिता,  
 ४ मुंडा, ५ उशीर, ६ वाला, ७ अधःपुष्पी, ८ ज्येष्ठीमधु, ९ कोरक, १०  
 चक्रांकिता, ११ विष्णुक्रांता, १२ शिवक्रांता, १३ मयूरशिखा, १४ काकजंघा,  
 १५ भृंगराज, १६ कुमारी, १७ यव, १८ कर्णिकार, १९ अपामार्ग, २०  
 विल्व, २१ षण्मूला, २२ अंबुज, २३ उत्तरा, २४ पुत्रजीव, २५ दुर्वा, २६  
 काश, २७ कुश, २८ साल, २९ ताल, ३० चक्रमर्द, ३१ सिंही, ३२ व्याघ्री,  
 ३३ अर्क, ३४ पुल्ल, ३५ पलाश, ३६ पिप्पल, ३७ वट, ३८ उदुम्बर, ३९  
 तुलसी, ४० उत्पल, ४१ शतपत्र, ४२ अतसी, ४३ सारिवा, ४४ कदंब,  
 ४५ बकुल, ४६ शमी, ४७ रौहिष, ४८ निर्गुंडी, ४९ मुंडी, ५० दंडी, ५१  
 ब्राह्मी, ५२ अशोक, ५३ सूर्यभक्ता, ५४ रुद्रजटा, ५५ कदली, ५६ बीजपूरक,  
 ५७ दमनक, ५८ मुसली, ५९ पुनर्नवा, ६० आम्र, ६१ पाटल, ६२ श्रीपर्णी,  
 ६३ करवीर, ६४ पंचक, ६५ गुडूची, ६६ देवदारु, ६७ अग्ररु, ६८ चंदन,  
 ६९ कुटज, ७० शिग्रु, ७१ हरिद्रा, ७२ जटामांसी, ७३ वचा, ७४ कुष्ठ, ७५  
 तज, ७६ दारुहरिद्रा, ७७ बंधुजीव, ७८ सिंधुवार, ७९ सठी, ८० अश्व-  
 गंधा, ८१ मुस्ता, ८२ कुरंदक, ८३ पनस, ८४ जीवक, ८५ जाती, ८६  
 मालती, ८७ मधुक, ८८ खदिर, ८९ सप्तच्छद, ९० शिरीष, ९१ काक-  
 माची, ९२ शतावरी, ९३ केतकी, ९४ जंबु, ९५ शाखा, ९६ वेतस, ९७  
 आमलक, ९८ सरल, ९९ गिरिकर्णी, १०० शंखपुष्पी ।



पूजाकर्म सुनिर्वर्त्य होमं कुर्याद्विधानतः ॥  
 गेहस्थेशानदिग्भागे कुराडं कुर्याद्विधानतः ।  
 कुराडकण्ठं परित्यज्य समन्तादङ्गुलिक्रमात् ॥  
 मेखलोच्छ्रायविस्तारे चतुस्त्रिद्वयङ्गुलक्रमात् ।  
 पश्चिमे मध्यभागे तु योनिं कुर्याद्विधानतः ॥  
 योनिं षडङ्गुलां तिर्यग्द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यकाम् ।  
 अश्वत्थदलसङ्काशां किञ्चिन्निम्नायतां शुभाम् ॥  
 कुर्यादाधारपर्यन्तं स्वगृहोक्तविधानतः ।  
 समिदाज्यचरुं श्रैव तिलमाषांश्च सर्षपैः ॥  
 अश्वत्थपुल्लपालाशसमिद्धिः खदिरैः शुभैः ।  
 अष्टोत्तरसहस्रं वा ह्यष्टोत्तरशतं तु वा ॥  
 अष्टाविंशतिमेतैश्च होमं कुर्यात्पृथक्पृथक् ।  
 त्रैयम्बकेण मन्त्रेण तिलाव्याहृतिभिः क्रमात् ॥  
 ग्रहा एवं च होतव्या अस्मदुक्तविधानतः ।  
 एवं क्रमेण होतव्यं होमशेषं समापयेत् ॥  
 सर्वालङ्कारयुक्तानां त्रयाणामभिषेचनम् ।  
 चतुर्भिः कलशैरङ्गिर्बृहत्कुम्भसमन्वितम् ॥  
 धौतांबराणि धृत्वाथ कुर्यादाज्यावलोकनम् ।  
 पूर्णाहुतिं च जुहुयाद्यजमानः समाहितः ॥  
 तत्सर्वं परया भक्त्या ईश्वराय निवेदयेत् ।  
 सर्वालङ्कारसंयुक्तां सवत्सां गां पयस्विनीम् ॥  
 प्रतिमां वस्त्रयुग्मं च आचार्याय निवेदयेत् ।  
 अन्येषां चैव सर्वेषां कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ॥  
 तस्मादनेन विधिना वित्तशाठ्यविवर्जितः ।  
 एवं यः कुरुते शान्तिं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥  
 सर्वान्कामानवाप्नोति चिरञ्जीवी सुखी भवेत् ॥”  
 इत्युत्तरगार्ग्योक्ता कृष्णचतुर्दशीजननशान्तिः ।

अथैकनक्षत्रजातानां शान्तिविधिरुच्यते—

“एकस्मिन्नेव नक्षत्रे भ्रात्रोर्वा पितृपुत्रयोः ।

प्रसूतिश्च तयोर्मृत्युर्मवेदेकस्य निश्चयः ॥

तद्दोषनाशाय तदा प्रशस्तां शान्तिं च कुर्यादभिषेचनं च ।

संपूज्य ऋक्षप्रतिमां तदग्रे दानं च कुर्याद्विभवानुरूपम् ॥  
 तत्र शान्तिं प्रवक्ष्यामि सर्वाचार्यमतेन तु ।  
 शुभर्क्षे शुभवारे च चन्द्रतारावलान्विते ॥  
 रिक्ताविष्टिविवर्ज्यं तु प्रारभेद्विषये सुधीः ।  
 आचार्यं वरयेत्पूर्वं चतुरोथ द्विजोत्तमान् ॥  
 पुण्याहं वाचयित्वा तु शान्तिकर्म समाचरेत् ।  
 आग्नेयीशानदिग्भागे नक्षत्रप्रतिमां ततः ॥  
 तन्नक्षत्रोक्तमन्त्रेण चार्चयेत्कलशोपरि ।  
 रक्तवस्त्रेण सञ्छाद्यं वस्त्रयुग्मेन वेष्टयेत् ॥  
 स्वशाखोक्तेन मार्गेण कुर्यादग्निमुखं ततः ।  
 अनेनैव तु मन्त्रेण हुनेदष्टोत्तरं शतम् ॥  
 प्रत्येकं समिदन्नाज्यैः प्रायश्चित्तान्तमेव च ।  
 अभिषेकं ततः कुर्यादाचार्यः पितृपुत्रयोः ॥  
 वस्त्रालङ्कारगोदानैराचार्यं पूजयेत्पुनः ।  
 ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दद्यान्माषत्रयसुवर्णकम् ॥  
 दैवताप्रतिमादानं धान्यवस्त्रादिभिः सह ।  
 यानशय्यासनादींश्च दद्यात्तद्दोषशान्तये ॥  
 भोजयेद्ब्राह्मणान्सर्वान्वित्तशाठ्यविवर्जितः ।”

इति गार्ग्योक्तैकनक्षत्रजननशान्तिविधिः । अथैकस्मिन्नैव नक्षत्रे  
 भ्रात्रोर्वा पितृपुत्रयोरिति गर्गवाक्ये भ्रात्रोरितिपदे किं भ्राता च स्वसा  
 च भ्रातरौ “भ्रातृपुत्रोः स्वसृदुहितृभ्याम्” इत्येकशेषः उत भ्राता च  
 भ्राता च भ्रातरौ “सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ” इत्येकशेषः । तत्र प्र-  
 थमपक्षे सोदरयोर्भ्रातृभगिन्योरेवैकनक्षत्रजनननिषेधः स्यान्न तु पुंभ्रात्रोः ।  
 द्वितीयपक्षे तु सोदरयोः पुंभ्रात्रोरेव निषेधः स्यान्न तु भ्रातृभगिन्योः ।  
 इष्यते च द्वयोरपि भ्रात्रोर्निषेधः । न च भ्रातरौ च भ्रातरौ चेति द्वन्द्वे  
 सत्येकशेषेण सिद्धमिति वाच्यम्, तथा सति तेषां चतुष्टाद्भ्रातृणा-  
 मिति पाठ्यं स्यात् । एवं पितृपुत्रयोरित्यत्रापि पिता च पुत्रश्चेति द्वन्द्वे  
 पितापुत्रयोरेकनक्षत्रजनननिषेधः स्यात् । तथा पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ  
 ‘भ्रातृपुत्रौ’ इत्यादिनैकशेषः पितरौ च पुत्रौ चेति द्वन्द्वे मातापित्रोः पुत्र-  
 स्य कन्यायाश्चैकनक्षत्रजनननिषेधः स्यादितिवाच्यम् । यतः प्रथमपक्षे  
 पितृपुत्राणामिति बहुवचनान्तं पदं पाठ्यं स्यात् । द्वितीयपक्षे तु



स दोषोस्त्येव । परन्तु यथासंख्यमपि लगति । यथा मातापु-  
त्रयोरेव पितादुहित्रोरेव चैकनक्षत्रजनननिषेधः स्यान्न तु माता-  
दुहित्रोः पिता पुत्रयोश्चेति । इष्यते चानयोरपि निषेध इत्यतो  
नैतद्वचनं निर्णयपदवीमवगाहते । सत्यम्, गर्गवाक्यस्य त्वेतावानेवा-  
र्थः । परन्तु वचनान्तरानुरोधादिष्टविषयोपि संगृहीतो भवति । यदाह  
वसिष्ठः—“पित्रोस्तु जन्मकर्मक्षौ जातस्तु पितृमातृहा । जन्मक्षौंशे च  
तल्लगने जातः सद्यो मृतिप्रदः ॥” इति । देवकीर्तिः—“यद्येकस्मिन्धि-  
ष्ये जायन्ते दुहितरोऽथवा पुत्राः ॥ पितुरन्तकरा ह्येते यद्यपरे प्रीतिर-  
तुला स्यात् ॥” इति । अपरे अन्त्यनक्षत्रे “पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा” इत्य-  
स्मिन् भावपक्षे रूपम् । गर्गसंहितायामपि—“यस्यैव जन्मनक्षत्रे जायेद्  
आता सुतोपि वा । सजातीयः स्वजात्या वा सोऽस्य प्राणान्प्रसाधयेत् ॥”  
इति यस्येति पुंस्त्वमविवक्षितम् । तेन मातुरपि निषेधो वसि-  
ष्ठवाक्यस्वरसात् ।

अथोपरागे जन्मनि शान्तिः—

अथ मूलश्लोके दुष्टनिमित्तस्योपलक्षणत्वेन व्याख्यानात् सूर्यचन्द्र-  
ग्रहणसमयजननशान्तिविधिरुच्यते । शौनक उवाच—

ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य प्रसूतिर्यदि जायते ।

व्याधिपीडा तदा स्त्रीणामदौ तु ऋतुदर्शनात् ॥

इत्थं संजायते यस्तु तस्य मृत्युर्न संशयः ।

व्याधिपीडा च दारिद्र्यं शोकश्च कलहो भवेत् ॥

शान्तिं तेषां प्रवक्ष्यामि नराणां हितकाम्यया ।

यस्मिन्नृक्षे विशेषेण ग्रहणं संप्रजायते ॥

तद्व्याधिपते रूपं सुवर्णेन प्रकल्पयेत् ।

यथाशक्त्यनुसारेण वित्तशास्त्र्यं न कारयेत् ॥

सूर्यग्रहे सूर्यरूपं सुवर्णेन स्वशक्तितः ।

चन्द्रं चन्द्रग्रहे धीमान् रजतेन विशेषतः ॥

राडुरूपं प्रकुर्वीत नागेनैव(१) विचक्षणः ।

शुचौ देशे प्रयत्नेन गोमयेन प्रलेपयेत् ॥

तस्योपरि न्यसेद्धीमान्नववस्त्रं सुशोभनम् ।

(१) नागेन सीसकेन ।

त्रयाणां चैव रूपाणां स्थापनं तत्र कारयेत् ॥  
 रक्ताक्षता रक्तगन्धा रक्तपुष्पांवराणि च ।  
 सूर्यग्रहे प्रदातव्यं सूर्यप्रीतिकरं च यत् ॥  
 श्वेतवस्त्रं श्वेतमाल्यं श्वेतगन्धाक्षतादिभिः ।  
 चन्द्रग्रहे प्रदातव्यं चन्द्रप्रीतिकरं च यत् ॥  
 राहवे चैव दातव्यं कृष्णपुष्पांवराणि च ।  
 दद्यान्नक्षत्रनाथाय श्वेतगन्धानुलेपनम् ॥  
 सूर्यं सम्पूजयेद्धीमानाकृष्णेति च मन्त्रतः ।  
 चन्द्रग्रहे च पालाशैः समिद्धिर्जुहुयान्नरः ॥  
 दूर्वाभिर्जुहुयाद्धीमानाहोः संप्रीणनाय च ।  
 समिद्धिर्ब्रह्ममृक्षोत्थैर्भेशाय(१) जुहुयाद्बुधः ॥  
 आज्येन चरुणा चैव तिलैश्च जुहुयात्ततः ।  
 पञ्चगव्यैः(२) पञ्चरत्नैः पञ्चत्वक्पञ्चपल्लवैः(३) ॥  
 जलैरौषधकल्कैः(४)श्च सहितैः कलशोदकैः ।  
 अभिषेकं प्रकुर्वीत यजमाने प्रयत्नतः ॥

(१) भानां नक्षत्राणामीशस्तस्मै भेशाय, नक्षत्राधिपतये ।

(२) पञ्चगव्यं वसिष्ठसंहितोक्तम्—

गोमुत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

पञ्चगव्यमिदं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥

नन्वेतेषां कियन्मितं किन्देयमित्यपि क्वचित्—

गोशकृद्विगुणं मूत्रं दुग्धं दद्याच्चतुर्गुणम् ।

घृतं चाष्टगुणं चैव पञ्चगव्ये तथा दधि ॥

(३) आदित्यपुराणोक्ताः पञ्चपल्लवाः—

अश्वत्थौदुम्बरप्लक्ष्मचूतन्यग्रोधपल्लवाः ।

पञ्चभङ्ग इति प्रोक्तः सर्वकर्मसु शोभनः ॥

(४) सर्वोषधयः परिशिष्टोक्ताः—

मुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् ।

शटीचम्पकमुस्तं च सर्वोषधिगणः स्मृतः ॥

मुरा = तालिशपत्र, मांसी = जटामसो, वचा = वच, कुष्ठम् = कूड, रज-  
 नी = हरदि, शटी = कचूर, चम्पकम् = चम्पा, मुस्ता = मौथा ।



मन्त्रैर्वारुणदैवतैरापोहिष्ठादिभिस्त्रिभिः ।  
 इमं मे गङ्गे पितरस्तत्त्वायामीति मन्त्रकैः ॥  
 अभिषेके निवृत्ते तु यजमानः समाहितः ।  
 आचार्यं पूजयेत्पश्चात्सुशान्तो विजितेन्द्रियः ॥  
 तस्मै दद्यात्प्रयत्नेन भक्त्या प्रतिकृतित्रयम् ।  
 दक्षिणाभिश्च संयुक्तं यथाशक्त्यनुसारतः ॥  
 ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु प्रणिपत्य क्षमापयेत् ।  
 तेभ्योपि दक्षिणां दद्याद्यजमानः समाहितः ॥  
 अनेन विधिना शान्तिं कृत्वा सम्यग्विशेषतः ।  
 अकालमृत्युं शोकं च व्याधिपीडां न चाप्नुयात् ॥  
 सौख्यं सौमनसं नित्यं सौभाग्यं लभते नरः ।  
 इत्थं ग्रहणजातानां सर्वारिष्टविनाशनम् ॥  
 कथितं भार्गवेषोदं शौनकाय महात्मने ।”

इति श्रीशौनकविरचितः सूर्यचन्द्रग्रहणसमयजननशान्तिविधिः समाप्तः ।

अथ त्र्युत्तरं विजातीयस्य जन्मनि शान्तिः—

त्रीतरशान्तिरप्युच्यते । सा च शान्तिसर्वस्वेऽभिहिता—

“सुतत्रये सुता चेत्स्यात्तत्रये वा सुतो यदि ।  
 मातापित्रोः कुलस्यापि तदारिष्टं महद्भवेत् ॥  
 ज्येष्ठनाशो धने हानिर्दुःखं वा सुमहद्भवेत् ।  
 तत्र शान्तिं प्रकुर्वीत वित्तशास्त्र्यविवर्जितः ॥  
 जातस्यैकादशाहे वा द्वादशाहे शुभे दिने ।  
 आचार्यमृत्विजो वृत्वा ग्रहयज्ञपुरःसरम् ॥  
 सह वा ग्रहयज्ञः स्याद्यथावित्तानुसारतः ।  
 ब्रह्मविष्णुमहेशेन्द्रप्रतिमाः स्वर्णतःकृताः ॥  
 पूजयेद्ब्रान्यराशिस्थकलशोपरि शक्तिः ।  
 पञ्चमे कलशे रुद्रं पूजयेद्गुद्रसंख्यया ॥  
 रुद्रसूक्तानि चत्वारि शान्तिसूक्तानि सर्वशः ।  
 द्विज एको जपेद्धोमकाले शुचिसमाहितः ॥  
 आचार्यो जुहुयात्तत्र समिदाज्यतिलांश्चरम् ।  
 अष्टोत्तरसहस्रं वा शतं वा विंशतिं तु वा ॥  
 देवताभ्यश्चतुर्वक्त्रादिभ्यो ग्रहपुरःसरम् ।

ब्रह्मादिमन्त्रैरिन्द्रस्य यत इन्द्रभयामहे ॥  
ततःस्विष्टकृतं हुत्वा बलिं पूर्णाहुतिं ततः ।  
अभिषेकं कुटुंबस्य कृत्वाचार्यं प्रयुजयेत् ॥  
हिरण्यं धेनुरेका च ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ततः ।  
प्रतिमा गुरवे देया उपस्कारसमन्विता ॥  
कांस्याज्यवीक्षणं कृत्वा शान्तिपाठं तु कारयेत् ।  
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्यता दीनानाथांश्च तर्पयेत् ॥  
एवं शान्तिविधानेन सर्वारिष्टं प्रलीयते ॥”

इति शान्तिसर्वस्वोक्तस्त्रीतरशान्तिविधिः समाप्तः । आलोक्यार्षा-  
न्यौरुषांश्च ग्रन्थान्मूलादिशान्तयः । नीलकण्ठतनूजेन गोविन्देनोदिताः  
क्रमात् ॥ ५७ ॥

अथ नक्षत्रप्रसङ्गादेवाश्विन्यादिभानां तारकामानमुपजातिकयाह—

त्रिपञ्चपञ्चाग्निकुवेदवह्नयः  
शरेषुनेत्राशिवशरेन्दुभूकृताः ।  
वेदाग्निरुद्राशिवयमाग्निवह्नयो-  
ऽब्धयः शतं द्विद्विरदा भतारकाः ॥ ५८ ॥

त्रोति । अश्विन्यादीनां भानां तारकाः क्रमतो ज्ञेयाः । यथा—अश्वि-  
न्यास्तारकास्तिष्ठः ३ । भरण्यास्तिष्ठः ३ । कृत्तिकायाः षट् ६ । रोहि-  
ण्याः पञ्च ५ । मृगस्य तिष्ठः ३ । आर्द्राया एका १ । पुनर्वसोश्चतस्रः ४ ।  
पुष्यस्य तिष्ठः ३ । आश्लेषायाः पञ्च ५ । मघायाः पञ्च ५ । पूर्वाफल्गु-  
न्या द्वे २ । उत्तराफल्गुन्या द्वे २ । हस्तस्य पञ्च ५ । चित्राया एका १ ।  
स्वात्या एका १ । विशाखायाश्चतस्रः ४ । अनुराधायाश्चतस्रः ४ । ज्ये-  
ष्ठायास्तिष्ठः ३ । मूलस्यैकादश ११ । पूर्वाषाढाया द्वे २ । उत्तराषाढाया  
द्वे २ । अभिजितस्तिष्ठः ३ । श्रवणस्य तिष्ठः ३ । धनिष्ठायाश्चतस्रः ४ ।  
शततारकायाः शतम् १०० । पूर्वाभाद्रपदाया द्वे २ । उत्तराभाद्रपदाया  
द्वे २ । रेवत्या द्वात्रिंशत्तारकाः ३२ । एतोवतीभिस्तारकाभिरश्वि-  
न्यादीनां स्वरूपं ज्ञेयम् । उक्तं च रत्नमालायाम्—“वह्नित्रिऋत्विषु-  
गुणेन्दुकृताग्निभूतवाणोशिवनेत्रशरभूकुयुगाब्धिरामाः । रुद्राब्धिराम-  
गुणवेदशतद्वियुग्मं दन्ता बुधैर्निगदिताः क्रमशो भताराः ॥” इति । न-



नवस्मिन् श्रीपतिवाक्ये सप्तविंशतिभानि प्रतीयन्ते । ग्रन्थकृद्वाक्येऽष्टा-  
विंशतिरिति विरोधः । अत्र समाधिः । उत्तरार्द्धे रुद्राब्धीत्यत्र चत-  
स्रस्ताराः पूर्वाषाढोत्तराषाढयोः । तत्र द्वे पूर्वाषाढायाः । द्वे उत्तराषा-  
ढाया इत्यर्थः । एवमष्टाविंशतिनक्षत्राणि । नारदेनापि द्वयोराषाढयोर्द्वि-  
तारकत्वमुक्तम् ।

“रामाग्निऋतुबाणाग्निभूवेदाग्निशरेषवः ।

नेत्रबाहुशरद्वीदुयुगवेदाग्निशङ्कराः ॥

बाहुनेत्राग्न्यब्धिगतं बाहुनेत्ररदाः क्रमात् ।

भानां संख्या च विज्ञेया दक्षादीनां पृथक्पृथक् ॥” इति ।

अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । ‘तुरगमुखसदृशम्’ इत्यादिनाष्टाविंश-  
तिनक्षत्राणामाकृतिकथनात्सप्तविंशतिनक्षत्राणां च तारागणत्वोक्तेरिति  
पूर्वापरविरोधः न शक्यः ।

अश्विन्यादितारकासंख्याज्ञानफलम्—

तारकामानोक्तेः प्रयोजनं विवाहे नक्षत्रतारकानुलपैर्गर्भैस्तु सद-  
सत्फलभित्यादि । तदुक्तं वराहेण “नक्षत्रजमुद्वाहे फलमब्दैस्तारकामितैः  
सदसत् । दिवसैर्ज्वरस्य नाशो व्याधिश्चान्यस्य वै वाच्यम्” इति ।  
तद्यथा शौनकेन विवाहे प्रत्येकं नक्षत्रफलान्यभिहितानि । तत्र  
“प्रजापत्ये सुभगा भोगयुतातिप्रिया भर्तुः । पुत्रधनानि च  
लभते सा कन्या पंचमे वर्षे ॥” इति । रोहिण्यामुद्वाहफलमुक्तं तद्रो-  
हिण्यास्ताराः पंच तावद्वर्षैर्भवति ॥ “अब्दात्प्राणवियोगं त्वाष्ट्रे  
प्राप्नोति भूतसंसर्गात् । त्यक्त्वा स्वज्ञातिकुलं कामपरायाति वेश्यात्व-  
म् ॥” इति । चित्राया असत्फलं तच्चित्रातारैका तर्हि एकेन वर्षेण  
भवति । एवं ज्वराद्युत्पत्तावपि तारकामानदिवसैर्ज्वरस्यान्यस्य व्याधे  
रोगस्य वा नाशो वाच्य इत्याद्यूह्यम् । ननु नक्षत्रभेदेन पूर्वमपि  
ज्वरनाशका दिवसाः प्रोक्ताः । अत्र तु तारकामितसंख्या दिवसा  
उक्ता इति ग्रन्थविरोध इति चेन्न, चरणभेदान्न विरोध इति  
वयं ब्रूमः ॥ ५८ ॥

अथाश्विन्यादीनामाकृतिमुपजात्या रथोद्धतया चाह—

अश्व्यादिरूपं तुरगास्थयोनि-

क्षुरोऽन एणास्यमणिर्गृहं च ।

पृषत्कचक्रे भवनं च मञ्चः

शय्या करो मौक्तिकविद्रुमं च ॥५६॥

तोरणं बलिनिभं च कुण्डलं

सिंहपुच्छगजन्तमञ्चकाः ।

त्र्यस्रि च त्रिचरणाभमर्दलो

वृत्तमञ्चयमलाभमर्दलाः ॥ ६० ॥

अश्व्यादिरूपमिति । तोरणमिति । अश्विन्यादीनां नक्षत्राणां रूपमा-  
कृतिरुच्यते । (१) तत्राश्विन्यास्तुरगास्याश्वमुखसदृशं रूपम् (२) भरण्या  
योनिर्भगस्तद्वद्रूपम् । (३) कृत्तिकाया नापितनुराकृतिः । (४) रोहि-  
ण्या अनः शकटरूपम् । (५) मृगस्य एणास्यं हरिणमुखसदृशम् । (६)  
आर्द्राया मणिसदृशम् । (७) पुनर्वसोर्गृहतुल्यम् । (८) पुष्यस्य  
पृषत्को बाणस्तत्सदृशम् । (९) आश्लेषायाश्चक्राकारम् । (१०)  
मघाया भवनं गृहसदृशम् । (११) पूर्वाफाल्गुन्या मञ्चः खट्वा, तदा-  
कारम् । (१२) उत्तराफाल्गुन्याः शय्याकारम् । (१३) हस्तस्य  
हस्ताकारम् । (१४) चित्राया मौक्तिकाकारम् । (१५) स्वात्याः  
प्रवालौपम्यम् । (१६) विशाखायास्तोरणाकारम् । (१७) अ-  
नुराधाया बलिर्भक्तपुंजस्तदाकारम् । (१८) ज्येष्ठायाः कुण्डलाकृतिः ।  
१९ मूलस्य सिंहपुच्छाकारम् । (२०) पूर्वाषाढाया गजदन्त-  
सदृशम् । (२१) उत्तराषाढाया मञ्चकसदृशम् । (२२) अभिजित-  
स्त्रिकोणाकारम् । (२३) श्रवणस्य त्रिविक्रमस्त्रिचरणो वामनस्तत्स्व-  
रूपम् । (२४) धनिष्ठाया मर्दलसदृशम् । (२५) शततारकाया वृत्तं  
वर्तुलम् । (२६) पूर्वाभाद्रपदाया मञ्चसदृशम् । (२७) उत्तराभाद्र-  
पदाया यमलाभम् । (२८) रेवत्या मर्दला- (१) कारम् । एषामेवं स्वरूप-  
मित्यर्थः । उक्तं च रत्नमालायाम्—

“तुरगमुखसदृशं योनिरूपं नुराभं

शकटसममथैणस्योत्तमांगेन तुल्यम् ।

मणिगृहशरचक्राभानि शालोपमाभं

(१) मर्दलो मृदङ्गः ।



शयनसदृशमन्यच्चात्र पर्यंकतुल्यम् ॥  
 हस्ताकारमतश्च मौक्तिकसमं चान्यत्प्राबालोपमं  
 धिष्ण्यं तोरणवत्स्थितं बलिनिभं सत्कुण्डलामं परम् ।  
 क्रुध्यत्केसरिणः क्रमेण सदृशं शय्यासमानं परं  
 चान्यद्'तिविषाणवत्स्थितमतः शृङ्गाटकव्यक्ति च ॥  
 त्रिविक्रमामं च मृदंगरूपंवृत्तं ततोऽन्यद्यमलद्वयाभम् ।  
 पर्यंकरूपं मुरजानुकारि चेत्येवमश्व्यादिभचक्ररूपम् ॥”

इति ॥ ५६ ॥ ६० ॥

अथ जलाशयारामदेवप्रतिष्ठामुद्धृत्तं सपादोपजातिकया तत्र च सामान्यतो लग्नशुद्धिं देवताविशेषाणां लग्नविशेषं च पादोनोपजातिकारभ्यामाह—

जलाशयारामसुरप्रतिष्ठा  
 सौम्यायने जीवशशाङ्कशुके ।  
 दृश्ये मृदुक्षिप्रचरध्रुवे स्यात्  
 पक्षे सिते स्वर्क्षतिथिक्षणे वा ॥ ६१ ॥  
 रिक्तारवर्जे दिवसेऽतिशस्ता  
 शशाङ्कपापैस्त्रिभवाङ्गसंस्थैः ।  
 व्यन्त्याष्टगैः सत्स्वचरैर्मृगेन्द्रे  
 सूर्यो घटे को युवतौ च विष्णुः ॥ ६२ ॥  
 शिवो नृयुग्मे द्वितनौ च देव्यः  
 क्षुद्राश्चर सर्व इमे स्थिरर्क्षे ।  
 पुष्ये ग्रहा विघ्नपयक्षसर्प-  
 भूतादयोऽन्त्ये श्रवणे जिनश्च ॥ ६३ ॥

इति दैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञारामविरचिते मुहूर्तचिन्तामणौ  
 नक्षत्रप्रकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

जलाशयेति । जलाशयोत्सर्गः आरामोत्सर्गश्च देवानां विष्णवादीनां प्रतिष्ठा वक्ष्यमाणप्रकारेणोच्यते । तत्र त्रयाणामपि सामान्यतो दिन-शुद्धिरियं विचार्या । यथा—सौम्यायने उत्तरायणे मकरादिषड्राशिस्थिते सूर्ये सति तथा जीवशशांकशुक्रेषु दृश्यमानेषु सत्सु तथा मृदुगण-क्षिप्रगणचरगणध्रुवगणनक्षत्रेषु तथा सिते शुक्ले पक्षे स्वर्क्षतिथिज्ञाने यस्य देवस्य प्रतिष्ठा कर्तुमिष्टा तस्य तत्स्वामिके नक्षत्रे तिथौ वा क्षणे मुहूर्ते वा । तथा रिक्ताखर्वर्जे रिक्ताः पूर्वमुक्तास्तिथयः, आरो भौमः, एतान्वर्जयित्वान्यतिथिषु अन्यवारेषु च एवंविधेषु दिनेषु । जलाशयस्तडागादिः, आराम उपवनम्, सुरा देवास्तेषां प्रतिष्ठा क्रमेण कर्माहृत्योपभोगयोग्यत्वपूजायोग्यत्वरूपातिप्रशस्ता विहितास्ति । तत्र दक्षिणायनगुर्वस्तशुक्रास्तचन्द्रास्तानां सामान्यतः शुभकार्येषु निषेधात् परिशेषतो गुरुशुक्रचन्द्रोदयोत्तरायणानि । दक्षिणायननिषेधः श्रौते(१) वक्ष्यते । तत्र जलप्रतिष्ठायां दीपिका—

“मातङ्गेन्दुशुद्धौ मुरजिदशयने माघषट्कस्य शुके मूलाषाढोत्तराश्विध्रवणगुरुकरे पौष्णशक्राजचान्दे ।  
मैत्रे ब्राह्मे च पूर्णामदनरवितिथौ सद्वितीयातृतीये  
कार्या तोयप्रतिष्ठा ब्रह्मसितदिने कालशुद्धे सुलग्ने ॥”

इति । मुरजिद्विष्णुस्तस्याशयनं शयनाभावः विष्णुशमन-व्यतिरिक्ते काले इत्यर्थः । “देवतारामवाप्यादिप्रतिष्ठामुत्तराय-णे । माघादिपञ्चमासेषु कृष्णेष्यापञ्चमीदिनम् ॥ दक्षिणे त्वयने कुर्वन्न तत्फलमवाप्नुयात् ॥” इति । अत्र चोत्तरायणे जलं ज-लाशये स्थास्यतीत्येवं निश्चिते निषेधः । मत्स्यपुराणेषि—“चैत्रे वा फाल्गुने वापि ज्येष्ठे वा माघवेपि वा । माघे वा सर्वदेवानां प्रतिष्ठा शुभदा भवेत् ॥ प्राप्य पक्षं शुभं शुक्लमतीते चोत्तरायणे ॥” देवानामित्युपलक्षणम् । तेन देवतारामवाप्यादिप्रतिष्ठा शुभदेत्यर्थः । मक-रसंक्रमण उत्तरायणपदेनोपलक्ष्यते । अतो मकरसंक्रमोत्तरः कालः शुभ उच्यते अन्यथा माघादिपञ्चकं साक्षाद्विहितम्, उत्तरायणातिक्रमे हि दक्षिणायनसंग्रह इति तन्निषेधे उत्तरायणपदवैयर्थ्यान्यथानुपपत्त्या

(१) गीर्वाणाम्बुप्रतिष्ठेत्यादिना संस्कारप्रकरणोक्तेन ।



सर्वकालसंग्रहे वर्ज्याभावात्कालोपदेशानर्थक्यमापद्यते । उपलक्षणं च “भविष्यत्ययने पुण्यमतीते चोत्तरायणे” इत्यत्र दृश्यते यदा तु दक्षिणायन एव जलस्थितिसंभवस्तदा न कालनियमः । ‘तत्र प्रमाणं सलिलं यत्’ इति इति भविष्यत्पुराणोक्तेः । तत्रापि कार्तिकमासे शुभफलदसंक्रांतौ वा शुभतिथौ मेषधनुःसिंहवर्जिते लग्ने वापीकूपतडागादिप्रतिष्ठेति ध्येयम् । उक्तं च भविष्यत्पुराणे—“तस्मिन् सलिलसंपूर्णे कार्तिके च विशेषतः । तडागस्य विधिः कार्यः स्थिरनक्षत्रयोगतः” इति ।

अथ वापीकूपतडागारामप्रतिष्ठायां संक्रान्तिभेदेन फलानि—

अग्निपुराणे संक्रान्तिभेदेन फलभेदोऽभ्यधायि—

“वापीकूपतडागानां तस्मिन्काले विधिः स्मृतः ।

सुदिने शुभनक्षत्रे प्रतिष्ठाशुभदा स्मृता ॥

कर्कटे पुत्रलाभश्च सौख्यं तु मकरे भवेत् ।

मीने यशोर्थलाभश्च कुंभे च सुबह्वदकम् ॥

वृषे च मिथुने वृद्धिर्वृश्चिके च जलं भवेत् ।

पितृतृप्तिश्च कन्यायां तुलायां शाश्वती गतिः ॥

सिंहे मेषे धनुर्लग्ने लक्ष्मीश्च द्विजः । गच्छति ।” इति ।

देवप्रतिष्ठायां तु विशेषः—

तत्र वसिष्ठः—“अथ प्रतिष्ठां कथयामि सम्यक्छिवस्य विष्णोस्त्वथ वा परेषाम् । सौम्यायने देवगुरौ च शुक्रे संदृश्यमाने परिचारकाणाम् ॥” इति । शिवविष्णुग्रहणं प्राधान्यव्यापनार्थम् ।

उग्रदेवानां दक्षिणायनेपि भवति—

अत्र सौम्यप्रकृतीनां देवानामुत्तरायणे स्थापनमुक्तम् । उग्रप्रकृतीनां तु दक्षिणायनेपि स्थापनं कार्यम् । तदुक्तं वैखानससंहितायाम्—“मातृभैरववाराहनारसिंहत्रिविक्रमाः । महिषासुरहन्त्री च स्थाप्या वै दक्षिणायने ॥” इति । शैवसिद्धांतशेखरे तु—श्रेष्ठोत्तरे प्रतिष्ठा स्यादयने मुक्तिमिच्छताम् । दक्षिणे तु मुमुक्षूणां मलमासे न सा द्वयोः ॥” इत्युक्तम् । अत्र दक्षिणे तु मुमुक्षूणामित्यपि मातृभैरवेत्यादिपरतया योज्यम् । अन्यथा प्रतिपदं मासगणना वसिष्ठादिषु न युज्येत । यदाह वसिष्ठः—“मासे तपस्ये तपसि प्रतिष्ठा धनायुरारोग्यकरी च कर्तुः ।

चैत्रे महारुग्भयदा च शुके समाधवे पुत्रधनाप्तये स्यात् ॥”  
इति । नारदोपि—“विचैत्रेष्वेव मासेषु माघादिषु च पंचसु”  
इति । वसिष्ठः—

“आषाढमासादिचतुयेपि कलत्रसंतानविनाशदा स्यात् ।  
ऊर्जं च कर्तुर्निधनप्रदा च सौम्ये सपौषेऽखिलदुःखदा स्यात् ॥  
वलक्षपक्षः (१) शुभदः समस्तः सदैव तत्राद्यदिनं विहाय ।  
अंत्यत्रिभागं परिहृत्य कृष्णपक्षोपि शस्तः खलु पक्षयोश्च ॥  
रिक्तावमत्यक्तदिनेष्वनिद्ययोगेषु वैनाशकवर्जितेषु ।  
दिने महादोषविवर्जिते च शशांकतारावलसंयुते च ॥” इति ।

वैनाशिकनक्षत्राणि सर्वत्र वर्ज्यानि—

वैनाशिकनक्षत्राणि नारदेनोक्तानि—“जन्मभाद्रशमं कर्म संघातर्क्षं  
च षोडशम् । अष्टादशः सामुदायं त्रयोविंशं विनाशमम् । मानसं पञ्च-  
विंशर्क्षं नाचरेच्छुभमेषु तु” इति ।

प्रतिष्ठायां तिथयोऽपि—

तिथीनाह नारदः—“यद्दिनं यस्य देवस्य तद्दिने तस्य संस्थितिः ।  
द्वितीयादिद्वयोः पञ्चम्यादितस्तिसृषु क्रमात् ॥ दशम्यादिचतसृषु (?) पौ-  
र्णमास्यां विशेषतः ॥” इति । मुख्यतिथ्यसम्भवे उक्ततिथौ स्थापनं  
कार्यमित्यर्थः ।

प्रतिष्ठायां दिनानि—

वारानाह नारदः—“कुजवर्जितवारेषु कर्तुः सूर्ये बलप्रदे । चन्द्र-  
ताराबलोपेते पूर्वाह्णे शोभने दिने ॥” इति । प्रत्येकं वारफलमाह  
वसिष्ठः—“कोर्त्तिप्रदं क्षेमकरं कृशानुभयप्रदं वृद्धिकरं दृढं च ।  
लक्ष्मीकरं सुस्थिरदं त्विनादिवारेषु संस्थापनमामनन्ति ॥” इति ।  
तत्र विवेकः । तत्र जलप्रतिष्ठार्थं दीपिकायामुक्तानि नक्षत्राणि ।  
अधुना आरामप्रतिष्ठार्थं नक्षत्राणि । देवप्रतिष्ठानक्षत्राणि—“ह-  
स्तत्रये मित्रहरित्रये च पौष्णद्वयादित्यसुरेज्यभेषु । स्यादुत्तराधातृशशाङ्क-  
भेषु सर्वाभरस्थापनमुत्तमं तत् ॥” इति । अथ षोडशमानि ध्रुवमृदुक्षि-

( १ ) वलक्षपक्षः शुक्लपक्षः, “शुक्लशुभ्रशुचिश्चेत.....वलक्षो धव-  
लोऽर्जुन” इत्यमरः ।



प्रलघुरूपारण्येवोक्तानि, तत्र ग्रन्थकर्त्रा जलाशयारामसुरप्रतिष्ठानक्षत्रा-  
ण्येव बहुधा तुल्यत्वादुक्तानि, द्वित्राणि तु भिन्नानि तान्युक्तविशेषवचने-  
भ्योवसेयानीति । तत्र जलाशयारामयोर्निर्मित्यर्थं तन्मुहूर्तः प्रागुक्तः ।  
देवताघटनमुहूर्तस्तु उच्यते मया । तत्र दीपिका—“ध्रुवलघुमृदुवर्गे  
वारुणो विष्णुदैवे मरुददितिधनिष्ठे शोभने वासरे च । त्रिदशमदनजन्मै-  
कादशे (३।१०।७।१।११) शोतरश्मौ विबुधसुकृतिरिष्टा नाडिनक्ष-  
त्रहीने ॥ ” इति । नाडीनक्षत्राणि वैनाशिकनक्षत्राणि ।

अथ शशाङ्कपापैरिति—

जलाशयप्रतिष्ठायामारामप्रतिष्ठायां च सुलग्नमात्रं विचार्यम् । दे-  
वप्रतिष्ठायां शशांकश्चन्द्रः, पापाः सूर्यभौमशनिराहुकेतवस्तैस्त्रिभवांगसंस्थै-  
स्तृतीयषष्ठैकादशस्थानस्थितैरुपलक्षिते लग्ने तथा सत्त्वचरैः सोमबुध-  
गुरुशुकैर्व्यन्त्याष्टगौरष्टमद्वादशव्यतिरिक्ताखिलस्थानस्थैः सद्भिर्देवप्रति-  
ष्ठातिशस्ता । तदुक्तं रत्नमालायाम्—“केंद्रत्रिकोणभवमूर्तिषु सद्ग्रहेषु  
चन्द्रार्कभौमशनिषु त्रिषडायगेषु । सांनिध्यमेति नियतं प्रतिमासु देवः  
कर्तुः सुखार्थं सुतसम्पदरोगता च ॥ सौम्या लग्नाद्याश्रिता मूर्तिपूर्वा  
तावद्वार्यैरुत्कटा वर्द्धयन्ति । षष्ठं हित्वा भावमेते हि तत्र शत्रुध्वस्ति क-  
र्तुंरुत्पादयन्ति ॥ ” इति । शनिग्रहणं राहुकेत्वोरप्युपलक्षणम् । यदाह  
वसिष्ठः—सूर्यदुर्भौमाकर्ष्यहिकेतवश्च लग्नस्थिता नैधनदाश्च भर्तुः । सौम्य-  
ग्रहा लग्नगतास्तदैव ह्यायुर्वलारोग्यकराश्च नूनम् ॥ ” इति । अन्यच्च त-  
त्रैव—“ सर्वे ग्रहा नैधनदास्त्वजस्रं सौम्या असौम्याः खलु मृत्युसं-  
स्थाः ” इति ।

प्रसङ्गतो नन्नांशविचारः—

प्रसंगान्नवांशविचारः । तत्र स्थिरद्विस्वभावनवांशा ग्राह्या न चरां-  
शाः । तत्रापि तुलांशः साधीयान् । यदाह वसिष्ठः—“पंचषष्ठके जीव-  
शशांकसूर्यमुख्यग्रहैः सौम्यनवांशयुक्तैः । लग्ने स्थिरे चोभयराशियुक्ते  
नवांशके चोभयगे स्थिरे वा” (उभयगे द्विस्वभावगे) “चरोदये लग्नगते  
न कार्यं संस्थापनं नैव चरांशकेपि । चरोपि मुख्यः सकलांशकश्च सदा  
मृदुत्वात्सुरसन्निवेशे ॥ ” इति । मृदुत्वाच्छुभस्वामित्वात् । नारदोपि—  
“शुभलग्ने शुभांशे च कर्तुंस्ते निधनोदये । राशयः सकलाः श्रेष्ठाः शु-  
भग्रहयुतेक्षिताः ॥ ” इति ।

वसिष्ठोक्तो लग्नदोषापवादः—

लग्नदौष्ट्येऽपवादो वसिष्ठेनोक्तः—“ एकोपि जीवो बलवांस्तनुस्थः  
सितोपि सौम्योप्यथवा वली चेत् । दोषानशेषान्विनिहन्ति सद्यः स्कंदो  
यथा तारकदैत्यवर्गम् ” इति । नारदः—“ गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽ  
त्यल्पतरे यदि । सुराणां स्थापनं तत्र कर्तुरिष्टार्थसिद्धिदम् ” इति ।  
मृगेन्द्र इति । सूर्यो मृगेन्द्रे सिंहलग्ने स्थाप्यः, तथा को ब्रह्मा घटे कुंभ-  
लग्ने, विष्णुर्युवतौ कन्यालग्ने, शिवो महादेवो न्युग्मे मिथुनलग्ने च,  
पुनर्द्वितनौ मिथुनकन्याधनुर्भौनलग्नेषु देव्यो दुर्गादक्षिणामूर्त्यादयः,  
चरे मेषकर्कतुलामकरलग्नेषु जुद्धा देव्यश्चतुःषष्टियोगिनीप्रभृतयः,  
सर्व इमे उक्ता अनुक्ताश्च देवा इत्यर्थः । उक्ता महादेवादयः, अनुक्ता  
इन्द्रादयः, ते स्थिरर्क्षे वृषसिंहवृश्चिककुंभलग्नेषु स्थाप्याः । यदाह श्रोप-  
तिः—“ सिंहोदये दिनकरो मिथुने महेशो नारायणश्च युवतौ घटभे  
विधाता । देव्यो द्विर्भूतिभवे च निवेशनीयाः जुद्धाश्चरे स्थिरगृहे नि-  
खिलाश्च देवाः ॥ ” इति । पुष्ये ग्रहा इति । ग्रहाश्चन्द्रादयोष्टौ पुष्यनक्षत्रे  
स्थाप्या इत्यर्थः । उपलक्षणां चैतत् । तत्र सूर्यस्य हस्तनक्षत्रे स्थापनं,  
महादेवब्रह्मणोः पुष्यश्रवणाभिजित्सु स्थापनं, कुवेरस्कंदयोरनुराधाया-  
म्, दुर्गाप्रभृतीनां मूले स्थापनं, सप्तर्षीणां स्वाधिष्ठितनक्षत्रे, लक्ष्मीव्या-  
सवाल्मीक्यगस्त्यानामपि सप्तर्ष्यधिष्ठितनक्षत्रे स्थापनम् । उक्तं च  
रत्नमालायाम्—“ पुष्यश्रुत्यभिजित्सुरेश्वरकयोर्विक्ताधिपस्कंदयोर्मैत्रे ति-  
ग्मरुचेः करे निऋतिभे दुर्गादिकानां शुभम् ॥ ” को ब्रह्मा, तथा—  
“ सप्तर्षयो यत्र चरन्ति धिष्ये कार्या प्रतिष्ठा खलु तत्र तेषाम् ।  
श्रीव्यासवाल्मीकिघटोद्भवानां तथा स्मृता वाक्पतिभे ग्रहाणाम् ॥ ” इति ।  
सप्तर्षयस्तु—

कश्यपोत्रिभरद्वाजो विश्वाभिन्नोऽथ गौतमः ।

जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः ॥ ”

इति स्मृतेस्ते यस्मिन् नक्षत्रे संचरन्तो दृश्यन्ते तस्मिन्नक्षत्रे  
तेषां स्थापनम् । श्रीव्यासवाल्मीकिघटोद्भवानां तथा सप्तर्ष्य-  
धिष्ठितनक्षत्रे, ग्रहाणां वाक्पतिभे पुष्ये घटोद्भवोऽगस्त्यः । वि-  
घ्नपेति । विघ्नपो गणेशः, यज्ञो देवयोनिः, सर्पा वासुक्वादयः, भूतो  
देवयोनिः ।



“विद्याधराप्सरोयत्तरक्षोगंधर्वकिन्नराः ।

पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽभी देवयोनयः ॥ ”

इत्यभिधानात् । आदिशब्देन राक्षसासुरमथनसरस्वतीप्र-  
भृतयो गृह्यन्ते । ते रेवत्यां स्थाप्याः । तथा च श्रवणो श्रव-  
णनक्षत्रे जिनो बुद्धः स्थाप्यः । उपलक्षणां चैतत् । इंद्रकुबेरवर्जितानां  
लोकपालानां धनिष्ठायां स्थापनम् । इतोवशिष्टानां देवानां त्र्युत्तरारोहि-  
णीषु स्थापनं स्यादित्यर्थः । एतदप्युक्तं रत्नमालायाम्—

“गणपरिवृढरक्षोयक्षभूतासुराणां

प्रमथफणिसरस्वत्यादिकानां च पौष्णो ।

श्रवसि सुगतनाम्नो वासवे लोकपानां

निगदितमखिलानां स्थापनं हि स्थिरेषु ॥ ” इति ।

परिवृढः स्वामी । “ प्रभौ परिवृढः ” इति साधुः । गणपरिवृढो  
गणेशः । प्रमथा महादेवस्य पारिषदाः ( १ ) । श्रवसि श्रवणनक्षत्रे ।  
सुगतो बुद्धः । “ सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः ” इत्यमरः । स्थिरेषु रोहिण्युत्तरा-  
स्वित्यर्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

नक्षत्रप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—इति श्रोदैवज्ञानंतेति । इदं पूर्वव-  
द्व्याख्येयम् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा

पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणोः ।

गोविंदेन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे

व्याख्याने तिथिवारभप्रकरणं सम्पूर्णातामध्यगात् ॥ १ ॥

इति श्रोविद्वदैवज्ञमुकुटालंकारनीलकण्ठज्योतिर्वित्पुत्रगोविंद-

ज्योतिर्विद्विरचितायां मुहूर्तचिन्तामणिटीकायां पीयूष-

धाराभिधायां तिथिवारनक्षत्रप्रकरणं समाप्तम् ॥२॥



अथ संक्रान्तिप्रकरणम् ३ ।

गौरीनन्दनमिष्टसिद्धिसदनं विघ्नावलीभेदनं  
नत्वा ज्योतिषिकाख्यरामरचिते मौहूर्त्तचिन्तामणौ ।  
गोविंदो बुधनीलंकण्डविधिवित्सुनुः सतामग्रणी-  
र्वह्मथं खलु संक्रमप्रकरणां व्याख्याति विद्वन्मुदे ॥

संक्रान्तिप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र ग्रहाणां प्राग्राशितोऽपरराशौ  
संक्रमणं संक्रांतिरिति संक्रान्तिलक्षणम् । सा च द्विविधा मध्यमा  
स्पष्टा च । षट्कर्मसंस्कृतो मध्यमग्रहो राश्यंतरं यदा संक्रामति सा  
मध्या संक्रातिरुच्यते । यदा तु स्पष्टीकृतसंस्कारविशिष्टो ग्रहो राश्यं-  
तरं गच्छेत्सा स्पष्टसंक्रातिरुच्यते । तत्र मध्यममानस्य स्पष्टीकरणा-  
र्थत्वादेव तज्जनितसंस्कारानुपयोगादत्र तत्त्यागे स्पष्टसंक्रातिरेव गृह्यते  
सापि द्विविधा—सायनांशा निरयनांशा चेति । तत्र यदा सिद्धान्त-  
गणनागतायनांशसंस्कृताः ग्रहा राश्यन्तरगमनमुररीकुर्वते सा सायनांशा  
संक्रातिरुच्यते, यदा त्वयनांशसंस्काररहिता ग्रहा राश्यन्तरगास्तदा  
निरयनांशा संक्रातिरुच्यते ।

तत्रान्यासां चन्द्रादिसंक्रातीनां तु “देवद्वयंकर्तव्योष्टाष्टौ नाड्योकाः  
खनृपाः क्रमात् । वर्ज्याः संक्रमणोऽर्कादेः प्रायोऽर्कस्यातिनिदिताः ॥ ”  
इति वर्ज्यघटीत्वमेव विवाहप्रकरणे वक्ष्यति । न फलकथने आसां  
संक्रातीनां कश्चिदुपयोगः । सूर्यसंक्रान्तीनां तु नक्षत्रवारसमयभेदेन  
ववादिकरणभेदेन च शुभाशुभफलकथनयोग्यता पुण्यकालता  
संक्रान्तिविशेषे वर्ज्यघटीन्यूनाधिकभावश्चास्तीत्यतो बहुवक्तव्यत्वा-  
त्स्वतंत्रमेव सूर्यसंक्रान्तिप्रकरणमारिप्सुर्नक्षत्रवारभेदेन फलं तावत्सार्ध-  
वसंततिलक्याह—

घोरार्कसंक्रमणमुग्ररवौ हि शूद्रान्  
ध्वाङ्क्षी विशो लघुविधौ च चरर्क्षभौमे ।  
चौरान्महोदरयुता नृपतीन् जमैत्रे  
मन्दाकिनी स्थिरगुरौ सुखयेच्च मन्दा ॥ १ ॥



विप्रांश्च मिश्रभभृगौ तु पशूँश्च मिश्रा  
तीक्ष्णार्कजेऽन्त्यजसुखा खलु राक्षसी च ।

घोरेति । अर्कस्य सूर्यस्य संक्रमणनिरयनांशा संक्रान्तिरुग्ररवाबुग्रसं-  
ज्ञकनक्षत्रे रविवारे स्यात्तदा घोरेति नाम्नी, सा शूद्रान्सुखयेत्सुखमुत्पा-  
दयेत्तेषाम् । अत्रार्कसंक्रमणमिति पदोपादानसामर्थ्यात्सूर्यसंक्रान्ति-  
ष्वेवायं विचारो नाखिलग्रहसंक्रान्तिष्विति फलितोर्थः । ननूग्ररवा-  
वित्यत्र सप्तम्यन्ते द्वंद्वसमासोस्ति । स किमितरेतरयोगद्वंद्वो वा समाहा-  
रद्वंद्वो वा । नाद्यः, इतरेतरयोगद्वंद्वस्योद्भूतावयवत्वाद्द्विवचनांतता  
स्यात्तथासत्युग्ररव्योरिति भवितव्यम् । उग्रनक्षत्राणां व हुत्वादुग्ररविष्विति  
बहुवचनान्तता च स्यादिति केचिदाहुः । उभयथापि पाठे छन्दोभङ्गदोषः  
प्राप्नोति । न द्वितीयः । समाहारद्वन्द्वस्य 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति' इ-  
त्येकवद्भावविधानात् । "स नपुंसकम्" इति नपुंसकलिंगतायां सत्यां समा-  
हारस्यैकत्वादेकवचनं छिस्तस्मिन्परतः "इकोचि विभक्तौ" इति जुमागमे  
उग्ररविणीति स्यात् । तादृशपाठेपि छन्दोभंगदूषणम् । अत्र समाधिः—  
इतरेतस्योगद्वंद्वोत्र न कार्यः, किंतु समाहारद्वन्द्वः कार्यः । तथाहि "स्तो-  
श्चुना श्चुः" इत्यत्र सूत्रे स्तोरिति ज्ञापकादागमशासनस्यानित्यत्वावगते-  
र्नुभभावे "अच्च घेः" इत्यौत्वे अत्रे च सिद्धमुग्ररवाविति । अथवोग्रैः  
सहितो रविरुग्ररविरिति । शाकपार्थिवादेराकृतिगणत्वान्मध्यमपदलोपी  
तत्पुरुषः समासः । ततः सप्तम्येकवचने पूर्ववत्सिद्धमिष्टम् । अतश्छ-  
न्दोभङ्गाभावोपि सिद्धः । एवं लघुविधावित्यादावपि समाधेयम् । अनेनै-  
वाशयेन 'मर्यादाभिविधौ च यः, इति काशिकाप्रयोगोपपत्तिरित्यलम-  
तिप्रसङ्गेन । लघुनक्षत्रे विधौ चन्द्रवारे वा सूर्यसंक्रान्तिध्वांक्षी-  
नाम्नी विशो वैश्यान्सुखयेत्, चरर्क्षे चरनक्षत्रे भौमे मंगलवारे वा  
संक्रान्तिर्महोदरयुता महोदरानाम्नी चौरान्सुखयेत्, ज्ञे मैत्रे बुधे  
मैत्रसंज्ञकनक्षत्रे वा संक्रान्तिर्मन्दाकिनीनाम्नी नृपतीन् राज्ञः सुखयेत्,  
स्थिरनक्षत्रे गुरुवारे वा संक्रान्तिर्मन्दानास्त्री विप्रान्सुखयेत्, मिश्रन  
क्षत्रे भृगुवारे वा संक्रान्तिर्मिश्रानास्त्री पशून् सुखयेत्, तीक्ष्णनक्षत्रे  
अर्कजे शनिवारे वा संक्रान्तिः खलु निश्चयेन राक्षसीनाम्नी अन्त्यजां-  
श्चांडालान् सुखयतीत्यन्त्यजसुखा स्यादित्यर्थः । यदाह कश्यपः—

घोरा ध्वांक्षी महोदया मन्दा मन्दाकिनी तथा ।

मिश्रा राक्षसिका सूर्यसंक्रान्तिश्चार्कवासरात् ॥

वसिष्ठः—

“घोरोग्रहो ध्वांक्षी लघुमे चरमे महोदरी मृदुमे ।

मन्दाकिनी चरहो मन्दा मिश्रे च राक्षसी तीक्ष्णे ॥”

अत्र छन्दोभङ्गस्त्वार्थः । देवीपुराणे—“मन्दाध्रुवेषु विज्ञेया मृदौ मन्दाकिनी तथा । क्षिप्रे ध्वांक्षी विजानीयादुग्रे घोरा प्रकीर्तिता ॥ चरैर्महोदरी ज्ञेया क्रूरैरुग्रैस्तु राक्षसी । मिश्रिता चैव विज्ञेया मिश्रेऽर्द्धैस्तु संक्रमे ॥” इति । रत्नमालायाम्—“उग्रक्षि-  
प्रचरैर्मित्रध्रुवमिश्राख्यदारुणैः । ऋद्धैः संक्रान्तिरर्कस्य घोराद्या क्रमशो भवेत् ॥” नारदकश्यपौ—शूद्रतस्करवैश्यदमादेवभूपगवां क्रमात् । अनुक्तानां च सर्वेषां घोराद्याः सुखदाः स्मृताः ॥” व्जादेवाः ब्राह्मणाः, अनुक्तानां चाण्डालादीनाम् । ननूक्तं वक्ष्यमाणं वा शुभाशुभफलं साय-  
नांशसंक्रान्तितः कुतो न विचार्यत इति चेत्, उच्यते, सायनांशसंक्रान्तेः स्नानदानजपादावेव कार्यं न सर्वत्र । यदाह पुलस्त्यः—“स्नानदानज-  
पश्चाद्धव्रतहोमादिकर्मसु । सुकृतं चलसंक्रान्तावक्ष्यं पुरुषोऽश्नुते ॥” इति । चलसंक्रमः सायनांशसंक्रान्तिः । अतश्चलसंक्रान्तेः परिगणित-  
स्नानादिकविषयत्वादेव कृत्यान्तरेषु विवाहादिशुभकर्मसु संक्रान्तिमा-  
साङ्गीकारे शुभाशुभफलकथने च नास्या उपयोग इति युक्तमुत्पश्यामः । इदं चाग्रे सम्यक्तया निरूप्यते ॥ १ ॥

अथ दिनरात्रिविभागेन संक्रान्त्यशुभफलमुत्तराणदक्षिणायनसंज्ञां च सार्द्धवसन्ततिलकयाह—

त्र्यंशे दिनस्य नृपतीन्प्रथमे निहन्ति

मध्ये द्विजानपि विशोऽपरके च शूद्रान् ॥ २ ॥

अस्ते निशाग्रहरकेषु पिशाचकादी-

न्नक्तंचरानपि नटान्पशुपालकांश्च ।

सूर्योदये सकललिङ्गिजनं च सौम्य-

याम्यायनं मकरकर्कटयोर्निरुक्तम् ॥ ३ ॥

त्र्यंश इति । अत्रार्कसंक्रमणमित्यनुवर्तते । दिनप्रमाणं त्रिभिर्मकं



घट्यात्मकस्तृतीयांशो भवति । तत्र दिनस्य प्रथमत्रयंशेऽर्कसंक्रमणं नृप-  
तीन् हन्ति, मध्ये द्वितीयत्रयंशे द्विजान् ब्राह्मणान् हन्ति, अपरके तृ-  
तीयत्रयंशे वैश्यान् हन्त्येवं सर्वत्र व्याख्येयम् । अस्ते सूर्यास्तसमयेऽर्क-  
संक्रमणं शूद्रान् । अथ रात्रिसंक्रातिफलम् । तत्र रात्रिप्रथमप्रहरे पि-  
शाचकादीन्, आदिशब्देन भूतादीन्, द्वितीयप्रहरे नक्तंचरान् राक्षसा-  
न् । तृतीयप्रहरे नटान् नर्तकान्, चतुर्थप्रहरे पशुपालकान् आमी-  
रान्, सूर्योदयसमयेऽर्कसंक्रमणं सकललिंगिजनं पाखण्डादिकं हन्तीत्य-  
र्थः । “पाखण्डाः सर्वलिंगिनः” इत्यभिधानात् । यदाहर्तुर्नरदकश्यपौ-  
“पूर्वाह्णे नृपतीन् हन्ति विप्रान् मध्यदिने विशः । अपराह्णेस्तगे शूद्रान् प्र-  
दोषे च पिशाचकान् ॥ निशि रात्रिचरान्नाट्यकारान् पररात्रके । गोचा-  
रिणश्च सन्ध्यायां लिंगिनं रविसंक्रमे ॥” इति ।

संक्रान्तिफलं क्रूरसौम्यवारभेदेन—

संक्रान्तेः क्रूरसौम्यवारपरत्वेन फलविशेषमाह वसिष्ठः—

“रविरध्विजभौमवारे संक्रान्तौ दिनकरस्य तन्मासे ।

पित्तकफानिलजामयनरपतिकलहं त्ववृष्टिश्च ॥

बुधगुरुसितचन्द्राहे सति संक्रान्तावनामयं नृणाम् ।

क्षितिपतिनिकरक्षेमं सस्यविवृद्धिविधभिर्भिणां पीडा ॥” इति ।

नक्षत्रभेदेन मेषसंक्रान्तिफलम्—

अत्र मेषसंक्रांतौ विशेषमाह कश्यपः—

“यदामेषगतः सूर्यो भरण्यादिचतुष्टये ।

सस्यवृद्धिर्भवेत्तस्य वृद्धिधराद्राचतुष्टये ॥

मघादिदशके हानिः क्षेमं चानुक्तमेषु च ॥”

अस्यार्थः—यस्मिन्दिने मेष संक्रमस्तद्दिने चन्द्रो यदि भरण्यादिन-  
क्षत्रचतुष्टये स्यात्तदा सस्य वृद्धिः । एवमग्रेपि व्याख्येयम् ।

अथ जन्मनक्षत्रे संक्रान्तिफलम्—

जन्मनक्षत्रे संक्रान्तिफलं दीपिकायाम्—

“यस्य जन्मर्क्षमासाद्ये रविसंक्रमणं भवेत् ।

तन्मासाद्यंतरे तस्य रोगः क्लेशो धनक्षयः ॥” इति ।

तत्र शान्तिकमपि दीपिकायामुक्तम्—“तगरसरोरुहपत्रै रजनी-(१)  
सिद्धार्थ-(२) लोघ्रसंयुक्तैः। स्नानञ्जन्मन्यृत्ते रविसंक्रान्तौ नृणां शुभदम्॥”

अथ वारनक्षत्रवशेन संक्रान्तिनामानि ।

| वाराः           | नक्षत्राणि                | नामानि      | फलानि—              |
|-----------------|---------------------------|-------------|---------------------|
| रविः            | पूषा, पूषा, पूभा, भ, म,   | घोरा        | शूद्रान् सुखयेत् ।  |
| चन्द्रः         | अश्वि, पुष्य, अभि, ह,     | ध्वांक्षी   | वैश्यान् सुखयेत् ।  |
| भौमः            | स्वा, पुन, श्र, ध, श,     | महोदरी      | चौरान् सुखयेत् ।    |
| बुधः            | मृ, चि, अरु, रे,          | मन्दाकिनी   | नृपतीन् सुखयेत् ।   |
| गुरुः           | उफा, उषा, उभा, रो,        | मन्दा       | विप्रान् सुखयेत् ।  |
| शुक्रः          | विशाखा, कृत्तिका,         | मिश्रा      | पशून् सुखयेत् ।     |
| शनिः            | आर्द्रा, आश्ले, ज्ये, मू, | राक्षसी     | अंत्यजान् सुखयेत् । |
| कालविभागेन फलम् | अहः                       | प्रथमभागे   | नृपतीन् हन्ति       |
|                 |                           | द्वितीयभागे | द्विजान् हन्ति      |
|                 |                           | तृतीयभागे   | वैश्यान् हन्ति      |
|                 | रात्रेः                   | प्रथमयामे   | पिशाचान् हन्ति      |
|                 |                           | द्वितीययामे | राक्षसान् हन्ति     |
|                 |                           | तृतीययामे   | नटान् हन्ति         |
|                 |                           | चतुर्थयामे  | पशुपालकान् हन्ति    |
|                 | अस्तकाले प्रवेशे          |             | शूद्रान् हन्ति      |
|                 | उदयकाले संक्रमणप्रवेशे    |             | पाखंडादीन् हन्ति    |

(१) रजनी मिथिलायां 'हरदि'-नाम्ना प्रसिद्धा ।

(२) सिद्धार्थः='सरिसो'



संक्रान्तिषु वृष्टौ फलम्—

संक्रान्तिषु वृष्टौ ज्ञतायां फलमुक्तं वसिष्ठेन—“अजकन्याभूषक-  
किंणि संक्रान्तौ यदि भवेद्वर्षम् । अनुलं क्षेमसुभिन्नं नृपसज्जनगोकुल-  
क्षेमम् । घटचापसिंहमिथुनसंक्रान्तौ यदि भवेद्वर्षम् । आमयडामरभूभृ-  
द्युद्धमनथं त्ववृष्टिश्च ॥ वृषवृश्चिकतुलमकरे वृष्टिः स्यात्संक्रमे समये ।  
विस्फोटाभयतस्करपीडा वृष्टिः कृशानुभयम् ॥ ” इति । सौम्येति ।  
मकरकर्कटयोः संक्रान्तिश्चेत्तदा क्रमेण सौम्ययाम्यायनं निरुक्तं कथि-  
तम् । मकरे उत्तरायणां, कर्कटे याम्यायनं स्यादित्यर्थः । यदाह नारदः—  
“सौम्ययाम्यायने नूनं भवतो मृगकर्किणी ॥ ” इति ॥ २ ॥ ३ ॥

अथावशिष्टादशसंक्रान्तीनां षडशीतिमुखाः संज्ञा अनुष्टुभाह—

षडशीत्याननं चापनृयुक्कन्याभूषे भवेत् ।

तुलाजौ विषुवं विष्णुपदं सिंहालिगोघटे ॥ ४ ॥

षडशीत्येति । धनुर्मिथुनकन्यामीनेषु संक्रान्तिश्चेत्तदा षडशीति-  
मुखानाम्नी संक्रान्तिः । तुलामेषयोः संक्रान्तिर्विषुवनाम्नी, सिंहवृ-  
श्चिकवृषकुम्भेषु संक्रान्तिर्विष्णुपदाख्या । उक्तं च नारदेन—“स्थिरमे-  
ष्वर्कसंक्रान्तिर्ज्ञेया विष्णुपदाह्वया । षडशीतिमुखं ज्ञेयं द्विस्वभावेषु  
राशिषु । तुलाधराजयोर्ज्ञेयं विषुवं सूर्यसंक्रमे ॥ ”

तासां संज्ञानां फलानि, तत्र स्नानदानादि च—

संज्ञाप्रयोजनं च—“याम्यायने विष्णुपदे चाद्या मध्यास्तुलाजयोः ।  
षडशीत्यानने सौम्ये परा नाड्योऽतिपुण्यदाः ॥ इति ग्रन्थकृदग्रे  
वक्ष्यति । अत्र मनुः—“संक्रान्तौ यानि दत्तानि हृष्यकव्यानि दातृ-  
भिः । तानि नित्यं ददात्यर्कः पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥ ” इति । “रवि-  
संक्रमणे पुण्ये न स्नायाद्यदि मानवः । सप्तजन्मसु रोगी स्याद्दुःख-  
भागी हि जायते ॥ ” इति श्रुतातपोक्तेः । स्नानदानश्राद्धादिकृत्यस्य सं-  
क्रान्तिकालेऽवश्यकर्तव्यता प्रतीयते । तत्र श्राद्धादेरनेकक्षणसाध्यत्वा-  
दननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यमापद्यते । संक्रान्तिकालस्यातिसूक्ष्मत्वात् ।  
तदुक्तं देवीपुराणे—“सुस्थे नरे सुखासीने यावत्स्पन्दति लोचनम् ।

तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः ॥ तस्माच्छ्रुततमो भागब्रुटि-  
(१)रित्यभिधीयते । ब्रुटेः सहस्रभागो यः स कालो रविसंक्रमे ॥' इति ।  
देवलोपि—“संक्रान्तिसमयः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः पिशितेक्ष्णैः ॥” इति । पि-  
शितेक्ष्णैः मनुष्यैः । अतो मुख्यकालानुपलब्धौ गौणकालेपि कार्यम्,  
वचनप्रामाण्यात् ॥ ४ ॥

स च गौणकालः प्रतिनिधिरित्यतो गौणकालमुपजातिकाच्छन्दः-  
पूर्वार्द्धेनाह—

(२)संक्रान्तिकालादुभयत्र नाडिकाः

पुण्या मताः षोडश षोडशोष्णगोः ।

(१) भास्करोऽपि—“ योऽद्दणोर्निमेषस्य खरामभागः स तत्पर-  
स्तच्छ्रुतभाग उक्ता, ब्रुटिः.....” ।

(२) अत्रोपपत्तिः—वस्तुतो यदैव रविविम्बकेन्द्रं राश्यादिमेति  
स एव सूक्ष्मोऽतोवानिर्वाच्यः संक्रमणकालः स्नानदानाद्यनर्हं  
इति राश्यादौ विम्बप्राग्नेभिसंयोगादापरनेमिसंयोगं स्थूलत्वेन संक्रा-  
न्तिकालो धर्मकर्मार्हः स्वीकृतः । तज्ज्ञानन्तावदनुपातेन, यदि  
कलात्मिकया स्पष्टगत्या षष्टि-६० घटिकास्तदा स्पष्टरविविम्बक-  
लाभिः का इत्यागता रविविम्बकलासम्बन्धिन्यो घट्यस्तत्स्वरूपम् =

रविकसंघ =  $\frac{६० \times \text{स्पष्टिक}}{\text{स्पगक}}$  । अथानुपातेनागतस्पष्टविम्बकला = स्पष्टिक

=  $\frac{\text{मर्बिक} \times \text{स्पगक}}{\text{मगक}}$  एतदुत्थापनात् रविकसंघ =  $\frac{६० \times \text{मर्बिक} \times \text{स्पगक}}{\text{स्पगक} \times \text{मगक}}$

स्पष्टगतिकलाया भाज्यभाजकत्वान्नाशे  $\frac{६० \times \text{मर्बिक}}{\text{मगक}}$  अत्र मध्य-

मविम्बकलामान-३२ मेतन्मितं, मध्यगतिश्चापि षष्टि-६० मितं  
स्वल्पान्तरतः स्वीकृताः ∴ रविकसंघ =  $\frac{६० \times ३२}{६०} = ३२$  एतन्मितः संक्रा-

न्तिकालः स्नानदानाद्यर्होऽर्थत एतदर्थ-१६मितो रविविम्बकेन्द्ररा-  
श्यादिसंयोगात् पूर्वं तथा तन्मित एव पश्चात्पुण्यकालो भवतीति सुधी-  
भिरनुक्तमपि ज्ञायते ।



निशीथतोऽर्वागपरत्र संक्रमे

पूर्वापराहान्तिमपूर्वभागयोः ॥ ५ ॥

संक्रान्तीति । गणितमार्गेण यः उष्णगोः सूर्यस्य संक्रान्तिकाल आगतस्तत उभयत्र पूर्वतः परतश्च षोडश नाड्यः पुण्यसम्पादकत्वत्पुण्यामताः सम्मताः । सूर्यसंक्रान्तिसमयात्पूर्वं षोडश पश्चाच्च षोडश घटिकाः पुण्यकाल इति द्वात्रिंशद्घटिका भवन्तीत्यर्थः । तदाह वसिष्ठः—

“दिनपतिसंक्रमणात्प्राक्षोडश नाड्यश्च पुण्यकालः सः ।

परतः षोडश नाड्यः सर्वत्र स्नानदानकार्येषु ॥”

ब्रह्मसिद्धान्ते—

“संक्रान्तेः प्राक्परस्ताच्च सार्द्धाः षोडश नाडिकाः ।

त्रयस्त्रिंशत्संक्रमस्य पुण्याः सर्वस्य नाडिकाः ॥”

अनेन ‘संक्रान्तेः पुण्यकालस्तु षोडशोभयतः कलाः’ इति वाक्ये यैः पूर्वतः परतश्चाष्टावष्टौ घटिकाः पुण्यकाल इत्येवं षोडशेति व्याख्यातं तदपाकृतं भवति । किंचायमर्थो वासनासिद्धः सूर्यसिद्धांतेऽभिहितः—“अर्कमानकलाः षष्ठ्या गुणिता भुक्तिभाजिताः । तदर्द्धनाड्यः संक्रान्तेरर्वाक्पुण्यं तथापरे ॥” सिद्धान्तशिरोमणावपि—‘षष्टिर्बिंबं ग्रहभुक्तिभक्तं संक्रान्तिनाड्योऽखिलधर्मकृत्ये । रवेस्तु ताः पुण्यतमा ग्रहः स्वसंक्रान्तिगो मिश्रफलं विधत्ते ॥” इति । वासना चेयं—“यदि ग्रहस्पष्टगतिस्तुल्याभिरहोरात्रमानरूपाः षष्टिघटिका लभ्यन्ते तदा ग्रहबिंबकलाभिः किम्” इति त्रैराशिकेन ग्रहे बिंबकलानां षष्टिगुणको ग्रहभुक्तिर्भाजको निष्पन्न इत्यर्थः । एवं सर्वग्रहाणामपि संक्रान्तिः स्यात् । तदुक्तं सिद्धान्त एव । अत्र तु विस्तरभयादनुपयुक्तत्वाच्च नास्माभिरलेखि । अत एव त्रिंशदेकत्रिंशत्सार्द्धद्वात्रिंशत् त्रयस्त्रिंशदादिभेदेन स्मृतिषु पुण्यघटिकाभिधानं स्पष्टोक्त्याभेदसंभवाद्भिन्नम् । तदेवं सामान्यतः संक्रान्तिषु द्वात्रिंशद्घटिकारूपः पुण्यकालो निर्णीतः । देवीपुराणे मन्दादिसंज्ञाभेदात्पुण्यकालविशेष एवोक्तः—“द्विचतुष्पञ्चसप्ताष्ट नव द्वादश चैव हि । क्रमेण घटिका होतास्तत्पुण्यं पारमार्थिकम् ॥” इति । अस्यार्थः—मन्दायामन्तरालवर्तिघटिकाद्वयं, मन्दाकिन्यां चतस्रो घटिकाः, ध्वाङ्यां पञ्च, घोरायां सप्त, महादर्या-

मद्यौ, राक्षस्यां नव, मिश्रायां दश । प्रागभिहितदेवीपुराणोक्तमन्दादिसंज्ञा-  
वाक्यान् नक्षत्रजनितसंज्ञासु मन्दादिष्वयं विचारो न वारप्रयुक्तासु, अव-  
चनात् । एवं संक्रान्तौ विशेषमुपजात्युत्तरार्द्धेनाह—निशीथत इति । नि-  
शीथमर्धरात्रंतस्माद्वर्कपूर्वत्र अपरत्र पश्चाच्च संक्रमे संक्रान्तिकाले सति  
पूर्वापरयोरहोः क्रमेणांतिमपूर्वभागौ पुण्यौ स्याताम् । भागकाविति  
स्वार्थे कः । यद्यर्धरात्रात्प्राक् संक्रान्तिस्तदा पूर्वदिनस्योत्तरार्द्धं पु-  
ण्यम् । यद्यर्धरात्रादुपरि संक्रान्तिस्तदोत्तरदिनस्य पूर्वार्द्धमेव पुण्य-  
मित्यर्थः । उक्तं च ब्रह्मसिद्धान्ते—“ भवनांतं विषमम्यं राज्यद्वर्धात्प्रा-  
गुदेति चेत् । स्नानदानादिमध्याह्नात्कुर्यादूर्ध्वं गते दिने ॥ राज्यद्वर्धा-  
दुपरि क्षेत्रं याति चेदन्यथार्यमा । अन्यगामिनि मध्याह्नात्पूर्वं स्नानादि  
पुण्यदम् ॥ ” भवनराशिः विषमम्यं रवेः क्षेत्रं राशिः । वृद्धवसिष्ठोपि—  
“अहि संक्रमणो पुण्यमहः कृत्स्नं प्रकीर्तितम् । रात्रौ संक्रमणो भानोर्दिना-  
दूर्ध्वं स्नानदानयोः ॥ अर्द्धरात्रादधस्तस्मिन्मध्याह्नस्योपरि क्रिया । ऊर्ध्वं  
संक्रमणो चोर्ध्वमुदयात्प्रहरद्वयम् ॥ ” इति । ननु रात्रौ दिनसंक्रान्तौ  
रात्रावपि पुण्यकालसत्त्वात्तदा स्नानादि कुतो न क्रियते, यदर्थमय-  
मुद्यत आरब्धः । उच्यते, “रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः”  
इति सुमन्तुवाक्याद्रात्रौ स्नानाद्यधिकारासत्त्वात् । यत्तु नैमित्तिकं  
ग्रहणादिप्रयुक्तं तद्भवत्येव । “ नैमित्तिकं च कुर्वीत स्नानं दानं च  
रात्रिषु । ” इति सुमन्तुवाक्यशेषात् ॥ ५ ॥

अर्द्धरात्रसमये संक्रमणो मकरकर्कटयोश्च विशेषमुपजातिकयाह—

पूर्णे निशीथे यदि संक्रमः स्या-

दिनद्वयं पुण्यमथोदयास्तात् ।

पूर्वं परस्ताद्यदि याम्यसौम्या-

यने दिने पूर्वपरे तु पुण्ये ॥ ६ ॥

पूर्णे इति । “अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ द्वौ यामप्रहरौ समौ ” इत्य-  
भिधानादार्धरात्रं निशीथशब्दवाच्यम्, तस्मिन्निशीथे पूर्णे रात्रि-  
द्वितीयप्रहरांतिमपलावच्छिन्ने यदि संक्रमः स्यात्तदा प्रागपरदिनद्वयं  
पुण्यमुक्तम् । उक्तं च वृद्धवसिष्ठेन—“पूर्णे चेदार्धरात्रे तु यदा संक्र-  
मते रविः । प्राहुर्दिनद्वयं पुण्यं मुक्त्वा मकरकर्कटौ ॥ ” इति ।



ब्रह्मसिद्धान्तेपि—“यद्यर्द्धरात्र एव स्यात्सम्पूर्णे संक्रमो रवेः । तदा दिनद्वयं पुण्यं स्नानदानादिकर्मसु ॥”

निशीथे अन्यदा वा मकरकर्कटयोर्विशेषः—

“अथ मुक्त्वा मकरकर्कटौ” इत्युक्तं, तत्र मकरकर्कटयोस्तु कथमित्यत आह । अथानंतरमुदयास्तात्सूर्योदयास्ताच्च पूर्वं परस्ताच्च यदि याम्ये सौम्यायने कर्ममकरसंक्राती भवतस्तदा पूर्वपरदिने पुण्ये स्याताम् । यदि सूर्योदयात्पूर्वं कर्कसंक्रमणं स्यात्तदा पूर्वदिने एव पुण्यकालो न परदिने । तदाह वृद्धगार्ग्यः—“यदास्तमयवेलायां मकरे याति भास्करः । प्रदोषे चार्द्धरात्रे वा स्नानं दानं परेहनि ॥ अर्द्धरात्रे तदूर्ध्वं वा संक्रान्तौ दक्षिणायने । पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः ॥ अस्तमयवेलाया इति पंचम्यंतं पदम् । वाशब्द इवार्थः । भविष्योत्तरपुराणोपि—“कार्मुकं तु परित्यज्य मृगं संक्रमते रविः । प्रदोषे चार्द्धरात्रे वा कुर्यादहनि पूर्वतः ॥” इति । प्रदोषलक्षणां स्कंदपुराणो—“त्रिमुहूर्तः प्रदोषः स्याद्रवावस्तंगते सति” इति ॥ ६ ॥

अथार्द्धोदयास्तादिति वचनस्यापवादमिन्द्रवज्राब्जदंसाह—

सन्ध्या त्रिनाडी प्रमितार्कबिम्बा-

दर्द्धोदितास्तादध ऊर्ध्वमत्र ।

चेद्याम्यसौम्ये अयने क्रमात्स्तः

पुण्यौ तदानीं परपूर्वघटौ ॥ ७ ॥

सन्ध्येति । अर्द्धोदितादर्द्धास्ताच्चाध ऊर्ध्वं च क्रमात् त्रिघटिकास्ताभिः प्रमिता सन्ध्या सन्ध्याकालः स्यात् । अर्द्धोदितादर्कबिम्बात्पूर्वं त्रिघटीप्रमिता प्रातःसन्ध्या, तथार्द्धास्तादर्कबिम्बादुपरि त्रिनाडीप्रमिता सायंसन्ध्येत्यर्थः । तदाह वराहः—“अर्द्धास्तमितानुदितात्सूर्यादस्पष्टमं नभोयावत् । तावान्सन्ध्याकालश्चिह्नैरैतैः फलं ब्रूयात् ॥” इति ।

द्वयोःसन्ध्ययोर्लक्षणान्तरे—

तत्प्रमाणमाह नारदः—“अर्द्धास्तमनसन्ध्या हि घटिकात्रयसम्मिता । तथैवादार्द्धोदयात्प्रातर्घटिकात्रयसम्मिता ॥” इति । स्कंदपुराणोपि—“उदयात्प्राक्तनी सन्ध्या घटिकात्रयमुच्यते । सायं-

सन्ध्या त्रिघटिका ह्यस्तादुपरि भास्वतः ॥” इति । अत्र सन्ध्या-  
लक्षणो, अर्द्धास्तमितानुदितवाक्यस्य स्कन्दपुराणीयवाक्यस्य च त्री-  
हियववद्विकल्पः ।

सन्ध्ययोरयने पुण्यकालाः—

सन्ध्यालक्षणप्रयोजनमाह—अत्रेति । अत्र सन्ध्यायां प्रातःसन्ध्यायां  
सायंसन्ध्यायां च क्रमाच्चैद्याम्यसौम्ये अयने दक्षिणोत्तरायणौ तदानीं  
परपूर्वौ घञौ दिवसौ पुण्यौ । याम्यसौम्ये अयने इत्यत्र “ईदुदेद्दिद्वचनं  
प्रगृह्यम्” इति प्रगृह्यत्वात् “पुनतप्रगृह्या अचि” इति प्रकृतिभावः ।  
यदि प्रातःसन्ध्यायां दक्षिणायनप्रवृत्तिस्तदा सूर्योदयानन्तरं सम्पूर्ण-  
महः पुण्यम् । तथा यदि सायंसन्ध्यायामुत्तरायणप्रवृत्तिस्तदा सूर्यास्ता-  
त्पूर्वं सम्पूर्णमहः पुण्यं स्यादित्यर्थः । यदाह नारदः “सूर्यस्योदयसंध्यायां  
यदि याम्यायनं भवेत् । तदोदयादहः पुण्यं पूर्वाहः पूर्वतो यदि ॥ सूर्या-  
स्तमनसंध्यायां यदि सौम्यायनं भवेत् । तदहः पुण्यकालः स्यात्परत-  
श्चोत्तरेऽहनि ॥” इति ।

कर्कसंक्रमे उदयसन्ध्यातः प्राक्, मकरसंक्रमे सायंसन्ध्योत्तरं

जाते पुण्यकालाः—

अत्र यद्युदयसन्ध्यातः प्राक्कर्कसंक्रमस्तदा प्राग्दिन एव पुण्यकालो  
नोत्तरदिने । तथा यद्यस्तसन्ध्यामतिक्रम्य मकरसंक्रान्तिस्तदोत्तरदिन  
एव पुण्यकालो न तु प्राग्दिने इति निष्कृष्टोर्थः । अतो वृद्धगार्ग्यादिवा-  
क्यनारदवाक्ययोः प्रदोषसन्ध्यापदोपादाने सामान्यविशेषभावोवगन्त-  
व्यः । यत्तु हेमाद्रौ स्कन्दपुराणीयं वाक्यम्—“घनुर्मीनावतिक्रम्य कन्यां  
च मिथुनं ततः । पूर्वापरविभागेन रात्रौ संक्रमते यदा ॥ दिनान्ते पञ्च  
नाड्यस्तु तदा पुण्यतमाः स्मृताः । उदये च तथा पञ्च दैवे पित्र्ये च  
कर्मणि ॥” इति तदपि सन्ध्याविषयकमेवेत्याहुरभियुक्ताः, विषुवे  
तु यथाश्रुतमेवेति । अन्यदपि सन्ध्यालक्षणप्रयोजनं “प्राक्सन्ध्यागर्जितं”  
इत्यादिषु वक्ष्यति । ननु नायमयनपुण्यकालोक्त्युद्यमः सफलः, शास्त्रां-  
तरविरुद्धत्वात् । तथाहि—“अहिं संक्रमणो पुण्यमहः कृत्स्नं प्रकीर्त्ति-  
तम् । रात्रौ संक्रमणो भानोर्दिनार्द्धं स्नानदानयोः ॥ अर्धरात्रादधस्तस्मि-  
न्मज्जाहस्योपरि क्रिया । ऊर्ध्वं संक्रमणो चोर्ध्वमुदयात्प्रहरद्वयम् ॥ पूर्णं  
चेदर्धरात्रे तु यदा संक्रमते रविः । प्राहुर्दिनद्वयं पुण्यं मुक्त्वा मकरकर्क-



टौ ॥” इति । वृद्धवसिष्ठेनायनव्यतिरिक्तेषु दशसु संक्रमेषु रात्रिगतेषु—“या याः सन्निहिता नाड्यस्तास्ताः पुण्यतमाः स्मृताः” इति कश्यपोक्तसामान्य-  
वाक्याद्वात्रावेवानुष्ठानं प्रसक्तम् ‘अहः संक्रम’ इत्यादिनाप्येतदेवानुष्ठानं  
विहितं तस्यापि पर्युदासः क्रियते “ मुक्त्वा मकरकर्कटौ ” इति ।  
तस्मान्मकरकर्कटयोः संक्रमणे रात्रावेवानुष्ठानं कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति ।  
अत एवाह याज्ञवल्क्यः—“ राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।  
स्नानदानादिकं कार्यं निशि काम्यव्रतेषु च ॥ ” इति । वसिष्ठोपि—“सु-  
तजनने संक्रान्ताबुपरागे चन्द्रसूर्ययोर्नियतम् । रात्रावपि कर्त्तव्यं स्ना-  
नं दानं विशेषतो नृणाम् ॥ ” इति । सुमन्तुश्च—“ ग्रहणोद्वाहसंक्रान्ति-  
यात्रार्तिप्रसवेषु च । श्रवणे चेतिहासस्य रात्रौ दानं प्रशस्यते ॥ ” इति  
एषु वाक्येषु सामान्यवाचिनोपि संक्रान्तिपदस्य मकरकर्कटसंक्रान्ति-  
परत्वमवसीयते । यस्तु—“ रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेष-  
तः । ” इति निषेधः स संक्रान्त्यंतरे व्यवतिष्ठते । अत एवोक्तं कश्यपे-  
न—“ स्नानं दानं ग्रहणवत्सौम्ययाम्यायनद्वये ” इति । तस्मादयन-  
संक्रमे रात्रौ सत्यां तत्रैव स्नानदानाद्यनुष्ठानव्यमिति । अत्राहुः शास्त्र-  
द्वयेन तुल्यबलत्वाद्विकल्पसिद्धौ तत्तद्देशप्रसिद्धस्पष्टाचारेण व्यवस्था  
द्रष्टव्या । तत्र गुर्जरास्तु कश्यपादिवाक्यमभ्युपेत्य रात्रावयनसंभवे  
सति रात्रावेव स्नानदानादिकं कुर्वतीत्यर्थः । दाक्षिणात्यास्तु वृद्ध-  
गार्ग्यादिवाक्यमंगीकृत्य दिवस एव स्नानदानादि कुर्वतीत्यलमतिप्र-  
संगेन । यदा तु दिने कर्कमकरसंक्रमस्तदा क्रमेण पूर्वोत्तरघटिकानि-  
यममाह वृद्धवसिष्ठः—“ अतीतानागते पुण्ये द्वे तूदग्दक्षिणायने ।  
त्रिंशत्कर्कटके नाड्यो मकरे विंशतिः स्मृताः ॥ ” इति । उत्तरायण-  
मतीतं सत्पुण्यं कर्कटायनमागामि पुण्यम् । तत्र कर्कटसंक्रान्तेः प्राक्  
त्रिंशद्घटिकाः पुण्याः, मकरे तूत्तरा विंशतिघटिकाः पुण्या इत्यर्थः ।  
अत्र वाक्ये यद्यपि दिनपदानुपादानम्, तथापि यदास्तमयवेलाया-  
मिति रात्रिपरविशेषवाक्यालोचनादिदं दिनपरं प्रतिभाति । तथा सति  
केनापि हेतुना समोपघटौषु आद्वाद्यनुष्ठानासंभवे परमावधित्वेन  
त्रिंशदाद्यघटिका अत्रानुज्ञायन्ते । यदा तु प्रतिबंधस्तदा “या याः स-  
न्निहिता नाड्यस्तास्ताः पुण्यतमाः स्मृताः” इति कश्यपोक्तेः समीप-  
घटिकास्वैव आद्वादि विधेयम् । ‘ सन्निहितपरित्यागे कारणाभावा-  
त् ’ इति न्यायाच्च ॥ ७ ॥

अथ पूर्वापराः षोडश घटिकाः पुण्या इति पूर्वं सामान्येनोक्तम् ।  
इदानीं विष्णुपदादिषु संक्रमेषु विशेषमनुष्ठुमाह—

याम्यायने विष्णुपदे चाद्या मध्यास्तुलाजयोः ।

षडशीत्यानने सौम्ये परा नाड्योऽतिपुण्यदाः ॥८॥

याम्येति । याम्यायने कर्कसंक्रान्तौ तथा विष्णुपदे वृषसिंहवृश्चिककुं-  
भसंक्रान्तिषु संक्रान्तिकालादाद्याः नाड्यः प्रथमाः षोडश घटिकाः अति-  
पुण्यदाः स्नानदानादावनन्तफलदा ज्ञेयाः अग्निमास्तु न तथेति निष्कृ-  
ष्टोर्थः । तुलाजयोस्तुलामेषयोः मध्या उभयतः षोडश षोडश घटिकाः  
पुण्याः । अथ वा षोडशैव घटिकाः पुण्याः । षडशीत्यानने मिथुनक-  
न्याधनुर्मीनसंक्रान्तिषु तथा सौम्ये मकरसंक्रान्तौ संक्रान्तिकालात्परा  
अग्निमाः षोडश घटिकाः अतिपुण्यदाः, प्रथमास्तु न तथेति निष्कृष्टो-  
र्थः । यदाह श्रोपतिः—“याम्यायने विष्णुपदे तथादौ दानाद्यनन्तं वि-  
षुवे च मध्ये । वदन्त्यतीते षडशीतिवक्त्रे महर्षयः खल्वयने च सौम्ये ॥”  
तत्र कर्क प्रागेव मकरसंक्रान्तौ पश्चादेव पुण्यकाल इति तु प्राङ्निरणा-  
यि । विष्णुपदे तु अग्निमादिमघटीनां पुण्यकाले तरतमभावः । पुण्या-  
यां विष्णुपद्यायां च—“प्राक्पश्चादपि षोडश” इति वृद्धवसिष्ठोक्तेः ।  
विषुवे तु सामान्यनिर्णय एवेति केचित् । दोषिकाटीकाकारस्त्वेष-  
माह—“मेषे तुलायां च संक्रान्तिकालात्पूर्वमष्टौ घटिकाः परत-  
श्चाष्टौ घटिकाः पुण्यकालः” इति । युक्तं चैतत् । विषुवे च  
मध्यपदोपादानान्मध्ये षोडश घटिकाः पुण्याः इत्युच्यते । कस्मा-  
त्कालान्मध्य इत्यपेक्षायां संक्रान्तिकालादेवेत्यतः पूर्वमष्टौ पश्चाच्चाष्टौ  
घटिकाः पुण्या इत्यर्थः । यदुक्तं बृहस्पतिना—“वर्तमाने तुलामेषे ना-  
ड्यस्तूभयतो दश” इति । तुलामेषसंक्रान्तिकालात्प्राक् पश्चाच्च पञ्च पञ्च  
घट्यः पुण्या इति । यदप्युक्तमाद्यन्तसापेक्षत्वान्मध्यशब्दस्य गणिता-  
गतपुण्यकालघटिकानां मध्ये त्रिभागः स्थूलदृशा दशघटिकात्मको  
भवतीति । ‘या याः सन्निहिता नाड्यः’ इति कश्यपोक्तेः । षडशीतिमु-  
खेप्याद्याग्निमघटीनां पुण्यकाले तरतमभावः । यदपि “षडशीत्यां व्य-  
तोतायां षष्टिस्तुल्यास्तु नाडिकाः” इति वृद्धवसिष्ठवाक्यम्, तदपि प्रा-  
ग्घटीषु प्रतिबन्धवशात् श्राद्धादेरसम्भवे सत्यन्तिमघटीषु श्राद्धादि-  
क्रियाभ्यनुज्ञायाः परमावधिकालेयत्तार्थम् । इदं सर्वं दिनसंक्रान्तिविषयं



वेदितव्यम् । “अहि संक्रमणे पुण्यमहः कृत्स्नं प्रकीर्तितम्” इति सामान्यवाक्यस्य सौम्यायने विष्णुपदे इत्यस्य च विशेषवाक्यस्यैकवाक्यता । अत एव “रात्रौ संक्रमणे भानोर्दिनार्धं स्नानदानयोः ।” इति रात्रिपरविशेषस्य सत्त्वाच्च । एवं निर्णयति पुण्यकाले स्नानदानाद्यवश्यं विधेयमिति फलितोर्थः ।

पुण्यकाले स्नानदानाद्यकरणे दोषः—

तत्र स्नानदानाद्यकुर्वतश्च प्रत्यवायमाह वसिष्ठः—

“इति सञ्चित्य विनिर्णयमादेष्टव्यं सदैव दैवज्ञैः ।

विषुवत्ययने ग्रहणे संक्रान्तौ पुण्यदिवसेऽपि ॥

पितृतृप्तिं न करोति हि दत्त्वा शापं व्रजति तस्य पिता ।

आगतगतसमयेपि च करोति यद्दानजपहोमाद्यम् ॥

ऊषरवापितबीजं यद्वत्तद्वच्च निष्फलं भवति ॥”

अयने अयनप्रवृत्त्याख्ये चलसंक्रमणस्य आगमसमये निर्णयति पुण्यकालातिक्रमसमये स्नानादि निष्फलमित्यर्थः ।

संक्रान्तिषु स्नानादिफलम्—

संक्रान्तिषु स्नानदानादेः फलमाह भारद्वाजः—“षडशीत्यां तु यद्दानं विषुवद्वितये तथा । दृश्यते सागरस्यांतस्तस्यान्तो नैव दृश्यते ॥” वृद्धवसिष्ठोपि—“अयने कोटिपुण्यां च सहस्रं विषुवे फलम् । षडशीत्यां सहस्रं तु फलं विष्णुपदेषु च ॥” इत्यलमतिप्रसंगेन । इतिसूर्यसंक्रान्तिपुण्यकालादिनिर्णयः ।

चन्द्रादिसंक्रमे पुण्यकालनिर्णयः—

अथ नायं केवलं सूर्यसंक्रमण एव पुण्यकालः किंतु चंद्रादीनां ग्रहाणां नक्षत्रसंक्रमे राशिसंक्रमे च पुण्यकालो भवति । सोपि सोपपत्तिकः प्रसंगतः प्रोच्यतेऽस्माभिः । यदाह जैमिनिः—

“नक्षत्रराश्यो रविसंक्रमे स्युरर्वाक्षपरत्रापि रसेन्दुनाड्यः ।

पुण्यस्तथेदोस्त्रिधरापलैर्युगैकनाडी मुनिभिः शुभोक्ता ॥ १ ॥

नाड्यश्चतस्रः सपलाः कुजस्य बुधस्य तिस्रो मनवः पलानि ।

अब्ध्यब्धिनाड्यः पलसप्तयुक्ता गुरौ च शुके सपलाश्चतस्रः ॥ २ ॥

द्विनागनाड्यः पलसप्तयुक्ताः शनैश्चरस्याभिहिताः सुपुण्याः ।

आद्यन्तमध्ये जपदानहोमं कुर्वन्नवाप्नोति सुरेन्द्रधाम ॥ ३ ॥”

अस्यार्थः—सूर्यस्य नक्षत्रसंक्रमे राशिसंक्रमे च प्राक् परतश्च षोडश घटिकाः पुण्याः । एवं चन्द्रस्यैकघटी त्रयोदश पलानि, भौमस्य च तस्यो घटिका एकं पलम्, बुधस्य तिस्रो घटिकाश्चतुर्दश पलानि, गुरोश्चतुश्चत्वारिंशद्घटिकाः सप्त पलानि । शुक्रस्य चतस्रो घटिकाः पलमेकम् । शनेद्वर्धशीतिघटिकाः सप्त पलानि चोभयतः पुण्यकाल इति । अत्रोपपत्तिः—“भानोर्गतिः स्वदशभागयुतार्द्धिता वा विभवं विधोस्त्रिगुणिता युगशैल-७४ भक्ता । तिथ्यद्वि-७१५ होनशशिशुक्तिरिषुद्वि-२५ भक्ता नन्दाक्षि-२६ युग्भवति वा विधुर्विभवेवम् ॥” इति सिद्धान्तशिरोमण्युक्तप्रकारेण रविचन्द्रयोर्मानकला आनेयाः । “व्यंग्रीषवः सचरणा श्रुतवस्त्रिभागयुक्ताद्रयो नव च सत्रिलवेषवश्च । स्युर्मध्यमास्तनुकलाः क्षितिजादिकानां त्रिज्याशुक्लविचरेण पृथग् विनिर्णयः ॥” इति तैन्नैवोक्ता भौमादीनां मानकलाः । तत्र क्रमेण मानकलाः “षाष्टेघ्नविं प्रहभुक्तिभक्तं संक्रान्तिनाड्योऽखिलधर्मकृत्ये । रवेस्तु ताः पुण्यतमा ग्रहः स्वसंक्रान्तिगो भिन्नफलं विधत्ते ॥” इति भास्करोक्तदिशा संस्कृताः संक्रान्तिनाड्यः स्युः ।

| सू० | च० | म० | बु० | वृ० | शु० | श० | ग्रहाः |
|-----|----|----|-----|-----|-----|----|--------|
| १६  | १  | ४  | ३   | ४४  | ४   | ८२ | घट्यः  |
| ०   | १३ | १  | १४  | ७   | १   | ७  | पलानि  |

तत्र ग्रहभुक्तयस्तेनैवोक्ताः—

“नन्दाक्ष भुजगा रवेः शशिगतिः खाङ्गाद्रयोऽक्षाम्रयस्तुंगस्यांगकलाः कुवेदविकलाः पातस्य रामा भवाः । माहेयस्य महीगुणा रसकरा शस्येषुसिद्धा रदाः पञ्चज्यस्य सितस्य षण्णवमिता अष्टौ शनेद्वे कले ॥” इति ।

बुधशुक्रयोस्तु संक्रान्तिघटिकानयने सूर्यगतिरेव हारः कल्प्यः । तद्वतितुल्यत्वान्तयोः । वासनाभाष्ये हि—“बुधशुक्रौ तु रवेरासन्नावेव कदाचिदग्रतः कदाचित्पृष्ठतस्तस्यानुचराविव सदा व्रजन्तौ दृश्येते । ततस्तयोरपि रविभगणतुल्या एव भगणा(१) इत्युपपन्नम्” इति भास्करो-

(१) एतदेवान्योऽपि कश्चित्—

“शुक्रज्ञौ पृष्ठतश्चाग्रे सदार्कानुसरौ यतः ।

ततोऽर्कभगणैस्तुल्याः कल्पे स्युर्भगणास्तयोः ॥”



णामिहितत्वात् पठ्यमानानुगतस्तच्छ्रोत्रयोः शीघ्रफलानयनार्थं वासना  
सिद्धजीर्णैः कल्पिता । तदेवं ग्रहगतय इमास्त्रिप्रकारेण साधिताः पुण्य-  
कालघटिकाः । सूर्यस्य यथा त्रिंशद्वटिकाः, एवं चन्द्रस्य द्वे घटिके  
षड्विंशतिः पलानि, भौमस्य नव घटिकाश्चत्वारिंशत् पलानि, बुधस्य षट्

| सू. | चं. | मं. | बु. | गु. | शु. | श. |
|-----|-----|-----|-----|-----|-----|----|
| अ.  | अ.  | ४   | ६   | ७   | ८   | ५  |
| ३१  | १   | ५   | ८   | २०  | २०  | २० |

घटिकाः विंशतिः पलानि,  
गुरोरष्टाशीतिर्घटिकाः, एवं  
शुक्रस्य नव घटिक  
अष्टौ पलानि, शनेः ष-  
ष्ठ्यधिकं शतं घटिकाः,

पूर्वापरकालौ मिलित्वा पुण्यकाल इत्यर्थः । यथात्र वासना प्रागुक्ता ।  
एता अर्द्धा नाड्यः प्राक्परतश्च पुण्याः । अत्र गणितागतघटोपलेषु लि-  
खितजैमिनिवाक्ये च क्वचित्किञ्चित्पलभेदो घटिकाभेदश्च सगतिस्पष्टकृ-  
तिवशतः । युक्तं चैतत् । आकाशो हि वेधादिना स्पष्टा एव खगा दृश्य-  
न्ते, न मध्यमाः । “दिनद्वयस्पष्टखगान्तरालकालः स्फुटस्तु स्फुटभुक्ति-  
विम्बैः” इति स्पष्टगत्यैव विवसंक्रान्तिघट्यानयनमुचितम् । उक्तं च केश-  
वाक्येण—“कुजादिकानामपि विंबलिप्ताः षष्ठ्या गुणाः स्वस्वजवनेन भ-  
क्ताः । नाड्यादिकः संक्रमणान्तरालकालः स्फुटस्तु स्फुटभुक्तिविम्बैः ॥”  
इति । अपिशब्दात्सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणम् । तथा सति मध्यमापेक्षया स्पष्ट-

| सू० | चं० | मं० | बु० | गु० | शु० | श० | ग्र० |
|-----|-----|-----|-----|-----|-----|----|------|
| ५८  | १८० | ३१  | ५८  | ५   | ५८  | २  | हा०  |
| ८   | ३५  | ३६  | ८   | ०   | ०   | ८  | कला  |

गतिविंबयोरु-  
पचयापचया-  
भ्यां साम्यैस्त-  
त्तद्वटिकानाम-

| र० | चं० | मं० | बु० | गु० | शु. | श. | र० | चं० | मं. | बु० | गु. | शु० | श० |
|----|-----|-----|-----|-----|-----|----|----|-----|-----|-----|-----|-----|----|
| ६  | १   | ८   | ३   | ४४  | ४   | ८० | ३२ | २   | ८   | ६   | ८८  | ८   | १६ |
| ३० | १३  | ३२  | १०  | २४  | ३४  | ०  | ११ | २६  | ४   | २०  | ७   | ८   | ०  |

प्युपचयाः साम्यातिक्रमेणापतन्ति । तेषां चानियतत्वात्पद्ये उपनिबन्धायो-  
गात् जीर्णैर्नियतमध्यगत्या सूर्यादीनां ग्रहाणां पुण्यकालघटीरानीयो-  
पनिबन्धः कृतः ।

सर्वग्रहसंक्रान्तिषु पुण्यकालनिर्णयसंग्रहः, मतान्तरखण्डनं च—

अत्र मत्कृतं पद्यम्—“नाड्यो रामगुणा ३३ रवेरथ विधोः षड्दोः  
पलैर्युग्मयं २६ भौमस्याब्धिपलैर्युता नव ४६ विदो युक्ताः पलैः खाब्धि-  
भिः २० । षण्णानाड्योऽ ६ ष्टगजा ८८ गुरोरथ भृगोर्नन्दाः ६ पलैरष्टभिः  
पुण्याः स्युः खनृपाः शने-१६० रुमयतो राश्यक्षयोः संक्रमे ।” अतो  
जैमिनिवाक्ये—सार्धाश्चतस्रः पलसप्तयुक्ता गुरोः’ इति पाठो माधवा-  
दिभिरपाठि, तथा हेमाद्रिणापि द्विनागनाड्यः’ इति पदे नागा अष्टौ द्वि-  
रावृत्ता नागा द्विनागाः षोडश नाडिकाः शनैश्चरसंक्रांतौ पुण्यकाल  
इति यत् व्याख्यातं तदुभयमपाकृतं भवति । तथा च रामचन्द्राचार्या  
अपि कालनिर्णयदीपिकायां हेमाद्र्यादिमूलकममुमर्थं स्वपद्येनोपनिबध्ना-  
ति । अतश्चित्योक्तयो ज्ञेयाः । तस्मात्सर्वग्रहाणां राशिनक्षत्रयोः संक्रान्ति-  
षु पुण्यकालोऽप्यस्ति । भास्करोपि—“ रवेस्तु ताः पुण्यतमा ’ इति  
वदश्चन्द्रादिसंक्रान्तिषु नाड्यः पुण्या इत्यसूचयत् । “ अतिशायने तम-  
विष्टिनौ” इति पाणिनिवचनात् । ग्रहः स्वसंक्रान्तिगो भिन्नफलं विधत्ते  
इति सूर्यादिसंक्रान्तिसाधारणम् । तत्र सकलसंक्रान्तिषु दिनरात्रिवि-  
ष्णुपदादिभेदेन सूर्यसंक्रमवर्णिर्णयो ध्येयः । एतत्संक्रान्तिमान्यता हि  
गुर्जरदेशेऽस्तोत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन । इति सकलग्रहसंक्रान्तिपुण्य-  
कालनिर्णयः ॥ ८ ॥

अथ रविनिरयनांशसंक्रान्तिकालमभिधायेदानीं सायनांशसंक्रान्ति-  
षु पुण्यकालमुपजातिकयाह—

(१) तथायनांशाः खरसाहताश्च

स्पष्टार्कगत्या विहृता दिनाद्यैः ।

मेषादितः प्राक्चलसंक्रमाः स्यु-

र्दाने जपादौ बहुपुण्यदास्ते ॥ ९ ॥

(१) तथायनांशाः खरसाहता इति । सृष्ट्यादौ नाडीक्रान्तिवृ-  
त्तयोर्यत्र सम्पातः स स्थिरमेषादिस्तस्मादाधुनिकसम्पातमयनांशाः क्रा-  
न्तिवृत्तीयाः । ननु सृष्ट्याद्याधुनिकसम्पातयोर्वैभिन्यकथनात्सम्पातस्य  
चलनमिति तत्सत्यमेव यथा वधेन कस्मिन्नपि रात्रिगतेष्टकाले यत्र



तथायनांशा इति । यथा राशिसंक्रमाः बहुपुण्यदास्तथा चलसंक्रमा अपीति व्यवहितस्तथाशब्दः अयनांशाः षष्ठ्या गुण्याः स्पष्टसूर्यगत्या विहृता लब्धैः दिनाद्यैः दिनघटीपलैः कृत्वा मेषादिद्वादशराशिसंक्रान्तिकालात्प्राक् चलसंक्रमाः स्युः । ते चलसंक्रमा दाने ब्राह्मणेभ्यो दक्षिणादाने जपादौ जपश्चाद्धोमादौ बहुपुण्यदा भवन्ति । तदुक्तं वसिष्ठसिद्धान्ते—“चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः सुसंक्रमः । अजागलस्तन इव राशिसंक्रान्तिरुच्यते ॥” इति । पुलस्त्यः—“अयनांशयुतो भानुर्गोले चरति सर्वदा । अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यकालविधिस्तयोः ॥ स्नानदानजपश्चाद्धव्रतहोमादिकर्मभिः । सुकृतं चलसंक्रान्तावक्ष्यं पुरुषोऽश्नुते ॥” इति । जावालिरपि—“संक्रान्तिषु यथाकालस्तदी-

नक्षत्रविम्बं दृष्टं तदुपरिगतकदम्बप्रोतवृत्तक्रान्तिवृत्तयोः सम्पातस्थानं नाडीक्रान्तिवृत्तसम्पाताद्गणनीयन्तथैवापररात्रौ तन्मित एवेष्टकाले । इत्थं दिनद्वयजं यदि तुल्यन्तदा सम्पातचलनाभावश्चेदतुल्यन्तदा तच्चलनमिति वेधतोऽतुल्यमेव लक्षितम्पुराणैस्तेन न क्षरतीति ( क्षरसञ्चलने ) नक्षत्रशब्दव्युत्पत्तिपरिसिद्धतद्विम्बस्थैर्यात्सम्पातस्य चलनं निर्णीतन्तदपि साम्प्रतिकम्पश्चिमाभिमुखम् । अथ प्रस्तुतमुच्यते—अयनांशाः षष्टिगुणिता अयनकलाः, षष्टिकलानामंशत्वात् । ततोऽनुपातो यदि स्पष्टार्कगतिकलाभिरेकन्दिनन्तदायनकलाभिः किमित्यागतफलमयनसम्बन्धि दिनादि, एतावन्मितेनैव कालेन स्थिरमेषार्कसंक्रान्तिकालात्पूर्वं चलमेषार्कसंक्रान्तिकालो युक्तिगतो भवत्याधुनिकपश्चिमायनांशकल्पनया (अत एवाचार्यो ‘मेषादितः प्राक् चलसंक्रमाः स्युः’-रिति प्राह) ततः सप्तविंशत्यंशतः परावृत्त्याभावतामेत्य पूर्वाभिमुखं सम्पातचलनं भवति ( इति सर्वं वेधतः स्फुटं बाहुल्यभयान्नालेखि ) तदा पूर्वायनांशास्तेनोपरोक्तानुपातागतदिनादिफलेन स्थिरमेषार्कसंक्रान्तिकालादनन्तरं चलमेषार्कसंक्रान्तिकालः केवलं व्यवहारयोग्यो भवति । वस्तुतोऽनुपातागतफलं यथाकथञ्चित्स्थूलज्ञातम्, यतस्त्रैराशिकविधौ सर्वत्रैवैकरूपा गतिः स्वीकृता, इह तु स्फुटार्को विलक्षणगतिकस्तेनानुपातागतदिनादि फलं सविकारन्तत्संस्कृतश्चलसंक्रान्तिकालोऽपि स्थूल इति विज्ञैर्मुहुर्विवेचनीयम् । शेष गोविन्देनैव विशदीकृतम् । अत्रायनांशप्रसङ्गादिष्टदिनजायनांशज्ञानमभिमतञ्चेत्तदा मदीयशोधितं बृहज्जातकं विलोक्यमित्यलमिह पुनस्तदुल्लेखेन ।

येष्वयने तथा । अयने विंशतिः पूर्वा मकरे विंशतिः पराः ॥” इति । अयने चलसंक्रमे अत्र चलसंक्रमाख्ये मकरायणे पूर्वा विंशतिघटिकाः । मकर-संक्रान्तौ तु परा विंशतिघटिकाः पुण्यकालः । मकरव्यतिरिक्तैकादशचलसंक्रमेषु तत्तत्संक्रमवत्पुण्यकालो ज्ञेय इत्यर्थः इति माधवो व्याख्यत् । अयनांशानयनं तु सूर्यसिद्धान्ते—

“त्रिंशत्कृत्वो युगे भानां चक्रं प्राक्परिलम्बते ।  
तद्गणान्द्दिनैर्भक्ताद्युगणाद्यदवाप्यते ॥  
तद्दोस्त्रिंशत् दशांशां विज्ञेया अयनाभिधाः ।  
तत्संस्कृताद्गतात्क्रांतिच्छायाचरदलादिकम् ॥  
स्फुटं तत्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये ।  
प्राक्चक्रं चलितं हीने छायाकार्कात्करणागते ॥  
अंतरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेपैस्तथाधिके ।” इति च ।

सांप्रतं सार्धषोडशायनांशा धनं गताः सन्ति । छायाकार्कात्करणागतस्य सूर्यस्याल्पत्वात् । अत एव प्रागित्युक्तं ग्रन्थकर्त्रा । अत्र प्रागित्युपलक्षणम् । कदाचित्संक्रान्तिकालात्परतोप्ययनांशवशेन च संक्रमसम्भवात् । तथा च ‘पश्चाच्छेपैस्तथाधिक’ इत्युक्तम् । वेदांगज्योतिषेऽपि—“प्रपद्येते अविष्टादौ सूर्याचन्द्रमसाबुदक् । सार्पाद्धं दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥” इति । तत्र मेषादिसंक्रान्तिकालस्य सौरसावनघटिकात्मकस्य अयनांशानां च सौम्यायनतुल्यजातीयत्वाद्योगधियोगौ न स्तः इत्ययनांशादीनां करणायानुपातः । यदि सूर्यस्पष्टगतिकलाभिः षष्टिघटिकात्मकं दिनं लभ्यते तदायनांशैः किमिति । तत्रायनांशानां षष्टिगुणकः सूर्यस्पष्टगतिर्भाजक इति उपपन्नम् । लब्धानि सौरसावनदिनानि घटोपलानि । अतस्तुल्यजात्योर्योगो वियोगो वा कार्यः ।

ननु चैकस्यैव सूर्यस्यैकस्मिन्नेव राशौ राशिसंक्रमणं चलसंक्रमणं च कथं भवति, कुतः, स्वकक्षास्थितांशभागस्य द्वादशधा विभक्तस्य राशिरिति संज्ञा, तत्र रविमंडलस्य तत्तद्वाश्यादिप्रदेशस्य स्पर्शो राशिसंक्रमणमित्युच्यते । तस्मिन्नेव राशौ चलसंक्रमस्तु कीदृश इति चेत्, शृणु । ईश्वरेच्छालोकादष्टवशतस्तद्वाश्यादिभागस्य सूर्यतेजःसम्पर्कश्चलसंक्रमो मण्डलमध्यसम्पर्कश्च राशिसंक्रम इति विवेकः तद्यथा रथ्यां



प्राक्पश्चाच्चानीयमानस्य दीपस्याग्रे दीपप्रभा यस्मिन् प्रदेशे गच्छति तस्मिन्नेव प्रदेशे क्षणान्तरे दीपोऽपि गच्छति । एवं सर्वेषां ग्रहाणां चल-संक्रमा द्रष्टव्याः । एवं चलसंक्रमस्य मुख्यत्वमुक्तं शिरोमणिसिद्धान्ते—  
“ दिनरात्रिप्रमाणानां निर्णयो न भसंकूमात् । यतः सकलकर्माणि पु-  
ण्यतश्चलसंकूमः ॥ ”

अथ सायनसंकूमस्य सर्वत्र नोपयोगः—

नन्वेवमयनसंकूमस्य मुख्यत्वे तेन मानेन पञ्चांगगणना स्यात् । चन्द्रादीनामप्ययनचलनदर्शनात् । न च सायनांशाभ्यां निरणांशाभ्यां वा सूर्यचन्द्रमोभ्यां तिथेस्तुल्यत्वादस्तु पञ्चांगगणनेति वाच्यम् । अश्वि-  
न्यादिमानां विष्कंभादियोगानां च विसंवादात् । किं च सायनसंकू-  
मरहितस्य चांद्रमासस्याधिमासत्वव्यवहारप्रसंगः । तथा तादृक्सं-  
क्रान्तिद्वययुतस्य क्षमासत्वव्यवहारप्रसंगः, विवाहादौ च सौरमास-  
गणनाप्यनेनापि मानेन स्यादिति चेत्, उच्यते सायनसंकूमस्तु पुण्य-  
कालार्थमेवोपयुज्यते न सर्वत्र स्नानदानजपश्राद्ध इति परिगणितवि-  
षयकपुलस्त्यवाक्यालोचनात् । तेन पञ्चांगगणना न्यूनाधिमाससौरमा-  
सादिकमप्यनेन मानेन भवति । तथा सति यात्रादिमुहूर्तेषु भरणी-  
व्यतीपातादिदुष्टयोगानां गुरुपुण्यादिशुभयोगानां च व्यवहारो निरयणो-  
नैवोपपद्यते, न सायनेन । सायनगणनया सर्वथा ग्रहणविसंवादः । त-  
द्यथा षोडशोत्तरपंचदश—१५१६ मिते शालिवाहनशककाले वैशाख-  
शुक्लपूर्णिमायां पंचत्रिंशद्वाडीमितायाभिदूपराग उपलब्धः । तत्र चन्द्रः  
६।२६।२८ राहुः १३।५८ अत्र निरयणगणनया शरांगुलानि १२,  
मानैक्यखंडम् २०, ग्रासांगुलानि ८ । यद्यत्रायनांशाश्चन्द्रे योजयित्वा शर-  
आनीयेत तदा शरांगुलादि ३० अस्य मानैक्यखण्डाधिक्याद्ग्रहणं  
नायातीति सर्वजनप्रत्यक्षविसंवादः । सायनगणनयात्वयोग्येपि काले  
ग्रहणोपलंभः स्यात् । अन्यच्च स्पष्टीकरणेन सधितो भौमादिग्रहो यन्न-  
क्षत्रे गणितेनागतस्तन्नक्षत्रसमीप एवोपलभ्यते प्रत्यक्षतः । सायनत्वे  
हि ग्रहः कदाचिदेकनक्षत्रे द्रव्यातरे वा प्रलीयते । सूर्यचन्द्रयोस्तु  
तेजोबाहुल्यान्नक्षत्रतेजःपरिभवात्तन्नक्षत्रसन्निधौ उपलंभाभावो यद्यपि  
तथापि कदाचित्क्षोणचन्द्रस्याप्युपलंभो दृश्यते । एवं संहितासु मीन-  
शनैश्चरादिष्विषयकदुष्टफलानि चैकराश्यवस्थितग्रहयोगफलानि च नि-

रयणेनैव । तथा वृद्धवसिष्ठसंहितायाम्—“षट्पौष्णमाद्वादश रौद्र-  
धिष्यासुराधिसद्भानि नव कूर्मेण । पूर्वार्धमध्यापरमात्तद्ध्वं भुंक्तेऽखि-  
लव्योमचरास्तथैव ॥” इति ग्रहाणां पूर्वार्धमध्यापरभागयोग्यत्व-  
मपि निरयणेनैवोपलभ्यते तस्मान्निरयणगणनयैव सर्वोपि व्यवहारो  
युक्तः । ननु सायनगणना दत्ततिलांजलिरिति चेत्, उच्यते । सायनग-  
णना हि नियतविषया । उक्तं—“अयनांशाः प्रदातव्या लग्ने कान्तौ  
चरागमे । सत्रिभे वित्रिभे पाते तथा दृक्कर्मपातयोः ॥” इति । सूर्य-  
सिद्धान्तेपि—“तत्संस्कृतादग्रहात्क्रान्तिच्छायाचरदलादिकम् । स्फुटं  
तत्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये ॥” इति । आदिशब्देन  
लग्नम् । अतोऽयनांशानां वासनासिद्धनियतविषयत्वाद्द्वयोरपि मानयो-  
रसंकीर्णो व्यवहार इति सर्वमनाकुलम् । पुण्यकालस्तूभयविधसंक्रमेपि  
ज्ञेयः । पूर्वलिखितवसिष्ठादिवाक्यस्वरसात् । यत्तु वसिष्ठसिद्धान्ते—“पुण्य-  
दां राशिसंक्रान्तिं केचिदाहुर्मनीषिणः । नैतन्मम मतं यस्मान्न स्पृशेत्क्रा-  
न्तिकक्षया ॥” इति । तदन्यसंक्रमपुण्यकालातिस्तुतिपरं न तु राशि-  
संक्रान्तिपुण्यकालनिराकरणार्थम् । अन्यथा—“दिनपतिसंक्रमात्प्राक्पो-  
डश नाड्यश्च पुण्यकालः सः । परतः षोडश नाड्यः सर्वत्र स्नानदानकार्ये-  
षु ॥” इति स्वसंहितोकराशिसंक्रमणपुण्यकालप्रतिपादकवचनस्यानेन  
सह विरोधो दुष्परिहारः स्यादित्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ६ ॥

अथ संक्रान्त्युपयोगित्वाज्जघन्यबृहत्समनक्षत्राण्युपजातिकयाह—

(१) समं मृदुक्षिप्रवसुश्रवोऽग्नि-

मघात्रिपूर्वास्त्रपभं बृहत्स्यात् ।

(१) समं मृदुक्षिप्रवसुश्रवोऽग्नीत्यादि । नक्षत्रविम्बोपरिगतं कदम्ब-  
प्रोतवृत्तं क्रान्तिवृत्ते यत्र लग्नन्तस्मान्मेषादि यावत्तस्य ध्रुवः, एवं  
सर्वेषामपि नक्षत्राणां मेषादेः स्वस्वकदम्बप्रोतवृत्तक्रान्तिवृत्तसम्पाता-  
वधिका ध्रुवका वेधतो वेदितव्याः । तेषामासन्नस्थयोर्द्वयोर्द्वयोरन्तरं  
स्वस्वभोगमानं भवतीति विशाखा-पुनर्वसु-रोहिणी-उत्तराभाद्र-  
पद-उत्तराफल्गुनी-उत्तराषाढनक्षत्राणां भोगमानं सार्धचन्द्रगति-  
समं, आश्लेषा-आर्द्रा-स्वाती-भरणी-ज्येष्ठा-शतभिषङ्नक्षत्राणां



ध्रुवद्विदैवादितिभं जघन्यं

सार्पाम्बुपार्द्रानिलशाक्रयाम्यम् ॥ १० ॥

सममिति । मृदूनि मृगरेवत्यनुराधाचित्राः, क्षिप्राणि अश्विन्यभिजित्पुष्यहस्ताः, वसुधर्मेष्टा, श्रवः श्रवणम्, अग्निः कृत्तिका, मघा प्रसिद्धा, त्रिपूर्वाः पूर्वाफाल्गुनीपूर्वाषाढापूर्वाभाद्रपदाः, अस्त्रपो राक्षसः “राक्षसः कौरण्यः कूव्यात् कूव्यादोऽस्त्रप आशरः ।” इत्यमरः । तस्य भं मूलम्, अत्र सामाहारद्वंद्वः । एतानि पंचदश भानि समसंज्ञानि, ध्रुवाणि रोहिणी, ज्युत्तराः, द्विदैवं विशाखा, अदितिभं पुनर्वसुः, एतानि षड्भानि, बृहत्संज्ञानि । सार्पमाश्लेषा, अंबुपः शततारका, आर्द्रा प्रसिद्धा, अनिलः स्वाती, शाक्रं ज्येष्ठा, याम्यं भरणी एतानि षड्भानि जघन्यसंज्ञानि । उक्तं च नारदेन—“तारा जघन्या सार्पैर्द्रा वातार्द्रातकतोयपाः । ध्रुवादितिद्विदैवत्यं बृहत्ताराः पराः समाः ॥” इति । वसिष्ठेनापि—“जघन्यधिष्ण्यानि जलेशसर्पैरौर्द्रेयाम्योनिलदैवतानि । अध्यर्द्धधिष्ण्यान्यदितिद्विदैवस्थिराणि शेषर्द्धसमाह्वयानि ॥” इति ॥ १० ॥

अथ संज्ञाप्रयोजनमुपेन्द्रवज्रयाह—

(१) जघन्यमे संक्रमणे मुहूर्ताः

शरेन्दवो १५ बाणकृता ४५ बृहत्सु ।

चन्द्रगत्यर्धसमं, शेषाणाञ्च चन्द्रगतिसमं दृष्टमतश्चन्द्रगत्यपेक्षया समाधिकाल्पगतित्वेन क्रमेण समबृहज्जघन्याभिधान्यत्वर्थगतानि तन्नामानि श्रीमता रामेण रक्षितानीति ।

(१) जघन्यमे संक्रमणे मुहूर्ता इति । अत्रानन्तरश्लोकपारिभाषित-समबृहज्जघन्याभिधानां नक्षत्राणां मानघट्यर्थमनुपातो यदि कलात्मिकया चन्द्रमव्यगत्या षष्टि-६० घटिकास्तदा चन्द्रगतिसम-समसंज्ञकनक्षत्रभोगकलाभिः का इत्यागतं घट्यात्मकमानं समाभिधानाम्

$$= \frac{६० \times \text{चंगक}}{\text{चंगक}} = ६० \quad । \quad \text{एवं बृहत्संज्ञकानाम्} = \frac{६०(\text{चंग} + \frac{\text{चंग}}{२})}{\text{चंग}}$$

खराम-३० सङ्ख्याः समर्धे महर्ध-  
समर्धसाम्यं विधुदर्शनेऽपि ॥ ११ ॥

जघन्यम इति । जघन्यनक्षत्रे यदि संक्रमणं तदा शरैर्देवः पंचदश मु-  
हूर्त्ता ज्ञेयाः । बृहन्नक्षत्रे संक्रमणे सति बाणकृताः पंचचत्वारिंशन्मुहूर्त्ता  
ज्ञेयाः । समनक्षत्रे संक्रमणे सति खरामसंख्यात्रिंशन्मुहूर्त्ता ज्ञेयाः । उक्तं  
च नारदेन—“ तासां प्रमाणं घटिकात्रिंशन्नवतिषष्टयः ” इति । अत  
एव त्रिंशद्घटिकाः पंचदश मुहूर्त्ता नवति घटिकाः पंचचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताः  
षष्टिघटिकात्रिंशन्मुहूर्त्ताः स्युरित्यर्थः । अस्य फलमुच्यते । महर्धसम-  
र्धसाम्यमिति । यदा पञ्चदश मुहूर्त्ता संक्रान्तिस्तदा सर्वमन्नं महर्धं दुर्ल-  
भं भवति । यदा पंचचत्वारिंशन्मुहूर्त्ता संक्रान्तिस्तदा समर्धं सुलभम-  
न्नम् । यदा तु त्रिंशन्मुहूर्त्ता संक्रान्तिस्तदा साम्यं न महर्धं समर्धमपि न  
किन्तु यथास्थितमित्यर्थः । इदं तु मुहूर्त्तानां न्यूनाधिकसमभावाज्जायते ।  
उक्तं च संत्रित्प्रकाशे—“ मुहूर्त्ताः पंचभूतुल्या जघन्यानां पराभिधाः ।  
बृहतां पंचवेदास्ते सामानां ते खत्रह्यः ॥ पंचेन्दुषु मुहूर्तेषु दुर्भिक्षं रवि-  
संक्रमे । पंचाब्धिषु समर्धं स्यात्त्रिंशत्सु समता मता ॥ ” इति । विधु-  
दर्शनेपीति । चन्द्रदर्शनेऽप्येवमेव फलं वाच्यम् । अयमर्थः । यदि  
जघन्यनक्षत्रे चन्द्रोदयस्तदा महर्धम् । बृहन्नक्षत्रे यदि चन्द्रो-  
दयस्तदा समर्धम् । समनक्षत्रे चन्द्रोदयस्तदा साम्यमन्नस्य ।  
उक्तं च रत्नमालायाम्—“ बृहत्सु धान्यं कुरुते समर्धं जघन्यधिषण्या-

$$६० \times \frac{२ \text{ चंग} + \text{चंग}}{२} = \frac{६० \times ३ \text{ चंग}}{२ \text{ चंग}} = \frac{३० \times ३ \text{ चंग}}{\text{चंग}} = ९० ।$$

$$\text{जघन्याभिधानाम्} = \frac{६० \times \frac{\text{चंग}}{२}}{\text{चंग}} = \frac{६० \times \text{चंग}}{२ \text{ चंग}} = \frac{३० \text{ चंग}}{\text{चंग}} = ३० ।$$

अत्र दिनमानं त्रिंशन्मितं प्रकल्प्य “ दिनस्य यः पञ्चदशो विभागः  
सदा भवेत्तद्वि मुहूर्तमानम् ” इति परिभाषया भोगघटीमानानि  
द्याभ्यां विभक्तानि मुहूर्तमानानि भवन्तीति समबृहज्जघन्यानां मुहूर्तमा-  
नानि क्रमेण ३० । ४५ । १५ अत उपपन्नम् ।



भ्युदितो महर्घम् । समेषु धिष्ण्येषु समं हिमांशुर्वदन्त्यसंदिग्धमिदं महान्तः ॥ ” वसिष्ठोपि—“ ज्ञात्वैवमेवं मणिजीवधातुमूलोर्णकपूर्वरसादिकानाम् । अर्धं वदेज्यौतिषिकः प्रजानां समर्घवस्तूत्तमसंग्रहार्थम् ॥ ” इति ॥ ११ ॥

अथ प्रसंगात्कर्कसंक्रान्तावब्दविशोपकाननुष्ठुभाह—

अर्कादिवारे संक्रान्तौ कर्कस्याब्दविशोपकाः ।

दिशो नखा गजाः सूर्या धृत्योऽष्टादश सायकाः ॥ १२ ॥

अर्कादिवारे इति । कर्कसंक्रान्तौ सूर्यादिवारे सत्यामेते वक्ष्यमाणा अब्दविशोपका ज्ञेयाः । तद्यथा रविवारे दश, सोमवारे विंशतिः, भौमे-  
ऽष्टौ, बुधे द्वादश, गुरौ धृत्योऽष्टादश, शुक्रेऽष्टादश, शनिवारे कर्क-  
संक्रान्तौ सत्यामब्दविशोपकाः सायकाः पंचेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ कोटशस्य रवेः संक्रमो जातस्तत्फलमिद्रवज्रयाह—

स्यात्तैतिले नागचतुष्पदे रविः

सुप्तो निविष्टस्तु गरादिपञ्चके ।

किंस्तुघ्न ऊर्ध्वः शकुनौ सकौलवे

नेष्टः समः श्रेष्ठ इहार्धवर्षणे ॥ १३ ॥

स्यादिति । करणानि व्याख्याने मयोक्तानि तत्र रविः तैतिल-नाग-चतुष्प-  
दाख्यकरणेषु सुप्तः सन् संक्रमितः स्यात् । गरादिपञ्चके गर-वणिज-भद्रा-ब-  
वबालवाख्यकरणेषु निविष्टः उपविष्टः सन् संक्रमितः स्यात् । किंस्तुघ्नशकु-  
निकौलवाख्यकरणेषु ऊर्ध्वमूर्ध्वस्थितः सन् संक्रमितः स्यात् । इह करणा-  
धिकरणसंक्रान्तौ रविः अर्धवर्षणो अर्धे मूल्ये वर्षणे वृष्टौ अनयोरुप-  
लक्षणत्वाद्धान्येपि क्रमान्नेष्टः समः श्रेष्ठश्च स्यात् । अयमर्थः—सुप्तर-  
विसंक्रमोर्ध्ववर्षणधान्येष्वनिष्टः महर्ध्ववृष्ट्यभावाद्धान्याभावकारको भ-  
वति । एवं निविष्टरविसंक्रमोऽर्धवर्षणधान्येष्वनिष्टः समो न शुभो  
नाप्यशुभः । तयोर्ध्वरविसंक्रमोर्ध्ववर्षणधान्येषु श्रेष्ठः । समर्ध्ववृष्टिबाहुल्य-  
कारक इति उक्तं च नारदेन—

“निविष्टो वणिजे विष्ट्यां बालवे च बवे गरे ।

कौलवे शकुनौ भानुः किंस्तुघ्ने चोर्ध्वसंस्थितः ॥  
 चतुष्पाच्चैतिले नागे सुप्तः क्रान्तिं करोति सः ।  
 धान्यार्घवृष्टिषु समं श्रेष्ठं हीनं भवेत्कूमात् ॥  
 चतुष्पदे तैतिलनागयोश्च सुप्तो रविः संक्रमणं करोति ।  
 विष्ट्यां बवाख्ये च गराह्वये च सवालवाख्ये वणिजे निविष्टः ॥  
 किंस्तुघ्ननाम्नि शकुनावपि कौलवाख्ये  
 चोर्ध्वस्थितस्य खलु संक्रमणं रवेः स्यात् ।  
 धान्यार्घवृष्टिषु भवेत्क्रमशस्त्वनिष्ट-  
 मध्येष्टतेति मुनयः प्रवदन्ति पूर्वो ॥ ” इति ।  
 अस्यान्यदपि फलमग्रे वक्ष्यति ॥ १३ ॥

अथ रविसंक्रान्तेः करणपरत्वेन वाहनवस्त्रायुधभक्ष्यलेपनजातिपु-  
 ष्पाणि सफलानि शार्दूलविक्रीडितत्रयेणोपजातिकया चाह—

सिंहव्याघ्रचराहरासभगजा बाहद्विषदघोटकाः  
 श्वाजो गौश्चरणायुधश्च बवतो वाहा रवेः संक्रमे ।  
 वस्त्रं श्वेतसुपीतहारितकपाण्ड्वारक्तकालासितं  
 चित्रं कम्बलदिग्धनाभमथ शस्त्रं स्याद्गुणुण्डी गदा ॥ १४ ॥  
 खड्गो दण्डशरासतोमरमथो कुन्तश्च पाशोऽङ्कशो-  
 ऽस्त्रं बाणस्त्वथ भक्ष्यमन्नपरमान्नं भैक्षपक्वान्नकम् ।  
 दुग्धं दध्यपि चित्रितान्नगुडमध्वाज्यं तथा शर्करा-  
 थो लेपो मृगनाभिकुङ्कममथो पाटीरमृद्रोचनम् ॥ १५ ॥  
 यावश्चोतुमदो निशाञ्जनमथो कालागुरुश्चन्द्रको  
 जातिदैवतभूतसर्पविगहाः पश्वेणविप्रास्ततः ।  
 क्षत्री वैश्यकशूद्रसङ्करभवाः पुष्पं च पुं नागकं  
 जातीबाकुलकेतकानि च तथा बिल्वार्कदूर्वाम्बुजम् ॥ १६ ॥



स्यान्मल्लिका पाटलिका जपा च  
 संक्रान्तिवस्त्राशनवाहनादेः ।  
 नाशश्च तद्वृत्त्युपजीविनां च  
 स्थितोपविष्टस्वपतां च नाशः ॥ १७ ॥

सिंहेति । बवतो ल्यबलोपे पञ्चमी । बवमारभ्य सप्त चरकरणानि ।  
 स्थिराणि चत्वारि शकुन्यादीनि । एतेष्वेकादशसु करणेषु क्रमेण वाह-  
 नानि वस्त्राणि तथाऽयुधानि भक्ष्याणि लेपनानि जातयः पुष्पाणि च  
 ज्ञेयानीत्यर्थः ।

वाहनानि तावत्—

तत्र वाहनानि—सिंहव्याघ्रौ प्रसिद्धौ, वराहः सूकरः, रासभो गर्दभः,  
 गजो हस्तो, वाहद्विषत् महिषः, 'लुलायो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरि-  
 भाः' इत्यमरः । घोटकोऽश्वः, श्वा कुक्कुरः, अजो मेघः, गौः वृषः, चर-  
 णायुधः कुकुटः, एतान्येकादशकरणेषु वाहनानि । एवं वस्त्रादी-  
 न्यपि व्याख्येयानि । तदाह कश्यपः—“सिंहशार्दूलवाराहकुंजरा महिष-  
 स्तथा । तुरगश्चाजवृषभकुक्कुटाश्च ववादिषु । तिथ्यर्धजेषु संक्रान्तिवाह-  
 नानि यथाक्रमात् ।” तिथ्यर्धकरणे नारदेन तु विशेषोभिहितः—“खशबाह्नी-  
 कवङ्गेषु संक्रान्तेर्धिष्ण्यवाहनम् । अन्यदेशेषु तिथ्यर्धं वाहनं स्युर्बवादयः ॥”  
 इति । यदि संक्रान्तिरश्विन्यां तदाश्विन्या योनिरश्वस्तद्वाहनं स्यात् ।  
 खशबाह्नीकवङ्गदेशेषु । एवं सर्वनक्षत्रेषु ध्येयम् । अमुमर्थं स्पष्टमाह क-  
 श्यपः—“भयौनिवाहनं वङ्गबाह्नीकविषये खशे” इति । अतोऽन्यदेशेषु कर-  
 णैरेव वाहननिर्णय इत्यर्थः ।

वस्त्रमुच्यते—

श्वेतं शुभ्रं सुपीतं प्रसिद्धं, हारितकं नीलवर्णं, पांडुरम् अरुणवर्ण-  
 म्, आरकमलककवर्णं, कालं श्यामवर्णम्, असितं कज्जलवर्णं, चित्र-  
 मनेकवर्णं, कंचलः प्रसिद्धः, दिग्बस्त्राभावो नग्नत्वमित्यर्थः । घनाभं  
 घनवर्णम् । उक्तञ्च—“श्वेतपीतहरितपांडुकरकश्यामवर्णमसितं बहुवर्ण-  
 म् । कम्बलो विवसनावुदवर्णान्यंशुकानि च रवेः करणेषु ॥ ”

शस्त्रमुच्यते—

तत्र भुशुंड्यादीन्येकादशायुधानि प्रसिद्धानि, शरासो धनुः, यदा-  
हतुर्नारदकश्यपौ—“ भुशुंडीभिदिपालासिदंडकोदंडतोमराण् । कुंतपा-  
शांकुशास्त्रेषून्विभर्त्ति करणोष्विनः ”भिदिपालं गदा, ह्युर्वाणः ।

भक्ष्यमुच्यते—

तत्रान्नं मोदकादि, परमान्नं पायसं, भैक्षं भिक्षाणां समूहो भैक्षम्,  
“ भिक्षादिभ्योण् । संन्यासिवद्गृहे गृहे गत्या यत्किंचिदन्नं प्राप्यते त-  
द्भैक्षमुच्यते, पक्वान्नकं अपूपपादि, दुग्धं दधि च प्रसिद्धमेव, चित्रितान्नम्  
बहुभिस्तंडुलमुद्रमसूरिकाहरिद्रादिभिः पक्कमन्नम्, गुडमध्वा-  
ज्यशर्कराः प्रसिद्धाः । उक्तं च नारदेन—“ अन्नं च पायसं-  
भैक्षमपूपञ्च च पयो दधि । चित्रान्नगुडमध्वाज्यशर्करा च बवा-  
द्रविः ” ।

लेपः—

लेपो विलेपनमुच्यते । तत्र मृगनाभिः कस्तूरी, कुंकुमं प्रसि-  
द्धम्, पाटीरं रक्तचन्दनम्, मृत्प्रसिद्धा, रोचनं गोरोचनम्, यावोऽ-  
लक्तकः, ओतुमदो मार्जारधर्मः, दक्षिणदेशभाषया जव्वादीत्युच्यते ।  
निशा हरिद्रा, अंजनं स्रोतोऽंजनं सुरमेति भाषायाम् । कालागुरुः अगुरु-  
विशेषः, चन्द्रकः कर्पूरः, उक्तं च—कस्तूरिकाकुंकुमचन्दनं मृ-  
द्गोरोचनं यावक ओतुधर्मः । निशांजनं चागुरुरिदुरेभिर्विलेपनं  
संक्रमणो बवात्स्यात् ।

अथ जातिरुच्यते—

दैवतादयो दश प्रसिद्धाः, संकरमवाः अनुलोमजाः प्रतिलोम-  
जाश्च । उक्तं च—“ देवभूताहिविहगाः पशवो मृग एव च । ब्राह्मणक्षत्रि-  
यौ वैश्याः शूद्रा मिथ्या बवादिषु ॥ तज्जातीया विनश्यन्ति परमासा यन्तरे-



ध्रुवम् । ” इति ।

पुष्पाणि वयश्च—

पुष्पाण्युच्यन्ते । पुष्पागकं नागकेसरवृक्षस्य पुष्पं जात्यादीन्यंबुजा-  
तानि प्रसिद्धानि, मल्लिका वेलिः, पाटलिका पाडलिः, जपा औड्रपुष्प-  
म् । उक्तं च—“ पुष्पागजातिर्वहुला सुकेतकी बिल्वार्कदूर्वाशतपत्रम-  
ल्लिकाः । ततो भवेत्पाटलिका जपा ततः पुष्पाणि सूर्यस्य बवादिषु  
क्रमात् ॥ ” शतपत्रं ( १ ) कमलम् । कचिद्वयोऽप्युक्तम्—“ शिशुः  
कुमारश्च गतालका युवा प्रौढा प्रगल्भा च ततश्च वृद्धा । वन्ध्यातिव-  
न्ध्या च सुतार्थिनी च प्रव्राजिका चेति बवादिकानाम् ॥ यद्यद्वयोनुरूपं  
स्यात्तस्य तस्य महद्भयम् ॥ ” इति ।

अवस्थाः—

कचिदवस्था अप्युक्ताः “पंथाश्च भोगो रतिहास्यदुर्मुखी ज्वरान्वि-  
ता भुक्तसुकम्पिता मता । ध्यानस्थिता कर्कशवृद्धरूपा बवाद्यवस्थाः  
कथिता मुनीन्द्रैः ।

संक्रान्तेरुक्तद्रव्यनाशः—

एवं च संक्रमकाले यादि वस्त्राशनवाहनादीन्यभिहितानि । आ-  
दिशब्देनायुधलेपनजातिपुष्पाणि तेषां नाशो भवेत् । च पुनस्तद्वृत्त्युप-  
जीविनां नाशो भवेत् स्थितोपविष्टस्वपतां च स्यात्तैतिले इत्यादिना  
सुप्तत्वादीन्युक्तानि यानि तद्गुणविशिष्टानां नाशः स्यादित्यर्थः । उक्तं  
च नारदेन—“ आयुधं वाहनाहारो यज्जातीयं धनं च यत् । सुप्तोप-  
विष्टतिष्ठंतस्ते लोकाः क्षयमाप्नुयुः ॥ ” इति ॥ १४—१७ ॥

( १ ) ‘सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशय-’मित्याद्यमरः ।

अथ संक्रान्तिचक्रम् ।

| शुक्लपक्षतिथयः |       | कृष्णपक्षतिथयः |       | करणानि     | स्थितिः  | वाहनं   | वस्त्रं | आयुः   | भक्ष्यं | लोपनं   | जातिः    | पुष्पं  | वयः    |
|----------------|-------|----------------|-------|------------|----------|---------|---------|--------|---------|---------|----------|---------|--------|
| पूर्वदलं       | परदलं | पूर्वदलं       | परदलं |            |          |         |         |        |         |         |          |         |        |
| ५              | १२    | १८             | १५    | बव         | उपविष्टः | सिंहः   | श्वेतं  | मुशुं  | अन्नं   | कस्तू   | दैवतं    | पुष्पा० | बाला   |
| २              | ८     | ५              | १२    | बालव       | उपविष्टः | व्याघ्र | पीतं    | गदा    | पाय०    | कुङ्कुम | भूतः     | जाती    | कु०    |
| ६              | १३    | २              | ९     | कौलव       | ऊर्ध्वः  | वराहः   | नीलं    | खड्गः  | भैलं    | रक्त०   | सर्पः    | बकुल    | गता०   |
| ३              | १०    | ७              | १३    | तैल        | सुप्तः   | गर्दभः  | अरुणं   | दंडः   | पक्का०  | मृद्    | पद्मी    | केतकं   | युवा   |
| ७              | २०    | ४              | १३    | गर         | उपवि०    | गजः     | आर०     | घनुः   | दुग्धं  | गौरो०   | पशुः     | विल्वः  | प्रौढा |
| ४              | ११    | ३              | १०    | वणिज       | उपवि०    | महिष    | श्यामं  | तोमर   | दधि     | अल०     | मृगः     | अर्क०   | प्रग०  |
| ८              | १५    | ७              | १४    | भद्रा      | उपविष्टः | अश्वः   | कृष्णं  | कुन्तः | चि०     | ओतु०    | विप्रः   | दूर्वा  | वृद्धा |
| ९              | १६    | ८              | १५    | शकुनि      | ऊर्ध्वः  | श्वः    | चित्रं  | पाशः   | गुडः    | हृदि    | क्षत्रिय | कमलं    | वंश्या |
| १०             | १७    | ९              | १६    | चतुष्पदः   | सुप्तः   | मेघः    | कंवलं   | अंकुश  | मधुः    | अन्नं   | वैश्यः   | मल्लि०  | अति०   |
| ११             | १८    | १०             | १७    | नाग        | सुप्तः   | वृषः    | तमना    | अलं    | आज्यं   | अगर     | शूद्रः   | पाट०    | सुता०  |
| १२             | १९    | ११             | १८    | किंस्तुघ्न | ऊर्ध्वः  | कु०     | श्यामं  | बाणः   | शर्करा  | कर्पूर  | सङ्कर    | जपा     | प्रवा० |

इमानि चरकरणानि

इमानि स्थिरकरणानि



अथ संक्रान्तिवशेन प्रतिमनुष्यं शुभाशुभफलमुपजात्याह—

संक्रान्तिधिष्ण्याधरधिष्यतस्त्रिभे

स्वभे निरुक्तं गमनं ततोऽङ्गभे ।

सुखं त्रिभे पीडनमङ्गभेऽशुकं

त्रिभेऽर्थहानी रसभे धनागमः ॥१८॥

संक्रान्तीति । संक्रान्तिर्यस्मिन्धिष्ये नक्षत्रे स्यात्ततोऽधरधिष्यं पूर्वनक्षत्रं तस्मात्स्वजन्मनक्षत्रं गण्यं तच्चेत्प्रथमे त्रिभे भवति तदा गमनं यात्रा स्यात् । ततः प्रथमत्रिकादनन्तरमङ्गभेषु षण्णक्षत्रेषु यदि स्वभं तदा सुखं स्यात्, ततस्त्रिभे स्वभे पीडनं शरीरपीडा, पुनरङ्गभे स्वभे अशुकं वस्त्रादिप्राप्तिः स्यात् । ततस्त्रिभे स्वभेऽर्थहानिः द्रव्यनाशः, ततो रसभे षण्णक्षत्रे स्वभे धनागमो द्रव्यप्राप्तिः स्यादित्यर्थः । उक्तं च नारदेन—“संक्रान्तौ ग्रहणक्षं वा जन्मन्युभयपार्श्वयोः । नेष्टं त्रयं षट् शुभदं पर्यायाच्च पुनः पुनः ॥ हानिर्वृद्धिः स्थानहानिस्तथा प्राप्तिरिति क्रमात् ।” संक्रान्तेर्यन्नक्षत्रं ग्रहणनक्षत्रं वा यदि जन्मभं भवेदथवा ताभ्यामुभयपार्श्वगतं जन्मभं भवेत्तदा अनिष्टमेव नक्षत्रत्रयं निषिद्धम् । ततो नक्षत्रषट्कं शुभं, ततस्त्रिकेऽर्थहानिस्ततः षट्के वृद्धिः, ततस्त्रिके स्थानहानिः, ततः षट्सु वृद्धिः, षट्सु स्थानप्राप्तिरिति । अत एव पठन्ति दाक्षिणात्याः—“संक्रान्त्यधरनक्षत्राद्गणयेज्जन्मभावधि । त्रिकं षट्कं त्रिकं षट्कं त्रिकं षट्कमिति क्रमात् ॥ पन्था भोगो व्यथा वस्त्रं हानिश्च विपुलं धनम् ॥” इति । त्रिकं शुभं षट्कमशुभमिति फलितोर्थः ।

अशुभदसंक्रान्तौ दानम्—

अत्राशुभफलदायां संक्रान्तौ सत्यां दानमाह नारदः—“तिलोपरिलिखेच्चक्रं त्रिशूलं च त्रिकोणकम् । तत्र हेम विनिःक्षिप्य दद्याद्दोषापनुत्तये” इति । अत्र चक्राकृतिरियम् । एवं संक्रान्तिसम्बन्धिफलमभिहितम् ॥ १८ ॥

अथ कार्यविशेषे बलं सामान्यतः संक्रममाणग्रहबलं चोप-  
जात्याह—

नृपेक्षणं सर्वकृतिश्च सङ्गरः  
शास्त्रं विवाहो गमदीक्षणो रवेः ।  
वीर्येऽथ ताराबलतः शुभो विधु-  
र्विधोर्बलेऽकोऽर्कबले कुजादयः ॥१६॥

नृपेक्षणमिति । रवेरिति ह्यबलोपे पंचमी, रविमारभ्येत्यर्थः ।  
रवेः सूर्यस्य वीर्ये बले सति सूर्यवारे वा नृपेक्षां राजदर्शनं विधेयम् । एवं  
चन्द्रादावपि व्याख्येयम् । ततश्चन्द्रे सर्वकृतिः सर्वकृत्यानि, भौमे सङ्गरो  
युद्धं, बुधे शास्त्रमध्येतव्यमध्याप्यं वा, गुरौ विवाहः, शुके गमो गम-  
नं, शनौ दीक्षां यागादिदीक्षा विधेयेत्यर्थः । उक्तं च श्रीपतिना—

“रविर्नृपविलोकने सुरगुरुर्विवाहोत्सवे  
रणे धरणिन्दनो भृगुसुतः प्रयाणो बली ।  
शनिश्च मखदीक्षणो सकलशास्त्रबोधे बुधः  
शशी सकलकर्मसु ध्रुवमुदाहृतः सुरिभिः ”

वसिष्ठेनापि—

“राजालोकनसमये रविरार्यः करतलग्रहे सुबली ।  
रणसमये धरणिमुतः प्रयाणसमये सितोऽतिबली ॥  
दीक्षणसमयेऽर्कसुतः शशितनयो ज्ञानशिल्पविधौ ।  
निखिलेष्वपि कार्येषु च चन्द्रबलं मुख्यमखिलनृणाम् ” इति ।

एतान्यपि कार्याणि सवलग्रहवारे क्रियमाणानि सिध्यन्तीत्याह व-  
सिष्ठः—“बलप्रदस्य ग्रहवासरे यद्यच्चोपदिष्टं समुपैति सिद्धिम् । सुदुर्बल-  
स्य ग्रहवासरे तत्प्रयत्नपूर्वं त्वपि नैव साध्यम् ” इति । ग्रहेति लुप्तषष्ठीकं  
पृथक्पदं ग्रहस्येत्यर्थः । बलप्रदत्वदुर्बलत्वे गोचरप्रकरणोक्तविहितायुक्त-  
स्थानवशेन ज्ञेये । तदाह श्रीपतिः—“ वारे ग्रहस्योपचयावहस्य कार्यं  
यथोद्दिष्टमुपैति सिद्धिम् । भवेत्तदेवापचयावहस्य प्रयत्नतो निर्मितम-  
प्यसाध्यम् ॥ ” इति । अथेति । ताराबलतो विधुः शुभो ज्ञेयः । यदा  
चन्द्रसंक्रमणं स्यात्तत्र ताराबलं चेत्स्यात्तदा सप्ताददिनद्वयं चन्द्रोऽशु-



भोपि शुभः । तारादौष्ट्ये तु शुभोपि अशुभ इत्यर्थः । एवं च विधोर्वला-  
द्रविः संक्रमणोऽशुभोऽपि मासपर्यंतं शुभः, शुभस्तु सुतरां समीचीन एव,  
चन्द्रदौष्ट्ये तु शुभोऽप्यशुभ इत्यर्थः । परे भौमादयः संक्रान्तिचिकीर्ष-  
वस्तत्तद्बलतः सूर्यबलादशुभा अपि शुभा ज्ञेयाः । स्वराशिभोगका-  
लावधि रविदौष्ट्ये तु शुभा अप्यशुभा इत्यर्थः । यदाह कश्यपः—

“ताराबलेन शीतांशुर्बलवांस्तद्वशाद्रविः ।

बली संक्रममाणस्य वशात्खेटा बलाधिकाः ॥

यादृशेनेदुना भानोः संक्रान्तिस्तादृशं फलम् ।

नरः प्राप्नोति तद्राशेः शीतांशोः साध्वसाधुतः ॥” इति ।

संक्रममाणस्य रवेरित्यध्याहारः । यत्तु दीपिकायाम्—“यादृशेन  
शशांकेन ग्रहः संचरते नृणाम् । तादृशं फलमाप्नोति शुभं वा यदिवाऽ-  
शुभम् ॥” इति । चन्द्रवशेनैवाखिलग्रहसम्बन्धि शुभाशुभत्वमुक्तम् ।  
तत्र ग्रह इत्येकवचननिर्देशाह्निखितकश्यपवाक्यस्वरसाच्च सूर्य एव  
ग्राह्यो नान्य इति तद्दीपिकाकारो व्याख्यत् । अन्यथा ‘सचरेयुर्ग्रहा नृ-  
णाम्’ इत्यवश्यम् ॥ १६ ॥

अथाधिमासक्षयमासयोः संक्रान्त्यधीनत्वात्तयोर्निर्णयः प्रस्तूयते,  
तत्र तल्लक्षणमुपजात्याह—

(१) स्पष्टार्कसंक्रान्तिविहीनचान्द्रो

मासोऽधिमासः क्षयमासकस्तु ।

(१) अत्रोपपत्तिः । मध्यममानेन चान्द्रमासान्तःपातिकुदिनसंख्या-  
तः सौरमासान्तःपातिकुदिनसंख्याधिका, तयोरन्तरमधिशेषन्तदेव सा-  
वयवैर्द्वात्रिंशद्भिर्मासैरेकचान्द्रमासतुल्यं भवेत्तदा सोऽधिमास इत्युच्यते ।  
एवं स्पष्टमानेनापि बोद्धव्यम् । स चाधिमासः कीदृक्स्थितौ भवतीति  
चैत्रशुक्लादेर्वैशाखामान्तावधि यदि स्पष्टार्कमेषसंक्रान्तिस्तदा स स्पष्ट-  
ार्कमासः, वैशाखशुक्लप्रतिपदादित आरभ्य ज्येष्ठामान्तं यावद्यदि स्प-  
ष्टार्कवृषसंक्रान्तिस्तदा स स्पष्टो वैशाख इत्याद्यग्रेऽपि “मेषादिस्थे सवि-  
तरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः । चैत्राद्यः स विज्ञेयः पूर्तिद्वित्वेऽ-  
धिमासोऽन्त्यः ॥” प्रमाणेनानेन ज्ञेयम् । इत्थं कल्प्यते वैशाखामान्तात्  
किञ्चित्पूर्वं स्पष्टार्कमेषसंक्रान्तिस्तदोपरोक्तनियमानुसारेण स स्पष्ट-

द्विसंक्रमस्तत्र विभागयोस्त-

स्तिथेर्हि मासौ प्रथमान्त्यसञ्ज्ञौ ॥ २० ॥

इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्त-  
चिन्तामणौ संक्रान्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

स्पष्टार्केति । शुक्लपक्षप्रतिपदादिदर्शात् चान्द्रो मासः । स चेत्स्पष्ट-  
सूर्यसंक्रान्त्या विहीनो भवेत्तदाधिकमास उक्तः । उक्तं च ब्राह्मसिद्धान-  
न्ते—“ चान्द्रो मासो ह्यसंक्रान्तो मलमासः प्रकीर्तितः ” इति । तुर्वि-  
शेषे कदाचिच्छब्दापरपर्याये । कदाचित्स चान्द्रो मासो द्विसंक्रमः  
द्वौ संक्रमौ सूर्यसंक्रमौ यस्मिन्नसौ द्विसंक्रमः स्पष्टसूर्यसंक्रान्तिद्वययुतः  
क्षयमास उक्तः । यदाह वसिष्ठः—“यस्मिन्दर्शस्यान्तादवागोवापरं दर्शम् ।  
उल्लंघ्य भवति भानोः संक्रान्तिः सोऽधिमासः स्यात् ॥ आद्यंतदर्शयो-  
र्मध्ये भानोरेव तयोर्यदि । संक्रान्तिद्वितयं स्याच्चेन्न्यूनमासः स उच्य-  
ते ॥” एतौ चाधिमासक्षयमासौ स्पष्टमानेनैव ज्ञेयौ । तदाह कश्यपः—

चैत्रस्ततो ज्येष्ठामान्तात्किञ्चिदप्यनन्तरं यदि स्पष्टार्कवृषसंक्रान्तिस्त-  
दैतल्लक्षणं वैशाखामान्ताज्ज्येष्ठामान्तं यावद्वृषसंक्रान्तिविहीनो वैशाखो  
मासलक्षणलक्षितः स्फुटश्चैत्र एवेति चैत्रद्वयज्ञातन्तेनान्तिमश्चैत्रोऽधि-  
मासः स्वतः सिद्धः । क्षयमासविचारे तु यदा चान्द्रमासान्तःपाती-  
यकुदिनेभ्यः सौरमासान्तःपातिकुदिनेष्वल्पकेष्वेकस्मिन्नेव मासे स्पष्ट-  
रवेः संक्रान्तिद्वयं भवेत्तदा स एव क्षयमासः । तत्सम्भवस्तु स्पष्टार्क-  
गत्यधिकतायां, सा च ( गत्यधिकता ) नीचासन्ने रवौ, साम्प्रतं रवे-  
नीचं च धनुष्यतः पौषोभयतः क्षयमाससम्भावना सिद्ध्यति । अत एव-  
श्रीमद्भास्कराचार्योऽपि “क्षयः कार्तिकादित्रये” इत्याह । अत्र कार्ति-  
क आदिर्यस्य स कार्तिकादिमार्गस्तत्रय इत्येवं विग्रहो विधेयस्तस्मा-  
न्मार्गपौषमाघेषु क्षयमासस्य सम्भावना युक्तियुक्ता । स क्षयमासः  
कदा कदा भविष्यतीति परम्परागतास्तत्समया अपि श्रीमद्भास्कराचा-  
र्येणाभिहिताः स्वसिद्धान्तशिरोमणौ—

“गतोऽब्ध्यद्विनन्दैर्मिते शाककाले तिथीशैर्भविष्यत्यथाज्ञातसूर्यैः ।  
गजाद्रथग्निभूमिस्तथा प्रायशोऽयं कुवेदेन्दुवर्षैः क्वचिद्गोकुमिश्च ॥” इति ।



“यस्मिन्मासे कसंक्रान्तिदर्शनात्प्राक्पुरःसरम् ।  
 दर्शमुल्लङ्घ्य भवति स संसर्पोधिमासकः ॥  
 आरभ्य शुक्लप्रतिपत्प्रवेशात्संक्रमद्वयम् ।  
 आगामीन्दुक्षयस्यान्तात्प्राङ् न्यूनाख्यस्त्वहर्पतिः ।  
 स्फुटार्कसंक्रमाद्विद्यान्यूनमासाधिमासकौ ॥  
 मासौ न्यूनाधिकौ तौ तु सर्वकर्मबहिष्कृतौ ॥” इति ।

सिद्धान्तशिरोमणावपि—“असंक्रान्तिमासोधिमासः स्फुटः स्याद्विसं-  
 क्रान्तिमासः क्षयाख्यः कदाचित् ” इति । स्फुटः स्फुटदुमासः, स्फुटत्व-  
 मपि तत्रैव—“ स्पष्टोऽधिमासः पतितोऽप्यलब्धो यदा यदा वापतितो-  
 ऽपि लब्धः । सैकैर्निरैकैः क्रमशोधिमासैस्तदा दिनौघः सुधिया प्रसा-  
 ध्यः ॥ ” इति । इदमग्रे स्पष्टं व्याख्यास्यते । अत्राधिमासक्षयमास-  
 लक्षणप्रयोजनं नोक्तम् । आद्यप्रकरणे—“ वृद्धत्वास्तशिशुत्व इज्यसि-  
 तयोर्न्यूनाधिमासे तथा ” इत्यादिनोक्तत्वात् ।

पक्षद्वयभेदेन संज्ञाद्वयफलानि क्षयमासे—

क्षयमासपरः कश्चिद्विशेषो वक्तव्योऽस्ति, सोत्रैवाभिधातुमुचित  
 इत्याह—तत्रेपि । तत्र क्षये मासे मासद्वयसंज्ञाशुक्लकृष्णपक्षभेदेन ।  
 तस्याः सप्रयोजनविषयकल्पनोच्यते विभागयोरिति । तत्र क्षयमासे  
 जातानां वद्धार्पणे मृतानां श्राद्धे च तिथेर्विभागयोः पूर्वोत्तरद्वयोः  
 सम्बन्धेन प्रथमात्यसंज्ञौ मासौ स्तः स्याताम् । तिथिपूर्वार्धजातानां मृ-  
 तानां च पूर्वमासे वद्धार्पणं श्राद्धं च विधेयम् । तिथेरुत्तरार्द्धे जातानां  
 मृतानां चोत्तरमासे वद्धार्पणं श्राद्धं च विधेयम् । तदुक्तम्—“ ति-  
 थ्यर्द्धे प्रथमे पूर्वोऽपरस्मिन्नपरस्तथा । मासाविति बुधैश्चित्यौ क्षयमा-  
 सस्य मध्यगौ ॥ ” इति । एवं यथाश्रुतोऽर्थो व्याख्यातः । अस्य विशेष-  
 विवेकस्तु इह ग्रन्थगौरवमयात् प्रस्तुतविचारानर्हत्वाच्च नास्माभिरुक्त  
 इति शिवम् ॥ २० ॥ संक्रान्तिप्रकरणां गद्येनोपसंहरति—इति श्रीदैव-  
 ज्ञानंतेति । स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा  
 पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणोः ।  
 गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे  
 व्याख्याने खलु संक्रमप्रकरणां सम्पूर्णातामध्यगात् ॥ १ ॥

इति संक्रान्तिप्रकरणां समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ गोचरप्रकरणम् ४ ।

—:०:—

विघ्नराजमभिवन्द्य सिद्धिदं नीलकण्ठतनयेन धीमता ।

शिष्यमोहविनिवृत्तिकारणं गोचरप्रकरणं विविच्यते ॥ १ ॥

अथ गोचरप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र जन्मराशितः प्रोक्तनिषिद्धस्थानस्थितेदानींतनग्रहवशेन शुभाशुभनिरूपणं गोचर इत्युच्यते । तत्र ग्रहाणां गोचरफलं शुभाशुभरूपमुपजातिकाद्वयेनेन्द्रवज्रयोपजातिकापूर्वाद्धेन चाह—

सूर्यो रसान्त्ये खयुगेऽग्निनन्दे

शिवाक्षयोर्भौमशनी तमश्च ।

रसाङ्गयोर्लाभशरे गुणान्त्ये

चन्द्रोऽम्बराब्धौ गुणनन्दयोश्च ॥ १ ॥

लाभाष्टमे चाद्यशरे रसान्त्ये

नगद्वये ज्ञो द्विशरेऽब्धिरामे ।

रसाङ्गयोर्नागविधौ खनागे

लाभव्यये देवगुरुः शराब्धौ ॥ २ ॥

द्व्यन्त्ये नवाऽऽशे द्विगुणे शिवाहौ

शुक्रः कुनागे द्विनगेऽग्निरूपे ।

वेदाम्बरे पञ्चनिधौ गजेषौ

नन्देशयोर्भानुरसे शिवाग्नौ ॥ ३ ॥

क्रमाच्छुभो विद्ध इति ग्रहः स्यात्

पितुः सुतस्यात्र न वेधमाहुः ।



दुष्टोऽपि खेटो विपरीतवेधा-

च्छुभो द्विकोणे शुभदः सितेऽब्जः ॥ ४ ॥

सूर्य इति । सूर्यो रसांत्य इत्यादौ 'सर्वो द्वंद्वो विभाषैकवद्भवति' इति समाहारद्वंद्वे एकवचनांतः । शिवाक्षयोरित्यादावितरेतरयोगद्वंद्वः । अम्बराब्धावित्यादिषु त्वनित्यमागमशासनमिति नुमभावो ज्ञेयः । एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । अस्य चतुर्थश्लोकेनान्वयः । स्वजन्मराशेरिति पंचमश्लोकस्य पदमत्राध्याहार्यम् । तत्र सूर्यो ग्रहः स्वजन्मराशेः रसांत्ये क्रमाच्छुभो विद्धश्च स्यात् । सूर्यः स्वजन्मराशेः सकाशाद्यदि षष्ठ्यस्थाने तदा शुभः । अतः जन्मराशेर्द्वादशस्थानस्थिताश्चेदन्ये ग्रहाः स्युस्तदा विद्धः । शुभोऽप्यशुभफलदाता ।

रविशन्योर्न परस्परं वेधः—

अत्र शनैश्चरस्य सूर्यपुत्रत्वात्तद्वेधो नाङ्गीकार्यः । यतः पितुर्जनकस्य सुतसम्बन्धिनं वेधं नाहुः । सुतस्यापि पितृसम्बन्धिनं वेधं नाहुः । तथा खयुगे जन्मराशेर्दशमे सूर्यः शुभश्चतुर्थस्थानस्थिताश्चेदन्ये ग्रहाः शनिवर्जिताश्च स्युः तदा विद्ध इत्येवं श्लोकत्रयं सम्यग्व्याख्येयम् । तथा अग्निन्दे तृतीयनवमयोः, शिवाक्षयोरैकादशपंचमयोः सूर्यः क्रमाच्छुभो विद्धश्च ज्ञेयः । उक्तं च नारदेन 'शुभोऽर्को जन्मतस्यायदशषष्ठस्तु विद्यते । जन्मतो नवपंचांबुव्ययगैर्व्याकिंभिस्तदा ॥' भौमेति । भौमशनी तमो राहुश्चैते ग्रहाः स्वजन्मराशितः रसांकयोः षण्णवस्थानयोः क्रमाच्छुभा विद्धाश्चेत्यर्थः । परन्तु शनेः सूर्यवेधो नास्तीत्युक्तमेवेति । यदाह वसिष्ठः—“त्रिषडैकादशसहितो धरासुतो रिःफधर्मसुतसंस्थैः । दिनकरतनयोऽपि शुभो न विध्यते खेचरैर्विनोष्णकरम् ॥” इति । शनिवद्राहुर्ज्ञेय इति वचनाद्ग्राहोरप्येवमेवैष विचारः । राहोरुपलक्षणत्वात्केतोरपि । उक्तं च शार्ङ्गधरेण । “राहुकेतुफलं सर्वं मंदवत्कथितं बुधैः । वेधोऽपि तद्वदेवोह्यो वामवेधस्तथैव च ॥” अथ चंद्र इति । जन्मराशितः अम्बराब्धौ दशमचतुर्थयोः, गुणनंदयोस्तृतीयनवमयोः, लाभाष्टमे एकादशाष्टमयोः, आद्यशरे प्रथमपंचमयोः, रसांत्ये षष्ठ्यद्वादशस्थानयोः, नगद्वये सप्तमद्वितीययोः स्थानयोश्चन्द्रः क्रमाच्छुभो विद्धश्च ज्ञेयः ।

ज्ञशशिनोः परस्परं वेधो न—

चंद्रस्य बुधवेधो नास्ति । उक्तं च नारदेन—“विध्यते जन्मतो नै-  
दुर्धूनाद्यायारिखत्रिषु । स्वेष्ट्वांतायांबुधर्मस्थैर्विबुधैर्जन्मतः शुभः ॥” इ-  
ति । ज्ञ इति । जन्मराशेः द्विशरे द्विपंचमयोः, अविधरामे चतुर्थतृती-  
ययोः, रसांकयोः षष्ठनवमयोः, नागविधौ अष्टमप्रथमयोः, खनागे दशमा-  
ष्टमयोः, लाभव्यये एकादशद्वादशयोः स्थानयोर्ज्ञां बुधः क्रमाच्छुभो वि-  
द्धश्च ज्ञेयः । परं त्वत्र चंद्रवेधो नास्ति । यदाह नारदः—“ज्ञः स्वाब्ध्य-  
र्यष्टखायेषु जन्मतश्चेन्न विध्यते । सुतव्यंकाद्यष्टमांत्यसंस्थितैरिंदुजः  
शुभः ॥” इति । देवगुरुरिति । जन्मराशितः शराब्धौ पंचमतुर्ययोः, द्वयत्ये  
द्वितीयद्वादशस्थानयोः, नवाऽशे नवमदशमयोः स्थानयोः, द्विगुणे द्वि-  
तीयतृतीययोः, शिवाग्नौ एकादशतृतीययोः, देवगुरुर्वृहस्पतिः क्रमाच्छुभो  
विद्धश्च ज्ञेयः । उक्तं च नारदेन—“जन्मतः स्वायगोक्षाद्रिष्वंत्याष्टजल-  
त्रिगैः । जन्मराशेर्गुरुः श्रेष्ठो ग्रहैर्यदि न विध्यते ॥” इति । शुक्र इति ।  
जन्मराशेः कुनागे प्रथमाष्टमयोः, द्विनगे द्विसप्तमयोः, अग्निरूपे तृतीय-  
प्रथमयोः, वेदांबरे चतुर्थदशमयोः, पंचनिधौ पंचमनवमयोः, गजे-  
षौ अष्टमपञ्चमयोः, नन्देश्योर्नवमदशमयोः, भानुरसे द्वादशषष्ठयोः,  
शिवाग्नौ एकादशतृतीययोः, स्थानयोः शुक्रः क्रमाच्छुभो विद्धश्च  
ज्ञेयः । यदाह नारदः—“जन्मभादासुताष्टांकांत्यायेष्विष्टो न विध्यते ।  
भार्गवो मृत्युसप्ताद्यस्यांकेष्वीशारिरामगैः ॥” इति । आसुतेत्यभिविधा-  
वाङ् । स तेनान्त्याभिविधिरिति । तेन प्रथमद्वितीयतृतीयपञ्चमानां  
ग्रहाणामित्यर्थः । इदमत्राकृतम् । ‘सूर्यो रसान्त्य’ इत्यादौ प्राक्पठितेषु  
स्थानेषु विद्यमानः स ग्रहः शुभदः । शुभस्थानव्यतिरिक्ताखिलस्थानेषु  
विद्यमानः स ग्रहोऽशुभफलदाता । अत एवाह श्रीपतिः—“सर्वे  
लाभगृहस्थिताश्च खरिपुष्पकः कुजाकीं त्रिषट्प्राप्तौ साद्यखमन्मथारिषु  
शशीखास्तारिवर्ज्यं भृगुः । धीधर्मास्तधनेषु वाक्पतिरिति स्वाष्टांबुख-  
स्थो बुधः श्रेष्ठो जन्मग्रहाद्विगोचरविधौ विद्धो न चेत्स्याद्ग्रहैः ॥” इति ।  
अथर्दिवानुक्तस्थानेष्वशुभः स स ग्रहः ।

अत्र ग्रहाणां विहित निषिद्धस्थानफलानि विधिरन्ते—

तत्र रविः—

“स्थानं जन्मनि नाशयेद्दिनकरः कुर्याद्द्वितीये भयं



दुश्चिक्वे श्रियमातनोति हिबुके मानक्षयं यच्छति ।  
 दैन्यं पंचमगः करोति रिपुहा षष्ठोऽर्थहा सप्तमे  
 पीडामष्टमगः करोति परुषां कान्तिक्षयं धर्मगः ॥  
 कर्मसिद्धजनकस्तु कर्मगो वित्तलाभरूददथायसंस्थितः ।  
 द्रव्यनाशजनितां महापदं यच्छति व्ययगतो दिवाकरः ॥”

चन्द्रः—

“जन्मन्यन्नं दिशति हिमगुर्वित्तनाशं द्वितीये  
 दद्याद्द्रव्यं सहजभवने कुक्षिरोगं चतुर्थे ।  
 कार्ये नाशं तनयगृहगो वित्तलाभं च षष्ठे  
 द्यूने द्रव्यं युवतिसहितं मृत्युसंस्थोऽपमृत्युम् ॥  
 नृपभयं कुरुते नवमः शशी दशमधामगतस्तु महत्सुखम् ।  
 विविधमायगतः कुरुते धनं व्ययगतस्तु रुजं धनसंक्षयम् ॥”

भौमः—

“प्रथमगृहगतः क्षोणीसूनुः करोत्यरिजं भयं  
 क्षपयति धनं वित्तस्थाने तृतीयगतोऽर्थगः ।  
 अरिभयमतः पातालेऽर्थान्क्षिणोति हि पंचमो  
 रिपुगृहगतः कुर्याद्वित्तं रुजं मदनस्थितः ॥  
 जनयति निधनस्थः शत्रुवाधां धराजो  
 दिशति नवमसंस्थः कायपीडामतीव ।  
 शुभमपि दशमस्थो लाभगो भूरि लाभं  
 व्ययभवनगतोऽसौ व्याध्यनर्थार्थनाशान् ॥”

बुधः—

“बुधः प्रथमगो भयं दिशति बंधमर्थे धने  
 धनं रिपुमयान्वितं सहजगश्चतुर्थोऽर्थगः ।  
 अनिर्वृत्तिकरो भवेत्तनयगोऽरिगः स्थानदः  
 करोति मदनस्थितो बहुविधां शरीरव्यथाम् ॥  
 अष्टमे शशिसुते धनवृद्धिं धर्मगस्तु महतीं तनुपीडाम् ।  
 कर्मगः सुखमथायगतोथ द्वादशे भवति वित्तविनाशः ॥”

गुरुः—

“भयं जन्मन्यार्यो जनयति धनस्थोऽर्थमतुलं

तृतीयैऽङ्गक्लेशं दिशति च चतुर्थैऽर्थविलयम् ।  
 सुखं पुत्रस्थाने रुजमपि च कुर्यादरिगृहे  
 गुरुर्धने पूजां धननिचयनाशं च निधने ॥  
 धर्मगतो धनवृद्धिकरः स्याद्वित्तहरो दशमेऽमरपूज्यः ।  
 स्थानधनानि ददाति स चाये द्वादशगस्तनुमानसपीडाम् ॥”

शुक्रः—

“जन्मन्यरिहयकरो भृगुजोऽर्थदोऽर्थे  
 दुश्चिक्क्यगः सुखकरो धनदश्चतुर्थः ।  
 स्यात्पुत्रगस्तनयगोऽरिगतोऽरिवृद्धि  
 शोकप्रदो मदनगो निधनेऽर्थदाता ॥  
 जनयति विविधां वराणि धर्मे  
 न सुखकरो दशमस्थितस्तु शुक्रः ।  
 धननिचयकरः स लाभसंस्थो  
 व्ययभवनेऽपि धनागमं करोति ॥”

शनिः—

“वित्तभ्रंशं रुगातिं दिनकरतनये जन्मराशिं प्रपन्ने  
 वित्तक्लेशं द्वितीये धनहरणकृतिं वित्तलाभं तृतीये ।  
 पाताले शत्रुवृद्धिं सुतभवनगतः पुत्रभृत्यार्थनाशं  
 षष्ठे स्थानेऽर्थलाभं जनयति मदाने दोषसंघातमार्किः ॥  
 शरीरपीडां निधने च धर्मे धनक्षयं कर्मणि दौर्मनस्यम् ।  
 उपांत्यगो वित्तमनर्थमंत्ये शनिर्ददातीत्यवद्वसिष्ठः ॥”

राहुकेतु—

“राहुर्जन्मगतो भयं च कलहं सौभाग्यमानक्षय  
 वित्तभ्रंशमहासुखं नृपभयं चार्थक्षयं यच्छति ।  
 संतापं कलहं च वित्तमधिकं शीघ्रं विनाशं नृणां  
 केतोस्तत्फलमेव राशिषु वदेच्छंसंति गर्गादयः ॥”

ऋक्षराशिधिष्यस्था वक्रिणश्च क्रमेणैष्यप्राग्राशिफलदाः—

एतच्च शुभाशुभफलं ग्रहा ऋक्षसंधिगतास्तथा राशिसंधिगता एष्य-  
 राशेः फलं ददति, वक्रिणस्तु प्राग्राशेरित्याह कमलासनः—“ऋक्षसंधि-



गताः खेटा राशिसन्धिगता ग्रहाः । एधराशेः फलं दद्युर्वकी तद्विपरीतक-  
म् ॥” इति । राशिग्रहणं नक्षत्रस्याप्युपलक्षणम् । वसिष्ठोपि—“भवनान्त्यगता-  
स्वधिष्ण्यं यदंतगताश्च गगनचराः । दद्युः परभवनफलं प्राग्भवनफलं  
च वक्रिताश्चैते” इति । अस्यार्थः—ऋक्षं नक्षत्रं तस्य सन्धिः । एकस्मान्नि-  
र्गत्यापरत्र संक्रमणं सन्धिः । एवं राशिसन्धिश्च । तत्र सन्धिज्ञानं—“दे-  
वद्वयंकर्तव्योऽष्टाष्टौ नाड्योऽकाः खनृपाः क्रमात् । वर्ज्याः संक्रमणेऽर्कादेः  
प्रायोऽर्कस्थातिर्निदिताः ॥ ” इति विवाहप्रकरणे वक्ष्यति ग्रन्थकृत् ।  
संक्रमणकाल एव सन्धिकालः सर्वेषां ग्रहाणाम् । ‘षष्टिघ्नविंशं ग्रहभुक्ति-  
भक्तम्’ इत्यादिना भास्करेणोक्तत्वात् । तदेतदस्माभिः संक्रान्तिप्रक-  
रणे सप्रपञ्चं निरूपितं तत एवावधार्यम् । तत्र सूर्यादिग्रहाः ‘देवद्वयंक’-  
ति पद्योक्तार्थघटिकोपलक्षिते नक्षत्रांते राश्यन्ते वा स्थिता जिगमि-  
षितस्य नक्षत्रस्य राशेर्वा फलं प्रयच्छन्ति । वक्रिणस्तु पूर्वोक्तलक्षणो-  
पलक्षिते नक्षत्रादौ राश्यादौ वा स्थिता भुक्तस्य नक्षत्रस्य राशेर्वा  
फलं ददति ।

अथ वक्रातिचारयोः फलदानदिनसंख्या—

तत्र भौमाद्याः ग्रहाः वक्रातिचारयोः प्राग्राशिफलं कियन्ति दिनानि  
प्रयच्छन्तोत्याह वसिष्ठः—“दशदिवसं पञ्चदिनं त्रिपक्षमतिचारवक्र-  
योर्दद्युः । भौमाद्याः पञ्चदिनं प्राग्राशिफलं च पञ्चमासांश्च ॥ ”  
इति । भौमाद्याः स्वगत्या यावता कानेन राशिं जहति न ततोऽल्पे  
न्यूनाधिकभावेन स चारः । यदा चारसमये राशिं जहति सोऽति-  
चारः । वक्रं प्रसिद्धमेव ।

वेधविचारः—

अथ वामवेधं शुक्रपक्षे चन्द्रवलं चोपजात्युत्तरार्द्धेनाह—दुष्टोपीति ।  
दुष्टोऽपि स्वजन्मराशेः सकाशादनिष्टस्थानस्थितोपि खेटो विपरीतवेधात्  
वामवेधाच्छुभः शुभफलदाता । अयमर्थः—तेषु ष दशमतृतीयैकादशे-  
षु स्थितः सूर्यः शुभफलदाता । तद्भिन्नान्यष्टौ स्थानान्यशुभान्येव । तत्र द्वा-  
दशचतुर्थनवमपञ्चमाख्येष्वनिष्टस्थानेषु स्थितः सूर्यस्तथैवानिष्टफलदः  
स्यात् । यदा प्राक्पठितैः क्रमेण षष्ठादिस्थानस्थितैः शनिवर्जितैर्ग्रहेर्न  
विद्धः, यदा तु विद्धस्तदा शुभफलदोपि षष्ठादिस्थाने शुभदो नैव स्यात् ।  
अन्येषु स्थानेषु प्रथमद्वितीयसप्तमाष्टमेषु स्थितः सूर्यो निष्फलदो नैव ।

एवंचन्द्रबुधयोः षडेव विरुद्धस्थानानीति क्रमवेधवामवेधौ स्याताम् । भौमस्य तु त्रीण्येव तृतीयदशमैकादशस्थानानि शुभतराणि । अन्यान्यशुभान्येव । तत्र नवमपञ्चमद्वादशस्थानस्थितभौमस्याशुभस्य क्रमेण षष्ठैकादशतृतीयस्थानस्थैर्ग्रहैर्वामवेधेन शुभत्वमेव । अन्येष्वशुभस्थानस्थितेष्वशुभ एव भौमः । एवं शनिराहुकेतवो ध्येयाः । गुरोरप्येवमेव । तत्र तु प्रथमषष्ठस्थानस्थो गुरुः शुभ एव । शुक्रस्य तु नवस्थानानां शुभत्वात्तद्व्यतिरेकानि त्रीणि षष्ठसप्तमदशमस्थानान्यशुभानि । तेषामेव क्रमेण द्वादशद्वितीयचतुर्थस्थानस्थग्रहजनितवामवेधेन शुभत्वमेव । अन्येषां तूत्तरगठितस्थानानां शुभत्वादेव न वामवेधविचारार्हत्वमिति परिच्छिन्नार्थः । यदाह कश्यपः—अपविद्धो ग्रहः कश्चिन्न ददाति शुभं फलम् । वामवेधविधानेन त्वशुभोऽपि शुभप्रदः ॥ अतस्तद्विविधं मूलं विचार्यैव फलं वदेत् । ” वसिष्ठोऽपि—“ वेधसमन्वितखचराणां प्रदिशन्त्यसत्फलं किञ्चित् । व्यत्ययवेधविधानादपि शुभदास्तेऽशुभप्रदाः सततम् ॥ ” इति । व्यत्ययवेधो वामवेधः । द्विकोण इति । सिते शुक्लपक्षेऽब्जश्चन्द्रो द्विकोणे द्वितीयनवमपञ्चमस्थानेषु स्थितः शुभदः । अत्रापि क्रमेण षष्ठाष्टमचतुर्थस्थानस्थितैर्वुधवर्जितैर्ग्रहैर्यदि न विद्ध इत्यपि ध्येयम् । उक्तं च नारदेन—“शुक्लपक्षे शुभश्चन्द्रो द्वितीयनवपञ्चमैः । रिपुमृत्युबुसस्थैर्न विद्धो हि गगनेचरैः ॥ ” इति । यदि विध्यते तदाशुभफलद एव ॥ १—४ ॥

वेधकोष्ठकानि ।

| रविः |   |    |    |    | चन्द्रः |   |    |    |    | भौ० श० रा० के० |    |   |    |
|------|---|----|----|----|---------|---|----|----|----|----------------|----|---|----|
| शु०  | ३ | ११ | १० | ६  | ७       | १ | ११ | ६  | १० | ३              | ३  | ६ | ११ |
| वे०  | ६ | ५  | ४  | १२ | २       | ५ | ८  | १२ | ४  | ६              | १२ | ६ | ५  |

| बुधः |   |   |   |    | गुरुः |    |    |    |   | शुक्रः |   |   |   |    |   |   |    |    |   |
|------|---|---|---|----|-------|----|----|----|---|--------|---|---|---|----|---|---|----|----|---|
| २    | ४ | ६ | ८ | १० | ११    | २  | १० | ६  | ५ | ७      | १ | २ | ३ | ४  | ५ | ८ | १२ | ११ |   |
| ५    | ३ | ६ | १ | ८  | १२    | १२ | ८  | १० | ४ | ३      | ८ | ७ | १ | १० | ६ | ५ | ११ | ६  | ३ |



| शुक्लपक्षे चन्द्रस्य विशेषः— |   |   |   |
|------------------------------|---|---|---|
| शुभः                         | २ | ६ | ५ |
| वेधितः                       | ६ | ८ | ४ |

अथ द्विविधवेधे मतद्वयमुपजात्याह—

स्वजन्मराशेरिह वेधमाहु-

रन्ये ग्रहाधिष्ठितराशितः सः ।

हिमाद्रिविन्ध्यान्तर एव वेधो

न सर्वदेशेष्विति काश्यपोक्तिः ॥ ५ ॥

स्वजन्मेति । इह द्विविधवेधविधावन्ये नारदादयः स्वजन्मराशेः सकाशाद् द्विविधं वेधं क्रमिकं वेधं वामवेधं चाहुः । तथा चोभयत्रापि नारदेन 'जन्मत' इत्युक्तम् । अथ कश्यपादिमतमुच्यते—स पुनर्द्विविधोऽपि वेधो ग्रहाधिष्ठितराशितो ज्ञेयः । यथा सूर्यो जन्मराशेः सकाशात्षष्ठिस्थितः शुभः । स सूर्यः स्वाक्रान्तराशितो द्वादशस्थानस्थितैः शनिवर्जितैर्ग्रहैर्न विद्धः । तथा सूर्यो जन्मराशिद्वादशस्थोऽपि नेष्टः सः सूर्यसंक्रान्तराशितः षष्ठिस्थितैः शनिवर्जितैर्ग्रहैर्विद्धश्चेत्तदा शुभफलद इत्यर्थः ।

कश्यपमते हिमाद्रिविन्ध्यान्तर एव द्वावपि वेधौ—

एतस्यैव द्विविधवेधस्य देशविशेषविषयत्वमुच्यते । हिमाद्रिविन्ध्यनामानौ पर्वतौ प्रदेशविशेषावस्थित्या प्रसिद्धौ । तयोरन्तरालवर्तिन्येव देशे स द्विविधोऽपि वेधो ज्ञेयः, न सर्वदेशेषु । हिमाद्रिविन्ध्यान्तरालबहिर्भूतसर्वदेशेषु द्विविधोऽपि वेधदोषो नास्तीति कश्यपस्य मुनेरुक्तिर्वचनमस्ति । यदाह कश्यपः—ज्ञातव्यं जन्मराशेस्तु निखिलं यद्बलाबलम् ॥ हिमाद्रिविन्ध्ययोर्मध्ये वेधजं तद्ग्रहालयात् ॥" इति । वयं तु 'सूर्यो रसान्त्य' इति क्रमिको वेधो जन्मराशित एव ज्ञेयः । वामवेधस्तु अधिष्ठितराशित इति ब्रूमः । तदाह गुरुः—"जन्मतः क्रमवेधः स्याद्वामवेधो ग्रहा-

लयात्” इदमपि हिमाद्रिविन्ध्यान्तरविषयमेव । एतज्ज्ञानं दुर्घटमित्या-  
हतुर्नारदकश्यपौ—“अज्ञात्वा द्विविधं वेधं यो ग्रहज्ञो बलं वदेत् । स  
मृषावचनाभाषी हास्यं याति जनैः सदा ॥” इति ।

ग्रहदौष्ट्ये यात्रादिकं न कार्यम्—

एवं प्रकारेण गोचरबलं ज्ञात्वा ग्रहदौष्ट्ये यात्रादिकं न कार्यम् ।  
तदुक्तं श्रीपतिना—“अकालचर्यां मृगयां च साहसं सुदूरगमनं गजवा-  
जिवाहनम् । गृहे परेषां गमनं विवर्जयेद्ग्रहेषु राक्षा विषमस्थितेषु हि ॥”

ग्रहदौष्ट्ये शान्तिः करणीयैव—

अत एव तत्र ग्रहशान्तिर्विधेया । यदाह नारदः—“ग्रहेषु विषम-  
स्थेषु शान्तिं यत्नात्समाचरेत् । हानिवृद्धी ग्रहाधीने तस्मात्पूज्यतमा  
ग्रहाः ॥” इति । विपर्यये चानिष्टमित्याह वसिष्ठः—“ग्रहेषु विषमस्थेषु  
यः शान्तिं न करोति सः । अर्थहानिं च मरणं चाश्नुते सर्व-  
संकटम् ॥” इति ।

शान्तिप्रकारस्तत्समयश्च—

सा च शान्तिर्वसिष्ठसंहितोक्तप्रकारेण मत्स्यपुराणोक्तप्रकारेण वा-  
ऽनुष्ठेया । तत्र शान्तिकालमाह वसिष्ठः—“मासि मास्ययने चैव चन्द्रसूर्य-  
ग्रहेषु वा । विषुवन्निकसंक्रान्तौ व्यतीपाते दिनक्षये ॥” इति । “सौ-  
म्येक्षितेऽनिष्टफलः शुभदः पापवीक्षितः । निष्फलौ तौ ग्रहौ स्वेन शत्रुणा  
चावलोकितः । नीचराशिगतः स्वस्वशत्रुक्षेपगतोऽपि वा । शुभाशुभफलं  
नैव दद्यादस्तङ्गतेपि वा ॥” इत्येतादृशस्थले दुष्टत्वाभावादेव शान्त्य-  
भाव इति फलितं भवति ॥ ५ ॥

अथ गोचरप्रस्तावात् ग्रहणनक्षत्रफलं ग्रहणीयराहुगोचरफलं ग्रह-  
णाशुभप्रतीकारं च दुष्टग्रहणदर्शननिषेधं च शार्दूलविक्रीडितेनाह—

जन्मर्क्षे निधनं ग्रहे जनिमतो घातः क्षतिः श्रीर्व्यथा  
चिन्ता सौख्यकलत्रदौस्थ्यमृतयः स्युर्माननाशः सुखम् ।  
लाभोऽपाय इति क्रमात्तदशुभध्वस्त्यै जपः स्वर्णगो-  
दानं शान्तिरथो ग्रहं त्वशुभदं नो वीक्ष्यमाहुः परे ॥६॥



जन्मर्क्षे इति । जन्मनक्षत्रे ग्रहे ग्रहणे सति निधनं मृतिः स्यात् । यदाह वसिष्ठः—यस्यैव जन्मनक्षत्रे ग्रस्येते शशिभास्करो । तज्जातानां भवेत्पीडा ये नराः शान्तिवर्जिताः ॥” भार्गवीये विशेषोऽपि—“यस्य राज्यस्य नक्षत्रे स्वर्भानुरूपरज्यते । राज्यभङ्गं सुहृद्भाशं मरणं चात्र निर्दिशेत् ॥” इति राज्यस्य नक्षत्रे अभिषेकनक्षत्रे यदा कदाचिद्वाहुभुज्यमाननक्षत्रोपरागनक्षत्रमेकमेव तदाऽसन्दिग्धफलनिर्देशः । यदा तु नक्षत्रभेदस्तदोपरज्यमाननक्षत्रेष्वेव फलनिर्देशः । एवं राशिभेदेषूपरज्यमानराशितः । अस्य मते राहोर्दिग्देशकालावरणादिभेदाद्ग्रहणत्वमेव नास्ति । तदुक्तं सिद्धान्तशिरोमणौ—“दिग्देशकालावरणादिभेदे न वेद्यको राहुरिति ब्रुवन्ति” एतदुपपत्तिर्भास्करेण स्वपक्षैरेव निरूपिता । पितृचरणौश्च तोडरानन्दे राहुचारविलासे प्रपञ्चेनाभ्यधायि । परन्तु राहुसाहित्यं विना ग्रहणानयनस्य शरसंस्कृतिमानैक्यखण्डाद्यानयनविशिष्टस्यासुकरत्वादिति साहित्यविवक्षयैव राहोरुपरक्तत्वमुच्यते । अत एवोक्तं वराहेण—“तस्मिन्काले सान्निध्यमस्य तेनोपचर्यते राहुः । याम्योत्तरा शशिगतिर्गणिते ह्युपचर्यते तेन ॥” इति ।

जन्मराश्यादेः सूर्यचन्द्रोपरागयोः फलानि—

राशिफलमुच्यते । जनिमत इति । पंचम्यास्तसिल् । जन्मराशेरारभ्य द्वादशसु राशिषु ग्रहणे सति क्रमादनु क्रमेण घातादि फलं भवति । यथा जन्मराशौ ग्रहणे सति घातः शरीरपीडा, द्वितीयराशौ क्षतिः द्रव्यनाशः, तृतीयराशौ श्रोः लक्ष्मीः, चतुर्थराशौ शरीरपीडा, पंचमराशौ चिन्ता पुत्रादीनां, षष्ठराशौ सौख्यम्, सप्तमराशौ कलत्रदौस्थ्यं । अष्टमराशौ मृत्युर्मरणम्, नवमराशौ माननाशः, दशमराशौ सुखम्, एकादशराशौ लाभः, द्वादशराशौ मृत्युः । आत्मन इति केचित् । द्रव्यस्येत्यपरे । इदं च फलं षण्मासपर्यंतमनुक्तपि ध्येयम् । तदुत्तरं । हि ग्रहणांतरसम्भवात् । उक्तं दैवज्ञमनोहरे—“घातं हानिमथ श्रियं जननमाद्ध्वस्ति च चिन्तां क्रमात्सौख्यं दारवियोजनं च कुरुते व्याधिं च मानक्षयम् । सिद्धिं लाभमपायमर्कशशिनोः षण्मासमध्ये ग्रहः ॥” इति क्वचित्तु स्थानान्त्य एव भ्रममध्यमाधमा इत्युक्तमपि दैवज्ञमनोहरे एतदुक्तं—“ग्रासात्तृतीयाष्टमगश्चतुर्थस्तथायसंस्थः शुभदः स्वराशिः । नवांशधीसप्तमगश्च मध्ये पूज्यो द्विषट्को दशमाद्यसंस्थः ॥” इति ।

अत्र वाक्ये ग्रासराशेर्गणनोक्ता । क्वचित् स्वराशेरपि, तद्वाक्यम्—“त्रि-  
षड्दशायोपगते नराणां शुभप्रदं स्याद्ग्रहणं रवीन्द्रोः । द्विसप्तनन्देषु  
च मध्यमं स्याच्छेषेष्वनिष्टं मुनयो वदन्ति ” इति । अत्रावध्यपेक्षायां  
स्वजन्मराशेरित्यध्याहार्यमेव । अत्र ग्रहणीयराशेर्देशविशेषेण शुभफ-  
लानि वराहसंहितायामभिहितानि । तथा च फलं कूर्मोपदेशाद्भेदेति  
वराहोक्तग्रहणीयनक्षत्रशुभफलानि स्वरोदयाभिहितकूर्मचक्रे पराशर-  
संहितायां चाभिहितानि । तथा मण्डलभेदेनाप्यशुभफलानि गर्गसं-  
हितायामभिहितानि तानि सर्वाण्यपि पितृचरणकृतटोडरानन्दे राहु-  
चारविलासतोवधार्याणि नात्राप्रस्तुतं लिख्यतेऽस्माभिः ।

सूर्यचन्द्रोपरागयोररिष्टनिवृत्तये दानम्—

अशुभसूचकग्रहणप्रतीकारमाह—तदशुभमिति । तत्र सूर्यचन्द्र-  
योर्ग्रहणस्य सम्बन्धि यदशुभं दुष्टफलं तस्य ध्वस्त्यै नाशाय जपः  
स्वर्णगोदानं जपो गायत्र्यादीनां मन्त्राणाम् । स्वर्णं प्रसिद्धं, गौः प्रसि-  
द्धा भूमिर्वा । उपलक्षणत्वादन्वेषां रुध्यादीनां यथाशक्ति दानं कार्य-  
मिति शेषः । उक्तं च दैवज्ञमनोहरे—“ इदौ सूर्ये यदि विधिवशात्सै-  
हिकेया(१)वमर्दस्तद्राश्यानां भवति नियतं ग्रामपुंसां विनाशः ।  
तस्माच्छान्तिं मुनिभिरुदितां तत्तदालोकपूर्वां कुर्याद्दानादिभिरिह  
नृणां नाशमायात्यरिष्टम् ॥ ” इति । दानमपि तत्रैव—“ सुवर्णनिर्मि-  
तं नागं सतिलं ताम्रभाजनम् । सदक्षिणं सवस्त्रं च श्रोत्रियाय निवे-  
दयेत् ॥ सौवर्णं राजतं वापि विबं कृत्वा स्वशक्तिः । उपरागोद्भव-  
क्लेशच्छिद्ये विप्राय कल्पयेत् । ” दानमन्त्रश्च—“ तमोमय ! महाभीम  
सोमसूर्यविमर्दन । हेमनागप्रदानेन मम शान्तिप्रदो भव ॥ ” स्कन्द-  
पुराणे—“गोदानं भूमिदानं च स्वर्णदानं विशेषतः । ग्रहणे क्लेशनाशाय  
दैवज्ञाय निवेदयेत् ॥ ” इति । किं चात्र देशविशेषः पात्रविशेषो द्रव्य-  
विशेषश्च नापेक्षित इत्याह व्यासः—“सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वं ब्रह्मसमा  
द्विजाः । सर्वभूमिः कुरुक्षेत्रं ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥ ” इति । तत्र स्नानदा-  
नादिकं कस्मिन्काले कर्त्तव्यमित्याह—“प्रस्यमाने भवेत्स्नानं प्रस्ते होमो  
विधीयते । मुच्यमाने भवेद्दानं मुक्ते स्नानं विधीयते ॥ ” इति । तस्मि-

(१) सैहिकेयो राहुः “तमस्तु राहुः स्वर्मानुः सैहिकेयो विधुनुदः”  
इत्यमरोक्तेः ।



न्काले जपादिकमपि विधेयम् । “सूर्येन्दुग्रहणां यावत्तावत्कुर्याज्जपादिकम्” इति शिवरहस्योक्तेः । आदिशब्दात्सुरार्चनमपि ।

अत्र जन्मनक्षत्रजन्मराशयोर्ग्रहणो शान्तिमाह वसिष्ठः—

“यस्यैव जन्मनक्षत्रे ग्रस्येते शशिभास्करो ।

तस्य व्याधिभयं घोरं जन्मराशौ धनक्षयः ॥

द्रव्यमन्त्रविधानेन तस्य दोषापनुत्तये ।

उपरागस्नानविधिं सम्यग्वक्ष्ये समासतः ॥

मण्डलं चतुरस्रं तु गोमयेन विलेपयेत् ।

गृहस्थेशानदिग्भागे वर्णकैः समलंकृते ॥

स्थापयेच्चतुरः कुंभांस्तत्र तान्सागरात्मकान् ।

सर्ववेदात्मकान् स्मृत्वा सर्वतीर्थात्मकाञ्छुभान् ॥

पल्लवोशीरसायुज्यशतौषधिसमन्वितान् ।

मृत्तिकाहेमरत्नेन दन्तगुग्गुलचन्दनैः ॥

पञ्चगव्यामृतभ्राजत्स्फटिकैः सर्षपांवरैः ।

शंखकुकुमतीर्थाभ्युरोचनैः पद्मकैर्युतान् ॥

चत्वारः प्राङ्मुखा विप्राः प्रार्थयेयुः पृथक् पृथक् ।

अर्धिलगैर्वारुणैः सूक्तैः स्वस्तिवाचनपूर्वकैः ॥

तिलहोमं व्याहृतिभिः सहस्रं चाष्टसंयुतम् ।

एवं कृत्वा प्रयत्नेन स्नानकर्म समाचरेत् ॥

आमन्त्र्य नवभिर्मन्त्रैः कुंभान्संकल्पपूर्वकान् ।

एतानेव ततो मन्त्रान्स्वर्णपट्टे च संलिखेत् ॥

कर्तुः शिरसि तं बध्वा चार्धिलगैर्वेदमन्त्रकैः ।

सुमन्त्रितैः कुंभजलैः स्नाप्य नीराजयेत्ततः ॥

दक्षशज्यं प्रददेद्देभ्यः शुक्लमाल्यांवरः शुचिः ।

ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दद्याच्छिष्टेभ्यश्च स्वशक्तिः ॥

योऽसौ वज्रधरो देव आदित्यानां प्रभुर्मतः ।

सहस्रनयनश्चन्द्रग्रहपीडां व्यपोहतु ॥

मुखं यः सर्वदेवानां सप्तार्चिरमितद्युतिः ।

चन्द्रोपरागसम्भूतामग्निः पीडां व्यपोहतु ॥

यः कर्मसाक्षी लोकानां धर्मो महिषवाहनः ।

यमश्चन्द्रोपरागस्य ग्रहपीडां व्यपोहतु ॥

रक्षोगणाधिपः साक्षात्प्रलयानलसन्निभः ।  
 खड्गव्यग्रोऽतिकायश्च रक्षःपीडां व्यपोहतु ॥  
 प्राणरूपो हि लोकानां वायुः कृष्णमृगप्रियः ।  
 वायुश्चन्द्रोपरागस्य पीडामत्र व्यपोहतु ॥  
 योऽसौ निधिपतिर्देवः खड्गशूलगदाधरः ।  
 चन्द्रोपरागकलुषान्पीडां चापि व्यपोहतु ॥  
 योऽसाविन्दुधरो रुद्रः पिनाकी वृषवाहनः ।  
 चन्द्रोपरागपापानि नाशयत्वथ शंकरः ॥  
 त्रैलोक्ये यानि भूतानि चराणि स्थावराणि च ।  
 ब्रह्मविष्णवर्कयुक्तानि तानि पापं दहन्तु मे ॥  
 आमन्त्रणे लेखने चाप्येते पूजनमन्त्रकाः ।  
 अर्चयित्वा पितृन्देवान् गोभूस्वर्णवरादिभिः ॥  
 अनेन विधिना यस्तु ग्रहस्नानं समाचरेत् ।  
 न तस्य ग्रहपीडा स्याद्यानबन्धुधनक्षयः ॥  
 परमां सिद्धिमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ।  
 सूर्यग्रहेष्वेवमेव सूर्यनाम्ना विधीयते ॥” इति ।

वद्ववसिष्ठप्रोक्ता ग्रहणशान्तिः समाप्ता । अत्र यद्यपि जन्मराश  
 धनक्षय इत्युक्तम् । तत्र च दोषाल्पताप्रतिपादनेन शान्त्यकर्तव्यता  
 प्रतीयते । तथापि प्राविश्लिखितबहुवचस्सु विरुद्धफलाभिधानादेवास्य ज-  
 न्मशशिन्यपि ग्रहणे शान्तिर्विधेया । उभयानुवादेन शान्त्यभिधानात् । उक्तं  
 च मत्स्यपुराणे—“यस्य राशिं समासाद्य भवेद्ग्रहणसम्भवः । तस्य  
 शान्तिं प्रवक्ष्यामि मन्त्रौषधिविधानतः ॥” इति । अतो जन्मनक्षत्र-  
 जन्मराशिव्यतिरिक्ते विरुद्धे ग्रहणे शान्तिर्न विधेया, वचनाभावात् ।  
 किन्तु स्वविभवानुरूपं दानादि विधेयमिति तात्पर्यार्थः । सूर्यग्रहेष्वेव-  
 मेवेति । “योऽसौ वज्रधरो देव आदित्यानां प्रभुर्मतः । सहस्रकिरणः  
 सूर्यो ग्रहपीडां व्यपोहतु” इत्युक्तदिशा चन्द्रपदस्थाने सूर्यपदं पूर्व-  
 मन्त्रश्लोकेषु प्रयोज्यमित्यर्थः ।

दृष्ट एव सूर्यस्य शशिनश्चोपरागोऽरिष्टजनक इति—

अथेदं ग्रहणं स्थानविशेषेणानिष्टजनकमित्युक्तम् । तत्र किं ग्रहणं  
 दृष्टमदृष्टमित्याह । अथो इति । उक्तं च “जन्मसप्ताष्टरिः फांकदशमस्थे



निशाकरे । दुष्टोऽनिष्टप्रदो राहुर्जन्मर्क्षे निधनेपि च ॥” इति । जन्म-  
र्क्षे जन्मनक्षत्रे, निधनं वधतारा सप्तमी, अत्र दुष्ट इति पदश्रवणाद्दुष्ट-  
स्थानावस्थितो राहुः पुंसां दोषजनकः । यदा तु मेघाद्यावरणेन गृह-  
मध्यावस्थितस्याचक्षुष्मतोपि पुंसो राहुदर्शनाभावे सत्यप्यरिष्टेऽरिष्टं  
नास्ति । एवं चान्धस्य यत्र कुत्राप्यवस्थितस्य गृहाद्वह्निर्गन्तुमशक्नुवतो  
वृद्धातुरादेश्च सर्वारिष्टं स्नानादि वा नास्ति इति तेषामाशयः ।

स्नानप्रयोजकत्वम्—

अत्रेदं कथ्यते । किमिदं ग्रहणं दृष्टमेव स्नानाद्यधिकारसम्पादकमुत  
मेघाद्यावरणेनादृष्टमपि, कुतः । उभयथा वचनोपलब्धेः । तथा हि  
वृद्धवसिष्ठः—“सर्वेषामेव वर्णानां सूतकं राहुदर्शने । सचैलं तु भवेत्स्ना-  
नं सूतकान्नं विवर्जयेत् ॥” इति । षट्त्रिंशन्मते—“सर्वेषामेव वर्णानां  
सूतकं राहुदर्शने । स्नात्वा कर्माणि कुर्वीत शृतमन्नं विवर्जयेत् ॥” इति ।  
शृतं पक्कम्, “शृतं पाके” इति निपातनात् । यद्यपि तस्मिन् सूत्रे क्षीरहवि-  
षोरेवेति महाभाष्यकृतोक्तम्, तथापि महामुनिप्रयोगादन्यस्मिन्नपि  
द्रव्य श्रोदनादौ पाकसामान्यवद्वृत्तिः । विष्णुः—“राहुदर्शनदत्तं हि  
श्राद्धमाचन्द्रतारकम्” इति । शातातपः—“स्नानदानतपःश्राद्धमनन्तं  
राहुदर्शने” इति । एवमादीनि वचांसि दर्शनपदसहितान्युपलभ्यन्ते ।  
अन्यथापि वसिष्ठः—“ग्रहणे संक्रमेवापि न स्नायाद्यदि मानवः । सप्तजन्म-  
सु कुष्ठो स्याद्दुःखभागो च जायते ॥” इति । लिंगपुराणेपि—“चन्द्रसूर्यग्रहे  
स्नायात्सूतके मृतकेपि च । अस्नायी मृत्युमाप्नोति स्नायी पापं न विन्दति ॥”  
इति । एवमादीनि दर्शनपदानाक्रान्तानि वचांस्युपलभ्यन्ते । तत्र दर्शन-  
वादिन आहुः दर्शनपदानाक्रान्तेषु वचस्सु ग्रहणस्य निमित्तत्वं च प्रति-  
पद्यते । “ग्रहणे संक्रमे वापि” इति निमित्तसप्तम्युपलम्भात् । ज्ञातमेव च  
ग्रहणं स्नानदानादिकं प्रति निमित्तं भवति । तज्ज्ञानापेक्षायां च रा-  
हुदर्शनपदोपेतवचनालोचनेन चाक्षुषज्ञानस्यैव निमित्तत्वम् । इतश्चा-  
क्षुष एव ज्ञाने दर्शनस्य मुख्यत्वं ज्योतिःशास्त्रीयज्ञाने तु लक्षणाप्रस-  
क्तिः । एवं सति मेघाच्छन्नग्रहणदिवसजातचन्द्रग्रहणरात्रिभवसूर्य-  
ग्रहणेषु न स्नानदानादावधिकारः । तस्माद्ग्रहणं दृष्ट्वा स्नान-  
दानादिकं विधेयमित्यर्थः सम्पन्नो भवति । नैतत्सहृदयहृदयंगम-  
म् । यतो वचनेषु राहुदर्शनग्रहपदयोः समानार्थकता नास्ति, कथम् ।

“अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः । शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या  
ग्रहाणां गतिहेतवः ॥” इति सूर्यसिद्धान्ते चन्द्रादिग्रहपातानामदृश्यतो-  
का । पातो राहुश्च पर्यायः । उक्तं च तत्रैव—“दक्षिणोत्तरयोरेव  
पातो राहुश्च रंहसा । विक्षेपत्येष विक्षेपश्चन्द्रादीनामपक्रमात् ॥”  
इति । केशवाकैणाप्युक्तम्—“पर्यायेण तु राहुपातयोर्नामनी विदधुरेव तां-  
त्रिकाः” इति । अतो राहुदर्शनमेव गगनकुसुमायमानम् । ननु ग्रहणे  
सूर्यचन्द्रयोश्छादको राहुर्दृश्यत एव । अत एव ‘राहुग्रस्ते निशाकरे’ इ-  
त्यादिपुराणोक्तिः साधीयसीति चेन्न । “भानोर्भार्धं महीच्छाया  
तत्तुल्येऽर्कसमेऽपि वा । शशांकपाते ग्रहणं कियद्भागाधिकोनके ॥”  
इत्युपक्रम्य “छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत् । भूच्छायां प्रा-  
ङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥” इति असौ भूच्छायास्य चन्द्रस्य  
छादको भवेदित्यर्थः । इति सूर्यसिद्धान्तोक्तः स्पष्ट एव छाद्यच्छादक-  
भावोभिहितः (१) ।

पौराणिकोक्तिविरोधपरिहारः—

पुराणेन सह विरोधपरिहारस्तु—“दिग्देशकालावरणादिभेदान्न-  
च्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति । यन्मानिनः केवलगोलविद्यास्तत्संहिता-  
वेदपुराणवाह्यम् ॥” इति पूर्वपक्षं विधाय ततो “राहुः कुभाण्ड-  
गः शशांकम्” इत्यादिना ‘तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्सर्वांगमानाम-  
विरुद्धमेतत्’ इत्यन्तेन भास्कराचार्यैरेवोक्तः । तस्मिन्काले सान्निध्यमस्य  
तेनोपचर्यते राहुरिति वराहेण चोक्तम् । तस्माद्राहुदर्शनं तु नास्त्येव ।  
भवन्मते दर्शनं चाक्षुषमेवोच्यते नान्यत् । एवं सति राहोर्दर्शनं राहुदर्श-  
नमिति तत्पुरुषोऽनुपपन्नः । अथ तु समीपलक्षकदर्शनशब्दमङ्गीकृत्य त-  
दर्थः क्रियते । तदापि यस्य स्वरूपमेवानुपपन्नं तस्य सामीप्यं तु सुत-  
रामिति बालैरप्येतद्बुध्यते । तस्माद्दर्शनशब्देन नोपरागो लक्ष्यते रा-

(१) भास्करोऽपि स्वसिद्धान्तशिरोमणौ—

“पश्चाद्भागाज्जलदवदधःसंस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो  
भानोर्विम्बं स्फुरदसितया छादयत्यात्ममूर्त्या ।  
पश्चात् स्पर्शो हरिदिशि ततो मुक्तिरस्यात एव  
क्वापिच्छन्नः कचिदपिहितो नैष कज्ञान्तरत्वात् ॥”



दुर्दर्शनं राहुपरागस्तस्मिन् राहुदर्शने इति । अयमर्थः । राहुर्नाम पातः, तस्य सम्बन्धेन दर्शनमुपराग इति । न च राहुरेव लक्षणयोपरागपरः, तस्य दर्शनमिति पूर्वपक्षाभिमतार्थसिद्धिरिति वाच्यम् । लक्षणा त्वर्थान्तरासम्भवे सति वक्तव्या । “अत्यन्तादर्शनं राहोस्तथा चात्यन्तदर्शने । प्रजापीडा विनिर्देश्या व्याधिदुर्मिहृतस्कदैः ॥” इति विष्णुधर्मोत्तरादिवाक्येषु पदान्तरासन्निधानाद्वाहुदर्शनेनोपरागो लक्ष्यते । इदं च राहोः पातनामकं ग्रहगतिरूपमर्थान्तरमस्तीत्यतो राहुदर्शनग्रहपातयोः समानार्थकतास्तीत्येवं च सिद्धमिति प्रागुक्तानां सर्ववचसां ग्रहणे स्नायादित्येव वाक्यार्थः फलितो भवति । किं च ग्रहणे चाक्षुषमेव दर्शनं विवक्षितं चेत्तदा “नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यातं कथञ्चन । न परक्तं न वारिस्थं न मध्यं क्रमशो गतम् ॥” इत्युक्तोपरक्तसूर्यदर्शननिषेधो नोपपद्येत । नन्वयं निषेधः सूर्योपरागदर्शन एव न चन्द्रोपराग इति चेन्न । ‘नाशुची राहुतारकम्’ इत्यत्र राहुमात्रग्रहणाद्विचन्द्रोपरागद्वयविषयकोपसंहारस्य युक्तत्वात् । अशुचेरजस्वलापतितादेर्ग्रहणं तु दोषाधिक्यसूचनार्थम् । यथा श्राद्धे कुलीनानां ब्राह्मणानामामन्त्रणे उक्ते अन्येषां निषिद्धत्वादेव कुण्डगोलकब्राह्मणानामामन्त्रणेऽसिद्धे पुनर्निषेधो दोषाधिक्यार्थमेव । “भास्करालोकनाश्लीलपरिवादं विवर्जयेत्” इति स्मृतिवाक्यस्य तूद्यदस्तगाम्यादित्यदर्शनपरतया व्याख्यानस्य युक्तत्वात् । केचित्तु दर्शनादर्शनविषयकयोर्विध्योस्तुल्यबलत्वात्सकृद्दृष्ट्वा स्नायादिति व्याचख्युः । तर्हिचतयम् । ‘जन्मसप्ताष्टरिः फांकैः’ इत्यादिना सामान्यतो निषिद्धस्योपरक्तदर्शनस्य पुनर्निषेधात्प्रागुक्तदिशा राहुदर्शनपदस्य राहुपरागलक्षकत्वेन तुल्यबलत्वाभावाच्च । तस्मादुपरक्तयोः सूर्याचन्द्रमसोर्यस्य कस्यापि दर्शननिषेधसत्त्वात् ग्रहणे च स्नानदानाद्युक्तेस्तज्ज्ञानं च ज्योतिःशास्त्रैकदेशगणितग्रन्थेभ्यो बुद्ध्वा तस्मिन्काले स्नानदानादि विधेयमिति सिद्धान्तः । अत एव मेघाद्यावृतेऽप्युपरागेऽस्नानादिकं विधेयमेव ।

दिवा चन्द्रस्य रात्रौ रवेश्च ग्रहणे न स्नानादि—

ननु गणितग्रन्थाधीनमुपरागज्ञानमेव चेत्स्नानादिप्रयोजकं तदा रात्रौ सूर्यग्रहणस्य दिवा चन्द्रग्रहणस्य जायमानत्वात्तदापि स्नानादिकं स्यात् । सत्यमेवैतत् । वचनात्तथा न क्रियते । तदुक्तं

निगमे—“सूर्यग्रहो यदा रात्रौ दिवा चन्द्रग्रहो यदि । तत्र स्नानं  
न कुर्वीत दद्याद्दानं न च क्वचित्” इति । अत एव तादृशे ग्रहणे  
दृष्टेऽपि दौष्ट्यं नास्तीत्यपि सूच्यते । न चैतदभावे प्रतिषेधादित्यधि-  
करणे न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नांतरिक्षे न दिवीत्युदाहृतवाक्यवञ्चि-  
त्यानुवाद इति वाच्यम् । विधिशेषत्वाभात् । यथा पृथिव्यामग्निर्न  
चेतव्य इति निषेधविधिरस्ति तत्र नांतरिक्षे न दिवीति दृष्टान्तो निषेध-  
विधेः शेषस्तथात्र सूर्यग्रहो यदा रात्रावित्येतद्वाक्यस्य विधेः शेष  
इति । किं चैवं ब्रुवतस्तत्र मतेऽनर्थकमेव वाक्यं स्यात् । न चैतद्युक्तम् ।  
अत एवाह जावालिः—“संक्रान्तेः पुण्यकालस्तु षोडशोभयतः कलाः ।  
चन्द्रसूर्योपरागे तु यावद्दर्शनगोचरः ॥” इति । अस्तस्यास्तमनपर्यन्तं  
दर्शनगोचरत्वात्तावान् कालः पुण्यकालो भवतीति माधवो व्याचक्ष्यौ ।  
तदुक्तं विश्वरूपनिर्णये—“दिवा चन्द्रग्रहो रात्रौ सूर्यपर्व न पुण्यदम् । स-  
न्धिस्थं पुण्यवज्ज्ञेयं यावद्दर्शनगोचरम्” इति । अन्ये तु मेघावृते तदनावृते  
चोपरागे गणितागतस्थितिघटिकाः पुण्यकाल इत्याहुः । दर्शने त्वेवं-  
विधे निर्णये भुजवृत्तादुपरिस्थितत्वमेव विवक्षितम् । तदाह वसिष्ठः  
स्वसिद्धान्ते—“सूर्यस्यादर्शनं रात्रिर्दिनं तद्दर्शनात्मकम् । भुजवृत्ता-  
दुपरि च स्थितोऽर्को दर्शनं स्मृतम् ॥” इति । अर्क इत्युपलक्षणं  
चन्द्रादिग्रहनक्षत्राणाम् । आकाशप्रदेशः समन्ताद्भूः संलग्न इव यत्र  
भाति स प्रदेशो भुजशब्दवाच्यः । अत एव विष्णुधर्मोत्तरे—“अहो-  
रात्रं न भोक्तव्यं सूर्यचन्द्रग्रहो यदा । मुक्तिं दृष्ट्वा तु भोक्तव्यं  
स्नानं कृत्वा ततः परम्” इति । अस्तास्ते भृगुः—“अस्त-  
गौ वास्तमानं तु रवीन्दू प्राप्नुतो यदि । तयोः परेद्युर्दये स्ना-  
त्वाभ्यवहरेन्नरः ॥” इत्यनयोर्वाक्ययोर्दर्शनोदयशब्दौ भुजवृत्तोपरि स्थि-  
तत्वोपलक्षकौ । अन्यथा मेघाद्यावरणेन परदिवसेऽपि दर्शनाभावे  
उपवासः प्रसज्येत । तथा च यत्र स्पर्शकाले ग्रहणं दृष्ट्वा स्नानं विहितं  
तत्रान्तरा मेघावरणात्सूर्यचन्द्रयोर्दर्शनाभावो दिवसद्वयं त्रयं वा स्या-  
त्तत्राप्युपवासप्रसंगः । न च सर्वे शिष्टास्तथाचरन्ति । तस्माद्दर्शनार्थ-  
मभ्युपेत्य शास्त्रीयज्ञानपरतयैव व्यवस्था कर्तव्या । तस्यां च सूर्या-  
पूर्वांकीर्यत्या च मेघानावृतेऽप्युपरागे तमदृष्ट्वा प्रशस्तचक्षुषा श्रेष्ठेन च  
गन्तुमशक्नुवद्भ्रिवृद्धातुरैश्च स्नानदानादिकं विधेयमिति फलितो-  
ऽर्थः । अत एव भागवते रविग्रहे कुरुक्षेत्रे स्नानाद्यर्थं मिलि-



तानां पांडवीयलोकानां मध्ये धृतराष्ट्रोपि परिगणित इति शिष्टा-  
चारोऽप्यस्ति । एवं च सत्यरिष्टजनकत्वाभावेपि ग्रहणदर्शननिषेधः किं  
पुनरनिष्टजनकत्वे । तस्माज्जन्मशशांकेत्यादिपदं निर्मूलत्वाद्युक्त्यसहत्वा-  
च्चोपेक्ष्यम् । किं च प्रत्यक्षोपलभ्यमानवसिष्टमस्त्यपुराणादिवाक्येषु  
दर्शनपदाभावाच्च । अत एव मूले परे इति पदं प्रयुक्तम् । शान्तिस्तु  
दर्शनाभावेपि विधातुमुचिता । यतोरिष्टयोगानां स्वरूपवतामेवारिष्ट-  
जनकत्वमस्ति । अन्यथा ग्रहवेषस्योत्पातादिसूचितारिष्टनिवृत्तिहेतुः  
शान्तिदर्शनाभावे न विधीयेत इत्यलमतिप्रसक्तानुप्रसक्तेन ॥ ६ ॥

अथ चन्द्रबले विशेषमनुष्ठुभाह—

पापान्तः पापयुग्मूने पापाच्चन्द्रः शुभोऽप्यसत् ।

शुभांशे वाधिमित्रांशे गुरुदृष्टोऽशुभोऽपि सन् ॥ ७ ॥

पापांत इति । चन्द्रः शुभोपि शुभफलदोपि पापांतः पापयुग्मूने  
पापद्वयमध्यवर्ती पापग्रहयुक्तः पापः द्यूने सप्तमस्थाने वर्तमानश्चेत्  
स्यात्तदा असदशुभ एव । यदा त्वशुभोप्यशुभफलदातापि चन्द्रः  
शुभांशे सौम्यग्रहनवांशे स्यादथवाधिमित्रस्य नवांशे स्यात्तथा गुरुणा  
बृहस्पतिना दृष्टः सन् शुभफलदाता भवेत् । यदाह राजमार्तण्डः—  
“पापग्रहेण संयुक्तः पापजामित्रसंस्थितः । पापद्वयमध्यगतः शुभो-  
प्यशुभदः शशी ॥ अनिष्टस्थानसंस्थोपि भवेच्छुभकरः शशी । सौम्य-  
भागेऽधिमित्रांशे गुरुणा वापि वीक्षिते ” इति ॥ ७ ॥

अथ चन्द्रबलस्य विधानांतरमनुष्ठुभाह—

सितासितादौ सद्गुष्टे चन्द्रे पक्षौ शुभावुभौ ।

व्यत्यासे चाशुभौ प्रोक्तौ सङ्कटेऽब्जबलं त्विदम् ॥ ८ ॥

सितेति । सितादौ शुक्लपक्षप्रतिपदि समीचीने चन्द्रे सति सम्पूर्णाः  
शुक्लपक्षः शुभः । असितादौ कृष्णपक्षप्रतिपदि चन्द्रेऽसमीचीने सति  
सम्पूर्णाः कृष्णपक्षः शुभः । व्यत्यासे च पूर्वोक्तादर्थद्वैपरीत्ये द्वावपि  
पक्षावनिष्टौ यदा शुक्लपक्षप्रतिपदि चन्द्रे दुष्टः तदा सकलः शुक्लपक्षो-  
ऽनिष्टः । यदा कृष्णपक्षप्रतिपदि चन्द्रः शुभस्तदा सम्पूर्णाः कृष्णपक्षो-

ऽनिष्टः इति । उक्तं च रत्नमालायाम्—“वलक्षपक्षादिगते हिमांशौ शुभे शुभं पक्षमुदाहरन्ति । सितेतरादावशुभे शुभे च पक्षावनिष्टौ भवतोऽन्यथा तौ ॥” कश्यपोपि—“मासादीन्दुः शुभो यस्य तत्पक्षस्तस्य शोभनः । कृष्णादीन्दौ त्वशुभदे शुभं तद्व्यत्ययेऽन्यथा ॥” इति । इदमेतादृशमब्जवलं चन्द्रवलं तु संकटे विवाहयात्रादाववश्यकर्त्तव्ये तात्कालिकचन्द्रवलाभावे ग्राह्यं नान्यथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ ग्रहाणां दौष्ट्यपरिहारपूर्वकं तुष्टिसंपादनार्थं नवरत्नसमुदाय-  
धारणं शालिन्याह—

वज्रं शुक्रेऽब्जे सुमुक्ता प्रवालं  
भौमेऽगौ गोमेदमाकौ सुनीलम् ।  
केतौ वैदूर्यं गुरौ पुष्पकं ज्ञे  
पाचिः प्राङ्माणिक्यमर्के तु मध्ये ॥ ९ ॥

वज्रं शुक्र इति । अत्रैकां सुवर्णमुद्रिकां कृत्वा तत्र दशभागे वर्तुलाकारे नवधा विभक्ते प्रागादिक्रमेण नवरत्नानि दृढं निधेयानि । तत्र प्रागिति पंचम्यन्तमव्ययम् । पंचमी चेयं ह्यब्लोपे । अतः प्रागादिदिशो लक्ष्योक्त्येत्ययमर्थो जातः । तत्र शुक्रप्रीतये पूर्वस्यां दिशि वज्रकं हीरकं निधेयम्, एवं चन्द्रप्रीत्यर्थं शोभनं मुक्ताफलमाग्नेय्याम्, भौमप्रीत्यर्थं प्रवालं दक्षिणस्याम्, अगौ राहौ तत्प्रीत्यर्थं गोमेदं नैऋत्याम्, आकौ शनिप्रीतये शोभनं नीलं पश्चिमायाम्, केतुप्रीतये वैदूर्यं वायव्याम्, गुरुप्रीतये पुष्पकं पुष्परागं उत्तरस्याम्, बुधप्रीतये पाचिः पेशान्याम्, सूर्यप्रीतये माणिक्यं मध्यमकोष्ठे इति ॥ ९ ॥

अथ सति द्रव्यसामर्थ्ये नवरत्नसमुदायधारणस्य शक्यत्वात्तदु-  
क्तवेदानीमसति द्रव्यसामर्थ्ये यद्ग्रहकृतं दौष्ट्यं तद्ग्रहरत्नधारण-  
मिद्वज्रयाह—

माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमाणि  
गारुत्मकं पुष्पकवज्रनीलम् ।



गोमेदवैदूर्यकमर्कतः स्यू

रत्नान्यथो ज्ञस्य मुदे सुवर्णम् ॥ १० ॥

माणिक्येति । सूर्यप्रीत्यर्थं माणिक्यं धार्यम्, एवं चन्द्रस्य मुक्ता-  
फलं, भौमस्य विद्रुमं, बुधस्य गारुत्मकं गरुडपाचिः, गुरोः पुष्पकं  
पुष्परागः, शुक्रस्य वज्रं, शनेर्नीलम् । 'लहसुनिया' इति कान्यकुब्ज-  
भाषयाहुः । राहोगोमेदं, केतौ वैदूर्यमित्येवमर्कतोऽर्कादीनां ग्रहाणां  
रत्नानि धार्याणि स्युः । तत्र यद्ग्रहकृतं दौष्ट्यं तस्य ग्रहस्य तुष्ट्यं  
तद्रत्नं धार्यमित्यर्थः । यदाह कश्यपः—“सूर्यादीनां च सन्तुष्ट्यै मा-  
णिक्यं मौक्तिकं तथा । सुविद्रुमं मारकतं पुष्परागं च वज्रकम् ।  
नीलगोमेदवैदूर्यं धार्यं स्वस्वदृढक्रमात्” अथो ज्ञस्य मुदे सुवर्णमित्य-  
ग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः ॥ १० ॥

अथ महामूल्यरत्नधारणे यस्य सामर्थ्याभावस्तदर्थमल्पमूल्यानि  
रत्नानि ताराबलं च शालिन्याह—

धार्यं लाजावर्त्तकं राहुकेत्वो

रौप्यं शुक्रेन्द्रोश्च मुक्ता गुरोस्तु ।

लौहं मन्दस्यारभान्वोः प्रवालं

तारा जन्मर्क्षात्त्रिरावृत्तितः स्यात् ॥ ११ ॥

धार्यमिति । अथो ज्ञस्य बुधस्य मुदे सन्तोषार्थं सुवर्णं यथाशक्तिं  
धार्यम् । राहुकेत्वोः प्रीत्यै लाजावर्त्तकं मणिविशेषो धार्यः, एवं शुक्रे-  
न्द्रोस्तुष्ट्यै रौप्यम्, गुरोस्तुष्ट्यै मुक्ता, मन्दस्य शनेस्तुष्ट्यै लौहम्,  
आरभान्वोर्मङ्गलसूर्ययोः प्रीत्यै प्रवालं धार्यम्, उक्तं च श्रीपतिना—  
“धार्यं तुष्ट्यै विद्रुमं भौमभान्वो रूप्यं शुक्रेन्द्रोश्च हेमेन्दुजस्य । मुक्ता  
सूरेर्लौहमर्कतमजस्य लाजावर्तः कीर्त्तितः शेषयोश्च ॥” इति । सूरेः सुर-  
गुरोः, शेषयोः राहुकेत्वोः ।

ग्रहदोषे औषधीमूलानि धार्याणि—

दीपिकाकारस्तु औषधीमूलानि धार्याणीत्याह—“मूले धार्यं त्रि-

शूल्याः सवितरि विगुणक्षोरिकामूलमिन्दौ जिह्वाहेर्ममिपुत्रे रजनिकर-  
सुते वृद्धदारोश्च मूलम् । भाङ्गी जीवेऽथ शुक्रे भवति शुभकरं सिंहपु-  
च्छस्य मूलं विच्छोलं चार्कपुत्रे तमसि मलयजं केतुदोषेऽश्वगन्धम् ॥”  
इति । त्रिशूली विल्वः, क्षोरिका क्षीरिणी(१) जिह्वाहिर्नागजिह्वा, वृद्ध-  
दारुर्विधारः, भाङ्गी प्रसिद्धा, सिंहपुच्छं वा घोटं चरिवारेति मध्य-  
देशभाषया प्रसिद्धम्, मलयजं चन्दनम्, अश्वगन्धं प्रसिद्धम्, एत-  
दौषधीमूलधारणं सर्वथा रत्नधारणाशक्तौ वेदितव्यम् ।

ताराबलम्—

तारेति । यद्दिने ताराबलमस्ति वा नयेति विचारश्चिकीर्षितस्तद्दि-  
ने या तारा सा जन्मक्षत् जन्मनक्षत्रावृत्तितः आवृत्तित्रयेण ग-  
णनीया स्यात् । त्रिरिति “ द्वि त्रिचतुर्थ्यः सुच् ” इति सुजन्तमव्ययम् ।  
स्वतजन्मनक्षत्रादिनक्षत्रे गणिते नवभिर्मन्त्रे तिस्र आवृत्तयो भवन्ति ।  
अवशिष्टतारायाः शुभाशुभं वाच्यमिति फलितोऽर्थः ॥ ११ ॥

अथ शेषक्रमेण सकलास्तारासंज्ञा अनुष्टुभाह—

जन्माख्यसम्पद्विपदः क्षेमप्रत्यरिसाधकाः ।

वधमैत्रातिमैत्राः स्युस्तारा नामसद्वक्त्रफलाः ॥ १२ ॥

जन्माख्येति । स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । यदाह नारदः—“ जन्मसम्प-  
द्विपत्क्षेमप्रत्यरिः साधको वधः । मित्रं परममित्रं तु जन्मभाच्च पुनः  
पुनः ॥” इति । एवं तारा गणनीया इति शेषः । तत्र तृतीयापञ्चमीसप्त-  
म्यस्तारा निषिद्धाः । अनिष्टफलश्रवणात् । अर्थादन्याः समीचीनाः ।  
समीचीनफलश्रवणात् । उक्तं च—“जन्मतारा द्वितीया च षष्ठी चैव चतुर्थि-  
का । अष्टमी नवमी चैव षट् तु ताराः शुभावहाः ॥” इति । जन्मनक्षत्रं  
विशेषे गृहीतं प्रतिषिद्धं च तच्चान्त्रे निर्णेष्यते । तदिदं ताराबलं कृ-  
ष्णपक्षविषयं न तूभयपक्षसाधारणम् । तदाह नारदः—“ कृष्णे बलव-  
ती तारा शुक्लपक्षे बली शशी” इति । युक्तं चैतत् । यतोऽत्रार्थवादो  
रत्नमालायाम्—

( १ ) ‘क्षोरी’—ति मैथिली ।



“न खलु बहुलपक्षे शीतरश्मेः प्रभावः  
 कथितमिह हि तारावीर्यमार्यैः प्रधानम् ।  
 अतिविकलशरीरे प्रेयसि-प्रोषिते वा  
 प्रभवति खलु कर्तुं सर्वकार्याणि योषा ॥  
 शुक्ले पक्षे शीतरश्मिर्वलीया-  
 नप्राधान्यं तारकायास्तु तत्र ।  
 शक्त्या युक्ते विद्यमानेपि कान्ते  
 न स्वातन्त्र्यं योषितः कापि दृष्टम् ” ॥ १२ ॥

अथावश्यककृत्ये दुष्टताराणां प्रकारद्वयेन परिहारं शार्दूलविक्रीडि-  
 तेनाह—

मृत्यौ स्वर्णतिलान्विपद्यपि गुडं शाकं त्रिजन्मस्वथो  
 दद्यात्प्रत्यरितारकासु लवणं सर्वो विपत्प्रत्यरिः ।  
 मृत्युश्चादिमपर्यये न शुभदोऽथैषां द्वितीयोऽशका  
 नादिप्रान्त्यतृतीयका अथ शुभाः सर्वे तृतीये स्मृताः ॥ १३ ॥

मृत्यौ स्वर्णतिलानिति । मृत्यौ सप्तम्यां बन्धतारायां स्वर्णतिलान्  
 यथाशक्ति सुवर्णयुक्तांस्तिलान् ब्राह्मणाय दद्यात् । विपद्यपि विपत्संज्ञायां  
 तृतीयतारायां गुडमिन्नुविकारं दद्यात् । त्रिजन्मसु तिसृषु जन्मतारासु  
 शाकं प्रसिद्धं वृन्ताकांदि दद्यात् । अथो प्रत्यरितारकासु पञ्चम्यां  
 तारायां लवणं दद्यात् । तदाह नारदः—“जन्मत्रिपञ्चसप्ताख्यास्तारा  
 नेष्टफलप्रदाः । अनिष्टपरिहाराय दद्याद्दानं द्विजातये । शाकं गुडं च  
 लवणं सतिलं काञ्चनं क्रमात् ।” इति । अत्र सतिलमिति विशेषणं  
 काञ्चनपदस्य, न लवणपदस्य । तेन बन्धतारायां सतिलं काञ्चनं देयम् ।  
 उक्तं च दीपिकायाम्—“प्रत्यरौ लवणं दद्याच्छाकं दद्यात्त्रिजन्मसु । विप-  
 त्तारे गुडं दद्यान्नियने तिलकाञ्चनम् ॥” इति द्वितीयः परिहार उच्यते ।  
 तत्रादिमपर्यये प्रथमावृत्तौ विपत्प्रत्यरिमृत्युश्च तृतीयपञ्चमीसप्तम्यस्ताराः  
 अपि सामान्यतः षष्ठिघटिकात्मिका अपि न शुभदाः स्युः । अथ द्वि-  
 तीये पर्यये द्वितीयावृत्तौ विपत्प्रत्यरिमृत्युनामादिप्रान्त्यतृतीयका अंशा  
 न शुभदाः । विपत्तारायां प्रथमा विंशतिघटिकास्त्याज्याः । इतराश्चत्वारि-

शच्छुभाः। प्रत्यरितारायां मध्यमा विंशतिर्घटिकास्त्याज्या तदुभयतो विं-  
शतिर्विंशतिर्घटिकाः शुभाः । वेधतारायामन्तिमा विंशतिर्घटिकास्त्याज्या  
आद्याश्चत्वारिंशच्छुभा इति नवीना व्याकुर्वते । जीर्णास्त्यंशशब्देन  
नक्षत्रचतुर्थांशमाहुः । तथा सति आदिप्रान्त्यतृतीयकाश्चरणाः निषि-  
द्धाः इतरे शुभाः । अथ तृतीये पर्यये तृतीयावृत्तौ विपत्प्र-  
त्यरिमृत्यवश्चैते सर्वे षष्टिघटिकात्मका अपि शुभाः शोभन-  
फलदाः स्मृताः । तथा च जगन्मोहने गुरुरित्युक्त्वा पठितम्—“प-  
र्याये प्रथमे वर्ज्या विपत्प्रत्यरिनैघनाः । द्वितीये त्वंशका वर्ज्यास्तृतीये  
त्वखिलाः शुभाः ॥ ” इति । द्वितीये पर्याये अंशकानाह स एव—“आ-  
द्यांशो विपदि त्याज्यः प्रत्यरे चरमोऽशुभः । वधे त्याज्यस्तृतीयोऽंशः  
शेषा अंशास्तु शोभनाः ॥ ” इति । अत्रांशो नक्षत्रचतुर्थांश उच्यते ।  
किमत्र प्रमाणमिति चेत्, उच्यते । “जन्मक्षौद्रशमं कर्म संघातक्षौ-  
द्र तु षोडशम् । अष्टादशं सामुद्रयं त्रयोविंशं विनाशनम् ॥ मानसं प-  
ञ्चविंशक्षौ नचरेच्छुभमेषु तु । ” इति नारदोक्तेर्विनाशिकाख्यस्य  
त्रयोविंशस्य भस्य दुष्टत्वम् ।

तस्यापवादः—

तदपवादमाह च्यवनः—“वैनाशकाख्ये नक्षत्रे अष्टाशीत्यंशकं विना ।  
शेषांशाः शुभदा ज्ञेया जन्मनीदुगतांशकाः ॥ ” इति । अत्र वैनाशिकं  
प्रत्यरिसंज्ञं तस्य चरमांशस्यानिष्टता प्राप्ता साष्टाशीत्यंशकं विनेत्यनेन  
बाध्यते इति । अतः ‘एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोपरत्रापि विनियु-  
ज्यते’ इति न्यायादत्रापि सैव व्याख्येति न नवीनमतं ज्यायः । अ-  
प्रमाणत्वात् ॥ १३ ॥

अथ चन्द्रावस्था वदयति, तद्गणनोपायमनुष्ठुमाह—

(१) षष्टिघ्नं गतमं भुक्तघटीयुक्तं युगाहतम् ।

शराब्धिहृल्लब्धतोऽर्कशेषेऽवस्थाः क्रियाद्विधोः ॥ १४ ॥

(१) षष्टिघ्नं गतमं भुक्तघटीयुक्तमिति । अत्र ‘प्रवासनाशौ मरणं ज-  
यश्च हास्यारतिक्रीडितसुप्तभुक्ताः । ज्वराख्यकम्पस्थिरता ह्यवस्था मे-  
षात्क्रमात्रामसदृक्फलाः स्युः’—रिति फलादेशार्थं चन्द्रस्य प्रत्येकराशौ



षष्टिघ्नमिति । अत्र चन्द्रस्य राशौ राशौ द्वादश द्वादश अवस्था सन्ति । यदाह नारदः—“चन्द्रस्य द्वादशावस्था राशौ राशौ यथा-क्रमात् । यात्रोद्वाहादिके कार्ये संज्ञातुल्यफलप्रदाः ॥” तत्राश्विनीमारभ्य गतमानि षष्ठ्या ६० गुणयानि वर्तमाननक्षत्रभुक्तानि कार्याणि तानि पुनर्युगैश्चतुर्भिः राहतानि शराब्धिहृत्पञ्चचत्वारिंशता भाज्यानि । यल्लब्धमागतं गतावस्थास्ताः । शेषं वर्तमानावस्थाः । तत्र लब्धा-कस्यापि द्वादशाधिक्ये द्वादशभिर्भागे प्रवासाद्यवस्थाश्चन्द्रस्य गताः स्युः । तां अवस्था मेषराशेः पुंसः प्रवासादिसंज्ञाः स्युः । वृषराशिस्थे चन्द्रे नाशादिसंज्ञा स्युः । एवं मिथुनादिदशराशिषु मृतादिसंज्ञा ह्यवस्थाः क्रमेण भवन्तीत्यर्थः । यदाह नारदः—“षष्टिघ्नं चन्द्रनक्षत्रं तत्कालघटिकान्वितम् । वेदघ्नमिषुवेदात्मवस्था भानुभाजिताः ॥” इति । अत्रोपपत्तिः—एकैकस्मिन् राशौ द्वादश द्वादशावस्थाः सन्ति । सामान्यतो नक्षत्रभोगः षष्टि-

द्वादशावस्थाः कल्पिताः, तासां वर्तमानावस्थाज्ञानमेतच्छ्रुत्वा केन क्रियते । अत्र “खड्गघ्नं भयातं भोगोद्भूतं तत्त्वतः केन धिष्येयं युक्तं द्विनिघ्नम् । नवातं शशी भागपूर्वः .....” इति (अस्योपपत्त्यर्थं मदीयशोधिता नीलकण्ठी द्रष्टव्या) पद्येनांशादिकश्चन्द्रः

$$\text{चं} = \frac{२ \left( ६० \text{ गन} + \frac{६० \text{ भया}}{\text{भमो}} \right)}{६} \text{ ततो यद्येकराशिगतैर्लिंशद्विरंशैश्चन्द्रस्य प्रवासादिद्वादशावस्थास्तदोपरोक्तांशादिचन्द्रसमांशैः का इति फलं}$$

$$= \frac{१२ \times २ \left( ६० \text{ गन} + \frac{६० \text{ भया}}{\text{भमो}} \right)}{३० \times ६} = \frac{२ \times २ \left( ६० \text{ गन} + \frac{६० \text{ भया}}{\text{भमो}} \right)}{५ \times ६}$$

$$= \frac{४ \left( ६० \text{ गन} + \frac{६० \text{ भया}}{\text{भमो}} \right)}{४५} \text{ । अत्रानुपाततः } \frac{६० \text{ भया}}{\text{भमो}} = \text{भुक्तघटी} =$$

भुघ, तदुत्थापनात्, अवस्था =  $\frac{४ \left( ६० \text{ गन} + \text{भुघ} \right)}{४५}$  द्वादशाधिका-यामवस्थायां द्वादशभिस्तद्विमिति युक्तियुक्तमेव ।

घटिकात्मक इत्येवं सति राशिभोगघटिकाः पञ्चत्रिंशदधिकशतं भवन्ति । तत्र त्रैराशिकं यद्येताभि-१३५ घटीभिर्द्वादशावस्था लभ्यन्ते तत्रेष्टघटीभिः किमिति । तत्रैकघट्या गुणनायां विकाराना-पत्तेर्द्वादशानामयमंको १३५ भाजको जातः । यथा १२ अत्रानयो-गुणकभाजकयोस्त्रिभिरपवर्तने गुणकाश्चत्वारः ४, भाजकाः पञ्च-चत्वारिंशत् ४५, तत्कालघटीयोगस्तु न्यायप्राप्त एव । तथा द्वादश-भागोपि । तदाधिक्यस्य निष्पयोजनत्वात् । अत्रेदमवधेयम्, यद्यपि नक्षत्राणां घटीन्यूनाधिकभावः सम्भवति तथापि षष्टिघटिकात्मकेन व्यवहारः कार्यः । विद्यमाननक्षत्रं भुक्तं तु स्वभोगं ज्ञात्वा षष्टि-घटिकात्मकं कृत्वा तत्र योज्यम् । यथा यदि स्वभोगेन षष्टिघटिकाः लभ्यन्ते तदेष्टघटोभिः किमिति त्रैराशिकेनेष्टघटीनां षष्टिगुणको नक्षत्र-भोगो भाजक इति ॥ १४ ॥

अथ द्वादशावस्थानामानि सफलान्युपजात्याह—

प्रवासनाशौ मरणं जयश्च

हास्यारतिक्रीडितसुप्तमुक्ताः ।

ज्वराख्यकम्पस्थिरता ह्यवस्था

मेषात्क्रमान्नामसद्वक्फलाः स्युः ॥१५॥

प्रवासनाशविति । स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । उक्तं च कश्यपेन—  
“ प्रवासनष्टे च मृता जया हास्या रतिर्मुदा । सुप्ता मुक्ता ज्वरा  
कम्पा सुस्थितिर्नामसन्निभाः ॥ ” इति । मुदा—“ विद्भिदादिभ्योङ् ”  
ततष्टाप् ॥ १५ ॥

अथ ग्रहणां वक्रतपरिहारार्थं सौषधजलस्नानं दक्षिणाश्च शार्दूल-  
धिक्रीडितेनाह—

लाजाकुष्ठबलाप्रियङ्गु घनसिद्धार्थैर्निशादारुभिः

पुङ्खालोध्रयुतैर्जलैर्निगदितं स्नानं ग्रहोत्थाघहृत् ।

धेनुः कम्बवरुणो वृषश्च कनकं पीताम्बरं घोटकः

श्वेतो गौरसिता महासिरज इत्येता रवेर्दक्षिणाः ॥ १६ ॥



लाजाकुष्ठमिति । लाजाः भृष्टशालयः इति केचित्, वस्तुतस्तु औषधोसाहचर्याल्लाजाशब्देन लज्जावतो (१) गृह्यते, कुष्ठं प्रसिद्धम्, बला 'वरिया' इति कान्यकुब्जभाषायामाहुः, प्रियङ्गुः (२) फलिनी, घनो मुस्ता, सिद्धार्थाः सर्षपाः 'शिरसा' इति महाराष्ट्राः, सरिष इति कान्यकुब्जाः । निशे हरिद्राद्वयम्, दारुः देवदारुः, पुष्पा शरपुष्पा, लो-  
ध्रं प्रसिद्धम्, एतैरौषधैर्युतानि गङ्गादिजलानि तैः स्नानं दुष्टग्रह-  
सूचितारिष्टनाशकं स्यात् । उक्तं च दीपिकायाम्—“ सिद्धार्थलोध्र-  
जनीद्वयमुस्तधान्यं लामज्जकं सफलिनी सवचा च मांसी । स्नानं  
कुरु ग्रहगणप्रशमाय नित्यं सर्वे रविप्रभृतयः सुमुखोभवन्ति ॥ ” दैव-  
ज्ञमनोहरेपि—“ सप्रियङ्गुरजनीद्वयमांसी कुष्ठलाजसितसर्षपखण्डैः ।  
वारिभिः सह वचैः सह लोध्रैः स्नानमस्ति निखिलग्रहपीडाम् ॥ ” इति ।  
वारिभिस्तीर्थोदकैः ।

तत्रौषधस्नानानि ग्रहभेदेन—

रत्नमालायां तु प्रत्येकग्रहाणामौषधस्नानमुक्तम् । यथा रवेः—  
“ मनः शिलैलासुरदारुकुङ्कुमैरुशीर्यष्टीमधुपद्मकान्वितैः ।  
सताम्रपुष्पैर्विषमे स्थिते रवौ शुभावहं स्नानमुदाहृतं बुधैः ॥

चन्द्रस्य—

पञ्चगव्यगजदानविमिश्रैः शङ्खशुक्तिकुमुदस्फटिकैश्च ।  
शीतरश्मिकृतवैकृतहंतृ स्नानमेतदुदितं नृपतीनाम् ॥

कुजस्य—

विल्वचम्पकबलारुणपुष्पैर्हिङ्गुकल्कफलिनीबकुलैश्च ।  
स्नानमद्भिरिह मांसियुताभिर्मौमदौस्थ्यविनिवारणमाह ॥

बुधस्य—

गोमयाक्षतफलैः ससरोजैः क्षौद्रशुक्तिनवमूलहेमभिः ।  
स्नानमुक्तमिदमत्र भृभूतां बोधनाशुभविनाशनं बुधैः ॥

( १ ) ' लज्जैनी ' इति मैथिली ।

( २ ) प्रियङ्गुः = ' काउन ' ।

गुरोः—

मालतीकुसुमयुक्तसर्षपैः पल्लवैश्च मदयन्तिकोद्भवैः ।

क्षिप्रमम्बुमधुकेन च स्फुटं वैकृतं गुरुकृतं विनिहन्ति ॥

शुकस्य—

एलया (१) च शिलया समन्वितैर्वारिभिः सकलमूलकुंकुमैः ।

स्नानतो भृगुसुतोपपादितं दुःखमेति विलयं न संशयः ॥

शनेः—

असिततिलांजनलोध्रवलाभिः शतकुसुमान्वितलाजयुताभिः ।

रवितनये कथितं धिषमस्थे दुरितहृदाप्लवनं मुनिमुख्यैः ॥

राहुकेत्वोः—

लोध्रगर्भतिलपत्रकमुक्ताहस्तिदानमृगनाभिपयोभिः ।

स्नानमार्त्तिमिह कृन्तति राहोः साजमूत्रमिदमेव च केतोः ॥”

राहुकथितद्रव्यमजमूत्रसहितं केत्वर्थं स्यात् । अत एवोक्तं दीपिकायाम्—“ प्रयोज्यमौषधस्नानं ग्रहविप्रसुरार्चनम् । ग्रहानुद्दिश्य होमो वा ग्रहाणां प्रीतिमिच्छता ॥” तत्र ग्रहपूजाहोमौ वसिष्ठसंहितायां महता प्रबन्धेनोक्तौ तत एवावगन्तव्यावित्यलमतिविस्तरेण ।

दक्षिणाः—

अथ रवेरिति । रविमारभ्य दक्षिणा उच्यन्ते । तत्र सूर्यप्रीत्यर्थं धेनुः, चन्द्रप्रीत्यर्थं कम्बुशङ्खः, कम्बु इति नपुंसकलिङ्गं पृथक्पदम् । ‘शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियाम्’ इत्यमरोक्तेः । मङ्गलप्रीत्यर्थं मरुण आरक्तो वृषः, बुधप्रीत्यर्थं कनकं सुवर्णम्, गुरुप्रीत्यर्थं पीताम्बरम्, तच्च यथाविभवं कार्पासं कोशजं च, शुक्रप्रीत्यर्थं श्वेतो घोटकः, शनिप्रीत्यर्थं मसिता श्यामवर्णा गौः, राहुप्रीत्यर्थं महाऽसिर्बहुमूल्यखड्गः, केतुप्रीत्यर्थं मजः छागः, एवमेषां दक्षिणेत्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—“ धेनुं शंखं रक्तवृषं हेम पीताम्बरद्वयम् । श्वेताश्वं कृष्णधेनुं च कृष्णलौहमजं क्रमात् ॥ स्वर्णेन वाससीकृत्य दातव्या दक्षिणा ततः । आचार्यार्थं जापकेभ्यो ब्राह्मणेभ्योऽथ शक्तिः ॥” इति ।

( १ ) एला = ‘अण्ची’ ।



तत्र दानान्तरायपि—

अत्र प्रत्येकं दानमन्त्रा(१)स्तत्रैवोक्ताः ग्रन्थभूयस्त्वभयान्न लिख्यन्ते ।

( १ ) रवेर्मन्त्रः—

ओं आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।

हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥

चन्द्रस्य—

ओं इमं देवाऽअसपत्न ॐ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय  
महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै  
विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां ॐ राजा ॥ २ ॥

कुजस्य—

ओं अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् । अपा ॐ  
रेता ॐ सि जिन्वति ॥ ३ ॥

वृधस्य—

ओं उद्ध्व्यस्वाने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्तं स ॐ सृजेथामयं  
च । अस्मिन्त्सधस्तथेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च  
सीदत ॥ ४ ॥

बृहस्पतेः—

ओं बृहस्पतेऽअति यदर्योऽअर्हात् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु ।  
यद्दीदयच्छ्रवसऽऋतप्रजा ततदस्मासु द्रविणां धेहि चित्रम् ॥ ५ ॥

शुक्रस्य—

ओं अन्नात्परिस्तुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं  
प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपान ॐ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रिय-  
मिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ६ ॥

शनेः—

ओं शन्नो देवोरभीष्टयऽआपो भवन्तु पीतये शर्योरैरभिन्नवन्तु नः ॥ ७ ॥

राहोः—

ओं कथानश्चित्रऽआभुवदूती सदा वृधः सखा । कथा शचिष्ठया  
वृता ॥ ८ ॥

केतोः—

ओं केतुं कृण्वन्न केतवो पेशो मर्याऽअपेशसे । समुषद्भिरजा-  
यथाः ॥ ९ ॥

(इति नवग्रहमन्त्राः)

“एवं यः कुरुते सम्यग्रहयज्ञं नृपोत्तमः ।

सर्वान् कामानवाप्नोति शुभस्थानफलं लभेत् ॥”

नृपोत्तम इत्युपलक्षणम्, तेन यः कश्चिद्गृहस्थोऽपि कुर्यात् । तत्र  
स्वविभवानुरूपाणि ग्रहदानानि प्रोक्तानि कैश्चिद्यथा रवेः—

“कौसुम्भवत्वं गुडहेमताम्रं माणिक्यगोधूमसुवर्णवस्त्रम् ।

सवत्सगोदानमिति प्रणीतं दुष्टैर्यमार्त्तिघ्नमसूरिकाश्च ॥”

चन्द्रस्य—

“धृतकलशं सितवस्त्रं दधिशंखौ चैव मौक्तिकसुवर्णौ ।

रजतं च सम्प्रदद्याच्चन्द्रारिष्टोपशमनाय ॥”

भौमस्य—

“प्रवालगोधूममसूरिकाश्च वृषश्च ताम्रः कर्त्रीरपुष्पम् ।

आरक्तवस्त्रं गुडहेमताम्रं दुष्टाय भौमाय सचन्दनं हि ॥”

अथात्र दानप्रसङ्गाद्द्रव्यदैवतान्यपि विष्णुधर्मोत्तरोक्तान्युच्यन्ते—

“अभयं सर्वदैवत्यं भूमिवै विष्णुदैवता ।

कन्या दासस्तथा दासो प्राजापत्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

प्राजापत्यो गजः प्रोक्तस्तुरगो यमदैवतः ।

तथा चैकशफं सर्वं कथितं यमदैवतम् ॥

महिषश्च तथा याम्य उष्ट्रो वै नैऋतस्तथा ।

रौद्री धेनुर्विनिर्दिष्टा ह्यग्नौ आग्नेय उच्यते ॥

मेघं तु वारुणं विद्याद्वराहो वैष्णवः स्मृतः ।

आरण्याः पशवः सर्वे कथिता वायुदैवताः ॥

जलाशयानि सर्वाणि वारिधानी कमण्डलुः ।

कुम्भश्च करकश्चैव वारुणानि विनिर्दिशेत् ॥

समुद्रजानि रत्नानि सामुद्राणि तथैव च ।

आग्नेयं काञ्चनं प्रोक्तं सर्वलौहानि वाऽप्यथ ॥

प्राजापत्यानि शस्यानि पक्वान्नमपि च द्विजाः ।

ज्ञेयानि सर्वगन्धानि गान्धर्वाणि विचक्षणैः ॥

बार्हस्पत्यं स्मृतं वासः सौम्यान्यथ रसानि च ।



बुधस्य—

“नीलं वस्त्रं मुद्गदानं बुधाय रत्नं पाची दासिका हेम सर्पिः ।  
कांस्यं दन्तः कुञ्जरश्चाथ मेषो रौप्यं सर्वं पुष्पजात्यादिकं च ॥”

गुरोः—

“अश्वः सुवर्णं शुक्रपीतवस्त्रं सपीतधान्यं लवणं सपुष्पम् ।  
सशर्करं तद्रजनीप्रयुक्तं दुष्टाय शान्त्यै गुरवे प्रदेयम् ॥”

शुक्रस्य—

“चित्रवस्त्रमपि दानमर्चिते दुष्टगे मुनिवरैः परिगीतम् ।  
तण्डुलं घृतसुवर्णरूप्यकं वज्रकं परिमलो धवलोऽश्वः ॥”

शनेः—

“नीलकं महिषं कृष्णं वस्त्रं लौहं सदक्षिणम् ।  
दद्याच्च दक्षिणायुक्तं शनिदौष्ट्यप्रशान्तये ॥”

राहोः—

“राहोर्दानमिदं मेषो गोमेदं लौहकंबलौ ।  
सुवर्णं नागरूप्यं च सतिलं ताम्रभाजनम् ॥”

पक्षिणश्च तथा सर्वे वायव्याः परिकीर्त्तिताः ॥  
विद्या ब्राह्मी विनिर्दिष्टा विद्योपकरणानि च ।  
सारस्वतानि ज्ञेयानि पुस्तकाद्यानि परिङ्कितैः ॥  
सर्वेषां शिल्पभाण्डानां विश्वकर्मा तु दैवतम् ।  
दुर्माणामथ पुष्पाणां शाखानां हरितैः सह ॥  
फलानामपि सर्वेषां तथा ज्ञेयो वनस्पतिः ।  
मत्स्यमांसं विनिर्दिष्टं प्राजापत्यं तथैव च ॥  
छत्रं कृष्णाजिनं शय्या रथमासनमेव च ।  
उपानहौ तथा ग्रानं यच्चान्यत्प्राणवर्जितम् ॥  
उत्तानाङ्गिरसं त्वेतत्प्रतिगृह्णीत मानवः ।  
पर्जन्याय तथा सीरं शस्त्रवर्मध्वजादिकम् ॥  
रणोपकरणं सर्वं कथितं शक्रदैवतम् ।  
गृहं तु सर्वदैवत्यं यदनुक्तं द्विजोत्तमाः ॥  
तज्ज्ञेयं विष्णुदैवत्यं सर्वं वा विष्णुदैवतम् ।” इति ।

केतोः—

“केतौ वैदूर्यममलं तैलं मृगमदस्तथा ।  
ऊर्णास्तिलाश्च संयुक्ता दद्यात्क्षेपानुत्तये ॥”

अन्यच्च संहिताप्रदीपे—

“भानुस्ताम्बूलदानादपहरति नृणां वैकृतं वासरोत्थं  
सोमः श्रीखण्डदानादवनिवरसुतो भोजनात्पुष्पदानात् ।  
सौम्यः शक्रस्य मन्त्री हरिहरनमनाद्भार्गवः शुभ्रवस्त्रै-  
स्तैलस्नानात्प्रभाते दिनकरतनयो ब्रह्मनुत्था परौ च ॥” इति ।

ब्रह्म ब्राह्मणः, परौ राहुकेतू ॥ १६ ॥

अथ सूर्यादयो ग्रहा गन्तव्यराशेः प्राक् कियद्भिर्दिनैः फलं दद्युरि-  
त्येतदुपजात्याह—

सूर्यारसौम्यास्फुजितोऽक्षनाग-

सप्ताद्रिघसान्विधुरग्निनाडीः ।

तमोयमेज्यास्त्रिरसाशिवमासान्

गन्तव्यराशेः फलदाः पुरस्तात् ॥ १७ ॥

सूर्यारसौम्येति । सूर्यादयो ग्रहा गन्तव्यराशेर्जिगमिषितराशेः पु-  
रस्तात् पूर्वमेवैतत्संख्याकदिवसघटीमासान् । अत्र “कालाध्वनोरत्य-  
न्तसंयोगे” इति द्वितीया । ततो नैरन्तर्येण तावन्तं कालं फलदाः स्युः ।  
तद्यथा—सूर्यो गन्तव्यराशेः प्राक् अक्षघसान् पञ्चदिवसान् फलदः,  
एवमारो भौमोऽष्टदिवसान् पूर्वं फलदः, बुधः सप्तदिवसान्, शुक्रो-  
पि सप्तदिवसान्, विधुश्चन्द्रः अग्निनाडीर्घटिकात्रयमेव प्राक् फल-  
दः, राहुर्गन्तव्यराशेः प्राक् त्रिमासं फलदः, एवं शनिः षण्मासान्,  
गुरुर्द्विमासान् पूर्वं फलद इत्यर्थः । उक्तं च—“सूर्यः पञ्चदिनं शशो  
त्रिघटिकं भौमोऽष्ट वै वासरान्सप्ताहानि भृगुः सप्तोमतनयो मास-  
द्वयं वै गुरुः । षण्मासान्पुरतोपि सूर्यतनयो राहुश्च मासत्रयं केतुश्चैव  
ददाति भावि सकलं गन्तव्यराशेः फलम् ॥” इति । जगन्मोहने लोवमु-



क्तम्—“आदित्यादिग्रहा दद्युर्लभे वा गोचरेपि वा । सप्तविंशति-  
मासोर्ध्वं परराशिफलं खलु ॥” इति ॥ १७ ॥

सथ प्रसङ्गादावश्यकमङ्गलयात्राकृत्येषु कर्तव्येषु सत्सु तिथ्यादि-  
विषयकदुष्टयोगसङ्गावे तद्दोषनिवारणार्थं दानं शालिन्याह—

दुष्टे योगे हेम चन्द्रे च शङ्खं

धान्यं तिथ्यर्द्धे तिथौ तण्डुलांश्च ।

वारे रत्नं भे च गां हेम नाड्यां

दद्यात्सिन्धूत्थं च तारासु राजा ॥ १८ ॥

दुष्ट इति । दुष्टे व्यतीपातादिरूपे योगे सति हेम सुवर्णं यथा-  
शक्ति राजा दद्यात् । च पुनश्चन्द्रे दुष्टे विहितान्यस्थानस्थिते शङ्खं द-  
द्यात् । तिथ्यर्द्धे करणे भद्राख्ये दुष्टे धान्यं दद्यात् । तिथौ दुष्टे चतु-  
र्थ्यादिरूपे तण्डुलान् । वारे दुष्टेऽनुपचयरूपे रत्नं प्रवालमुक्तादि द-  
द्यात् । भे राशौ दुष्टे क्रूरग्रहाधिष्ठितत्वादिदोषसहिते सति गां दद्यात् ।  
नाड्यां घटिकायां दुर्मुहूर्तादिना दुष्टायां सत्यां हेम सुवर्णं दद्यात् । च  
पुनस्तारासु दुष्टासु विपत्प्रत्यरिवधरूपासु सिन्धूत्थं (१) लवणं दद्यात् ।  
पूर्वं दुष्टतारासु प्रत्येकं विशिष्य दानमुक्तम् । इदानीं तदशक्तौ लवणमेव  
देयमिति पुनरुक्तिपरिहारः । उक्तं च दीपिकायाम्—“योगस्य हेम  
करणस्य च धान्यमिन्दोः शङ्खं च तण्डुलमणी तिथिवारयोश्च । तारा-  
वलाय लवणान्यथ गां च राशेर्दद्याद्द्विजाय कनकं शुचि नाडिकाया-  
म् ॥” इति ॥ १८ ॥

अथात्र गोचरप्रसंगात्सूर्यादयो ग्रहाः राश्यन्तरगताः संतः  
कदा शुभाशुभफलदातारो भवन्ति तथा चन्द्रमासाधिकरणकरवि-  
वासरादौ स्वजन्मनक्षत्रप्रवेशे सति फलविशेषं च वसन्ततिलकावृत्ते-  
नाह—

राश्यादिगौ रविकुजौ फलदौ सितेज्यौ

मध्ये सदा शशिसुतश्चरमेऽब्जमन्दौ ।

(१) ‘सेन्धव’ इति मैथिली ।

अध्वान्नवह्निभयसन्मतिवस्त्रसौख्य-

दुःखानि मासि जनिभे रविवासरौ ॥ १६ ॥

इति दैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्त्तचिन्तामणौ

गोचरप्रकरणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

राश्यादिगाविति । रविकुजौ सूर्यमङ्गलौ राश्यादिगौ राशिप्रथम-  
दशांशमध्यस्थितौ सन्तौ फलदौ निखिलफलदातारौ । अवशिष्टांशे-  
ष्वीषदीप्तफलदौ । एवं सितेज्यौ शुक्रवृहस्पती मध्ये मध्यगतांशद-  
शके निखिलफलदातारौ अन्यत्रेषत् । शशिसुतो बुधः सदा त्रिंशदं-  
शेषु निखिलफलदाता । अब्जमन्दौ चन्द्रशनैश्चरौ चरमदशके निखिल-  
लदातारावन्यत्रेषत् । उक्तं च वसिष्ठेन—“ भवनाधिगतौ फलदौ रवि-  
भौमौ मध्यगौ च गुरुशुक्रौ । अन्त्यगतौ शशिरविकौ सदैव फलदः  
शशांकसुतः ॥ ” वराहेणापि—“ दिनकररुधिरौ प्रवेशकाले गुरुभृगु-  
जौ भवनस्य मध्ययातौ । रविसुतशशिनौ विनिर्गमस्थौ शशितनयः  
फलदस्तु सर्वकालम् ॥ ” इति । रुधिरो भौमः ।

वारभेदेन मासि मासि जन्मनक्षत्रफलम्—

अध्वेति । यस्मिन्मासे स्वीयजन्मनक्षत्रप्रवेशे सूर्यादिवाराध्वेत्यु-  
स्तदा तस्मिन्मासेऽध्वादीनि फलानि वाच्यानि, तद्यथा—रविचारे  
जन्मनक्षत्रप्रवेशे सति तस्मिन् मासे अध्वा मार्गोऽटनमिति यावत्,  
फलं तस्य पुंसो भवेत् । एवं चन्द्रचारे जन्मनक्षत्रप्रवेशे अन्नं भक्ष्यं  
तत्प्राप्तिः स्यादित्यर्थः । एवं भौमचारे वह्निभयं भवेत्, बुधचारे  
सन्मतिः सती समीचीना धर्मयुक्ता बुद्धिर्भवेत्, गुरुचारे वस्त्रप्राप्ति-  
र्भवेत्, भृगुचारे सौख्यं भवेत्, शनिचारे दुःखप्राप्तिः स्यादित्यर्थः  
उक्तं च ज्योतिषरत्नसंग्रहे वामनेन—“ अध्वा भोजनमग्निभिः सुम-  
तिता वस्त्रं सुखं चासुखं मासे मासि फलं भवेज्जननभे सूर्यादिवारे  
स्थिते ॥ ” इति । अत्र—“ मासास्तथा च तिथयस्तुहिनां शुमानात् ”  
इति भास्कराचार्यवाक्याच्चान्द्रः शुक्लप्रतिपदादिदर्शातो मासो गृह्यत  
इति शिवम् ॥ १६ ॥ अथ गोचरप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—इति  
श्रीदैवज्ञेति ।



ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा  
पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणोः ।  
गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे  
व्याख्याने ग्रहगोचरप्रकरणं सम्पूर्णातामध्यगात् ॥ १ ॥

इति श्रीमदैवज्ञमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्विद्विरचितायां  
मुहूर्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधाराभिधयां  
ग्रहगोचरप्रकरणं समाप्तम् ।



अथ संस्कारप्रकरणम् ५ ।



सर्वाणीतनयमथाब्धिदावमीशं नत्वा श्रीगुरुपदभक्तिलब्धविद्यः ।  
गोविन्दो विबुधजनप्रहर्षिणीं(१) तां संस्कारणप्रकरणटिप्पणीं तनोति ॥

अथ संस्कारप्रकरणं व्याख्यायते तत्र संस्क्रियतेऽनेन श्रौतेन  
कर्मणा स्मार्तेन वा पुरुष इति संस्कारः । स्वीयस्वीयजातौ सामान्य-  
विशेषविहितवैदिकस्मार्तकर्मानुष्ठानद्वाराऽष्टविशेषाधायक इति याव-  
त् । लक्षणया तदर्थोक्तदिनशुद्ध्यादिकं संस्कारशब्देनोच्यते । तस्य  
प्रकरणमुपक्रमः ।

अष्टचत्वारिंशत्संस्कारनामानि सफलानि—

ते च संस्काराः अष्टचत्वारिंशत् । यदाह गौतमः—“ गर्भाधानं  
पुंसवनं सीमंतोन्नयनं जातकर्म नामकरणान्नप्राशनचौलोपनयनं चत्वारि  
वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानम-  
ष्टकापार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्री आश्विनयुजीति सप्तपाक-  
संस्था अग्न्याधानमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यान्याग्रयणोष्टि-  
र्निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्तहविर्बृहयज्ञसंस्था अग्निष्टोमोत्यग्निष्टोम  
उक्तः षोडशी वाजपेयोतिरात्रोत्तोर्याम इति सप्त सोमयज्ञसंस्था

(१) अत्र ‘प्रहर्षिणी’-शब्देनैतच्छ्रुदोनामापि सूचितं श्रीमता  
गोविन्देनेति ।

इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः । अष्टावात्मगुणाः—दया सर्वभूतेषु क्षांति-  
रनसूयाशौचमनायासो मांगल्यमकार्पण्यमस्पृहेति । यस्यैते चत्वा-  
रिंशत्संस्काराः अष्टावात्मगुणाश्च स ब्राह्मणः सायुज्यमाप्नोति ” इति ।  
तत्रैते पुंसः संस्काराः समीचीनदिवसेष्वनुष्ठिताः संतोषिहितफल-  
दातारो भवन्ति । तत्र प्रथमं गर्भाधानाख्यः संस्कारोऽभिहितः । स  
च रजस्वलाख्यधीनः । उक्तं च भरद्वाजसंहितायाम्—“रजस्वला  
यदा नारी योग्या स्याद्गर्भधारणे । ततः कुर्वीत तत्संगं गर्भार्थं बुद्धि-  
मान्नरः ॥ ”

पुत्रोत्पादनाकरणो प्रत्यवाय इत्यादिरीत्या पुत्रप्रशंसा—

तत्रापि पुत्रोत्पत्त्यर्थमवश्यं सङ्गः कार्यः, अन्यथा परलोकाभावः ।  
उक्तं च श्रुतौ—“ नापुत्रस्य लोकोस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः ” इति ।  
पशवो देवाः । अत एव पुत्राप्नो नरकात् त्रायत इति पुत्र इत्यन्व-  
र्थता प्रतीयते । तदुक्तं महाभारते आदिपर्वणि शाकुन्तले—

“यदागमवतः पुंसो यदपत्यं प्रजायते ।

तत्तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान्पितामहान् ॥

पुत्राप्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।

तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥” इति ।

अनेनामुष्मिकं फलमुक्तं सन्ततेः । पेहिकमपि फलमुक्तं भारते—

“इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।

सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् ।

सर्व तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चितम् ॥”

अतो गर्भाधानमवश्यं कर्त्तव्यम् ।

रजोदर्शनात्प्राक् स्त्रीसङ्गो न करणीयः—

तच्च रजोदर्शनतः प्राक् न विधेयम् । तदुक्तं भविष्यत्पुराणे—“रजो-  
दर्शनतः पूर्वं न स्त्रीसंसर्गमाचरेत् । संसर्गं यदि कुर्वीत नरके परिपच्य-  
ते ॥” युक्तं चैतत्, रजो हि पुष्परूपम्, तद्विना फलरूपसन्तानानुप-  
पत्तेः । ननु क्वचिद्रजोदर्शनं विनापि गर्भसम्भवो दृश्यते क्वचित् सत्यपि  
रजसि गर्भानुपलम्भ इति, नैष दोषः । गर्भधारणं हि रजो विना न भव-



तीत्येषाव्याप्तिः । तच्च क्वचित्प्रकटं क्वचिदप्रकटमन्तरेव तिष्ठति । तत्राप्र-  
कटेऽपि रजस्यन्तर्गतरजःसत्त्वाद्गर्भधारणसम्भवः । अतः प्रागुक्तदोषाभा-  
वः । उक्तं च कश्यपसंहितायाम्—“वर्षद्वादशकादूर्ध्वं यदि पुष्पं बहिर्नहि ।  
अन्तःपुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत् । अतस्तु तत्र कुर्वीत तत्सङ्गं  
बुद्धिमान्नरः ॥” इति । यत्र तु सत्यपि रजसि गर्भधारणं न दृश्यते  
तत्र पुष्पबीजक्षेत्रादिदोषा द्रष्टव्याः । तस्मात्स्थितमेतद्रजोदर्शनानन्तरं  
स्त्रीसङ्गः कार्य इति । तत्र—“प्रथमरजोदर्शनतः शुभाशुभं भवति सर्व-  
वनितानाम्” इति वसिष्ठोक्तेः । तत्र शुभफलसूचकं प्रथमरजोदर्शनम-  
नुष्टुभाह—

आद्यं रजः शुभं माघमार्गाराधेषफाल्गुने ।

ज्येष्ठश्रावणयोः शुक्ले सद्गारे सत्तनौ दिवा ॥ १ ॥

आद्यमिति । राधो वैशाखः, इष आश्विनः, शेषं स्पष्टम् । आद्यं  
प्रथमोद्भवं रजः स्त्रीधर्मो माघमार्गशीर्षवैशाखाश्विनफाल्गुनमासेषु  
तथा ज्येष्ठश्रावणमासयोश्चेत्तदा शुभं भविष्यच्छुभसूचकम् ।

तत्राशुभमासाः—

अर्थाच्चैत्राषाढभाद्रपदकार्तिकपौषमासा अशुभाः । उक्तं च स्मृति-  
चन्द्रिकायाम्—

“चैत्रे स्यात्प्रथमतो नारी वैधव्यभागिनी ।

वैशाखे धनपुत्राढ्या ज्येष्ठे रोगान्विता तथा ॥

शुचौ मृतप्रजा प्रोक्ता श्रावणे धनधान्यदा ।

नभस्ये दुर्भगा क्लिष्टा आश्विने च तपस्विनी ॥

ऊर्जेष्यायुष्मती नारी मार्गशीर्षे बहुप्रजा ।

षौषे तु पुंश्चली नारी माघे पुत्रसुखान्विता ॥

फाल्गुने श्रीमती साध्वी क्रमान्मासफलं स्मृतम् ।” इति ।

तथा शुक्ले शुक्लपक्षे सत् । अर्थात्कृष्णपक्षे रजोदर्शनं दुष्टम् । तदुक्तं  
स्मृतिचन्द्रिकायाम्—“शुक्लपक्षे सुशीला स्यात्कृष्णे सा कुलटा भवेत् ।  
कृष्णस्य दशमी यावन्मध्यमं फलमादिशेत् ॥” अतः कृष्णपक्षदशम्यु-  
त्तरं कुलटात्वं स्यादित्यर्थः ।

तत्र वारफलानि—

सद्द्वारे सतां चन्द्रबुधगुरुशुक्राणां वारे आद्यं रजःशुभमर्थादन्यवा-  
रेषु दुष्टफलम् । यदाह कश्यपः—

“रोगिणी रविवारे तु सोमवारे पतिव्रता ।

दुःखिता भौमवारे तु बुधे सौभाग्यसंयुता ॥

श्रीसंयुता गुरोर्वारे पतिभक्ता भृगोर्दिने ।

मलिना मन्दवारे तु रात्रावपि तथैव च ॥”

वसिष्ठोपि—“सदा गदार्त्ता सुपतिव्रता सा वन्ध्या प्रजावत्यतुलार्थयुक्ता ।

आनन्दकर्त्री त्वसती च पुष्पवती क्रमाद्भास्करवासरेषु ॥”

भास्करवासरेष्वित्यत्र—“अर्धर्चाः पुंसि च” इत्यादिना बहुवचनाद्य-  
र्थोऽवगम्यते । तेन भास्करवासरादिष्वित्यर्थः फलितः ।

लग्नफलानि—

सत्तनौ समीचीनलग्ने शुभस्वाभिकराशावित्यर्थ इति केचित् । तत्र  
शुभफलमाद्यं रजः । यदाह नारदः—“कुलोरवृषं चापान्त्यनृयुक्कन्यातुला-  
धराः । राशयः शुभदा ज्ञेया नारीणां प्रथमार्त्तने ॥” केचित्तु सत्तनौ  
सद्भिर्दृष्टे तनौ युते वा इति व्याख्यां कुर्वते । तदुक्तं दैवज्ञमनोहरे—

“मेघे सव्यभिचारा स्याद्वृषभे परभोगिनी ।

मिथुने धनभोगाढ्या कर्कटे व्यभिचारिणी ॥

पुत्राढ्या सिंहराशौ तु कन्यायां श्रीमती भवेत् ।

विचक्षणा तुलायां च वृश्चिके तु पतिव्रता ॥

दुश्चारिणी धनुःपूर्वे अपरे च पतिव्रता ।

मकरे मानहीना च कुम्भे निर्धनबन्धुता ॥

मीने विलक्षणा लग्ने ग्रहसंस्था विवाहवत् ॥”

अशुभपुष्पापवादः—

अत्राशुभफलापवादमाह वसिष्ठः—“अशुभमपि समस्तं चार्त्तवं सं-  
प्रभूतं सुरगुरुसितयुक्ते वीक्षिते वाथ लग्ने । तिमिरमिव कठोरज्योति-  
रूपत्तिकाले क्षयमथ समुपैति प्राप्नुयादीप्सितानि ।” कठोरज्यो-  
तिः सूर्यः ।

तत्र प्रातः सायंकालावेव श्रेष्ठौ—

दिवा दिवसे आद्यं रजः शुभं—“मलिनी मन्दवारे तु रात्रावपि तथैव



च" इति नारेदोक्तैः । दिवा रजोदर्शनं शुभमित्यर्थः । स्मृत्यन्तरेपि विशेष उक्तः—“प्रातःकाले तु सधना सायाह्ने सर्वभोगिनी । मध्याह्ने च भवेद्वेश्या निशीथे विधवा भवेत् ॥” इति ॥ १ ॥

अथ प्रथमे रजोदर्शने शुभनक्षत्राण्यनुष्ठुभाह—

श्रुतित्रयमृदुक्षिप्रध्रुवस्वातौ सिताम्बरं ।

मध्यं च मूलादितिभे पितृमिश्रे परेष्वसत् ॥ २ ॥

श्रुतित्रयेति । श्रुतित्रयं श्रवणधनिष्ठाशतभिषाः, मृदुक्षिप्रध्रुवाणि चित्रानुराधामृगरेवत्यश्विनीपुष्यहस्तरोहिण्युत्तरात्रयस्वातीषु भेषु आद्यं रजः शुभमिति पूर्वेण सम्बन्धः । अत्र समाहारद्वन्द्वः आगमशासनस्यानित्यत्वान्नुमभावः । मूलेति । मूलपुनर्वसुमघाविशाखाकृत्तिकासु मध्यं मध्यमफलम् । परेषु भरणीज्येष्ठादार्द्राश्लेषापूर्वात्रयेषु असदनिष्टफलम् ।

नक्षत्रानुरोधेन फलानि रजोदर्शने—

उक्तं च गर्गेण—

“सुभगा चैव दुःशीला बन्ध्या पुत्रसमन्विता ।

धर्मयुक्ता व्रतघ्नी च परसन्तानमोदिनी ॥

सुपुत्रा चैव दुष्पुत्रा पितृवेश्मरता सदा ।

दीना प्रज्ञावती चैव पुत्राढ्या चित्रकारिणी ॥

साध्वी पतिव्रता नित्यं सुपुत्रा कष्टचारिणी ।

स्वकर्मनिरता हिंसा पुत्रपौत्रादिसंयुता ॥

नित्यं धनकथासक्ता पुत्रधान्यसमन्विता ।

मूर्खार्थाढ्या गुणवती दक्षदादिः क्रमात्फलम् ॥” इति ।

व्यवहारनिबन्धे श्रीपतिनापि—

“करादिपञ्चोत्तरमूलपूषविष्णुत्रयाश्वीज्यविधीन्दुभेषु ।

आद्यं रजः सौख्यसुतायुरर्थसौभाग्यवृद्धिं कुरुते गनानाम् ॥

मघेशयोः शोकमथादितेभ्यो सा बन्धकोन्द्रेप्यनले दरिद्रा ।

पूर्वात्रये याम्यभुजङ्गधिष्ण्ये वैधव्यमस्या भवतीति नूनम् ॥”

अत्र यद्यपि लिखितयोर्द्वयोरपि सम्मतिवाक्ययोरैकार्थ्यम् । तथापि

ग्रन्थकृता विशाखामूलयोर्मध्यत्वाभिधानं वसिष्ठवाक्यस्यानुरोधात्क-

तम् । उक्तं च वसिष्ठेन—“द्विदैवमे पुष्पवती प्रमत्ता कृत्यैव मोघा-  
मयवैरिसन्धा । मूले प्रकामाधिकहीनसत्त्वा स्यात्सर्वभक्षोद्धतदोषचि-  
त्ता ॥ ” इति ।

तदाधृतवस्त्रवर्णेन शुभाशुभफलानि ।

सिताम्बरे श्वेतवस्त्रे आद्यं रजः शुभमिति पूर्वेण सम्बन्धः । उप-  
लक्षणं चैतत्क्षौमनूतनवस्त्रयोः । अर्थादन्येषु दुष्टेषु वस्त्रेषु रजोद-  
र्शनं निन्द्यमित्यर्थः । तदाह वसिष्ठः—

“सुभगा श्वेतवस्त्रा स्याद्दृढवस्त्रा पतिव्रता ।  
क्षौमवस्त्रा क्षितीशा स्यान्नववस्त्रा सुखान्विता ॥  
दुर्भगा जीर्णवस्त्रा स्याद्रोगिणी रक्तवाससा ।  
नीलाम्बरधरा नारी विधवा पुष्पिता यदि ॥  
मलिनांबरतो नारी दरिद्रा स्याद्रजस्वला ।”

क्षौमवस्त्रं पट्टवस्त्रम् । क्वचिद्रक्तबिन्दुभिः फलमुक्तम्—“वस्त्रे  
स्युर्विषमा रक्तबिन्दवः पुत्रमाप्नुयात् । समाश्चेत्कन्यका चेति फलं  
स्यात्प्रथमार्त्तवे ॥ ” इति वसिष्ठोक्तेः । अन्यच्च—“सम्मार्ज-  
नी काष्ठतृणान्निशूर्पान् हस्ते दधाना कुलटा तदा स्यात् । तल्पो-  
पभोगै रहसि स्थिता चेद्दृष्टं रजो भाग्यवती तदा स्यात् ” ॥ २ ॥

अथ निन्द्यरजोदर्शनं शालिन्याह—

भद्रानिद्रासंक्रमे दर्शरिक्ता-

सन्ध्याषष्ठीद्वादशीवैधृतेषु ।

रोगेऽष्टम्यां चन्द्रसूर्योपरागे

पाते चाद्यं नो रजोदर्शनं सत् ॥ ३ ॥

भद्रेति । भद्रा प्रसिद्धैव, निद्रा स्वापः, संक्रमः संक्रातिः, दर्शोमावा-  
स्या, रिक्ताः प्रसिद्धाः, सन्ध्याः प्रातःसन्ध्या मध्याह्नसन्ध्या सायंसन्ध्या च,  
षष्ठीद्वादश्यौ प्रसिद्धे, वैधृताख्यः सप्तविंशतिमो योगः, रोगो ज्वरादिः  
प्रदरादिश्च, अष्टमी, चन्द्रसूर्योपरागो ग्रहणम्, पातो व्यतिपातः सप्तदशो  
योगो महापातश्च, एषु दुष्टयोगेष्व्याद्यं रजोदर्शनं नो सत्, अनिष्टफलद-



मित्यर्थः । यदाह कश्यपः—अष्टमीषष्ठ्यमा रिक्ता द्वादशी संक्रमेपि वा । वैधृतौ व्यतिपाते च ग्रहणो चन्द्रसूर्ययोः ॥ विष्ट्यां सन्ध्यासु निद्रायां दुर्भगा प्रथमार्त्तवे ॥ ” नारदेन तु प्रतिपत्तिथिः परिघपूर्वाद्धं च निषिद्धम्—“अमारिकाष्टमीषष्ठीद्वादशीप्रतिपत्स्वपि । परिघस्य तु पूर्वाद्धं व्यतिपाते च वैधृतौ ॥ सन्ध्यासूपप्लवे षष्ठ्यामशुभं प्रथमार्त्तवम् ॥ ” रोगे सम्मतिर्नास्ति ।

वसिष्ठेन तु स्थलभेदेन फलविशेषोभिहितः—

“ग्रामाद्बहिः परग्रामे वा चेत्स्याद्वयभिचारिणो ।

पतिव्रता पतिस्थाने सुशोला गृहमध्यमे ॥

ग्राममध्ये च वृद्धिश्च विधवा च दिगम्बरा ।

उपरागे च दुःशोला आयुष्यं जलसन्निधौ ॥

धनमध्ये तु कन्यायां धनधान्यसमृद्धिदा ॥ ”

प्रथमार्त्तवे स्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः ।

तत्र मातृप्रश्नलङ्घनात्फलानि—

अत्र रजस्वलायाः कन्यायाः मात्रादिद्विप्रश्नलङ्घनाच्छुभाशुभविशेषो भूयान् वसिष्ठेनोक्तः । सोऽस्माभिर्ग्रन्थबाहुल्यभयान्नालेखि । स तत एवावधार्यः ॥ ३ ॥

अथ प्रथमरजस्वलायाः स्नानमुहूर्तं वसंततिलकयाह—

हस्तानिलाशिवमृगमैत्रवसुध्रुवाख्यैः

शाक्रान्वितैः शुभतिथौ शुभवासरे च ।

स्नायादथार्तववती मृगपौष्णवायु-

हस्ताशिवधातृभिररं लभते च गर्भम् ॥ ४ ॥

हस्तेति । हस्तस्त्रात्यश्विनोमृगानुराधाश्रनिष्ठारोहिण्युत्तराश्रयज्येष्ठाभिः शुभतिथौ भद्रानिद्रासंक्रमे इत्याद्यनिष्ठदिनव्यतिरिक्तदिवसे शुभवारे शुभानां चंद्रबुधगुरुशुक्राणां वासरे च । आर्तववती ऋतुरेवार्तवम् । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण् । तद्विद्यते यस्याः सा तथोक्ता सा रजोवती स्नायात् ।

उक्तं च दैवज्ञवल्गमे—“ब्रह्मानुराधाशिवनिसोमभेषु हस्तानिलाखण्डल-  
वासवेषु । विश्वार्यमर्क्षोत्तरभाद्रभेषु वरांगनास्नानविधिः प्रदिष्टः ॥”  
आखण्डलो ज्येष्ठा वासवं धनिष्ठेत्यपुनरुक्तिः ।

वारफलानि प्रथमरजस्वलास्नाने—

वारफलमपि तत्रैव—“सरूपपतिव्रता दीना पुत्रिणी भोगभागिनी ।  
पतिव्रता क्लेशयुक्ता ऋतुस्नानेऽर्कवारतः ॥” इति ।

प्रसूतास्नानफलं प्रसङ्गात्—

केचिद्वन्यथा वारफलं वदन्ति—“काकीव वन्ध्या भवतीह शुक्रं  
नष्टप्रजा स्नानविधौ बुधे च । सौरे च मृत्युः पयसोलपतेन्दौ भौमार्क-  
जीवे बहुपुत्रलाभः ।” इति । एतत्प्रसूतास्नानविषयम् । तदुक्तं दैवज्ञव-  
ल्गमे—“स्नाता प्रसूताप्यसुता बुधेन स्नाता च वन्ध्या भृगुनन्दनेन । सौरे  
मृतिः क्षीरद्वतिस्तु सोमे पुत्रार्थलाभो रविजीवभौमे” इति ।

प्रथमरजस्वलास्नाने नक्षत्रविशेषः—

विशेषमाह—मृगेति । मृगरेवतीस्वातोहस्ताश्विनीरोहिणीभिर्नक्षत्रैः  
स्नातार्चवती अरं शीघ्रं गर्भं लभते । तदुक्तं दैवज्ञमनोहरे—“वायुः  
पूषा च सौम्यश्च करो ब्रह्मा तथाश्विनी । एभिः स्नाने तु नारीणां गर्भः  
सम्पद्यते पुनः ॥” इति । अत्रैकादशनक्षत्राणि स्नानविधायुक्तानि ।  
तत्रापि षट्सु भेषु शीघ्रं गर्भोत्पत्तिर्भवेत् । अन्येषु किञ्चिद्विलम्बेने-  
त्यर्थः । सर्वथा विहितमिन्नेषु स्नानं न कार्यमिति निष्कृष्टोर्थः ।  
उक्तं च—“कृत्तिका भरणी मूलमार्द्रा पुष्यः पुनर्वासुः । मघा चित्रा  
विशाखा च श्रवणो दशमस्तथा । एताः प्राणहरास्तारास्तासु स्नानं न  
कोरयेत् । यदि स्नानं प्रकुर्वीत पुनः सूतिर्न विद्यते ॥” इति । अर्था-  
च्छ्रुतताराश्लेषापूर्वात्रयेषु मध्यममिति । इयं च देशाचारतो व्यवस्था-  
नुसंधेया । शिष्टाचारस्यापि स्मृतिवत्प्रामाण्यात् । दाक्षिणात्यास्तु चतुर्थं  
एव दिवसे स्नानमाहुः । चतुर्थऽहनि शुच्यति” इति । “भर्तुः स्पृश्या  
चतुर्थेहि स्नानेन स्त्री रजस्वला” इति स्मृतिवचनात् ॥ ४ ॥

गर्भाधानमुद्भूतं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

गण्डान्तं त्रिविधं त्यजेन्निधनजन्मर्क्षे च मूलान्तकं  
दास्यं पौष्णमथोपरागदिवसं पातं तथा वैधृतिम् ।



पित्रोः श्राद्धदिनं दिवा च परिधायार्धं स्वपत्नीगमे  
भान्युत्पातहतानि मृत्युभवनं जन्मर्क्षतः पापभम् ॥ ५ ॥

गण्डान्तमिति । तत्र स्वपत्नीगमे स्वपत्नीगमने एतान्दोषान् त्यजे-  
दिति सर्वत्र सम्बन्धः । एतान्कान् । त्रिविधं गण्डान्तम्, गण्डान्तल-  
क्षणं रत्नमालायाम्—“नक्षत्रतिथिलग्नानां गण्डान्तं त्रिविधं स्मृतम् ।  
नवपञ्चचतुर्थानां ह्येकाद्विधटिकामितम् ॥” इति । निधनं जन्म-  
र्क्षतः सप्तमं वधतारां जन्मनक्षत्रं मूलमन्तकं भरणीं दास्यमश्विनीं  
पौष्णं रेवतीं मघाम् उपरागदिवसं ग्रहणदिनं पातं व्यतीपातं महा-  
पातं च वैधृतियोगं पित्रोः मातापित्रोः श्राद्धदिनं दिवा सूर्यावच्छिन्न-  
कालं परिधयोगस्य पूर्वार्द्धं तथोत्पातैर्दिव्यान्तरिक्षभोमैस्त्रिविधैरुत्पा-  
तैर्हतं दूषितं जन्मर्क्षतः जन्मलग्नाज्जन्मराशेर्वा मृत्युभवनमष्टमं लग्नं  
पापभं पापग्रहयुक्तं नक्षत्रं लग्नं वा इति ।

दुष्टतिथ्यादौ रजोदर्शने शान्तिः रजोन्तरप्रतीक्षा च—

अत्र यदि दुष्टफलतिथ्यादिषु रजोदर्शनमभूत् तत्र चतुर्थदिनानन्तरं  
शान्तिकं विधेयम् । यदाह वसिष्ठः—

“प्रभूतदोषं यदि दृश्यते तत्पुष्पं ततः शान्तिककर्म कार्यम् ।

विवर्जयेदेव तदैकशय्यां यावद्रजोदर्शनमन्यघस्त्रे ॥

ईशानतो गोमयमण्डलेन परिसृतेष्वौ जुहुयात्सदूर्वाम् ।

युग्मां घृताक्तां च समित्प्रमाणां गायत्रिकां साष्टसहस्रसंख्याम् ॥

शतप्रमाणामथवाघहन्त्रीं शुभैर्यवैर्व्याहृतिभिस्तिलैश्च ।

ततः सुरान् भूमिसुरान् पितृंश्च सन्तर्पयेदन्नसुवर्णचक्षुः ॥” इति ।

शान्तिकप्रकारस्तु शान्तिपद्धत्यादौ द्रष्टव्यः । एवं शान्तिकं वि-  
धाय गर्भाधानं विधेयम् ॥ ५ ॥

अन्यदपि शालिन्याह—

भद्रावष्टीपर्वरिक्ताश्च सन्ध्या-

भौमार्कार्कीनाद्यरात्रीश्चतस्रः ।

गर्भाधानं ऽपुत्तरेन्द्रकर्मैत्र-

ब्राह्मस्वातीविष्णुवस्वम्बुपे सत् ॥ ६ ॥

अद्रेति । अद्रा प्रसिद्धा, षष्ठी तिथिश्च, पर्वाणि चतुर्दश्यष्टम्यमा-  
घास्यापूर्णिमासंक्रमणानि । उक्तं च विष्णुपुराणे—“चतुर्दश्यष्टमी चैव  
ह्यमावास्या च पूर्णिमा । पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च ॥”  
इति रिक्ताश्चतुर्थीतवमीचतुर्दश्यः, सन्ध्यां प्रातःसन्ध्यां सायंसन्ध्यां च,  
भौमं मङ्गलवारम्, अर्कमादित्यवारम्, आर्किं शनैश्चरवारं, चतस्रः  
आद्यरात्री रजोदर्शनदिनमारभ्य दिनचतुष्टयं च तत्र त्यजेदित्यर्थः ।

तदनन्तरमपि पुत्रार्थी रजोदर्शनतो विषमदिवसं त्यजेत् । उक्तं च  
गर्भाधानाध्याये वसिष्ठेन निषेधजातं—

“पौष्णद्वये पित्र्यभयाभ्यसार्पविष्णुद्वये नैधनजन्मभेषु ।

उत्पातपापग्रहदूषितेषु न कार्यमाधानमनिष्टलग्ने ॥

उपपुत्रे नैधृतपातयोश्च विष्ट्यां दिवा पारिघपूर्वभागे ।

सन्ध्यासु पर्वस्वपि मातृपित्रोर्मृतेहि पत्नीगमनं विवर्ज्यम् ॥

दिनेषु युग्मेषु च वक्ष्यमाणयोगैः सुतार्थी स्वसतीमुपेयात् ।

दिनेष्वयुग्मेषु च कन्यकार्थी हित्वा च गण्डांस्तिथिलग्नभानाम् ॥” इति ।

वक्ष्यमाणयोगैः पुंगुयोगैः स्त्रीयोगैश्च । अत्र ग्रन्थकृता श्रवणधनिष्ठयोनं  
निषेधः कृतः । वार्हस्पत्यसंहितायां तयोर्विशेषतो विहितत्वात् । तद्व-  
चनमधुनैव वक्ष्यते । ननु षोडशीग्रहणवद्विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः  
कस्मान्न भवति, सत्यम् । बहूनामनुरोधो न्याय्य इति विधिरेवोचितः ।  
अत एवोक्तं नारदेन—“शुचिर्भूत्वा युग्मतिथावनग्नां कामयेत्त्रि-  
याम् । पुत्रार्थी पुरुषस्त्यक्त्वा पौष्णमूलाहिपित्र्यभम् ॥” इति ।  
“त्यक्त्वा पर्वतिथिं मूलमाश्लेषापितृभं त्विति ॥” इति काश्यपोक्तेः ।

तिथ्यादयो गर्भाधाने—

अथ एव बृहस्पतिसंहितायाम्—“शेषारपृक्षाणि दुष्टानि स्यु-  
निषेकाख्यकर्मणि” इत्युक्तम् । तिथ्यादयः कश्यपेन कालविधाने  
उक्ताः—“षष्ठ्यष्टमीं पञ्चदशीं चतुर्थीं चतुर्दशीमप्युभयत्र हित्वा ।  
शेषाः शुभाः स्युस्तिथयो निषेके वाराः शशांकाऽऽर्यसितेन्दुजाना-  
म् ॥” इति । अत्र वाक्ये चन्द्रबुधगुरुशुक्रवारा निषेककार्यं शुभा



उक्ताः । अर्थादन्ये सूर्यभौमशनिवारा निषिद्धाः । उक्तं च कालनिर्णये—“रिक्ता पर्वाष्टमी षष्ठी दिवा जन्मत्रयं तथा । पापग्रहाणां वाराश्च त्याज्याश्चैवानृतौ गतिः । सोमश्चगुरुशुक्राणां वारवर्गोदयाः शुभाः । तेषां च दृष्टयश्चैव नेतरेषां कदाचन ॥ ” इति । अत्र केचिन्निषेधे पुंवारा उक्तमाः स्त्रीवारौ मध्यमौ नपुंसकवारौ निषिद्धौ । उक्तं च व्यासेन—“पुरुषग्रहवाराः स्युः शुभाः सीमंतकर्मणि । मध्यौ स्त्रीग्रहवारौ तु वर्ज्येतु नपुंसकौ ॥ ” इति । अत्र सीमन्तग्रहणमुपलक्षणं गर्भाधानस्येत्याहुः ।

तत्र वारविषये विशेषः—

युक्तं चैतत् पुंस्त्रीवारेषु स्त्रीगमने पुरुषाः स्त्रियो वोत्पद्यन्ते इति तावदिष्टम् । नपुंसकवारगमने तु नपुंसकस्योत्पत्तिः स्यात् । नहि सा कस्यचिदिष्टा भवेदिति नपुंसकबुधवारनिषेध एवोचितः । शनिनिषेधस्तूभयवादिसिद्ध एव, दाक्षिणात्यशिष्टसमाचाराच्च । अतो बुधशन्योरेव निषेधोऽन्येषां ग्रहणमिति प्रतीमः । प्राच्यास्तु नैतत्सहन्ते । तन्मते तु सूर्यभौमशनीनामेव निषेधः । नारदः—“रजोदर्शनतोऽस्पृश्या नार्यो दिनचतुष्टयम् । ततः शुद्धाः क्रियास्त्वेताः सर्ववर्गोप्ययं विधिः ॥ ”

रजस्वलाशुद्धिकालः—

अत्रार्थवादमाह भरद्वाजः—“प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातकी । तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति ॥ ” धर्मशास्त्रेऽपि—“भर्तुः स्पृश्या चतुर्थेऽहनि स्नानेन स्त्री रजस्वला । पञ्चमेहनि योग्या स्याद्वैद्ये पित्र्ये च कर्मणि ॥ तस्मादेतावतो दोषास्त्यक्त्वा स्त्रीगमनं हितम् ॥ ” इति ।

गर्भाधानकालावधिः—

ऋतुकालावधिमाह याज्ञवल्क्यः—“षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत् । युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ॥ ” अतः षोडशदिनमध्ये गर्भाधानं विधेयम् । तत्रैव गर्भसम्भवात् । तत्र वाराः समीचीनाः प्रागुक्ता एव ।

गर्भाधाने नक्षत्राणि—

अधुना नक्षत्राण्यह—गर्भाधानमिति । उत्तरात्रयमृगहस्तानुरा-  
धारोहिणीस्वातिश्रवणधनिष्ठाशततारकासु गर्भाधानं सत् शुभम् ।  
उक्तं च बार्हस्पत्यसंहितायाम्—“ हरिहस्तानुराधाश्च स्वातीवारुण-  
वासवम् । उत्तरात्रितयं सौम्यं रोहिणी च शुभाः स्मृताः ॥ आधाने  
मूलसार्पात्यमशुभं सममन्यभम् । ” इति । एवं विहितनक्षत्रे सति  
चन्द्रबले गर्भाधानार्थं सकृदेव पत्नीगमनं कार्यमित्याह याज्ञवल्क्यः—  
“एवं गच्छेन्नियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् । सुस्थिरैर्दौ सकृत्पुत्रं  
लक्ष्मणं जनयेत्पुमान् ॥ ” चकारादेवतीम् । भीमपराक्रमोपि—  
“पिङ्गं पौष्णं नैऋतं चापि धिष्ण्यं त्यक्त्वा नारीं सुप्रसन्नः प्रसन्नाम् ।  
पुष्टः क्षामां पुत्रकामोभिगच्छन्सल्लक्ष्मणं पुत्रमाप्नोति पुण्यम् ॥ ” इति ।

मन्त्रपूर्वकमेव कार्यः स्त्रिया संगमः—

तच्च गमनं मन्त्रपूर्वकम् । तदुक्तं विष्णुपुराणे—“ ऋताबुपगमः  
शस्तः स्वपत्न्यां मन्त्रतो द्विज । ” इत्युक्तेरिदं त्रैवर्णिकविषयं प्रतीयते ।  
मन्त्रास्तु विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्येवमादयः । एतैर्मन्त्रैर्दक्षिणेन पाणि-  
नोपस्थमभिमृशेदिति गोभिलोक्तेः ॥ ६ ॥

अथ गर्भाधाने लग्नबलमिन्द्रवज्रयाह—

केन्द्रत्रिकोणेषु शुभैश्च पापै-

स्यायारिगैः पुं ग्रहदृष्टलग्ने ।

ओजांशगेऽब्जेऽपि च युग्मरात्रौ

चित्रादितीज्याशिवेषु मध्यमं स्यात् ॥ ७ ॥

केंद्रेति । अथ सामान्यतः शुभलग्नानि वसिष्ठोक्तानि—वृषमिथुन-  
कर्कसिंहकन्यातुलाधरचापभूषाः शुभा भवन्ति । यदि शुभफलशा-  
लिनोनुकूला निधनविशुद्धियुता निषेककाले ॥ ” इति । तत्र केन्द्रत्रिको-  
णेषु लग्नचतुर्थसप्तमदशमपञ्चमनवमस्थानस्थितैः शुभग्रहैस्तथा ज्याया-  
रिगैस्तृतीयैकादशषष्ठस्थानस्थितैः पापग्रहैरुपलक्षिते पुं ग्रहैः सूर्यभौम-  
गुरुभिर्दृष्टे लग्ने तथौजांशगे इन्दौ, विषमराशिर्मेषमिथुनादिरंश ओ-



जादिरेव । तत्र स्थिते चन्द्रे सति युग्मरात्रौ गर्भाधानं कार्यम् । यदा-  
ह जगन्मोहने वसिष्ठः—केंद्राग्निकोरोषु शुभस्थितेषु लग्ने शशांके च  
शुभैः समेते । पापैस्त्रिलाभारिगतैश्च यायात्पुंजन्मयोगेषु च संप्रयोग-  
म् ॥ ” नारदः—“ओजराश्यंशगे चन्द्रे लग्ने पुंग्रहवीक्षिते ।  
शुचिर्भूत्वा युग्मतिथौ ह्यनग्रां कामयेत्प्रियाम् ॥ ” इति । पुंग्रहानाह  
नारदः—“पुंग्रहाः सूर्यजीवाराः स्त्रीग्रहौ शशिभार्गवौ । नपुंसकौ  
सौम्यसौरी शिरोमात्रं विधुस्तुदः ॥ ” इति ।

पुंनपुंसकयोगः—

अत्र पुंनपुंसकयोगा वसिष्ठोक्तोक्तः—

“आधानलग्ने विषमांशराशौ जीवन्द्वाभ्यां युतवीक्षिते वा ।

नान्यैः सपुत्रस्त्वथ पापखेटैः पापी च मिश्रैर्यलिभिश्च मिश्रः ॥

ओजक्षांशे लग्नगे वीर्ययुक्ते जीवेद्वकैरोजराश्यंशसंस्थैः ।

पुंजन्म स्याद्व्यत्यये कन्यका स्यान्मिश्रैः षण्डो(१) द्व्यंगगैर्द्वित्रिजन्म ॥

ओजांशकक्षाद्विषमर्तसंस्थः पुंजन्मकारी रविसूनुरेकः ।

विचार्य वीर्यं पुंषग्रहाणां वाच्योथ पुत्रस्त्वथ पुत्रिका वा ॥

पापैश्च शेषं सुविचित्य वाच्यम् ” इति ।

एवमन्येपि पुंजन्मादियोगा जातके द्रष्टव्याः । एषु यस्मिन्क-  
स्मिन्पुंजन्मयोगे पुत्रार्थी युग्मरात्रौ पत्नीं गच्छेत् इति फलितोर्थः ।

गर्भाधाने मध्यमनक्षत्राणि—

गर्भाधाने विहितनक्षत्राप्राप्तौ मध्यमनक्षत्राण्याह—चित्रेति ।

चित्रापुनर्वसुपुष्याश्विनीषु तद्गर्भाधानं मध्यमं मध्यमफलदमित्यर्थः ।

यदाह बृहस्पतिः—“चित्रादित्ये तथा तिव्यतुरगौ चेति मध्य-  
माः । शेषारयुक्ताणि दुष्टानि स्युर्निषेकाख्यकर्मणि ॥ ” इति ।

तत्र विहितषोडशदिनातिक्रमेषु न तत्कालप्रतीक्षा कार्या—

तत्र केचित्—दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबन्धान्मर्तुरसन्निधाने अनेकेषु  
श्रुतषु व्यतीतेषु गर्भाधानाख्यः संस्कारो नाभूत्तदानीं दैवान्मध्ये भर्ता  
समागतश्चेत्तदा दक्षिणायनशुक्रगुर्वस्तन्यूनाधिमासादिमहादोषसद्भावे  
गर्भाधानं नैव भवतीत्याहुः । अतीतकालत्वात्, यथा कालातीतेषु जात-  
कर्मनामकर्मात्रप्राशनचौलादिसंस्काराः पूर्वोक्तदोषसद्भावे नैव भव-

(१) षण्डो नपुंसकः ।

न्ति । उक्तं च वसिष्ठेन—“अतीतकालान्यखिलानि यानि कार्याणि सौम्यायनगे दिनेशे । गुरौ भृगौ वाप्यथ दृश्यमाने तदुक्तपञ्चांगदिने-  
प्यखण्डे ॥” इति । सत्यपि नृणामतिक्रमे—“निमित्तान्तरमेवाने-  
मित्तिकम्’ इति न्यायेन—“षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु  
संविशेत्’ इति याज्ञवल्क्यवचसा षोडशदिनातिक्रमे ऋत्वन्तरमपेक्ष्य  
प्रागुक्तदिशा कालशुद्धिं विचार्य कार्यमेव । तदा बहुकालव्यापिनी  
कालशुद्धिरुपेक्ष्यैव । यतो विज्ञानेश्वरेण—‘तस्मिन्युग्मासु संविशेत्’  
इति व्याख्यावसरे किमयं विधिर्नियमः परिसंख्या वेति त्रयः पक्षा  
उपन्यस्ताः । तत्र स्त्रीगमने रागत एव प्रवृत्तेर्नियम एवायमिति सिद्धान्ति-  
तम् । अतो ‘गच्छेद्देव’ इति यमस्मरणात् ‘ऋताबुपेयात्सर्वत्र वा प्र-  
तिषेधवर्ज्यम्’ इति गौतमस्मरणात् ।

ऋतुस्नातायां सङ्गमाकरणे—

ऋत्वगमने प्रत्यवायोऽपि स्मर्यते—“ऋतुस्नातां तु यो भार्यां  
सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥”  
इति शातातपोक्तेः । अत एवैतद्दूषणभयादेवाधिकारिणा पित्रादिना  
कन्या गुणवते वरायावश्यं देयेत्याह याज्ञवल्क्यः—“पिता पितामहो  
भ्राता कुल्यो वा जननी तथा । कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः  
परः । अप्रयच्छन्नशप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ॥” इति । विशेषोक्तिः कैमु-  
तिकन्यायसूचनार्थम् । तत्र पित्रादेरदातुश्चेदयं दोषस्तदा भर्तुरयं दोषो  
भवत्येवेति किं वाच्यमित्यर्थः । भ्रूणो गर्भः ।

गर्भाधानानन्तरकर्तव्यम्—

गर्भाधानं विधाय पुंसा निद्रासमये किं कार्यमित्याह विष्णुः—

“निद्रासमयमासाद्य ताम्बूलं वदनात्प्रजेत् ।

पर्यङ्गात्प्रमदां मालां पुण्ड्रं पुष्पाणि मस्तकात् ॥” इति ।

गर्भधारणज्ञानविचारे समाधानमन्यत्र—

अथानया गर्भो धृतो नवेति प्रश्ने गर्भधारणयोगा जातके द्रष्ट-  
व्याः । प्रस्तुतेऽप्रसङ्गान्न लिख्यतेऽस्माभिः ॥ ७ ॥

( इति गर्भाधानं समाप्तम् )



अथ प्रसिद्धे गर्भे सीमन्तोन्नयनाख्यसंस्कारमुद्धृतं शार्दूलविक्री-  
डितेनाह—

जीवार्कारदिने मृगेज्यनिर्ऋतिश्रोत्रादितिब्रध्नभै  
रिक्तामार्करसाष्टवर्ज्यतिथिभिर्मासाधिपे पीवरे ।  
सीमन्तोऽष्टमषष्ठमासि शुभदैः केन्द्रत्रिकोणे खलै-  
र्लाभारित्रिषु वा ध्रुवान्त्यसदहे लग्ने च पुंभांशके ॥८॥

जीवार्कंति । जीवो बृहस्पतिः, अर्कः सूर्यः, आरौ मङ्गलः, एषां  
वारे । तथा ब्रध्नः सूर्यः । ‘भास्कराहस्करब्रध्न’ इत्यभिधानात् । तस्य  
भं हस्तः, अन्यत्स्पष्टं नामत एव । एवं मृगपुष्यमूलश्रवणपुनर्वसुहस्त-  
नक्षत्रैः सीमन्तोन्नयनाख्यः संस्कारः कार्यः । सीमन्त उन्नीयते यस्मि-  
न्कर्मणि तत्सीमन्तोन्नयनमिति शब्दव्युत्पत्तिः । सीमन्तः केशभागः ।  
उक्तं च सीमन्ताध्याये कश्यपेन—“शुक्रपक्षादिदिवसं रिक्तां पर्वस्य म-  
ध्यमम् । तिथिं त्यक्त्वा र्कभूसूनुसुरेज्यानां च वासरे ॥” इति । रत्नमाला-  
याम्—“श्रवणः सकरः पुनर्वसुर्निर्ऋतेर्भं च सपुष्यको मृगः । रविभू-  
सुतजीववासराः कथिताः पुंसनादिकर्मसु ” । आदिशब्देन सीमन्तोन्न-  
यनादिः । व्यासः—“पुरुषग्रहवाराः स्युः शुभाः सीमन्तकर्मणि । मध्यौ  
स्त्रीग्रहवारौ तु वर्जयेत्तु नपुंसकौः” इति । तत्र तिथयो निषिद्धा उच्यन्ते ।  
रिक्तेति । रिक्ताः प्रसिद्धाः, अमा अमावास्या, अर्कः द्वादशी, रसाः  
षष्ठी, अष्टमी एताभिस्तिथिभिर्वर्ज्या न्यना अवशिष्टा यास्तिथयस्ताभि-  
रुपलक्षिते दिने । यदाह गुरुः—“पक्षच्छिद्रां च रिक्तां च विना पञ्चद-  
शीं शुभाः । चतुर्दशी चतुर्थी च कदाचित्तु शुभप्रदे ॥ शुभसंस्थे निशा-  
नाथे चतुर्थी च चतुर्दशीम् । पौर्णमासीं प्रशंसन्ति केचित्सीमन्तक-  
र्मणि ॥” इति ।

किं च मासाधिपे मासेषु इत्यग्निमश्लोकेन ज्ञाते गर्भमासस्वामि-  
नि पीवरे पुष्ट उदिते सतीत्यर्थः । यदाह नारदः—“चतुर्थे मासि षष्ठे  
वाप्यष्टमे वा तद्देश्वरे । बलोपपन्ने दंपत्योश्चन्द्रताराबलान्विते ॥” क-  
श्यपोपि—‘मासेश्वरे बोलोपेते नास्तगे न पराजिते’ इति । यदि  
मासाधिपो निर्बलस्तदा दोष इत्याह गर्गः—“यस्य मासाधिपो रि-

को नीचो वास्तङ्गतोपि वा । तस्मिन्मासे क्षयं याति प्रसन्नो वा भविष्यति ” ।

तत्र षष्ठाष्टमादिमासाः—

स च सीमन्तो गर्भधारणसमयादष्टमषष्ठमासि अष्टममासि षष्ठमासि वा कार्यः । अयं चेच्छ्रयो विकल्पः ‘षष्ठेष्टमे वा मासि’ इति याज्ञवल्क्योक्तेः । नारदीये चतुर्थोपि मासोभ्यधायि तद्वाक्यं प्रदर्शितं शौनकेनापि—“चतुर्थे गर्भमासे स्यात्सीमन्तोन्नयनक्रिया । षष्ठेष्टमे वा कुर्वीत सूत्रांतरविधानतः ॥” सूत्रांतरं स्वस्वगृह्यसूत्रम् । एवं स्वेच्छ्रयोक्तमासे एव विधेयम् ।

शुक्लपक्षे पूर्वाहणे सीमन्तः—

तच्च शुद्धपक्षे पूर्वाहणे एव नापराहणे । यदाह नारदः—“शुक्ले पक्षे च पूर्वाहणे सीमन्ताख्यो विधिः स्मृतः ” इति । बृहस्पतिरपि—“पूर्वपक्षः शुभः प्रोक्तः कृष्णश्चान्त्यत्रिकं विना । पूर्वाहणे एव तत्रापि नापराहणे कथंचन ॥” इति ।

तत्र लग्नम्—

लग्नमुच्यते—केंद्रेति । केंद्रत्रिकोणस्थानेषु १ | ४ | ७ | १० | ६ | ५ | शुभदैः सौम्यग्रहैस्तथा लाभारित्रिषु ११ | ६ | ३ | खलैः पापग्रहरूपलक्षिते लग्ने तत्रापि च पुनः पुंभांशके पुरुषराशिलग्नौ पुरुषनवांशके च कार्यः यदाह वसिष्ठः—“केंद्रत्रिकोणोपगतैश्च सौम्यैर्दुश्चिक्क्यलाभारिगतैश्च पापैः । षडष्टलग्नांत्यविवर्जितेन्दौ सीमन्तकार्यं शुभदं तथैव ॥” इति । रत्नमालायाम्—“षष्ठे मास्यथवाष्टमे तदधिपे वीर्योपपन्ने विधौ चेष्टैर्दृष्टतनौ नृनामवभवने पुंलग्नभागेषु च । धीधर्माख्यचतुष्टयेपि च गुरौ पापैश्च तद्वाह्यगैर्मृत्युद्वादशवर्जितैश्च मुनिभिः सीमन्तकर्म स्मृतम् ” । अत्र विशेषमाह कश्यपः—“चन्द्रोपि शुभदो ज्ञेयस्त्यक्त्वा षष्ठाष्टमव्ययान् । सीमन्तलग्नादेकोपि क्रूरः पञ्चाष्टरिः फगः ॥ हन्ति सीमन्तिनीं सोपि तद्रभं वा न संशयः ॥” अत्रापि जन्मराशिजन्मलग्नाभ्यामष्टमलग्नमववनमिष्टलग्नादष्टमलग्नं च शुद्धं ग्राह्यम् । यदाह सीमन्ताध्याये कश्यपः “न नैधने तयोर्लग्ने नैधने शुद्धिसंयुते । पञ्चभिश्च चतुर्भिर्वा सूर्येन्दुगुरुपूर्वकैः ॥ ग्रहैरिष्टैः शुभे लग्ने राशावपि च नैधने ।” सीमन्तोन्नयनमित्यनुषंगः । तयोः स्त्रीपुंसयोः ।



तत्रापवादः क्वचित्—

अस्यापवादः प्रयोगपारिजाते नृसिंहोक्तः—“लम्नादष्टमराशी-  
शः केंद्रगः शुभवीक्षितः । यद्यप्यष्टमभस्योक्तं दोषमाशु व्यपोहति ।”  
अपिशब्दो भिन्नक्रमोष्टमभस्येत्यस्यानेतरं द्रष्टव्यः । स च कैनुतिक-  
न्यायेनान्यदोषनिवारणार्थोपि सम्पन्नः । क्वचित्सत्यपि ग्रहवले सिंह-  
वृश्चिकलग्ने निदितं अभिहिते इत्ययमप्यत्र विशेषो ध्येयः । यदाह  
गुरुः—“मूलक्षौ केचिदिच्छन्ति सीमन्तं शुभदं बुधाः । सिंहलिं वर्ज-  
येल्लग्नं ग्रहैरष्टमवर्जितम् ॥” ग्रहैः क्रूरग्रहैः । क्वचिद्राशित्रयं निषिद्धम् ।  
यदाह गर्गः—“सीमन्तोन्नयनं कार्यं शुभांशे शुभलग्नगे । कुलोरमृग-  
कन्याश्च वर्ज्याः शेषाश्च शोभनाः ॥” इति ।

नक्षत्राणि वाराश्च मतान्तरेण सीमन्ते—

मतांतरेण नक्षत्राणि वारांश्चाह—ध्रुवेति । ध्रुवाणि रोहिण्युत्तरात्रयम्,  
अंत्यं रेवती तथा सदहे सतां शुभग्रहाणां चन्द्रबुधगुरुशुक्राणामहि वासरे  
ध्रुवांत्यनक्षत्रेषु प्रागुक्तनक्षत्रेषु वा कार्यम् । एवं शुभग्रहवारे वा कार्य-  
मित्यर्थः । यदाह गुरुः—“रोहिण्यैन्दवमादित्यं पुण्यहस्तोत्तरात्रयम् ।  
पौष्णं वैष्णवमं चैवं सीमन्तादिषु संमतम् ॥” इति । श्रीधरः—“सौ-  
म्यानां वारवर्गाः स्युः सीमन्तादिषु शोभनाः ” इति । अत्र जन्मनक्ष-  
त्रं यदि विहितमपि सम्भवेत्तदा तदपि वर्ज्यमित्याह वसिष्ठः—“बाला-  
न्नभुक्तौ व्रतबन्धने च राजाभिषेके खलु जन्मधिष्यम् । शुभं त्वनिष्टं  
सततं विवाहसीमन्तयात्रादिषु मङ्गलेषु ॥”

सीमन्ते शुक्रास्तमलमासादिदोषो नास्त्यस्ति च—

एवं निर्णीते सीमन्तोन्नयनमुद्धर्ते शुक्रास्तादिदोषविचारो नास्ति,  
नियतमासविहितत्वात् । तदाह गुरुः—“मासप्रयुक्तकार्येषु मूढत्वं  
गुरुशुक्रयोः । न दोषकृन्मलो मासो गुर्वादित्यादिकं तथा ॥” इति ।  
अयमत्र तात्पर्यार्थः । यत्र नियतकाल एव कालो विहितो यथा तृतीये  
मासि पुंसवनं तत्र शुक्रास्तादिदोषाभाव एव । यत्र तु सीमन्तादौ  
चतुर्थपञ्चाष्टममासरूपं कालत्रयविधानं तत्र शुक्रास्तादिदोषरहितः का-  
लो ग्राह्यः, सम्भवात् । स क्वचित्कुलाचारवशात्सीमन्तादौ नियत  
एव कालो विधत्तितो भवेत्तदा न दोषः । कुलाचारवशादेव तदतिरिक्तो-

नियत एव कालः स्यात्तदापि न दोषः । यत्र बहुकालविधानेपि बहुदिनव्यापकत्वसिंहस्थगुर्वादिदोषसद्भावस्तत्रानन्यगतिकत्वान्नैष दोषः । एवं नामकर्माक्षिप्राशनादिष्वपि द्रष्टव्यम् । उक्तं च—“सीमन्तजातकादीनि प्राशनांतानि यानि वै । न दोषो मलमासस्य मौढ्यस्य गुरुशुक्रयोः” इति मौढ्यस्येत्यादि दोषोपलक्षणम् । एवं च कालप्रतीक्षायोग्येषु चूडाकरणादिषु मलमासादिदोषो विचारणीय एवेति ।

सीमन्तस्य गर्भसंस्कारकत्वक्षेत्रसंस्कारकत्वयोर्व्यवस्था—

अथैते गर्भाधानादयः संस्काराः किं गर्भसंस्कारकत्वात्प्रतिगर्भमावर्तते, उत स्रुदेव कार्या इति तत्रेदं भृगुवाक्यं—“प्राप्ते तृतीयमासे स्फुरदिंदुकलापपक्षे च । पुंसवनं पुत्रेप्सुर्गर्भे गर्भे प्रकुर्वीत” इति पुंसवनमुपलक्षणं सर्वगर्भसंस्काराणाम् । गर्भे गर्भे इति वीप्साग्रहणात्प्रतिगर्भमावृत्तिरिति केचिदाहुः । अपरे च स्रुदेव कार्या इत्याहुः । यदाह हरीतः—“स्रुच्च कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः । यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्” इति । एतेन क्षेत्रसंस्कारकत्वमुक्तं भवति । यथा भूरेकवारं दाहाद्यनेकसंस्कारवती सर्वकाले कर्षणयोग्या भवति वद्वदत्रापीत्यर्थः केचित्तु कौकणदेशादौ प्रतिवर्षं दाहादिसंस्कारं विधाय कर्षणं क्रियते इत्येवं पक्षद्वयसंभवे देशाचारतो व्यवस्था ध्येया । ननु तृतीयमासविहितत्वादादौ पुंसवनमुद्घर्त्तो विचारणीयः । ततश्चतुर्थषष्ठाष्टममासविहितः सीमन्तमुद्घर्त्तो विचार्यः नैपरीत्योक्तौ किं बीजमिति । उच्यते—सीमन्ते विहितस्य तिथिनक्षत्रवारलग्नादिसमुदायस्य पुंसवनेऽप्युपयोगात्सर्वदेशप्रसिद्धसीमन्तानुष्ठानाचारदर्शनाच्चादौ सीमन्तस्योक्तिः । पुंसवनं स्वतंत्रकर्त्तव्यत्वेनोक्तमपि शिष्टाः सीमन्तेन सहैव कुर्वन्ति । यदाह जातुकर्यः—“सीमन्तेन सहाथवा” इति । नृसिंहोपि—“सीमन्तोन्नयनस्योक्ततिथिवासरराशिषु । पुंसवं कारयेद्विद्वान्सहैवैकदिनेऽथवा” इति । अत एवानवलोभनाख्यं कर्मास्मिन्नेव दिने क्रियत इति शिष्टाचारोप्यत्रार्थं प्रमाणम् ॥ ८ ॥ इति सीमन्तविचारः ।



अथ प्रसंगेन मासेश्वरान् स्त्रीणां चन्द्रबलं च वसन्ततिलकयाह—

मासेश्वराः सितकुजेज्यरवीन्दुसौरि-

चन्द्रात्मजास्तनुपचन्द्रदिवाकराः स्युः ।

स्त्रीणां विधोर्बलमुशन्ति विवाहगर्भ-

संस्कारयोरितरकर्मसु भर्तुरेव ॥ ६ ॥

मासेश्वरा इति । गर्भप्रथममासादारभ्य दशमप्रसूतिमासपर्यंतं सितादयो मासेश्वरा ज्ञेयाः । यथा प्रथममासेश्वरः शुक्रः, द्वितीये मंगलः, तृतीये गुरुः, चतुर्थे रविः, पञ्चमे चन्द्रः, षष्ठे शनिः, सप्तमे बुधः, अष्टमे आधानलग्नाधिपतिः, नवमे चन्द्रः, दशमे सूर्यः ।

गर्भावस्था—

अत्र प्रथममासादारभ्य दशममासं यावत् गर्भस्य कललादिरूपावस्था भवतीत्यपि विशेषो ध्येयः । यदाह वराहः—“कललधनांकुरास्थिचर्मगजचेतनाद्याः । क्रमशो गदिता भवन्ति शुभाशुभं च मासाधिपतेः सदृशम्” इति । शुक्लशोणितसन्निपातः कललम् । अंगजानि लोमानि । वसिष्ठोपि—“सितावनेयामरपूज्यसूर्यचन्द्रार्किसौम्योदयपेंदुसूर्याः । मासाधिपाः स्युः क्रमशो दशैते निपीडितो नाशयति स्वमासि” ।

चन्द्रबलं कर्मभेदेन स्त्रिया एव पुंस एव वा—

स्त्रीणामिति । गोचरप्रकरणे यद्यप्युभयोः स्त्रीपुंसयोः सामान्यतो ग्रहबलमुक्तम्, तथाप्यत्र स्त्रीणां चन्द्रबले, विशेषोभिधीयते । विवाहे गर्भसंस्कारे गर्भाधानपुंसवनसीमन्तादिरूपं स्त्रीणामपि बलं ग्राह्यम् । इतरकर्मसु वस्त्रपरीधानालङ्कारधारणादिषु कृत्येषु भर्तुर्धवस्यैव चन्द्रबलं ग्राह्यं न तु स्त्रीणाम् । यदा तु भर्ता मृतस्तदा स्त्रीणामेव चन्द्रबलं ग्राह्यमित्यर्थसिद्धम् । उक्तं च “पाणिपीडनविधेरनन्तरं भर्तुरेव बलमैन्दवादिकम् । चिन्तनीयमिह योषितां क्वचिन्नष्टमंगलमृते मनीषिभिः ॥” इति । राजमातृङ्गः—“विवाहकार्यं कुसुमप्रतिष्ठा गर्भप्रतिष्ठा वनिताविशुद्धौ । अन्यानि कार्याणि धवस्य शुद्धौ पत्यौ विही-

ने प्रमदात्मशुद्ध्या ॥ ” कुसुमप्रतिष्ठा गर्भाधानम्, गर्भप्रतिष्ठा  
सीमन्तादिः ॥ ६ ॥

अथ येषामाचारः पृथगेव पुंसवनं विधेयमिति तदर्थं पुंसवनमुद्धतं  
विष्णुपूजामुद्धतं चंद्रवज्रयाह—

पूर्वोदितैः पुंसवनं विधेयं

मासे तृतीये त्वथ विष्णुपूजा ।

मासेऽष्टमे विष्णुविधातृजीवै-

र्तगने शुभे मृत्युगृहे च शुद्धे ॥ १० ॥

पूर्वोदितैरिति । पूर्वं सीमन्तोन्नयने उदितैः प्रोक्तैस्तिथिवारनक्षत्रलग्नै-  
रुपलक्षिते तृतीये मासि पुंसवनं विधेयमिति तदर्थं पुंसवनाख्यं कर्म  
विधेयम् । पुमान् स्रूयतेऽनेन कर्मणेति व्युत्पत्त्या पुंसवनकर्मणा पुंस्त्व-  
हेतुना । यदाह शौनकः—“व्यक्ते गर्भे तृतीये तु मासे पुंसवनं भवेत् ।  
गर्भे व्यक्ते तृतीये चेच्चतुर्थे मासि वा भवेत् ॥” नृसिंहः—“सीमन्तोन्नयन-  
स्योक्ततिथिवासरराशिषु । पुंसवं कारयेद्विद्वान्सहैवैकदिनेथवा ॥” इति ।  
विशेषमाह वसिष्ठः—“कुर्यात्पुंसवनं प्रसिद्धविषये गर्भे तृतीयेऽथवा  
मासि स्फीततनौ तुषारकिरणे पुष्येथवा वैष्णवे । हित्वा कर्कटकं नृ-  
युग्ममवलामन्येष्वरिक्तातिथौ शुद्धे नैधनधाम्निशुक्रशशभृद्विन्मन्त्रिणां वा-  
सरे ॥” इति । नैधनधाम्नि अष्टमस्थाने सर्वग्रहरहिते । यदाह वसिष्ठः—  
“अष्टमस्था ग्रहाः सर्वे नेष्टाः स्युस्ते शुभावहाः । एवं सम्यक्परीक्ष्यैव  
कुर्यात्पुंसवनक्रियाम् ॥” इति । वारास्त्वत्र सौम्यग्रहाणामुक्ताः । बृह-  
स्पतिरप्यत्र विशेषमाह—“गुरुशुक्रबुधेन्दूनां द्रेष्काणदिवसांशकाः । ते-  
षामुदयहोराश्च पुंसवेऽतिशुभावहाः ॥” इति । अन्यैस्तु श्रीपत्यादिभिः  
पुंवारा एव प्रशस्ता अभिहिताः, तत्फलान्याह गर्गः—“सौम्ये मृतप्रजा  
मन्दे मृत्युर्वन्ध्या च भार्गवे । सोमे दुग्धविहीना स्या-  
च्छेषाः सर्वार्थसिद्धिदाः ॥” इति । अत्र वचनद्वयप्रामाण्याद्विकल्पः ।  
केचित्तु यदा तृतीये मासि पुंसवनं चिकीर्षितं तदा सौम्यवारा एव  
ग्राह्याः । यदा चतुर्थे मासि गर्भस्य व्यक्तत्वात्पुंसवनं चिकीर्षितं तदा  
पुंवारा एव ग्राह्या इत्याहुः ।



तत्र नक्षत्राणि—

नक्षत्राणि ह्यत्र पुंनामानि ग्राह्याणि । तानि श्रवणः सकर इति श्रीपतिनोक्तानि । वसिष्ठेन तु पुंनामान्यभिहितानि यथा—“पुंनाम श्रवणं तिष्यः(१) स्वाती हस्तः पुनर्वसुः । मूलं प्रोष्ठपदं चानुराधा मृगशिरः श्विनी ॥” विशेषमाह ऋत्तोच्चयः—

“हस्ताद्रातिष्यमूलानि सौम्यो विष्णुः पुनर्वसुः ।  
प्रोष्ठपदाद्वयं प्रोक्तमाषाढद्वयमेव च ॥  
श्रेष्ठानि कथितान्येव धिष्यान्येकादशैव तु ।  
स्वातौ तथा मघायां च रेवत्यां फाल्गुनीद्वये ॥  
अश्विन्यां चैव नक्षत्रे यदा पुंसवनं भवेत् ।  
नरः सम्पद्यते दैवाद्यदा स्याद्गुरुतल्पगः ॥  
लुब्धो ह्रस्वतनुः क्रूरो नारी चैत्कुलटा भवेत् ।  
शेषाणि दश धिष्यानि निंदितानि विशेषतः ॥”

तदेतयोर्विरुद्धार्थयोर्वाक्ययोर्देशाचारतो व्यवस्था । तत्र वसिष्ठ-  
वाक्येन दाक्षिणात्या व्यवहरन्ति । प्राच्यास्तु ऋत्तोच्चयवाक्येन ।

तत्र लग्नशुद्धिः—

लग्नशुद्धिमाह ऋत्तोच्चयः—

“मीनवृश्चिककुम्भेषु चापगोसिंहकन्यकाः ।  
उक्ताः पुंसवनाद्येषु सुखपुत्रादिवाङ्मया ॥  
केन्द्रत्रिकोणभवनेषु शुभस्थितेषु  
पापेषु षट्त्रिदशलाभगृहस्थितेषु ।  
जीवेन्दुमानुभृगुभूमिजमन्दिरेषु  
लग्नेषु लग्नपरिशुद्धशुभांशकेषु ॥”

अत्रापि स्त्रीपुंसयोश्चद्रवलभावश्यकमित्याह नृसिंहः—“अपि पुंसवनं कार्यं दम्पत्योरनुकूलमे । जन्मादि वज्रयेद्राशि चांशकं विपदादिषु ॥”

विष्णुबलिमुहूर्तस्तत्र—

अथ गर्भरक्षार्थं विष्णुपूजामुहूर्तमुच्यते—अथेति । सीमन्तानन्तर-  
मष्टमे मासि विष्णुविधातृजीवैः श्रवणरोहिणीपुष्यैरुपलक्षिते दिवसे

(१) तिष्यः पुण्यः “पुण्ये तु सिद्धतिष्यौ” इत्यमरोक्तेः ।

तथा लग्ने शुभे शुभस्वामिके शुभयुक्ते वा सति तथा मृत्युगृहेऽष्टम-  
स्थाने शुद्धे सर्वग्रहरहिते च सति विष्णुपूजा कार्या । यदाह प्रयोग-  
पारिजाते वसिष्ठः—

“मास्यष्टमे च गर्भस्य कुर्याद्विष्णुवलिक्रियाम् ।  
श्रवणे चैव रोहिण्यां पुष्ये चैव प्रशस्यते ॥  
द्वितीया सप्तमी चैव द्वादशी च शुभा तिथिः ।  
शुभग्रहोदयाः शस्तास्तेषां च दिवसा अपि ॥  
पापास्त्रयाचारिणाः श्रेष्ठा नेष्टाः सर्वेऽष्टमे स्थिताः ।” इति ।

अष्टमग्रहदोषापवादः—

अष्टमग्रहदोषापवादमाह गुरुः—“रन्ध्रेशः स्वांशगः स्वोच्चे स्वक्षेत्रो-  
पचयर्क्षगः । अष्टमस्थस्य दोषोयं विनश्यति न संशयः” इति । नारदोपि—  
“लग्नाष्टमेशयोर्मैत्रे लग्नेशे बलसंयुते । अस्तगे निधनेशे च निधनेपि  
शुभग्रहे” इति । वसिष्ठसंहितायां तु संक्षिप्तोक्तम्—“रोहिण्यां वा नै-  
ष्णवे पूर्वपक्षे द्वादश्यां वा सप्तमे वा तिथौ वा । मध्ये चाहः पूर्वभागेनु-  
कूले विष्णोः पूजां कारयेद्गर्भपुष्टयै ।

विष्णुपूजाप्रकारस्तत्र—

तत्र पूजाप्रकारस्तेनैवोक्तः—

“पीताम्बरं कृष्णवर्णं शंखचक्रगदाम्बुजम् ।  
वैकुण्ठवासिनं विष्णुं मृत्कुम्भे स्थापयेत्ततः ॥  
विष्णोः स्वरूपं कनकेन कृत्वा तल्लिङ्गमन्त्रैरथ गन्धधूपैः ।  
वस्त्राक्षतैर्गुग्गुलधूपदीपैर्नैवेद्यतांबूलफलैश्च सम्यक् ॥  
कृत्वा च देवतापूजां गर्भाणां रक्षणाय च ।  
ब्राह्मणाय प्रदातव्या प्रतिमा वस्त्रसंयुता ॥ १० ॥

( इति गर्भरक्षार्थं विष्णुबलिः )

अथ जातकर्मनामकरणयोर्मुहूर्त्तमुपजात्याह—

तज्जातकर्मादि शिशोर्विधेयं  
पर्वाख्यरिक्तो न तिथौ शुभेऽहि ।



एकादशे द्वादशकेऽपि घस्त्रे

मृदुध्रुवक्षिप्रचरोडुषु स्यात् ॥ ११ ॥

तज्जातकमेति । नन्विदमयुक्तं यज्जातकर्म शुभदिने कार्यमिति कुतः । जातस्योत्पन्नस्य कर्म वैदिकः संस्कारविशेषः यः स जातकर्म-शब्देनोच्यते । तच्च शब्दप्रवृत्त्योत्पन्नलक्षण एव विधेयम् । यदाह वसिष्ठः—“यस्मिन्मुहूर्ते जनितः कुमारस्तस्मिन्विधेयं खलु जातकर्म । सन्तर्प्य देवांसपितृन्दिजांश्च सुवर्णगोभूतिलकांस्यवस्त्रैः” इति । विष्णुरपि—“जातकर्म ततः कुर्यात्पुत्रे जाते यथोदितम्” इति । यथोदितं स्वस्व-गृह्यानुसारेणेत्यर्थः । तच्च श्रवणानन्तरं सचैलं स्नानं विधाय कार्यम् । उक्तं च ज्योतिःसागरे वसिष्ठेन—“श्रुत्वा जातं पिता पुत्रं सचैलं स्नानमाचरेत् । उत्तराभिमुखो भूत्वा नद्यां वा देवखातके” इति । तदपि नालच्छेदनात्प्रागेव कार्यम् । उक्तं च मनुना—“प्राङ्नाभिवर्द्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते” इति । वर्द्धनं छेदनम् । ‘वृधु छेदने’ इति धात्वर्थानुसारात् । अत्र हेतुमाह जैमिनिः—“याव-न्नोच्छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् । छिन्ने नाले ततः पश्चात्सूतकं तु विधीयते” इति । तस्माज्जातकर्ममुहूर्तोऽनुपपन्न इति, उच्यते । संक्रान्त्यादिदुष्टकालेषु शुभकर्मचरणं नास्ति । यदाह गर्गः—“व्यतीपाते च संक्रान्तौ ग्रहणे वैधृतावपि । श्राद्धं विना शुभं कर्म प्राप्तकालेपि नाचरेत्” । अन्यच्च—“अमासंक्रान्तिविष्ट्यादौ प्राप्तकालेपि नाचरेत्” । किं च मूलज्येष्ठागएडान्तादिषु जन्मसम्भवे शान्तिविधानात् । अथ वा पिता देशान्तरगतो राजगृहादौ निरुद्धो वा जातक-र्मादि कर्तुमशक्नुवन्पश्चात्प्रतिबन्धापवादेन गृहमागतोपि सन्नैव करोति । तदैव जन्माभावात्सूतकप्रवृत्तेश्च । तदाह वैजवापः—“जन्मतोनन्तरं कार्यं जातकर्म यथाविधि । दैवादतीतः कालश्चेद-तीते सूतके भवेत् ॥” इति । अत एव कालविकल्पोभिहि-तो नारदसंहितायाम्—“तस्मिन् जन्ममुहूर्ते तु सूतकांते तथा शिशोः । जातकर्म च कर्तव्यं पितृपूजनपूर्वकम् ॥” इति । इदं च तुल्यन्यायान्नामकर्मण्यपि ध्येयम् । तस्मादतिक्रांतकालेपि अवश्यं जातकर्मादिमुहूर्तो विचार्य इत्यलमतिप्रसंगेन ।

तज्जातकर्मादीति । पर्वण्युक्तानि मया । रिक्ताः चतुर्थीनवमीचतुर्द-

श्यः, तामिरुने वर्जिते तिथौ । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । शुभेहि व्यतीपा-  
तादिदोषरहिते दिवसे शुभग्रहवासरे च तथैकादशे द्वादशे वा घञ्ने दिने  
तथा मृदुध्रुवक्षिप्रचरमानि प्रसिद्धानि तेषु च शिशोर्बालकस्य तज्जन्म-  
समयातिक्रांतं जातकर्मादि । आदिशब्देन नामकर्माप्युच्यते । तद्विधेयं  
कर्तव्यं स्यात् । उक्तं च वसिष्ठेन—मृदुध्रुवक्षिप्रचरेषु भेषु चारिक्त-  
पर्वाख्यदिनेषु कार्यम् । शुभग्रहाणां दिनलग्नवर्गे तज्जातकर्म त्वथ  
नामधेयम् ॥ ” इति । रत्नमालायाम्—“ मृदुध्रुवक्षिप्रचरेषु भेषु सू-  
नोर्विधेयं खलु जातकर्म । गुरौ भृगौ वापि चतुष्टयस्थे सन्तः प्रशंसन्ति  
च नामधेयम् ॥ ” चतुष्टयं केन्द्रम् ।

अथ जातकर्मफलम्—

जातकर्मप्रयोजनमाह भृगुः—जातकर्मक्रियां कुर्यात्पुत्रायुःश्रीवि-  
वृद्धये । ग्रहदोषविनाशाय सूतिकाऽशुभविच्छिदे ॥ कुमारग्रहनाशाय  
पुसां सत्त्वविवृद्धये ” इति ।

नामकर्मणि कालविशेषाः—

अथ नामकर्मणि विशेषविचारः । नारदः—“ सूतकांते नामकर्म  
विधेयं स्वकुलोचितम् ” इति । तत्र नक्षत्रादिनियमाभावः, नियत-  
कालविहितत्वात् । तदुक्तं सारसंग्रहे—“ एकादशेऽहि विप्राणां क्षत्रि-  
याणां त्रयोदशे । वैश्यानां षोडशे नाम मासांते शुद्धजन्मनाम् ॥ ” इति ।  
मनुस्तु—“ नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां चास्य कारयेत् । पुण्ये  
तिथौ सुहर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ” दशम्यामतीतायामेका-  
दशे दिवसे इत्यर्थः । एतच्च ब्राह्मणविषयम् । पूर्वोदीरितवाक्यस्वर-  
सात् । अत्र नामकर्मणोपि विहितकालातिक्रमे शुक्रास्तादिदोषरहिते  
शुभकाले तत्कार्यम् । यदाह कश्यपः—

उक्तकाले प्रकर्त्तव्या द्विजानामखिलाः क्रियाः ।

अतीतेषु च कालेषु कर्त्तव्याश्चोत्तरायणे ॥

सुरेज्येप्यसुरेज्ये वा नास्तगे न च वाहर्धके ।

शुभलग्ने शुभांशे च शुभेहि शुभवासरे ॥

चन्द्रताराबलोपेते नैधनोदयवर्जिते ।

पूर्वाह्णे क्षिप्रनक्षत्रचरस्थिरमृदुध्रुषु ॥

नाम मंगलघोषैश्च रहस्यं दक्षिणश्रुतौ ।” इति ।



बृहस्पतिः—

पूर्वाहणः श्रेष्ठ इत्युक्तो मध्याह्नो मध्यमः स्मृतः ।  
अपराहणं च रात्रिं च वर्जयेन्नामकर्मणि ॥ ”

तथा जगन्मोहने गुरुः—

पक्षच्छिद्रां च नवमीं हित्वा पञ्चदशीं तथा ।  
शेषाः स्युस्तिथयः सर्वा नामकर्मणि पूजिताः ॥  
भास्करार्कजभौमानां वर्जयेदंशकोदयौ ।  
धनकर्मसुतभ्रातृनवमस्थः शुभः शशी ॥  
शुद्धव्ययेऽष्टमे लग्ने पापाश्च त्र्यरिलाभगाः ।  
शुभेषु शेषसंस्थेषु नामकर्म शुभावहम् ॥ ” इति ।

नामकरणप्रयोजनम्—

प्रयोजनं च स्मर्यते—“नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं  
कर्मसु भाग्यहेतुः । नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु  
नामकर्म ॥ ” इति ।

चूचेचोला अश्विनीत्यादि शतपदचक्रं तदक्षरादिकमेव नाम  
कार्यम्—

तच्च नाम जन्मनक्षत्रचरणलक्षितस्वरोदयाभिहितशतपदचक्रान्त-  
र्गताक्षरादिकमेव कार्यम् । उक्तं च गृह्यपरिशिष्टे—“तदक्षरादिकं  
नाम यस्मिन्धिष्ये तदक्षरम् ॥” शतपदचक्रसारोद्धारो ज्योतिषार्क-  
मिहितो यथा—

“चूचेचोला ( १ ) पदेष्वाद्ये लीलूलेलो यमस्य मे ।

(१) अथैतत्सिद्ध्यर्थं स्वरशास्त्रीयः शतपदचक्रविचारः प्रदर्श्यते—

चक्रं शतपदं वक्ष्ये भपाद्याक्षरसम्भवम् ।

नामादिवर्णतो ज्ञेया ऋक्षराश्यंशकास्तथा ॥

तिर्यगूर्ध्वगता रेखा रुद्रसंख्या लिखेद्बुधः ।

जायते कोष्ठकानां तु शतमेकं न संशयः ॥

न्यसेदवकहडादीनि रुद्रादि विदिशि क्रमात् ।

पञ्च पञ्च क्रमेणैव शुद्धवर्णाभियोजयेत् ॥

आईऊए इमेऽग्नेर्मे ओवावीवू तथार्कमे ॥  
 वेवोकाकी मृगे ख्याताः कुघडच्छास्तु रौद्रमे ।  
 केकोहाही त्वदितिमे हूहेहोडा च पुष्यमे ॥  
 डीडूडेडो इमे सापे मामीमूमे मघाभिधे ।  
 मोटाटीटू तथा भाग्ये टेडोपाप्यर्यमर्क्षमे ॥  
 पूषणाठा तथा हस्ते पेपोरारीति चित्रमे ।  
 रुरेरोता तथा स्वातौ तीतूतेतो द्विदैवमे ॥

पञ्चस्वरसमायोगादेकैकं पञ्चधा कुरु ।  
 कुर्यात्कुपुमुदुस्थाने त्रीणि त्रीण्यक्षराणि च ॥  
 कुघडछ-समाः स्तम्भे रौद्रे त्वीशानगोचरे ।  
 पूषणठ-समाः स्तम्भे हस्ते आग्नेयसंज्ञके ॥  
 धफढाः प्रथमाषाढे स्तम्भे नैऋत्यगोचरे ।  
 दु-स्थाने थभ्रजा वायौ स्तम्भ उत्तरभाद्रके ॥  
 आर्द्रा हस्तस्तथाषाढपूर्वात्तरपदाभिधे ।  
 एवं स्तम्भचतुष्कं च ज्ञातव्यं स्वरवेदिभिः ॥  
 धिष्ण्यानि कृत्तिकादीनि प्रत्येकं चतुरक्षरैः ।  
 साभिजित्यंशकास्तस्य शतैकं द्वादशाधिकम् ॥

भावार्थः—प्रथमं तिर्यग्रूपा ऊर्ध्वाधराश्चैकादश मिथः समानान्तरा  
 रेखा निवेश्यास्तासां षष्ठी रेखा पङ्क्तिद्वयेऽपि चित्रिता कार्या यथैकं  
 शतकोष्ठकात्मकं क्षेत्रं (यदि तिर्यगूर्ध्वगता रेखाः समास्तदा तद्वर्गक्षेत्रं  
 भवतीति क्षेत्रमितितः स्फुटमपि प्रयोजनबहिर्भूतत्वादप्रासङ्गिकम् )  
 तदपि रेखाविशेषाभ्यामुत्पादितैश्चतुःकोणगतैः प्रत्येकं पञ्चविंश-  
 तिकोष्ठकात्मकैश्चतुर्भिः समलघुक्षेत्रैर्विभक्तं भवति । अथैतेषामीशान-  
 क्षेत्र उपरि पङ्क्तौ अ-च-क-ह-ड-रूपाः ( वर्णाः सर्वत्रैवाजम्नीना ज्ञेयाः ),  
 आग्नेयक्षेत्रे म-ट-प-र-त-वर्णाः, नैऋतिक्षेत्रे न-य-भ-ज-ख-रूपाः,  
 वायव्यक्षेत्रे ग-स-द-च-ल-रूपा वर्णा विलेख्यास्ततः 'अ-इ-उ-ए-ओ' एभिः  
 पञ्चभिः स्वरैः ( एतत्समाधानं नरपतिजयचर्यायां नितरां विलोक्यम् )  
 संयुक्तानां अवकहडादीनां प्रत्येकस्य पञ्चविधं रूपन्तदादौ अ-कारस्य  
 तैः संयोगे त एव जायन्ते स्वराः अ-इ-उ-ए-ओ । ततो व-कारस्य तैः  
 समायोगात् ( व् + अ = वा, व् + इ = वि, व् + उ = वु, व् + ए = वे, व् +



नानीनूने क्रमान्मैत्रे नोयायीयू इतींद्रमे ।  
 येयोभाभीति मूलाख्ये भूधाफाढा जलस्य मे ॥  
 भेमोजाजीति विश्वर्द्धे जूजेजोखामिजिद्धवेत् ।  
 खीखूखेखो श्रुतौ ज्ञेया गागीगूणे च वासवे ॥  
 गोसासीसू जलेशर्द्धे सेसोदादीत्यजांघ्रिमे ।  
 दूथम्भजा तथोपांत्ये देदोचाचोति पौष्णमे ॥  
 इति प्रोक्ता इमे पद्ये वर्णानामादिजाः स्फुटाः ।  
 ज्ञेया मेषादिराशीनां नवभिर्नवभिः पदैः ॥”

एतैरादिमाक्षरैश्चूडामणिरित्यादिनामानि स्थाप्यानि तदुक्तं शं-

ओ = वो ) क्रमेण व-वि-वु-वे-वो-रूपाः पञ्चधाः । एवं क-कारस्य क-कि-कु-के-को । हकारस्य ह-हि-हु-हे-हो । ङ-कारस्य ङ-ङि-ङु-ङे-ङो ) इत्यमेभिस्तत्क्षेत्रकोष्ठकानि पूर्णानि भवन्ति । तथैवानेयक्षेत्रे ‘म-ट-प-र-त’ एषां पञ्चस्वरसमायोगे म-मि-मु-मे-मो, ट-टि-टु-टे-टो, प-पि-पु-पे-पो, र-रि-रु-रे-रो, त-ति-तु-ते-तो पञ्चविंशतिः । एवमुक्तदिशा कोणचतुष्टयगतक्षेत्रकोष्ठेषु शतं वर्णा जायन्ते । अथैषां कोष्ठचतुष्टये विशेषः । कु-वर्णस्य कोष्ठे घ-ङ-छ-वर्णाः, पु-कोष्ठे ष-ण-ठ-वर्णाः, भु-स्थाने ध-फ-ढ-वर्णास्तथा दु-स्थाने थ-भ-ज-वर्णा अपि स्थाप्यास्तावता कु-पु-भु-दु-स्थानेष्वधिकवर्णात्रयनिवेशनाच्छतकोष्ठकात्मकक्षेत्रेऽक्षरसंख्या द्वादशाधिकशतं भवति । तत्र गणनयाधुनादत्तवर्णानां तच्चरणगतत्वादाद्राहस्तपूर्वाषाढोत्तराषाढनक्षत्राणि स्तम्भनक्षत्राणि ज्ञेयानि । तत ईशानक्षेत्रे स्तम्भवर्णात्रयसहितानां पञ्चविंशतिवर्णानां क्रमाच्चत्वारश्चत्वारो वर्णाः कृत्तिकादीनां चरणास्तद्यथा—अइउए-रूपाः कृत्तिकाचरणाः, ओवविवु रोहिण्याः, वेवोक्कि-वर्णा मृगशीर्षस्य, कुघङ्छ-वर्णाः आर्द्रायाः, केकोहहि-वर्णाः पुनर्वसुनक्षत्रस्य, हुहेहोड-वर्णाः पुष्यस्य, डिडुडेडो-वर्णा आश्लेषायाः । एवमग्रेऽपि सस्वस्वस्तम्भवर्णकोष्ठगतवर्णाः साभिजितां मघादिनक्षत्राणां चरणा भवन्तीति शतपदं सिद्धम् । ननु शतपदचक्रानुसारेण ङञण-वर्णानामन्यतमो जन्मनक्षत्रचरणश्चेत्तदा किं किं नाम धेयमिति तदर्थं कस्यचित्पद्यम्—“ न प्रोक्ता ङञणा वर्णा नामादौ सन्ति ते नहि । चेद् भवन्ति तदा ज्ञेया गजडास्ते यथाक्रमम् ॥”

खेत—“कुलदेवतानक्षत्रादिमाससंबद्धं नाम पिता वा कुर्यादप्योपि वा कुलवृद्धः” इति ।

चतुर्विधनामसु जन्मनाम गोप्यम्—

अत्र केचित् “जन्मनाम तु गोपयेत्” इति स्मरणाज्जन्मनक्षत्रसम्बन्धिनाम गुप्तं संस्थाप्य व्यवहारार्थमन्यनाम कुर्यात् इत्याहुः ।

कर्तव्यनामस्वरूपम्—

तच्च नाम कीदृशं कार्यमित्याह वसिष्ठः—“तद्द्वयक्षरं वा चतुरक्षरं वा यथेप्सितं चान्तलकारयुक्तम् । विवर्ज्य नामादिकमेव कार्यं स्फुटं वदेद्दक्षिणकर्णरंध्रे ॥” इति । याज्ञिका अपि पठन्ति—“घोषवदाद्यंतरंतःस्थं त्रिपुरुषानुकूलमनरिप्रतिष्ठितं तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति द्वयक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्” इति । कृतं कृतं तद्धितं तद्धितांतम् । घोषवदादीनां कृतन्ततद्धितानां च ज्ञानं व्याकरणशास्त्राज्ज्ञेयम् । विश्वप्रकाशपद्धतौ तु विशेषः—‘कुमार्या अथ्ययुजाक्षरेण नाम दधताम्’ इति ।

अथ बालावबोधार्थमुपरिप्रदर्शितनियमानुसारेण चक्रन्यासः—

|    |    |    |    |    |    |    |    |    |    |
|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|
| अ  | व  | क  | ह  | ड  | म  | ट  | प  | र  | त  |
| इ  | वि | कि | हि | डि | मि | टि | पि | रि | ति |
| उ  | वु | कु | हु | डु | मु | टु | पु | रु | तु |
| ए  | वे | के | हे | डे | मे | टे | पे | रे | ते |
| ओ  | वो | को | हो | डो | मो | टो | पो | रो | तो |
| न  | य  | भ  | ज  | ख  | ग  | स  | द  | च  | ल  |
| नि | यि | भि | जि | खि | गि | सि | दि | चि | लि |
| नु | यु | भु | जु | खु | गु | सु | दु | चु | लु |
| ने | ये | भे | जे | खे | गे | से | दे | चे | ले |
| नो | यो | भो | जो | खो | गो | सो | दो | चो | लो |



मासनामानि वसिष्ठेनोक्तानि—

“चैत्रादिमासनामानि वैकुण्ठोत्थ जनार्दनः ।

उपैन्द्रो यज्ञपुरुषो वासुदेवस्त्रिविक्रमः ॥

योगीशः पुण्डरीकाक्षः कृष्णो नस्तोच्युतस्तथा ।

चक्रधारीति चैतानि क्रमादाहुर्मनीषिणः ” इति ।

कुलदेवतारतु वंशपरंपरया प्रसिद्धाः । अत्रान्यो नामप्रयुक्तो विशेषः स्मृतिभ्योनुसंधेयः ॥ ११ ॥ इति नामकर्म ।

अथ बालजन्मानन्तरं प्राच्यशिष्टाचारप्राप्तप्रसूतास्नानमुहूर्तं वसन्त-  
तिलकयाह—

पौष्णध्रुवेन्दुकरवातहयेषु सूती-

स्नानं समित्रभरवीज्यकुजेषु शस्तम् ।

नार्द्रात्रयश्रुतिमघान्तकमिश्रमूल-

त्वाष्ट्रे जसौरिवसुषड्विरिक्ततिथ्याम् ॥ १२ ॥

पौष्णेति । पौष्णं रेवती, ध्रुवाणि प्रसिद्धानि, इन्दुर्मृगः, करो हस्तः, वातः स्वाती, हयोश्विनी, एषु समित्रभरवीज्यकुजेषु अनुराधानक्षत्र-सूर्यगुरुभौमवारसहितेषु सूत्याः प्रसूतायाः स्नानं प्रशस्तमुत्तमफलदम् । तदुक्तं दैवज्ञवल्लभे—“उत्तरात्रयरोहिण्यः सौम्यः पवनरेवती । प्रसूता वनिता स्नायाद्धस्तमैत्राश्विनीषु च ॥ स्नाता प्रसूताप्यसुता बुधेन स्नाता च वन्द्या भृगुनन्दनेन । सौरे मृतिः क्षीरहतिश्च सोमे पुत्रार्थलाभो रविजीवभौमे । अन्ये तु पूर्वाफाल्गुनीज्येष्ठाधनिष्ठास्व-पि सूतीस्नानं वदन्ति । “करेन्द्रभाग्यानिलवासवान्त्यमैत्रैर्देवाश्विध्रुव-भेहि पुंसाम् । तिथावरिक्ते शुभमामनन्ति प्रसूतिकास्नानविधिं मु-नीन्द्राः ॥” इति ।

निषिद्धर्क्षाणि प्राच्यप्रमतेन—

निषिद्धनक्षत्राण्युच्यन्ते । आर्द्रात्रयमार्द्रापुनर्वसुपुष्याः, श्रुतिमघान्त-कमिश्रमूलत्वाष्ट्राणि प्रसिद्धानि, इन्द्रैकवज्रावः । एषु दशसु नक्षत्रेषु सूतीस्नानं न शस्तम् । पुनः सूतेरभावादिति तात्पर्यार्थः । तथा ज्ञो बुधः,

सौरिः शनिः, तथा वसुः अष्टमी, षट् षष्ठी, रविर्द्वादशी, रिक्ताः ४ ।  
 ६ । १४ । बुधशनिवारयोरेतासु तिथिषु च न शस्तम् । तदप्युक्तं दैवज्ञ-  
 मनोहरे—“भरणी कृत्तिका मूलमार्द्रा पुष्यः पुनर्वसुः । मघा चित्रा  
 विशाखा च श्रवणो दशमस्तथा । एषु मन्दे बुधे वारे सूतीस्नानं न  
 कारयेत् । यदि स्नानं प्रकुर्वीत पुनः सूतिर्न विद्यते” एतच्च दाक्षिणा-  
 त्या नानुमन्यन्ते । यत्तु सूतिकास्नानं वदन्प्राच्य इत्थं द्रष्टव्यः । किं  
 सूतकमध्ये सूतिकास्नानं सूतकाद्बहिर्वा । नाद्यः कल्पः । यदि सूत-  
 कमध्ये षष्टिकापूजाथ क्रियमाणमपि स्नानं चारुडालधृतहस्तपुष्पव-  
 न्निष्फलमेव, शुद्ध्यभावात् । नापि द्वितीयः । सूतकानन्तरमेव शुद्ध्य-  
 पादकस्नानस्य विहितत्वात्, यदपि दैवज्ञबल्लभवाक्यम्, तदाचारमूलकं  
 न स्मृतिमूलकमिति मत्वा सन्तोष्यम् । इति सूतीस्नानम् ।

स्तन्यपानमुद्धर्तः प्राच्यमतेनैव—

प्राच्यमतेनैव जन्मानन्तरं बालस्य स्तन्यपानमुद्धर्त उच्यतेऽस्मा-  
 मिः— “रिक्तां भौमं परित्यज्य विष्टिं पातं सवैधृतिम् । मृदुध्रुव-  
 क्षिप्रभेषु स्तन्यपानं हितं शिशोः ” इति दैवज्ञवल्लभोक्तेः ॥ १२ ॥

अथ प्रसंगतः संस्कारानन्तरं गर्भगतमपि प्रथमादिमासोत्पन्नदन्त-  
 फलं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

मासे चेत्प्रथमे भवेत्सदशनो बालो विनश्येत्स्वयं  
 हन्यात्स क्रमतोऽनुजातभगिनीमात्रग्रजान्द्रयादिके ।

षष्ठादौ लभते हि भोगमतुलं तातात्सुखं पुष्टतां

लक्ष्मीं सौख्यमथोजनौ सदशनो वोर्ध्वं स्वपित्रादिहा ॥ १३ ॥

मासे चेदिति । बालकश्चेज्जन्मानन्तरं प्रथमे मासे सदशनो दंतयुक्तो  
 भवेत्स्यात्तदा स्वयं विनश्येत् । ततो द्रयादिके द्वितीयादिके  
 मासे स बालको दंतयुक्तो भवेत्तदाऽनुजातभगिनीमात्रग्रजान्  
 हन्ति, यथा द्वितीयमासेऽनुजातं कनिष्ठभ्रातरं हन्ति, तृतीयमासे  
 भगिनीं हन्ति, चतुर्थमासे मातरं हन्ति, पञ्चमे मासि अग्रजं ज्येष्ठ-  
 भ्रातरं हन्ति, षष्ठादिमासेषु दंतजन्म समीचीनफलम् । यथा षष्ठे



अतुलं बहुलं भोगं लभते, सप्तमे तातात्पितृतः सुखं लभते, अष्टमे पुष्ट-  
ताम्, नवमे लक्ष्मीम्, दशमे सौख्यम्, एतच्चोपलक्षणम् । एकादशे-  
मासे सुखबाहुल्यं लभते इत्यर्थः । यदाह चण्डश्वरः—

“प्रथमे दन्तजननात्स्वयमेव विनश्यति ।  
द्वितीये भ्रातरं हन्ति तृतीये भगिनीं तथा ॥  
चतुर्थे मातरं हन्ति पञ्चमे स्वात्मनोऽग्रजम् ।  
षष्ठे च मन्त्रजीवी स्यात्सप्तमे पितृसौख्यदः ॥  
अष्टमे पुष्टिजनको नवमे लभते धनम् ।  
लभते दशमे मासि सौख्यमेकादशेपि वा ॥  
द्वादशे धनसम्पत्तिर्दन्तानां जनने फलम् ।” इति ।

अथो जनौ जन्मकाल एव सदशनो दन्तयुक्तः स्यात्तदा-  
स्वपित्रादिहा स्वमात्मानं पितरं च आदिशब्देन मातरं च हन्ति  
नाशयतीति स्वपित्रादिहा । केचिदादिशब्देन भ्रात्रादीनपि नाशं  
व्याचक्षते । बोध्वमिति वा अथ वा ऊर्ध्वौ उर्ध्वपंकौ स्वजन्मानन्तर  
निषिद्धेऽविहितेपि वा काले सदशनश्चेत् स्यात्तदापि स्वपित्रादिहा  
आत्मपितृमातृनाशक इत्यर्थः । उक्तं च पद्मपुराणे विष्णुधर्मोत्तरे पर-  
शुरामं प्रत्याह पुष्करः—दन्तजन्मनि बालानां लक्षणं तन्निबोध मे ।  
उपरि प्रथमं यस्य जायन्ते च शिशोर्द्विजाः ॥ उपर्युपरिपंकौ । द्विजा  
दन्ताः, ‘दन्तत्रिप्राण्डजा द्विजाः’ इत्यभिधानात् । “तैर्वा सह च यस्य  
स्याज्जन्म भार्गवसत्तम । मातरं पितरं चाथ खादेदात्मानमेव  
च ॥ ” इति ।

एवंविधे दन्तजनने शान्तिरप्युक्ता तत्रैव—

‘तत्र शान्तिं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ।  
गजपृष्ठगतं बालं नौस्थं वा स्थापदेद्द्विजः ॥  
तदभावे(१) तु धर्मज्ञ कांचने तु वरासने ।  
सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्बीजैः पुष्पैर्फलैस्तथा ॥  
पञ्चगव्येन रत्नैश्च मृत्तिकाभिश्च भार्गव ।  
स्थालीपाकेन धातारं पूजयेत्तदनन्तरम् ॥  
सप्ताहं चात्र कर्त्तव्यं तथा ब्राह्मणभोजनम् ।

( १ ) तदभावे गजभावे इति तात्पर्यः ।

अष्टमेऽहनि विप्राणां तथा देया च दक्षिणा ॥  
 काञ्चनं रजतं गाश्च भुवं चासनमेव च ।  
 दन्तजन्मनि सामान्ये शृणु स्नानमतः परम् ॥  
 भद्रासने निवेश्यैनं मृद्धिर्मूलफलैस्तथा ।  
 सर्वौषधैः सर्वबीजैः सर्वगन्धैस्तथैव च ॥  
 स्नापयेत्पूचयेच्चत्र बह्विहोमं समीरितम् ।  
 प्रथमं स्थापयेत्तत्र देवदेवं च केशवम् ॥  
 एतेषामेव जुहुयाद्भृतमग्नौ यथाविधि ।  
 ब्राह्मणानां तु दातव्या यथाशक्ति च दक्षिणा ॥  
 ततः स्वलंकृतं बालमासने तूपवेशयेत् ।  
 आसने छत्रमूर्ध्नि वीजैः सुस्नापयेत्तथा ॥  
 सुखीभिर्बालकानां च तथा कार्यं च पूजनम् ।  
 पूज्याश्चाविधवा नार्यो ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा ॥”  
 इत्येवं पद्मपुराणोक्ता दन्तजननशान्तिर्विधेया ।  
 ततोऽशुभफलनाशः, शुभफलावाप्तिर्भवतीति ॥ १३ ॥

इति प्रथमादिमासे दन्तजननफलानि शान्तिश्च ।

अथ दोलारोहणमुद्धतं विवक्षुस्तत्सम्बन्धि शुभाशुभफलदातृदोलाच-  
 क्रमनुष्ठुमाह—

दोलारोहेऽर्कभात्पञ्चशरपञ्चेषुसप्तभैः ।

नैरुज्यं मरणं काश्यं व्याधिः सौख्यं क्रमाच्छिरोः॥ १४ ॥

दोलारोहे इति । काष्ठलोहाद्याधारोपनिबद्धः परुषाघातवशादंतरिक्षे  
 गतागतं कुर्वन्नल्पो बालकयोग्यः पर्यंकविशेषो दोलाशब्देनोच्यते । तत्र  
 शिशोर्बालकस्य दोलारोहे दोलास्थापने चिकीर्षिते सति अर्कभात्सूर्य-  
 नक्षत्रात् पञ्चनक्षत्रैर्नैरुज्यं नीरोगता स्यात्, तदग्रिमपञ्चनक्षत्रैः काश्यं  
 देहे कृशत्वं स्यात्, तदग्रिमैरिषुभिः पञ्चनक्षत्रैर्व्याधिः स्यात् तदग्रिम-  
 सप्तनक्षत्रैः सौख्यं स्यादिति यथासंख्यं योजना । फलं चेदं शिशोरेव,  
 संस्कार्यत्वात् । उक्तं च—

“सूर्यभाच्चन्द्रं यावत्पञ्च पञ्च चतुर्दिशम् ।



मध्ये तु सप्त देयानि दोलिकाचक्र उत्तमे ॥  
 पूर्वभागे निरोगत्वं दक्षिणे मरणं ध्रुवम् ।  
 पश्चिमे तु कृशो बाल उत्तरे व्याधिसम्भवः ॥  
 शेषेषु सप्तधिष्येषु बालकस्य सुखं भवेत् ॥” इति ॥ १४ ॥

अथावसरप्राप्तं दोलारोहणमुहूर्तं वसन्ततिलकायाः पूर्वाद्धर्धेनोत्तरार्धेन निष्क्रमणमुहूर्तं चाह—

दन्तार्कभूपधृतिदिङ्मितवासरे स्या-

द्वारे शुभे मृदुलघुध्रुवभैः शिशूनाम् ।

दोलाधिरुडिरथ निष्क्रमणं चतुर्थ-

मासे गमोक्तसमयेऽर्कमितेऽहि वा स्यात् ॥ १५ ॥

दन्तार्कंति । दन्ताः द्वात्रिंशत्, अर्का द्वादश, भूपाः षोडश, धृतयोऽष्टादश, दिशो दश, एतन्मितदिवसेषु तथा शुभे द्वारे सोमबुध-गुरुशुक्राणां द्वारे तथा मृदुगणलघुगणध्रुवगणनक्षत्रैरुपलक्षिते शिशूनां बालानां दोलाधिरुडिः दोलायामधिरुडिरारोहः स्यात् । यदाह प्रयोगपारिजाते गुरुः—“दोलारोहस्तु कर्त्तव्यो दशमे द्वादशेऽपि वा । षोडशे दिवसे वापि द्वात्रिंशदिवसेऽपि वा ॥” इति । भविष्य-त्पुराणे—“अभीष्टे पुण्यदिवसे चन्द्रताराबलान्विते । मृदुध्रुवक्षिप्रभेषु माता वा कुलयोषितः ॥ योगशायिहरिं स्मृत्वा प्राक्छीषं विन्यसेच्छि-शुम्” इति ।

अथ प्रसंगतोन्वेषामपि दोलारोहणमुहूर्तः प्रोच्यते । तत्र दीपिका—“उर्ध्वेद्रमूलाहिशिवाग्निवज्रं शस्तं दुना युक्तिथिलग्रयोगे । विष्टिन्मा-पुत्रयमाहवर्ज्यमांदोलिकारोहणमत्र शस्तम् ॥” इति । यमः शनिः । अथ निष्क्रमणमुहूर्तः । तत्र चतुर्थमासे गमोक्तसमये यात्राभिहितसमीचीनतिथिवारनक्षत्रादिसहिते काले शिशूनां निष्क्रमणं निष्क्रमणाख्यसंस्कारं पूर्वं गृहाद्बहिर्गमनं कुर्यात् । वा अथ वार्कमितेहि द्वादशे दिवसे निष्क्रमणं कुर्यात् । यदाह मनुः—“चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्” गुरुरपि—“गृहान्निष्क्रमणं सुनोश्चतुर्थे मासि कारयेत् । यात्रोक्ते समये मासि तृतीये द्वादशेऽहनि ॥” अत्र

तृतीयमासोऽप्युक्तः । राजमासं डेनापि—“ मासे तृतीये शशिवृद्धि-  
पक्षे क्षपाकरे शोभनगोचरस्थे । उत्पातपापग्रहवर्जिते मे निष्कामणां  
सौख्यकरं शिशूनाम् ॥ ” तदेतयोः पक्षयोर्यथागृह्यं व्यवस्था । मुहूर्त-  
संग्रहे तु विशिष्य तिथ्याद्युक्तं निष्कमणो—“ पूर्वपक्षः शुभः प्रोक्तः कृ-  
ष्णश्चांत्यत्रिकं विना । रिक्ता षष्ठ्यष्टमीदर्शद्वादशीश्च विवर्जयेत् ॥  
चत्वार्यम्णस्ततस्त्रीणि वैश्वात् त्रीणि च बुध्यभात् ” बुध्यभादु-  
त्तराभाद्रपदात् त्रीणि भानि च ।

“मैत्रमादित्यपुण्यौ च रोहिणी च शुभावहाः ।  
ऋषालिमेषा वर्ज्याः स्युस्तथैवाधोमुखानि च ॥  
सतां तु धारवर्गाश्च शुभदास्तूदयास्तथा ।  
केंद्रत्रिकोणगा सौम्याः पापाः षष्ठत्रिलाभगाः ॥  
उपनिष्कमणो शस्ता मातुलो वाहयेच्छिशुम् ।” इति ।

अधोमुखानि ‘मूलाहिमिश्रोग्रमधोमुखं भवेत्’ इत्युक्तानि, उदयाः  
लग्नानि, पंचविधे सुलग्ने क्रियमाणस्य शिशुनिष्कमणकर्मणः फलमाह  
बृहस्पतिः—“अथ निष्कमणं नाम गृहात्प्रथमनिर्गमः । अकृतायां क्रियायां  
स्यादायुःश्रीनाशनं शिशोः ॥ कृते संपद्विवृद्धिः स्यादायुर्वर्धनमेव च ॥”  
इति । अत्र विशेषमाह यमः—“ तृतीये मासि कर्त्तव्यं शिशोः सूर्यस्य  
दर्शनम् । चतुर्थे मासि कर्त्तव्यमग्नेश्चन्द्रस्य दर्शनम् ॥” इति ॥ १५ ॥

( इति निष्कमणादिमुहूर्ताः । )

अथ सूतिकाया जलपूजामुद्धृतं भुजङ्गप्रयातेनाह—

कवीज्यास्तचैत्राधिमासे न पौषे  
जलं पूजयेत्सूतिकामासपूर्त्तौ ।  
बुधेन्द्रिज्यवारे विरिक्ते तिथौ हि  
श्रुतीज्यादितीन्द्रर्कनैऋत्यमैत्रैः ॥ १६ ॥

कवीज्येति । कविः शुक्रः, इज्यो गुरुः, अनयोरस्ते, चैत्रमासे तथा-  
धिकमासे तथा पौषमासे सूतिका जनयित्री मासपूर्त्तौ सत्यां जलं  
नद्यादेरम्बु न पूजयेत् । तथा बुधेन्द्रिज्यवारे बुधगुरुचन्द्रवारेषु, तथा



विरिक्ते रिक्तारहिते तिथौ, हि निश्चितम्, तथा श्रुतिः श्रवणः, इज्यः पुष्यः, अदितिः पुनर्वसुः, इंदुर्मृगः, अर्को हस्तः, नेऋत्यं मूलम्, मैत्रमनुराधा, एतैर्नक्षत्रैः सहिते दिने सूतिका जनयित्री मासपूर्त्तौ सत्यां नद्यादेर्जलं पूजयेत् । अत्र मूलानुपलम्भः । नन्वयं मुहूर्तो निष्क्रमणात्प्राङ्नामकरणानन्तरं वक्तव्यः, प्राप्तकालत्वात्, व्युत्क्रमे कारणं न पश्यामः इति चेत्, शृणु । क्रमस्त्वत्र शास्त्रीयोऽविवक्षितः । जलपूजा ह्याचारप्राप्ता लौकिकीति क्रमानुपेक्षा । अतः कालान्तरेपि केचिज्जलपूजामाहुः । अथ मासानन्तरं विहितो गवादिदुग्धपानविधिः । तन्मुहूर्तः प्राच्यमतेन मयोच्यते । श्रीधरीये—“एकत्रिंशो वासरे वा द्वितीये जन्मर्क्षे वा शुद्धलग्नेऽनुकूले । शङ्खे क्षीरं सन्निदध्याच्छिशूनां वक्त्रे धात्री पूज्यपूजाविधाय” । नृसिंहोऽपि—“एकत्रिंशदिने चैव पयः शङ्खेन पाययेत् । अन्नप्राशननक्षत्रदिवसोदयराशिषु” । वक्ष्यमाणान्नप्राशनोक्तशुभदिवसे एकत्रिंशत्तमे धात्र्युपमाता गवादिक्षीरं शङ्खे निधाय मान्यपूजां च विधाय शिशुमुखे क्षीरं निदध्यादित्यर्थः ॥१६॥

अथान्नप्राशनमुहूर्तं स्रग्धरयाह—

रिक्तानन्दाष्टदर्शं हरिदिवसमथो सौरिभौमार्कवारां-

लग्नं जन्मर्क्षलग्नाष्टमगृहलवगं मीनमेषालिकं च ।

हित्वा षष्ठात्समे मास्यथ हि मृगदृशां पञ्चमादोजमासे

नक्षत्रैः स्यात्स्थिराख्यैः समृदुलघुचरैर्बालकान्नाशनं सत् १७

रिक्तेति । अथोशब्दो मध्ये पठितोपि पद्यादौ ज्ञेयः । अथो अनन्तरं निष्क्रमणानन्तरमेवंविधे काले वालानामन्नाशनं प्रथमभोजनं सत्, शुभफलदायि स्यादित्यन्वयः । तत्रैते वर्ज्यपदार्थाः—रिक्ताः ४ । ६ । १४, नन्दाः १ । ६ । ११, अष्ट ८, दर्श ३०, हरिदिवसं द्वादशी १२ एतास्तिथीर्हित्वा । उपलक्षणत्वात्तिथिज्ञायं च । तथा सौरिभौमार्कवारांश्च हित्वेत्यर्थः । यदाह नारदः—“रिक्तां तिथिज्ञायं नन्दां द्वादशीमष्टमीमपि । त्यक्त्वान्यतिथयः श्रेष्ठाः प्राशने शुभवासराः” इति । कश्यपोपि—“द्वादशीमष्टमीं रिक्तां नन्दां चैव दिनज्ञायम् । सूर्यार्किभौमवारांश्च त्यक्त्वान्यशुभवासरे” नवान्नप्राशनमित्यनुवर्तते । अतः

एवोक्तं जीर्णैः—“द्वितीया च तृतीया च पञ्चमी सप्तमी तथा । त्रयोदशी च दशमी प्राशने तिथयः शुभाः” । क्वचित्पूर्य्यबुधगुरुवाराः प्रशस्ता उक्ताः, अन्ये निषिद्धाः । उक्तं च—“शशिशुके च मन्दाग्निः शनौ भौमे बलक्षयः । बुधार्कगुरुवारेषु प्राशनं हि शुभावहम्” इति । तदेतन्निर्मूलत्वादुपेक्ष्यम् । दोषान्तरमप्युक्तं नारदेन—“न वैधृतौ व्यतीपाते विष्ट्यां गण्डातिगण्डयोः । शूले वज्रे न परिघे बालान्नप्राशनं हितम्” । अत्रैषां दोषाणां सामान्यतो निषेधे सिद्धे पुनर्वचनं ‘विष्टिरङ्गारकश्चैव’ ‘वज्रविष्कम्भयोस्तिष्ठः’ इत्यनयोरेष्यपवादार्थम् । तेन स्वीयभोगपर्यन्तं निषेधः ।

अन्नप्राशने लग्नं मासाश्च—

लग्नमिति । लग्ने जन्मराशिजन्मलग्ने ताभ्यामष्टमगृहमष्टमलवोऽष्टमनवांशश्च तौ गच्छति प्राप्नोत्येवंविधं लग्नं हित्वा जन्मराशिलग्नमाभ्यामष्टमनवांशं च त्यजेदित्यर्थः । उक्तं च कश्यपेन—“जन्मराशिविलग्नमाभ्यां नैधनेशे च वर्जयेत्” इति । तथा मीनमेषालिकं च—मीनमेषवृश्चिकलग्नानि हित्वा । यदाह जगन्मोहने कश्यपः—“गोश्वकुम्भतुलाकन्यासिंहकर्कनृयुग्मृगाः । शुभदा राशयश्चैते न मेषभूषवृश्चिकाः” इति । नृयुक् मिथुनम् । मृगो मकरः षष्ठादिति ह्यबलोपे पञ्चमी । षष्ठमासमारभ्य सममासे षष्ठाष्टमदशमद्वादशमासेषु बालानां अन्नप्राशनम् । पुंवालविषयमेतत् ।

स्त्रीशिशुषु विशेषः—

अथानन्तरं हि निश्चयेन मृगदशां कन्यकानां पञ्चमादोजमासे विषममासे पञ्चमसप्तमनवमैकादशमासेषु अन्नप्राशनं सत् । उक्तं च वसिष्ठेन—“युग्मेषु मासेषु च षष्ठमासात्संवत्सरे वा नियतं शिशूनाम् । अयुग्ममासेषु च कन्यकानां नवान्नसंप्राशनमिष्टमेतत् ॥” अत्रायुग्ममासत्वं पञ्चममासादिति ज्ञेयम् । यदाह नारदः—“षष्ठे मास्यष्टमे वाथ पुंसां स्त्रीणां च पञ्चमे । सप्तमे मासि वा कार्यं नवान्नप्राशनं शुभम्” । मनुस्तु ‘षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि’ इत्याह ।

फलितार्थः—

एवमनेककालाभिधाने कस्मिन्काले अन्नप्राशनं विधेयमिति सन्देहः—किं समबलत्वात्सर्वेऽपि मुख्या एव कालाः, उत कश्चिन्मुख्यगौ-



एभाव इति । अत्र ब्रूमः—स्वस्वगृहो विशिष्य कालोन्नप्राशने उक्तः स मुख्यः । तत्र गुरुशुकास्तादिविचारो नैवेति ध्येयम् । इतरेषु गौणकालेषु विहितकालाननुष्ठाने सति निर्दोषकाले हि विधेयम् । यत्र स्वगृहो क्वचिद्विशिष्य कालो नाभिहितः तत्र सर्वेषां सांहितिककालानां तुल्यबलत्वाद्विकल्पो भवति । तत्रापि सदोषं कालं विहाय निर्दोषकालोन्नप्राशनं विधेयमिति फलितोऽर्थः ।

शुक्लपक्षपूर्वाहणनक्षत्रविशेषा अन्नप्राशने—

तत्रापि शुक्लपक्षे पूर्वाह्णे विधेयम् । ‘शुक्लपक्षे च पूर्वाह्णे’ इति नारदोक्तेः । नक्षत्रैरिति । मृदुमणलधुगणचरगणयुतैः स्थिराख्यैर्नक्षत्रैर्बालकान्नप्राशनं स्यात्—“चरस्थिरमृदुक्षिप्रनक्षत्रेषु शुभे दिने” इति कश्यपोक्तेः । जगन्मोहने वसिष्ठोपि—“विष्णुरुष्णाकिरणो हिमरश्मिर्वायुभिन्नवरुणादितिचित्राः । अश्विदिव्यवसुपौष्णभरोहिण्युत्तराश्च शिशुभोजनताराः” इति ।

तत्र जन्मनक्षत्रं श्रेयः—

अत्र विहितनक्षत्रेषु जन्मनक्षत्रं प्रशस्तमुक्तं नारदेन—पट्टबन्धनचौलान्नप्राशने चोपनायने । शुभदं जन्मनक्षत्रमशुभं त्वन्यकर्मणि” इति । “बालान्नभुक्तौ व्रतबन्धनेपि राजाभिषेके खलु जन्मधिषायम् । शुभं त्वनिष्टं सततं विवाहसीमन्तयात्रादिषु मङ्गलेषु” इति वसिष्ठोक्तेः । यत्तु गुरुवचनं—“जन्मर्क्षकर्मनक्षत्रे आधातर्क्षे च वर्जयेत् । कर्णविधं तथा यानं क्षुरकमन्निभोजनम्” इति । एषां लक्षणमुक्तं हि मुहूर्तसंग्रहे—“जन्मभं जन्मनक्षत्रं दशमं कर्मसंज्ञितम् । एकोनविंशमाधानं त्रयोविंशं विनाशभम्” इति । त्रयोविंशव्यतिरेकानां सर्वेषां जन्मनक्षत्रत्वमस्तीति तद्वार्षिकनवान्नभोजनविषयकम् । अत एव लोकेऽन्नभोजनान्नप्राशनशब्दयोः साधारणत्वेन व्यवहारः, उपलम्भात् । “जन्मनक्षत्रगश्चन्द्रः प्रशस्तः सर्वकर्मसु । क्षौरमैषज्यवादाध्वकर्तनेषु च वर्जयेत्” दीपिकायां निषेधानुपलम्भाच्च । तस्मात्प्रथमदशमैकोनविंशेषु जन्मनक्षत्रेषु बालान्नप्राशनं प्रशस्ततरमिति वयं ब्रूमः । यदपि लल्लवाक्यं—“हित्वैकं जन्मर्क्षं द्वे तारे जन्मसंज्ञिते शुभदे । उद्वाहे चोपनाये यात्रायामन्नभोजने क्षौरे” इति । “यन्नक्षत्रे जन्मतज्जन्मनक्षत्रं दशमैकोनविंशं च जन्मतारेत्युच्यते लोकैः” इति । एतदपि प्रागुक्तविषयमेवेत्यलमिति प्रसङ्गेन ।

विद्धनक्षत्रं त्याज्यमेव—

तत्रापि विद्धनक्षत्रं सर्वथा निषिद्धमेव । तदुक्तं दीपिकायाम्—  
“कर्णविधे विवाहे च व्रते पुंसवने तथा । प्राशने चाद्यचूडायां विद्धमृत्तं  
परित्यजेत् ” वेधप्रकारो हि विवाहप्रकरणो वक्ष्यते ॥ १७ ॥

अन्यद्वसन्ततिलकयाह—

केन्द्रत्रिकोणसहजेषु शुभैः खशुद्धे  
लग्ने त्रिलाभरिपुगैश्च वदन्ति पापैः ।  
लग्नाष्टषष्टरहितं शशिनं प्रशस्तं  
मैत्राम्बुपानिलजनुर्भमसच्च केचित् ॥ १८ ॥

केन्द्रेति । अत्र यद्यपि केन्द्रशब्देन दशममपि स्थानमुच्यते । तथा-  
पि न गृह्यते ‘खशुद्धे लग्ने’ इति वक्ष्यमाणत्वात् । एवं सति केन्द्राणि  
१ । ४ । ७, त्रिकोणं ६ । ५, सहजं ३, एषु स्थानेषु स्थितैः शुभ-  
ग्रहैः, तथा त्रि-३लाभ-११रिपु-६गैः पापग्रहैश्चोपलक्षिते लग्ने ख-  
शुद्धे दशमशुद्धिसहिते सर्वग्रहरहिते इति यावत् । एवंविधे लग्ने  
लग्नाष्टषष्टस्थानरहितमर्थादन्यस्थानस्थितं शशिनं प्रशस्तं वदन्ति ।  
मुनय इति शेषः । यदाह कश्यपः—“त्रिकोणकेन्द्रज्यायेषु शुभैस्त्या-  
यारिगैः परैः । अलग्ननिधनांत्यारिस्थानस्थेन हिमांशुना ॥ ” अत्रप्राशनं  
कुर्यादित्यनुवर्तते । अत्र लग्नस्थचन्द्रनिषेधः क्षीणचन्द्रविषयः ।  
नोरदोपि—

“दशमे शुद्धिसंयुक्ते शुभलग्ने शुभांशके ।  
शुक्लपक्षे च पूर्वाह्ने सौम्ययुक्तनिरीक्षिते ॥  
त्रिषष्टलाभगैः पापैः केन्द्रधीधर्मगैः शुभैः ।  
व्यंत्यारिनिधनस्थेन चन्द्रेण प्राशनं शुभम् ॥ ” इति ।

अत्र दशमशुद्धिः सर्वग्रहरहित्यम् । दशमस्थानातिरिक्तकेन्द्रं  
केन्द्रशब्देन विवक्षितम् । यदाह प्रयोगपारिजातेऽर्वाचः—“दशमस्थान-  
गान्सर्वान्वर्जयेन्मतिमान्नरः । अत्रप्राशनकृत्येषु मृत्युक्लेशमयावहान् ॥ ”



अत्र लग्नस्थचन्द्रः प्रशस्तः, पूर्वाचन्द्रविषयत्वात् । एतच्चाग्रिमपद्ये  
वक्ष्यते । विशेषमाह अत्र गुरुः—“ शुक्रारक्षाः क्रमाद्याताः सप्तमाष्ट-  
मधर्मभे । भोज्यभोक्तृनवत्वे तु सर्वथा मरणप्रदा ॥ ” इति । शुक्रः  
सप्तमः, भौमोष्टमः, बुधो नवमश्च, भोज्यमन्नं गोधूमादि, तस्य  
नवत्वे नवान्नत्वे भक्षणीयत्वे सति भोक्तुरन्नप्राशनकर्तृबालकस्य नवत्वे  
सति वा एते ग्रहा मरणप्रदा इत्यर्थः । मैत्रेति । मैत्रांबुपानिलाः अनुराधा-  
शततारकास्वात्योऽस्त्यो निषिद्धा इति केचिदाहुरिति परमतेनोपन्यासः  
यथोक्तं श्रीपतिना—“ रेवतीश्रुतिपुनर्वसुहस्ता ब्राह्मणतः पृथगपि द्विती-  
ये च । ज्युत्तरे च गदितं पृथुकानां प्राशनं हि स नवान्नविधानम् ॥ ”  
अस्यार्थः रेवत्यादिभ्यः पञ्चभ्यो द्वितीयेपि नक्षत्रे । कोऽर्थः रेवत्यश्वि-  
नी च श्रवणं धनिष्ठा च पुनर्वसुः पुष्यश्च हस्तश्चित्रा च रोहिणी मृग-  
श्च उत्तरात्रयमेवेत्येवं त्रयोदशर्क्षेषु पृथुकानां बालानामन्नप्राशनं वार्षिकं  
नवान्नविधानं च गदितमिति । नारदादिभिस्तु चरस्थिरक्षिप्रमृदु-  
नक्षत्रेषु इति षोडश नक्षत्राणामभिधानात् । तत्र त्रयाणामनुराधाशतता-  
रकास्वातीनामाधिक्यादतः श्रीपतिमतमाश्रित्यैषां भानां निषिद्धत्वमुक्त-  
म् । ग्रन्थकृता च पुनर्जनुर्भं जन्मनक्षत्रं चासदिति केचिदित्युक्तम् । यदाह  
गुरुः—“ जन्मर्क्षे कर्मनक्षत्रे आधानर्क्षे च वर्जयेत् । कर्णविधं तथा यानं जु-  
रकर्मान्नभोजनम् ॥ ” इति । विशेषानवधारणं जनानां मतभेदात् । वस्तु-  
तस्तु अन्नस्य भोजनं अन्नभोजनमिति व्युत्पत्त्या वार्षिकनवान्नभो-  
जनविषयकमेवैतदित्युक्तमस्माभिः पूर्वपद्ये ॥ १८ ॥

अथ ग्रहाणां स्थानवशात्फलान्यनुष्टुप्छंदोभ्यामाह—

क्षीणेन्दुपूर्णचन्द्रेज्यज्ञभौमार्कार्किभार्गवैः ।

त्रिकोणव्ययकेन्द्राष्टस्थितैरुक्तं फलं ग्रहैः ॥ १९ ॥

भिक्षाशी यज्ञकृद्दीर्घजीवी ज्ञानी च पित्तरुक् ।

कुष्ठी चान्नक्लेशवातव्याधिमान्भोगभागिति ॥ २० ॥

क्षीणैद्वित्यादि । त्रिकोणे ६ । ५, व्यये १२, केन्द्राणि १ । ४ । ७,  
दशमरहितानि, अष्ट ८ । पञ्च स्थानेषु स्थितैः क्षीणैर्द्वादिभिरष्टभिर्ग्रहै-  
र्भिक्षाशीत्यादिकं फलं यथासंख्येनोक्तम् । मुनिभिरिति शेषः । यथा

एषु स्थानेषु स्थितः क्षीणचन्द्रश्चेत्तदाज्ञप्राशनकृद्बालो भिक्षाशी दरि-  
द्रः स्यात्, तथा पूर्णचन्द्रः एतत्स्थाने स्थितश्चेत्तदा ज्योतिष्टोमयज्ञ-  
कृत्, एवमिज्यो गुरुश्चेद्दीर्घजीवी, शो बुधश्चेत् ज्ञानी स्यात्, भौम-  
श्चेत्पित्तरुक् पित्तकृता रुग् यस्यासौ पित्तरुक्, अर्कश्चेत्कुष्ठी स्यात्,  
आर्किः शनिश्चेत्तदान्नाभावसम्बन्धी क्लेशोऽन्नक्लेशः, वातप्रधानो  
व्याधिर्वातव्याधिः एतौ विद्येते यस्यासौ अन्नक्लेशवातव्याधि-  
मान् स्यात् । उपलक्षणत्वाद्वाहुकेवोरप्येतत्फलं द्रष्टव्यम् ।  
भार्गवः शुक्रश्चेत्तर्हि भोगभाग् स्यादित्यर्थः, उक्तं च रत्नमालायाम्—  
“रवौ लगने कुष्ठी धरणितनये पित्तगदभाक्कुनौ वातव्याधिः कृशश-  
शिनि भिक्षाशनरतः । बुधे ज्ञानी भोगी ह्युशनसि चिरायुः सुरगुरौ  
विधौ पूर्णे यज्वा भवति च नरः सन्नद इह ॥ कंटकांत्यनिधनत्रिकोण-  
गास्तत्फलं ददति यन्ततो ग्रहाः । षष्ठ इन्दुरशुभस्तथाष्टमः केन्द्रकोण-  
गत ऐनिरन्नहृत् ॥ ” इतः सूर्यस्तस्यापत्यमैनिः शनिः । अत्र  
लग्नस्थितानामेव ग्रहाणां फलाभिधानादन्यकेन्द्रादिषु तदतिदे-  
शात्फलेपि महत्त्वात्पत्न्यकृतो विशेषो ध्येय इति निष्कृष्टोर्थः । अन्यथा  
सर्वकेन्द्राद्यनुवादेन कुष्ठ्यादिफलमेव स्यात् । अत एव वसिष्ठेन  
लग्नस्थितानामेव फलमुक्तं—‘कुष्ठीलग्नगते सूर्ये क्षीणचन्द्रे च भिक्षुकः ।  
सन्नदः पूर्णचन्द्रे स्यात्कुजे पित्तरुजार्दितः । बुधे ज्ञानी गुरौ भोगी  
दीर्घायुर्भाग्यवान्सिते । वातरोगी शनौ राहौ केतौ चान्नविवर्जितः ॥”  
इति । नारदादिभिरप्येवमुक्तम् । लग्नं विहायान्यकेन्द्रस्थितानां ग्रहाणां  
तु सामान्यत एव फलं शुभाशुभमुक्तम् । तद्वाक्यं प्रागभिहितमस्माभिः ।  
ग्रन्थकर्त्रा तु लाघवात् रत्नमालापद्यार्थमनुसृत्यैवमुक्तमित्यदोषः । पूर्ण-  
चन्द्रक्षीणचन्द्रयोर्लक्षणमज्ञप्राशनप्रकरणे उक्तं वसिष्ठेन—“संपूर्णेन्दुभया-  
ष्टम्योर्मध्येन्दुः पूर्णसंज्ञकः । विनष्टेन्दुभयाष्टम्योर्मध्येसौ क्षीणसंज्ञकः ॥”  
इति । संपूर्णेन्दुः पूर्णिमामध्येन्दुरित्यत्र छान्दसः समासः । कुतः—“स-  
मर्थः पदविधिः” इति सापेक्षमसमर्थं भवतीति च स्मरणात् । अथ वा  
मध्ये इन्दुरिति पदच्छेदः । तत्रायादेशे यलोपे च—“पूर्वत्रासिद्धम्”  
इत्यसिद्धत्वमाद्गुणे कर्त्तव्ये न भवति “न मुने” इत्यत्र नेतियोगविभा-  
गात्तस्य चेष्टसिद्धिविषयत्वात् । विनष्टेन्दुरसावास्या, असाविति  
कृतपदच्छेदमध्येन्दुशब्दस्येन्दुशब्दवाच्यः ॥ १६—२० ॥

( इति अन्नप्राशनम् )



अथ भूम्युपवेशनमुहूर्तं वसन्ततिलकयाह—

पृथ्वीवराहमभिपूज्य कुजे विशुद्धे-  
 ऽरिक्ते तिथौ व्रजति पञ्चममासि बालम् ।  
 बद्धा शुभेऽहि कटिसूत्रमथ ध्रुवेन्दु-  
 ज्येष्ठर्क्षमैत्रलगुभैरुपवेशयेत्कौ ॥ २१ ॥

पृथ्वीति । पृथ्वी च वराहश्चानयोः समाहारद्वन्द्वः । पृथ्वीं वराहं  
 चाभिपूज्य कुजे विशुद्धे भौमबले सतीत्यर्थः । अरिक्ते रिक्कारहिते  
 तिथौ सति तथा पञ्चममासि व्रजति लग्ने सति तथा शुभेहि शुभ-  
 ग्रहवारेषु तथा ध्रुवेन्दुज्येष्ठर्क्षमैत्रलगुभैः रोहिण्युत्तरात्रयमृगज्येष्ठानु-  
 राधाश्विनीपुष्यहस्तैर्दर्शनक्षत्रैः उपलक्षिते काले बालं कटिसूत्रं पट्टसूत्रा-  
 दिनिर्मितं कटिस्थले बद्धा कौ पृथिव्यामुपवेशयेन्मन्त्रपाठपूर्वकमुप-  
 वेशनाख्यं संस्कारं कुर्यात् । उक्तं च पद्मपुराणे—“पञ्चमे च तथा  
 मासि भूमौ तमुपवेशयेत् । तत्र सर्वे ग्रहाः शस्ता भौमो राम विशेष-  
 तः ॥ तिथिं च वर्जयेद्विक्तां शस्तानि शृणु भानि मे । उत्तरात्रितयं  
 सौम्यं पुण्यक्षं शक्रदैवतम् ॥ प्राजापत्यं च हस्तश्च शस्तमाश्विनमि-  
 त्रभम् । वराहं पूजयेद्देवं पृथिवीं च तथा ग्रहान् ॥”

मन्त्रा अपि तत्रैवोक्तास्ते लिख्यन्तेऽस्माभिः—

“रक्षैनं वसुधे देवि सदा सर्वगतं शुभे ।  
 आयुःप्रमाणं निखिलं निःक्षिपस्व हरिप्रिये ॥  
 अचिरादायुषस्तस्य ये केचित्परिपन्थिनः ।  
 जीवितारोग्यवित्तेषु निर्दहस्वाचिरेण तान् ॥  
 धारिण्यशेषभूतानां मातस्त्वमधिका ह्यसि ।  
 कुमारं पाहि मातस्त्वं ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥  
 तस्योपवेशनं कृत्वा भूमौ ब्राह्मणभोजनम् ।  
 पूर्वं कृत्वा ततः कार्यमुत्सवं पूर्वावद्विज ॥” इति ।

उत्सवो नीराजनादिः । यद्यपि ग्रन्थकर्त्रा पञ्चममासि कर्त्त-  
 व्यं भूम्युपवेशनमन्नप्राशनतः प्राक् वक्तव्यम् । तथापि ज्योतिःशास्त्र-

कर्तृवसिष्ठाद्यनुक्तत्वात् क्रमबाधमङ्गीकृत्योक्तम् । साम्प्रतं बालानां त्व-  
न्नप्राशनसमय एव भूम्युपवेशनकाल इति ॥ २१ ॥

अथ जीविकापरीक्षां शालिन्याह—

तस्मिन्काले स्थापयेत्तत्पुरस्ता-

द्वस्त्रं शस्त्रं पुस्तकं लेखनीं च ।

स्वर्णं रौप्यं यच्च गृह्णाति बाल-

स्तैराजीवैस्तस्य वृत्तिः प्रदिष्टा ॥ २२ ॥

तस्मिन् काल इति । स्पष्टार्थं पद्यम् । आजीवैर्जीविकाभिः । “आ-  
जीवो जीविका वाचा” इत्यभिधानात् । यदाह मार्कण्डेयः—“अप्रतोऽथ  
प्रविन्यस्य शिलाभाण्डानि सर्वशः । शस्त्राणि चैव वस्त्राणि ततः प-  
श्येत्तु लक्षणम् ॥ प्रथमं यत्स्पृशेद्बालो रिंगमाणः स्वयं तदा । जी-  
विका तस्य बालस्य तेनैव तु भविष्यति ॥” इति । बहुधा तु जीवि-  
कापरीक्षामन्नप्राशनसमय एव कुर्वन्तीति शिष्टाचारः । इदं पद्यं प्र-  
न्थकर्तुः मुहूर्त्तविचारार्थं प्रवृत्तस्य हि वक्तुमनुचितम् । मुहूर्त्तविचा-  
रस्यात्र प्रतिपादनीयत्वात् । किंतु धर्मशास्त्रकर्तृणामुचितोयं विचारः ।  
यतस्ते संस्कारादिनिर्णयार्थं प्रवृत्ता इति ॥ २२ ॥

अथ शिशोस्ताम्बूलभक्षणमुहूर्त्तं स्रग्धरयाह—

वारे भौमार्किहीने ध्रुवमृदुलघुभैर्विष्णुमूलादितीन्द्र-

स्वातीवस्वभ्युपेतैर्मिथुनमृगसुताकुम्भगोमीनलग्ने ।

सौम्यैः केन्द्रत्रिकोणैरशुभगगनगैः शत्रुलाभत्रिसंस्थै-

स्ताम्बूलं सार्द्धमासद्वयमितसमये प्रोक्तमन्नाशने वा २३

वारे इति । भौमार्किभ्यां मङ्गलशनिभ्यां हीने रहिते वासरे सति  
श्रवणमूलपुनर्वसुज्येष्ठास्वातीधनिष्ठायुक्तैः ध्रुवमृदुलघुनक्षत्रैः उपल-  
क्षिते काले तथा मिथुनं, मृगो मकरः, सुता कन्या, कुम्भः, गौर्वृषः, मीनः  
एषामन्यतमे लग्ने सौम्यैः सौम्यग्रहैः केन्द्रत्रिकोणगतैः अशुभगगनगैः  
पापग्रहैः शत्रुलाभत्रिसंस्थैः षष्ठैकादशतृतीयस्थानस्थितैः सहिते सति



बालकस्य तांबूलं लक्षणया ताम्बूलभक्षणं प्रोक्तमित्यर्थः । यदाह दीपिका-  
कारः—“मूलादितिद्रविणतिष्यकरोत्तरासु पौष्णाश्विविष्णुरजनीकरशक्र-  
भेषु । वारेषु सूर्यशशिजीवसितेन्दुजानां ताम्बूलभक्षणविधिः कथितः  
शिशूनाम् ॥ दुश्चिक्यलाभभवनारिगताश्च पापाः सौम्यग्रहा नवमपञ्चम-  
कण्टकस्थाः । आरोग्यशान्तिशुभभाग्यसुखोपभुक्त्यै ताम्बूलभक्षणविधौ  
मुनिभिः प्रदिष्टाः ॥” इति । द्रविणं धनिष्ठा, चित्रानुराधयोर्ग्रहणं  
राजमार्तण्डवचनात् । “दिनकरचन्द्रसमीरणमैत्रं पुष्यपुनर्वसुरेवति-  
चित्रम् । घटमृगमिथुनं कन्यकलग्नं पूगफलाशनमेभिरिहैष्टम् ॥”  
पूगग्रहणं फलताम्बूलोपलक्षणम् । रोहिणीस्वात्योर्ग्रहणं मूलं नास्ति ।  
मीनवृषयोर्ग्रहणं च मूलं नास्ति । एतच्च कस्मिन्काले कार्यमित्यत  
आह—सोर्द्धेति । जन्मकालात्सार्धमासद्वयमितसमये ताम्बूलदानं प्रोक्त-  
म् । यदाह चण्डेश्वरः—“साद्धे मासद्वये पूगं ताम्बूलं वा शिशोर्हितम् ।  
षड्भिरन्नभुजो मासैर्मौंगभागी भवेन्नरः ॥” वा अथ वा अग्राशने  
अन्नाशनसमये वा प्रोक्तम् । एतच्च शिष्टाचारदर्शनादुक्तम् । तदा मुहूर्त-  
विचारानुन्मेषः । यदा सार्धं मासद्वये ताम्बूलभक्षणं विहितं तदा  
मुहूर्तविचारो युक्त एव ।

ताम्बूलभक्षणमुहूर्तान्येषामपि—

अथ प्रसङ्गतोन्वेषामपि ताम्बूलभक्षणमुहूर्तः प्रोच्यतेऽस्माभिः । तदुक्तं  
दीपिकायाम्—“मूलाश्विमैत्रकरतिष्यहरीन्दुभेषु पौष्णे तथा मृगशिरो-  
दितिवासवेषु । अर्केन्दुजीवभृगुवोधनवासरेषु ताम्बूलनूतनदलाद्यशनं  
शुभाय” दलानि पर्णानि । विशेषः स्मृतिभ्यानुसन्धेयः ।

ताम्बूलदाने फलव्यवस्था—

ताम्बूलं सुष्ठु यो दद्याद्ब्राह्मणेभ्योऽतिभक्तिः ।  
मेधावी सुभगः प्राज्ञो दर्शनाभश्च जायते ॥  
फलेन तृप्यते ब्रह्मा पत्रेण भगवान् हरिः ।  
चूर्णमीश्वरतृप्त्यै स्यात्ताम्बूलाशनदानतः ॥  
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्भिः पूगैः फलानि च ।  
लाभालाभौ सुखं दुःखमायुर्मरणमेव च ॥  
पर्णमूले भवेद्ब्रथाधिः पर्णाग्रे धनसंक्षयः ।  
चूर्णपर्णं हरत्यायुः शिरा बुद्धिर्विनाशिनी ॥

पर्णाग्रं पर्णपृष्ठं वा चूर्णपर्णं द्विपर्णकम् ।  
रात्रौ खदिरताम्बूलं शक्रस्यापि धियं हरेत् ॥  
अशास्त्राविधिना पर्णपूगं खादति यो नरः ।  
सप्तजन्मदरिद्रः स्यादन्ते विष्णुं न संस्मरेत् ॥” इति ॥ २३ ॥

अथ कर्णवेधमुद्धर्त्त स्नाधरयाह—

हित्वैतांश्चैत्रपौषावसहरिशयनं जन्ममासं च रिक्तां  
युग्माब्दं जन्मतारामृतमुनिवसुभिः संमिते मास्यथो वा ।  
जन्माहात्सूर्यभूपैः परिमितदिवसे ज्ञेयशुक्रेन्दुवारे-  
ऽथौजाब्दे विष्णुयुग्मादिति मृदुलघुभैः कर्णवेधः प्रशस्तः २४

हित्वेति । अत्रैतान्यदार्थान् हित्वा कर्णवेधः प्रशस्त इत्यन्वयः ।  
एतान् कान्, तत्र चैत्रं पौषमासं च, अवमं दिनक्षयम् ।

लक्षणलक्षितजन्ममासादिनिषेधः—

“आरभ्य जन्मदिवसं यावद्विंशदिनं भवेत् । जन्ममासः स विज्ञेयो गहि-  
तः सर्वकर्मसु” इति लक्षणलक्षितं जन्ममासम् । रिक्तातिथि ४। ६। १४ ।  
युग्माब्दं समवर्षं द्वितीयचतुर्थादिकं, जन्मतारां प्रथमदशमैकोनविंशति-  
कात्मिकां हित्वा । उक्तं च व्यवहारोच्चये—“न जन्ममासे न च चैत्रपौषे  
न जन्मतारासु हरौ प्रसुप्ते । तिथावरित्ते न च विष्टिदुष्टे कर्णस्य वेधो  
न समानवर्षे ॥” इति । अत्र चैत्रस्य निषेधो मीनार्कविषयः, पौषनिषेधो  
धनुरर्कविषयः, अन्यथा—“कार्तिके पौषमासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेपि  
वा । कर्णवेधं प्रशंसन्ति शुक्ले पक्षे शुभेऽहनि” इति व्यासवचनमसङ्गतं  
स्यात् । अत्र कार्तिकशुक्लपक्षौकादशीतः कार्तिकः प्रशस्तः । पूर्वस्य देव-  
शयनसत्त्वान्निषेधः ।

जन्ममासेऽन्यान्यपि वर्ज्यानि—

अत्र जन्ममासे वर्ज्यान्तराण्यप्याह प्रयोगपरिजाते व्यासः—“यो  
जन्ममासे क्षुरकर्म यात्रां कर्णस्य वेधं कुरुते हि मोहात् । मूढः स  
रोगी धनपुत्रनाशं प्राप्नोति गूढं निधनं तदाशु ॥” इति । विहितकाल-  
माह—ऋत्विगिति । ऋतवः षट्, मुनयः सप्त, वसवोष्टौ, एतैः संमिते  
गणिते मासि षष्ठे मासे सप्तमे मासेऽष्टमे मासे वा अथो वा जन्मा-



हात्सूर्यभूपैर्द्वादशषोडशभिर्वा परिमिते गणिते दिवसे सौरसावने कर्णवेधः प्रशस्त उक्तः । यदाह जगन्मोहने वसिष्ठः—“ मासे षष्ठे सप्तमे वाऽष्टमे वा वेध्यौ कर्णौ द्वादशे षोडशेऽहि । मध्ये चाहः पूर्वभागे न रात्रौ ” इति ।

षष्ठमासे कर्णवेधे तिथयः—

यदा तु षष्ठमासादौ कर्णवेधश्चिकीर्षितः तदा तिथीनाह जगन्मोहने वसिष्ठः—“ द्वितीया दशमी षष्ठी सप्तमी च त्रयोदशी । द्वादशी पञ्चमी शस्ता तृतीया कर्णवेधने ” इति । ज्येष्ठशुक्लेन्दुवारेषु इति । बुधवृहस्पतिशुक्लचन्द्रवारेषु प्रशस्तः कर्णवेधः । यदाह जगन्मोहने वसिष्ठः—“ भूमिजार्कात्मजार्कानां वारान्संवर्जयेत्सुधीः । जीवेन्दुजेन्दुशुक्राणां दिवसाः परिपूजिताः ” इति । अथौजेति । ओजाब्दे विषमवर्षे वा कर्णवेधः प्रशस्तः । सूर्यबले सतीत्यपि ध्येयम्, यदाह राजमार्तण्डः—“ अर्केनुकूले शशिनि प्रशस्ते ताराबले चन्द्रविवृद्धिपक्षे । अयुग्मवर्षे शुभदं शिशूनां कर्णस्य वेधं मुनयो वदन्ति ” । अत्र कर्णस्येत्येकत्रचनं ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायेनाविवक्षितम् । तेन द्वयोरपि कर्णयोर्वेधः ।

नक्षत्राणि कर्णवेधे—

विष्ण्वति । श्रवणधनिष्ठापुनर्वसुचित्रानुराधामृगरेवत्यश्विनीपुष्यहस्तनक्षत्रैर्दशभिरुपलक्षिते काले कर्णवेधः प्रशस्तः । उक्तं हि श्रीपतिना—“ पौष्णवैष्णवकराश्विनचित्रापुष्यवासवपुनर्वसुमैत्रैः । सैन्दवैः श्रवणवेधविधानं निर्दिशन्ति मुनयो हि शिशूनाम् ” नारदेनापि—“ चित्रादित्याश्विष्विण्वत्यरविमित्रवसूदुषु । समृगेज्येषु बालानां कर्णवेधक्रिया हिता ॥ ” इति । गर्गोत्तरात्रयमप्युक्तम्—“ पुष्ये धनिष्ठास्वदितौ हरीन्दुत्वाष्ट्रे करेन्त्ये तिसृषूत्तरासु । दस्रे समैत्रेऽप्यथ कर्णवेधो नेष्टाश्च सर्वेष्टमराशिसंस्थाः ” इति । अत्रैच्छिको विकल्पः ।

जन्मनक्षत्रे कर्णवेधो न कार्यः—

अत्र जन्मनक्षत्रनिषेधः सर्ववादिसिद्धः । तदुक्तं दीपिकायाम्—“ जन्मनक्षत्रगश्चन्द्रः प्रशस्तः सर्वकर्मसु । क्षौरमैषज्यवादाध्वकर्त्तनेषु विवर्जयेत् ॥ ” इति । “ कृती छेदने ” इति धात्वर्थानुसारात्कर्त्तनशब्देन कर्णवेधो विवक्षितः । तथा च स्मर्यते—“ जन्मनि मासि विवाहः

शुभदो जन्मर्जजन्मराशयोश्च । अशुभं वदन्ति गंगाः श्रुतिवेधदौर्या-  
त्रासु ” इति ॥ २४ ॥

अथ कर्णवेधे लग्नशुद्धिं प्रहर्षिण्याह—

संशुद्धे मृतिभवने त्रिकोणकेन्द्र-

त्र्यायस्थैः शुभखचरैः कवीज्यलग्ने ।

पापाख्यैररिसहजायगेहसंस्थै-

र्लग्नस्थे त्रिदशगुरौ शुभावहः स्यात् ॥ २५ ॥

संशुद्ध इति । मृतिभवनेऽष्टमस्थाने संशुद्धे सर्वग्रहवर्जिते सति ।  
यदाह जगन्मोहने वसिष्ठः—“न कश्चिदिष्टोऽष्टमराशिसंस्थस्तिथिद्वयं  
चावमसंज्ञकं च ” इति । अत्र विहितलग्नानि प्रयोगपारिजाते नार-  
देनोक्तानि—

“वृषभे मिथुने मीने कुलीरे कन्यकासु च ।

तुलाचापे न कुर्वीत कर्णवेधं शुभद्वये ॥

मेघश्च मकरश्चैव मध्यमौ गुरुणोदितौ ।

सिंहवृश्चिककुंभाश्च ह्यधमत्वाद्विवर्जिताः ” इति ।

अत एवोक्तं वराहसंहितायाम्—“लाभे तृतीये च शुभैः समेते  
क्रूरैर्विहीने शुभराशिलग्नौ । वेध्यौ तु कर्णौ त्रिदशज्यलग्ने ” इति ।  
शुभाश्चन्द्रबुधगुरुशुकाः तेषां राशयः कर्कमिथुनकन्यावृषतुलाधनुर्मी-  
नास्तेषामन्यतमे लग्ने क्रूरैर्विहीने सतीत्यर्थः । ग्रन्थरुद्दीपिकाकारमत-  
माश्रित्याह—कवीति । कवीज्ययोर्लग्ने वृषतुलाधनुर्मीनानामन्यतमे ल-  
ग्नौ सति त्रिकोण-६।५ केन्द्र-१।४।७।१० त्र्याय-३ । ११ स्थितैः  
शुभग्रहैस्तथा पापाख्यैर्ग्रहैररिसहजायगेहसंस्थैः षष्ठतृतीयैकादशस्था-  
नस्थितैरुपलक्षिते तथा केन्द्रसंस्थे त्रिदशगुरौ सति कर्णवेधः शुभा-  
वहः शुभकारकः स्यात् । उक्तं च दीपिकायाम्—“सौम्यैस्त्र्याय(१)त्रि-  
कोणकण्टकगतैः पापैस्त्रिलाभारिगैरोजाब्दे श्रुतिवेध इज्यसितयोर्ल-

(१) अत्र संयोगपूर्वस्यापि ‘य-’कारस्य ह्रस्वत्वमेव ज्ञेयं “संयोग-  
पूर्वाऽपि क्वचिल्लघुः स्या-”दितिच्छन्दोग्रन्थस्थप्रमाणादन्यथा छन्दोभङ्ग-  
दोषः पततीति ।



ग्नेनुकूले शुभे ॥” इति । गुरुः—“कर्णवेधादिकार्येषु नेष्टाः सर्वेऽष्टम-  
स्थिताः । कर्णवेधो विनिर्देश्यो लग्नसंस्थे वृहस्पतौ ॥ तदभावेन्यके-  
न्द्रस्थे तदभावे त्रिकोणे” इति ।

कर्णवेधप्रकारः कर्णरन्ध्रविशेषश्च—

अत्र कर्णवेधप्रकारो रत्नमालायाम्—“शिशोरजातदन्तस्य मातु-  
रुत्संगसर्पिणः । सुताया वेधयेत्कर्णौ सूच्या द्विगुणसूत्रया ’ कर्णरन्ध्रे  
विशेषमाह देवलः—“कर्णरन्ध्रे रवेश्छाया न विशेषद्वजन्मनः । तं दृष्ट्वा  
विलयं यान्ति पुण्यौवाश्च पुरातनाः ॥” शालंकायनः—“अविद्धक-  
र्णैर्यद्भुक्तं लंबकर्णैस्तथैव च । दग्धकर्णैश्च यद्भुक्तं तद्वै रक्षांसि गच्छ-  
ति” इति । ब्राह्मणादिवर्णविशेषे तत्सूच्यभिधानं तत्संबन्धिविशेषश्च  
स्मृतिभ्योनुसंधेयः ।

अब्दपूर्तिमुहूर्तः—

अथ ग्रन्थकारानुक्तोप्यवसरप्राप्तोऽब्दपूर्तिमुहूर्तः प्रोच्यतेऽस्माभिः ।  
तत्र सौराब्दांते यद्दिने जन्मनक्षत्रं तद्दिनेऽब्दपूर्तिः कार्या । उक्तं च वि-  
धिरत्ने—“अब्देन सौरेण शिशोः समांते बालं सुसंस्नाप्य च जन्मधि-  
ष्ये । कृत्वायुषो वृद्धिकरं च कर्म तं धारयेद्वस्त्रसुवर्णसूत्रम् ॥” नृसि-  
होपि—“सौरेणाब्दांतजन्मर्क्षं शिशुं संस्नाप्य शास्त्रतः । आविध्य हेम-  
सूत्रं च राश्यादावनुकूलमे ॥ नवक्षौमांबरादीनि यथाहं धारयेत्तदा ।”

तत्र तिथिनिर्णयः—

अत्र खण्डनक्षत्रादौ निर्णयमाह वृद्धगर्गः—“उदयव्यापिजन्मर्क्षं त-  
स्माद्ग्राह्यं तु जन्मतः । संगव्यापिनि खण्डर्क्षं तत्र जन्मकरं शुभ-  
म् ॥” इति ।

प्रत्यब्दमब्दपूर्तिर्कृत्यं कार्यम्—

न केवलं प्रथमवर्ष एव अब्दपूर्तिः किन्तु प्रत्यब्दांतेपि कार्या । यदाह  
गर्गः—“यस्मिन्दिने सञ्चितरि तन्नक्षत्रादिनां भवेत् । प्रत्यब्दांते च नक्षत्रे  
विधिं वक्ष्ये नृणां परम् ॥” इति । दक्षिणात्यशिष्टाचारस्तु जन्ममासीय-  
जन्मतिथावब्दपूर्तिर्भवतीति दृश्यते । इत्यब्दपूर्तिः ॥ २५ ॥

अथ “चूडावर्षात्” इत्यादिना चौलमुद्धृतं विवक्षुस्तन्निषेधकं प्रस-  
ङ्गतोऽन्यकर्मनिषेधकं च कालं संग्रहरयाह—

गीर्वाणाम्बुप्रतिष्ठापरिणयदहनाधानचौलोपवीत-  
क्षोणीपालाभिषेकोदवसितविशनं नैव याम्यायने स्यात्(१)  
नो वा वाल्यास्तवाद्धं सुरगुरुसितयोर्नैव केतूदये स्यात्  
पक्षं वाद्धं च केचिज्जहति तमपरे यावदीक्षां तदुग्रे ॥२६॥

गीर्वाणेति । गीर्वाणा(२) देवाः, अम्बु जलं, लक्षण्या जलाशयः ।  
तयोः प्रतिष्ठा गीर्वाणप्रतिष्ठा जलाशयप्रतिष्ठा चेत्यर्थः । परिणयो वि-  
वाहः, दहनाधानमग्न्याधानम्, चौलं प्रसिद्धम्, उपवीतं व्रतबन्धः,  
क्षोणीपालाभिषेकोदवसितविशनं क्षोणीपालाभिषेकः राजाभिषेकः, उद-  
वसितविशनं गृहप्रवेशः, “गृहगेहोवसितं” इत्यमरेणाभिधानात् । अत्र  
समाहारद्वन्द्वः । एतानि कर्माणि उपलक्षणत्वादन्यान्यप्यनियतकाला-  
नि शुभकर्माणि याम्यायने दक्षिणायने नैव स्युः । स्यादित्येकवचनं  
मूले समाहारद्वन्द्वैकत्वाभिप्रायम् । यदाह महेश्वरः—“चूडाकर्मनृपा-  
भिषेकनिलयाग्न्याधानपाणिग्रहान्देवस्थापनमौज्ज्वलनविधीन् कुर्यान्न  
याम्यायने” इति । किंतूत्तरायणे कुर्यात् । तदुक्तं रत्नमालायाम्—“गृहप्रवे-  
शत्रिदशप्रतिष्ठाविवाहचौलव्रतबन्धपूर्वम् । सौम्यायने कर्म शुभं विधेयं य-  
द्गर्हितं तत्खलु दक्षिणे च ॥” विशनमिति ल्युट् प्रत्ययस्य क्त्वाद्यभा-  
वात् । “पुगन्तलधूपधस्य च” इति गुणः प्राप्तः ‘संज्ञापूर्वको विधिरनि-  
त्यः’ इति अनित्यत्वान्न भवति । ज्ञापकं चात्र “ओर्गुणः” इति सूत्रम् ।  
यथा “ओरोत्” इति वक्तव्ये गुणग्रहणं संज्ञापूर्वको विधिरनित्यो यथा  
स्यात् । तेन स्वायम्भुवमिति सिद्धम् । तथा च महेश्वरेणाप्युक्तम्—  
“भूपानां मृदुभैर्ध्रुवैः प्रविशनं यात्रानिवृत्तौ शुभम्” इति । अथ वा  
व्यक्तमेव पठितव्यं “गीर्वाणाम्बुप्रतिष्ठापरिणयदहनाधानगेहप्रवेशाश्चौ-  
लं राजाभिषेको व्रतमपि च शुभदं नैव याम्यायने स्यात्” इति । अथ

(१) गीर्वाणाम्बुप्रतिष्ठापरिणयदहनाधानगेहप्रवेशाश्चौलं राजाभिषेको  
व्रतमपि शुभदं नैव याम्यायने स्यात्” एवमपि पाठः समुपलभ्यते ।

(२) ‘गीर्वाणा दानवारयः.....’ इत्यमरः ।



सुरगुरुसितयोर्बृहस्पतिशुक्रयोर्वाद्यास्तवार्द्धक्ये च बालत्वेऽस्ते  
वार्द्धक्ये पतानि कर्माणि नो वा कुर्यात् । इदं प्रागुक्तमपि पुन-  
र्लिखितं तत्स्मरणविच्छेदार्थम् । मूलवाक्यान्यपि प्रागेवोक्तान्यस्मा-  
भिः । वृद्धशब्दस्य गुणवाचित्वात् “गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि  
च” इति प्यञ् । वार्द्धकमिति तु “द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च” इति मनोज्ञादे-  
राकृतिगणत्वाद्बुञ् ।

केतूदये कर्तव्यकार्येषु त्याज्यदिनसंख्याविचारः—

केतूदये धूमकेतूदये शुभकर्माणि नैव भवन्ति । तदुक्तं चण्डेश्व-  
रेण—“केतोरस्तदिनादूर्ध्वं सप्ताहं मङ्गलं त्यजेत् । यावत्केतूदयस्तावद-  
शुद्धः समयो हि सः ॥ ” इति । अत्र केचित्केतूदये जाते सति पक्षं  
पञ्चदश दिनानि जहति वर्जयन्ति । उक्तं च वराहेण—“दृष्टः षोड-  
शवासरात्र शुभदः कैश्चित्प्रदिष्टः शिखी ” इति । शिखी केतुः, दृष्ट  
इति वचनाद्यावन्न दृष्टस्तावददोष इत्यर्थः । अत्र ग्रन्थकृता एकदिन-  
त्यागोऽक्षरबाहुल्यभीतेः कृतः । केचित्तु वा पक्षान्तरे अर्द्धं पक्षार्द्धं सप्तदि-  
नानि(१) केतूदयानन्तरं जहति । तदप्युक्तं वराहेण—“केतूदये सप्त दिनानि  
चोर्ध्वं विवाहयात्रादिषु गर्हितानि । दिनानि शेषाणि वदन्ति नूनं शुभानि  
रैभ्यप्रमुखा मुनीन्द्राः ॥ ” इति । ननु कैश्चित्केतूदयदर्शनं यावन्मङ्गल-  
कृत्यानि निषिद्धानि । अन्यैस्तु केतूदयानन्दरं षोडशाष्टौ वा दिनानि नि-  
षिद्धानि । तत्कथमनयोर्वाक्ययोरेकवाक्यतेत्यत आह तभिति । अपरे आ-  
चार्याः तं केतुं यावदीक्षां यावद्दर्शनं यज्जहति तदुग्रे केतौ द्वित्रिचूडे ता-  
समकीलकादावतिदुष्टफले द्रष्टव्यम् । तेन भिन्नविषयत्वाद्दोषाभावः ।

तेषां केतूनां स्वरूपं फलानि च गर्गेशोक्तानि—

“त्रिशिखाश्च त्रिताराश्च रक्ता लोहितरश्मयः ।  
प्रायशस्तूत्तरामाशां सेवन्ते नित्यमेव ते-॥  
लोहितांगात्मजा ज्ञेया ग्रहाः षष्टिः समासतः ।  
नामतः कौकुमा ज्ञेया राक्षां संग्रामकारकाः ॥  
कृष्णाभाः कृष्णपर्यताः संकुलाः कृष्णरश्मयः ।  
राहुपुत्रास्त्रयस्त्रिंशत्कीलकाश्चातिदारुणाः ॥ ”

(१) सार्द्धानि ।

इत्यादि । वयं तु ब्रूमः । यावद्दर्शनं केतूदयो निषिद्ध इत्युक्तं तदुग्रे ब्रह्मपुत्राख्ये केतौ महादुष्टफले ज्ञेयम् । उक्तं च लोमशसंहितायाम्—“चातुर्मास्येथ पौषे मधु भवति रवौ ब्रह्मपुत्रोद्गमे वा दं-पत्योरेव नाशः प्रचुरमुनिगणैः कीर्तितो वै विवाहे ॥” इति । मधुमं मीनः, ब्रह्मपुत्रः केतुः ।

केतुलक्षणं तत्र वर्ज्यानि च—

विवाहस्योपलक्षणत्वादन्यान्यपि शुभकर्माणि निषिद्धानि—“केतो-रस्तदिनादूर्ध्वं सप्त रात्राणि वर्जयेत् । ब्रह्मपुत्रोद्गमे चैव व्रतं यात्रां च मङ्गलम् ॥” इति ज्योतिर्निबन्धकृदुक्तञ्च । ब्रह्मपुत्रलक्षणं सफलं वसिष्ठेनोक्तम्—“त्रिशिखस्त्रिवर्णयुक्तो ब्रह्मसुतो ब्रह्मदण्डनिभः । अनियतदिक्प्रभवोसौ कान्तकरो ब्रह्मदण्डाख्यः ॥” को ब्रह्मा, तस्याप्यंतं करोति तत्रान्येषां का कथेत्यर्थः अत एवोक्तं वराहेण—ब्रह्मसुत एक एव त्रिशिखो वर्णैस्त्रिभिर्भुगान्तकरः । अनियतदिक्संप्रभवो विज्ञे-यो ब्रह्मदण्डाख्यः ॥” इति ॥ २६ ॥

अथ गुरुशुक्रयोर्बाल्ये वार्द्धक्ये च शुभं कर्म त्याज्यम् । तत्रा-वसरप्राप्तां तदीयदिनसंख्यामनुष्ठुभाह—

पुरः पश्चाद्गोर्बाल्यं त्रिदशाहं च वार्द्धकम् ।

पक्षं पञ्चदिनं ते द्वे गुरोः पक्षमुदाहृते ॥ २७ ॥

पुरः पश्चादिति । भृगोः शुक्रस्य पुरः पूर्वस्यां दिश्युदितस्य पश्चा-द्वा तत्र यथासंख्यं बाल्यं स्यात् । पूर्वस्यां त्रिदिनं पश्चाद्दशाहं बा-लत्वं शुक्रस्येत्यर्थः । च पुनः भृगोर्बार्द्धक्यं वृद्धत्वं पूर्वस्यां पक्षं पञ्च-दश दिनानि पश्चात्पञ्च दिनानि । गुरोस्ते द्वे बाल्यवार्द्धक्ये पक्ष-मुदाहृते कथिते । यदाह नारदः—“पश्चात्प्रागुदितः शुक्रो दशत्रि-दिवसं शिशुः । वृद्धः पञ्चदिनं पक्षं गुरुः पक्षं च सर्वतः ॥” इति ॥ २७ ॥

परमते बाल्यं वार्द्धक्यं चानुष्ठुभाह—

ते दशाहं द्वयोः प्रोक्ते कैश्चित्सप्तदिनं परैः ।

अ्यहं त्वात्ययिकोऽप्यन्यैरर्द्धाहं च अ्यहं विधोः ॥ २८ ॥



ते दशाहमिति । दिङ्नियमं त्यक्त्वा द्वयोर्गुरुशुक्रयोस्ते बाल्यवार्द्धक्ये दशाहं दशदिनं प्रोक्ते कैश्चित् । परैस्तु सप्तदिने बाल्यवार्द्धक्ये गुरुशुक्रयोः प्रोक्ते । तदाह महेश्वरः—

“बालः शुक्रो दिवसदशकं पंचकं चैव वृद्धः  
पश्चादह्नां त्रितयमुदितः पक्षमैध्यां क्रमेण ।  
जीवो वृद्धः शिशुरपि सदा पक्षमन्यैश्च सूतौ  
वृद्धौ प्रोक्तौ दिवसदशकं चापरैः सप्तरात्रम् ॥ ” इति ।

केशवाकौपि—“क्षिपति सप्तदिनान्युदयास्तयोः सुरगुरुर्भुगुजश्च  
गतैष्ययोः ” इति । अन्यैरपि पुनस्त्यहं त्रिदिवसं बाल्यवार्द्ध-  
क्यं प्रोक्तम् । उक्तं च गर्ग—“शेषे तु देशे त्रिदिनं  
वदन्ति ” इति ।

तत्र मतान्तराणां व्यवस्था—

अथैषां वाक्यानां गतिमाह—आत्ययिके इति । अत्ययः कार्यावश्यंभावः  
स प्रयोजनं यस्येति “प्रयोजनम् ” इति ठक् । लग्नांतराभावे समय-  
शुद्ध्यभावे वा अतीतकालस्य वटोः अवश्यं देयायाः कन्यायाः गुणवद्गुरो-  
पलब्धौ वा यथासंभवं दशसप्तत्रिदिनानां त्याग उदितो नान्यथेत्यर्थः ।

तत्र देशभेदाद्व्यवस्था—

वयं तु देशभेदेनैषां वाक्यानां व्यवस्थां ब्रूमः । तदाह गर्गः—“शु-  
क्रो गुरुः प्राकरतश्च बालो विन्ध्ये दशावन्तिषु सप्तरात्रम् । वंगेषु  
द्वयोश्च च षट् च पञ्च शेषे तु देशे त्रिदिनं वदन्ति ॥ ” इति ।

चन्द्रस्य बाल्यवार्द्धक्यदिनानि—

चन्द्रस्य विशेषमाह—अर्द्धाहमिति । विधोस्तु बाल्यवार्द्धक्ये  
क्रमेणार्द्धाहं त्र्यहं च भवतः । बाल्यमर्द्धं दिनं वार्द्धक्यं त्रिदिनं चन्द्र-  
स्येत्यर्थः । उक्तं च वसिष्ठेन—“वृद्धत्वमिदोस्त्रिदिनं दिनार्द्धं बाल-  
त्वमस्तत्वमहर्द्धयं च । अस्ते विधौ मृत्युमुपैति कन्या बालेन्यसक्ता  
विधवा च वृद्धे ॥ ” ननु त्रिविक्रमेण चन्द्रस्येकदिनं बाल्यं प्रोक्तमि-  
ति तस्य वाक्यस्य का गतिः । न काचित् । किन्तु निर्मूलत्वादुपेक्ष्य-  
मेतद्वाक्यम् । साक्षाद्वसिष्ठेनापीदमदूषि—“येनोक्तमेकं दिवसं शिशुत्व-

मित्येतदिदोस्तदयुक्तमेव । महत्त्वशीघ्रत्वसुधामयत्वादिनार्द्धमष्टौ दिन-  
निष्ठितत्वात् ॥” इति । कश्यपेन तु वालोपीन्दुः शुभ एवोक्तः—“वृद्धचन्द्रः  
स्त्रियं हन्ति पतिं हन्त्यस्तमागतः । यतोस्यामृतरश्मित्वाद्वालोपि  
शुभदः शशी ॥” इति । अत एव सम्पूर्णयामपि शुक्लप्रतिपदि द्विती-  
यादिने द्वितीयायां प्रातर्यज्ञोपवीतादीनि शुभकृत्यानि शिष्टाः स-  
माचरन्ति ॥ २८ ॥

अथैवं निषिद्धकालमुक्त्वेदानीं चौलमुद्धर्त्तं स्रग्धरारथोद्धतावृ-  
त्ताभ्यामाह—

चूडावर्षात्तृतीयात्प्रभवति विषमेऽष्टार्करिक्ताचषष्ठी-  
पूर्वोनाहे विचैत्रोदगयनसमये जेन्दुशुक्रोज्यकानाम् ।

वारे लग्नांशयोश्चास्वभनिधनतनौ नैधने शुद्धियुक्ते  
शाक्रोपेतैर्विमैत्रैर्मृदुचरलघुभैरायषट्त्रिस्थपापैः ॥ २९ ॥

चूडावर्षादिति । तृतीयाद्वर्षादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तेन  
गर्भाधानकालाज्जन्मकालाद्वा तृतीये विषमे वर्षे पञ्चमे सप्तमे वा  
चूडाकरणां प्रभवति कृतं सञ्चुभोदकं भवतीत्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—  
“तृतीये पञ्चमेऽब्दे वा स्वकुलाचारतो हितम् । चौलं शिशूनां यत्नेन  
स्वगृहोक्तविधानतः ॥ आधानतो जन्मतो वा सप्तमाब्देऽपि कारयेत् ।”  
स्वकुलाचरत इत्यनेन येषां कुले पार्थक्येन चूडाकरणां तत्र मुहूर्त-  
विचारः । येषां तूपनीत्या सहेभ्यते इति पक्षस्तेषामुपनयनमुह-  
र्त्तेन सिद्धत्वाच्च पृथक् मुहूर्तविचारोन्मेषः । अत एवोक्तं याज्ञव-  
ल्क्येन—“चूडा कार्या यथाकुलम्” इति । मनुना प्रथमवर्षे उक्तम्—  
“चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे द्वितीये वा कर्त्तव्यं  
श्रुतिचोदनात् ॥” एवं बहुकालोक्तौ यथागृह्यं व्यवस्था द्रष्टव्या ।  
स्वगृह्ये विशेषकालानुक्तौ तु समवलत्वात्सर्वेषां विकल्पः । विशेषमाह  
गुरुः—“तृतीयेऽब्दे शिशोर्गर्भाज्जन्मतो वा विशेषतः । पञ्चमे सप्तमे वापि  
स्त्रियाः पुंसोऽथवा समम् ॥” इति ।

चौले तिथयः—

अष्टेति । अष्ट अष्टमी, अर्कः द्वादशी, रिक्ताः प्रसिद्धाः, आद्या



प्रतिपत्, षष्ठी प्रसिद्धा, पर्वाणि अष्टमीचतुर्दशीपूर्णिमामावास्यासं-  
क्रान्तयः, एतैरूने रहितेऽहनि । अत्र तत्पुरुषसमासे—“राजाहः सखि-  
भ्यष्ट्व” इति टच् । “नस्तद्धिते” इति टिलोपः । अष्टम्यादितिथीस्त्य-  
क्त्वा शेषेषु तिथिषु चूडा स्यादित्यर्थः । यदाह गुरुः—“द्वादशीं चाष्टमीं  
रिक्तां षष्ठीं प्रतिपदं तथा । हित्वा शेषेषु तिथिषु क्षौरकर्म शुभावहम् ॥”  
कश्यपः—“पञ्चपर्वं तिथि रिक्तां त्यक्त्वान्यदिवसे शुभम्” इति । अत  
एवाह वसिष्ठः—“पञ्चमी सप्तमी चैव दशम्येकादशी तथा । त्रयो-  
दशी तृतीया च क्षुरकर्मशुभावहा ॥” इति । चकाराद् द्वितीयापि ।  
ननु सप्तमीत्रयोदशयोर्गलग्रहत्वात्कथं तयोर्ग्रहणम् । यदाह गुरुः—“वि-  
द्यारम्भो व्रतोद्देशः क्षौरं चैव विशेषतः । गलग्रहे न कर्तव्यं यदीच्छेत्पु-  
त्रजीवितम् ॥” इति चेत्, उच्यते । वैदिकं मुंडनं चौलमित्युच्यते । त-  
द्विषयको विधिः । अवैदिकमुण्डनं सुखार्थं यत्क्षौरमुच्यते । क्षुरस्य  
कर्म क्षौरमिति सामान्यव्युत्पत्तेः अतस्तद्विषयको निषेध इति वयं  
ब्रूमः । अन्ये देशाचारतो व्यवस्थामाहुः । तदयुक्तं विरोधाभावात् ।

चैत्रे चूडा न कार्या—

विचैत्रेति । चैत्ररहिते उत्तरायणे चूडा स्यात् । शुभाशुभप्रकरणा-  
भिहितो जन्ममासनिषेधोऽत्रापि ध्येयः—तदाह राजमार्तण्डः—“उ-  
त्तरवर्त्मनि सवितरि चूडाकरणं जगुर्बुधा यवनाः । चैत्रं हित्वा पाप-  
ग्रहदिवसं जन्ममासं च” इति । ब्हेन्दुशुक्रज्यकानां वारे लग्नांशयोश्चेति ।  
सौम्यग्रहवारे सौम्यग्रहाणां लग्ने कर्कभित्थुनवृषकन्यातुलाधनुर्मीनानाम-  
न्यतमे लग्ने तेषामेव च नवांशे चूडा स्यात् । “चन्द्रश्चगुरुशुक्राणां वारलग्नां-  
शांशकेषु च” इति कश्यपोक्तेः । विशेषमाह पराशरः—“सितेज्य-  
सौम्यवारेषु क्षौरं पक्षद्वये हितम् । इन्दुवारः सिते पक्षे वाराः शेषा  
न शोभनाः ॥” इति । प्रयोगपारिजोते पापवाराणामप्यपवादः पठितः—  
“पापग्रहाणां वारेपि विप्राणां तु शुभो रविः । क्षत्रियाणां तु  
भूसुनुर्विदूशूद्राणां शनिः शुभः” इति । अस्वभनिधनतनाविति । भं  
लग्नं राशिश्च स्वस्य भे स्वभे स्वभाभ्यां निधनमष्टमलग्नं तन्न विद्यते  
यस्मिन् तनौ स्वजन्मलग्नजन्मराशिभ्यामष्टमलग्नरहिते लग्ने चूडा  
स्यादित्यर्थः । तथा नैधने अष्टमस्थाने शुद्धिसंयुक्ते शुद्धिः  
शुक्रज्यतिरिक्तसर्वग्रहराहित्यं तद्युक्ते सति चूडा स्यात् । उक्तं च क-  
श्यपेन—“नैधने शुद्धिसंयुक्ते लग्नराशौ न नैधने” इति । पराशरः—“अ-

ष्टमस्था ग्रहाः सर्वे नेष्टाः शुक्रविवर्जिताः । शुक्रश्च निधने क्षौरे सर्वसम्प-  
त्करः शिशोः ॥” इति । शाक्रेति । शाक्रोपेतैर्ज्यैष्ठाद्युक्तैर्विमैत्रैरनुराधार-  
हितैर्मृदुचरलघुभिर्द्वादशनक्षत्रैरुपलक्षिते काले चूडा स्यात् । यदाह  
वसिष्ठः—“अदितिद्वितये पौष्णद्वितये श्रवणात्रये । हस्ताच्च त्रितये  
शाक्रे सैन्दवे चौलमीरितम् ॥” कश्यपोपि—“दास्नेन्द्रदितिपुष्येन्द्रभेषु  
हस्तत्रयेपि च । विष्णुत्रये च पौष्णार्क्षे चौलकर्म शुभप्रदम्”  
इति । अविहितनक्षत्रेषु जन्मनक्षत्रं प्रशस्तमित्याह कश्यपः—“न-  
वाक्षप्राशने चौले व्रतबन्धेऽभिषेचने । शुभदं जन्मनक्षत्रमशुभं त्वन्यक-  
र्मणि ॥” इति । नारदादिवाक्यान्यक्षप्राशनेऽभिहितानि । अत्र केचित् ।  
जन्मनक्षत्रपदं तारापरं ज्ञेयमित्याहुः । तथा चोक्तं लल्लेन—“हित्वैकं  
जन्मक्षत्रं द्वे तारे जन्मसंज्ञिते शुभदे । उद्धाहे चोपनये यात्रायामन्नभोजने  
क्षुरे कार्ये ॥” इति । तन्न । अवैदिकक्षुरविषयत्वात् । ‘जन्मक्षत्रं कर्मन-  
क्षत्रे’ इति गुरुवचनमपि तद्विषयमेव । वैदिकक्षुरपरं चैतत्कश्यपादिवा-  
क्यमिति समञ्जसम् ।

पापग्रहचन्द्रस्थित्या निमित्तान्तराणि—

अथ लग्नबलमाह—आयेति । एकादशषष्ठतृतीयस्थानस्थितैः पाप-  
ग्रहैश्चोपलक्षिते काले चूडा स्यात् । “अषष्ठान्त्यारिगे चन्द्रे पापैस्त्या-  
यारिसंस्थितैः” इति कश्यपाक्तेः ॥ २६ ॥

अन्यदपि रथोद्धतयाह—

क्षीणचन्द्रकुजसौरिभास्करै-

मृत्युशस्त्रमृतिपङ्कताज्वराः ।

स्युः क्रमेण बुधजीवभार्गवैः

केन्द्रगैश्च शुभमिष्टतारया ॥ ३० ॥

क्षीणेति । क्षीणचन्द्र, कुजो मङ्गलः, सौरिः शनिः, भास्करः सूर्यः, एतै  
केन्द्रस्थैः क्रमेण यथासंख्यं मृत्युः मरणं, शस्त्रमृतिः शस्त्रान्मृतिः, पङ्कता  
खञ्जता, ज्वरः प्रसिद्धः, एतानि फलानि स्युर्भवेयुः । बुधजीवभार्गवैस्तु  
केन्द्रस्थैः शुभं कल्याणकारि फलं चूडाकर्तुः स्यात् । तदुक्तं रत्नमाला-  
याम्—“क्षौरक्षेत्रेषु स्वकुलविधिना चौलमाहुर्मुनीन्द्राः केन्द्रं यातैर्गुरुभृगु-



बुधैस्तत्र सूर्ये ज्वरः स्यात् । शस्त्रान्नाशो धरणीतनये पङ्कता चार्कपुत्रे  
शीतज्योतिष्यपचिततनौ निश्चितं नाशमेति ॥” केन्द्रव्यतिरिक्तस्थानफ-  
लमपि तत्रैव । “धनव्ययत्रिकोणगौरसद्ग्रहैर्मृतावपि । क्षुरक्रिया न  
शोभना शुभैस्तु पुष्टिकारिणी” इति । मृतौ तु शुक्र एव शस्तो नान्ये शुभ-  
ग्रहाः । प्रागुक्तपराशरवाक्यस्वरसात् । क्षुरक्रिया चौलम् । इष्टतारयेति । च  
पुनरिष्टतारया गोचरप्रकरणोक्तया शुभफलदतारया चूडा स्यात् । उक्तं  
च राजमार्त्तण्डेन—“रविशुद्धौ गृहकरणा रविगुरुशुद्धौ व्रतोद्वाहौ । क्षौरं  
ताराशुद्धौ शेषं चन्द्राश्रितं कर्म ॥ ” इति । ज्योतिर्निबन्धे—“विवाहे  
सविता शस्तो व्रतबन्धे बृहस्पतिः । क्षौरे ताराविशुद्धिश्च शेषे चन्द्र-  
बलं बलम् ॥ ” इति ।

सोमबुधवारमात्रे क्षौरम्—

चौलप्रयोजनमाह वसिष्ठः—

“सर्वेषामेव वर्णानां चूडाकर्मविधिः स्मृतः ।  
केशमूलं पिता ज्ञेयः केशाग्रं जननी तथा ॥  
चौलेनैवायुषो वृद्धिश्चौलेनैवायुषः क्षयः ।  
तस्माच्चौलं प्रयत्नेन कारयेद्बुद्धिमान्नरः ॥ ”

व्यवहारनिबन्धे चौलारम्भे विशेषमाह श्रीपतिः—“केशवमानर्त्तपुरं  
पाटलिपुत्रं पुरोमहिच्छत्राम् । दितिमदितिं च स्मरतां क्षौरविधौ भवति  
कल्याणम्” इति । यत्तु कैश्चिदुक्तम्—“चन्द्रशुद्धिर्यदा नास्ति तारायाश्च  
विशेषतः । अक्षौरमेपि कर्त्तव्यं वारेण, बुधसोमयोः” इति तत्सामान्य-  
क्षौरविषयम् ॥ ३० ॥

अथ सगर्भायां स्वमातरि सत्यां शिशोश्चौलार्थं कालमनुष्ठुमाह—

पञ्चमासाधिके मातुर्गर्भे चौलं शिशोर्न सत् ।

पञ्चवर्षाधिकस्येष्टं गर्भिण्यामपि मातरि ॥ ३१ ॥

पञ्चेति । चौलाधिकारिणः शिशोर्मातुर्गर्भे पञ्चमासेभ्योधिके सति  
चौलं न सत् शुभफलदातृ नैव स्यात् । अतः पञ्चमासेभ्यः पूर्वं चौलं  
कृतं सच्छुभफलमित्यर्थः । तदुक्तं गृह्यपरिशिष्टे—“चूडाकर्म न कर्त्तव्यं  
यस्य मातास्ति गर्भिणी । करोति यदि मन्दात्मा तदा गर्भस्य नाश-

नम् । पित्रोर्मृतिं वदन्त्येके चतुरब्दान्तरे स्फुटम् ” इति । वसिष्ठः—  
“पुत्रचूडाकृतौ माता गर्भिणी यदि वा भवेत् । विपद्यते गुरुश्चैव द-  
म्पती शिशुरब्धतः ॥ गर्भे मातुः कुमारस्य न कुर्याच्चौलकर्म च ।  
पञ्चमासादधः कुर्यादत ऊर्ध्वं न कारयेत्” इति ।

पञ्चवर्षातिक्रमे चौले नैव नियमः—

अस्याप्यपवादमाह—पञ्चेति । पञ्चवर्षाधिकस्योल्लङ्घितपञ्चमवर्षस्य  
शिशोर्मातरि गर्भिण्यामपि सत्यां पञ्चमासादध ऊर्ध्वं विहितकाले चौ-  
लभिष्टं कल्याणकारि भवेत् । अतो बालो यावत्पञ्चवर्षो न भवति ता-  
वत्पर्यन्तं निषेध इत्यर्थः । तदाह नारदः—“सूतोर्मातरि गर्भिण्यां चूडा-  
कर्म न कारयेत् । पञ्चमाब्दात् प्रागथोर्ध्वं गर्भिण्यामपि कारयेत्” ।

उपनयनेन सह चौलं मातरि गर्भिण्यां सत्यां भवति—

यदा तूपनयनेन सह चौलं चिकीर्षितं तदा विशेषमाह ज्योति-  
नारदः—सहोपनीत्या कुर्याच्चेत्तदा दोषो न विद्यते ” इति । अत्र  
तु पञ्चवर्षाणां न्यूनाधिकभावो नापेक्षितः । सर्वापवादकत्वादस्य ।

मातरि गर्भिण्यां मौजी न भवति—

एवं पार्थक्येन मौज्यपि सगर्भायां सत्यां संस्कार्यमातरि न  
भवति । तदुक्तम्—“सूतोर्मातरि गर्भिण्यां मौजीचूडे न कारयेत् ।  
गते तु पञ्चमे मासे गर्भादीनां मृतिर्भवेत्” ॥ ३१ ॥

अथ चौले ताराबलमावश्यकमित्युक्तम् । तत्र दुष्टायां तारायां  
सत्यामपवादं शालिन्याह—

तारादौष्ट्येऽब्जे त्रिकोणोच्चगे वा

क्षौरं सत्स्यात्सौम्यमित्रस्ववर्गे ।

सौम्ये भेऽब्जे शोभने दुष्टतारा

शस्ता ज्ञेया क्षौरयात्रादिकृत्ये ॥ ३२ ॥

तारादौष्ट्ये इति । ताराणां दुष्टत्वं गोचरप्रकरणेऽभिहितं तत्तत्त  
एवावधार्यम् । तस्मात्तारादौष्ट्ये सत्यपि क्षौरं चौलं सच्छोभनं  
स्यात् । कस्मिन् सति । अब्जे चन्द्रे त्रिकोणगे नक्षत्रपञ्चमस्थानस्थिते



अथबोद्धगे वृषराशिस्थे, अथवा सौम्यानां बुधगुरुशुक्राणां वर्गे षड्वर्गे  
अथवा स्वस्यैव षड्वर्गे सति । उक्तं च ज्योतिस्तंत्रे—“सौम्यसुहृन्नि-  
जवर्गे चन्द्रे तुङ्गत्रिकोणगे वापि । क्षौरादिकोपकरणे तारादोषो न  
दूषयति ” आदिशब्देन यात्रा । ‘ विपत्तारे गुडं दद्यात् ’ इत्या-  
दयोपि तरादौष्ठ्यापवादाः प्रागुक्ताः । तेऽप्यत्रोह्याः । शुभतारायां  
गुणमाह—सौम्ये मे इति । सौम्ये मे विहिते नक्षत्रे सति अञ्जे शोभनचन्द्रे  
गोचरोक्तेऽष्टमस्थानस्थे सति दुष्टताराऽसमीचीनतारापि चेत्स्यात्  
तदा क्षौरयात्रादिमङ्गलकृत्येषु शस्तातिप्रशस्ता निखिलदोषापवादिका  
स्यादित्यर्थः । तदप्युक्तं ज्योतिस्तंत्रे—“ऋतुं दग्धं तिथी रिक्ता च-  
न्द्रश्चाष्टमगस्तथा । तत्सर्वं नाशयेत्तारा षट् पञ्च नवमी तथा ॥ जन्मा-  
ख्यो ह्यष्टमी तारा न शुभा नापि निन्दिता ” इति ॥ ३२ ॥ इति  
चौलप्रकरणम् ।

अथ चौलदिकृत्ये कालविशेषनिषेधमनुष्ठुमाह—

ऋतुमत्याः सूतिकायाः सूनोश्चौलादि नाचरेत् ।

ज्येष्ठापत्यस्य न ज्येष्ठे कैश्चिन्मार्गेऽपि नेष्यते ॥ ३३ ॥

ऋतुमत्या इति । ऋतुः स्त्रीधर्मः स यस्या अस्तीति ऋतुमती  
तस्याः, तथा सूतिकायाः जातापत्यायाः सूनोः पुत्रस्योपलक्षणत्वा-  
त्कन्याया वा चौलोपनयनविवाहादिकमुक्तं वक्ष्यमाणं च कृत्यं  
नाचरेत् न कारयेत् । उक्तं च प्रचेतसा—“यस्य मांगलिकं कृत्यं  
तस्य माता रजस्वला । वैधव्यं जायते तत्र नूनार्योः पाणिपीडने ॥”  
पाणिपीडने वैधव्यम्, अन्यत्र मृत्युरित्यर्थः ।

सूतिकायाः कर्मानर्हकालावधौ न शुभकृत्यं सर्ववर्णेषु—

सूतिकाया अपि कर्मानर्हकाल उक्तो धिष्णुस्मृतौ—“सूतिकां  
पुत्रव्रतीं विंशतिरात्रेण कर्माणि कारयेन्मासेन स्त्रीजननीम्” इति । अ-  
स्यार्थं केचिदाहुः—“सर्ववर्णस्त्रीणां पुं प्रसूतानां बालकजन्मदिनाद्विंशतित-  
मदिनं यावदशुचिता ततः शुद्धिः । एवं कन्याप्रसूनां स्त्रीणां कन्याजन्म-  
दिनात्रिंशदिनं यावदशुचिता, ततः शुद्धिरित्यर्थः । एतदन्ये नानुमन्यन्ते  
यतः “शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन

शूद्रो मासेन शुद्ध्यति" इति । दक्षेण वर्णपुरस्कारेण शुचिताहान्यु-  
क्तानि । एवं पुञ्जनयिज्ञ्याः ब्राह्मण्याः सूतकनिर्गमदिनादशौवाशुचिता  
दिनान्यवशिष्यन्ते । कन्याजनयिज्ञ्यास्तु तस्यास्तस्मादेव विंशतिदि-  
नानि । क्षत्रियायास्तु पुंस्कन्याजनयिज्ञ्याः क्रमादष्टाष्टदश दिनानि  
तस्मात्कालादवशिष्यन्ते । वैश्यायास्तु पुंस्कन्याजनयिज्ञ्याः पञ्चपञ्च-  
दश दिनान्यवशिष्यन्ते । शूद्रायाः पुञ्जनयिज्ञ्याः दश दिनानि सूतक-  
काले न्यूनानि जायन्ते, कन्याजनयिज्ञ्यास्तु दिनसाध्यमेवेति सर्ववर्णा-  
नामनुगतमतिप्रसक्तमव्यापकं च लक्षणमापतति । अस्त्विति चेन्न ।  
यद्येषोर्थोभिप्रेतः स्यात्तदा महतां वाक्येनेप्रमथं स्पष्टं निर्दिशेत् ।  
अतोनुगतमर्थातरमाहुरन्ये-यथा स्वस्ववर्णपुरस्कारेण य अशौच-  
कालोभिहितः स सर्वेषां तत्कुलजनानां तुल्य एव । तदग्रे सर्वेपि  
शुचयः । पुञ्जनयिज्ञ्यास्तु सूतिकायास्तदग्रे विंशतिदिनान्यशुचिता-  
स्तु । कन्याजनयिज्ञ्याः तदग्रे त्रिंशदिनान्यशुचितेत्यर्थः । अत एव  
सूतिकाया उक्तकालपर्यंतं कर्मानर्हत्वात्तदपत्यस्यापि मङ्गलकृत्ये  
निषेध इति ।

द्विज्येष्टामार्गशीर्षविषये विवाहादिनिषेधः—

ज्येष्टेति । ज्येष्टापत्यस्याद्यगर्भस्य पुत्रस्य कन्याया वा व्रतबंधवि-  
वाहादिशुभकृत्यं ज्येष्ठमासे न भवति । उक्तं च रत्नमालायाम्—“आद्य-  
गर्भदुहितुः सुतस्य वा ज्येष्ठमासि न च जातु मंगलम्” इति । कैश्चिदि-  
ति । मार्गेपि मार्गशीर्षमासेपि कैश्चिदाचार्यैराद्यगर्भसुतकन्ययोर्मंगलकृ-  
त्यं नेष्यते । तदाह वात्स्यः—“मार्गे मासि तथा ज्येष्टे विवाहं चौलमेव  
च । ज्येष्ठपुत्रदुहित्रोश्च न कुर्वीत व्रतं तथा” भरद्वाजोपि—“मार्गशीर्षे  
तथा ज्येष्टे क्षौरं परिणयं व्रतम् । आद्यपुत्रदुहित्रोश्च यत्नतः परिचर्जये-  
त्” अस्मादेव ज्ञापकाद् द्वितीयादिगर्भपुत्रदुहित्रोज्येष्टे मार्गशीर्षे च  
मंगलकृत्यानां निषेधः । किन्तु विधिरिति प्रतिभाति । अत्र कश्चिद्विशे-  
षो वक्तव्योस्ति, स व्रतबंधप्रकरणे वक्ष्यते ॥ ३३ ॥

अथ प्रसंगतः सामान्यक्षौरादिमुहूर्तं तन्निषिद्धकालं च शार्दूलविक्री-  
डितेनाह—

दन्तक्षौरनखक्रियात्र विहिता चौलोदिते वारभे

पातंग्याररवीन्विहाय नवमं घस्रं च संध्यां तथा ।



रिक्तां पर्वनिशां निरासनरणग्रामप्रयाणोद्यत-

स्नाताभ्यक्तकृताशनैर्नहि पुनः कार्या हितप्रेप्सुभिः॥३४॥

दंतेति । चौलोदितेषु चौलप्रोक्तेषु वारेषु नक्षत्रेषु उपलक्षणत्वा-  
त्तदुक्तं लग्नेपि च दंतक्षौरनखक्रियात्र विहितोक्ता—“येषु येषु  
प्रशंसन्ति क्षुरकर्म महर्षयः । तेषु तेषु प्रशंसन्ति नखदंतविलेख-  
नम्” इति । येषु येषु वारनक्षत्रलग्नादिष्वित्यर्थः । अथ क्षौर-  
निषिद्धकाल उच्यते—पातंगीति । ‘पतंगः पक्षिसूर्ययोः’ इत्यभिधाना-  
त्पतंगः सूर्यस्तस्यापत्यं पातंगिः शनिः । आररवी प्रसिद्धौ । तेषां वारान्  
विहाय त्यक्त्वा उपलक्षणत्वादेषां लग्नानि मकरकुम्भमेषवृश्चिकसिंहा-  
ख्यानि अंशकांश्च विहायेत्यर्थः । उक्तं च वसिष्ठेन—“हस्तत्रये पुष्यपुन-  
र्वसौ च शशांकविष्णुत्रितयाश्विनेषु । पौष्णद्रधिष्ये क्षुरकर्म शस्तं  
व्यकारशन्यंशकवारलग्ने” इति । अतः शुभग्रहाणां वारलग्नांशे क्षौरं  
कार्यमिति फलितोर्थः ।

क्षौरे वारलग्नांशानां फलानि—

वारफलानि गर्गोक्तानि—

“भानुरायुः क्षपयति मासं सप्त शनैश्चरः ।

भौमो मासाष्टकं हन्ति क्षो यच्छेत्पञ्चमासकम् ॥

सप्तमासान्ददातीन्दुः सुरेज्यो दशमासकम् ।

एकादश कविर्दद्यात्कृते तु क्षौरकर्मणि” इति ।

तुल्यन्यायत्वाल्लग्नानामंशानां चैतानि फलान्यूह्यानि । न केवलमा-  
युर्हानिः । किन्तु शस्त्रघातोपि पापवारेषु । तदुक्तं वसिष्ठेन—“आदि-  
त्यभौमार्किदिनेषु धोमान्न दन्तकाष्ठक्षुरकर्म कार्यम् । कुर्वन्नवाप्नोति  
फलं समग्रं शस्त्रेण सम्यक्स्वशरीरघातम्” ।

क्षौरदिनान्नवमे दिनादौ क्षौरं न कार्यम्—

नवमं घट्टं चेति । तथा नवमं घट्टं च विहाय यद्विने क्षौरं कृतं  
ततो नवमदिने पुनः क्षौरं न कार्यम् “उत्कटे भूषिते चैव यानी नो  
नवमेहनि” इति नारदोक्तेः । यत्तु नवमे नवम्यामिति व्याकुर्वति  
तदयुक्तम्, दिनपदोपादानप्रसङ्गात् । दिनपदं तिथिपरमिति चेन्न,

रिक्तायां वक्ष्यमाणस्वतंत्रनिषेधानुपपत्तेः । ननु पृथगुपादानात् नवम्यां सर्वथा क्षौरं निंद्यमेव चतुर्थीचतुर्दश्योस्तु तथा नेति चेन्न ।

“चतुर्थीं चैव षष्ठीं च अष्टमीं च चतुर्दशीम् ।

तथा पञ्चदशीं चैव ब्रह्मचारी भवेत्सदा ॥

श्मश्रुकर्म शिरोभ्यंगदन्तधावनमैथुनम् ।

जन्तुश्चैतानि यः कुर्याद्ब्रह्ममीस्तत्र न तिष्ठति ” इति ।

व्यासवचने क्षौरे चतुर्थीचतुर्दश्योः सर्वथा निषेधाभिधानात् । अत एवामुमथं स्फुटमाह पराशरः—“क्षौराहान्नवमे त्वहि नेष्टमात्ययिकेऽपि ” इति । तथा सन्ध्यां प्रातः सन्ध्यां सायंसन्ध्यां च विहाय एवं रिक्तां ( ४, ६, १४ ) विहाय पर्वाण्यपि निशां रात्रिमपि विहायेत्यर्थः ।

कार्यान्तराणि क्षौरे—

अथाधिकारिणो निरूप्यन्ते । हितप्रेप्सुभिः स्वशुभोदकमिच्छद्भिरेतादृशैः क्षौरक्रिया हि निश्चयेन न कार्या । कीदृशैः निरासनैरासनं कम्बलादि तद्रहितैः, रणः संग्रामः, ग्रामो जनपदविशेषः, प्रयाणमर्थयात्रा, एतदर्थमुद्यतैः कृतोद्योगैः । स्नातैरनुष्ठितनित्यनैमित्तिककाम्यस्नानैः । यत्तु क्षौरार्थमेव स्नानं विधीयते प्रायश्चित्तादौ च तत्र नायं निषेधः । तथैव तस्य विधानात् । अभ्यक्तैः कृततैलाभ्यङ्गैः, कृताशनैः कृतभोजनैः, सुवर्णाद्यलंकारभूषितैरित्यपि ध्येयम् । यदाह वराहः—

“न स्नातमात्रगमनोत्कटभूषिताना-

मभ्यक्तभुक्तरणकालनिरासनानाम् ।

सन्ध्या निशा शनिकुजार्कदिने च रिक्ते

क्षौरं हितं न नवमेहि न चापि विष्टयाम् ” इति ।

उत्कटानां कुक्कुटासनवदवस्थितानाम् । सन्ध्यालक्षणमपि वराहेणोक्तम्—“अर्धास्तमितादुदितात्सूर्यादस्पष्टमं नमो यावत् ” । वृद्धगर्गः—“शन्याररविवारेषु रात्रौ पाते व्रतेहनि । आद्धाहे प्रतिपद्रिक्ताभद्राः क्षौरे विवर्जयेत् ” । “षष्ठ्यमा पूर्णिमा पातश्चतुर्दश्यष्टमी तथा । आशु सन्निहितं पापं तैले मांसे क्षुरे भगे ” इति ॥ ३४ ॥



केषांचिन्निमित्तविशेषं क्षौरस्य विधिनिषेधौ च मञ्जुभाषिणी-  
छन्दसाह—

क्रतुपाणिपीडमृतिबन्धमोक्षणे  
क्षुरकर्म च द्विजनृपाज्ञया चरेत् ।  
शववाहतीर्थगमसिन्धुमज्जन-

क्षुरमाचरेन्न खलु गर्भिणीपतिः ॥ ३५ ॥

क्रतुपाणीति । अत्र पूर्वार्द्धे सत्यपि निषिद्धवारादौ एषु कर्मसु क्षुर-  
कर्म क्षौरं सद्यः कार्यमिति वाक्यार्थः । क, क्रतौ यज्ञे त्रिप्राज्ञया  
क्षौरम्, तथा पाणिपीडा विवाहः, लक्षणया ततः प्राग्भाविनि गोदा-  
नकर्मणि । केचित्तु विवाहे श्मश्रुकर्म प्राशस्त्यपरं क्षौरमित्याहुः । अपरे  
शाखाविशेषेण विवाहे क्षौरमुक्तमित्यूचुः । तथा च श्रुतिः—“मुण्ड-  
यितारः श्रविष्टायना बधूमूढाम्” इत्यादि । मृतौ मातापित्रोर्मरणो  
बन्धमोक्षणे कारागृहे बद्धस्य यदा मोचनं भवेत्तदा राजाज्ञया  
द्विजाज्ञयापीति प्राग्ग्याख्यातम् । नृपो राजा तस्याज्ञया क्षौरादेः  
क्षौरं कार्यमेव । यदाह नारदः—नृपविप्राज्ञया यज्ञे मरणो बन्ध-  
मोक्षणे । उद्वाहेखिलवारार्द्धतिथिषु क्षौरमिष्टदम्” इति । धर्म-  
शास्त्रे—“गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्मृतेऽहनि । आधाने सोम-  
पाने च षट्सु क्षौरं विधीयते” इति ।

गर्भिणीपतेर्निषिद्धाः क्षौरादयः—

शवेति । गर्भिणी गर्भवती तस्याः पतिर्भर्ता शववाहं मृतकवहनं,  
तीर्थगमं तीर्थयात्राम्, उपलक्षणत्वाद्विदेशगमनमपि, सिन्धुमज्जनं समु-  
द्रस्नानं, क्षुरं क्षुरकर्म, एतानि कर्माणि न आचरेन्न कुर्यात् । यदाह  
वसिष्ठः—“गृहनिर्माणमुदधिस्नानं चौलं सुतस्य तु । तीर्थयात्रां नख-  
श्मश्रु न कुर्याद्गर्भिणीपतिः” धर्मशास्त्रे तु विशेषः—सिन्धुस्नानं हुमच्छेदं  
वपनं प्रेतवाहनम् । विदेशगमनं चैव न कुर्याद्गर्भिणीपतिः ।

राजयोगिपुरन्ध्रीगर्भिणीपतीनां न क्षौरं तीर्थेपि—

“राजा योगी पुरन्ध्री च मातापित्रोस्तु जीवतोः । मुण्डनं सर्वती-  
र्थेषु न कुर्याद्गर्भिणीपतिः” ।

गर्भिणीपतेरेतन्निषेधः कदा भवतीति—

अयं च क्षौरादिनिषेधो गुर्विणीपतेः सप्तमासादूर्ध्वं, न प्राक् । तदुक्तं नारदीये—“वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद्गर्भिणीपतिः । श्राद्धं च सप्तमान्मासादूर्ध्वं नान्यत्र वेदवित्” । श्राद्धं श्राद्धभोजनम् । इदमुत्तराद्धं गर्भाधानप्रकरणो वक्तव्यमपि प्रसङ्गादत्रैवोक्तं ग्रन्थकृतेति ॥ ३५ ॥

क्षौरे राज्ञां विशेषं सर्वथा वर्ज्यनक्षत्राणि च भुजंगप्रयातेनाह—

नृपाणां हितं क्षौरभे श्मश्रुकर्म

दिने पञ्चमे पञ्चमेऽस्योदये वा ।

षट्पिण्डमैत्रोऽष्टकः पञ्चपिण्डो-

ऽब्दतोऽब्ध्ययमा क्षौरकृन्मृत्युमेति ॥ ३६ ॥

नृपाणां हितमिति । क्षौरभे क्षौरनक्षत्रे विहिते सति पञ्चमे पञ्चमे एव दिने श्मश्रुकर्म मुखशोभाकारि क्षौरकर्म नृपाणां राज्ञां हितं प्रशस्तम् । यदाह वसिष्ठः—“महीभृतां पञ्चमपञ्चमेहि क्षौरं च कार्यं हितमुक्तभेषु” । ननु पञ्चमे पञ्चमे इति वीप्सोक्त्या नियमप्रतीतेर्विहितनक्षत्राभावे च सति श्मश्रुकर्म कार्यमिति । उक्तं च वसिष्ठेन—“न लभ्यते चेच्च तदुक्तधिष्ण्यं तद्भोदये वा निखिलं विधेयम्” इति । उदयशब्देन मुहूर्त इति ऋजवो व्याकुर्वते । तदाह गर्गः—“क्षौरकर्म महीशानां पञ्चमे पञ्चमेहनि । कर्तव्यं क्षौरनक्षत्रेऽप्यथवा तन्मुहूर्तके” । तेषां क्षौरनक्षत्राणां ये स्वामिनस्तेषां मुहूर्ते इत्यर्थः । तांश्च मुहूर्तान् विवाहप्रकरणे वक्ष्यतीति चेत् न । अत्र क्षौरपदं श्मश्रुकर्मपरम् । “राजा योगी पुरंधी च मातापित्रोस्तु जीवतोः । मुण्डनं सर्वतीर्थेषु न कुर्याद्गर्भिणीपतिः” इति राज्ञो मुण्डननिषेधात् । अत एवोक्तं श्रीपतिना—श्मश्रुकर्म पञ्चमे पञ्चमेऽहि भूमृतां क्षौरभस्योदये निघतारका न चेत्” इति । निघताराः जन्मत्रिपञ्चसप्तताराः । अन्ये त्वेवं व्याचक्षते । अस्योदये वेति । अस्य क्षौरभस्योदये लग्ने । यथा मेषलग्नं त्रिंशद्भागात्मकं, तत्राद्यास्त्रयोदशभागाः सप्तविंशतिलिप्तयः यावता कालेन मेषलग्ने उदयं यान्ति तावदश्विनीनक्षत्रमुदयं यातीत्यर्थः । तदनन्तरं तावन्त एवांशा यावता कालेनोदयं यान्ति तावद्भर-



एयुदय इत्यनेन न्यायेन सर्वेषां नक्षत्राणामुदया ज्ञेयाः । इयं च व्याख्या वराहपद्यव्याख्यावसरे भट्टोत्पलेनाभ्यधायि । पितृचरणास्त्वेवं व्याकुर्वते—यस्मिन्काले अश्विन्या उदयः क्षितिजसम्बन्धः सम्पद्यते तं समयमारभ्य यावद्भरण्यामुदयः क्षितिजसम्बन्धः तदन्तराले यावान् कालः सोश्विन्या उदय उच्यते । एवं सत्युदयलक्षणद्वयांशान्तरालाद्गणितमार्गेण यावानिष्टकाल आगच्छेत्स एव तन्नक्षत्रोदय इति निष्कृष्टोर्थः । नक्षत्रस्योपलक्षणत्वाच्छ्रभवारासम्भवेपि तद्धोरायां कार्यम् । उक्तं च नारदेन—“यस्य खेटस्य यत्कर्म वारे प्रोक्तं विधीयते । ग्रहस्य क्षणवारेपि तस्य तत्कर्म सर्वदा ” इति । क्षणवारः कालहोरा ।

निषिद्धनक्षत्रवारेष्वपि क्षौरम्—

एवं सति निषिद्धनक्षत्रवारेष्वपि प्रथमश्मश्रुकर्म कार्यमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

क्षौरे निषिद्धनक्षत्राणि—

षडग्निरिति । अग्निः कृत्तिका क्षौरावृत्त्या षड्वारं कृत्तिका यस्य, एवं त्रीणि मैत्राण्यनुराधा यस्य, अष्टौकाः रोहिण्यो यस्य, पञ्च पित्र्याणि मघा यस्य, अब्धयश्चत्वारोर्यम्णः उत्तराफाल्गुन्यो यस्य स एतादृशः क्षौरकृत् अर्द्धतः वर्षानन्तरं मृत्युं मरणमेति प्राप्नोति । यदाह वसिष्ठः—अष्टाब्जऋक्षः पितृपञ्चकश्च षड्वह्निधिष्यश्चतुर्यमर्द्धैः । त्रिमैत्रभः पद्मजसन्निभोपि क्षौरी नरोऽब्दान्निधनं गतः सः ” इति । पद्मजो ब्रह्मा, तत्सन्निभस्तादृशः । तदुपादानं कैमुतिकन्यायसूचनार्थम् । ननु रत्नमालापद्ये—“ षट्कृत्तिकाः पञ्चमघस्त्रिमैत्रो ब्रह्माष्टको यश्चतुरुत्तरश्च । क्षौरी स वर्षं चतुराननोपि न प्राणितीति प्रकरः प्रवादः ” इत्यत्र सामान्यतः तिसृणामप्युत्तराणां ग्रहणाद्विरोध इति चेत् । मैवं वोचः । अत्राप्युत्तरापदेन प्रथमोपस्थितिकत्वाद्द्विसिष्टवाक्येन सहैकवाक्यतानुरोधाच्चोत्तराफाल्गुन्येव गृह्यते नाषाढभाद्रपदे । यत्र तु वचनांतरविरोधो नास्ति “ पौष्णमारुतमघोत्तरान्वितैः ” इत्यादौ तत्र सामान्यतः सर्वासामुत्तराणां ग्रहणं भवति ॥ ३६ ॥ इति सामान्यक्षौरप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ प्राप्तकालत्वादक्षराणामारम्भमुद्धतं पञ्चचामरेणाह—

गणेशविष्णुवाग्रमाः प्रपूज्य पञ्चमानन्दके  
तिथौ शिवार्कदिग्विषदक्षरत्रिके रवावुदक् ।  
लघुश्रवोऽनिलान्त्यभादितीशतक्षमित्रभे  
चरोनसत्तनौ शिशोर्लिपिग्रहः सतां दिने ॥३७॥

गणेशेति । गणेशविष्णू प्रसिद्धौ, वाक् सरस्वती, रमा लक्ष्मीः,  
एता देवताः प्रपूज्य पञ्चमवर्णे सति शिव एकादशी, अर्को द्वादशी,  
दिक् दशमी, द्वौ द्वितीया, षट् षष्ठी, शराः पञ्चमी, त्रयस्तृतीया,  
एतासामन्यतमतिथौ च सति । रवौ उदक् उत्तरायणस्थिते सति ।  
तथा लघुनक्षत्राणि हस्ताश्विपुष्याः, श्रवः श्रवणः, अनिलान्त्यभादितयः  
प्रसिद्धाः, ईश आर्द्रा, तक्षा चित्रा, मित्रमनुराधा, अत्र समाहारद्वन्द्वः ।  
एतेषामन्यतमनक्षत्रे सति सतां सोमबुधगुरुशुक्राणां दिने दिवसे तथा  
चरराशयः मेषकर्कतुलामकरास्तद्रहिते शुभस्वामिके वृषमिथुनकन्याध-  
नुर्मीनानामन्यतमे लग्ने सति शिशोर्लिपिग्रहो नूतनाक्षरलेखनप्रारंभः  
कार्यः । उक्तं च वसिष्ठेन—“उदग्गते भास्वति पञ्चमेऽब्दे प्राप्ते-  
ऽक्षरस्वीकरणं शिशूनाम् । सरस्वतीं विघ्नविनायकं च गुडौदनाद्यैरभि-  
पूज्य कुर्यात्” । मार्कडेंयः—

“पूजयित्वा हरिं लक्ष्मीं देवीं चैव सरस्वतीम् ।  
स्वविद्यासूत्रकारांश्च स्वां च विद्यां विशेषतः ॥  
प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे ह्यप्रसुप्ते जनार्दने ।  
षष्ठीं प्रतिपदं चैव वर्जयित्वा तथाष्टमीम् ॥  
रिक्तां पञ्चदशीं चैव सौरिभौमदिनं तथा ।  
एवं सुनिश्चिते काले विद्यारंभं तु कारयेत् ॥”

अत्र निषिद्धापि षष्ठी ग्रंथकृता स्वीकृतेति तर्चित्यम् ।  
प्रयोगपारिजाते श्रीधरः—

“हस्तादित्यसमीरमित्रपुरजित्पौष्णाश्विचित्राच्युते-  
ष्वाराक्यंश इनोदयादिरहिते लग्ने स्थिरे चौमये ।



पक्षे पूर्णनिशाकरे प्रतिपदं रितां विहायाष्टमीं  
षष्ठीमष्टमशुद्धिभाजि भवने प्रोक्ताक्षरस्वीकृतिः ” ।

पुर्जिदार्द्रा, उभये द्विस्वभावराशौ । अत्र वचने पुण्यानुपादानं  
ग्रंथकृता लघुपदेन कृतमिति तद्धित्यम् ॥ ३७ ॥

एवमक्षरग्रहणे दृढे संजाते सति विचारंभमुहूर्तं पंचचामरेणह—

मृगात्कराच्छ्रुतेस्त्रयेऽश्विमूलपूर्विकात्रये

गुरुद्वयेऽर्कजीववित्सितेऽहि षट्छरत्रिके ।

शिवार्कदिग्दिके तिथौ ध्रुवान्त्यमित्रभे परैः

शुभैरधीतिरुत्तमा त्रिकोणकेन्द्रगैः स्मृता ॥ ३८ ॥

मृगादिति । मृगात् त्रये मृगार्द्रापुनर्वसुषु, करात्रये हस्तचित्रास्वातीषु,  
श्रुतेः श्रवणात् त्रये श्रवणधनिष्ठाशतभिषासु, अश्विन्यां, मूले, पूर्विकात्रये  
पूर्वाफाल्गुनीपूर्वाषाढापूर्वाभाद्रपदासु, गुरुद्वये पुण्याश्लेषयोः, तथा सूर्य-  
गुरुशुक्रवाराणां दिने च सति अधीतिर्विद्यानामध्ययनमुत्तमा स्मृता ।  
यदाह श्रीपतिः—“मृगादिपंचस्वपि भेषु मूलहस्तादिके च त्रितयेऽश्वि-  
नीषु । पूर्वात्रये च श्रवणे च तद्वद्विद्यासमारंभमुशंति सिद्ध्यै” इति ।  
तद्वदिति । श्रवणत्रये इत्यर्थः । तदेतत्स्पष्टमुक्तं महेश्वरेण—“हस्तादित्रित-  
ये तथा निष्ठांतिभे पूर्वांत्यभेष्वश्विनीमित्रक्षे च मृगादिपंचसु शुभः प्रारम्भ  
आद्यः स्मृतः । विद्यानां हरिभात्रये च दिवसे सूर्यभृगोर्वा विदोऽनध्याया-  
ख्यतदाद्यवर्जिततिथौ केंद्रस्थितैः सद्ग्रहैः” इति । अयमेव च ग्रंथकृदाशयः ।  
अत एवाह विश्वप्रकाशपद्धतौ (१) गुरुः—“मृगादिपंचके हस्तत्रिके वि-  
ष्णुत्रिकाश्विभे । मैत्रान्त्यमूलपूर्वासु विचारम्भः शुभे दिने” इति । वयं  
तु तद्वदिति पदं विद्यासमारम्भपदेन सम्यग्दमस्तौति व्याकुर्मः । अत  
एव वसिष्ठः—“पूर्वात्रये मूलमृगादिपञ्चके तथाश्विनीषु त्रितये च  
हस्तात् । सविष्णुधिष्येष्थ सर्वविद्याप्रारम्भ इष्टः शुभवासरेषु” ।  
इति । यद्येषोभिप्रायो न स्यात् तदा पूर्वात्रये च श्रवणत्रये चेति ब्रूया-

( १ ) रत्नसारेऽपि श्रीपतिः—

“रौद्राहिसौम्यादितिशक्रहस्ते पूर्वेषु पौष्णे गुरुमित्रभेषु ।

वारेषु शुक्रार्कवृहस्पतीनां विद्यासमारम्भमुशन्ति सन्तः ॥”

च्छीपतिः । अनयोर्वाक्ययोर्यथासंप्रदायं व्यवस्था । शुभवारेष्विति ।  
अत्र चन्द्रव्यतिरिक्ताः शुभवासरा गृह्यन्ते । यदुक्तं रत्नमालायाम्—

“विद्यारम्भः सुरगुरुसितज्ञेष्वभीष्टार्थदायी  
कर्तुंश्चायुश्चिरमपि करोत्यंशुमान्मध्यमो वा ।  
नीहारांशौ भवति जडता पंचता भूमिपुत्रे  
छायासूनावपि च मुनयः कीर्त्तयन्त्येवमाद्याः ॥”

नीहारो हिमम् । यत्तु भोजेनोक्तं “विद्यारम्भे गुरुः शस्तो मध्यमौ  
भृगुभास्करो । मरणं शनिभौमाभ्यामविद्या बुधसोमयोः ॥” इति । अत्रा-  
विद्या अनवधारणमन्यथा ज्ञानं वा तदेतदनुर्विद्याविषयम् । तद्वाक्य-  
मधुनैव मया वक्ष्यते ।

तत्र तिथयः—

षडिति । षष्ठीपञ्चमीतृतीयैकादशीद्वितीयानामन्यतमतिथावधीतिः  
कार्या । ‘अनध्यायाख्यतदाद्यवर्जिततिथौ’ इति महेश्वरोक्तेः । अनध्या-  
यांस्तु व्रतबन्धे वक्ष्यति । ध्रुवेति । अत्रापिशब्दाध्याहारेण ग्रन्थो  
योज्यः । तथासत्यन्यैराचार्यैर्ध्रुवान्त्यभिन्नमे रोहिन्युत्तरात्रयरेवत्यनुरा-  
धास्वप्यधीतिरुत्तमेत्येतदपि धनुर्विद्याविषयम् । तदुक्तं दीपिकायाम्—

“अदितिगुर्यमार्कस्वातिचित्राग्निपिङ्ग-  
ध्रुवहरिवसुमूलाश्वीन्दुभाग्यांत्यमेषु ।  
विशनिशशिवुधाहे विष्णुबोधेपि पौषे  
सुसमयतिथियोगे चापविद्याप्रदानम्” इति ।

ग्रन्थेऽनुराधोक्तिस्तु महेश्वरवाक्यालोचनेन ।

तत्र लग्नबलम्—

अथ लग्नबलं शुभग्रहैस्त्रिकोणकेन्द्रगैः सद्भिरधीतिरुत्तमा स्मृता ।  
‘केन्द्रस्थितैः सद्ग्रहैः’ इत्युक्तेः । केन्द्रग्रहणां त्रिकोणोपलक्षणम् ।  
विशेषमाह नृसिंहः—“शुभाः पापाश्च रंभस्थाः सर्वे नेष्टाः सदा ग्रहाः ।  
भ्रातृषष्ठायकर्मस्थाः पापाः सर्वे शुभावहाः ॥ शुभाः केन्द्रत्रिकोणस्था ध-  
नभ्रातृगताः शुभाः । सर्वे लाभे प्रशस्ताः स्युरक्षरग्रहणे शिशोः” इति ।  
अक्षरग्रहणं विद्योपलक्षणमिति विद्यारम्भः ।

अंकुरार्पणे मुहूर्तः सर्वकर्मसाधारणे—

अथ समस्तशुभकर्मभ्यः प्राग्वहितौंकुरार्पणमुहूर्तो ग्रंथकृदनुक्तोप्य-



स्माभिरुच्यते—तत्र प्राक्तृतीयपञ्चमसप्तमनवमदिवसेषु बीजवापोक्तनक्ष-  
त्रेष्वंकुरारोपणं कार्यम् । यदाह नारदः—

“कर्तव्यं मंगलस्यादौ मंगलायांकुरार्पणम् ।  
नवमे सप्तमे वापि पञ्चमे दिवसेपि वा ॥  
तृतीये बीजनक्षत्रे शुभवारे शुभोदये ।  
सम्यग्गृहानलंकृत्य वितानध्वजतोरणैः ॥  
आशिषो वाचनं कार्यं द्विजैः पुण्यांगनादिभिः ।  
सहवादित्रनृत्याद्यैर्गत्वा प्रागुत्तरां(१) दिशम् ॥  
तत्र मृत्सिकतं श्लक्ष्णं गृहीत्वा पुनरागतः ।  
मृगमयेष्वथवासम्यग्वेणुपात्रेषु पूरयेत् ॥  
अनेकबीजसंयुक्तं तोयपुष्पोपशोभितम्” ।

शौनकः—

“आधानं गर्भसंस्कारं जातकर्म च नाम च ।  
हित्वान्यत्र विधातव्यं मंगलांकुरवापनम् ॥  
प्रदोषकाले कुर्वीत पूर्वाह्णे वा न रात्रिषु ।  
वास्तुकर्मणि काले च स्यादिवैवांकुरार्पणम् ॥”

गुरुः—

“आत्यंतिकेषु कार्येषु कार्यं सद्योंकुरार्पणम्” ।

काश्यपकालविधाने तु विशेषोभिहितः—

“हस्तस्वातीविरंचासुरपितृमुरजिन्मित्रपौष्णार्यसार्प-  
पाथोनाथोत्तरासु क्रिययुवतिधनुर्वृश्चिके कामरिक्ते ।  
हित्वा पर्वासुरेज्यामरगुरुशशिविद्वारलग्रांशके स्या-  
दुत्तर्जे बीजवापः शशिनि शुभयुते चाष्टमे शुद्धियुक्ते” इति ।

असुरो मूलम्, पाथोनाथः शततारका ॥ ३८ ॥ इति मुहूर्तचिन्ता-  
मणिटीकायामंकुरार्पणमुहूर्तः ।

व्रतबंध इति । विंशतिपद्यैः प्रोच्यते इति शेषः । तत्र व्रतबन्धप्रयोज-  
नमाह—“अथातःसंप्रवक्ष्यामि चोपनायनमुत्तमम् । द्विजत्वकारणं श्रौत-  
स्मार्त्तकर्मप्रसाधनम् ॥ आद्यं सर्वाश्रमाणां च देहसंस्कारकारणम् । अनेन

( १ ) प्रागुत्तरामैशानीम् ।

कर्मणा सर्वे संस्कृताः सर्वदेहिनः ॥ तत्संस्कारं लग्नवशात्तस्माज्जगन् प्रव-  
च्छि तत्” इति तस्य कालस्त्रिविधः—नित्यः काम्यो गौणश्च । तत्र क्रमे-  
ण त्रिविधमपि कालं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

विप्राणां व्रतबन्धनं निगदितं गर्भाज्जनेर्वाष्टमे  
वर्षे वाप्यथ पञ्चमे क्षितिभुजां षष्ठे तथैकादशे ।  
वैश्यानां पुनरष्टमेऽप्यथ पुनः स्याद्द्वादशे वत्सरे  
कालेऽथ द्विगुणे गते निगदितं गौणं तदाहुर्बुधाः ॥३६॥

विप्राणामिति । अत्र नित्यं काम्यं च तावदुच्यते । विप्राणां ब्राह्मणानां  
गर्भाष्टमे गर्भदिनमारभ्याष्टमे सौरवर्षेऽथवा जनेरुत्पत्तिदिनात्सौरवर्षेऽ-  
ष्टमे सति व्रतबन्धनं निगदितम् । इदं नित्यम् । अथ काम्यं—विप्राणा-  
मेव पञ्चमे गर्भाज्जनेर्वा वर्षे कार्यम् । एवं क्षितिभुजां क्षत्रियाणां गर्भाज्ज-  
नेर्वा षष्ठे वर्षे काम्यमुपनयनम् । तथा गर्भाज्जनेर्वा एकादशे सौरवर्षे  
नित्यमुपनयनम् । वैश्यानां पुनस्तथैवाष्टमे वर्षे काम्यमथ तथैव द्वादशे  
वर्षे नित्यमुपनयनम् । यदाह नारदः—“आधानादष्टमे वर्षे जन्मतो  
वाग्रजन्मनाम् । राज्ञामेकादशे मौजीबन्धनं द्वादशे विशाम् ॥” इति ।  
अत्र वेदाधिकरणन्यायेन राजपदं क्षत्रियपरम्, अत्र फलाश्रवणा-  
न्नित्यमित्यवसीयते ।

काम्योपनयनकालिकं वयः—

तत्र काम्यकालमाह मनुः—“ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य  
पञ्चमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोष्टमे ” इति । अत्र फल-  
श्रवणात्काम्यता । पैठीनसिना गर्भपञ्चमेपि व्रतबन्धनमुक्तम्—“गर्भ-  
पञ्चमेन्द्रे ब्राह्मणमुपनयेत् ” इति । तुल्यन्यायत्वात्क्षत्रियविशोरपि गर्भष-  
ष्ठे गर्भाष्टमेत्विति द्रष्टव्यम् यत्तु “गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भैकादशेषु  
राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यम्” इत्यापस्तम्बगृह्यसूत्रे गर्भाष्टमेष्विति उक्ते  
तत्र गर्भाष्टमेषु इति बहुत्वन्यथानुपपत्त्या गर्भषष्ठगर्भसप्तमगर्भाष्टमेषु  
सौरवर्षेष्विति वृत्तिकृद्व्याख्यानात्त्रयाणामपि नित्यकालता । एवं ग-  
र्भैकादशेष्वित्यादावपि व्याख्यानं ध्येयमिति तत्तु तच्छाखाध्यायिवि-  
षयम् । केचित्तु पञ्चमवर्षारंभात्षोडशवर्षपर्यन्तं काम्याः काला इत्याहुः ।



यदाह विश्वप्रकाशपद्धतावापस्तंबः—“पञ्चमे विद्यापुत्रकामः षष्ठे च-  
धनकामः, सप्तमे ब्रह्मवर्चसकामोष्टमे त्वायुष्कामो नवमे तेजस्कामः दशे-  
मेन्नाद्यकामः एकादशे इन्द्रियकामो द्वादशे पशुकामः त्रयोदशे जयकाम-  
श्चतुर्दशे पौरुषकामः पञ्चदशे पूर्णकामः षोडशे राज्यकामः” इति ।  
तदप्यापस्तंबशास्त्राध्यायिविषयं द्रष्टव्यम् ।

तत्रोपनयने गौणकालः—

गौणकाल उच्यते । निगदिते प्रोक्ते गर्भाज्जनेर्वाष्टमे इत्यादिके काले  
तस्मिन् द्विगुणिते गंतुं प्रवृत्ते ‘आदिकर्मणिकः’ तथासति तद्व्रतबंधने  
गौणकालमाहुः । यथा स्वस्वोक्तनित्यकालाद्ब्राह्मणस्य षोडशवर्षपर्यन्तं  
क्षत्रियस्य द्वाविंशतिवर्षपर्यंतं, वैश्यस्य चतुर्विंशतिवर्षपर्यंतं गौणमित्य-  
र्थः । यदाह मनुः—

“आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते ।

आद्वाविंशाद्ब्रह्मबंधोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥

अत उर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता ब्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः” इति ।

ब्रह्मबन्धोः क्षत्रियस्य ।

उपनयने गौणकालस्याप्यतिक्रमे ब्राह्मस्तोमः—

गौणकोलातिक्रमेपि याज्ञवल्क्येन विशेषोभिहितः—“अत उर्ध्वं  
पतंत्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः । सावित्रीपतिता ब्रात्या ब्राह्मस्तोमादृते  
क्रतोः” इति । अत एव ‘न ब्राह्मणः पतनमृच्छति’ इति गौतम-  
स्मरणमपि सङ्गच्छते । अत्र ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकोपलक्षणम् ।  
अन्यथा सावित्रीपतिता ब्रात्या इति बहुवचनमनर्थकमापद्येत ॥ ३६ ॥

अथ व्रतबन्धे नक्षत्रादिकं वसन्ततिलकयाह—

क्षिप्रध्रुवाहिचरमूलमृदुत्रिपूर्वा

रौद्रेऽर्कविद्रु रुसितेन्दुदिने व्रतं सत् ।

द्वित्रीषुरुद्ररविदिक्प्रमिते तिथौ च

कृष्णादिमन्त्रिलवकेपि न चापराह्णे ॥४०॥

क्षिप्रेति । नन्विदमयुक्तं प्रतिभाति । त्रैवर्णिकस्य त्रिविधमपि काल-  
मभिधायेदानीमेतेषु मासेषु व्रतबन्धः कार्य इति वक्तुमुचितम् । तद्विहा-  
यैव नक्षत्राद्युक्तमिति चेत्, उच्यते—अहो देवानाम्प्रियस्य महदज्ञान-  
विलसितम् । यत् ‘गीर्वाणांबुप्रतिष्ठा’ इत्यादिपद्यमबुद्ध्वा च जागरी-  
तितरामिति । यतो द्विविधः काल उत्तरायणरूपो दक्षिणायनरूपश्चेति ।  
तत्र दक्षिणायने व्रतबन्धनिषेधादुत्तरायणे मासषट्कात्मकं प्रशस्तमि-  
त्यर्थाद्गम्यत एव । यथा ‘अभदयो ग्राम्यसूकरः’ इत्युक्ते आरण्यः  
सूकरो भदय इति गम्यते । शुक्रास्ते न कर्तव्यमित्युक्ते शुक्रोदये कर्त-  
व्यमिति भवद्वचनादेवावसीयते । अत एव व्रतबन्धे नारदेनोक्तं—  
“दृश्यमाने गुरौ शुक्रे शाखेशे चोत्तरायणे” इति ।

उपनयने मासाः—

एवं सत्यपि किञ्चिद्विशेषावगत्यर्थं मासा उच्यन्तेऽस्माभिः । तत्र  
वसन्ते ब्राह्मणस्य, ग्रीष्मे राजन्यस्य, शरदि वैश्यस्य, मुख्यकाल-  
मुपनयनं माघादिपञ्चमासेषु त्रैवर्णिकस्य साधारणकालमिति ।  
यदाह वसिष्ठः—

“विप्राणामुपनयनं वसन्तसमये धराधिनाथानाम् ।

ग्रीष्मतौ शरदि विशां मासाः साधारणाश्च माघाद्याः” इति ।

कथ्यपोपि—

“ऋतौ वसन्ते विप्राणां ग्रीष्मे राज्ञा शरद्यथ ।

विशां मुख्यं च सर्वेषां द्विजानां चोपनायनम् ॥

साधारणं च मासेषु मासादिषु च पञ्चसु” ।

एतेषु मासेषूपनयनफलानि—

एषां मासानां फलान्याह नारदः—

“स्वकुलाचारधर्मज्ञो माघमासे तु फाल्गुने ।

विधिज्ञश्चार्थवाञ्छेत्रे वेदवेदांगपारगः ॥

वैशाखे धनवान्वेदशास्त्रविद्याविशारदः ।

उपनीतः कुलाढ्यः स्याज्ज्येष्ठे विधिविदां वरः” इति ।

अत्र कैश्चिच्चण्डेश्वराद्यैर्माघादिषणमासानां फलान्यभिहितानि—

“माघे द्रविणशीलाढ्यः फाल्गुने च दृढव्रतः ।



चैत्रे भवति मेघावी वैशाखे कोविदो भवेत् ॥  
ज्येष्ठे तु गृहनीतिश्च आषाढे क्रतुभाग्भवेत् ।  
मार्गशीर्षे भवेद्भ्रष्टः शेषे दुःखमवामुयात् ” इति ।

तत्राषाढमिथुनस्थसूर्यविषये नियमः—

अत्राषाढो हरिशयनात्प्रागेवांगीकार्यो न परस्तात्तत्रापि मिथुन-  
स्थिते सूर्ये न कर्कस्थे दक्षिणायनांतःपातित्वात्तस्येति तदेतदुपेक्ष्यम् ।  
प्रागुक्तार्थवाक्यस्वरसात् । किं च मिथुनस्थितेपि सूर्ये ततः सार्द्धषड्-  
दिवसानन्तरं व्रतबन्धादिनिषेधात् । “आर्द्रादिके स्वातिविरामकाले  
नक्षत्रवृन्दे दशके रविश्चेत् । विवाहचौलव्रतबन्धनाद्यं सुप्रतिष्ठापि न  
कार्यमेव ” इति वसिष्ठादिवचनात् ॥ ‘उत्तरायणे’ इति नारदवाक्यं  
तु दक्षिणायननिषेधपरमित्यास्तां प्रसक्तानुप्रसक्तम् । क्षिप्रंति ।  
क्षिप्राणि अश्विनीपुष्यहस्ताः, ध्रुवाणि प्रसिद्धानि, अहिराश्लेषा,  
चराणि श्रवणधनिष्ठाशतभपुनर्वसुस्वात्यः, मूलमृदूनि प्रसिद्धानि,  
तिस्रः पूर्वा, रौद्रमार्द्रा, एषु द्वाविंशतिभेषु व्रतबन्धनं सत् शुभफलदा-  
तृ भवेत् । उक्तं च—“प्राजापत्यादिषडृक्षे भगर्क्षादिषु पञ्चसु । मूला-  
दिदशके चैव समैत्रे व्रतबन्धनम् ” इति । अर्थाद्भरणीकृत्तिकामघावि-  
शाखाज्येष्ठासु न कार्यमित्यर्थः । एतानि सर्वशाखानक्षत्रमेलकाभि-  
प्रायेणोक्तानि ।

मुख्यनक्षत्राण्युपनयने—

मुख्यानि त्वाह वसिष्ठः—हस्तत्रये च श्रवणत्रये च धातृद्वये त्र्यु-  
त्तरमैत्रभेषु । पौष्णद्वये चादितिभद्वये च शस्तं द्विजानां खलु  
मौजिकर्म ” इति । द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानाम् । कश्यपोपि—  
“मैत्रविष्णुत्रये हस्तत्रयर्क्षे चोत्तरात्रये । धातृद्वयादितीज्यांत्यदक्षर्क्षे  
पूषनायनम् ” इति । अर्थादार्द्राश्लेषाभरणीकृत्तिकाज्येष्ठाविशाखामघा  
पूर्वात्रयमूलानि निंद्यानि । तदाह गुरुः—कृत्तिकाभरणीमूलज्येष्ठादर्द्रासु  
विशाखयोः । पूर्वात्रये च सार्पक्षे न कुर्यादौपनायनम् ” चका-  
रान्मघायाम् ।

विप्रस्यैव पुनर्वसौ मलमासैकदेशसम्बन्धेपि उपनयनमेव न  
कार्यम्—

ब्राह्मणस्य पुनर्वसौ निषेधमाह राजमातृङः—“चन्द्रतारानुकूलेषु

ग्रहान्देषु शुभेष्वपि । पुनर्वसौ कृतो विप्रः पुनः संस्कारमर्हति ” इति । अन्यत्रापि स्मर्यते—“अहः स्पृशि मले मासि शुद्धत्वमधिगच्छति ” इति । अत्र विप्रः कृत इति पदद्वयोपादानादितरतोः क्षत्रिय-विशोः पुनर्वसौ व्रतबन्धो ब्राह्मणस्य मेखलामोक्षश्च प्रशस्त इत्यर्थः । केचित्तु केनचिन्निमित्तेन कर्मनाशानदीतरणाद्यनेकदुष्टकृत्येन पुनः संस्कारप्रसक्तौ सत्यां विप्रः पुनर्वसौ पुनः संस्कारमर्हतीति न व्रतबन्ध-निषेध इत्येवं व्याचक्षते । तच्चित्यम् । यतः—

“ जीवाकैन्दूडशुद्धौ हरिशयनबहिर्भास्करे चोत्तरस्थे  
स्वाध्याये वेदवर्णाधिप इह शुभदे क्षौरमेनादितौ च ।

शुक्रार्कैज्यर्क्षलग्ने रविमदनतिथिं प्रोह्य षष्ठाष्टमेन्दुं

नो जीवास्तातिचारेर्कसितगुरुदिने कालशुद्धौ व्रतं स्यात् ” इति ।

दीपिकायां पुनर्वसुनक्षत्रविषयकव्रतबन्धस्यैव सामान्यतो निषे-  
धोक्तेः विशेषवचनात् ब्राह्मणे एव निषेधः पर्यवसन्नः । एकवाक्य-  
तावलात् पुनर्वसुनिषेधश्लोकद्वयेऽपि पूर्वार्द्धस्यानन्वयाच्च । अयं चा-  
चारः प्राच्यानाम् । दक्षिणात्यास्त्वेतन्नांगीकुर्वते देशाचाराभावात् ।  
उक्तं च वराहेण—“देशाचारस्तावदादौ विचिंत्यो देशे देशे या स्थि-  
तिः सैव कार्या । लोके दुष्टं परिडता घर्ज्जयन्ति दैवज्ञोऽतो लोकमा-  
र्गेण यायात् ॥”

सप्तशलाकावेधस्वरूपं तदादिदोषाश्च—

अत्र विहितनक्षत्रेषु वेधादिदोषास्त्याज्याः । तदुक्तं दीपिकाया-  
म्—“कर्णवेधे विवाहे च व्रते पुंसवने तथा । प्राशने चाद्यचूडायां  
विद्धमृत्तं परित्यजेत् ” इति । अत्र वेधः सप्तशलाका चक्रस्थो द्रष्ट-  
व्यः । तदाह वसिष्ठः—“पञ्चशलाकाचक्रे पाणिग्रहरो भवति च  
विधिरुक्तः । शस्त शुभमित्रकृतः सप्तशलाकाज इतरत्र ” इति । इतरत्र  
यज्ञोपवीतचौलान्नप्राशनसीमन्तादिष्वित्यर्थः ।

सप्तशलाकाचक्रम्—

चक्रन्यासः स्वरोदये—“तिर्यगूर्ध्वगता रेखाः सप्तसंख्या लिखेद्बु-  
धः । कृत्तिकादीनि भान्यत्र सांभिर्जितिक्रमेण च ” इति ।

भुक्तभोग्याक्रान्तविद्धनक्षत्राणि शुभकृत्येषु युद्धादिषु च वर्ज्यानि—

“भुक्तं भोग्यं तथाक्रान्तं विद्धं पापग्रहेण च । शुभाशुभेषु कार्येषु



वर्जनीयं प्रयत्नतः ॥ यस्याभिधाननक्षत्रं विद्धं क्रूरग्रहेण तु । देशो ग्रामः पुरं सैन्यं नरो नारी विनश्यति ” इति । अशुभेषु युद्धादिषु । दीपिकायामपि—“ कृत्तिकादिचतुः सप्तरेखांशौ परिभ्रमन् । ग्रहश्चेदेकरेखास्थो वेधः सप्तशलाकजः ” इति । ग्रन्थकृता तु विवाहप्रकरणे सप्तशलाकाचक्रोक्तिं विनैव परस्परवेधकनक्षत्रवृन्दं सिद्धवत्कृत्याभिहितम् । नन्वत्रावसरप्रसंगात् कुतो नोक्तमिति चेत् । सत्यम् । “ यस्याः शशी सप्तशलाकभिन्नः पापैरपापैरथवा विवाहे । रक्तांशुकैर्नैव च रोदमाना श्मशानभूमिं प्रमदा प्रयाति ” इति दीपकाकारवचनात् । एवं सति विवाहनक्षत्राणामेव वेधज्ञानार्थं पञ्चशलाकाचक्रं विचार्य, सप्तशलाकाचक्रं पुनर्विवाहादौ सकलकर्मविहितनक्षत्रवेधज्ञानार्थं ज्ञेयमित्यर्थं निष्कृष्टोर्थः । अयमेव च विवाहप्रकरणे चक्रोक्तौ ग्रन्थकर्तुराशय इत्यलं प्रसक्तानप्रसक्तेन ।

तत्र युतिलत्तापातादिदोषा अपि त्याज्याः—

वेध इत्युपलक्षणम् । तेन युतिलत्तापातादयो विवाहोक्ता दोषा अपि त्याज्याः । तदुक्तं वसिष्ठेन—“ निहितं त्रिविधोत्पातैः क्रूराक्रान्तं च विद्धमं त्वखिलम् । त्याज्यं तच्छुभकर्मणि न पादतः पातधिष्यं च ” इति । नारदोपि—“ वीक्षिते वाथैकविंशतिमहादोषवर्जिते ” इति व्रतबन्धप्रकरणे उक्तवान् । वीक्षिते इति पूर्वेण सम्बन्धः । ते च दोषा विवाहप्रकरणे वक्ष्यन्ते ग्रन्थकृता ।

वारा उपनयने—

अर्केति । सूर्यबुधगुरुशुक्रचन्द्रदिवसेषु व्रतं सत्स्यात् । अर्थाद्भौमशनी निषिद्धौ । तदाह नारदः—“ आचार्यकाव्यसौम्यानां वाराः शस्ताः शशीनयोः । वारौ तौ मध्यफलदौ निर्दितावितरौ व्रते ” इति । आचार्यौ गुरुः, शुक्रः, जगन्मोहने गुरुः—“ पापग्रहाणां वाराः स्युर्नशुभश्चन्द्रवासरः । सिते पक्षे प्रशस्तः स्यात्कृष्णो वारो विधोर्नहि ॥ शुभो बुधो नास्तमितः पापग्रहयुतोपि वा ” इति रविवारं निषेधति स्म । अत्र सूर्यस्य प्राबल्यदौर्बल्ययोर्व्रतबन्धस्य विधिनिषेधाविति विषयविवेकः ।

निषिद्धोपि भौमः सामवेदिनामतिप्रशस्तः—

भौमस्तु निषिद्धोपि सामवेदिनामतिप्रशस्तः । यदाह नारदः—

“शाखाधिपतिवारश्च शाखाधिपबलं शिशोः । शाखाधिपतिलग्नं च त्रित-  
यं दुर्लभं व्रते ” इति ग्रन्थकृदप्यग्रे वक्ष्यति ।

उपनयनतिथयः—

द्वीति । द्वितीयातृतीयापञ्चम्येकादशीद्वादशीदशमीसंज्ञितासु तिथिषु  
च व्रतं सत्स्यात् । यदाह नारदः—

“शुक्लपक्षे द्वितीया च तृतीया पञ्चमी तथा ।  
त्रयोदशी च दशमी सप्तमी व्रतबन्धने ॥  
श्रेष्ठास्त्वेकादशी षष्ठी द्वादश्येतास्तु मध्यमाः ।  
एकां चतुर्थी संत्यज्य कृष्णपक्षेपि मध्यमाः ” इति ।

उपनयने तिथिफलानि—

तिथिफलान्याह बादरायणः—

“प्रतिपदि मदिरासक्तः श्रुतिधरमेधाधिको द्वितीयायाम् ।  
नीतिज्ञो मेधावी जितसकलारिस्तृतीयायाम् ॥  
मन्दधिया हतचित्तोधीतश्चपलश्चतुर्थ्यां स्यात् ।  
पञ्चम्यां बहुवित्तः पूर्णायुर्धनपतिर्मतिमान् ॥  
षष्ठ्यामशुचिः सततं सप्तम्यां व्याधिसंतप्तः ।  
अल्पायुरथाष्टम्यां नवमे धनवर्जितः सदा पुरुषः ॥  
दशम्यामर्थसम्पत्तिरेकादश्यां गुणान्वितः ।  
द्वादश्यां नीतिशास्त्रज्ञो निधनाय त्रयोदशी ॥  
चतुर्दश्यां भवेन्नाशः पञ्चदश्यां क्षयो भवेत् ” इति ।

अत्र वाक्ये मध्यमा षष्ठी निषिद्धैव । अत एव ग्रन्थकृता नोक्ता ।  
मध्यमे एकादशीद्वादश्यावतिप्रशस्ते ।

त्रयोदशीतृतीयासप्तमीद्वितीयाविशेषा उपनयनेतिप्रशस्ताः—

ननु सप्तमीत्रयोदशयोरनेन वाक्येनानिष्टफलोक्तेर्नारदवाक्ये कथं  
ग्रहणम् । किं च “कृष्णपक्षे चतुर्थीति सप्तम्यादिदिनत्रयम् । चतुर्दशी  
चतुष्कं च अष्टावेते गलग्रहाः ” इति वसिष्ठोक्तेन गलग्रहोक्तेश्च ।  
उच्यते । वसन्तविषयत्वात्तयोस्तिथ्योः । तदप्युक्तं नारदेनैव—“बिन्  
तुना वसन्तेन कृष्णपक्षे गलग्रहे । अपराह्णे चोपनीतः पुनःसंस्कार-



मर्हति ” इति । अथवा माघशुक्लसप्तमी मन्वादिः । तस्या अपि ग्रहणं यथा स्यात् । अत एव मन्वाद्याद्यपवादमाह वसिष्ठः—“या चैत्रवैशाख-सितातृतीया माघे च सप्तम्यथ फाल्गुनस्य । कृष्णे द्वितीयोपनये प्रशस्ता प्रोक्ता भरद्वाजमुनीन्द्रमुख्यैः ॥ ” इति । अत्र चैत्रशुक्लतृतीया युगादिः । माघशुक्लसप्तमी मन्वादिः । वैशाखशुक्लतृतीया युगादिः । फाल्गुन-पूर्णिमोत्तरं द्वितीया चातुर्मास्यद्वितीया । आसामनध्यायत्वेपि व्रत-बन्धे प्राशस्त्यसद्भाव इत्यर्थः । अनध्यायत्वं च सप्रयोजनं ‘शुचि शुके’ इत्यादिपद्यव्याख्यानावसरेऽस्माभिर्वक्ष्यते ।

कृष्णपक्षस्याद्यं त्रिकं श्रेष्ठमुपनयने—

कृष्णादिमेति । विहितमासानां कृष्णपक्षस्यादिमे त्रिके पञ्चमी पर्यंतं सत् स्यात् । नारदवाक्ये शुक्लपक्षस्योक्तेः—“आपञ्चम्यास्तित्थेः कृष्णः शुक्लवत्परिकीर्तितः” इति वचनेनापवादनोक्तेः । एकां चतुर्थीं संत्य-ज्य कृष्णपक्षेपि चोत्तमाः । आपञ्चम्यास्तु तिथयो यदा स्युरभिर्निदिताः” इति नारदस्याप्युक्तेश्च । वसिष्ठोपि—“त्यक्त्वा चतुर्थीमपि कृष्णपक्षे त्वाद्यं त्रिभागं शुभदं व्रते च ” इति । नचेति । त्रिधाविभक्तस्य दिव-सस्य त्रयो भागाः क्रमेण पूर्वाह्नमध्याह्नापराह्नसंज्ञका भवन्ति । उक्तं च स्कन्दपुराणे—ऊर्ध्वं सूर्योदयात्प्रोक्तं मुहूर्तानां तु पञ्चकम् । पूर्वाह्नः प्रथ-मः प्रोक्तो मध्याह्नस्तु ततः परम् ॥ अपराह्नस्ततः प्रोक्तो मुहूर्तानां तु पञ्चकम् ” इति । तत्रापराह्नभागे च व्रतं न सत् । “अपराह्णे चोपनीतः पुनः संस्कारमर्हति ” इत्युक्तेः । युक्तं चैतत् । तस्मिन्समयेपि श्राद्धं कर्तुमुचितं न तु इतरशुभकृत्यम् । यदाह नारदः—“त्रिधा विभज्य दिवसं तत्रादौ कर्म दैविकम् । द्वितीये मानुषं कार्यं तृतीयेशे तु पै-तृकम् ” इति ।

अपराह्णे सर्वथा गर्हितमुपनयनम्—

एतस्य फलमुक्तं मनुना—“सर्वदेशेषु पूर्वाह्णे मुख्यं स्यादुपनायन-म् । मध्याह्णे मध्यमं प्रोक्तमपराह्णे च गर्हितम् ” इति । एवं सति पूर्वाह्णे कदाचिदलघ्नासम्भवे मध्याह्नसमयेपि सति सम्भवे लग्नं कार्यम् । अपराह्णे तु सर्वथा न कार्यमिति निष्कृष्टार्थः ॥ ४० ॥

अथ व्रतबन्धे सामान्यतो लग्नभङ्गयोगं प्रमाणिक्याह—

कवीज्यचन्द्रलग्नपा रिपौ मृतौ वृतेऽधमाः ।

व्ययेऽब्जभार्गवौ तथा तनौ मृतौ सुते खलाः ॥४१॥

कवीज्येति । अत्र लग्नार्थं राशयः सापवादाः वसिष्ठेनोक्ताः—“ लग्न-  
प्रायसौम्यग्रहराशयो ये ग्राह्या न पापग्रहराशयो ये । ग्राह्याश्चतेपि प्रब-  
लैश्च सौम्यैरधिष्ठिताश्चापि निरीक्षिता वा” । अत एवाह नारदः—  
“ राशयः सकलाः श्रेष्ठाः शुभग्रहयुतेक्षिताः ” इति ।

लग्नफलान्युपनयने—

एवं सति जगन्मोहने वसिष्ठेन प्रत्येकं लग्नफलान्युक्तानि—

“मेघे भवति वाकुण्ठो वित्तविद्यायुतो वृषे ।

युग्मे वेदान्तदर्शी स्यात्कुलीरे च षडङ्गवित् ।

शिल्पकर्मकरः सिंहे षष्ठे भवति परिडतः ।

तुलायां स्यात्तु वाणिज्यं (१) काण्डपृष्ठश्च वृश्चिके ॥

सर्वत्र पूजितश्चापे शूद्रवृत्तिर्मृगे तथा ।

राजप्रेक्षो भवेत्कुम्भे मीने वेदांतपारगः ” इति ।

शुभाशुभग्रहाणां निरीक्षणाद्यभावे योगानुसारि फलम्—

तानि लग्नानां शुभाशुभग्रहाणामुत्तमनिद्याधिष्ठाननिरीक्षणाद्यभावे  
द्रष्टव्यानि । यदा तत्संभवस्तदा—“ यथाहि योगादमृतायते विषं वि-  
षायते मध्वपि सर्पिषा समम् ” इति वचनाद्योगजमेव फलं भवति  
तत्र रिपौ षष्ठस्थाने मृतौ अष्टमस्थाने चेच्छुक्रवृहस्पतिचन्द्रलग्नस्वामि-  
नो भवन्ति तदाधमा मरणकारकाः स्युः । अब्जभार्गवौ चन्द्रशुक्रौ  
व्यये चेद्भवतः तदा मरणकरावित्यर्थः । खलाः पापग्रहा लग्नाष्टमपञ्च-  
मस्थानेषु स्थिताश्चेत्तदा तथा मरणकरा इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अथ सामान्यतो लग्नशुद्धिमनुष्ठुमाह—

वृतबन्धेऽष्टषड्रिप्फवर्जिताः शोभनाः शुभाः ।

त्रिषडाये खलाः पूर्णो गोकर्कस्थो विधुस्तनौ ॥ ४२॥

( १ ) काण्डपृष्ठः=शस्त्रजीवी ।



व्रतेति । शुभाः शुभग्रहाः अष्टमषष्ठद्वादशस्थानस्थिता ध्वेन  
स्युस्तदा व्रतबन्धे शोभनाः शुभफलदायकाः । खलाः पापाः तृतीय-  
षष्ठैकादशस्थानस्थिता शोभनाः । यदाह नारदः—“त्रिषडायगतैः  
पापैः षडष्टान्त्यविवर्जितैः । शुभैः षष्ठाष्टलग्नांत्यवर्जितेन हिमांशुना ” ।  
दैवज्ञमनोहरे गुरुः—

“लग्नस्थिते च रन्ध्रे च पापे च मरणं वटोः ।  
सौख्यं स्यात्त्रिषडायेषु जडत्वमितरेषु च ॥  
चन्द्रकूरास्तनौ नेष्टाः सर्वे रन्ध्रे व्यये कविः ।  
सितेन्दुलग्नाः षष्ठे मौजीविद्यादिकर्मसु ॥  
मौजीबन्धे विशेषेण प्राग्लग्नान्पञ्चमं तथा ।  
कूरग्रहैर्विमुक्तं च भृगुराह तयाष्टमे ॥”

दाक्षिणात्यास्त्वेवमाहुः—“चन्द्रकूरास्तनौ नेष्टाः सर्वे रन्ध्रे  
व्यये कविः । सितेन्दुलग्नाः षष्ठे वटोः प्राणपहारकाः ” इति ।  
अथ शुक्रस्य मरणरूपफलमुक्तं तदेतत्प्राच्या न संहते । “व्ययस्था-  
नगताः सर्वे कुर्वन्ति व्ययशीलिनम् । खलं नीचं पापरतं बन्धुहीनं  
विदेशगम् ” इति वसिष्ठादिवचोविरोधात् । नन्वेतादृशदुष्टफलश्रवणा-  
द्द्वादशशुको निषिद्ध-एवेति चेन्न । एवं सति द्वादशस्थानानां सर्वेषा-  
मपि वर्जनीयत्वमापतेत् । तच्च तथापि न सम्मतम् “सर्वत्र शुभकृ-  
च्छुक्रः षष्ठसताष्टमं विना । ” इति कश्यपोक्तेश्च ।

उपनयनकालिकरण्यादिग्रहस्थितिफलं स्थानविशेषेण—

विशेषो वसिष्ठेनोक्तः—

“द्वादशस्थं रविं भौमः पश्यन्नाचार्यनेत्रहा ।  
बलिनं बलवान्नूनमचिरान्नात्र संशयः ॥  
सर्वे ग्रहाश्चाष्टमगा निधनाः धनशोकदाः ।  
विना स्वतुङ्गस्वर्द्धाधिभिन्नगाः शुभवर्गगाः ॥  
आचार्यमशुभा घ्नन्ति शिष्यं घ्नन्त्यशुभतराः ।”

अस्यापवादस्तेनैवोक्तः—

“चन्द्रात्स्मरारिरन्ध्रेषु यद्येकस्मिञ्छुभग्रहे ।  
स्थितेधियोगसंज्ञः स्याच्छुभयोगो द्विजन्मनाम् ॥

केन्द्रत्रिकोणगे जीवे भानुः शुक्रोथवा व्यये ।

द्वितीये द्वे शुभे योगे द्विजानामुपनायनम् ” इति ।

गुरुः—“ मेषगो कर्कटाख्यानां भानुशुक्रेन्दवः क्रमात् । यमोदये भवेद्योगो द्विजोपनयने शुभम् ” इति । यमोदये मिथुनलग्नोदये । पूर्ण इति । पूर्णः शुक्लपक्षीयो त्रिभुः कर्कस्थो वृषस्थश्च सन् तनौ लग्नस्थितो यदि भवेत् तदैव शुभो नान्यथा । यदाह वसिष्ठः—“प्रालेयरश्मौ यदि लग्नसन्स्थे वलक्षपक्षेऽपि भवेत्स रोगी” इति । गुरुश्च—“चन्द्रोदयेऽपि शस्तः स्यात्क्षयरोगी सितेतरे । शुक्लपक्षे भवेद्यज्जा स्वभे तुङ्गे विशेषतः ॥ ” इति । चन्द्रे उदये इति पदच्छेदः । प्रागुक्तमभ्येदुरि तिबत्समाधिः । युक्तं चैतत् । उपनयनं हि द्वितीयं जन्म । तत्र हि राशिविशेषेण लग्नस्थचन्द्रस्य प्राशस्त्यमभिहितम् । तथा च लघु-जातके बराहः—“ कर्कवृषाजोपगते लग्ने चन्द्रे धनी सुरुपश्च । विक-लांगजडदरिद्रः शेषे तु विशेषतः कृणो ॥ ” इति ।

उच्चस्थो लग्नस्थश्च चन्द्रो निषिद्धः—

कश्यपस्तूच्चस्थं लग्नस्थं च चन्द्रं सदैव न्यषेधीत् । तथा “ वर्द्ध-मानोऽपि वा चन्द्रः पूर्णो वा यदि तुङ्गः । निःस्वं करोति व्रतिनं लग्नगः क्षयरोगिणम् ” इति । तदेतयोरुच्चस्थितचन्द्रसम्बधि-नोः पक्षयोर्देशाचारतो व्यवस्था । स्वगृहे चन्द्रस्तूत्तम एव द्वयोस्ति ॥ ४२ ॥

अथ चरौंशशाखेशयोः प्रयोजनस्य वक्ष्यमाणत्वाद्वर्णाधीशं शाखाधीशं च शालिन्याह—

विप्राधीशौ भार्गवेज्यौ कुजाकौ

राजन्यानामोषधीशो विशां च ।

शूद्राणां ज्ञश्चान्त्यजानां शनिः स्या-

च्छाखेशाः स्युर्जीवशुक्रारसौम्याः ॥४३॥

विप्रैति । विप्राधीशाविति समासान्तर्गतमपि अधीशपदमन्यत्रा-



नुषज्यते । तेन शुक्रबृहस्पती ब्राह्मणानां स्वामिनौ, भौमसूर्यौ क्षत्रि-  
याणां स्वामिनौ, चन्द्रो वैश्यानां स्वामी, शनिरन्त्यजानां चाण्डाला-  
दीनां प्रतिलोमजोतीनां स्वामी । यदाह वराहः—“विप्रादितः शुक्रगुरु-  
कुजाकौ शशी बुधश्चेत्यसितौत्यजानाम्” इति । स्वामिनाविति पूर्व-  
शेषः । “ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणाः” इति वेदक्रमात् जी-  
वशुक्रारसौम्याः शाखेशाः स्युः । ऋग्वेदस्य गुरुः, यजुषः शुक्रः, साम्नो  
भौमः, अथर्वणस्य बुधः स्वामीत्यर्थः । यदाह नारदः—“वेदानामधिपा  
जीवशुक्रभौमबुधाः क्रमात्” इति । “ऋग्यजुःसामशाखेशा गुरुशुक्र-  
धरात्मजाः । अथर्वणस्य वेदस्य शाखेशश्चन्द्रनन्दनः ॥” इति वसि-  
ष्ठोक्तेश्च ॥ ४३ ॥

अनयोर्वर्णेशशाखेशयोः प्रयोजनं वसन्ततिलकयाह—

शाखेशवारतनुवीर्यमतीव शस्तं

शाखेशसूर्यशशिजीवबले व्रतं सत् ।

जीवे भृगौ रिपुगृहे विजिते च नीचे

स्याद्देदशास्त्रविधिना रहितो व्रतेन ॥ ४४ ॥

शाखेशेति । यः स्वशाखाधिपस्तस्यैव वारस्तनुर्लग्नं च वीर्यं च  
गोचरप्रकरणे स्वगृहावच्छिन्नत्वेन वा बलत्वं च तद्व्रतेति शस्तम् ।  
यथा गुरुः ऋग्वेदादीनामीशोऽतो गुरुवारे गुरुलग्ने धनमीनाख्ये गुरु-  
बले च सत्युपनयनं शुभम्, एवं सर्वत्रापि ध्येयम् । तदुक्तं नारदेन—  
“शाखाधिपतिवारश्च शाखाधिपबलं शिशोः । शाखाधिपतिलग्नं च त्रितयं  
दुर्लभं व्रते ॥” शाखेशेति । शाखा वेदस्तस्येशः स्वामी तुल्यन्यायत्वा-  
द्वर्णेशोऽपि ब्राह्मः । सूर्यशशिजीवाः प्रसिद्धाः । एषां बले सति व्रतं स-  
त्स्यादन्यथा नेत्यर्थः । तदुक्तं च वसिष्ठेन—“शाखेशसूर्यवर्णेशगुरुणां  
बलपूर्वकम् । ततोऽन्येषां गुरुबलं मुख्यमाचार्यशिल्पयोः ॥” राजमार्त्तण्डे  
विशेषः—“पितुः सूर्यबलं श्रेष्ठं शाखावर्णेशयोर्वटोः । सर्वेषां गुरुचन्द्रा-  
र्कबलं श्रेष्ठं व्रतादिषु ॥” इति । रत्नमालायाम् “वर्णाधिपे बलोपेते  
उपनीतक्रिया हिता । सर्वेषां वा गुरौ चन्द्रे सूर्ये च बलशालिनि ॥” इति ।  
भौमपराक्रमः—“विप्राणां गुरुसितयो राज्ञां रविभौमयोर्बलं शस्तम् ।

इन्दोर्विशां रवीन्दुत्रिदशेज्यवलेखिलानां तु ॥” नारदेन तु प्रत्येकं शाखे-  
शादीनां उच्चादिस्थितत्वेन फलमुक्तम्—

“स्वोच्चसंस्थे तदंशे वा स्वराशौ वा तदंशके ।  
शाखेशे वा गुरौ शुके वेदवेदाङ्गपारगः ॥  
परमोच्चगते जीवे शाखेशे वाथवा सिते ।  
व्रती शिशुर्धनाढ्यः स्याद्वेदवेदाङ्गपारगः ॥  
मित्रराशिगते जीवे तदंशे वा स्वशाखपे ।  
शुके वाचार्यसंयुक्ते तदा तत्र व्रती शिशुः ॥  
स्वाधिमित्रगृहस्थे वा तस्योच्चस्थे तदंशके ।  
गुरौ भृगौ वा शाखेशे विद्याधनसमन्वितः ॥” इति ।

शाखेश इत्युपलक्षणम् । तेन वर्णाधिपेत्येतदेव फलम् । अत्र प्रमाणं  
रत्नमालायां प्रागुक्तम् ।

तेषां निर्बलत्वे फलम्—

शाखेशादीनां निर्बलत्वे फलमाह—जीवेति । जीवे वा भृगौ वा चका-  
राच्छाखेशे वर्णेशे वा विजिते युद्धे पराजिते वा नीचे स्वनीचराशिस्थि-  
ते सति व्रतेनानुष्ठितेन सदा वेदशास्त्रविधिना वेदो वेदाध्ययनं शास्त्रं  
शास्त्राध्ययनं विधिर्नित्यनैमित्तिकध्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानाख्यः, तेषां स-  
माहारद्वन्द्वः, तेन रहितो व्रती स्यात् । तदुक्तं वसिष्ठेन—“नीचर्दनीचांश-  
कसंस्थिते वा शाखेश्वरे वा स्फुजितीन्द्रपूज्ये । व्रती शिशुर्हीनकुलप्रसूतः  
शास्त्रोपजीवी स्वगृहं विसृज्य ॥” नारदेनापि—

“स्वनीचगे तदंशे वा स्वारिभे वा तदंशके ।  
गुरौ भृगौ वा शाखेशे कुलशीलविवर्जितः ॥  
स्वाधिशत्रुगृहस्थे वा तदंशे वा तदा व्रती ।  
शाखेशे वा गुरौ शुके महापातककृद्भवेत् ॥”

शाखेशे इत्युपलक्षणं वर्णाधिपस्यापि । तदुक्तं वसिष्ठेन—

“शाखेशगुरुशुक्राणां मौढ्ये बाल्ये च वार्द्धके ।  
नैवोपनयनं कार्यं वर्णेशे दुर्बले सति ॥” इति ।

“शाखेशगुरुशुक्राणामेकस्मिञ्छत्रुनिर्जिते ।  
विद्यावित्तार्थिभिस्तत्र न कार्यं चोपनायनम् ॥”

अत्र नीचाद्यवस्थितत्वेऽपि शाखेशादेः परिहारमाह वसिष्ठ एव—



“शत्रुनीचाधिशत्रुस्थे स्वांशे वा स्वोच्चभागे । शाखेशे वा  
गुरौ शुके न नीचफलमश्नुते ॥” इति ।

उच्चादिसंज्ञामाहवराहः—

“अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरामृषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः ।  
दश १० शिखि ३ मनुयुक् २८ तिथीं—१५ द्रियांशै—५ खिनवक—२७ विंश-  
ति—२० मिश्र तेस्तनीचाः” । स्वगृहादिकं ग्रन्थकृद्विवाहप्रकरणे वदयति ।  
ननु शुके शत्रुगृहस्थे नीचग्रहस्थे वा बटोरुपनयनं निषिद्धमित्युक्तम् ।  
तदयुक्तम्, शुक्रशत्रू रविचन्द्रौ तद्गृहे सिंहकर्को तन्नीचं च कन्या, ततः  
कर्कसिंहकन्याराशिस्थे शुके बटोरुपनयनं कार्यमिति तु वाक्यार्थः सम्प-  
द्यते । यदा शुक्रस्य कर्कादिराशित्रयावस्थितिस्तदा सामान्यतः सूर्यस्यापि  
दक्षिणायनगतत्वादेवोपनयननिषेधे सिद्धे पुनर्निषेधो व्यर्थः । अत्रेयं स-  
माधिसरणिः । यथा यद्यपि सामान्यतः सूर्यस्य दक्षिणायनगतत्वं सम्भवति  
तथापि विशेषः । कदाचिदसम्भवोपपत्तति । यदा स्पष्टीकृतिवशतो  
हि सूर्यात्प्राक् पश्चाद्वा एकराश्यन्तरितो राशिद्वयान्तरितो वा शुक्रः  
सम्भवति—तदा कर्कादिराशिस्थे सूर्ये शुक्रस्य स्पष्टीकृत्या कर्कादि-  
राशित्रयावस्थितिः सम्भवतीति उपनयनकालदूषिका व्यर्थैव । दक्षि-  
णायनसद्भावात् । यदा तु वृषमिथुनस्थिते सूर्ये स्पष्टीकृत्या कर्कसिंह-  
राश्यवस्थितिः शुक्रस्य सम्भवति तदा विहितकालदूषिकेतिसार्थक  
एव निषेधः । ननु शत्रुक्षेत्रावस्थितशुक्रनिषेधोभिहितरीत्या युक्त एव,  
नीचराश्यवस्थितशुक्रनिषेधो व्यर्थ एव । यतः स्पष्टीकृत्या जातोपि  
कन्यास्थितः शुक्रः कदाचिदपि दक्षिणायनं न व्यभिचरति । सत्यम् । “श-  
रद्ग्रीष्मवसन्तेषु व्युत्क्रमात्तु द्विजन्मनान् । मुख्यं साधारणं तेषां व्रतं  
माघादिपञ्चसु” इति नारदादिवाक्येभ्यः शरत्काले वैश्यानामुपनयनं  
विहितमित्यवगम्यते । तत्र कदाचिच्छुक्रस्य नीचराशिकन्यावस्थित्यो-  
पनयननिषेधेन वचनसार्थक्यात् । यदा तु “विप्रस्य क्षत्रियस्यापि  
मौजी स्यादुत्तरायणे । दक्षिणे तु विशां कुर्यान्नानध्याये न संक्रमे”  
वृद्धवसिष्ठवाक्यादक्षिणायनेपि वैश्यानां मौजी प्रशस्ता तदा तु सुतरां  
शुक्रस्य शत्रुगृहनीचगृहस्थित्वदोषोक्तिः सार्थिकैवेति ।

शत्रुगृहस्थे गुरौ नोपनयनम्—

न शत्रुगृहस्थे गुरावप्युपनयनं निषिद्धमित्युक्तम् । तत्र गुरोः शत्रु-

बुधशुक्रौ, तद्गृहाणि मिथुनकन्यावृषतुलाख्यानि तत्स्थे गुरौ  
चटोरुपनयननिषेधो नीचस्थितगुरुवच्छिष्टैः कुतो नांगीक्रियत इति ।  
उच्यते, तत्र शत्रुराशयो यथा गुरोरस्ते सिंहस्थे वा गुरौ समस्त-  
शुभकर्मणामारम्भो निषिद्धस्तथा दोषप्रकरणे पाठात् । तथा स्व-  
नीच इत्यादिवाक्यस्योपनयनप्रकरण एव पाठादनावश्यकता प्रतीयते ।  
आवश्यकत्वे तु दोषप्रकरण एव निषेधो वक्तव्यः स्यात् । न च  
तत्रोक्तौ सकलशुभकर्मणां निषेधः स्यादिति वाच्यम् । स्वनीचग  
इत्यस्य वाक्यस्य 'शूले कालशीलविवर्जितः' इति चरणरूपं—'मौ-  
जीबन्धनं कायेत्' इति पठितव्यमपीति तस्यैव निषेधः सेत्स्यति ।  
ननु मौजीबन्धनपदमुपलक्षणत्वेन व्याख्यास्यते यथा—“उपनयनं  
गोदानं पाणिग्रहणं गृहप्रवेशगमनानि । अस्तमितेषु न कुर्यात्सुर-  
गुरुभृगुपुत्रचन्द्रेषु” इत्यादिषूक्तोपनयनपदमिति । सत्यम् । सर्वत्रोपल-  
क्षणत्वं वाक्यांतराणि विना व्याख्यातुं दुर्घटम् । अत्र हि—‘वापीकूप-  
तडागयागगमनम्’ इत्यादि ऋत्नोच्चयादिवाक्यैकवाक्यतावशादुप-  
नयनादिपदानि उपलक्षणत्वेन व्याक्रियन्ते न केवलानि । सदृशवा-  
क्यांतराभावात् ।

वृषमिथुनकन्यातुलास्थे गुरावुपनयनम्—

एवं सति दोषप्रकरण एव निषेधे वक्तव्ये यदुपनयनप्रकरणे  
दोषाभिधानं तद्बटोः कालांतरे संभवति वृषमिथुनकन्यातुलास्थे गुरा-  
वुपनयनं न कार्यमित्येवंपरम् । तदसंभवे तु भवत्येव । कालान्तरा-  
भावात् । नीचस्थितगुरौ तु सर्वथा न भवति । दोषप्रकरणे पाठात् ।  
गुर्वाद्यस्तवनीचराशिगतत्वेन निषेधसिद्धे तदंशकनिषेधो राश्यंतर-  
गेपि गुरौ नीचत्वहान्यर्थमित्यलमतिप्रसंगेन ॥ ४४ ॥

अथ सामान्यतो निषिद्धस्य जन्ममासादेरत्र व्रतबन्धेऽपवाद-  
मनुष्ठुभाह—

जन्मर्क्षमासलग्नादौ वृते विद्याधिको वृत्ति ।

आद्यगर्भेऽपि विप्राणां क्षत्रादीनामनादिमे ॥ ४५ ॥

जन्मर्क्षेति । जन्मनक्षत्रे जन्ममासे जन्मलग्ने चादिशब्देन जन्म-  
तिथिः एतेषु सत्स्वपि दोषेषु विप्राणामाद्यगर्भेऽपिशब्दात् द्वितीयग-



र्भादावपि व्रती बालो व्रते यक्षोपवीते विद्याधिकः स्यात् । क्षत्रादीनां क्षत्रियवैश्यानां पुनरनादिमे द्वितीयगर्भाद्ये बालके सति जन्मर्क्षमास-  
लमादौ विद्याधिको व्रती स्यात्, आद्यगर्भे तु तेषां सर्वथा प्रतिषेध  
एवेति । अत्रायमाशयः । श्रोतः—“जन्ममासि न च जन्ममे तथा नैव  
जन्मदिवसेपि कारयेत् । आद्यगर्भदुहितुः सुतस्य वा ज्येष्ठमासि न च  
जातु मङ्गलम् ॥” इति अत्राद्यगर्भदुहितुः सुतस्यवेति देहलीदीपन्याये-  
नोभयत्रापि सम्बध्यते । तेन जन्ममासादावाद्यगर्भस्यैव निषेधः । तथा च-  
‘संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि दूषणम्’ इति वाक्यभेदानापत्तेः । अ-  
त एव महेश्वरः—“न जन्ममासे न च जन्मधिष्ये न जन्मकालीयदिने  
विदध्यात् । ज्येष्ठे न मासि प्रथमस्य सूनोस्तथा सुताया अपि मङ्ग-  
लानि ” इति वाक्यान्ते प्रथमस्येत्याद्युक्तवान् । नारदीये—“न जन्ममा-  
से जन्मर्क्षे न जन्मदिवसेपि वा । आद्यगर्भसुतस्याथ दुहितुर्वा कर्प्र-  
हः ” इति विशेषाच्च ।

ब्राह्मणविषयेऽपवादो गर्भाष्टमे उपनयने फलविशेषः—

अस्यापवादमाह शौनकः—

“जन्मोदये जन्मसु तारकासु मासे तथा जन्मनि जन्मराशौ ।

व्रतेन विप्रो न बहुभ्रुतोपि प्रज्ञाविशेषैः प्रथितः पृथिव्याम् ॥

गर्भाष्टमे गर्गपराशराद्यैः फलं यदुक्तं व्रतबन्धने तु ।

ततोधिकं जन्मसु तारकासु मासे तथा जन्मनि वाडवानाम् ॥”

वाडवानां ब्राह्मणानाम् । ‘द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः’ इत्यभिधा-  
नात् । प्रथमदशमैकोनविंशतिनक्षत्राणां ग्रहणार्थं जन्मतारकास्त्वित्यु-  
क्तम् । पट्टबन्धने इत्यादिनारदवाक्यं प्रागुक्तमेव । गर्भाष्टमोपनयनफल-  
माह राजमार्तण्डः—

“यज्वा वसन्तसमये बहुवित्तभोगी

गर्भाष्टमे विविधशास्त्रविशारदस्तु ।

वेदार्थपालनपरः खलुजन्ममासे

ऋक्षोपि जन्मनि बहुकृतभाजनं स्यात् ॥”

ननु—“विवाहे चोपनयने जन्ममासं च वर्जयेत् ।

विशेषाज्जन्मपक्षं तु वसिष्ठाद्यैरुदाहृतम् ” इति जगन्मोहने गर्गव-  
चनं कथं सङ्गच्छेतेति चेत्, सत्यम् । क्षत्रियाणां विशां चाद्यगर्भनिषे-

धार्थं भविष्यति । तथासति द्वितीयगर्भादाद्युपनयनादिमङ्गलकृत्यं सुखो-  
दकं स्यात् । विप्राणां तु वाडवानामिति विशेषोक्तोद्यगगर्भानाद्यगर्भ-  
साधारणमुपनयनं जन्ममासादौ कुत इति चेत्, शृणु । यो जन्म-  
मासादौ निषेधः स आद्यगर्भस्यैव सोऽप्युपनयनवाक्येनापोह्यते द्वितीय-  
गर्भादौ तु निषेध एव नास्ति किं तदपवादेन ॥ ४५ ॥

अथ गुरुबलमनुष्ठुभाह—

बटुकन्याजन्मराशेश्चिकोणायद्विसप्तमः ।

श्रेष्ठो गुरुः खषट्प्याद्ये पूजयान्यत्र निन्दितः ॥ ४६ ॥

बटुकन्येति । बटुरुपनयनाधिकारी । उपलक्षणत्वाद्वरोपि । तथा  
कन्या स्त्रीजात्यत्यम् । तज्जन्मराशेः नवमपञ्चमैकादशद्वितीयसप्तम-  
स्थानस्थितो गुरुः श्रेष्ठः उत्तमः । यदाह श्रीपतिः—“स्वायधर्मतनयद्युन-  
स्थितो नाकनायकपुरोहितः शुभः” इति । खेति । दशमषट् तृतीयप्रथम-  
स्थानस्थितो गुरुः पूजया धर्मशास्त्रोक्तपूजाविधानेन स्वनुष्ठितेन श्रेष्ठः ।  
अन्यत्र चतुर्थद्वादशाष्टमाख्यनिन्द्यस्थानस्थितः सन् द्विगुणत्रिगुणादि-  
पूजया स्वनुष्ठितयापि निन्द्यो निषिद्ध इत्यर्थः । उक्तं च वराहेण—

“दुश्चिक्वजन्मारिखमध्यमेषु जन्मर्दातो बाञ्छति वज्रपाणोः ।

पूजां पुरोधा न स एव कांक्षत्यथाष्टमप्रान्त्यरसातलस्थः” इति ।

विवाहोपनयनयोर्गुरुबले विशेषो द्वित्रिपूजाभिः—

वसिष्ठेन तु विशेष उक्तः—“बन्धौ तृतीये रिपुराशिसंस्थे बाञ्छान्ति  
पूजां दशमे सुरेज्ये । नेच्छन्ति पूजां जनिगे व्ययस्थे पुरातना अष्टम-  
गेपि राशौ ।” जनिगे जन्मराशिस्थे । चतुर्थजन्मस्थगुरोः पूजानिरपे-  
क्षत्वविषयिणी देशभेदेन व्यवस्था ध्येया । तत्र पूजानिरपेक्षेपि गुरौ  
गुणवद्गुरोपलब्धौ कन्यायाः कालातिक्रमाद्विवाह उचितः । तदप्युक्तं  
वराहेण—“पूजाभिलाषं प्रति निःस्पृहोपि कुर्याद्गुरौ शुद्धिविर्जितो-  
पि । वरस्य लाभे शुभदं विवाहं वदन्ति गर्गच्यवनादिमुख्याः ॥” इति ।  
अत्र चतुर्थद्वादशाष्टमस्थानस्थितत्वेन गुरोर्द्विगुणत्रिगुणादिकां पूजां  
विधाय विवाहः शुभ इति सांप्रदायिकार्थः । विवाह इत्युपलक्षणम् ।  
तेन व्रतबन्धोप्येवमेव ध्येयः । तदुक्तं नारदेन—“बालस्य बलही-



नोपि शांत्या जीवो बलप्रदः । यथोक्तवत्सरे कार्यमनूक्तेनोपना-  
नम् ॥” इति । वसिष्ठेनापि—“ उक्तेपि वर्षे न बली गुरुश्चेच्छान्त्या  
प्रशस्तं व्रतबन्धकम् । अनुक्तवर्षेपि बलप्रदोपि नैवं तयोरब्दचलं  
बलीयः ॥” इति ।

गोचररेणैव गुरुबलं न वामवेधेन मौखीबन्धादौ—

अत्र वामवेधेन ये गुरुशुद्धिमाहुस्तान् दूषयति गर्गः—“ मौ-  
खीबन्धे विवाहे च प्रतिष्ठायां विशेषतः । गोचररेणैव कर्तव्यं वेधा-  
दिकमकारणम् ॥” इति ।

अष्टकवर्गबलेनैवेति कस्यचिन्मतम्—

प्राच्यास्तु गोचरबलाभावे अष्टकवर्गबलेनैव व्रतबन्धादिकमाहुः ।  
यदाह राजमातङ्गः—“ अष्टवर्गविशुद्धेषु गुरुशीतांशुभानुषु ।  
व्रतोद्वाहौ च कर्त्तव्यौ गोचरेण कदापि न ॥” इति उपलक्षणमेतत् ।  
यत्र कर्मणि यस्य ग्रहस्य शुद्धिरपेक्षिता तस्याष्टकवर्गशुद्धिर्विचार्या ।  
एतदप्याह स एव—“अष्टवर्गेण ये शुद्धास्ते शुद्धाः सर्वकर्मसु ।  
सूक्ष्माष्टवर्गसंशुद्धिः स्थूला शुद्धिस्तु गोचरे ॥ अभावतो गोचरशोभना-  
नां शुद्धिर्वदेद्भागुरिरष्टवर्गात् । वैधव्यकन्याक्षयहेतुयोगे जीवाष्टवर्गस्य  
वदेत्तु शुद्धिम् ॥” इति ।

गुरोरष्टकवर्गः तथा रव्यादीनां तत्फलं च—

तत्र गुरोरष्टकवर्गो लिख्यते । बृहज्जातके वराहः—

“दिकस्वाद्यष्टमदायबन्धुषु कुजात्स्वात्सत्रिकेष्वांगिराः  
सूर्यात्सत्रिनवेष्टुधीस्वनवदिग्गलाभारिगो भार्गवात् ।  
जायाथार्थनवात्मजेषु हिमगोर्मदत्रिषड्धीव्यये  
दिग्धीषट्स्वसुखायपूर्वनवगो ज्ञात्संस्मरेषूदयात् ॥” इति ।

एवं सत्यामपेक्षायां सूर्यादीनामप्यष्टकवर्गास्त एव ध्येयाः ।  
एवं जन्मकालीनग्रहवशादुक्तस्थाने रेखाः दत्त्वा सांप्रतं विरुद्धफल-  
दातृग्रहाधिष्ठितराशौ रेखाधिक्ये शुभमन्यथा नेति निष्कृष्टोर्थः । उक्तं  
च लघुजातके—“विफलं गोचरगणितं ह्यष्टकवर्गेण निर्दिशेत्पुंसाम् ।  
रेखाधिक्ये शुभं विद्वधिकेनैव शोभनं प्रायः ॥” अत्र प्रत्येकं रेखा-  
फलमुक्तं यवनाचार्यैः—

“कष्टं स्यादेकरेखायां द्वाभ्यामर्थक्षयो भवेत् ।  
त्रिभिः क्लेशं विजानीयाच्चतुर्भिः समता मता ॥  
पञ्चभिः क्षेममारोग्यं षड्भिरर्थार्गमो भवेत् ।  
सप्तभिः परमानन्दस्त्वष्टाभिः सर्वसंपदः ॥”

इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ४६ ॥

अथ ग्रन्थकृत्स्वमतेन गुरुदौष्ट्यापवादमनुष्ठुभाह—

स्वोच्चे स्वभे स्वमैत्रे वा स्वांशे वर्गोत्तमे गुरुः ।

रिःफाष्टनुर्यगोऽपीष्टो नीचारिस्थः शुभोऽप्यसत् ॥४७॥

स्वोच्चे इति । गुरुर्द्वादशाष्टमचतुर्थाख्यनिघ्नस्थानस्थितोपि यदि स्वोच्चस्थाने कर्कं स्वभे धनुर्मीनाख्ये स्वमैत्रे स्वमित्रगृहे मेषवृश्चिखाख्ये स्वांशे यस्मिन्कर्कस्मिन्निद्राशौ धनुर्मीननवांशे वर्गोत्तमे वर्गनवांशे यथा वृषराशौ वृषनवांशे गुरुः वर्गोत्तम इति । वर्गोत्तमलक्षणमुक्तं घराहेण—“वर्गोत्तमाश्चरगृहादिषु पूर्वमध्यपर्यंतगाः शुभफला नवभागसंज्ञाः ।’ इति ।

स्वोच्चादिनवांशेऽन्येष्वपि केषुचित्स्थानेषु शुभो गुरुः—

उपलक्षणत्वात्स्वोच्चादिनवांशेपि वा स्थितः स्यात्तदेष्टुशुभफलदाता । कैमुतिकन्यायेनाप्यन्येषु स्थानेष्वेतादृशो गुरुः शुभ एव । यदाह भुजबलः—“वर्गोत्तमे स्वभवने भवनेथ मैत्रे मित्रांशके स्वभवनोच्चनवांशके वा । जन्माष्टरिःफरिपुत्रत्रिचतुर्थगोपि जीवः सुखार्थसुतवृद्धिकरो विवाहे ॥” व्यासोपि—“मित्रराशिगते जीवे स्वगृहे स्वोच्चगोपि वा । उद्वाहिता यदा कन्या भवेत्पुत्रार्थसंयुता” ॥ ” इति । तुल्यन्यायत्वाद्ब्रतादावपि ज्ञेयम् । ननु गुरोः (१) सूर्यभौमौ मित्रे । एवं सति सिंहकर्कादित्यपि कुतो न व्याख्यातमिति चेन्न । सिंहस्थस्य गुरोः स्वरूपेणैव निषेध इत्युक्तं प्राक् । कर्कस्थो गुरुश्च स्वस्थ एवेति पुनरुक्तिः । अतः प्राक्साधीयः प्राग्व्याख्यातम् ।

गुरुविषये नीचार्यष्टमादिगैर्विशेषः—

नीचं मकरः अरिस्थः मिथुनकन्यातुलावृषराशिस्थो गुरुः गोचरेण

( १ ) रवीन्दू मित्रे इति पाठः साधुः प्रतिभाति ।



शुभोप्यसत् अनिष्टफलदातेत्यर्थः । तदुक्तं ज्योतिर्निबन्धे—

“उच्चस्थः स्वगृहे सुहृद्भवनगो वाचस्पतिर्नित्यशः

पूर्णयुर्विविधार्थसौख्यजनको जन्माष्टमस्थोपि चेत् ।

नीचस्थोरिगृहे दिवाकरकरच्छायायानुगामी सदा—

पीष्टोनिष्टफलं ददाति नियतं वैधव्यदुःखास्पदम् ॥ ” इति ।

अत्राष्टमस्थ इत्यनेन सर्वथानिष्टफले गुरौ ‘न चाष्टमं लक्षणगुणं प्रपू-  
जयेत्’ इति वचनात्पूजामनीहमानेष्युपनयनादि शुभं स्यात् । द्वादश-  
चतुर्थस्थानस्थस्य तु द्विगुणपूजामिच्छतस्तथा तृतीयादिस्थानस्थस्य  
पूजामात्रापेक्षस्य गुरोः शुभफलदातृतास्तीति किं वक्तव्यमिति कै-  
मुतिकन्यायसूचनार्थोपिशब्दः । नचाष्टममितिवाक्यं शत्रुगृहस्थित-  
गुर्वभिप्रायम् ।

गुरुदोषनिवारणसम्भवे गोचराष्टकवर्गेण उपनयनं मीनचैत्रे—

अस्यापवादो रत्नकोशेऽभिहितः—

“गोचराष्टकवर्गाभ्यां यदि शुद्धिर्न लभ्यते ।

तदोपनयनं कार्यं चैत्रे मीनगते रवौ ॥”

“हरौ सिंहांशके जीवे नीचर्क्षे नीचभागगे ।

मौजीबन्धः शुभः प्रोक्तश्चैत्रे मीनगते रवौ ॥” इति गुरुक्तेश्च ॥४७॥

अथ व्रतबन्धे वर्ज्यपदार्थाननुष्ठुमाह—

कृष्णे प्रदोषेऽनध्याये शनौ निश्यपराह्वके ।

प्राक्सन्ध्यागर्जिते नेष्टो व्रतबन्धो गलग्रहे ॥ ४८ ॥

कृष्णे इति । एषु दुष्टपदार्थेषु सत्सु व्रतबन्धो नेष्ट इति वा-  
क्यार्थः । तत्र कृष्णे प्रथमत्रिभागरहिते कृष्णपक्षे—“आपञ्चम्यास्तु  
तिथयः पराः स्युरतिनिदिताः” इति नारदोक्तेः । तथा प्रदोषे यस्मिन्  
दिने सन्ध्याकाले प्रदोषो भवेत्तद्विषये व्रतबन्धो नेष्टः । प्रदोषलक्षणां  
स्वयमेव वक्ष्यति । अनध्यायेपि नेष्टः । अनध्यायानग्रे वक्ष्यति ।  
शनौ नेष्टः । अत्र सम्मतिरुक्ता । रात्रौ नेष्टः । अपराह्वकेपि नेष्टः ।  
अत्र लम्पतिवाक्यं प्रागलेखि । इयं पुनरुक्तिः स्मरणाविच्छेदार्था । तथा  
प्राक्सन्ध्या प्रातःसन्ध्या तस्यां गर्जिते मेघध्वनावनध्यायनिमित्ते सति

नेष्टः । यदाह वसिष्ठः—“ व्रतेहि पूर्वसन्ध्यायां वारिदो यदि गर्जति । तद्दिनं स्यादन्ध्यायं व्रतं तत्र विवर्जयेत् ॥ ” इति सन्ध्यालक्षणं प्रागुक्तमस्माभिः ।

उपनयनं गलग्रहे न भवति—

तथा गलग्रहे गलग्रहाख्ये दिवसे व्रतबन्धो नेष्टः । गलग्रहानाह गुरुः—त्रयोदश्यादिचत्वारि सप्तम्यादिदिनत्रयम् । चतुर्थी चैकत प्रोक्ता अष्टावेते गलग्रहाः ॥” यत्तु वसिष्ठेन—कृष्णपक्षे चतुर्थी च सप्तम्यादिदिनत्रयम् । त्रयोदशीचतुष्कं च अष्टावेते गलग्रहाः ” इत्यत्र कृष्णपक्षीयचतुर्थी ग्रहणां कृतं तद्दोषाधिक्यप्रतिपत्त्यर्थम् । नतु शुक्लपक्षीयचतुर्थ्याग्रहणार्थम् । कुतः । गुरुवाक्यस्यवैयर्थ्यापत्तेः ।

व्रते वर्ज्या अन्येपि कालाः—

अत्र दैवज्ञमनोहरे—“प्रदोषे निश्चयनध्याये मन्दे कृष्णे गलग्रहे । मधुं विनोपनीतस्तु पुनः संस्कारमर्हति । गलग्रहे प्रदोषे च स्वल्पा-  
गुरूपजायते ॥ ” नन्वत्र रात्रिनिषेधो व्यर्थः । यतो दिवसे पूर्वाह्णा-  
दयस्त्रयः काला उपनयने श्रेष्ठमध्यमाधमा उक्ताः । यदाह मनुः—“स-  
र्वदेशेषु पूर्वाह्णे मुख्यं स्यादुपनायनम् । मध्याह्णे मध्यमं प्रोक्तमपराह्णे  
च गर्हितम् ” । तत्र ‘अपराह्णोपनीतस्तु पुनः संस्कारमर्हति’ इत्यप-  
राह्णकालस्यातिनिषिद्धत्वाकैमुतिकन्यायेन रात्रिरपि निषिद्धेतिवाचनि-  
को रात्रिनिषेधो व्यर्थ इति चेत्, सत्यम् । “अङ्गवङ्गकलिंगेषु सौरा-  
ष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ॥” इति  
पुनःसंस्कारतिमित्तापत्तौ निमित्तानन्तरमेव कैमुतिकन्यायेन पुनरुप-  
नयने प्राप्ते यदि रात्रिसङ्गावस्तदोपनयनं माभूदिति रात्रिपदोक्तिः ।  
अनयैव रीत्या प्रदोषोक्तिरपि सार्थिका । यतः सायङ्कालीनसमयः प्र-  
दोषशब्दवाच्यः । ‘प्रदोषो रजनीमुखम्’ इत्यमरोक्तेः । वयं तु दोषग्रह-  
णाद्यदिने लक्षणविशिष्टः प्रदोषो भवेत्तद्दिनमुपनये त्याज्यमिति ब्रूमः ।  
ननु यत्रापराह्णकालो निर्दिष्टस्तत्र प्रदोषस्तु सुतरां निन्द्य इति प्रदोष-  
ग्रहणसामर्थ्यात् पुनरुपनयननिषेधार्थं प्रदोषग्रहणमिति चेन्न, रात्रिपदव-  
त्सर्वथा वैयर्थ्ये सत्येवं गतिर्युक्ता । न च तदत्र पश्यामः । निबन्ध-  
कर्तृभिरुपनयनप्रकरण एव प्रदोषलक्षणवाक्यानां लिखितत्वात् ।  
यद्यपि तानि “सर्वविद्याविघातकृत्” इति “ब्रह्मनाधीयते



नरैः ” इत्यादीनि च सामान्यतो विद्यारम्भविषयकाणि तथापि प्रथमातिक्रमे कारणाभावादक्षरस्वीकार एव तल्लेखनस्य युक्तत्वात् । अत एव शिष्टाः सायं यद्दिने प्रदोषस्तद्दिने गलग्रहरहितेऽप्युपनयनं कुर्वन्ति । उक्तं च शाङ्गधरीये—“स्वाध्याये पूर्वाह्ने प्रदोषरहिते तथा विरिक्ते च । हित्वा शनिकुजवारौ स्वाध्याय पूर्वपरदिने च ” इति । नन्वनध्यायेषु गलग्रहेषु च व्रतबन्धो निनिद्ध इत्युक्तम् । तदयुक्तम् विहिततिथ्याभावादेव भविष्यति । विहिताश्च तिथय इमाः द्वितीया-तृतीयापञ्चमीषष्ठीदशम्येकादशोद्वादशयो द्वित्रिष्वित्यादिनोक्ताः । उच्यते । द्विविधा अनध्यायाः—नित्या नैमित्तिकाश्च । नित्या अष्टम्यादयो नैमित्तिका मन्वाद्याः । तत्र मन्वादिषाढशुक्लदशमीस्वाध्याय एव, सोपपदा अपि स्वाध्याया एव, संक्रान्तिः कदाचित्स्वाध्यायेष्वपि स्यादित्येतासु तिथिषु व्रतबन्धो माभूदिति आसामनध्यायत्वोक्तिः ।

चैत्रवैशाखशुद्धतृतीययोरुपनयनम्—

चैत्रशुद्धवैशाखशुद्धतृतीययोर्मन्वादियुगाद्योस्तु ‘या चैत्रवैशाखसिता तृतीया’ इत्यादिवसिष्ठवाक्येन वाचनिकं व्रतबन्धविषयत्वम् । अन्यासां मन्वादिस्वाध्यायतिथीनां दक्षिणायनगतमनध्यायत्वे प्रथमवेदारम्भो माभूदिति प्रयोजनम् । ‘ब्रह्म नाधीयते नरैः’ इति वाक्यान्तेभिधानात् । वेदस्योपलक्षणत्वात्सकलविद्यारम्भोऽपि । एतच्च सामान्यतः सर्वसामान्यनध्यायतिथीनां प्रयोजनम् । मन्वादितिथिषु दानादिकमपि प्रयोजनं स्मर्यते मत्स्यपुराणे—मन्वन्तरादयश्चैते दत्तस्याक्षयकारकाः ।” इति ।

चतुर्दश्यादीनामनध्यायत्वोक्तौ हेतुः—

चतुर्दश्यादयो यद्यनध्यायानीच्येरंस्तदा विहितप्रतिषिद्धत्वाभावा-न्मध्यमत्वावसायस्तिथीनां स्यात् । तत्र यथा स्वशाखीयनक्षत्रालाभे अनिषिद्धान्यन्यापि नक्षत्राणि गृह्यन्ते तथा कदाचिद्विहिततिथ्यलाभे मध्यमतिथिष्वप्युपनयनं स्यात्तन्माभूदित्येतदर्थं चतुर्दश्यादीनामनध्यायत्वम् । एतदेव समाधानं तुल्यन्यायत्वाद्गलग्रहेष्वपि ध्येयम् ।

गलग्रहेऽन्यान्यपि कर्माणि न भवन्ति—

किं च—“विद्यारम्भो व्रतोद्देशः क्षौरं चैव विशेषतः । गलग्रहे न

कर्त्तव्यं यदीच्छेत्पुत्रजीवितम् ॥” इति गुरुणा क्षौरादिनिषेधोक्तेश्च ।  
कचिद्वह्न्यपि कर्माणि गलग्रहे निषिद्धानि । उक्तञ्च—“चूडा व्रतं तथो-  
द्वाहं कर्णयोरपि वेधनम् । गलग्रहे न कर्त्तव्यं यदीच्छेत्पुत्रजीवितम् ॥”  
इत्यलमतिप्रसक्तानुप्रसक्तौ ॥ ४८ ॥

अथ व्रतबन्धलग्ने रव्याद्यंशफलमनुष्टुभाह—

क्रूरो जडो भवेत्पापः पटुः षट्कर्मकृद्पटुः ।

यज्ञार्थभाक् तथा मूर्खो रव्याद्यंशे तनौ क्रमात् ॥४९॥

क्रूर इति । षट्कर्माणि अध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहाः ।

उक्तञ्च व्यासेन—

“यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ ।

अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्मा धर्मभाग्विजः ॥”

अन्यत्स्पष्टार्थम् । तदुक्तं रत्नमालायाम्—“शन्यंशे ह्युदयति मूर्ख-  
ताकभागे क्रूरत्वं भवति च पापधीः कुजांशे । चन्द्रांशे त्वतिजडता  
बुधे पटुत्वं यज्यत्वं गुरुभृगुभागयोगैर्गृणन्ति ॥” इति । भीमपराक्रमोपि-  
“भवेत्क्रूरो जडः पापः पटुर्यज्वा मखान्वितः । मूर्खश्चार्कादिकांशेषु क्र-  
मेणोदयवर्तिषु ॥” इति ।

बुधगुरुशुक्रस्वामिकराशयो व्रतबन्धे ग्राह्याः—

एवं सति बुधगुरुशुक्रस्वामिकराशीनां नवांशा ग्राह्याः । एतच्च  
स्पष्टमुक्तं नारदेन—“लग्नेथ राशयः श्रेष्ठाः शुभग्रहयुतेक्षिताः । शुभा  
नवांशा न तथा ग्राह्यास्ते शुभराशयः ॥ न कदाचित्कर्कटांशः शुभग्रहयु-  
तोपि वा । तस्माद्गोमिथुनान्त्याश्वतुलाकन्यांशकाः शुभाः ॥” इति । अ-  
श्वो धनुः । तथा सति वृषमिथुनकन्यातुलाधनुर्मीनांशा ग्राह्या इति  
निष्कृष्टोऽर्थः ॥ ४९ ॥

अथ चन्द्रनवांशफलं स्वनवांशे सापवादं मोटकेन छन्दसाह—

विद्यानिरतः शुभराशिलवे

पापांशगते हि दरिद्रतरः ।





“शानुष्ठाने रतः स्यात्प्रबुरमतिर्युतः केन्द्रसंस्थे सुरेज्ये  
विद्यासौख्यार्थयुक्तो ह्युशनसि शशिजेऽध्यापकश्च प्रदिष्टः ।  
सूर्ये राजोपसेवी भवति धरणिजे शत्रुवृत्तिर्द्विजन्मा  
शीतांशौ वैश्यवृत्तिर्दिनकरतनयं सेवकश्चान्यजानाम् ॥”

अन्यजानां चाण्डालानाम् । अत्र लग्नस्थं चन्द्रं केन्द्रस्थं च शनिं  
विना शुभाः पापाश्च शुभफला इत्यवगम्यते ।

केन्द्रगतपापा निषिद्धा व्रतवन्धे तत्फलानि च—  
मुनिभिस्तु केन्द्रगपापा निषिद्धा इत्युक्तम् । यदाह नारदः—

“स्फूर्जितं केन्द्रगे भानौ व्रतिनो वंशनाशनम् ।

कूजितं केन्द्रगे भौमे शिष्याचार्यविनाशनम् ॥

करोति रुदितं केन्द्रसंस्थे मन्दे महागदम् ।

लग्ने केन्द्रगते राहौ रन्ध्र मातृविनाशनम् ॥

उग्रे केन्द्रगते केतौ व्रतिव्रिचविनाशनम् ।” इति ।

तत्र सूर्यस्य सर्वशाखाधिपत्वात्केन्द्रसंस्थत्वमावश्यकविषयं द्रष्टव्य-  
म् । उक्तं च दैवज्ञमनोहरे—“सर्वशाखाधिपं भानुं केचिदूचुर्महर्षयः ।  
तरमाद्रत्यन्तराभावे लग्नस्थोर्कः प्रशस्यते ॥” लग्नग्रहणं केन्द्रापलक्षणम् ।  
तथा स्वगृहोच्चाद्यवस्थितः पापग्रहः केन्द्रस्थः शुभफलदातान्यथा  
नेत्यर्थः । इति विरुद्धार्थयोर्वचनयोर्विषयविवेकः ॥ ५१ ॥

अथ चन्द्रगुणशुक्राणां ग्रहयुतौ फलमनुष्ठुभाह—

शुके जीवे तथा चन्द्रे सूर्यभौमार्किसंयुते ।

निर्गुणः क्रूरचेष्टः स्यान्निर्घृणः सद्युते पटुः ॥ ५२ ॥

शुकेति । शुके तथा जीवे गुरौ तथा चन्द्रे च प्रत्येकं सूर्य-  
संयुते व्रती निर्गुणः स्यात् । एवं भौमसंयुते सति क्रूरचेष्टः क्रूरा  
हिंसनशीला चेष्टा हस्तादिचापलं यस्य स तादृशः स्यात् । तथार्कः  
शनिस्तेन संयुते निर्घृणः निर्लज्जो निर्दयो वा स्यात् । तथा तस्मि-  
न्नेव शुके जीवे चन्द्रे वा प्रत्येकं सद्भिः चन्द्रबुधगुरुशुक्रैः युते पटुः  
सर्वविद्यानिपुणः स्यात् । उक्तं च रत्नमालायाम्—“सार्कं जीवे  
निर्गुणोऽर्थैर्विहीनः क्रूरः सारे वाक्पटुः सत्समेते । भानोः पुत्रेणालसो  
निर्घृणश्च स्याच्छुकेन्दुजीववित्संप्रकल्प्यौ ॥” इति ॥ ५२ ॥



अथ चन्द्रवशेन शुभाशुभयोगौ प्रमाणिकयाह—

विधौ सितांशगे सिते त्रिकोणगे तनौ गुरौ ।

समस्तवेदविद्वृत्ती यमांशगेऽतिनिर्घृणः ॥ ५३ ॥

विधाविति । विधौ चन्द्रे शुक्रांशगे सति शुक्रे च नवमपञ्चमस्थान-  
स्थिते गुरौ लग्नस्थे च सति व्रती वटुः समस्तांश्चतुरो वेदान्नेति जाना-  
ति तादृशः स्यात् । एवं यमांशगे शनिनवांशस्थिते चन्द्रे सति लग्ने गुरौ  
च सति सिते त्रिकोणगे सत्यन्यतिनिर्घृणः स्यात् । यदाह महेश्वरः—जीवे  
लग्नमधिष्ठिते भृगुगुप्ते धर्मात्मजस्थे विधौ शुक्रांशे खिलवेदविद्विषुते  
स्वांशे कृतघ्नोऽधमः ॥” इति ।

गुरुशुक्रयुक्तशन्यंशस्थचन्द्रफलम्—

अपरे तु गुरुशुक्रयुक्तेषु शन्यंशस्थे चन्द्रे सत्यतिनिर्घृण इति व्या-  
चक्षते । तदुक्तं रत्नमालायाम्—“लग्ने जीवे भार्गवे च त्रिकोणो शुक्रां-  
शस्थे स्याद्विधौ वेदवेदी । सौरांशस्थ सूरिलग्न्ये सशुक्रे विद्याशीलः  
प्रोज्झितः स्यात्कृतघ्नः ॥” इति सूरिलग्न्ये सूरिर्बृहस्पतिस्तद्युक्ते लग्ने ।  
इति व्रतबन्धे लग्नविचारः । ननु व्रतबन्धे वटुराशितोष्टमभ-  
वनादिशुद्धिरुक्ता । यदाह वसिष्ठः—“न नैधनं नैधनशुद्धिलग्नं न  
नैधनक्षं न च तनवांशः । न नैधनेषां न तदंशको वा लग्ने  
प्रगस्तो न च रात्रिनाथः ॥” इति । सा ग्रन्थकृतात्र कुतो नोक्ता । अत्र  
ग्रन्थकृदाशयं वयं ब्रूमः । ‘धीक्षिते वायैकविंशन्महादोषविवर्जिते’  
इति नारदोक्तेस्तेषां दोषाणां च विवाहप्रकरणे वक्ष्यमाणत्वात्तत्रापि  
दोषः सलक्षणो वक्ष्यते । तत्र दंपत्योरिति संस्कार्योपलक्षणम् । तेन  
वटोरप्यष्टमभवने शुद्धिरुक्तेवेत्यत्र पुनर्नोक्ता । यत्र एकविंशतिदोषविचा-  
रो नास्ति सीमन्तादौ किन्तु कतिपयदोषस्तत्र तु साक्षादष्टमभवन-  
शुद्धिरुक्ता । अग्रेपि यात्रादौ वक्ष्यते चेति । एवं चेन्नैधननवांशशुद्ध्यादि  
कुतो नोक्तम्’ सत्यम् । वक्तव्यमेवेति ब्रूमः ॥ परन्तु नारदाद्यनेकमु-  
निभिर्प्रणीतत्वात्नोक्तमिति ग्रन्थकृदाशयः । एवंविधे व्रतबन्धलग्ने व्रतं  
कुर्यात् । तदाह नारदः—

“शुभलग्ने शुभांशे वा नैधने शुद्धिसंयुते ।

लग्ने त्वन्यैः सौम्यखेटैः संयुते वा निरीक्षिते ॥

जीवाकशुक्रचन्द्राद्यैः पञ्चभिर्वलिभिर्ग्रहैः ।

स्थानादिबलसंपन्नैश्चतुर्भिर्वा बलान्वितैः ॥

वीक्षिते वाथैकविंशन्महादोषविवर्जिते ।” इति ।

सर्वथा निर्दुष्टलक्षांश्च सम्भवेत्पदोषे लग्ने व्रतबन्धः—

सर्वथा यदि निर्दोषणं लग्नं न लभ्यते तदा का गतिरिति उच्यते—  
वेधादिमहादोषराहित्ये संत्यल्पदोषसत्त्वे गुणाधिक्ये च लग्नं साधीयो  
भवति । तदुक्तं नारदेन—“ लग्नं सर्वगुणोपेतं लभ्यते त्वैर्दिनैर्न तत् ।  
दोषाल्पत्वं गुणाधिक्यं बहुलभ्यतमिष्यते ॥ दोषदुष्टोऽथ कालो यः  
सोपमार्ष्टुं न शक्यते ।” दोषदुष्टत्वं वसिष्ठेनोक्तं—“ दोषोऽप्येको गुणा-  
न्वन्ति तद्विरोधी गुणो न चेत् । पञ्चगव्येन यत्पूर्णं कुम्भं मद्यलवो  
यथा ॥” दोषः पापग्रहवेधादिः ।

तत्रान्येपि दोषाः—

अन्येपि दोषा अत्र व्रतबन्धे वसिष्ठादिभिरुक्ताः—“ ग्रहे रवीन्द्रो-  
रधनिप्रकंपे केतूद्गमोल्कापतनादिदोषे । व्रते दशाहानि वदन्ति तज्ज्ञा-  
स्त्रयोदशाहानि वदन्ति केचित् ॥” श्रीपतिनिबन्धे—“ पौषादिचतुरो  
मासान्प्राप्ता वृष्टिरकालजा । व्रतं यात्रां विवाहं च वर्जयेत्सप्तवासरा-  
न् ॥” यत्तु गगंवाक्यं—“ बहुवर्षे त्रिरात्रं स्यादल्पवर्षे तु वास-  
रम् । यदि वर्षेदनध्याये तेनैव सह गच्छति ॥” इति तद्वर्जं प्रकृ-  
त्याभिधानात् न केवलवृष्टौ दोषः । अकालवृष्टौ (१) तु दोष  
एवेति ॥ ५३ ॥

अथैवं व्रतबन्धलक्षणमभिधायेदानीं दोषवत्त्वं प्रतिज्ञाताननध्याया-  
ञ्जघनचपलार्थयाह—

शुचिशुक्रपौषतपसान्दिगशिवरुद्रार्कसंख्यसिततिथयः ।

भूतादित्रितयाष्टमी संक्रमणं च व्रतेष्वनध्यायाः ॥ ५४ ॥

शुचीति । द्विविधा ह्यनध्यायाः निर्या नैमित्तिकाश्च । तत्र आषा-

( १ ) तल्लक्षणां यात्राप्रकरणे निरूपितं रामेण—

यदि मास्तु चतुर्षु पौषमासादिषु वृष्टिर्हि भगवेदकालवृषिः ।

पशुमर्षपदाङ्किता न यावद्वसुधा स्यान्नहि तावदेव दोषः ॥



दशकृदशमी ज्येष्ठशुक्लद्वितीया पौषशुक्लैकादशी मन्वादिः माघशुक्लद्वादशी एता अनध्यायाख्याः सोपपदत्वात् । तदुक्तं स्मृतौ—“सिता ज्येष्ठे द्वितीया च आषाढे दशमी सिता । चतुर्थी द्वादशी माघ एताः सोपपदाः स्मृताः ॥” इति । भूतेति । भूतं चतुर्दशी तदादित्रितयं चतुर्दशीपूर्णिमाप्रतिपदः । कृष्णपक्षे च अमा अमावास्या च तन्मध्ये तथाष्टमी भूतादित्रितयं चाष्टमी चानयोः समाहारद्वन्द्वे नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वं ज्ञेयम् । तथा संक्रमणं सूर्यस्य निरयणसंक्रान्तिदिनं चकारान्मन्वाद्यास्त्रितिथी मधाविति पद्योक्ता मन्वाद्या युगादयश्चानध्याया ज्ञेयाः । व्रतेष्वितिपदमावश्यकद्येतनार्थम् । यदाह गौतमः—“पक्षद्वये चतुर्दश्योरष्टमीद्वितये तथा । पक्षादावपि पक्षांते ब्रह्म नाधीयते नरैः ॥” ब्रह्म वेदः ।

अनध्यायान्तराख्यम्—

हारितेन विशेष उक्तः—“प्रतिपत्सु चतुर्दश्यामष्टम्यां पर्वणोर्द्वयोः । श्वोनध्यायाद्यशर्वर्ग्यां नाधीयीति कदाचन ॥” इति । श्वोनध्यायाद्यशर्वर्ग्यामिति मन्वाद्याद्यनध्यायविषयम् । चतुर्दश्यादिषु तु पूर्वदिने प्रदोषसद्भावादेवाध्याययनाभावः । फलं च ज्योतिःसारसागरे—“अष्टमी हन्त्युपाध्यायं शिष्यं हन्ति चतुर्दशी । अमावास्योभयं हन्ति(१) प्रतिपत्पाठनाशिनी ॥” इति । वृद्धमनुः—“चातुर्मास्यद्वितीयासु मन्वादिषु युगादिषु । अष्टकासु च संक्रान्तौ शयने बोधने हरेः । अनध्यायं प्रकुर्वीत तथा सोपपदासु च ।” इति । चतुर्मास्यद्वितीया गङ्गैर्लोक्ताः—“आषाढफाल्गुनोर्जेषु या द्वितीया विधुक्षये । चातुर्मास्यद्वितीयास्ताः प्रवदन्ति महर्षयः ॥” इति । विधुक्षये कृष्णपक्षे कृष्णादिमासगणनया चैत्रश्रावणमार्गशीर्षमासकृष्णपक्षसम्बन्धिन्यो द्वितीयाश्चातुर्मास्यद्वितीया इत्यर्थः । अत एवोक्तं ज्योतिःसारसागरे—“चातुर्मास्यसमाप्तौ तु या द्वितीया भवेत्तदा । सर्वास्वेतास्वध्यायः पुराणैः परिकीर्तितः ॥” इति । चत्वारो मासाश्चातुर्मास्यमिति यौगिकशब्दः । ब्राह्मणादित्वात्स्वार्थं व्यञ्ज् । तथा च स्मृत्यर्थसारे—“आषाढीकार्तिकीफाल्गुनीपूर्णिमाप्रतिपद्द्वितीयासु च”

(१) कृत्यचिन्तामणिशुभकर्मनिर्णययोस्तु—

“अमावास्योभयं हन्ति सर्वं हन्ति च पूर्णिमा” ।

इत्थनध्यायप्रकरणेऽभिहितम् । मन्वादयो युगादयश्चाद्यप्रकरणेभिहिताः ।  
अष्टकास्तूताः स्मृतौ—

“पौषादित्रिषु मासेषु कृष्णे चैवाष्टकात्रयम् ।

एका ज्ञेयाश्विने मासि हायने चतुरष्टकाः ॥

अष्टका च समुद्दिष्टा सप्तम्यादिदिनत्रयम् ।

नाधीयीत च शास्त्राणि व्रतबन्धं च वर्जयेत् ॥” इति ।

अनध्यायफलान्यावश्यकं कृष्णप्रतिपद्युपनयनम्—

अनध्यायप्रयोजनमाह वसिष्ठः—“पापांशकगते चन्द्रे स्वाधिनीच-  
स्थितेपि वा । अनध्याये चोपनीतः पुनः संस्कारमर्हति ॥” इति । अत्रा-  
नध्याये इत्येतद्विहितानध्यायव्यतिरिक्तानध्यायविषयम् । अन्यथा—“नै-  
मित्तिकमनध्यायं कृष्णे च प्रतिपदिने । मेखलाबन्धने शस्तं चौले वेद-  
व्रतेष्वपि ॥” इति वसिष्ठवाक्यमनर्थकमापद्येत । नैमित्तिकानध्यायानां  
तर्हि किं प्रयोजनमिति चेत् । वेदाध्ययननिवृत्तिरित्यवगच्छत । एवं सति  
'नार्त्तः कालमपेक्षते' इति लौकिकन्यायादतीतकालस्य बटोः कालान्त-  
रप्रतीक्षामसहमानस्यावश्यकोपनयनविषयमिति निष्कृष्टोर्थः । अत  
एवोक्तं व्यासेन—“प्रशस्ता प्रतिपत्कृष्णे कदाचिच्छुभगे विधौ । चन्द्रे  
वल्युते लग्ने वर्षाणामतिलंघने ॥” इति । प्रतिपद्ग्रहणं कैमुतिकन्याय-  
सूचनार्थम् । नैमित्तिकानध्यायास्तु(१) अस्माभिर्मन्वाद्या इतिपद्यविव-  
रणावसरे निरूपिताः ॥ ५४ ॥

( १ ) तात्कालिकास्सप्तत्रिंशदनध्याया याज्ञवल्क्योक्ताः—

“श्वक्रोष्टुगर्दभोलूकसामवाणार्त्तनिस्स्वने ।

अमेव्यशवशूद्रान्त्यस्मशानपतितान्तके ॥

देशेऽशुचावात्मनि च विद्युत्स्वनितसंप्लवे ।

भुक्त्वाद्रपाणिर्मभोऽन्तरर्धरात्रेऽतिमारुते ॥

पांसुवर्षे दिशान्दाहे सन्ध्यानीहारभीतिषु ।

धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥

खरोष्ट्रयानहस्त्यश्वनौवृद्धेरिणरोहणे ।

सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकान् विदुः ॥”



अथ दोषवत्त्वेन प्रतिज्ञातान्प्रदोषाननुष्ठुभाह—

अर्कतर्कत्रितिथिषु प्रदोषः स्यात्तदग्रिमैः ।

रात्र्यर्धसार्द्धप्रहरयाममध्यस्थितैः क्रमात् ॥ ५५ ॥

अर्केति । अर्कतर्कत्रितिथिषु तदग्रिमैर्कादितिथिभ्योऽग्रिमैस्त्रयोदशी-  
सप्तमीचतुर्थीतिथिभिः रात्र्यर्धसार्द्धप्रहरयाममध्ये स्थितैरर्कतर्कत्रितिथिषु  
प्रदोषः स्यात् । यथा द्वादश्यामर्द्धरात्रात्प्राक्त्रयोदशीप्रवृत्तौ प्रदोषः  
स्यात् । पष्ठ्यां सार्द्धप्रहरमध्ये सप्तमीप्रवृत्तिस्तदा प्रदोषः स्यात् । तथा  
तृतीयायां प्रहरमध्ये चतुर्थीप्रवेशे प्रदोष इत्यर्थः । उक्तं च—“चतुर्थी  
प्रथमे यामे सार्धयामे च सप्तमी । यामद्वये त्रयोदश्यां प्रदोषः सर्व-  
घातकः ॥” इति ।

चतुर्थीसप्तमीत्रयोदशीप्रदोषेषु मतभेदः—

इदं निर्मूलत्वादुपेक्षम् । दीपिकाटीकायां तूपनयनपद्यव्याख्याने  
प्रदोषपरिज्ञानं चाह गर्ग इत्युक्तम्—

“चतुर्थीयाममेकं तु सार्द्धयामं तु सप्तमी ।

अर्द्धरात्रं त्रयोदश्यां प्रदोषो रजनीमुखम् ॥

अत्र नाध्यापयेद्वेदवेदांगानि च सर्वथा ।

अत्राव्ययनशीलस्य प्रदोषः सर्वघातकः ॥” इति ।

गोभिलेन ह्येवमुक्तं—

“षष्ठी च द्वादशी चैव अर्द्धरात्रेणनाडिका ।

प्रदोषमिह कुर्वीत तृतीया नवनाडिका ॥” इति ।

स्मृत्यर्थसारेपि—

“चतुर्थ्याः पूर्वरात्रे तु नवनाड्यां प्रदर्शने ।

नाध्येयं पूर्वरात्रे स्यात्सप्तमी च त्रयोदशी ॥

अर्द्धरात्रात्पुनरा चेत्स्यान्नाध्येयं पूर्वरात्रिके ।” इति ।

यदेतयोः पक्षयोर्देशाचारतो व्यवस्थेति । ननु रात्र्यर्द्धमित्यत्र  
‘अर्द्धं समंशके’ इत्यभिधानात्समांशवाचिनोर्द्धशब्दस्य नपुंसकलिङ्ग-  
त्वात् “अर्द्धं नपुंसकम्” इति समासे “प्रथमानिर्दिष्टं समास

उपसर्जनम्” इत्यर्द्धशब्दस्योपसर्जनसंज्ञत्वात् “उपसर्जनं पूर्वम्” इति पूर्वनिपाते च “अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याश्चरात्रेः” इत्यच्प्रत्यये कृते “यस्येति च” इतीकारलोपे “रात्राहाहाः पुंसि” इति पुंस्त्वे अर्द्धरात्र इति भवितव्यं न पुनः रात्र्यर्धमिति चेत् । उच्यते, नात्र समांशवाच्यर्द्धशब्दः यथा ग्रामार्द्धो नगरार्द्ध इत्यत्र किं तर्हि ‘भित्तं शकलखण्डे वा पुंस्यर्द्धार्द्धम्’ इत्यभिधानात्केवलविभागवाची । कथं द्वितीयप्रहरस्य चरमघटिका तृतीयप्रहरस्य प्रथमघटिका त्वेवं घटिकाद्वयोपेतः कालो निशीथशब्दवाच्यः । एतच्च जन्माष्टमीनिर्णये—“अर्द्धरात्रादधश्चोर्ध्वमेकार्द्धघटिकान्विता । रोहिणी चाष्टमी ग्राह्या उपवासव्रतादिषु ॥” इति योगीश्वरपद्यव्याख्याने व्याख्यातं माधवेन । ततश्च समांशवाचित्वाभावादर्द्धशब्दस्य नैकदेशिसमासः । किं तर्हि षष्ठीत्यनेन षष्ठीसमासे षष्ठ्यन्तस्य पूर्वनिपातः । अत्रैव—“रात्रौ यामद्वयादर्वाक् यदि पश्येन्नयोदशीम् । प्रदोषः स तु विज्ञेयो गर्हितः सर्गकर्मसु ॥” इतिगोभिलवाक्यमप्यनुकूलम् । इदमेवामिप्रेत्य—‘रात्र्यर्द्धपूर्वापरगा जयन्ती कल्यापि वा’ इति वराहेणापि रात्र्यर्द्धपदं प्रयुक्तम् । अत्र तु समांशवाचित्वं विवक्षितम् । सिद्धान्तपक्षस्तु परदिनार्द्धाग्निशार्द्धात्परतो दिनश्रीरिति विवाहवृन्दावनपद्यादौ तत्र तादृशाः प्रयोगाश्चित्याः ॥ ५५ ॥

अथ व्रतबन्धानन्तरं सायंकाले बह्वृचां ब्रह्मौदनाख्यः संस्कारो-  
भिहितः । तत्र विशेषमार्ययाह—

प्राग्ब्रह्मौदनपाकाद्ब्रतबन्धानन्तरं यदि चेत् ।

उत्पातानध्ययनोत्पत्तावपि शान्तिपूर्वकं तत्स्यात् ॥५६॥

प्रागिति । यदि व्रतबन्धात्प्रागाकालिकाद्यनध्याय उत्पातो वा भवेत्तदा न कार्य एव व्रतबन्धः । दैवाग्निर्दिष्टे काले व्रतबन्धो निर्वृत्तः तदुत्तरं सायंकालीनब्रह्मौदनविधेः पूर्वमुत्पातप्रयुक्ताकालशुद्धिरथवानध्यायो वा स्यात्तदानीष्टम् । उक्तं च नृसिंहप्रसादे—“ब्रह्मौदनविधेः पूर्वं प्रदोषे गर्जितं भवेत् । तदा विघ्नकरं ज्ञेयं बटोरध्ययनस्य तत् ॥” अतस्तद्ब्रह्मौदनं शान्तिपूर्वकमादौ शान्तिं विधाय पश्चात्स्यात् ।



शान्तिप्रकारतु नृसिंहप्रसादे—

“तस्य शान्तिप्रकारं तु वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः ।  
स्वस्तिवाचनपूर्वं तु हवनं कारयेद्बुधः ॥  
प्रधानं पायसं साज्यं द्रव्यं शान्तियुजो भवेत् ।  
सूक्तं बृहस्पतेर्विद्वान्पठेद्विद्यासमृद्धये ॥  
गायत्री युञ्जते मंत्रः प्रायश्चित्तं तु सर्पिषा ।  
धेनुं सवत्सकां दद्यादाचार्याय पयस्विनीम् ॥  
शिलां होमविधेः पश्चात्स्थापयेत्तत्र संसदि ।  
ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चात्ततो ब्रह्मौदनं चरेत् ॥ ” इति ।

अत्रैतस्य विचारस्य मुहूर्तविचारेऽनुपयोगान्मूलपद्यनिबन्धो  
यद्यपि स्वयंमवक्तव्यः तथापि सकलजनप्रसिद्ध्यर्थमभिहितः ॥ ५६ ॥

अथपूर्वं द्वाविंशतिनक्षत्राण्यभिहितानि सामान्यतस्तेषां वेदपरत्वे-  
न विशेषं वसन्ततिलकयाह—

वेदक्रमाच्छशिशिवाहिकरत्रिमूल-

पूर्वासु पौष्णकरमैत्रमृगादितीज्ये ।

ध्रौवेषु चाश्विनसुपुष्यकरोत्तरेश-

कर्णे मृगान्त्यलग्नमैत्रघनादितौ सत् ॥ ५७ ॥

वेदक्रमादिति । मृगाद्राश्लेषाहस्तचित्रास्वातीमूलपूर्वात्रयेषु ऋग्वे-  
दाध्यायिनाम्, रेवतीहस्तानुराधामृगपुनर्वसुपुष्यरोहिण्युत्तरात्रयेषु य-  
जुर्वेदाध्यायिनाम्, अश्विनीधनिष्ठापुष्यहस्तोत्तरात्रयाद्राश्विनोषु सा-  
मवेदाध्यायिनाम्, मृगरेवतीपुष्याश्विनीहस्तानुराधाधनिष्ठापुनर्वसुष्व-  
थर्वणवेदाध्यायिनाम्, पूर्वश्लोकानुवृत्ततत्पदपरामृष्टमुपनयनं सत् शुभ-  
मित्यर्थः । उक्तं च ज्योतिर्निबन्धे—

“मूले हस्तत्रये सार्ष्णे शैवपूर्वात्रये तथा ।

ऋग्वेदाध्यायिनां कार्यं मेखलाबन्धनं बुधैः ॥

पुष्ये पुनर्वसौ पौष्णे हस्ते मैत्रे शशाकभे ।

ध्रुवेषु च प्रशस्तं स्याद्यजुषां मौजीबन्धनम् ॥

पुष्यवासवहस्ताश्विशिवकर्णोत्तरात्रयम् ।  
प्रशस्तं मेखलाबन्धे वटूनां सामगायिनाम् ॥  
मृगमैत्राश्विनीहस्तरैवत्यदितिवासवम् ।  
अथर्वापाठिनां शस्तो भगणोयं व्रतार्पणे ॥” इति ॥ ५७ ॥

अथ धर्मशास्त्रीयं विशेषमनुपुमाह—

नान्दीश्राद्धोत्तरं मातुः पुष्पे लग्नान्तरे न हि ।

शान्त्या चौलं वृतं पाणिग्रहः चार्योऽन्यथा न सत् ॥५८॥

नान्दीश्राद्धोत्तरमिति । बहुघटीसाध्यानां शुभकर्मणां प्रारम्भे सकलशुभाशुभकर्मसाधारणनान्दीश्राद्धाख्यं कर्माभिहितम् । तत्कृत्यनन्तरं यदि संस्कार्यमातुः पुष्पे रजोदर्शने जाते सति लग्नान्तरे विवक्षितलग्नादन्यस्मिन् लग्ने च असति तदावश्यकीं धर्मशास्त्रोक्तां शान्तिं विधाय चौलं व्रतं यज्ञोपवीतं पाणिग्रहो विवाहश्च कार्यः । अन्यथा समीचीनद्वितीयलग्ने सति चौलं चौलादिशुभकर्म न सत् । दुष्टफलदमित्यर्थः । उक्तं च मेघातिथिना—

“चौले च व्रतबन्धे च विवाहे यज्ञकर्मणि ।

भार्या रजस्वला यस्य प्रायस्तस्य न शोभनम् ॥

वधूवरान्यतरयोजननीचेद्रजस्वला ।

तस्याः शुद्धेः परं कार्यं मांगल्यं मनुरब्रवीत् ॥”

वृद्धमनुरपि—“विवाहव्रतचूडासु यदि माता रजस्वला । तदा न तत्प्रकर्तव्यमायुः क्षयकरं यतः ॥” बृहस्पतिः—“वैधव्यं च विवाहे स्याज्जडत्वं व्रतबन्धने । चूडायां च शिशोर्मृत्युर्विघ्नं यात्राप्रवेशयोः ॥” इति । रजोविषयमेतज्ज्ञेयम् । प्रवेताः—“प्राप्य चाभ्युदयश्राद्धं पुत्रसंस्कार कर्मणि । पत्नी रजस्वला जाता न कुर्यात्तत्पिता तदा ॥” इति ।

उपनयनकर्तारः—

पितेति । नान्दीश्राद्धकर्तृरुपलक्षणम् । तथा च वृद्धगर्गेण—“पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः । उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥” इत्यादयोधिकारिणां उपनयनेभिहिताः । तस्मा-



त्संस्कार्यमातरि रजस्वलायां लग्नांतरस् द्वावे च न कार्यमेव चौलादि ।

उपनयने सुमुहूर्तालाभे श्रीशान्तिप्रकारः—

लग्नांतराभावे तु शान्तिप्रकारो वाक्यसारे—

“अलाभे सुमुहूर्तस्य रजोदोषे ह्युपस्थिते ।

श्रियं संपूज्य विधिवत्ततो मङ्गलमाचरेत् ॥

हैमी माषमितां पद्मां श्रीसूक्तविधिना चर्चयेत् ।

प्रत्यूचं पायसं हुत्वाऽभिषिच्य हितमाचरेत् ॥” इति

श्रीशान्तेरपवाद आपदादौ—

अस्याप्यपवादस्तत्रैव—“उपवासेन शुच्यन्ति नार्यः सद्यो रज-  
स्वलाः । एकाकिन्यो विवाहादौ देशभङ्गेषु चापदि ॥” इति । ए-  
तच्च पद्यं वक्तुमनुचितम् मुहूर्तविचारार्थं प्रवृत्तत्वात् ग्रन्थकर्तुः  
यतोत्र न कश्चिन्मुहूर्तविचारः प्रतिपाद्य इति । परन्तु सकलजन-  
प्रसिद्धः शास्त्रार्थो भवितुं युक्तः ॥ ५८ ॥ इति सगरिकरव्रतबन्धका-  
लादिविचारः समाप्तः ।

अथैवं त्रैवर्णिकानां व्रतबन्धमुक्तवेदानीं केशान्तकर्मादि वक्ष्यति ।  
तत्र विवाहात्प्राक् क्षत्रियाणां छुरिकाबन्धनं विहितं तन्मुहूर्तमनु-  
पुद्बुहाह—

विचैत्रव्रतमासादौ विभौमास्ते विभूमिजे ।

छुरिकाबन्धनं शस्तं नृपाणां प्राग्विवाहतः ॥ ५९ ॥

विचैत्रेति । चैत्ररहितेषूपनयनमासेषु माघफालगुनवैशाखज्येष्ठेष्वि-  
त्यर्थः । आदिशब्देन व्रतबन्धनोक्तपक्षतिथिनक्षत्रलग्नादीनां ग्रहणम् ।  
तस्मिन् कीदृशे । विभौमास्ते मङ्गलास्तरहिते । गुरुशुक्रयोस्त्वस्तवर्जनं  
सामान्यनिषेधेन सिद्धत्वान्न पृथगुक्तम् । तथा विभूमिजे मङ्गलवार-  
रहिते सूर्यादिवारे एतादृशे काले नृपाणां क्षत्रियाणां विवाहतः पूर्वं  
छुरिकाया अल्पशस्त्रविशेषस्य कट्यां बन्धनम् कार्यमिति शेषः । तच्छ-  
स्तं हितकारी । उक्तं च नारदेन—

“छुरिकाबन्धनं वक्ष्ये नृपाणां प्राक्करग्रहात् ।

विवाहोक्तेषु मासेषु शुक्लपक्षेऽप्यनस्तगे ॥  
जीवे शुके च भूपुत्रे चन्द्रताराबलान्विते ।  
मौजोबन्धनशृङ्गेषु भौमवर्जितवासरे ॥  
व्रतलग्नोदये कर्तुरष्टमोदयवर्जिते ।  
धनत्रिकोणैः सौम्यैः पापैर्भवतिपुत्रिणैः ॥  
छुरिकोबन्धनं कार्यमर्चयित्वा सुरान् पितॄन् ।  
अर्चयेच्छुरिकां सप्तदेवतानां च सन्निधौ ॥  
ततः सुलग्ने वध्नीयात्कट्यां लक्षणसंयुताम् ।” इति ।

लक्षणानि नारदवराहाभ्यामुक्तानि ग्रन्थभूयस्त्वभ्यात्सम्प्रदायव्याख्यागम्यत्वाच्चास्माभिर्नोक्तानि । अत्र ‘प्राग्विवाहः’ इत्युक्तेरवधिनिश्चयात्समावर्तनानन्तरं छुरिकाबन्धनं कार्यम् । विवाहभूषणत्वात्तस्याः । यदि यज्ञोपवीतानन्तरमेव चिकीर्षितं स्यात्तदोपनयनानन्तरं कार्यमित्येव ब्रूयात् । ग्रन्थकर्त्रा तु नारदोक्तक्रममङ्गीकृत्यैवमुक्तम् । तत्र—“पाठक्रमो बलीयान् ।” इति समाधिः ॥ ५६ ॥

अथ केशान्तसमावर्तनमुहूर्तमनुष्टुभाह—

केशान्तं षोडशे वर्षे चौलोक्तदिवसे शुभम् ।

व्रतोक्तदिवसादौ हि समावर्तनमिष्यते ॥ ६० ॥

इति दैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्तचिन्ता-

मणौ पञ्चमं संस्कारप्रकरणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

केशान्तमिति । षोडशे वर्षे चौलोक्तदिवसे ‘चूडा वर्षात्तृतीयात्प्रभवति’ इत्यादिना कथितशुभदिवसे (१) गोदानापरपर्यायं केशान्तसंज्ञं हि कर्म शुभं स्यात् ।

अथ वर्षाभेदेन गोदानपदप्रवृत्तिनिमित्तं तत्कालाश्च—

गावः केशा दीयन्ते खण्ड्यन्ते यस्मिन्निति व्युत्पत्तिः । यदाह—

( १ ) श्रीपतिभट्टोऽपि रत्नसारे—

तिथ्यृत्तवारोदयमग्रजानां प्रोक्तं यदेव व्रतबन्धने तत् ।

सर्वं समावर्तनकेऽपि शस्तं क्षौरेऽपि भाद्यं कथितं मुनीन्द्रैः ॥



“केशान्तं षोडशे वर्षे कुर्याच्चौलोकभादिके ।” इति । महेश्वरोणि—“कर्म केशान्तसंज्ञं हि वर्षे स्मृतं षोडशे चौलकर्मोक्तधिष्यादिके” इति । षोडश इत्येतद्ब्राह्मणविषयं द्रष्टव्यम् । क्षत्रियविशोस्तु द्वाविंशति-चतुर्विंशतितमवर्षयोः केशान्तमित्यर्थः । तदुक्तं मनुना—“केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥” इति ।

महानाम्नीमहाव्रतोपनिषद्ब्रतगोदानव्रतानि क्रमेण कार्याणि—

अत्र गोदानस्य महानाम्न्यादि व्रतपूर्वकत्वात्तानि प्रागनुष्ठाय ततो गोदानं विधेयमिति । यदाहाश्वलायनः—“प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं च महाव्रतम् । तृतीयं स्यादुपनिषद्गोदानं च ततः परम् ॥” इति । अतो जन्मतस्त्रयोदशे वर्षे महानाम्नी, चतुर्दशे महाव्रतं, पञ्चदशे उपनिषद्ब्रतं, षोडशे गोदानमिति उक्तम् । एवं क्षत्रियविशोरप्युक्तं गोदानात्प्राक् वर्षचतुष्टयं क्रमेण महानाम्न्यादि भवति । अत्रापि मुहूर्तविचारश्चौलवदेव । तदुक्तं श्रीधरीये—“तिथिनक्षत्रवाराश्च वर्गोदय-निरीक्षणम् । चौलवत्सर्वमाख्यातं सगोदानव्रतेषु च ॥” इति । यदाह पुनर्देवादतीतकालानि महानाम्न्यादिव्रतानि स्युस्तदा समावर्तनेन सह कार्याणि ।

अथ समावर्तनकालः—

व्रतोक्तेति । हि निश्चये, व्रतं यज्ञोपवीतम्, तत्र विहितदिवसे । आदिशब्देन वारनक्षत्रलग्नांशेषु सत्सु समावर्त्तनमिष्यते । यदाह—“गुरुशुद्धिं विना काले व्रतोक्ते व्रतमोक्षणम् ।” इति । महेश्वरोपि—“खेचरजैर्ब्रतानां विसर्गोदितं कर्म तद्ब्रतोक्ते च धिष्यादिके” इति । सुरेश्वरोपि—“विभौमभानुजे वारे नक्षत्रे च व्रतोदिते । चन्द्रतारादिशुद्धौ च स्यात्समावर्त्तनक्रिया ॥” इति । यत्तु—“क्षौरोदितर्क्षादिविलग्नयोगे मौंजीविमोक्षः शुभदो द्विजानाम् ।” इति दीपिकाकारादिभिरुक्तं तत् स्वदेशविषयम् । विशेषो नारदोक्तः—

“अथोत्तरायणे जीवशुक्रयोर्दृश्यमानयोः ।

द्विजातीनां गुरोर्गेहाग्निवृत्तानां यतात्मनाम् ॥

चित्रोत्तरादितीज्येन्दुहरिमित्रविधातृषु ।

मेगेकैदुर्ज्ञार्यशुक्रवारलग्नांशकेष्वपि ॥

अथवा वस्त्रनक्षत्रवारलग्नांशकेष्वपि ।

प्रति तत्पूर्वस्तितामामष्टमीं च दिनक्षयम् ॥

हित्वान्यदिवसे कार्यं समावर्तनमुण्डनम् ।”

अत्र कश्चेन चैत्रो वर्जितः—“चैत्रमासविसृष्टेषु माघादिषु च पञ्च-  
सु ।” इति तदुक्तेः ।

गोदानविवाहमध्ये समावर्तनं कार्यम्—

एतच्च गोदानन्तरं विवाहात्प्राक्कार्यमित्याह वसिष्ठः—“अधीत्य-  
वेदांश्च तदर्थंशास्त्राण्यभ्यस्य लब्ध्वा स्वगुरोरनुज्ञाम् । कुर्यात्समावर्तन-  
कर्म पश्चाद्गोनातः पाणिनिपीडनात्प्राक् ॥”

द्वितीयविवाहो द्वितीये वर्षे न—

तत्रापि सत्यावश्यकत्वे द्वितीयवर्षे न कार्यमेव । तदुक्तं ग्रन्थान्त-  
रे—“वधूप्रवेशं व्रतमोचनं च पुंसः पुनर्दारपरिग्रहं च । नाब्दे द्वितीये  
विदध्रीत विद्वान्वदन्ति गर्गात्रिवसिष्ठमुख्याः ॥” इति । स्त्रीमरणानन्तरं  
पुनर्विवाहो द्वितीये वर्षे न भवतीत्यर्थः । पूर्वविवाहानन्तरं द्वितीयविवाहो  
द्वितीयवर्षे न भवतीति कस्यचिद्व्याख्यानमपाकृतम् । “प्रमदामृतिवा-  
सरादितः पुनरुद्वाहविधिर्वरस्य च । विषमे परिवत्सरे भवेद्युगलं चैव  
मृतिप्रदं भवेत् ॥” इति संग्रहकारवचनादिति शिवम् ॥ ६० ॥

संस्कारप्रकरणां गद्येनोपसंहरति—श्रीदैवज्ञेति । स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकास्तथा

पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्त्तचिन्तामणोः ।

गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे

व्याख्याने खलु संस्कृतिप्रकरणं पूर्णं सदानन्ददम् ॥ १ ॥

इति श्रीदैवज्ञमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्वित्पुत्रगोविन्दज्योति-

र्विद्विरचितायां मुहूर्त्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधारा-

भिधायां सपरिकरं संस्कारप्रकरणं

समाप्तिमगमत् ॥ ५ ॥



## अथ विवाहप्रकरणम् ६ ।



गौरोनन्दनमिष्टसिद्धिसदनं विष्णावलीभेदनं  
नत्वा ज्यौतिषिकान्यरामरचिते मौहूर्तचिन्तामणौ ।

गोविन्दो बुधनीलकण्ठविधिवित्सूनुः सतामग्रणी-  
र्यह्यर्थं करपोडनप्रकरणं व्याख्याति विद्वन्मुदे ॥ १ ॥

अथ विवाहप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र विवाहशब्देन पाणिग्रहणाख्यः  
संस्कारविशेष उच्यते—ते च विवाहा अष्टौ । उक्तञ्च मनुना—

“चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।

अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥

ब्राह्मो दैवस्तथा चाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोधमः ॥” इति ।

अष्टविधिविवाहलक्षणानि—

एषां लक्षणान्याह याज्ञवल्क्यः—

‘ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता ।

तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥

यज्ञस्थऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम् ।

चतुर्दशप्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट् ॥

इत्युक्त्वाचरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने ।

स कायः पावयेत्तज्जः षट् षड्वंश्यान्सहात्मना ॥

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समयान्मिथः ।

राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाच्छलात् ॥’ इति । कायः

प्राजापत्यः । छलं गंचना ।

एतेषु कालनियमानियमव्यवस्था—

एषां कालनियममाह नारदः—“प्राजापत्यब्राह्मदैवविवाहा ऋषि-  
संज्ञकाः । उक्तकालेषु कर्त्तव्याश्चत्वारः फलदायकाः ॥ गान्धर्वासुर-  
पैशाचराक्षसाख्याश्च सर्वदा ।” इति । अत एव—“सार्वकालमेके  
विवाहम् ।” इति गृह्यकारवचनं गान्धर्वादिविवाहविषयम् ।

विवाहे उपोद्धातः अनाश्रमवालपुत्रोत्पत्त्यादिरित्यादिरूपः—

स च विवाहः स्त्रीपुरुषद्वयायत्तः । तत्रापि बहुधा पुरुषायत्तः—

“अनाश्रमी न तिष्ठेत क्षणमेकमपि द्विजः । आश्रमादाश्रमं गच्छेदेष धर्मः  
सनातनः ॥” इति च स्मरणादितराश्रमोपजीव्यतया प्राधान्याच्चेति  
समावर्त्तनानन्तरं पुरुषेणावश्यं विवाहे यतितव्यम् । किंच अग्निहोत्रा-  
दीनां नित्यानां कर्मणां करणे पत्नीं विना नाधिकार इति स्मृतौ  
स्मरणात् । “नापुत्रस्य लोकोऽस्ति” इति श्रुत्या पुत्राभावे परलोके  
दुर्गतिवोधनाच्च । तत्र पुत्राद्युत्पत्तिस्तु दम्पत्योरानूकूल्यं विना न  
स्यात् । उक्तञ्च याज्ञवल्क्येन—“यत्रानूकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र  
वर्द्धते ।” इति । त्रिवर्गो धर्मार्थकामात्मकः । स च ज्योतिःशालैक-  
देशविवाहपटलाधीन इत्येतत्सर्वं मनस्यालोच्य सप्रयोजनं विवाहप्र-  
करणारंभं वसन्ततिलकया प्रतिजानीते—

भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता

शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्याः ।

तस्माद्विवाहसमयः परिचिन्त्यते हि

तन्निघ्नतामुपगताः सुतशीलधर्माः ॥ १ ॥

भार्येति । शुभं भर्त्रादेरनुकूलं शीलं स्वभावस्तेन युक्ता भार्या  
त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामरूपस्य करणं स्थानमस्ति । अत्र स्त्रीनपुंसक-  
लिंगयोः सामानाधिकरण्यं “वेदाः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणम्” इतिव-  
त्साधु अजहर्लिलगत्वादस्य । तस्याः सुलग्नवशेन शीलं शुभं भवति ।  
यतः सुतशीलधर्माः तन्निघ्नतां विवाहाधीनताम्—“अधीनो निघ्न  
आयत्तः” इति ‘त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोद्धकैः’ इति चामरः ।  
उपगताः प्राप्ताः । अतो हीति निश्चयेन विवाहसमयः परिचिन्त्यते  
विचार्यते इति ।

विवाहफलम्—

उक्तञ्च कश्यपेन—

“अथातः संप्रवक्ष्यामि गृहस्थाश्रममुत्तमम् ।

य आधारेन्याश्रमाणां भूतानां प्राणिनां तथा ॥

ऋणत्रयच्छेदकारि धर्मकामार्थसिद्धिदम् ।

एतत्सर्वं स्थितं स्त्रीषु शीलवृत्तान्वितासु च ॥



तच्छीलवृत्तलब्धिस्तु सुलग्नवशतो भवेत् ।

तस्मात्सम्यग्लग्नशुद्धिं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥” इति ।

ऋणत्रयं देवऋणं पितृऋणमृषिऋणं च । वसिष्ठोपि—

“कश्चिद्गृहाश्रमसमो न परोस्ति धर्मः

सोपि स्थितः सुगुणवृत्तयुतांगनासु ।

उद्धाहलग्नवशतो गुणवृत्तलब्धि-

स्तासां तथाविधसुलग्नमतः प्रवक्षि ॥”

तत्तत्कर्मणां सुलग्नेऽनुष्ठाने जन्मकालीनग्रहजन्यदुरदृष्टनाशो भवति—

ननु जन्मकालीनखेचरावेदितशुभाशुभं दुरतिक्रममिति विवाहल-  
गा(१) नर्थक्यमिति चेन्न । ज्यौतिषस्मृत्यावेदितशुभसमयारब्धवि-

(१) अत्र प्रसङ्गतो वैवाहिकलग्नादिगतानां ग्रहाणां फलानि रत्न-  
मालातः सामानीय लिख्यन्ते—

मृतिर्निधनता धनं सहजसंक्षयः पुत्ररुक्

प्रियस्थ परमोन्नतिर्विधवता चिरञ्जीविता ।

शुभक्षतिरशीलता विविधलब्धिरर्थक्षय-

स्तनुप्रभृतिषु स्थिते, भवति भास्करे योषिताम् ॥ १ ॥

प्राणप्रच्युतिरर्थसम्पदुभयोः प्रीतिश्च बन्धुच्युति-

वैपुल्यं च सवैरता च नियतं सापत्न्यमात्मव्ययः ।

स्त्रीसूतिः परकर्मकृत्यमधिका लब्धिः क्षयः सम्पदां

स्यादिन्दाबुदयात्सुखे तु कथितो वित्तक्षयः कैश्चन ॥ २ ॥

पञ्चत्वं हि दरिद्रता सधनता स्वप्नातृवैरं सुता-

नुत्पत्तिर्दयितोन्नतिः कुचरितासक्तिश्च रक्तश्रुतिः ।

स्याद् भर्तुः प्रतिकूलतामिषरुचिर्वित्ताप्तिरर्थक्षयो

नारीणामुदयादिवर्त्तिनि महीपुत्रे विवाहोत्सवे ॥ ३ ॥

सौम्ये भर्तृपरायणा सुगृहिणी स्यात्स्वामिपक्षार्चिता

बन्धव्या च सुतान्विता च विजितप्रद्वेषिपक्षा तथा ।

बन्ध्या वाऽसुभिरुष्मिता सुकृतिनी मायाविनी च क्रमाद्

भूरिद्रव्यवती बहुव्ययपरा लग्नादिभावस्थिते ॥ ४ ॥

स्वामीष्ठा धनभागिनी प्रमुदिता द्रव्यान्विता सात्मजा

नष्टारिर्दयितोज्झिता च विगतप्राणा रता श्रेयसी ।

धिजन्यापूर्वजनितशुभफलेन जन्मांतरीयदुरदृष्टध्वंसो भवतीत्येवमर्थ-  
तया सार्थक्यात् । अत एवाह सत्याचार्यः—“ शुभक्षणक्रियारम्भ-  
जनिताः पूर्वसंभवा । सम्पदः सर्वलोकानां ज्योतिस्तत्र प्रयोजनम् ॥”  
इति । एवं व्रतबन्धादावपि द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

अथ तावत्प्रश्नलग्नाद्विवाहयोगद्वयं सङ्घरयाह—

आदौ सम्पूज्य रत्नादिभिरथ गणकं वेदयेत्स्वस्थचित्तं  
कन्योद्वाहं दिगीशानलहयविशिखे प्रश्नलग्नाद्यदीन्दुः ।  
दृष्टो जीवेन सद्यः परिणयनकरो गोतुलाकर्कटाख्यं  
वा स्यात्प्रश्नस्य लग्नं शुभखचरयुतालोकितं तद्विदध्यात् २

आदाविति । अथशब्दो मङ्गलार्थो । ग्रन्थमध्यस्थत्वात् । यथोक्तम्—  
“ओंकरश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं मित्वा विनिर्यातौ  
तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥” इति । आदौ गणकं ज्योतिर्विदं रत्नादिभी रत्नम-  
णिसुवर्णवस्त्रफलादिभिः संपूज्य ततः प्रष्टा जनः कन्याया उद्वाहं गणकं-  
वेदयेत् ज्ञापयेत् । “गतिबुद्धि” इत्यादिना विदेर्बुद्ध्यर्थत्वादणौ कर्तुः क-  
र्मत्वम् । कीदृशं गणकम् । स्वस्थचित्तमव्याकुलान्तःकरणां “स्वस्थे  
चित्ते बुद्ध्यः सम्भवन्ति” इति लोकोक्तेः । रत्नादिग्रहणमप्येतदर्थमेव ।  
यदाह वसिष्ठः—“शुभे दिने दैवविदं त्वभिज्ञं ताम्बूलपुष्पाक्षतपूर्णापाणिः ।  
प्रष्टा च गत्वा प्रणिपत्य पृच्छेन्निवेद्य तस्मै वरकन्ययोर्भे ॥” इति । उत्प-

सिद्धार्था विभवान्विता निधनिनी भावेषु मूर्त्योदिषु  
स्यादत्र प्रमदा पुरोधसि सुनासीरस्य नूनं क्रमात् ॥५॥

मनोभीष्टा भक्तुधनंचयपरा देवररता  
कुलेज्या सत्पुत्रा विहितबहुवैरान्यनिरता ।

व्यये धर्मासक्ता सुकृतिनिरता भूरिविभवा

निरर्था शुक्रे स्याद्युवतिरिह लग्नप्रभृतिषु ॥ ६ ॥

स्यात्पुंश्चल्यधनार्थवत्यथ पयोहीना न हृद्रोगिणी

निर्द्वेष्या निजगर्भपातनपरा नीरुक्च भग्नव्रता ।

दुःशीला बहुवित्तवत्यतितरां पानप्रशक्ताङ्गना

प्राग्लग्नद्रविनन्दनेन शिखिना स्वर्भानुना च क्रमात् ॥ ७ ॥



लोपि—“प्रष्टा मणिकनकयुतैः फलकुसुमै राशिचक्रमभ्यर्च्य । पृच्छेद्य-  
थाभिलषितं भक्त्या विनयान्वितः प्रश्नम् ॥” इति ।

तयोः प्रथमो योगः—

तत्रैको विवाहयोग उच्यते—दिगिति । यदि प्रश्नलग्नादशमैका-  
दशतृतीयसप्तमपञ्चमानामन्यतमे स्थितश्चन्द्रो जीवेन गुरुणा दृष्टः तत्र-  
सद्यः शीघ्रं परिणयनकर्त्ता स्यात् । यदाह वसिष्ठः—“लग्नात् त्रिप-  
ञ्चास्तदशायगस्तु हिमद्युतिर्जीवनिरीक्षितश्च । तयोस्तु सम्बन्धकरस्त-  
दानीं नार्कांशुलुप्तो न च नीचगश्चेत् ॥” तयोर्बरकन्ययोः । कश्यपोऽपि—  
“लग्नाद्दुश्चक्यपुत्रास्तकर्मलाभगतः शशी । गुरुदृष्टस्तयोरेव सम्बन्धं  
कुरुते सदा ॥” इति । सम्बन्धं विवाहम् ।

अथापरो योगः—

द्वितीयो योग उच्यते । गोतुलेति । गौर्वृषः वृषतुलाकर्काणामन्य-  
तमं प्रश्नलग्नं वा स्यात् तच्चेत् शुभग्रहैर्युतमवलोकितं वा भवेत्तर्हि त-  
त्परिणयनं विदध्यात् । “विलग्नगा गोघटककर्कटाश्च हिमांशुदैत्येज्यस-  
मन्वितास्ते । सवीक्षिता वा यदि कन्यकाया लाभो भवेत्तत्र च पृच्छक-  
स्य ॥” इति वसिष्ठोक्तेः । कश्यपोपि—“लग्नस्थाश्चन्द्रशुक्राभ्यां वीक्षिताः  
संयुताश्च वा । कुर्वन्ति कन्यकालाभं यदि कोघटककर्कटाः ॥” इति ।

योगान्तरे अपि—

अत्र नारदादिभिः शुक्रचन्द्रयोर्दृष्टियोगश्चाभिहितः । ग्रन्थकर्त्रा तु  
शुभलचरत्वाद्बुधगुर्वोरपि दृष्टिरुक्ता । सा कन्याया भर्तृप्रश्ने सति  
तत्प्राप्तिसूचिका ज्ञेया । तुल्यन्यायत्वात् । अथवा—“लग्नं विधुभृगुजयुता-  
लोकितम्” इति पाठः कल्प्यः ॥ २ ॥

अथान्यद्विवाहयोगद्वयं द्रुतविलंबितेनाह—

विषमभांशगतौ शशिभार्गवौ

तनुगृहं बलिनौ यदि पश्यतः ।

रचयतो वरलाभमिमौ यदा

युगलभांशगतौ युवतिप्रदौ ॥ ३ ॥

विषमेति । चरणद्वयं स्पष्टार्थम् । अत्रोत्तरार्द्धसम्प्रतिवाक्योक्त-

कन्यालाभप्रदयोगाद्वैपरीत्यमिति युक्तितो निबद्धं ग्रन्थकृता । अयमेको विवाहयोगोभिहितः ।

विवाहे योगान्तरम्—

अथापरो विवाहयोगः । यदेमौ शशिभार्गवौ युगलमांशगतौ युग्मराशिगतौ युग्मांशकगतौ च बलिनौ सन्तौ तनुगृहं पश्यतस्तदा कन्याप्रदौ स्याताम् । यदाह नारदः—“शुक्रेन्दु युग्मराशिस्थौ युग्मांशकगतौ यदा । वीक्षिते बलिना लग्ने कन्यालाभो भवेत्तदाः ॥” इति ॥३॥

अथ प्रश्नलग्नाद्वैधव्ययोगत्रयं शालिन्याह—

षष्ठाष्टस्थः प्रश्नलग्नाद्यदीन्दु-

लग्ने क्रूरः सप्तमे वा कुजः स्यात् ।

मूर्तादिन्दुः सप्तमे तस्य भौमो

रण्डा सा स्यादष्टसंवत्सरेण ॥ ४ ॥

षष्ठेति । यदि प्रश्नलग्नादिन्दुश्चन्द्रः षष्ठाष्टमस्थस्तदा कन्या अष्टसंवत्सरेण विवाहवर्षादिति शेषः रण्डा भर्तृनाशिका स्यात् । ततः स्वयमपि म्रियेत । सर्वथा द्वयोरपि मरणमाष्टमाब्दानन्तरं स्यादित्यर्थः । सस्मृत्यनुरोधात् । यदाह वसिष्ठः—“प्रदुर्विलग्नताप्रबलः शशांकः शत्रुस्थितो मृत्युगृहस्थितो वा । यद्यष्टमाब्दात्परतो विवाहं करोति मृत्युं वरकन्ययोश्च ॥” इति ।

अपरो वैधव्ययोगः—

अथान्यः—वा अथ वा लग्ने यः क्रश्चित्क्रूरग्रहः स्यात्ततः सप्तमे स्थाने कुजो भौमो भवेत्तदाऽष्टवर्षमध्ये रण्डा स्यात् । यदुक्तं नारदेन—“यदि लग्नगतः क्रूरस्तस्मात्सप्तमगः कुजः । विज्ञेयं मरणं पुंसः सप्तमाब्दान्तरे यदि ॥” केचित्सप्तमेपि क्रूरग्रहमेवंविधे प्रश्ने निषेधन्ति । यदाह कश्यपः—“एको लग्नगतः पापः पापोऽन्यः सप्तराशिगः । आसप्तमाब्दान्मरणां पुरुषस्य न संशयः ॥” इति । “यद्युदयस्थः क्रूरस्तस्माद्यदि सप्तमो भवेत्पापः । सप्तभिरब्दैर्मरणं विज्ञेयं तस्य पुरुषस्य ॥” इति । वसिष्ठोपि—“एकोपि लग्नोपगतश्च पापः पापस्ततोऽन्यः खलु सप्तमस्थः । आसप्तमाब्दाभिधनं वरस्य बलान्वितौ तौ कुरुतस्त्ववश्यम् ॥” एषां



मते 'सप्तमे वा खलः स्यात्' इति पाठः कल्प्यः । अस्मिन् पाठे विशिष्य कुजग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति । पापत्वादेय तज्ज्ञाभादिति युक्त-  
मुत्पश्यामः ।

वैधव्ययोगान्तरम्—

अथापरः—वा अथवा मूर्तो लग्ने इन्दुः तस्य सप्तमे स्थाने भौमो भ-  
वेत्ततोष्टवर्षानन्तरं रण्डा स्यात् । उक्तञ्च नारदेन—“यदि लग्न-  
गतश्चन्द्रस्तस्मात्सप्तमगः कुजः । विवाहानन्तरं भर्ता त्वष्टवर्षं न  
जीवति ॥” इति ॥ ४ ॥

अथ प्रश्नलग्नात्कुलटामृतवत्सायोगविकल्पं दोधकवृत्तेनाह—

प्रश्नतनोर्यदि पापनभोगः पञ्चमगो रिपुदृष्टशरीरः ।

नीचगतश्च तदा खलु कन्या सा कुलटा त्वथवा मृतवत्सा ५

प्रश्नतनोरिति । यदि प्रश्नलग्नात्पापग्रहः पञ्चमस्थानस्थः शत्रुग्रहा-  
वलोकितः सन् स्वनीचगतश्च स्यात्तदा खलु निश्चितं सा कन्या कुलटा  
वेश्या भवेदथवा मृतवत्सा मृतापत्या वा भवेत् । तुः पादपूरणे । यदाह  
कश्यपः—“स्वनीचगः शत्रुदृष्टः पापः पञ्चमगो यदा । मृतपुत्रां करोत्येव  
कुलटां वा न संशयः ॥” इति । नारदोपि—“लग्नात्पञ्चमगः पापः  
शत्रुदृष्टः स्वनीचगः । मृतपुत्रा तदा नारी कुलटा वा न संशयः ॥”  
इति । शत्रुमित्रमध्यग्रहान् ‘मित्राणि द्युमणोः’ इत्यादिना वक्ष्य-  
त्यत्रैव ॥ ५ ॥

अथ विवाहभङ्गयोगं पुष्पिताग्रयाह—

यदि भवति सितातिरिक्तपक्षे

तनुगृहतः समराशिगः शशाङ्कः ।

अशुभखचरवीक्षितोरिरन्ध्रे

भवति विवाहविनाशकारकोऽयम् ॥ ६ ॥

यदीति । सितातिरिक्तपक्षे कृष्णपक्षे तनुगृहतः यदि शशाङ्क-  
श्चन्द्रः समराशिषु वृषकर्कादिषु गतः सन् तनुगृहतः प्रश्नलग्नराशि-  
तोरिरन्ध्रे षष्ठेष्टमे वा स्थाने स्थितः अशुभखचरैः पापग्रहैरवलोक-

कितो भवति तदायं योगो विवाहस्य विनाशकारको भवति । तदुक्तं नारदेन—“ कृष्णपक्षे शशो लग्नाद्युगमराशितो यदि । पापदृष्टो न सम्बन्धं करोत्येवारिरन्ध्रगः ॥ ” इति । विवाहविनाशकारक इत्यत्र प्रयोग समासानुपपत्तिरित्यस्य समाधिश्च ग्रन्थान्ते करिष्यते ॥ ६ ॥

एवं प्रश्नलग्नाद्व्यामृतापत्यादियोगानभिधायेदानीं जन्मकालीनबालवैधव्ययोगविचारमतिदिशंस्तत्परिहारान् शार्दूलविक्रीडितेनाह—

जन्मोत्थं च विलोक्य बालविधवायोगं विधाय वृतं  
सावित्र्या उत पैप्पलं हि सुतया दद्यादिमां वा रहः ।  
सल्लगनेऽच्युतमूर्तिपिप्पलघटैः कृत्वा विवाहं स्फुटं  
दद्यात्तां चिरजीविनेऽत्र न भवेद्दोषः पुनर्भूभवः ॥७॥

जन्मोत्थमिति । यथा प्रश्नलग्नाद्विधवायोगो विचारितस्तथा जन्मोत्थं जन्मकालीनं च बालविधवायोगं विलोक्य जातकशास्त्राज्जन्मकालीनलग्नवशतो वैधव्ययोगं विचार्य वक्ष्यमाणव्रतं कारयेदित्यन्वयः । तत्र बालविधवायोगानाह होरामकरन्दे गुणाकरः—

“त्यक्ता धवेनोष्णकरेस्तसंस्थे बाल्येपि भौमे विधवा प्रदिष्टा ।  
पापग्रहालोकनवर्गयाते कन्यैव वन्ध्या भवतीति सूतौ ॥  
वैधव्यं क्रूरखेटैर्मदनगृहगतैर्मिश्रितैः स्यात्पुनर्मूः  
पापैस्तैर्बौर्ययुक्तैर्भवति परिहृता प्रेयसा सौम्यदृष्टे ।  
अन्योन्यांशस्थयोश्च क्षितिसुतसितयोर्बन्धकी योषिदुक्ता  
चन्द्रोर्वीसुनुशुक्रा यदि मदनगृहे प्रेयसोनुक्षया सा ॥ ” इति ।

अन्यमपि श्लोकं पठन्ति—

“लग्ने व्यये च पाताले जामित्रे चाष्टमे कुजे ।  
कन्याभर्तुर्विनाशाय भर्ता कन्याविनाशदः ॥ ” इति ।

अथ वैधव्ययोगपरिहारः—

जातकीयवैधव्ययोगपरिहार उच्यतेऽस्माभिः—“ द्यूनाद्वाचां पति-  
शुभगते रन्ध्रमाद्भ्रातृमृत्युर्नीहारांशोरुदयगृहगस्तद्वपुश्चितनीयम् । ” इति



गुणाकरेण सप्तमस्थानाद्भर्तृसौभाग्ये विचार्ये इत्युक्तम् । तत्र—“ यो यो भावः स्वामिदृष्टो युतो वा सौम्यैर्वा स्यात्तस्य तस्यास्ति वृद्धिः । पापैरेवं तस्य भावस्य हानिर्निर्दोषव्या पृच्छतां जन्मतो वा ॥ ” इति भट्टोत्पलोक्तः स्वस्वामिसौम्यैरीक्षितं चेत्सप्तमस्थानं भवति तदा तद्भावसुखं वाच्यम् । केचित्तु स्त्रीणां महत्यरिष्टयोगे भर्तुश्च स्वहृत्पारिष्ट-योगे तत्परिहारमाहुः ।

अथ प्रवलवैधव्ययोगे प्रतीकारः—

अथापरिहार्यं वैधव्ययोगे प्रतिकारमाह—विधायेति । रह इति वक्ष्यमाणमिहापक्रिष्टव्यम् । पित्रादिः सुतया कन्यया कृत्वा रह एकान्ते हि निश्चयेन सावित्र्या व्रतं विधाय कारयित्वा उत अथ वा पैप्पलं पिप्पलसम्बन्धि व्रतं एकान्ते विधाय पश्चादिमां कन्यां सुलग्ने विर-जीविने वराय दद्यात् । तदुक्तं व्रतखण्डे—“ सावित्र्यादिव्रतादीनि भक्त्या कुर्वति याः स्त्रियः । सौभाग्यं च सुहृत्त्वं च भवेत्तासां सुसन्ततिः ॥ ” इति । सावित्रीव्रतकरणप्रकारस्तत्रैव प्रसिद्धः । संहितासारे—“ अवैधव्यकरैर्योगैर्विवाहपटलोदितैः । वरायायुष्मते देया कन्या वैधव्ययोगजा ॥ ” इति ।

पिप्पलव्रतमुक्तं ज्ञानभास्करे—

“ धलवद्विधवायोगे बाल्ये सति मृगीदृशाम् ।  
पिता रहसि कुर्वीत तद्गंगं शास्त्रसंमतम् ॥  
सुदिने शुभनक्षत्रे चन्द्रताराबलान्विते ।  
अवैधव्यकरे योगे लग्ने ग्रहबलान्विते ॥  
व्रतारम्भं प्रकुर्वीत बालवैधव्यनाशनम् ।  
सुस्नाता चित्रवस्त्राढ्या कन्या पितृगृहाद्बहिः ॥  
नीत्वाश्वत्थशमीस्थाने यद्वा बदरिकाश्रमे ।  
आलवालं प्रकुर्वीत विपुलं मृदुकर्षितम् ॥  
कुमार्याचार्यनिर्दिष्टं कृत्वा संकल्पमादरात् ।  
करकाम्बुप्रपूर्णैर्न सिंचनं प्रतिवासरम् ॥  
चैत्रे चाश्विनमासे च तृतीयासितपक्षतः ।  
यावत्कृष्णतृतीयान्या मासमेकं यथाविधि ॥

ब्राह्मणानां तथा स्त्रीणां पूजनं च समाचरेत् ।  
तदाशिषान्पुण्यात्कन्या सौभाग्यं च सुखान्वितं ॥  
प्रतिमां पार्वतीशानीं वैष्णवे भाजनेर्चयेत् ।  
चन्दनाक्षतदूर्वाद्यैर्विलम्पत्रैर्यथाविधि ॥  
उपचारैर्यथाशक्त्या नैवेद्यैः प्रतिवासरम् ।  
एवं व्रतप्रभावेण बालवैधव्यनिष्कृतिः ॥  
जायते कन्यकानां च ततः पाणिग्रहक्रिया ।” इत्यश्वत्थव्रतम् ।

प्रबलवैधव्ययोगपरिहारस्त्रिधा—

अथान्यदपि अपरिहार्यबालवैधव्ययोगापहोरकं प्रकारत्रयमाह—  
वा रह इत्यादि । वा अथवा रह एकान्ते अच्युतमूर्तिः विष्णुप्रति-  
मा पिप्पलघटौ प्रसिद्धौ एषां मध्ये अन्यतरेण मनोभीष्टेन  
साकं सल्लग्ने वक्ष्यमाणदूषणरहिते सौभाग्यगुणान्विते च विवाहलग्ने  
विवाहं कारयित्वा पश्चात्तां कन्यां स्फुटं लोकप्रसिद्धं यथा भवति  
तथा चिरजीविने आयुष्मते वराय दद्यात् पित्रादिरधिकारी । तदुक्तं  
मार्कण्डेयपुराणे—“ बालवैधव्ययोगेपि कुम्भद्विप्रतिमादिभिः । कृत्वा  
लग्नं रहः पश्चात्कन्योद्वाह्येति चापरे ॥ ” इति । कुम्भ इत्युपलक्षणम् ।  
तेन मन्थन्यपि ग्राह्या । दुर्वृत्तः । “ पलाशीदुद्रुमागमाः ” इत्यमरः ।  
स चाश्वत्थ एव नान्यः । प्रतिमा विष्णुप्रतिमा । शिरोभुजाद्यवयव-  
युता सौवर्णी न शालग्रामशिला । सर्वत्रापि प्रमाणं वक्ष्यते ।

कुम्भविवाहः सूर्यारुणसंवादे—

“विवाहात्पूर्वकाले च चन्द्रताराबले शुभे ।  
विवाहोक्ते च मन्थन्या कुम्भेन सह चोद्वहेत् ॥  
पिता सङ्कल्पबाह्यं च विवाहं विधिपूर्वकम् ।  
सूत्रेणावेष्टयेत्पश्चाद्दशतन्तुविधानतः ॥  
कुम्भमालंकृतं देहं तयोरेकान्तमन्दिरे ।  
ततः कुम्भं च निःसार्य निमज्ज्य सलिलाशये ॥  
ततोभिषेचनं कुर्यात्पञ्चपल्लव(१)वारिभिः ।  
तत्सर्वं वस्त्रपूजाद्यं ब्राह्मणाय निवेद्य च ॥

( १ ) पञ्चपल्लवा एतस्यैव पुस्तकस्य १७७ तमपृष्ठस्थटिप्पणीलि-  
खिता अवगम्याः ।



कन्यालङ्कारवस्त्राद्यं ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।”

कुम्भप्रार्थना च तत्रैव—

“वरुणांगस्वरूपस्त्वं जीवनानां समाश्रय ।  
पतिं जीवय कन्यायाश्चिरं पुत्रान् सुखं वरम् ॥  
देहि विष्णुवरादेव कन्यां पालय दुःखिताम् ।” इति ।  
अश्वत्थविवाहस्तत्रैव—

“सुहृद्द्विजगुरुन्नारीं मङ्गलोच्चारणैः समम् ।  
आहूयोद्वाहकाले च रम्यभूमौ सुमण्डपे ॥  
गत्वा प्रणम्य गौरीं च गणनाथं च भूरुहम् ।  
भवानीं चैव मन्थानीं पितां मन्त्रमुदरीयेत् ॥  
उद्वाहयिष्ये विधिवदश्वत्थेन मनोहराम् ।  
कन्यां सौभाग्यसौख्यार्थहेतवेऽहं द्विजोत्तम ॥  
नमस्ते विष्णुरूपाय जगदानन्दहेतवे ।  
पितृदेवमनुग्याणामाश्रयाय नमो नमः ॥  
घनानां पतये तुभ्यं विष्णुरूपाय भूरुह ।  
नमो निखिलपापौघनाशनाय नमो नमः ॥  
पूर्वजन्मभवं पापं बालवैधव्यकारकम् ।  
नाशयाशु सुखं देहि कन्याया मम भूरुह ॥”

इत्यश्वत्थेन सह विवाहसङ्कल्पप्रार्थने । विवाहस्तु कुम्भविवाहवद्वि-  
धेयः । इत्यश्वत्थविवाहः ।

विष्णुप्रतिमया सह विवाहः—

एवं विष्णुप्रतिमया सौवर्ण्या सह विवाहं विधाय प्रतिमादानं विधे-  
यम् । अथ प्रतिमादानविधिस्तत्रैव—

“शुभे मासि सिते पक्षे सानुकूलग्रहे दिने ।  
ब्राह्मणं साधुमामन्त्र्य सम्पूज्य विविधार्हणैः ॥  
तस्मै दद्याद्विधानेत विष्णोर्मूर्तिं चतुर्भुजाम् ।  
शुद्धवर्णसुवर्णेन वित्तशक्त्याथवा पुनः ॥  
निर्मितां रुचिरां शंखगदाचक्राब्जशोभिताम् ।  
दधानां वाससी पीते कुमुदोत्पलमालिनीम् ॥  
सदक्षिणां च तां दद्यान्मन्त्रमेतमुदीरयेत् ।

यन्मया पूर्वजनुषि घ्नन्त्या पतिसमागमम् ॥  
 विषोपविषशस्त्राद्यैर्हतो वालिविरक्तया ।  
 प्राप्यमाणं महाघोरं यशःसौख्यधनापहम् ॥  
 वैधव्याद्यतिदुःखौघनाशाय सुखलब्धये ।  
 बहुसौभाग्यलब्धै च महाविष्णोरिमां तनुम् ॥  
 सौवर्णीं निर्मितां शक्त्या तुभ्यं सम्प्रददे द्विज ।  
 अनघाद्याहमस्तोति त्रिवारं प्रवदेदिति ॥  
 एवमस्त्विति विप्राशीर्गृहीत्वा स्वगृहं विशेत् ।  
 ततो वैवाहिकं भूयो विधिं कुर्यान्मृगीदृशः ॥”

इति प्रतिमादानविधिः । इति विष्णुप्रतिमोविवाहः ।

एवं घटेनाश्वत्थेन वा विष्णुरूपेण वा एकान्ते विवाहं विधाय  
 पश्चाद्वादित्रघोषपुरःसरं पित्रादिः कन्यादानाधिकारी कन्यामायुष्मते  
 वराय दद्यात् ।

अथ कन्यादातारो विवाहे—

कन्यादातृनाह याज्ञवल्क्यः—“पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो ज-  
 ननी तथा । कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥” इति । ननु ‘पुन-  
 र्भूदिधिषूख्ण्डाद्विः’ इत्यमरोक्तेर्द्विः परिणीतायाः कन्यायाः पुनर्भूत्वेन  
 महादोषः सम्भवतीत्यपेक्षायामाह—अत्र न भवेदिति । अत्रैवं विधेयम् ।  
 कुम्भादिविवाहानन्तरं कन्यायाः पुनरायुष्मद्वारेण सह विवाहविषये  
 पुनर्भूभवः पुनर्भूसम्भूतदोषो नास्ति । कुतो दोषो नास्तीत्युच्यते  
 विधानखण्डे तथाभिधानात्—

“स्वर्णबुपिप्पलानां च प्रतिमा विष्णुरूपिणी ।

तया सह विवाहे च पुनर्भूत्वं न जायते ॥”

चकारद्घटस्यापि ।

“लक्ष्मीरूपि सदा कन्या हरिरूपं सदा जलम् ।

हरेर्दत्तं च यद्दानं दातुः पापहरं सदा ॥

लक्ष्मीनारायणप्रीत्यै या दत्ता कन्यका बुधैः ।

तारयेत्सकलं दातुः कुलं पूर्वापरं सदा ॥

चन्द्रगन्धर्ववह्मण्बुशिवसोमस्मरा इमे ।



पतयः कन्याकानां च बाल्यात्सन्ति सदैव ते ॥

तदुद्वाहविधिर्यत्नात्कृतो नो जनयेदधम् ।

यथालिभुक्तं कमलं देवानां पूजनाय वै ॥

अहं भवति सर्वत्र तथ कन्या नृणां भवेत् ॥” इति ।

धर्मशास्त्रेपि—“यत्किञ्चित्कथितं शास्त्रे शान्तिकं पतिरक्षणे । त-  
त्पापमपि नो पापं येन धर्मोभिरक्ष्यते ॥” इति । श्रुतावपि सोमादिभिः  
सहोद्वाहोभिहितः—“सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।  
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते । मनुष्यजाः ॥ सोमोददगन्धर्वाय ग-  
न्धर्वोददगनये । रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥” इति । अतो  
देवभोग्यानां कन्यानां पुरुषविवाहे यथा न दोषः पुनर्भूभवस्तथात्रापि ।  
अत एव हि लोकेपि शिष्टाचारो दृश्यते—“मन्थन्या भास्करो यत्नात्कृ-  
तवान्दुहितुर्विधिम् । रेणुकोपि स्वकन्यायास्तरुद्वाहं चकार सः ॥” इति  
विधानखण्डे उक्तत्वात् । अत एव “पित्रा मात्रा तथा भ्रात्रा दत्ता या  
तोयधारया । विप्राग्निसुहृदां साक्ष्यं कृत्वा सोद्वाहिता भवेत् ॥” इति  
कात्यायनादिभिर्विवाहस्य परिभाषितत्वादेकदा कन्या पुरुषविवाहं  
निर्वर्त्य पुनर्द्वितीयपुरुषविवाहे जाते सा पुनर्भूरेवेत्यलमियता ॥ ७ ॥

अथास्याः कन्यायाः कोटशमपत्यं प्रथमं भवितेति प्रश्ने स्रग्विणी-  
छन्दसोत्तरमाह—

प्रश्नलग्नक्षणे यादृशापत्ययुक्

स्वेच्छया कामिनी तत्र चेदाव्रजेत् ।

कन्यका वा सुतो वा तदा परिडत्तै-

स्तादृशापत्यमस्या विनिर्दिश्यते ॥ ८ ॥

प्रश्नेति । तत्र ज्योतिर्वित्समीपे यादृशापत्ययुक्क्यादृशापत्यमेव  
विवृणुते । कन्यकेत्यादि । शेषं पद्यं स्पष्टार्थम् । यदाह शौनकः—  
“आलिंग्य शिशुं कन्या पृच्छकमाश्रित्य तिष्ठति प्राक् चेत् । स्त्री-  
हस्ता स्त्रीजननी पुंहस्ता पुत्रजननी च ॥” इति । कन्या यस्य कस्यापी-  
तिशेषः ॥ ८ ॥

अथ सामान्यतो निमित्तवशेन शुभाशुभप्रश्नं सखिण्याह—

शङ्खभेरीविपञ्चीरवैर्मङ्गलं

जायते वैपरीत्यं तदा लक्षयेत् ।

वायसो वा खरः श्वा शृगालो

पि वा प्रश्नलग्नक्षणे रौति नादं यदि ॥ ६ ॥

शंखेति । शंखः प्रसिद्धः, भेरी वाद्यविशेषस्ताम्रादिनिर्मितः, वि-  
पञ्ची वीणा, एतेषां रवैः प्रश्नलग्नक्षणे श्रुतैर्मङ्गलं जायते । उपलक्षण-  
त्वान्मनोह्लादितुरगगजच्छत्रादिसान्निध्येपि शुभं द्रष्टव्यम् । यदाह  
शौनकः—“ वादित्रतूर्यघोषो वीणावेणुप्रगीतशब्दाश्च । शंखवनिः  
प्रशस्तः पृच्छाकाले कुमारीणाम् ॥ वृषभो रथो गजो वा शंखः  
पद्मं ध्वजोऽथवा छत्रम् । सर्पति पृच्छकदेशे सोत्तमतां व्रजति सर्वलोक-  
स्य ॥ ” इति । सा विवाह्या कन्या ।

प्रश्नसामान्येऽशुभज्ञानोपायः—

अथाशुभयोग उच्यते—वैपरीत्यमिति । वायसः काकः, खरो गर्ह-  
भः, श्वा कुक्कुरः, शृगालः प्रसिद्धः । यदि प्रश्नलग्नक्षणे वायसादिनादं  
शब्दं रौति तदा वैपरीत्यं अशुभं लक्षयेत् । उपलक्षणत्वादुलूकोष्ट्र-  
महिषनादोऽप्यशुभः । उक्तं च शौनकेन—“ श्वशृगालोलूकरवो महि-  
षोऽङ्गजाविकप्रलापो वा । ” इति । बृहस्पतिरपि शृगालादिसान्निध्यं  
निषिद्धमाह—शृगालमहिषोऽष्टाश्च शिवा मेघाजकुक्कुटाः । खरकौ-  
शिकमार्जारा न प्रशस्ताः समीपमाः ॥ ” इति ।

अन्येपि शुभाशुभज्ञानोपायाः विवाहादिप्रश्ने—

अथ प्रसंगादस्माभिः शौनकोक्ता शुभाशुभयोगा लिख्यन्ते । तत्र  
शुभयोगाः—

“ कृकलासवानरोरगगर्हभसंश्लेषणं मिथोपि भवेत् ।

दैवज्ञप्रच्छकानां कन्या एकत्र संरमते ॥

( कन्या एकत्रेत्यत्र संहिताया अविवाह्यमाणात्वाद्बृद्ध्यभावः ) ।

मिद्यति यद्युदकुंभः शय्यासनपादुकादिभङ्गो वा ।

प्रश्नसमयेपि यस्यास्तस्या वैधव्यमादेश्यम् ॥



उदयात्सप्तमसंस्थे रविभृगुतनये शशांके वा ।  
 वैधव्यं क्षितितनये सप्तमगे कन्यका म्रियते ॥  
 सप्तमगेऽर्कः कन्या मृतप्रजां पुंश्चलीं करोत्युदयात् ।  
 कथितं तु यथोद्वाहे योज्यं तत्प्रश्नसमयेपि ॥”

अथ शुभाश्रयि—

“पृच्छक वर्णत्रितयं समीपमाश्रुत्य तिष्ठतिच्छागः ।  
 तस्यादेश्यं विदुषा यदा तदा यागभोगित्वम् ॥  
 यदि पृच्छालग्नस्थौ गुरुसौम्यौ दीर्घजीविनं कुरुतः ।  
 पञ्चमसंस्थौ पुत्राज्जामित्रगतौ धनं विपुलम् ॥  
 संप्रति यदि कुमाराः समीपगाः पृच्छकस्य विगतमया ।  
 सा कन्या पुत्रवती कथनीया मङ्गलवती च ॥  
 प्रमदात्मकद्रेष्काणे वनितांशो यदि विलग्नमायातः ।  
 दृष्टः शुक्रेन्दुभ्यां कन्यालाभं समादिशति ॥  
 प्रमदाभवननिविष्टाः प्रेक्ष्यन्ते यदि विलग्नमायातम् ।  
 योषिद्वैः सुवलिभिः कन्यालाभं तदा ब्रूयात् ॥  
 एवं कुमारिकाणां पृच्छालगने वरोपलब्धिः स्यात् ।  
 द्रेष्काण भवने वा नवांशके नृग्रहैर्वलिभिः ॥”

एवं शुभाशुभग्रहसूचितं निमित्तसंभूतं च ज्ञात्वा वक्तुर्ज्योति-  
 र्विदो माहात्म्यमाह स एव—

“एवं कुमारिकाणां गुणदोषतश्च कथनीयम् ।  
 दौःशील्यं निर्धनता वैधव्यं वान्यथात्वं वा ॥  
 दृष्ट्वा निमित्तवर्गं नीचोच्चविधिं च जामित्रम् ।  
 कथयति फलमुद्वाहे तस्य न मिथ्या भवेद्वाणी ॥” इति

एवमन्यानि शुभाशुभनिमित्तानि क्षुतादिकानि च ग्रन्थांतरेभ्यो  
 ज्ञेयानि ।

शुभाशुभज्ञानायोपश्रुतिसंपादनतत्प्रकारौ—

केचन विवाहे उपश्रुतिमपि विचारयन्ति । तदुक्तं विवाहवृन्दावने—

“आरोप्याक्षतपूरिते गणपतिं प्रस्थादिपात्रे शनैः  
 सम्मार्जन्यधिवेष्टिते युवतयस्तिष्ठः सकन्या निशि ।  
 निर्याता रजकादिवेश्मसु करे कृत्वा तमभ्यर्चितं यां  
 वाचं शृणुयुस्तदर्थं सदृशी लोके किलोपश्रुतिः ॥” इति ।

तत्रोपश्रुतिमन्त्रः—“ उपश्रुतिर्महादेवि चण्डालगृहवासिनी ।  
यथार्थं ब्रूहि देवि ! त्वं शंकराज्यप्रवर्द्धिनि ॥ ” इत्यलमतिप्रसं-  
गेन ॥ ६ ॥

अथ कन्यावरणमुद्धृतं मत्तमयूरछन्दसाह—

विश्वस्वातीवैष्णवपूर्वात्रयमैत्रै-  
र्वस्वाग्नेयैर्वा करपीडोचितऋक्षैः ।  
वस्त्रालङ्कारादिसमेतैः फलपुष्पैः  
सन्तोष्यादौ स्यादनु कन्यावरणं हि ॥ १० ॥

विश्वेति । उत्तराषाढास्वातीश्रवणपूर्वात्रयानुराधाधनिष्ठाकृत्तिका-  
नक्षत्रैः, अथ वा विवाहनक्षत्रैरुपलक्षिते काले वस्त्रालङ्कारादिभिरा-  
दिशब्देन खाद्यमधुरवस्तुभिः समेतैः फलपुष्पैरादौ कन्यां संतोष्य  
अनु पश्चात्कन्यावरणं हि निश्चयेन स्यात् । उचितऋक्षैरित्यत्र “ ऋ-  
त्यकः ” इति प्रकृतिभावः ।

कन्यावरणप्रकारः—

यदाह वराहः—“पूर्वात्रयश्रवणमित्रभवैश्वदेवहौताशवासवसमीर-  
णदैवतेषु । द्राक्षाफलेजुकुसुमाक्षतपूर्णपाणिरश्रांतशांतहृदयो वरयेत्कु-  
मारीम् ॥ ” इति । फलानि पूगीफलादीनि । कश्यपः—

“पञ्चांगशुद्धिदिवसे चन्द्रताराबलान्विते ।  
विवाहोक्तेषु ऋक्षेषु कुजवर्जितवासरे ॥  
मासाद्यदिवसं रिक्तामष्टमीं नवमीं तिथिम् ।  
त्यक्त्यान्यदिवसे गन्धस्नक्तांबूलफलान्वितैः ॥  
सह वृद्धद्विजगणैर्वरयेत्कन्यकां सतीम् ।”

अश्वलग्नशुद्धिर्हेश्वरेणोक्ता—“ अशुभैस्त्रिषडायसंस्थितैः शुभखेटैः  
सुतधर्मकेन्द्रगैः । यदि वोपचये गुरौ सिते हरिजस्थे वरयेत्कुमारिका-  
म् ॥ ” इति । हरिजं लग्नम्, वरणं प्रार्थना ।

वाग्दानप्रकारः—

“ वाचा दत्ता त्वया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता मया । वराव-



लोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखीभव ॥” इति । एवंरूपा वाग्दाना-  
ख्येति यावत् ।

विवाहकन्यायाः योग्यायोग्यस्वरूपादयः—

तत्र विवाहकन्यालक्षणमाह मनुः—

“अव्यङ्गांगी सौम्यनाम्नी हंसवारणगामिनीम् ।  
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥  
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोहिणीम् ।  
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥  
ऋक्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।  
न पद्महिप्रप्यनाम्नीं न विभीषणनामिकाम् ॥” इति ।

अन्त्यश्चांडालः । शातातपः—

“ह्रस्वस्वरां मेघवर्णां मधुर्पिङ्गललोचनाम् ।  
तादृशीं व रयेत्कन्यां गृहस्थः सुखमेधते ॥”

विष्णुपुराणेपि—

“न श्मश्रुऽयंजनवतीं न चैव पुरुषाकृतिम् ।  
नातिबद्धेक्षणां तद्वत्कशाङ्गीं नोद्वहेत्स्त्रियम् ॥  
यस्यातिरोमशो जङ्घे गुल्फौ यस्यास्तथोन्नतौ ।  
गण्डयोः कूपको यस्या हसन्त्याश्चैव जायते ॥  
नोद्वहेत्तादृशीं कन्यां प्राज्ञः कार्यं विचक्षणः ॥” इति ।

अतिबद्धेक्षणां निमीलितप्रायनेत्रामित्यादिसामुद्रिकशुभाशुभ-  
लक्षणलक्षितां परीक्ष्य कन्यां वरयेदिति । सामुद्रिकलक्षणानि काशीख-  
ण्डे वराहसंहितायामभ्युक्तानि तत एव ज्ञेयानि ॥ १० ॥

अथ वरवरणमुहूर्तमाह—

धरणिदेवोऽथवा कन्यकासोदरः

शुभदिने गीतवाद्यादिभिः संयुतः ।

वरवृत्तिं वस्त्रयज्ञोपवीतादिना

ध्रुवयुतैर्वह्निपूर्वात्रयैराचरेत् ॥ ११ ॥

धरणिदेव इति । धरणिदेवो ब्राह्मणः पुरोहितादिः । शेषं स्पष्टार्थं  
पद्यम् । उक्तं च व्यवहारचण्डेश्वरेण—

“पूर्वात्रितयमाग्नेयमुत्तरात्रितयं तथा ।

रोहिणी तत्र वरणे भगणः शस्यते सदा ॥

उपवीतं फलं पुष्यं वासांसि विविधानि च ।

देयं वराय वरणे कन्याभ्रात्रा द्विजेन वा ॥” इति ।

कीदृशाय वराय कन्या देयेत्याह वसिष्ठः—

“कुलं च शीलं च सनाथतां च विद्यां च वित्तं च वपुर्वयश्च ।

वरे गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥” इति ।

कीदृशाय वराय न देयेत्याह चण्डेश्वरः—

“सितकुण्डिन्यपस्मारे ब्रह्मघ्ने राजयक्षिणि ।

अन्धे च परिवित्तौ च बधिरे दूरदेशगे ॥

व्यसनासक्तचित्ते च न देया कन्यका बुधैः ॥” इति ।

परिवित्तिलक्षणममरसिंहेनोक्तं—

‘परिवेत्तानुजोनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात् ।

परिवित्तिस्तु तज्ज्यायान् इति । व्यसनं द्यूतादि । वसिष्ठोपि—

“अत्यासन्ने नातिदूरेष्यत्याढ्येऽप्यतिदुर्बले ।

वृत्तिहीने च मूर्खे च षट्सु कन्या न दीयते ॥

दूरस्थानामविद्यानां मोक्षधर्मानुवर्तिनाम् ।

शूराणां निर्द्धनानां च न देया कन्यका बुधैः ॥” इति ।

गुणाढ्यायैव वराय कन्यादेया—

अत एव मनुः—

“काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि । न त्वेवैनां प्रयच्छेत गुण-  
हीनाय कर्हिचित् ॥” अत्र हीनगुणाय कन्या न देया किन्तु गुणवते  
देयेत्यत्र तात्पर्यम् । न पुनरसंस्कृतायास्तस्या रजोदर्शनानन्तरमवस्थानं  
युक्तम्, दोषस्मरणात् ।

रजस्वला तु न देया, नोद्वाह्या च—

यदाह वात्स्यः—

“माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।

त्रयस्ते नरकं यान्ति हृष्टा कन्यां रजस्वलाम् ॥



यस्तां विवाहयेत्कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः ।

असम्भाव्यो ह्यपांक्त्यः स भवेद्बृषलीपतिः ॥” इति ।

वृषली रजस्वला । याज्ञवल्क्यः—“अप्रयच्छन्नवाप्नोति भ्रूणहत्या-  
मृतावृतौ ॥” भ्रूणो बालकः । ऋतू आर्तवं रजः । नारदोपि—“यावन्त  
ऋतवस्तस्याः समतीयुः पतिं विना । तावन्त्यो भ्रूणहत्याः स्युस्तस्य यो  
न ददाति ताम् ॥” इति । अत एवाह वसिष्ठः—“रजो हि दृष्टं यदि  
कन्यकायाः कुलद्वयं दुर्गतिमेति तस्याः । तस्मान्नितान्तं च तदुक्तकालं  
नोक्तव्य पाणिग्रहणं विधेयम् ॥” इति ॥ ११ ॥

अथ कन्याविवाहकालं ग्रहशुद्धिं च वसन्तमालिकाछन्दसाह—

गुरुशुद्धिवशेन कन्यकानां

समवर्षेषु षडब्दकोपरिष्ठात् ।

रविशुद्धिवशाच्छुभो वराणा-

मुभयोश्चन्द्रविशुद्धितो विवाहः ॥ १२ ॥

मुर्विति । कन्यकानां विवाहः षडब्दकोपरिष्ठात्षड्वर्षातिक्रमानन्तरं  
समवर्षेषु युग्मवर्षेषु सत्सु गुरुशुद्धौ सत्यां शुभः । अर्थात्पुरुषाणां वि-  
षमवर्षेषु रविशुद्धौ विवाहः शुभः । तदाह च्यवनः—“षडब्दमध्ये नो-  
द्वाह्या कन्या वर्षद्वयं यतः । सोमो भुंक्तेथ गन्धर्वस्ततः पश्चाद्भुताशनः ॥”  
इति । इदमस्य व्याख्यानम्, जन्मानन्तरं वर्षद्वयं सोमः कन्यां भुंक्ते  
तदनन्तरं द्वे वर्षे गन्धर्वस्तदनन्तरमग्निस्ततो मनुष्याधिकार इति षड-  
ब्दतः प्राग्विवाहो न कार्यः । ततः षड्वर्षानन्तरं समवर्षे विवाहः शुभः ।

स्त्रीणां युग्मे पुंसामयुग्मे वयस्येव विवाहः कार्यः—

यदाह नारदः—“युग्मेब्दे जन्मतः स्त्रीणां शुभदं पाणिपीडनम् ।

एतत्पुंसामयुग्मेब्दे व्यत्यये नाशनं तयोः ॥” इति ।

कश्यपोपि—“विवाहो जन्मतः स्त्रीणां युग्मेब्दे पुत्रपौत्रदः ।

अयुग्मे श्रीप्रदः पुंसां विपरीते तु मृत्युदः ॥” इति ।

एवं सति स्त्रीणां विवाहोष्टमदशमवर्षयोर्भवतीत्यर्थः ।

विवाहे कन्यायाः अष्टमं नवमं दशमं च वयः श्रेष्ठम्—

अत एवाह व्यासः—“अष्टवर्षा भवेद्वैरी नववर्षा च रोहिणी ।

दशवर्षा भवेत्कन्या द्वादशे वर्षा स्मृता ॥” इति ।

अष्टमनवमदशमवयसि कन्यादाने सुफलमन्यथाऽशुभमिति—

अस्य फलश्रुतिमाह मात्स्यः—(१) “गौरीं ददन्नाककोकं वैकुण्ठं रोहिणीं ददत् । कन्यां ददद्ब्रह्मलोकमतः परमसद्गतिम् ॥” प्राप्नोतीति शेषः । “गौरी विवाहिता सौख्यसम्पन्ना स्यात्पतिव्रता । रोहिणी धनधान्यादि-पुत्राढ्या सुभगा भवेत् ॥ कन्या विवाहिता सम्पत्समृद्धा स्वामिपूजिता ।” इति । ननु नवमवर्षाया रोहिण्या अयुग्मवर्षत्वाद्विवाहः सम्भवति । गर्भतो नवमवर्षग्रहणेऽयुग्मवर्षत्वापरिहारात्सदोषस्तदवस्थ एव । ये तु “अयुग्मे दुर्भगा नारी युग्मे च विधवा भवेत्” इति चण्डेश्वरवाक्यसम्भ-सन्ति तन्मते सुतरां विवाहाभावः । उच्यते “युग्मे च्छेदः सौख्यं विद्या-धर्मायुषः सदा । भर्तुर्दुष्टा भवत्योजे निषेकान्नात्र संशयः” इति प-राशरवाक्याद्गर्भग्रहणं यथावसीयते । नारदादिवाक्ये तु जन्मत इत्यपि तत्र षष्ठवर्षानन्तरं जन्मतो विषमवर्षीयमासत्रयानन्तरं नवमासाः शुभाः समवर्षीयमासत्रयं च । इदमेव च मासत्रयं नारदादिमते गृह्यते इति युक्ता व्यवस्थेति युक्तमुत्पश्यामः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं श्रीपतिनि-बन्धे—“मासत्रयादूर्ध्वमयुग्मवर्षे युग्मे तु मासत्रयमेव यावत् । विवा-हशुद्धिं प्रवदन्ति सन्तो वात्स्यादयो गर्गवराहमुख्याः ॥” इति । “अयु-ग्मे दुर्भगा नारी युग्मे तु विधवा भवेत् । तस्माद्गर्भान्विते युग्मे विवाहे सा पतिव्रता ॥” इति चण्डेश्वरोक्तिश्च सार्थिका । एवं नवमवर्षस्यायु-ग्मत्वप्रयुक्तनिषेधोऽष्टमवर्षानन्तरं मासत्रयमेव । तस्मादनन्तरं तु सु-खेन विवाह इति व्यासवाक्येनाविरोधः ।

स्त्रीणां गुरोः पुंसां रवेरुभयोश्चन्द्रस्य बलमावश्यकमेव विवाहे—

एवं त्रिहितवर्षे यस्मिन्काले गुरुशुद्धिर्भवेत्तद्वशेन विवाहः कार्यः । गुरुशुद्धिस्तु—“बटुकन्याजन्मराशे स्त्रिकोणायद्विसप्तगः । श्रेष्ठो गुरुः खषट्त्रयाद्ये पूजायान्यत्र निदितः ॥” इत्युपनयनप्रकरणोभिहिता । यदाह गुरुः—“स्त्रीणां गुरुबलेनैव विवाहः शोभनः स्मृतः । वरस्या

( १ ) कचित्पुस्तके एवं दृश्यते—

गौरीं ददद्ब्रह्मलोकं सावित्रं रोहिणीं ददत् ।

कन्यां ददत्स्वर्गलोकमतः परमसद्गतिम् ॥



कैवलं ग्राह्यमैन्दवं तूभयोरपि” इति। “सुरगुरुबलमवलानां पुरुषाणां तीक्ष्णरश्मिवलमेव । चन्द्रवलं दम्पत्योरवलोक्य विशोधयेत्तल्लभम् ॥” इति-वराहोक्तेश्च । एतच्चावश्यकमित्यभिहितम् । यदा द्वयोरपि गुरुबलमिष्टं भवेत्तदा पाणिग्रहः शुभदः ।

रविगुरुबलान्यतराभावे विवाहादौ तत्संपादनोपायादिः—

द्वयोरन्यतरस्य गुर्वर्कशुद्ध्यै विवाहकालांतरासम्भवे च तत्पित्रादिना पूजां कारयेत् । “रविशुद्धौ गृहकरणं रविगुरुशुद्धौ व्रतोद्वाहौ । तौरं ताराशुद्धौ शेषं चन्द्राश्रितं कर्म ॥” इति राजमार्त्तण्डोक्तसामान्यवाक्यालोचनात् वराणां विवाहानां पुंसां रविशुद्धिवशेन विवाहः शुभः (१) । उभयोः स्त्रीपुंसयोश्चन्द्रविशुद्धितो विवाहः शुभः स्मृतः । अत्र संमतिः प्रागुक्ता । यदा तु कन्या कालातिक्रान्ता भवति तदा गुरुबलमनावश्यकमित्याह व्यासः—“दशवर्षव्यतिक्रान्ता कन्या शुद्धिविवर्जिता । तस्यास्तारेन्दुलग्नानां शुद्धौ पाणिग्रहो मतः ॥” इति । प्राप्ते काले गुरुशुद्ध्यादिविचार इति तत्त्वम् । सा च गुरुविचन्द्रशुद्धिर्गोचरप्रकरणोऽभिहिता । गोचरबलाभावेऽष्टकवर्गादिबलं ग्राह्यमित्याह नारदः—“गोचरं वेधजं चाष्टवर्गजं रूपजं बलम् । यथोत्तरं बलाधिक्यं स्थूलं गोचरमार्गजम् ॥” इति ॥ १२ ॥

अथैवं गुरुशुद्धिमुक्त्वेदानीं विहितमासान्दुतविलंबितेनाह—

मिथुनकुम्भमृगालिवृषाजगे

मिथुनगोपि रवौ त्रिलवे शुचेः ।

अलिमृगाजगते करपीडनं

भवति कार्त्तिकपौषमधुष्वपि ॥ १३ ॥

(१) अत्र राजमार्त्तण्डः—

तृतीयः षष्ठगश्चैव दशमैकादशस्थितः ।

रविः शुद्धो निगदितो वरस्यैव करग्रहे ॥

जन्मस्थे च द्वितीयस्थे पञ्चमे सप्तमेऽपि वा ।

नवमे भास्करे पूजां कुर्यात्पाणिग्रहोत्सवे ॥

चतुर्थे षष्ठमे चैव द्वादशे भास्करे स्थिते ।

वरः पञ्चत्वमाप्नोति कृते पाणिग्रहोत्सवे ॥

मिथुनेति । मिथुनकुम्भौ प्रसिद्धौ, मृगो मकरः, अलिर्बृश्चिकः, वृषः प्रसिद्धः, अजो मेषः, एतद्राशिगते रवौ सति ।

अषाढे शुक्लदशमीपर्यन्तं विवाहो मिथुने रवौ—

तत्रापि मिथुनस्थिते सूर्ये शुचेराषाढस्य त्रिलवे तत्तृतीयांशे आषाढशुद्धप्रतिपदमारभ्य दशमीपर्यन्तं करपीडनं विवाहो भवति ।

विवाहे मासविशेषाः—

अर्थादितरराशिगते सूर्ये सति आषाढशुक्लदशम्यनन्तरं हरिशयने च सति विवाहो न स्यात् । यदाह कश्यपः—

“उत्तरायणगे सूर्ये मीनं चैत्रं च वर्जयेत् ।

अजगोद्वन्द्वकुम्भालिमृगराशिगते रवौ ॥

मुख्यं करग्रहं त्वन्यराशिगे न कदाचन ।” इति ।

वसिष्ठः—

“दिनाधिपे मेषवृषालिकुम्भनृग्युग्नमनक्राव्यधटर्क्षसंस्थे ।

माघद्वये माघवशुक्लयोश्च मुख्योथवा कार्तिकसौम्ययोश्च ॥” इति ।

धटस्तुला, शुक्रो ज्येष्ठः, सौम्यो मार्गशीर्षः, मुख्यः विवाह इति शेषः ।

“आर्द्रादियादूर्ध्वमिनस्य कार्यं नक्षत्रवृन्दे दशके कदाचित् ।

मासोक्तकर्मतरमङ्गलाढ्यं कुर्यान्न सुप्तेपि तथा मुरारौ ॥” एतेन

हरिशयनात्प्राक्कालः साधीयानित्यभिहितं भवति ।

विवाहे उक्तमासेषु सौरचान्द्रमासयोरैक्यं श्रेष्ठमन्यतरस्तु मध्यमः—

अत्र सामान्यतो मासशब्देन चान्द्र एव मासो गृह्यते । ‘इन्द्राग्नी यत्र ह्वयेते’ इत्याद्युक्तेः । अत्र तु सौरचान्द्रमासद्वयोपादानादुभयोरैक्ये विवाहफलमविकलं भवति । तदुक्तं केशवाकेण—“प्रायः सौरं मानमिष्टं विवाहे तर्त्तिकं चान्द्रं मानमाहुः फलेन । तस्मात्सम्यक् तत्फलात्तिस्तदैक्ये सौरो मासः केवलः किञ्चिदूनः ॥” इति । अस्यार्थः कश्यपादिभिः सौरा एव मासा उक्ताः । तेषां च प्राशस्त्यम् । “विवाहादौ स्मृतः सौरो यज्ञादौ सावनो मतः” इति वृद्धगर्गस्मरणात् । नारदादिभिस्तु—“माघफालगुनवैशाखज्येष्ठमासाः शुभप्रदाः । मध्यमाः कार्तिको मार्गशीर्षो वै निर्दिता परे ॥” इति चान्द्रा एवोक्ताः । एतत्प्राशस्त्यं च वसिष्ठेनोक्तम्—“उद्वाहयज्ञोपनयनप्रतिष्ठातिथिचित्रं



क्षौरमहोत्सवाद्यम् । पर्वक्रियावास्तुगृहप्रवेशः सर्वं हि चाद्रेण विगृह्यते तत् ॥ ” इति । अतो द्वयोः सौरचान्द्रमासयोरैक्ये विवाहादि-  
 शुभम्, एकतरक्षाश्रयेण मध्यममिति निष्कृष्टोर्थः । एवं च मकर-  
 संक्रान्तौ माघः, कुम्भे फाल्गुनो मेषे वैशाखः, वृषे ज्येष्ठः, मिथुने  
 आषाढतृतीयांशः, तुलायां कार्तिको देवोत्थानादुत्तरः वृश्चिके मा-  
 र्गशीर्षः शुभ इत्यर्थः । केचित्तु चान्द्रमासं मुख्यमाहुः । तेनायम-  
 र्थः । फाल्गुनोपि विहित इति मीनसंक्रमणसद्भावेपि शुभः । चैत्रो  
 निषिद्ध इति मेषसंक्रान्तिसद्भावेऽप्यशुभः । तदुक्तं विवाहवृन्दावने—  
 “भूषो न निद्यो यदि फाल्गुने स्यादजस्तु वैशाखगतो न निद्यः ।  
 मध्वाश्रितौ द्वावपि वर्जनीयावित्यादिवाचामियमेव युक्तिः ॥ ” इति ।  
 ‘अजस्तु वैशाखगतो न निद्यः’ इति तु निर्मूलमेव । नहि मेषसंक्रमः  
 क्वचिन्निषिद्धोस्ति । तदेतदविचारितरमणीयम् । कुतः । यतो यन्मते  
 सौरमासस्यैव मुख्यत्वं तन्मते मेषः प्रशस्त इति चैत्रेपि विवाहप्रसङ्ग  
 इति विपरीतस्यापि वक्तुमशक्यत्वात् । उक्तं च चूडारत्ने—“पौषेपि  
 मकरस्थेके चैत्रे मेषगते रवौ । आषाढे मिथुनादित्ये केव्याहुः करपी-  
 डनम् ॥ ” इति । किं च वसिष्ठवाक्ये—“दिनाधिपे मेषवृषा ” वित्यादौ  
 सौरचान्द्रमासयोरुपादानस्य वैयर्थ्यापातात् । तस्माद्वयोरैक्ये विवाहः  
 प्रशस्तः तत्र माघफाल्गुनवैशाखज्येष्ठा मुख्याः । यत्र तु निषेधानन्तरं  
 प्रतिप्रसवो यथा दक्षिणायने विवाहं निषिद्ध्य कार्तिकमार्गशीर्षौ विहितौ  
 तत्र मध्यमत्वम् । अत एव कार्तिकसौम्ययोश्च वसिष्ठेन पृथगुक्तम् ।  
 नारदवाक्ये तु तयोः स्पष्टमेव मध्यमत्वमुक्तम् । अतो विवाहपटले  
 गणः—“पुत्रोपेता तु कार्तिके । धनधान्यसुतोपेता सौम्ये भर्तृपरा-  
 यणा ” इत्युक्तम् । तदपि धनुःसंक्रान्तिव्यतिरिक्तविषयं द्रष्टव्यम् ।  
 हरिश्चयनात्प्रागाषाढतृतीयांशश्च मध्यमः । हरिस्वापांतर्गता आषाढ-  
 भावणभाद्रपदाश्चिनकार्तिकाः पौषश्चैते निषिद्धाः ।

धनुर्गतपौषो विवाहे निषिद्धः—

धनुषि पौषस्त्वत्यंतं निषिद्धः “मीने धनुषि सिंहे च स्थिते सप्त-  
 तुरङ्गमे । क्षौरमन्नं न कुर्वीति विवाहं गृहकर्म च ॥ ” इति गर्गोक्तः ।  
 अन्नमन्नप्राशनं विहितकालातिक्रान्तं, क्षौरं चोलं च स्वतंत्रम् ।  
 यत्पूजनयनांगं क्षौरं तस्य न निषेधः ‘चैत्रे मीनगते रवौ’ इति विहितो-  
 पनयनस्य त्रिषणालाभात् । अथोत्तरार्धं व्याख्यायते—अलोति । अ-



लिमृगाजाः प्राग्व्याख्याताः । एतद्वाशिगते सूर्ये सति कार्तिकपौषमधु-  
ष्वपि करपीडनं भवति । यथा वृश्चिके कार्तिके, मकरे पौषः, तथा मीने  
चैत्रोपीत्यर्थः । इदं तु सौरमासग्राहिणां मतम् । अत एवाधुनोक्तचूडा-  
रत्नस्थवाक्ये 'केप्याहुः करपीडनम्' इत्युक्तम् । श्रीधरोपि—“पौषे च  
कुर्यान्मकरस्थितेर्के चैत्रे भवेन्मेषगतो यदा स्यात् । प्रशस्तमाषाढ-  
कृतं विवाहं वदन्ति गर्गा मिथुनस्थितेर्के ॥” इति तदेतत्प्रागभिहितन्या-  
यादुपेक्ष्यम् ।

अत्यन्तातिक्रमेयं कालः—

अथ वा केवलमताङ्गीकारेण मध्यमत्वमङ्गीकृत्य कालान्तरानुपेक्षित-  
वश्यदेयकन्याविषयम् । अत्र 'गीर्वाणांबुप्रतिष्ठा' इत्यादिना मासनिर्णयः  
सामान्यतः कृतोप्येतादृशविशेषाभिधानार्थं पुनर्ग्रन्थकृतोक्तः ॥ १३ ॥

अथ मासप्रसङ्गाज्जन्ममासादिप्रयुक्तनिषेधविधी रथोद्धतावृत्तेनाह—

आद्यगर्भसुतकन्ययोर्द्वयो-

जन्ममासभतिथौ करग्रहः ।

नोचितोऽथ विबुधैः प्रशस्यते

चेद्द्वितीयजनुषोः सुतप्रदः ॥ १४ ॥

आद्येति । यस्मिन् चान्द्रे मासे जन्म स जन्ममासः जन्मतिथि-  
मारभ्य त्रिंशत्तिथ्यात्मको मासो जन्ममासो वेति । उच्यते । द्वयमप्या-  
द्यप्रकरणे 'जन्मर्क्षमासतिथयः' इति पद्यव्याख्यावसरे विचिच्य व्या-  
कृतमस्माभिः । यस्मिन् भे नक्षत्रे जन्म तज्जन्मभम् । यस्यां तिथौ जन्म  
सा जन्मतिथिः । समाहारद्वन्द्वः । आगमानुशासनस्थानित्यत्वानुमभावः ।  
उपलक्षणत्वात्तन्मुहूर्तोपि । तत्राद्यगर्भसुतकन्योर्द्वयोः करग्रहोः विवाहो  
नोचितो निषिद्ध इत्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—“स्वजन्ममासर्क्षतिथिक्षणेषु  
वैनाशिकाद्यृक्षणेषु चैवम् । नोद्वाहमात्माभ्युदयाभिकांक्षी नैवाद्यगर्भ-  
द्वितयं कदाचित् ॥” क्षणो मुहूर्तः । नारदोपि—“न जन्ममासे जन्मर्क्षे न  
जन्मदिवसेपि वा । आद्यगर्भसुतस्याथ दुहितुर्वा करग्रहः ॥” इति । ज-  
न्मदिवसे जन्मतिथौ ।



जन्मदिनादिनिषेधानामपवादः—

आवश्यकत्वेपवादो जगन्मोहने—“जातं दिनं दूषयते वसिष्ठः पञ्चैव गर्गस्त्रिदिनं तथात्रिः । तज्जन्मपक्षं किल भागुरिश्च व्रते विवाहे गमने क्षुरे च ॥” इति । अथेति । द्वितीयजनुषोरनाद्यगर्भयोश्चेद्विवाहः तर्हि सुतप्रदो विबुधैः परिहृतैः प्रशस्यते । एतच्च तृतीयगर्भादावपि द्रष्टव्यम् । सर्वथाद्यगर्भराहित्यं विवक्षितम् । केचित्तु ‘चेदनाद्यजनुषोः’ इति पठन्ति । यदाह ज्यवनः—“जन्मर्क्षे जन्ममासे वा तारायामथ जन्मनि । जन्मलक्ष्णे भवेद्दूढा पुत्राढ्या पतिबल्लभा ॥” इति । चण्डेश्वरः—जन्ममासे तु पुत्राढ्या धनाढ्या जन्मभोदये । जन्मलक्ष्णे भवेद्दूढा वृद्धा सन्ततिसौख्यभाक् ॥” इति । एतच्चानाद्यगर्भविषयम् । आद्यगर्भे साक्षाद्विषेधाभिधानात् ॥ १४ ॥

अथ प्रसङ्गाज्ज्येष्ठमासप्रयुक्तं विशेषं शालिन्याह—

ज्येष्ठद्वन्द्वं मध्यमं सम्प्रदिष्टं

त्रिज्येष्ठं चेन्नैव युक्तं कदापि ।

केचित्सूर्यं वह्निं प्रोह्य चाहु-

नैवान्योन्यं ज्येष्ठयोः स्याद्विवाहः ॥ १५ ॥

ज्येष्ठद्वन्द्वमिति । पुत्रो ज्येष्ठः, कन्या च ज्येष्ठा, मासोपि ज्येष्ठ इत्येतत्त्रिज्येष्ठं ज्येष्ठत्रयमुच्यते । तत्कदापि नैव युक्तं नैव प्रशस्तम् । ज्येष्ठे मासे ज्येष्ठवधूवरयोर्नैव विवाहः कार्य इत्यर्थः । यदा त्वेकतरं ज्येष्ठत्वे ज्येष्ठमास्यपि भवति । यदाह गुरुः—“ज्येष्ठे न ज्येष्ठयोः कार्यं नृनार्योः पाणिपीडनम् । तयोरन्यतरे ज्येष्ठे ज्येष्ठमासेऽपि कार्येत् ॥” इति । एतच्चान्यतरेण ज्येष्ठत्वं द्विविधं ज्येष्ठमासो ज्येष्ठो वरश्च, ज्येष्ठो मासः कन्या च ज्येष्ठा, एतज्ज्येष्ठद्वन्द्वं मध्यमं सम्प्रदिष्टमगतिविषयमित्यर्थः । - एको ज्येष्ठोऽन्यद्वयमज्येष्ठमुत्तममेव । यदाह वराहः—“द्वौ ज्येष्ठौ मध्यमौ प्रोक्तावेकज्येष्ठः शुभावहः । ज्येष्ठत्रयं न कुर्वीत विवाहे सर्वसम्मतम् ॥” इति । पराशरोपि—“अज्येष्ठा कन्यका यत्र ज्येष्ठः पुत्रो वरो यदि । व्यत्ययो वा तयोस्तत्र ज्येष्ठमासः शुभप्रदः ॥” इति । केचित्तु ज्येष्ठमासाभावेपि वरकन्ययोर्यज्येष्ठत्वमपि मध्यममाहुः, तदसत् । वधूवरान्यतरज्येष्ठराहित्यं विवक्षितं

तद्वाक्यं प्रागुक्तं । किन्तु जन्ममासज्येष्ठमासयोरभावेऽपि द्वयोर्वधूवरयोः सर्वथा निषिद्धो विवाहः । यदाह गर्गः—“ज्येष्ठायाः कन्यकायाश्च ज्येष्ठ-  
पुत्रस्य वै मिथः । विवाहो नैव कर्त्तव्यो यदि स्यान्निधनं तयोः ॥”  
इति । तदेतदुक्तं ग्रन्थकृता ‘नैवान्योन्यं ज्येष्ठयोः स्याद्विवाहः’ इति ।  
ज्येष्ठत्रयनिषेधस्त्वतिदोषाधिक्यसूचनार्थः ।

त्रिज्येष्ठमिति शब्दस्य साधनम्—

कथं त्रिज्येष्ठमित्यस्य साधुत्वम् ? यावता ज्येष्ठो मासः ज्येष्ठोवरः  
ज्येष्ठा कन्येति त्रीणि पदानि तेषां ज्येष्ठा इति द्वन्द्वापवादे “सरूपाणामे-  
कशेष एकविभक्तौ” इत्येकशेषो न प्राप्नोति सरूपत्वाभावात् । अथो-  
च्यते । ज्येष्ठो मासः ज्येष्ठश्च वरः ज्येष्ठा च कन्येति विग्रहे यद्यपि “स-  
रूपाणाम्” इत्येकशेषो वैरूपाणां प्राप्नोति तथापि “सरूपाणाम्” इत्यनु-  
वृत्तौ ‘पुमान् स्त्रिया’ इत्येकशेषे ‘यः शिष्यते स निवर्त्यमानार्थमाचष्टे’  
इति ज्येष्ठावितिपदं संसाध्य ज्येष्ठश्च ज्येष्ठौ चेति विग्रहे सेत्स्यति ।  
तन्न, असारूपादेवात्राप्येकशेषाभावस्य सिद्धेः । अथ मासवाची ज्ये-  
ष्ठशब्दोस्ति । वैशाखे माधवो राधो ज्येष्ठे शुक्रः शुचिस्त्वयम्,  
इत्यमरोक्तेः । आदिवृद्धिरहितेन ज्येष्ठमासशब्देन साकमेकशेषो भ-  
विष्यति । तदापि अमरोक्तावेव ‘ज्येष्ठे शुक्रः शुचिस्त्वयम्’ इति  
आदिवृद्धिसहितस्य पाठादनुशासनबलाच्च । तथाहि ज्येष्ठानक्षत्रेण  
युक्ता पौर्णमासीत्यत्र “नक्षत्रेण युक्तः कालः” इत्यणि सति “तद्धि-  
तेष्वचामादे” रित्यादिवृद्धौ ‘यस्येति च’ इत्यकारलोपे ज्यैष्ठ इति सिद्ध-  
म् । ततः स्त्रियां “टिड्ढाणञ्” इति ङीपि पुनः “यस्येति च”  
इति लोपे सिद्धं ज्यैष्ठीति । तस्माज्ज्यैष्ठी विद्यतेऽस्मिन्नित्यर्थे  
“सास्मिन्पौर्णमासीति संज्ञायाम्” इत्यणि “यस्येति च” इतीकारलोपे  
सिद्धं ज्यैष्ठमिति । अत एवामरसिंहोपि—“पुण्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी  
मासे तु यत्र सा । नास्ना स पौषो माघाद्याश्चैवमेकादशापरे ॥” इत्या-  
दिवृद्धिसहितानेव पौषादीनूचे । क्वचित्तु ज्यैष्ठमिति पाठः सप्रामादिकः  
तस्मादेकशेषः सर्वथानुपपन्नः । एवमशुद्धैकशेषाङ्गीकारे सत्यपि  
त्रिशब्देन साकं त्रयाणां ज्येष्ठानां समाहार इति “तद्धितार्थोत्तरपदसमा-  
हारे च” इति तत्पुरुषसमासे “संख्यापूर्वो द्विगुः” इति द्विगुसंज्ञायाम्  
‘द्विगो’ इति ङीपि त्रिज्येष्ठीति भाव्यं न पुनस्त्रिज्येष्ठमिति दूषणद्वयमस्ति  
अत्र क्रमेण समाधिः । “ओर्गुणः” इत्यत्र “ओरोत्” इति वक्तव्ये



गुणग्रहणं 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति परिभाषाज्ञापनार्थम् ।  
तेन 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धेरनित्यतामङ्गीकृत्य ज्येष्ठमासप्र-  
योगोपपत्तिः । अतो ज्येष्ठौ च ज्येष्ठश्चेतिसरूपत्वादेकशेषः सिद्धः ।  
ततस्त्रिशब्देन समासे "पात्रार्च्यंतस्य न" इति स्त्रीत्वनिषेधात्पात्रादेरा-  
कृतिगणत्वात्तत्पुंसकत्वमङ्गीकार्यमिति सिद्धं त्रिज्येष्ठमिति । अथास्या-  
पवाद उच्यते—केचिदिति । सत्यावश्यकत्वे सूर्यं वह्निं कृत्तिकास्थं  
प्रोह्य त्यक्त्वा ज्येष्ठमासेपि ज्येष्ठस्य घरस्य कन्याया वा विवाहः शुभः  
इति केचिदूचुः ।

ज्येष्ठापत्यस्य न ज्येष्ठे इत्यत्राप्येतदपवादातिदेशः—

एतच्च तुल्यन्यायत्वाज्ज्येष्ठापत्यस्य न ज्येष्ठे इति सामान्यतो मङ्गल-  
कृत्यनिषेधेपि द्रष्टव्यम् । यदाह भरद्वाजः—

"ज्येष्ठे ज्येष्ठस्य कुर्वीत भास्करो चानलस्थिते ।  
नोत्सवादीनि कार्याणि दिग्दिनानि च वर्जयेत् ॥"

विशेषमाह स एव—

"दशाहं चैव गर्गस्तु त्रिदशाहं बृहस्पतिः ।  
अर्कभोग्यानग्निभयं मुनिः प्राह पराशरः ॥" इति ।

तत्रांतरेपि—"कृत्तिकास्थं रविं त्यक्त्वा ज्येष्ठे ज्येष्ठस्य कारयेत् ।  
उत्सवादीनि कार्याणि दिनानि दश वर्जयेत् ॥  
व्रतबन्धं विवाहं च चूडां कर्णस्य वेधनम् ।  
ज्येष्ठमासे न कुर्वीत कल्याणं ज्येष्ठपुत्रगम् ॥" इति ।

मार्गशीर्षेपि ज्येष्ठवच्छुभकृत्यनिषेधः—

अत्र ज्येष्ठपुत्रदुहित्रोज्येष्ठमासवन्मार्गशीर्षेपि मङ्गलकृत्यनिषेधमाह  
वात्स्यः—"मार्गशीर्षे तथा ज्येष्ठे विवाहं चौलमेव च । ज्येष्ठपुत्र-  
दुहित्रोश्च न कुर्वीत व्रतं तथा ॥" भरद्वाजोपि—"मार्गशीर्षे तथा ज्येष्ठे  
क्षौरं परिणयव्रतम् । आद्यपुत्रदुहित्रोश्च यत्नतः परिवर्जयेत् ॥" इति ।  
स्वयं च ग्रन्थकर्त्रा—"ज्येष्ठापत्यस्य न ज्येष्ठे कैश्चिन्मार्गेषु नेष्यते"  
इत्युक्तं प्राक् । कैश्चिद्ग्रहणं शिष्टाचाराभावं सूचयितुं कृतम् ॥ १५ ॥

अथ निजकुलोत्पन्नानां तथैकोदराणामपि पुत्रकन्यानां विवाहादि-  
मङ्गलकृत्ये कालनियमपुरःसरं पूर्वापरभावनिषेधं विशेषांतरं च हरिणी-  
च्छन्दसाह—

सुतपरिणयात्पणमासान्तः सुताकरपीडनं

न च निजकुले तद्वद्वा मण्डनादपि मुण्डनम् ।

न च सहजयोर्देये भ्रात्रोः सहोदरकन्यके

न सहजसुतोद्वाहोऽव्दार्धे शुभे न पितृक्रिया ॥ १६ ॥

सुतपरिणयादिति । देहलीदीपकन्यायेनात्रापि निजकुल इति सं-  
वध्यते । निजकुले स्ववंशे सुतस्य परिणयाद्विवाहात्परतः षणमासां-  
तः सौरमासषट्कमध्ये सुतायाः कन्याया विवाहो न स्यात् । उक्तं  
च वसिष्ठेन—“पुत्रोद्वाहान्नैव पुत्र्याः कदाचिदाषणमासात्कार्यमुद्वा-  
हकर्म ” इति । नारदोपि—“पुत्रोद्वाहात्परं पुत्रोविवाहो न ऋतुत्रये ।  
कुर्यान्न व्रतमुद्वाहान्मङ्गले नाप्यमङ्गलम् ॥” इति । अयं च निषेधः कुल-  
परोद्वष्टव्यः । यदाह वात्स्यः—“स्त्रीविवाहः कुले निर्गमः कथ्यते  
पुंविवाहः प्रवेशो वसिष्ठादिभिः । निर्गमादादितो न प्रवेशो हितस्तत्र  
संवत्सरांतोऽवधिः कीर्तितः ॥” इति । अश्वमेधे तु नायं कालनियम  
इति ‘चूडाव्रतं च’ इत्यत्र ग्रन्थकृद्वदति ।

विवाहानन्तरं चौलोपनयनव्रतसमावर्तनानि कार्याणि उक्तका-  
लमध्ये—

निजकुल इति । स्ववंशे पुत्रस्य कन्याया वा मंडनाद्विवाहा-  
न्मुण्डनं चौलमुपनयनं महानाम्न्यादिब्रतचतुष्टयं समावर्तनं वा तद्व-  
त्पणमासांतर्न कार्यम् । यदाहात्रिः—“कुले ऋतुत्रयादव्दार्धमंडनाच्च  
तु मुंडनम् ” इति । तस्मान्मुंडनान्मंडनं कार्यम् । यदाह नारदः—“मुं-  
डनान्मंडनं कार्यं मंडनान्नैव मुंडनम् ” इति । तथा कन्याविवाहादनन्तरं  
पुत्रस्य विवाहः कार्यः । वसिष्ठः—“पुत्रीविवाहात्परतः सदैव शुभप्रदं  
पुत्रविवाहकर्म ” इति ।

एकोदरयोस्सहोदरकन्यके न देये—

न चेति । सहजयोः सोदरयोर्भ्रात्रोस्सहोदरकन्यके न देये नोद्वाहो ।



उक्तं च नारदेन—“ न चैकजन्मनोः पुंसोरेकजन्ये तु कन्यके । नूनं कदा चिदुद्वाहो नैकदा मुण्डनद्वयम् ॥ ” इति । “ एकजन्ये तु कन्ये द्वे पुत्रयो नैकजन्ययोः ” इति वसिष्ठोक्तेश्च । अत्र चकारोनुक्तसमुच्च-  
यार्थः । तेनैकस्मै वराय सहोदरकन्याद्वयमपि न देयमित्यर्थः । “ न पुत्रीद्वयमेकस्मै प्रदद्यात्तु कदाचन ” इति वसिष्ठोक्तेः ।

प्रत्युद्वाहो न कार्यः—

नारदोपि “ प्रत्युद्वाहो नैव कार्यो नैकस्मै दुहितृद्वयम् ” इति । प्रत्युद्वाहो विनिमयविवाहः मत्पुत्राय चेत्यया कन्या दीयते तदा मयापि त्वत्पुत्राय कन्या देयेत्येवं पणबन्धरूपः । कान्य-  
कुञ्जभाषया गुरावट् इत्याहुः । एतादृशः पणबन्धो भगिन्यादि-  
दानेपि द्रष्टव्यः ।

एकोदरयोः षण्मासाभ्यन्तरे समानसंस्कारौ न विधेयौ—

न सहजसुतोद्वाहोऽव्दार्द्ध इति । सुतश्च सुतश्च सुतौ । ‘ सखा-  
णाम् ’ इत्येकशेषः । सुता च सुता च सुते । पूर्ववदेकशेषः । सुता च सुतश्च  
सुतौ । “ पुमान्स्त्रिया ” इत्येकशेषः । सुतौ च सुता च इति कृतैकशेषाणां  
द्वन्द्वः । अत्रापि ‘ पुमान्स्त्रिये ’ त्येकशेषः । सहजाश्च ते सुताश्चेति कर्म-  
धारयः । तेषां सोदरभ्रातृणां विवाहः अव्दार्धे वर्षाद्धिं सौरषण्मा-  
समध्ये न कार्यः । यदाह नारदः—“ विवाहस्त्वेकजन्यानां षण्मासाभ्य-  
न्तरे यदि । असंशयं त्रिभिर्वर्षैस्तत्रैका विधवा भवेत् ॥ ” विवाह इत्युप-  
लक्षणम् । तेन समानसंस्कार एकमातृजयोः पुत्रयोर्वा न कार्य इत्य-  
र्थः । तथा च वृद्धमनुः—“ एकमातृजयोरेकवत्सरे पुरुषस्त्रियोः ।  
न समानक्रियां कुर्यान्मातृभेदे विधीयते ॥ ” इति । समानक्रियां चूडाकर-  
णादिका एकवर्षमध्ये निषिद्धेत्यर्थः । एकवत्सर इति कालसावका-  
शद्योतनाय षण्मासमध्ये तु सर्वथैव न कार्या । “ विवाहस्त्वेकजन्यानां  
षण्मासाभ्यन्तरे यदि ” इत्यनुपदोक्तनारदवाक्यस्वरसात् ।

यमलयोः षण्मासाभ्यन्तरेपि समानसंस्कारौ विधेयौ—

यमलजातयोस्त्वपत्ययोर्नियतकालानां जातकर्माद्येककर्मणामेकक्रि-  
यात्वेपि निषेधाभावः वर्षभेदेन तदसम्भवात् । नन्वत्र पुरुषस्त्रियोरित्युक्ते  
पुरुषकन्ययोरेव समानक्रियानिषेधोवगम्यते न द्वयोः कन्ययोः पुत्रयो-

वैति । न च पुरुषौ च स्त्रियौ चेति द्वन्द्वे कृते द्वयोः पुत्रयोः कन्ययोर्वा निषेधः सेत्स्यतीति वाच्यम् । यतः 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इति न्यायात् पुत्रकन्ययोरनिषेधः स्यात् । आवृत्त्या विवक्षितार्थसिद्धिश्चेति चेन्न । आवृत्तौ प्रमाणाभावात् । किं च पुरुषौ च स्त्रियौ चेति कृतैकशेषयोः पुरुषयोः स्त्रियोश्चेति "चार्थे द्वन्द्वः" इति द्वन्द्वे चतुष्ठापत्तौ द्विवचनानुपपत्तेः । ननु "युगपदधिकरणवचनो द्वन्द्वः" इति वार्तिककारवचनात् धवौ च खदिरौ च धवखदिरावित्यादावन्योन्यसाहित्यप्रतिपत्तये द्विवचनबहुवचनान्तेनैव द्वन्द्वान्तःपातिना सर्वेण पदेन विगृहीतव्यमिति । अत एव द्वन्द्वापवादके एकशेषसूत्रे महाभाष्यकृतापि सहविवक्षायामेकशेष इत्येकः षष्ठः पक्षः उपपन्नस्ततः । तत्र तेनैवाशङ्क्य समाहितं "न तर्हीदानीमिदं भवति । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ वृक्षाश्च वृक्षाश्च वृक्षा इति । नैतत्सहविवक्षायां भवति तथापि "निदर्शयितुं बुद्धिरेव निदर्शयितव्या" इति । अतः कृतसाहित्यप्रतिपादनयोः पुरुषयोः स्त्रियोश्च द्विवचनान्तयोर्द्वेनैव बहुवचनोपपत्तिः । एवं सति पुत्रकन्ययोः सोदरयोः समानक्रियानिषेधो न तु पुत्रयोर्द्वयोः स्त्रियोश्चेति । वस्तुतस्तु तत्रैकवचनांतपदविग्रह एव । साहित्यप्रतिपत्तिस्तु द्वन्द्वतात्पर्यादुपपन्नेति नानेकपदलक्षणादिक्लेशः सोढव्यः इत्येतत्प्रपञ्चितं तन्त्ररत्ने महतायासेन । महाभाष्यकृदुक्तिस्तु द्वयादीनामेव परस्परसाहित्येन द्विवचनाद्यर्थसम्पत्तौ वचनांतरानवसरप्रतिपादिकेत्यभियुक्ताः । तथा च प्रागुक्तश्चतुष्ठापत्तिरूपो दोषः स्यादेवेति । अस्त्विति चेन्न । एकमातृजयोरिति द्विवचनानुपपत्तिः स्यात् । तत्रापि बहुवचनमस्तु । एकमातृजातानामेकवत्सरे पुरुषाणामिति चेन्न । उभयथापि छन्दोभङ्गदोषोपपत्तेः । किं च यद्ययमर्थो विवक्षितः स्यात्तदा छन्दोभङ्गदूषणमपहाय स्पष्टैरेव पदान्तरैर्नारदादिवाक्यवन्निषेधं कुर्यात् । अत्र ब्रूमः । एकमातृजयोः सोदर्ययोः ययोः कयोश्चित्समानक्रियानिषेध इत्येतावानस्य वचसोऽर्थः । द्विवचनोपादानं तु द्वयोरपि निषेधो यथा स्यात् । तत्र कैमुतिकन्यायेन त्रयाणां सोदराणामर्थान्क्षिप्त एव निषेधः । पुरुषस्त्रियोरिति तु पदं दृष्टान्तार्थम् । नारदादिवाक्ये तु बहुवचनोपादानं बहूनामपि सोदराणां संग्रहार्थम्, नतु बहुत्वविवक्षायां बहूनामेव सोदराणां निषेधार्थम् । तेन द्वयोर्बहूनां वा सोदराणां निषेधः



सिद्ध्यति । अत एव पराशरोपि—“एकोदरप्रसूतानामेकस्मिन्वत्सरे यदि । पाणिग्रहो भवेन्नूनं तत्रैका विधवा भवेत् ॥” इति ॥

अथैकदा एकोदरयोरुपनयनसंस्कारो न विधेयः—

तुल्यन्यायत्वाद्यज्ञोपवीतसंस्कार्यत्वाद्द्वयोरन्यतरस्य नाश इत्यर्थः ।  
‘नैकदा मुंडनद्वयम्’ इति वसिष्ठोक्तेः । एकदा एकस्मिन्वर्षे  
मुंडनं चौलमुपनयनं वा ।

सोदरस्त्रिपुंसयोर्विवाहोपनयनयोरिति स्त्रीणामुपनयनं

तत्र प्राप्नोतीत्यादिविचारः—

ननु कन्याविवाहकाल एव उपनयनं निर्णीयते । यदाह हरीतः—  
“द्विविधः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनी-  
नामुपनयनं वेदाध्ययनं भिक्षाचर्या च । सद्योवधूनां तु उपस्थिते  
विवाहः कार्यः” एवं सति सोदरकन्याविवाहस्य सोदरपुत्रोपनयनस्य  
च समानसंस्कारत्वात्तयोरेकवर्षे निषेधः स्यात् । उच्यते “गर्भा-  
ष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यम्”  
इति अन्यच्च—“वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि  
वैश्यम्” इति आपस्तंबादिसूत्रेषु—

“स्वकुलाचारधर्मज्ञो माघमासे तु फाल्गुने ।

विधिज्ञश्चार्थवाञ्छैत्रे वेदवेदांगपारगः ॥

वैशाखे धनवान्वेदशास्त्रविद्याविशारदः ।

उपनीतः कुलाढ्यः स्याज्ज्येष्ठे विधिविदांवरः ॥” इति ।

नारदसंहितास्वपि ब्राह्मणादिवर्णात्रयग्रहणात्पुंलिंगस्याविवक्षितत्वा-  
च्च स्त्रीशूद्राणां व्रतबन्धनिषेधागवमात् । यानि तु—“विप्राणामुपनयनं  
वसन्तसमये धराधिनाथानाम् । ग्रीष्मर्तौ शरदि त्रिंशं मासाः  
साधारणाश्च माघाद्याः ॥” इति वसिष्ठादिवाक्यानि पुंस्त्रीसा-  
धारणानि प्रतीयन्ते, तानि नारदवाक्यकयैतावलात्पुंविषयकोऽप्येव ।  
ब्राह्मण्यश्च विप्राश्च विप्रा इति “पुमान्स्त्रियौ” इत्येकशेरो प्रमाणाभावः ।  
अत एव याज्ञवल्क्यः—

“गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्यन्दनात्परा ।

पष्ठेष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म च ॥

अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम् ॥

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।”

इत्युक्त्वा मध्ये चोपनयनं विहाय “तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समंत्रकः” इत्याहस्म । ततः “गर्भाष्टमेष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् । राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥” इत्युपनयनमुवाच । यद्येषोभिप्रायोऽनभिमतः स्यात्तदा ‘चूडा कार्या यथाकुलम्’ इत्यस्याग्रे ‘गर्भाष्टमे’ इत्येकं पद्यमुक्त्वा “एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् । तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समंत्रकः” इत्यवदयत् । अतः स्त्रीणामुपनयनं नास्त्येव । यत्तु प्रागुक्तं हरीतवाक्यं तत्कल्पांतरविषयम् । यदाह यमः—

“पुरा कल्पे हि नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।

अध्यापनं च वेदानां सावित्रीप्रहरणं तथा ॥

पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः ।

स्वगृहे चैवकन्याया मैत्रचर्या विधीयते ॥” इति ।

ननु यद्यपि मुख्यमुपनयनं स्त्रीणां नास्ति । तथापि आतिदेशिकमस्ति । यदाह मनुः—“वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः परः । पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थेऽग्निपरिक्रिया ॥” इति । या तेन समानक्रिया सेत्स्यतीति, सत्यम् । अतिदेशोयमुपनयनधर्मप्राप्त्यर्थः । यथा ब्राह्मणादीनामुपनयनात्प्राक् कामचारकामवादकामभक्षाद्याचाराणामदोषतास्ति तदनंतरं तूपनयनधर्माणां संख्यास्नानादीनां प्राग्धर्मनिरसनपूर्वकमनुष्ठानं यथास्ति तथा स्त्रीणामपि विवाहात्प्राक् कामचारादिधर्मा न दोषं कुर्वन्ति । विवाहस्य तद्विज्ञत्वसिद्धिकरत्वादनुष्ठिते विवाहे कामचारादिधर्मनिरासपूर्वकं ‘पतिसेवा गुरौ वासः’ इत्यादिकमनुष्ठानं भवेदिति । तन्वतिदेशेन स्त्रीणामुपनयनधर्मप्रापणमस्तु समानसंस्कारत्वमप्युच्यते, नात्र समानशब्दः सदृशार्थकः । तेन तद्विज्ञत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यमिति सादृश्यलक्षणाद्यथाकथंचित्सर्वत्र सादृश्यसम्भवेन विजातीयसंस्काराणामपि चौलाग्रप्राशनानां सोदरपुत्रातृसम्बन्धिनां निषेधप्रसङ्गात् शिष्टाचारविरोधाच्च । किं त्वेकशब्दपर्यायः सदृशशब्दस्तेनैकजातीयक्रियानिषेधः । उपनयनत्वेन विवाहत्वेन वैकजा-



तीयत्वम् । एवं सर्वेष्वपि कर्मसु एकजातीयत्वं द्रष्टव्यम् । तस्मात् सोदरपुत्रकन्यासम्बन्धिनोर्विवाहोपनयनयोः समानसंस्कारत्वाभाव इत्येव सिद्धान्तः फलितः । अतः षारमासिको निषेधस्तयोर्नास्ति । तेनात्र प्रथमं पुत्रोपनयनं विधाय यथावकाशं कन्याविवाहः सुखेन कार्यः । तस्मादेकमातृजयोः पुत्रयोः कन्ययोः पुत्रकन्ययोर्वा विवाहादिरूपः समानक्रियानिषेधः षारमासमध्येऽस्त्येव ।

अथ भिन्नमातृजभ्रातृभगिन्योर्नायं निषेधः—

केचित्तु कन्याविवाहादनन्तरं द्वितीयकन्याविवाहः समनन्तरमेव दोषाभावात्सुखेन कार्यं इत्याहुः । यदुक्तं गर्गेण—“पुत्री-परिणयादूर्ध्वं यावद्दिनेचतुष्टयम् । पुज्यन्तरस्य कुर्वीत नोद्वाहमिति सूरयः ॥” इत्याहुः । तन्न । भिन्नमातृविषयत्वाद्गर्गवाक्यस्य पूर्वोक्तपराशरवाक्यस्वरसात् । “समानापि क्रिया कार्या मातृभेदे तथैव च । विवाहे दुहितुः कार्यो न विवाहश्चतुर्दिनम् ।” इति नारदोक्तेश्च ।

एकोदराणां न मङ्गलत्रयं काय पूर्वोक्तकालाभ्यन्तरे—

वसिष्ठेन तु विशेषोभिहितः—“एकोदरप्रसूतानां नात्र कार्यत्रयं भवेत् । भिन्नोदरप्रसूतानां नेति शातातपोब्रवीत् ।” इति । चौलोपनयन-विवाहरूपं कार्यत्रयम् । तदुक्तं च्यवनेन “आदौ चौलं ततो मौजी विवाहश्च शुभप्रदः । मातृभेदे बुधैरुक्तो मातुरैक्ये न कर्हिचित् ॥” इति । भिन्नोदरयोरपि भगिनीभ्रात्रोर्मङ्गलद्वये मण्डपाचार्यभेदाद्यावश्यकता—

एवं स्थिते भिन्नोदरमङ्गलं सत्यावश्यकत्वे एकस्मिन्मण्डपे न कार्यम् । किं च गृहभेदादाचार्यभेदाद्वा कार्यम् । यदाह वसिष्ठः—“द्विशोभनं त्वेकगृहेऽपि नेष्टं शुभं तु पञ्चाश्वभिर्दिनैश्च । आवश्यकं शोभन-मुत्सुको वा द्वारेथवाचार्यविभेदतोऽपि ॥” इति । द्वारे द्वारभेदे ।

यमलविषये मण्डपाचार्यभेदादीनामावश्यकता नास्ति—

यमलजातयोस्त्वयमपि निषेधो नास्ति । “एकस्मिन्वत्सरे प्राप्ते कुर्याद्यमलजातयोः । क्षौरं चैव विवाहं च मौजीवन्धनमेव च ॥” इति पराशरोक्तेः । क्षौरं चौलम् । भट्टकारिकायां च—“एकस्मिन्वत्सरे चैव वासरे मण्डपे तथा । कर्तव्यं मङ्गलं स्वस्रोभ्रात्रोर्यमलजातयोः ॥” इति ।

ज्येष्ठानुक्रमेण संस्कारः यमलविषये, ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वनिर्णयश्च—

तत्रापि ज्येष्ठानुक्रमेण—“जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि

स्मृतम् । यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता मता ॥” इति मनूक्तेराद्यो-  
त्पन्नस्य ज्येष्ठत्वम् । देवलोपि—“यस्य जातस्य यमयोः पश्यति प्रथमं  
मुखम् । सन्तानः प्रथमश्चैव तस्मिन्ज्यैष्ठ्यं प्रतिष्ठितम् ॥” इति । स-  
न्तानो वंशः ।

श्राद्धानन्तरमेव मङ्गलकृत्यं न मङ्गलकृत्यमध्ये श्राद्धम्—

शुभे इति । शुभे विवाहादिमङ्गलकृत्ये पितृक्रिया श्राद्धक्रिया  
न कार्या । विशेषेणाभिधानात् कुलेयं निषेधः । ‘मङ्गलेनाप्यम-  
ङ्गलम्’ इति नारदोक्तैः । अमङ्गलं श्राद्धं तु समाप्ते एव मङ्गले का-  
र्यमित्यर्थः । अथवा श्राद्धदिने समीपस्थिते तदन्तरं लग्नं निर्धार्य  
विवाहादिमङ्गलकृत्यं कार्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथान्यत् प्रतिकूलदोषमुपजातिकयाह—

वध्वा वरस्यापि कुले त्रिपुरुषे

नाशं व्रजेत्कश्चन निश्चयोत्तरम् ।

मासोत्तरं तत्र विवाह इष्यते

शान्त्याथवा सूतकनिर्गमे परैः ॥१७॥

वध्वा इति । निश्चयोत्तरं वाग्दानानन्तरं यदि वध्वाः कन्यायास्तथा  
वरस्यापि कुले वंशे तत्रापि त्रिपुरुषमध्ये कश्चन सपिएडो नाशं व्र-  
जेत् प्राप्नुयात्तत्र मासोत्तरं मरणदिनादारभ्य त्रिंशदिनं प्रातिकूल्यं  
ततः शान्त्या स्वनुष्ठितया विवाहः सुखेनेष्यते । उक्तं च स्मृतिचन्द्रि-  
कायाम्—“कृते वाङ्निश्चये पश्चान्मृत्युर्भवति गोत्रिणः । तदा न मङ्गलं  
काय नारीवैधव्यदं ध्रुवम् ॥” इति । विशेषमाह मेधातिथिः—“पुरुष-  
त्रयपर्यन्तं प्रतिकूलं सगोत्रिणाम् । प्रवेशनिर्गमौ तद्वत्तथा मुण्डनमण्ड-  
ने ॥” इदं तु पित्रादिभिन्नविषयं द्रष्टव्यम् । उक्तं च माण्डव्येन—“अ-  
न्येषां तु सपिएडानामाशौचं माससम्मितम् । तदन्ते शान्तिकं कृत्वा ततो  
लग्नं विधीयते ॥” इति ।

प्रातिकूल्यस्य चलवत्ता वर्षषणमासत्रयैकमासपर्यन्तम्—

पित्रादिमरणे तु विशेषमाह शौनकः—“वरवध्वाः पिता माता पि-  
तृव्यश्च सहोदरः । एतेषां प्रातिकूल्यं च महाविघ्नप्रदं भवेत् ॥” इति ।



“पिता पितामहश्चैव माता वापि पितामही । पितृव्यः स्त्री सुतो भ्राता भगिनी वा विवाहिता । एभिरेव विपन्नैश्च प्रातिकूल्यं बुधैः स्मृतम् ॥” इति । “अन्यैरपि विपन्नैश्च केचिद्वचुर्न तद्भवेत् ।” उक्तेभ्योन्यैः । प्रातिकूल्यस्य नियतं कालमाह माण्डव्यः—

“वाग्दानानन्तरं यत्र कुलयोः कस्यचिन्मृतिः ।  
तदा संवत्सरादूर्ध्वं विवाहः शुभदो भवेत् ॥  
पितुराशौचमब्दं स्यात्तदर्थं मातुरेव हि ।  
मासत्रयं च भार्यायास्तदर्थं भ्रातृपुत्रयोः ॥”

दैवज्ञमनोहरे विशेषः—

“प्रातिकूल्ये सपिण्डस्य मासमेकं विवर्जयेत् ।  
विवाहस्तु ततः पश्चात्तयोरेव विधीयते ॥  
दुर्भिक्षे राष्ट्रभंगे च पित्रोर्वा प्राणसंशये ।  
प्रौढायामपि कन्यायां प्रातिकूल्यं न दुष्यति ॥” इति ।

मेधातिथिः—

“दीर्घरोगाभिभूतस्य दूरदेशस्थितस्य च ।  
उदासवर्तिनश्चैव प्रतिकूलं न विद्यते ॥  
सङ्कटे समनुप्राप्ते याज्ञवल्क्येन योगिना ।  
शान्तिरुक्ता गणेशस्य कृत्वा तां शुभमाचरेत् ॥  
अकृत्वा शान्तिकं यस्तु निषेधे सति दारुणे ।  
यः करोति शुभं तावद्विघ्नस्तस्य पदेपदे ॥” इति ।

आवश्यकत्वे स्वाशौचनिवृत्तौ शान्तिं कृत्वा मासमध्येऽप्युद्वाहः कार्यः—

आवश्यकत्वेऽपवादमाह—अथवेति । स्वस्ववर्णपुरस्कारेणाशौचनिर्गमे मरणाशौचनिर्गमे सति शान्त्या च स्वनुष्ठितया विवाहः कार्य इति परैराचार्यैरिष्यते । यदाह मेधातिथिः—“प्रोक्तकार्याण्यनिर्वर्त्य चरेन्नाभ्युदयक्रियाम् ” इति । ज्योतिःप्रकाशेऽपि—“प्रातिकूल्येऽपि कर्त्तव्यो विवाहो मासमन्तरा । शान्तिं विधाय गां दत्त्वा वाग्दानादि चरेद्बुधः ॥” इति । सत्यावश्यकत्वे स्वस्वाशौचादनन्तरं मासमध्येऽपि शान्तिं विधाय विवाहः कार्य इत्यर्थः । पुरुष इत्यत्र “अन्येषामपि दृश्यते ” इति दीर्घः ‘पुरुषा नराः’ इत्यमरश्च ॥ १७ ॥

अथ प्रवेशनिर्गमौ तद्वत्तथा मुंडनमंडने' इति प्रागुक्तमेधातिथिरु-  
कोत्तरार्द्धपदार्थं सापवादमुपजातिकयाह—

चूडावृतं चापि विवाहतो वृता-  
च्चूडा च नेष्टा पुरुषत्रयान्तरे ।  
वधूप्रवेशाच्च सुताविनिर्गमः

षण्मासतो वाब्दविभेदतः शुभः ॥१८॥

चूडेति । चूडा चौलं व्रतमुपनयनं च अपिशब्दान्महानाम्न्यादि-  
समावर्त्तनं च विवाहात्परतः पुरुषत्रयांतर एव नेष्टम् । तथा व्रतादुपन-  
यनाच्चूडा पुरुषत्रयपर्यन्तं नेष्टा । तथा वच्चाः स्नुषायाः प्रवेशादनन्तरं  
कन्यायाः विनिर्गमोपि पुरुषत्रयपर्यन्तं नेष्टः । एतन्मूलवाक्यं ' पुरुषत्रय-  
पर्यन्तम् ' इत्यादि, ' आदौ चौलं ततो मौजी ' इत्यादि च प्राग्लिखि-  
तम् । तस्मान्मूलपुरुषस्य चतुर्थत्वादौ नायं दोषः । स चायं दोषः  
पुरुषत्रये षण्मासपर्यन्तमेव । अतः षण्मासत इति मासषट्कानन्तरमयं  
व्यत्यस्तोपि विवाहादिः सर्वो विधिः शुभः । एतन्मूलवाक्येपि ' कुले  
ऋतुत्रयादवाक् ' इत्यादि प्रागुक्तम् ।

अब्दभेदे तु षण्मासाभ्यन्तरेपि विवाहः—

अत्रापवाद उच्यते । वाब्देति । वा अथवाऽब्दभेदात् वर्षभेदात्  
षण्मासमध्येपि शुभः । यथा माघे मासि विवाहो वैशाखे चौलं यज्ञोप-  
वीतं वा भवत्येवेत्यर्थः । तदुक्तं संहितासारावल्याम्—“ फाल्गुने  
चैत्रमासे तु पुत्रोद्वाहोपनायने । भेदादब्दस्य कुर्वीत नर्त्तुत्रयविलं-  
घनम् ॥ ” इति । अत्र फाल्गुनपदं प्रागब्दगतमासांतरस्याप्युपलक्षण-  
म् । चैत्रपदं चोत्तरवर्षगतवैशाखाद्युपलक्षणम् । तत्र कैमुतिकन्या-  
येन यत्र स्वल्पं कालान्तरं तत्रापि निषेधाभावस्ततोऽधिकव्यवधाने  
किं वाच्यम् । अब्दभेदस्यैव प्रयोजकत्वात् ॥ १८ ॥

अथ प्रसङ्गान्मूलादिदुष्टनक्षत्रोत्पन्नयोर्वधूवरयोः श्वशुरादिपीडकत्वं  
वसन्ततिलकयाह—

श्वश्रूविनाशमहिजौ सुतरां विधत्तः  
कन्यासुतौ निर्ऋतिजौ श्वशुरं हतश्च ।



ज्येष्ठाभजाततनया स्वधवाग्रजं च

शक्राग्निजा भवति देवरनाशकर्त्री ॥१६॥

श्वश्रूविनाशमिति । अहिजावाश्लेषोत्पन्नौ कन्यासुतौ श्वश्रूः साक्षाद्भुतुर्मातुर्विनाशं विधत्तः कुतः । तथा निष्कृतिजौ मूलोत्पन्नौ कन्यासुतौ श्वशुरंहतो मारयतः । उक्तं च वसिष्ठेन—“नैष्कृत्यभोद्धृतसुतः सुता वा क्षिप्रादवश्यं श्वशुरं निहन्ति । तदन्त्यपादे जनितो निहन्ति नैवोक्तमेणाहिभवः कलत्रम् ॥” इति । अहिभव इति पुंस्त्वमविवक्षितम् । सुतः सुता वेति पूर्वोक्तेः । “मूलजा श्वशुरं हन्ति व्यालजा च तदङ्गनाम्” इति नारदोक्तेश्च । तस्य श्वशुरस्यांगनां पत्नीम् । वरस्य कन्याया वा साक्षान्मातरं न तु सापत्नमातरं हन्तीत्यर्थः । तदेव स्पष्टमुक्तं वसिष्ठेन—“जनकं जननीं हन्ति भक्तुर्मूलाहिधिष्यजा ।” इति । तुल्यन्यायत्वात्कन्याया अपि साक्षान्मातरम् ।

ज्येष्ठाविशाखानक्षत्रजा पत्युर्भ्रातृहन्त्री—

ज्येष्ठेति । ज्येष्ठानक्षत्रोत्पन्ना कन्या स्वधवाग्रजं भर्तुर्ज्येष्ठभ्रातरं हन्ति । शक्राग्निजा विशाखानक्षत्रोत्पन्ना कन्या देवरस्य भर्तुः कनिष्ठवन्धोर्नाशकर्त्री भवति । यदाह वसिष्ठः—“सुरेशताराजनिता धवाग्रजं द्विदेवताराजनिता तु देवरम् ।” इति । हन्तीत्यनुवर्तते । नारदोपि—“ऐन्द्री पत्यग्रजं हन्ति देवरं तु द्विदेवजा ।” इति ॥ १६ ॥

अथ विशाखामूलाश्लेषोत्पन्नप्रोक्तदोषापवादमनुष्टुभाह—

द्वीशाद्यपादत्रयजा कन्या देवरसौख्यदा ।

मूलान्त्यपादसार्पाद्यपादजातौ तयोः शुभौ ॥ २० ॥

द्वीशेति । द्वीशं विशाखा, अन्यत्पूर्वार्द्धे स्पष्टमेव । यदाह च्यवनः—“विशाखा तुलया युक्ता देवरस्य शुभावहा । विशाखावृश्चिकोद्धृता देवरं हन्त्यसंशयम् ॥” इति । वृद्धनारदोपि—“न हन्ति देवरं कन्या तुलामिश्रद्विदेवजा । चतुर्थपादजा त्याज्या दुष्टा वृश्चिकपुच्छवत् ॥” तस्माद्विशाखाचतुर्थपादे निषेधः फलित इत्यर्थः ।

मूलस्य चतुर्थे आश्लेषाया आद्यचरणे उत्पन्नयोर्विषये च

न दोषो विवाहे—

मूलेति । तयोः श्वशुरश्वश्रूः । मूलचतुर्थचरणोत्पन्नौ तौ कन्यासुतौ

श्वशुरयोः सौख्यदौ । आश्लेषाद्यचरणोत्पन्नौ कन्यासुतौ श्वश्रुः सौख्य-  
दौ । तदुक्तं नारदेन—“सुतः सुता वा नियतं श्वशुरं हन्ति मूलजा ।  
तदन्यपादजो नैव तथाश्लेषाद्यपादजः ॥” अत्र पुंस्त्वमविवक्षितम् ।  
हेतुः स एव ॥ २० ॥

इति वधूवरयोर्विवाहे सामान्यतो गुणदोषविचारः ।

अथैवं वधूवरयोः सामान्यतो गुणदोषविचारं निरूप्य मेलकसम्ब-  
न्धी विचारः प्रस्तूयते । तत्र केचिद्दशकूटान्याहुः । तदाह नारदः—

“दिनं गणं च माहेन्द्रं स्त्रीदीर्घं योनिरेव च ।

राशिराश्यधिपौ रज्जुर्वश्यं वेधो दश स्मृताः ॥

पुनश्च वर्णकूटं च माहेन्द्रं च ततः परम् ।

एते द्वादशयोगाश्च प्रीतिभेदाः प्रकीर्तिताः ॥” इति ।

अन्येष्टादशकूटान्याहुः । यदाह गर्गः—

“माहेन्द्रं गणकूटं च दिनकूटं च योनिजम् ।

स्त्रीदीर्घं रज्जुकूटं च वश्यं वर्णाख्यकूटकम् ॥

राशिराश्यधिपाख्ये च वेधो नाड्याख्यकूटकम् ।

भूतलिङ्गाख्यकूटं च जात्याख्यं पक्षिकूटकम् ॥

योगिनीगोत्रकूटं च कूटान्यष्टादशैव तु ।

दम्पत्योर्वृद्धिकारीणि यत्नाच्चिन्त्यानि शास्त्रतः ॥” इति ।

तत्र दशकूटानां तत्तद्देशविशेषप्रसिद्धत्वात्तानि विहाय सर्वदेशप्रसि-  
द्धान्यष्टकूटानि सलक्षणानि विवक्षुरादौ तान्यनुष्टुप्छन्दसाह—

वर्णो वश्यं तथा तारा योनिश्च ग्रहमैत्रकम् ।

गणमैत्रं भकूटं च नाडी चैते गुणाधिकाः ॥ २१ ॥

वर्ण इति । एते राशिकूटभेदा वर्णादिमैत्र्यां सत्यां गुणाधिका एका-  
दिगुणाधिकाः स्युः ।

कूटभेदेन गुणभेदा—

यथा वर्णमैत्र्यामेको गुणः, वश्ये द्वौ गुणौ, तारायां त्रयो गुणाः,  
योनिमैत्र्यां चत्वारः, ग्रहमैत्र्यां पञ्च, गणमैत्र्यां षट्, सन्नकूटे सप्त, ना-  
डीभेदेऽष्टावित्यर्थः । तदुक्तम्—“वर्णो वश्यं तारायोनिग्रहगणभकूटनाडि-



काश्चेति । हेया यथोत्तरं ते बलिनः स्त्रीपुंसयोर्घटने ॥” इति स्त्रीपुंस-  
योरिति ‘अचतुर’ इत्यादिना निपातितः । दैवज्ञमनोहरेपि—

“नाडीभेदे गुणा अष्टौ सप्त सद्राशिकूटके ।

षड्गुणा गणमैत्र्यां च सौहार्दे पञ्च खेटयोः ॥

योनिमैत्र्यां च चत्वारस्ताराबले गुणाः ।

वश्यत्वे द्वौ गुणौ प्रोक्तौ वर्ण एकः प्रकीर्तितः ॥” इति ॥ २१ ॥

अथ प्रतिज्ञाक्रमेण वर्णकूटं तावत्प्रमाणिकयाह—

द्विजा भूषालिकर्कटास्ततो नृपा विशोऽङ्घ्रिजाः ।

वरस्य वर्णतोऽधिका वधूर्न शस्यते बुधैः ॥ २२ ॥

द्विजा इति । मीनवृश्चिककर्कराशयो द्विजा ब्राह्मणाः, ततो नन्तर-  
मन्ये मेषसिंहधनूराशयो नृपाः क्षत्रियाः, वृषकन्यामकरा विशो वै-  
श्याः, मिथुनतुलाकुम्भाः अङ्घ्रिजाः शुद्राः । ततश्च वधूवरराशयोर्वर्णौ  
ज्ञात्वा वरस्य वर्णतो ब्राह्मणादिकाद्वधूरधिका ज्येष्ठवर्णा बुधैर्न शस्यते ।  
किन्तु समा हीना वा शस्यत इत्यर्थः । यदाह नारदः—

“भूषालिकर्कटा विप्रास्तदूर्ध्वाः क्षत्रियादयः ।

पुंवर्णराशौ स्त्रीराशौ समे हीने तथा शुभम् ॥

वर्णज्येष्ठा तु या नारी वर्णहीनस्तु यः पुमान् ।

विवाहं यदि कुर्वीत तस्या भर्ता विनश्यति ॥”

वर्णकूटे गुणसंख्या—

अत्रैको गुणो वर्णाधिके वरे वर्णहीने तु गुणाभावः । तदुक्तं दैवज्ञ-  
मनोहरे—“एको गुणः सद्गवर्णं तथा वर्णोत्तमे वरे । हीनवर्णे वरे शून्यं  
केन्याहुः सदृशे दलम् ॥” इति । दलमर्द्धम् ॥ २२ ॥

अथ वश्यकूटमिन्द्रवज्रयाह—

हित्वा मृगेन्द्रं नरराशिवश्याः

सर्वे तथैषां जलजाश्च भक्ष्याः ।

सर्वेऽपि सिंहस्य वरो विनालिं

ज्ञेयं नराणां व्यवहारतोऽन्यत् ॥ २३ ॥

हित्वेति । नरराशयो मिथुनकन्यातुला एषां सर्वेपि मेषादयः सिंहं त्यक्त्वा वश्याः । ननु मनुष्याणां च जलचराः कथं वश्या यत उभयोः सहावस्थानाभाव इत्यत आह—तथेति । एषां नरराशीनां जलजाः कर्ममकरकुम्भमीनास्तु भक्ष्याः किं पुनर्वश्या इति सूचयितुं तुलुशब्दः । सिंहस्य वशे अलि वृश्चिकं विना सर्वे राशयो वश्याः । अन्यदनुक्तं चतुष्पदानां जलचराणां चतुष्पदजलचराणां वा परस्परं वश्यावश्यत्वं नराणां मनुष्याणां व्यवहारतो ज्ञेयम् । यदाह वसिष्ठः—“वश्यास्त्यक्त्वा राशयोन्ये नृमाणां सिंहं तस्याप्येकमन्ये विधेयाः । कीटं त्यक्त्वा लोकतोऽन्यत्प्रसिद्धं वश्यावश्यं नैव तोयालयाश्च ॥” तोयालया जलचराः अलिश्च ते परस्परं वश्या नैव स्युरित्यर्थः ।

अत्र गुणविभागो दैवज्ञमनोहरेऽभिहितः—

“सख्यं वैरं च भक्ष्यं च वश्यमाहुस्त्रिधा बुधाः । वैरे भक्ष्यगुणाभावो द्वयोः सख्ये गुणद्वयम् ॥ वश्यवैरे गुणस्त्वेको वश्यभक्ष्ये गुणोधिकः ।” इति । यद्यपीदं बधूवरयोः परस्परं तुल्यमेवोक्तम्, तथापि सत्यावश्यकत्वे वरं प्रति भक्ष्यत्वं वश्यत्वं वा स्त्रियोपेक्ष्यं न तु विपरीतम् । ‘वर्णज्येष्ठा तु या नारी’ इत्यनेन समानन्यायत्वात् । अन्योन्यवश्यत्वे तूत्तममेव ॥ २३ ॥

अथ ताराकूटमनुष्टुभाह—

कन्यर्क्षाद्वरं यावत्कन्याभं वरमादपि ।

गणयेन्नवहृच्छेषे त्रीष्वद्रिभमसत्स्मृतम् ॥ २४ ॥

कन्यर्क्षादिति । कन्याजन्मनक्षत्राद्वरनक्षत्रं यावद्गणयेत् । तथा वरनक्षत्रादपि कन्यानक्षत्रं गणयेत् । ततो विशिष्टेऽङ्के नवभिर्भक्ते यद्वशिष्टं तच्च त्रिपञ्चसप्तमितं भवेत्तदाऽसत् अशुभं स्मृतम्, अन्यथा द्विचतुःषडष्टनवमितं चेत्स्यात्तदा शुभमित्यर्थादुक्तं भवति । यदाह नारदः—

“स्त्रीभमारभ्य गणने नव पर्यायितः क्रमात् ।

जन्मत्रिपञ्चसप्तस्थं पुंभ्यः स्याद्वरनाशनम् ॥



पुंभमारभ्य गणने स्त्रीभं जन्मादिके स्थले ।  
स्त्रीविनाशो भवेत्तस्माद्दिनकूटं विवर्जयेत् ॥ ”

दिनकूटं शार्ङ्गयिपि—

“नरक्षार्द्राण्येद्यावत्कन्यर्क्षं कन्याभादपि ।

वरभं नवहृच्छेषास्ताराः सन्ति परस्परम् ।

त्यक्त्वा त्रिपञ्चसप्ताख्याः शेषोद्वाहे मिथः शुभाः ।” इति ।

यत्तु कश्यपेन—“गणयेत्कन्यकाधिण्यादावृत्त्या वरजन्मभम् ।

जन्मत्रिपञ्चसप्तक्षं हित्वान्यक्षं शुभप्रदम् ॥ ” इति ।

कन्यानक्षत्रादेव गणनोक्ता । अत एव—“भीरुभादचलपञ्चतृतीयाः  
शोकवैरविपदे वरताराः ” इति केशवार्केणाप्युक्तमत्यावश्यकद्योतना-  
र्थम् । तथाहि, द्वयोरपि परस्परनक्षत्रगणने शुभं चेच्छुभमेवाशुभं चेदशु-  
भमेव । तत्रैकस्मादन्यतरनक्षत्रगणनयाऽशुभत्वेपि स्त्रीनक्षत्राद्वरनक्षत्रं  
त्वशुभं नापेक्षितमेवेति भावः ।

अत्र गुणविभागः—

अत्र गुणविभागो दैवज्ञमनोहरे—“ एकतो लभ्यते तारा शुभा चै-  
वाशुभान्यतः । तदा साद्धौगुणश्चैव ताराशुद्ध्या मिथः स्त्रियः ॥  
उभयोर्न शुभा तारा । तदा शून्यं समादिशेत् ॥ ” इति । अत्र यद्यपि  
नारदादिभिर्जन्मतारा निषिद्धेत्युक्तम् । तद्ग्रन्थकृता एकनक्षत्रे  
तावत् ‘राश्यैक्ये चेद्भिन्नमृक्षं द्वयोः स्यान्नक्षत्रैक्ये राशियुग्मं तथैव’ इति  
वक्ष्यमाणत्वान्नोक्तम् । दशमैकोनविंशतितारयोस्तु निषेधो दुष्टभकूटे  
ज्ञेयः । तद्भकूटे तु दोषाभाव इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ योनिकूटं शार्ङ्गलविक्रीडिताभ्यामाह—

अश्विन्यम्बुपयोर्हयो निगदितः स्वात्यर्कयोः कासरः

सिंहो वस्वजपाद्भयोः समुदितो याम्यान्त्ययोः कुञ्जरः ।

मेषो देवपुरोहितानलभयोः कर्णाम्बुनोर्वानरः

स्याद्वैश्वाभिजितोस्तथैव नकुलश्चान्द्राब्जयोन्योरहिः ॥ २५ ॥

ज्येष्ठामैत्रभयोः कुरङ्ग उदितो मूलार्द्रयोः श्वा तथा  
मार्जारोऽदितिसार्पयोरथ मघायोन्योस्तथैवोन्दुरुः ।  
व्याघ्रो द्वीशभचित्रयोरपि च गौरर्थम्णवुध्न्यर्क्षयो-  
र्योनिः पादगयोः परस्परमहावैरं भयोन्योस्त्यजेत् ॥२६॥

अश्विनीति । ज्येष्ठेति च । अश्विनोऽशततारकयोर्हयः अश्वो  
निरुक्तः । स्वातीहस्तयोः कासरो महिषः । 'लुलायो महिषो वाह-  
द्विषत्कासरसैरिभाः' इत्यमरः । वस्वजपाङ्गयोर्धनिष्ठापूर्वाभाद्रपदयोः  
सिंहः, याम्यान्त्ययोर्भरणीरेवत्योः कुञ्जरो हस्ती, पुष्यकृत्तिकयोः मे-  
षोऽजः, कर्णाश्विनोः श्रवणपूर्वाषाढयोर्वानरः स्यात्, उत्तराषा-  
ढाभिजितोर्नकुलः, चान्द्रं मृगः, अञ्जयोनिर्ब्रह्मा, तङ्गं रोहिणी तयोरहिः  
सर्पो योनिः । ज्येष्ठानुराधयोः कुरङ्गो हरिण उदितः, मूलार्द्रयोः श्वा  
कुक्कुरः, तथा पुनर्वस्वाश्लेषयोर्मार्जारः । अथ मघापूर्वाफलगुन्योः  
उन्दुरुः, विशाखात्रिचक्रयोर्व्याघ्रः, उत्तराफलगुनी बुध्न्यर्क्षमुत्तराभाद्रपदा  
तयोर्गौर्योनिः । तथा तथैव अपि चेत्यादयः शब्दाः पादपूरणार्थाः ।

विरुद्धयोर्वैरम्—

फलमाह—पादगयोरिति । एकस्मिन् पादे चरणे उक्तनक्षत्रयोन्योः  
परस्परं महावैरं भवेदन्यथा नेत्यर्थः । यथा 'अश्विन्यम्बुपयोर्हयो नि-  
गदितः स्वात्यर्क्षयोः कासरः' इति पादः । तत्रोक्तयोर्भयोन्योरश्वमहिष-  
योर्महावैरं भवेत् । एवं सिंहहस्तिनोरित्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । यदाह  
वसिष्ठः—“अश्वेभमेषभुजगद्वयकुक्कुरौ तु मेषौ तु मूषकमथोन्दुरुगोलु-  
लायाः । शार्दूलमाहिषगवारिमृगद्वयं श्वा कीशोथ बभ्रूयुगकीशगवाश्व-  
सिंहाः ॥ गोकुञ्जराविति यथाक्रममश्विन्यादिभानां भवन्ति खलु क-  
ल्पितयोनिरूपाः ।” लुलायो महिषः, गवारिव्याघ्रः “अवङ्गस्फोटायनस्य”  
इत्यवङ्गदेशः । कीशो वानरः । बभ्रूर्नकुलः । 'बभ्रूरगं श्वैणमिमेन्द्रसिंह-  
मोत्वाखुसंज्ञं त्वजवानरौ च । गोव्याघ्रमश्वोत्तरमाहिषं च वैरं नृनार्यो-  
नृपमृत्युयोश्च ॥' इति बभ्रूरगमित्यादौ च—“येषां च विरोधः शाश्वति-  
कः” इत्येकवद्भावः ।

योनिदोषाणामपवादः फलानि च—

एतत्फलं सापवादमाहात्रिः—



“एकयोनिषु सम्पत्तयै दम्पत्योः सङ्गमः सदा ।  
 मित्रयोनिषु मध्या स्यादरिभावो न चेत्तयोः ॥  
 योनेरभावे नोद्वाहः सतु कार्यो वियोगदः ।  
 राशिर्वश्यं च यद्यस्ति कारयेन्नतु दोषभाक् ॥” दोषो वियोगरूपः ।  
 योनिकूटे गुणविभागः—

अत्र गुणविभागो दैवज्ञमनोहरे—

“अष्टाविंशतिताराणां योनयस्तु चतुर्दश ।  
 मैत्रं चैवातिमैत्रं च विवाहे नरयोषितोः ॥  
 महद्वैरे च वैरे च स्वभावे च यथाक्रमम् ।  
 मैत्रे चैवातिमैत्रे च खेन्दुद्वित्रिचतुर्गुणाः ॥” इति ॥२५॥२६॥

अथ क्रमप्राप्तां ग्रहमैत्रीं शार्दूलविक्रीडिताभ्यामाह—

मित्राणि द्युमणोः कुजेज्यशशिनः शुक्रार्कजौ वैरिणौ  
 सौम्यश्चास्य समो विधोर्बुधरवी मित्रे न चास्य द्विषत् ।  
 शेषाश्चास्य समाः कुजस्य सुहृदश्चन्द्रेज्यसूर्या बुधः  
 शत्रुः शुक्रशनी समौ च शशभृत्सूनोः सिताहस्करौ ॥२७॥  
 मित्रे चास्य रिपुः शशी गुरुशनिदमाजाः समा गीष्पते-  
 मित्राण्यर्कजेन्दवो बुधसितौ शत्रू समः सूर्यजः ।  
 मित्रे सौम्यशनी कवेः शशिरवी शत्रू कुजेज्यौ समौ  
 मित्रे शुक्रबुधौ शनेः शशिरविदमाजा द्विषोऽन्यः समः २८

मित्राणीति । मित्रेति च । द्युमणोः सूर्यस्य भौमगुरुचन्द्रा मि-  
 त्राणि, शुक्रशनी वैरिणौ, अस्य सूर्यस्य सौम्यो बुधः समः, न  
 शत्रुर्न मित्रम् । एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । विधोश्चन्द्रस्य बुध-  
 रवी मित्रे, च पुनरस्य विधोर्द्विषत् शत्रुर्नास्ति । किन्तु शेषाः  
 मङ्गलगुरुशुक्रशनयः समा एव । भौमस्य चन्द्रगुरुसूर्याः सुहृदः,  
 बुधः शत्रुः, शुक्रशनैश्चरौ समौ । शशभृत्सूनोर्बुधस्य सिताहस्करौ  
 शुक्रसूर्यौ मित्रे, अस्य बुधस्य शशी चन्द्रः शत्रुः, गुरुशनिभौमाः समाः ।

गोष्पतेर्गुरोः सूर्यभौमचन्द्रा मित्राणि, बुधसितौ शत्रू सूर्यजः शनिः समः ।  
कवेः शुक्रस्य बुधशनी मित्रे, चन्द्रसूर्यौ शत्रू, कुजगुरु समौ । शनेः शु-  
क्रबुधौ मित्रे, रविचन्द्रभौमा द्विषः शत्रवः, अन्यो बृहस्पतिः समः ।  
यदाह कश्यपः—

“रवेः समो ज्ञो मित्राणि चन्द्रारेज्याः परावरी ।  
इन्दोर्न शत्रवो मित्रे रविज्ञावितरे समाः ॥  
समौ कुजस्य शुक्रार्की बुधोरिः सुहृदः परे ।  
ज्ञस्य चन्द्रो रिपुर्मित्रे शुक्रार्की इतरे समाः ॥  
गुरोरारेन्दुजा मित्राण्यार्की मध्यः परावरी ।  
भृगोः समाविज्यकुजौ मित्रे ज्ञार्की परौ रिपू ॥  
शनेर्गुरुस्समो मित्रे शुक्रज्ञौ शत्रवः परे ।” इति ।

पतत्फलं सापवादमाह जगन्मोहने वसिष्ठः—

“अन्योन्यमित्रं शस्तं स्यात्सममित्रं तु मध्यमम् ।  
उदासीनं कनिष्ठं स्यान्मृतिदं शात्रवं स्मृतम् ॥  
शत्रुमित्रं च विज्ञेयं दंपत्योः कलहप्रदम् ।  
अन्योन्यसमशत्रुत्वं दंपत्योर्विरहप्रदम् ॥” विरहो वियोगः ।

अस्यापवादस्तत्रैव—

“राशिनाथे विरुद्धेऽपि सखलावंशकाधिपौ ।  
तन्मैत्रेऽपि च कर्त्तव्यं दंपत्योः शुभमिच्छता ॥”

ग्रहमैत्र्यां गुणविभागो दैवज्ञमनोहरे—

“ग्रहमैत्रं सप्तविधं गुणाः पञ्च प्रकीर्त्तिताः ।  
तत्रैकाधिपतित्वे च मित्रत्वे गुणपञ्चकम् ॥  
चत्वारः सममित्रत्वे द्वयोः साम्ये त्रयो गुणाः ।  
मित्रवैरे गुणत्रैकः समवैरे गुणार्द्धकम् ॥  
परस्परं खेटवैरे गुणशून्यं विनिर्दिशेत् ।  
असङ्गे सममित्रादौ व्येका ग्राह्या यथोदिताः ॥”  
व्येका यथोदिताश्चत्वार इत्यर्थः ।

शुक्रार्कजादिशब्दे पूर्वनिपातविचारः—

अत्र शुक्रार्कजौ शुक्ररवीत्यादिषु—“अजाद्यदंतम्” इति “द्वंद्वेऽपि”



इत्यर्कजरविशब्दयोः पूर्वनिपातः पूर्वनिपातप्रकरणस्या(१)नित्यत्वान्न भवति । एवमपि—“देवताद्वन्द्वे च ” इत्यानङ् प्राप्नोति । सत्यम्, एकहविर्भाक्त्वेन प्रसिद्धसाहचर्ययोरेव द्वन्द्वे आनङ्विधीयते । अत्र तु तदभावाच्चानङ् ।

अत्र परे इत्यत्र साधुत्वनिर्णयः—

परे इति ‘परं दूरान्यमुख्येषु परारिपरमात्मनोः’ इति यादवोक्तेः परशब्दो नानार्थः । अत्र परशब्दस्य ‘पूर्वपरावर’ इत्यादिना व्यवस्थार्थवाचित्वे जसि वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञोक्तेः । व्यवस्था नाम स्वाभिधेयापेक्षाऽवधिनियमः । स्वाभिधेयं च दिग्देशकालाः । अत्र तु शत्रुवाचके परशब्दे व्यवस्थार्थाभावाद्वैकल्पिकी सर्वनामसंज्ञा न प्राप्नोति । ततश्च—“जसःशी ” इति सर्वनामकार्याभावेनुपपन्नः परे इतिप्रयोगः । यद्येवं “वितेनुरिगालमिवायशः परे” इति नैषधः “तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः” इति कालिदासः । इत्यादिषुहि शत्रुवाचकपरशब्दस्य भवदुक्तिप्रकारेण सर्वनामसंज्ञाया अप्रवृत्तेः कथं सर्वनामकार्यप्रसङ्गः ? उच्यते, गणरत्नमहोदधिकारादयस्तच्चित्य एवैतादृशः प्रयोग इत्येवमाहुः । परे इति शिष्टप्रयोगदर्शनात् परशब्दस्य नानार्थत्वादेवंविधे विषये व्यवस्थावाची परशब्दः । कथम् स्वस्मात्परः ? परदेशावस्थित इति देशवाच्यत्वात् । तच्च परदेशावस्थितत्वं यद्यपि पुत्रमारभ्य शत्रुपर्यन्तं साधारणम् । तथापि ‘वितेनुरिगालमिवायशः परे’ इत्यादिषु युद्धप्रस्तावाच्च शत्रुपरः एवमत्रापि पद्ये मित्रसमातां पार्थक्येनाभिधानात् परशब्दस्य वृत्तिरिति ग्रन्थकृदाशयः । अथवा व्यक्तमेव पठितव्यं—‘रविशशिद्धमाजा द्विषोन्यः समः’ इत्यलं विस्तरेण ॥ २७ ॥ २८ ॥

अथ गणकूटं वसन्ततिलकयाह—

रत्नोनरामरगणाः क्रमतो मघाहि-

वस्विन्द्रमूलवरुणानलतक्षराधाः ।

पूर्वोत्तरात्रयविधातृयमेशभानि

मैत्रादितीन्दुहरिपौष्णमरुल्लघूनि ॥ २९ ॥

(१) ‘समुद्राम्नाद्व’ इत्यादिनिर्देशश्चेह प्रमाणम् ।

रक्ष इति । क्रमतः रक्षोनरामरगणाः वाक्यत्रयेणोच्यन्ते । मघा प्रसिद्धा, अहिराश्लेषा, वसुधर्निष्ठा, इंद्रो ज्येष्ठा, मूलं प्रसिद्धम्, वरुणः शततारका, अनलः कृत्तिका, तक्षा चित्रा, राधा त्रिशङ्का, एतानि भानि रक्षोगणः । पूर्वात्रयमुत्तरात्रयं चेत्येवं षड्भानि । विधाता रोहिणी, यमो भरणी, ईश आर्द्रा, एतानि भानि नरगणो मनुष्यगणः । मैत्रमनुराधा, अदितिः पुनर्वसुः, इन्दुर्मृगः, हरिः श्रवणः, पौष्णं रेवती, मरुत् स्वाती, लघूनि अश्विनीहस्तपुष्याः । एतानि भान्यमरगणो देवगण इति । यदाह नारदः—

“रक्षोगणः पितृत्वाष्ट्रद्विदैवत्येन्द्रतारकाः ।  
वसुवारीशमूलाहिकृत्तिकाभिर्युतास्ततः ॥  
तिस्रः पूर्वोत्तराधातृयममाहेशतारकाः ।  
इति मर्त्यगणाः ज्ञेयाः स्युरमर्त्यगणाः परे ॥  
हयादित्यार्कवाय्वन्त्यमित्राश्वीज्येन्दुतारकाः ।” इति ॥२६॥

एतत्फलं मालिन्याह—

निजनिजगणमध्ये प्रीतिरत्युत्तमा स्या-  
दमरमनुजयोः सा मध्यमा संप्रदिष्टा ।  
असुरमनुजयोश्चेन्मृत्युरेव प्रदिष्टो  
दनुजविबुधयोः स्याद्वैरमेकान्ततोऽत्र ॥३०॥

निजनिजगणमध्य इति । स्वस्वगणविद्यमानस्त्रीपुरुषनक्षत्रयोः सतोरत्युत्कटोत्तमा प्रीतिः स्यात् । यथा राक्षसगणयोः स्त्रीपुंसयोस्तथा मनुष्यगणयोस्तथा देवगणयोर्वा परस्परमत्युत्कृष्टा प्रीतिः स्यादित्यर्थः । अमरा देवाः, मनुजा मनुष्याः, देवमनुष्यगणयोः स्त्रीपुंसयोः परस्परं प्रीतिर्मध्यमा नोत्कृष्टा संप्रदिष्टा । असुरमनुजयोः राक्षसमनुष्यगणयोः स्त्रीपुंसयोः मृत्युरेव प्रदिष्ट उक्तः । द्वयोर्वान्यतरस्य वेत्याकांक्षायां—‘प्रबलेन दुर्वलं बाध्यते’ इति न्यायेन मनुष्यगणस्यैव नाशः । दनुजविबुधयो राक्षसदेवगणयोः स्त्रीपुंसयोरेकान्ततोनिश्चयेन परस्परं वैरं स्यात् । अत्र गणकूटे । यदाह नारदः—“दंपत्योर्जन्मभे चैकगणेप्रीतिरनेकधा । मध्यमा देवमर्त्यानां राक्षसानां तयोर्मृतिः ॥”



राक्षसगणविषये—

कश्यपस्त्वेवमाह—“स्वगणे चोत्तमा प्रीतिर्मध्यमामरमर्त्ययोः ।  
मर्त्यराक्षसयोर्वैरमसुरासुरयोपि ॥” इति । अयमर्थः । पुरुषो रक्षोगणः  
स्त्रीमनुष्यगणा तदा वैरं यदि वैपरीत्यं तदा मृत्युः । तथा पुरुषो  
रक्षोगणः स्त्री देवगणा तदा वैरं, वैपरीत्ये मृतिः । उक्तं च—  
“राक्षसी यदि वा नारी नरो भवति मानुषः । मृत्युस्तत्र न संन्देहो  
विपरीतः शुभावहः ॥” । शार्ङ्गिणि—“रक्षोगणः पुमान् स्याच्चेत्कन्या  
भवति मानवी । केपीच्छन्ति तदोद्वाहं व्यस्तं कोपीह नेच्छति ॥” इति ।  
एतत्तुल्यन्यायत्वाद्देवराक्षसयोरपि द्रष्टव्यम् ।

गणकूटे गुणविभागः ।

अत्र गुणविभागो दैवज्ञमनोहरे—

“षड्गुणा गुणसादृश्ये पञ्च स्युः सुरमानुषे ।

नार्या देवोनरः पुंसश्चत्वारो वा गुणास्त्रयः ॥

देवराक्षसयोः शून्यं तथैव नररक्षसोः ।

पुंसो रक्षोगणो यत्र नार्या देवोऽथवा नरः ॥

गुणौ द्वौ क्रमतश्चैको गुणो ग्राह्योऽन्यथा न हि ॥” इति ।

अस्यापवादमाह गर्गः—

“ग्रहमैत्री च राशिश्च विद्यते नियतं यदि ।

न गणाभावजितं दूषणं स्याद्विरोधदम् ॥”

अत्रिरपि—“राशीशयोः सुहृद्भावो मित्रत्वे वांशनाथयोः ।

गणादिदोष्टेऽप्युद्वाहः पुत्रपौत्रप्रवर्द्धनः ॥”

अमुं परिहारं ग्रन्थरुदय्यग्रे वक्ष्यति । मनुरपि—

“ग्रहमैत्री च रज्जुश्च यदि नाडी पृथक् तयोः ।

विवाहः शुभदः कन्या राक्षसी वा नरो नरः ॥” इति ।

रज्जुकूटं तु ग्रन्थकर्त्रा नोक्तम् ॥ ३० ॥

अथ राशिकूटमनुष्टुभाह—

मृत्युः षष्ठाष्टके(१) ज्ञेयोऽपत्यहानिर्नवात्मजे ।

द्विर्द्वादशे निर्धनत्वं द्वयोरन्यत्र सौख्यकृत् ॥ ३१ ॥

(१) ‘मृत्युः षडष्टके’ इति पाठान्तरम् ।

मृत्युः षष्ठाष्टके इति । स्त्रीपुंसराश्योः परस्परं षष्ठाष्टमराशित्वे सति मृत्युर्ज्ञेयः । यथा मेषकन्ययोः मेषवृश्चिकयोः एवं नवात्मजे नवपञ्चमेऽपत्यानां बालानां हानिर्नाशः स्यात् । यथा सिंहधनुषोः । एवं द्विर्द्वादशे सति निर्धनत्वं दारिद्र्यं स्यात् । तथा मेषवृषयोः । अन्यत्र तृतीयैकादशे चतुर्थदशमे समसप्तमे वा सौख्यकृत्पाणिपीडनं स्यात् । यदाह नारदः—“षष्ठाष्टके मृतिर्नन्दनवमे त्वनपत्यता । नैःस्वं द्विर्द्वादशे-न्येषु दम्पत्योः प्रीतिरुत्तमा ॥” इति ।

राशिकूटे विशेषो ज्योतिःप्रकाशे—

“पुंसो गृहात्सुतगृहे सुतहा च कन्या  
धर्मे स्थिता धनवती पतिवल्गभा च ।  
द्विर्द्वादशे धनगृहे धनहा च कन्या  
रिस्फे स्थिता धनवती पतिवल्गभा च ॥” इति ।

अन्यच्च—

“मृगः कुलीरेण घटेन सिंहो वैरप्रदः स्यात्समसप्तकोयम् ।  
तुला वृषेणाथ वृषेण सिंहो मेषेण कीटो मिथुनेन मीनः ॥  
चापेन कन्या घटमेन चालिदौर्भाग्यदैत्ये दशतुर्यकेस्मिन्” ॥३१॥  
अथास्य दुष्टभकूटस्य परिहारं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

प्रोक्ते दुष्टभकूटके परिणयस्त्वेकाधिपत्ये शुभो-  
ऽथो राशीश्वरसौहृदेऽपि गदितो नाज्यृक्षशुद्धिर्यदि ।  
अन्यच्चैऽशपयोर्बलित्वसखिते नाज्यृक्षशुद्धौ तथा  
ताराशुद्धिवशेन राशिवशताभावे निरुक्तो बुधैः ॥ ३२ ॥

प्रोक्त इति । प्रोक्ते दुष्टराशिकूटे सत्यपि चेद्बुधोः स्त्रीपुरुषराश्योरे-  
काधिपत्ये एकस्वामित्वे परिणयो विवाहः शुभो गदितः । यथा  
षष्ठाष्टके मेषवृश्चिकयोस्तुलावृषयोर्वा द्विर्द्वादशे मकरकुम्भयोः  
नवमपञ्चमे त्वेकाधिपत्याभावः । अथवा राशीश्वरयोः राशिस्वामि-  
नोः सोहृदे मैत्रे परिणयः शुभो गदितः । तथा षष्ठाष्टके मीन-  
सिंहयोरित्यादौ नवपञ्चमे मेषधनुषोरित्यादौ, द्विर्द्वादशे मीन-  
मेषयोरित्यादौ, यदाह वसिष्ठः—“द्विर्द्वादशे वा नवपञ्चमे वा



षष्ठाष्टके राक्षसयोषितो वा । एकाधिपत्ये भवनेशमैत्रे शुभाय  
 पाणिग्रहणं विधेयम् ॥ ” इति । राजमार्तण्डः—‘ भवेत्त्रिकोणे बहुपुत्र-  
 वित्ताद्द्विर्द्वादशे चार्थमुपैति कन्या । षष्ठाष्टके सौख्यफलं विधत्ते  
 स्त्रीणां विवाहो ग्रहमैत्रभावे ॥ ” इति । एकाधिपत्येपीति शेषः ।  
 अत एव ग्रहमैत्रैकाधिपत्याभावे वैरषष्ठाष्टकमित्यादि वदन्ति । यदाह  
 नारदः—“ वैरषष्ठाष्टकं मेषकन्ययोर्धटमीनयोः । चापोक्षयोर्नृयुक्की-  
 टभयोः कुम्भकुलीरयोः । पञ्चास्यमृगयोजन्मराशोः प्रोक्तोऽशुभप्रदः ॥ ”  
 इति । उक्षा वृषः । चापोक्षयोरित्यकारांतनिर्देश आर्षः । एतद्भिन्नं  
 मित्रषष्ठाष्टकमित्याहुः । तदुक्तं जगन्मोहने—“ मित्रषष्ठाष्टकं कीटमे-  
 षयोर्वृषजूकयोः । कर्किचापभयोर्मनसिंहयोर्मृगयुग्मयोः । कन्यका-  
 कुम्भभयोरन्यत्रयत्नादेव वर्जयेत् ॥ ” इति । एवं च ग्रहमैत्र्यभावे वैरं  
 नवमपञ्चममित्याहुः । तथा च शार्ङ्गधरोये शुकः—“ मीनालिभ्यां  
 युते कीटे कुम्भे मिथुनसंयुते । मकरे कन्यकायुक्ते न कुर्यान्नवपञ्च-  
 मे ॥ ” इति । कीटः कर्कटः । एतादृशस्य नवपञ्चमस्य फलान्तरमुक्तं  
 कैश्चित् । तथा ज्योतिर्निबन्धे शार्ङ्गधरः—“ वरवध्वोर्मातृपित्रोर्जीवितो-  
 स्तद्विनाशकृत् । त्रिकोणमीवकीटाद्यं न स्यादन्यत्र दोषदम् ॥ ”  
 इति । एतत्फलमनार्थत्वादुपेक्ष्यम् । इतोऽन्यच्च मेषसिंहादिकं नवपञ्चमं ग्र-  
 हमैत्रीसत्त्वान्मित्रं नवपञ्चममिति । ननु कर्कादिकमपि त्रिकोणं ग्रहमैत्रीस-  
 त्वान्मित्रनवपञ्चममिव, कथम् । गुरोश्चन्द्रो मित्रमेव चन्द्रस्य तु गुरुः  
 समोपि मित्रमिवापदोषतैव—“ विगुणस्य गुणः ” इति न्यायात् । तथा  
 सति त्रिकोणदोषोच्छेदापत्तिः स्यादिति चेत् । उच्यते, यत्र  
 ह्येकस्य मित्रत्वमपरस्य समत्वं तत्र दुष्टनवपञ्चममिति व्यवहारः ।  
 तादृशं मीनकर्कादिकं त्रिकोणचतुष्टयमेव सम्भवति । यत्र  
 तूभयोरपि ग्रहमैत्री तत्रैव मेषसिंहादिके मित्रनवपञ्चममिति व्याहृतिः ।  
 अयं च परिहारो वरवध्वोर्मातापित्रोरित्यस्यापि दोषान्तरे सत्यसति  
 वा । समूलत्वे नाशको भवति तुल्यन्यायत्वात् । मृतमातापितृकयोस्तु  
 वरवध्वोर्नायं दोषोन्मेषः । एवं द्विर्द्वादशेऽपि ।

द्विर्द्वादशराशिकूटे विशेषः सुफलः—

तथा जगन्मोहने वसिष्ठकश्यपौ—

“द्विर्द्वादशं शुभं प्रोक्तं मीनादौ युग्मराशिषु ।

मेषादौ युग्मराशौ तु निर्धनत्वं न संशयः ॥  
 आयुष्यसम्पत्सुतभोगसंपत्पुत्रार्थसम्पत्पतिसौख्यसम्पत् ।  
 सौभाग्यसम्पद्नधान्यसम्पज्जम्भादियुग्मे क्रमतः फलानि ॥  
 अजादियुग्मे क्रमतः फलानि वैधव्यमृत्युर्वधवन्धनानि ।  
 वियोगसन्तापमतोवदुःखं वसिष्ठगर्गप्रमुखैः स्मृतानि ॥” इति ।

तथासत्यपि नाडीदोषः सर्वथा त्याज्य एव—

अथैवंविधेपि प्रीतिषष्ठाष्टकादिविषये नाडीदोषः सर्वथा त्याज्य एवे-  
 त्याह—नाड्यृक्षशुद्धिर्द्यदीति । ‘ज्येष्ठार्यम्णेशनीराधिपभयुगयुग्मम्’ इत्या-  
 दिना वक्ष्यमाणानां त्रिविधनाडीनक्षत्राणां शुद्धिः स्त्रीपुरुषनक्षत्रस्थिति-  
 रेकस्यां कस्यामपि नाड्यां यदि न भवति तदा प्रीतिषष्ठाष्टकादि विधेय-  
 म् । यद्येकस्यां नाड्यां स्त्रीपुरुषनक्षत्रस्थितिस्तदा तु नैव विवाहः । उक्तं  
 च रत्नमालायां—“भनवपतिसुहृत्त्वं स्यात्तथैकाधिपत्यं

यदि भवनवशित्वं चैव षष्ठाष्टकेपि ।

शुभकृदिह विवाहोन्योन्यताराविशुद्धौ

यदि खलु फणिक्रमे स्यान्न नाडीसमाजः ॥” इति ।

अपिशब्दान्नवमपञ्चमद्विद्वादशयोरपि । अत्र केचित् । षष्ठाष्टक-  
 स्यैव मरणरूपानिष्टफलश्रवणान्न तस्यापवादकः । षष्ठाष्टकेप्रीति-  
 परिहारः । किन्तु निन्दां प्रतिपादयतोऽपिशब्दात्तस्य वाक्य-  
 स्याधिपतिमैत्र्यादिगुणप्रशंसाद्वारा नवमपञ्चमद्विद्वादशयोरेव दुष्टभ-  
 कूटयोर्विधानपर्यवसानात्तयोरेवापवादक इति । यथा—“ब्रह्महा-  
 पि नरः पूज्यो यदि स्याद्विपुलं धनम् ” इति । अत्र वाक्ये  
 धनस्तुतिर्धनवन्नरपूजापरा । न तु धनवद्विप्रन्नरपूजापरापीति  
 मैवं बोधः । ‘द्विद्वादशे वा नवपञ्चमे वा षष्ठाष्टके’ इत्यादि  
 वसिष्ठादिवाक्यानि दुष्टभकूटापवादभूतान्यधिपतिमैत्र्यादिविशिष्टषष्ठाष्ट-  
 कादिविधत्ते “षष्ठाष्टके मृत्यु ” रित्यादीनि निन्दार्थवादवाक्यानि  
 ग्रहवैरग्रस्तषष्ठाष्टकादिविषयाणि । अन्यथा दुष्टफलषष्ठाष्टकनिरा-  
 करणस्य नवमपञ्चमस्य द्विद्वादशयोरपि तुल्यत्वेनापवादकवाक्यानां  
 विषयालाभात् । दृष्टान्ते तु ब्रह्मन्तप्रायश्चित्तविधानस्य वैयर्थ्या-  
 पातात् धनस्तुतिर्धनवत्प्रशंसापरैवेति युक्तमुत्पश्यामः । अथ नाडी-  
 समाजपदस्यायमर्थः । अश्विन्यादित्रिकगणनया त्रिविधानां नाडी-  
 नक्षत्राणां वेधो नाडीसमाजः । यदाह श्रीपतिः—



“नाड्यस्तिस्रोऽन्यस्तनिःशेषधिण्या-

स्त्रिभ्यश्चाश्वादिभ्य एव प्रसूताः ।

सर्पाकारस्तत्र नाडीसमाजो

नक्षत्राणामेकनाडीस्पृशं स्यात् ॥” इति ।

एवं च यत्र भकूटादयः सप्त भेदाः शुभा भवन्ति—तत्र नाडीदोषश्चेत्तदा विवाहो न विधेयः । उक्तं च सप्तविंशते विवाहपटले—“सदा नाशयत्येकनाडीसमाजो भकूटादिकान् सप्तभेदान्प्रशस्तान्” इति । अत्रकेचित् नाडीसमाजशब्दोपादानात् समाजशब्दस्य समुदायवाचित्वात् त्रिचतुःपञ्चपर्वनाडीत्रयसमुदाये स्त्रीपुरुषनक्षत्रयोरेकनाड्या पातस्तदा समस्तवश्यादिगुणसत्त्वेऽपि विवाहो नैव भवेत् । यदा त्रिचतुःपञ्चपर्वनाडीष्वेकैव नाडी स्त्रीपुरुषयोः स्यात्तदा भवत्येव विवाहः । अत एव—‘भकूटादिकान् सप्तभेदांश्च ते ताम्’ इति विपरोतं वचनमनुकूलम् । अस्यायमाशयः ते इति बहुत्वात्सप्त भकूटादयः शुभास्तमित्येकवचनानुरोधादेकामेव नाडीं परिहरेयुः नतु नाडीसमाजविद्धमित्याहुः । तच्चिन्त्यम् । यतः ‘चतुस्त्रिद्वयं त्रिभोत्थायाः’ इति वाक्याच्चतुश्चरणनक्षत्रोत्पन्नायाः कन्यायास्त्रिपर्वैव त्रिचरणनक्षत्रोत्पन्नायाः कन्यायाः द्विपर्वैव द्विचरणनक्षत्रोत्पन्नायाः कन्यायाः पञ्चपर्वैवनाडीगणनेति नियमाद्युपगमाद्विनाडीत्रयविचारासंभव एव । किं च रत्नमालादिवाक्येषु पार्थक्येन नाडीकूटाभिधानात्तत्रत्यसमाजपदं नाडीसंस्थनक्षत्रसमुदायपरम् । तथा हि अश्वादिभ्यस्त्रिभ्य एव नक्षत्रेभ्यः प्रसूतान्यस्तनिःशेषधिण्याः सर्पाकारास्तिस्रो नाड्यः स्युः । तत्रैकनाडीस्पृशं नक्षत्राणां समाजा नाडी स्यात् इति । ननु—

“यस्मादनर्थकलहागममृत्युः स्युः

पाणिग्रहादनु तयोः खलु नाड्योगः ।

तस्माच्चतुस्त्रियमलांग्रिषु भेषु नूनं

नाडीसमाज इति चिन्त्यमनुक्रमेण ॥” इति-

वृद्धगर्गवचनान्नाडीसमाज एव स्थिते दोषः नैकस्यां नाड्यामिति चेत्, उच्यते स्वयमेव ‘चतुस्त्रियमलांग्रिषु भेषु’ इति परिगणितविषयत्वेनाभिधानान्नाडीसंस्थनक्षत्रसमुदायविषयकमिति किञ्चित् पर्वचतुःपर्वनाड्यो-  
देशविशेषविषयत्वेन त्रिनाड्यास्तु सर्वदेशविषयत्वादेतस्या एव निषेधो

युक्तः । तानि च देवविशेषवाक्यान्यग्राह्यमिधास्ये । अतो—‘भकूट-  
कान् सप्तभेदांश्च ते ताम्’ इत्यत्र पाठे प्रशस्तानिति पठन्ति अभियुक्ताः  
शार्ङ्गधरीयज्योतिर्निबन्धकारादयः । तस्मान्नाडीसमाजपदस्य प्राग्-  
देव व्याख्यानं न्याय्यम् । ननु यत्र नाडीनक्षत्रशुद्धिरस्ति तथा भरणी-  
हस्तयोः षष्ठाष्टकं वर्तते ग्रहमैत्र्यपि नास्ति तत्र किं कार्यमत आह  
अन्यदौशपयोरिति । अन्यदौ प्रीतिषष्ठाष्टकादिभ्योन्यराशौ, कोर्थः । रा-  
शिस्वामिनोः परस्परं शत्रुत्वे वा समत्वे वा षष्ठाष्टकादौ च सति अंश-  
पयोस्तद्राशिनवांशस्वामिनोर्वलित्वसखिते स्याताम् वलित्वं च स-  
खिता च प्रथमाद्विवचनान्तं पदं वलित्वं सवलित्वमुच्चादि-  
स्थितत्वेन सखिता परस्परमैत्री ते उभे चेद्भवतः सखितायामु-  
पलक्षणत्वादेकाधिपत्यमपि तदा विवाहः शुभो निरुक्तः । उक्तं च  
जगन्मोहने वसिष्ठेन—“राशिनाथे विरुद्धेपि सवलतावंशकाधिपौ । त-  
मैत्रेपि च कर्त्तव्यं दंपत्योः सुखमिच्छता ॥” इति । नन्वयं परिहारो  
राशिनाथे विरुद्धेपीत्यनुवादात्केवलग्रहदौष्ट्यापवादको ननु दुष्टभकू-  
टग्रहवैरस्य । उच्यते । ‘खेटारित्वं नाशयेत्सङ्गकूटम्’ इत्यग्रे  
ग्रन्थकृद्वक्ष्यति । तत्र—‘नभोगारिभावं हरेत्सङ्गकूटम्’ । इति सप्त-  
भिमतविवाहपटलीयवाक्यसंमतत्वेनास्माभिरभिधास्यते तदेव केवले  
ग्रहवैरापवादकमस्ति नत्विदमपि । ननु द्वयोर्वाक्ययोर्यथाश्रुतशब्द-  
स्वरसेनार्थे जिज्ञासिते एकस्मिन्नेव ग्रहदौष्ट्यरूपे परिहारद्वयं दृश्य-  
ते । अथैकस्मिन्नेव दुष्टभकूटके भवनपतिहृत्त्वमित्यानानेकपरिहाराभि-  
धानमित्यतोत्र वचनेन किंचित्तादृशं विषयं पश्यामः । सत्यम् ।  
‘नभोगारिभावं हरेत्सङ्गकूटम्’ इति तु निःसन्देहं ग्रहवैरस्यापवादक-  
त्वम् । परन्तु—“राशिनाथे विरुद्धेपि मैत्रत्वे चांशनाथयोः । वि-  
वाहं कारयेद्धीमान्दंपत्योः सौख्यवद्धर्नम् ॥” इति जगन्मोहरस्थ-  
वसिष्ठवाक्येन प्रागुक्तवसिष्ठवचः समानार्थकं दुष्टभकूटग्रस्तग्रहवैरा-  
पवादकम् । तथाहि न्यूनार्थ एकस्मिन्वाक्ये राशिनाथयोः परस्पर-  
विरोधे सति तद्राशिनवांशस्वामिनोः परस्परमैत्री चेच्छुभो विवाह इत्य-  
र्थः । अत्रांशनाथयोः सवलत्वविचारो नास्ति । यत्र त्वंशनाथ-  
योरुच्चादिस्थितत्वेन सवलत्वं परस्परमैत्रीचेति द्वयमस्ति तद्दुष्टभ-  
कूटग्रस्तग्रहवैरापवादकमित्यधिकार्थवचनस्यार्थः । नन्वनयोर्वाक्ययोः  
सामान्यविशेषभावात् न्यूनार्थकवाक्यार्थानुवादे परस्परवाक्यस्यस-



बलत्वविधानपुरःसरैकवाक्यत्वादुपसंहारन्यायेन विशेष एव पर्यवसानं कस्मान्न भवति । यथा—पुरोडाशं चतुर्द्धा करोत्याग्नेयं चतुर्द्धा करोतीति वाक्यद्वये । अत्र हि सायान्यतो यत्किञ्चिदेवताकस्य पुरोडाशस्य चतुर्द्धाकरणं प्राप्तमग्निदेवताक एव पुरोडाशे चतुर्द्धाकरणं पर्यवस्यतीति चेत् । उच्यते, वेदे हि कर्तुरस्मरणात्तादृशवैदिकवाक्येषु तथा भिन्नकर्तृकेषु स्मृतिवाक्येष्वप्येव विधा गतिरुचिता न त्वेककर्तृकेषु स्मृतिवाक्येषु । अन्यतरवाक्यानर्थक्यापत्तेः । तत्र किमर्थकमित्याकाङ्क्षायामधिकार्थकेन न्यूनार्थकमित्यत्रानयोरेककर्तृकयोरेकप्रकरणपठितयोश्चावश्यं भिन्नार्थकत्वं वाच्यम् । तत्र कस्य कोर्थ इति सन्देहे न्यूनाधिकार्थकं केवलं ग्रहवैरापवादकमेव । नन्वपिशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादिप्रविषयो लप्स्यत इति चेन्न, तदर्थकवचनान्तरस्य स्पष्टस्याभावेपिशब्दस्य समुच्चयार्थताया दुर्लभत्वात् । एवं च—“नभोगारिभावं हरेत्सद्भकूटम्” इत्यपि वाक्यं ग्रहवैरापवादकम् । तुल्यबलत्वाद्ब्रीहियववत् । अंशनाथस्य सबलत्वाभिधायकं तु राशिनाथे विरुद्धेपीत्येतद्वाक्यमुभयविरोधपरिहारार्थकम् । तथाहि, राशी च नाथौ च एतेषां समाहारो राशिनाथं तस्मिन् राशिनाथ इत्येवं समाहारद्वन्द्व आश्रीयेत । तथा सत्ययमर्थः । राशी विरुद्धौ षष्ठाष्टकादिना । नाथौ विरुद्धौ । कयोर्नाथावित्याकाङ्क्षायां ययोः षष्ठाष्टकादिविचारस्तयोरेव सन्निहितत्वात् ग्रहणमिति । तयोः राश्योर्नाथौ विरुद्धौ—“मित्राणि द्युमणोः” इत्यादिना परस्परं शत्रू स्यातां तद्वाशिनवांशस्वामिनोः सबलत्वे मित्रत्वे च समुचिते सति विवाहः शुभदः । नन्वतिक्लिष्टे समाहारद्वन्द्वे किं प्रयोजनम्, उच्यते अंशनाथसबलत्वस्याधिकरणमेव । तच्च युगपदुत्पन्नस्य दोषद्वैविध्यस्य राशिविरोधग्रहविरोधरूपस्य परिहाररूपमित्यवगम्यते । अत एव ज्योतिःशास्त्राभियुक्ताः एवंविधे उभयविरोधे एवं विधं समाधिमाधित्य विवाहं कारयन्तीत्यास्तां प्रसकानुप्रसक्तम् ।

नाडीनक्षत्रयोर्वैधाभावे विवाहः—

अस्मिन्नपि पक्षे नाडीशुद्धिरपेक्षितैवेत्याह । नाड्युक्तशुद्धौ तथेति । प्रागुक्तप्रकारेण नाडीनक्षत्रेषु स्त्रीपुरुषनक्षत्रयोरेकस्यां नाड्यामवस्थित्यभावश्चेत्तदा विवाहः शुभः । यथा भरणीहस्तयोः सत्युभयविधविरोधे राशिनवांशयोः क्रमेण पञ्चमचतुर्थयोर्यौ स्वामिनौ सूर्यभौमौ तयोर्मैत्र्यप्यस्ति, स्वनांशस्थितत्वात्सबलत्वमपि । तत्र विवाहः शुभ-

फलदो निगदितः । यतोत्र स्त्रीपुंसनक्षत्रयोरेकनाड्यामवस्थित्यभावः । यदा त्वश्विनीहस्ताख्ये इव द्वयोर्नक्षत्रे स्यातां तदा नाडीनक्षत्रशुद्ध्यभावात्सकलगुणवत्त्वेऽपि विवाहो न भवति किं पुनरेवंविधे विषये इति । “सदा नाशत्येकनाडीसमाजो भकूटादिकान् सप्तभेदान्प्रशस्तान् ।” इत्युक्तेः ।

वधूवरर्क्षयोः परस्परं वश्यत्वे विवाहः—

अथैतत्परिहारसम्भवे परिहारान्तरमाह—ताराशुद्धिवशे इति । अत्रान्यर्क्ष इत्यनुवर्त्तते । प्राग्ब्रह्म व्याख्येयमिदम् । एवंविधे विषये षष्ठाष्टकादौ च सति यदि स्त्रीपुंसनक्षत्रयोः परस्परं ताराशुद्धिवशे ‘कन्यर्क्षद्वरभं यावत्’ इत्यादिना ताराशुद्धिरूपे वशे वश्यत्वे द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमनवमतारासंज्ञके सति बुधैर्विवाहः शुभो निगदितः । अत्रोदाहरणानि बुधैर्ध्येयानि । अत्र सम्मतिः—“अन्योन्यताराविशुद्धौ” इत्युक्तौ । राजमार्त्तण्डेनायमर्थः स्पष्टमभिहितः—

“मैत्री क्षेत्रपयोर्द्वयोरपि तयोरेकाधिपत्येऽपि चे-  
त्तारामित्र-८ सुमित्र-६ जन्म-१ शुभदाक्षेमा च सम्पत्करी ।  
षष्ठाष्टे नवपञ्चमे व्ययधने योगेषु पुंयोषितोः  
प्रीत्यायुःसुतवृद्धिवित्तजनकः कार्यो विवाहस्तदा ॥” इति ।

चकारात्षष्ठी च । जन्मतारा यद्युत्पत्तितारा तदा राशिभेदे चरणभेदे वा शुभा ध्येया । दशमैकोनविंशतितारे शुभे एव । अत्रापि पक्षे नाडीशुद्धिरपेक्षितैव । नाडीशुद्ध्यभावे विवाहो नैव भवेत्, उक्तैवात्र सम्मतिः ।

तयोर्मिथो वश्यत्वाभावेऽपि विवाहो भवति—

अथैतस्यापि परिहारस्यासम्भवे परिहारान्तरमाह—अथ राशि-  
वशताभाव इति । अत्रापि द्वयोः स्त्रीपुंसयोः राशिनाथविरोधादिके वि-  
षये षष्ठाष्टकादौ सति—‘हित्वा मृगेन्द्रं नरराशिवश्याः’ इत्यादिना  
पुरुषराशेः स्त्रीराशिवशताभावसत्त्वे सति विवाहः शुभो निगदितः ।  
‘यदि भवनवशित्वम्’ इति श्रीपत्युक्तिश्च अस्मिन्नपि पक्षे नाडीशुद्धिर-  
पेक्षितैवोक्तादेव हेतोः । तदयमत्र निष्कृष्टोर्थः । षष्ठाष्टमनवपञ्चमद्विर्द्वा-  
दशाख्येषु दुष्टभकूटेषु सत्सु परस्परं ग्रहमैत्र्ये एकः परिहारः, एका-  
धिपत्यं द्वितीयः, ग्रहत्रैलोक्यशपयोः सबलत्वं मैत्री च तृतीयः, तारा-



शुद्धिश्चतुर्थः, राशिवश्यत्वं पञ्चमः । सर्वेष्वपि परिहारेषु नाडी-  
शुद्धिरपेक्षितैव । नाडीविरोधसत्त्वे तु विवाहो नैव स्यादिति । एवं च  
ग्रन्थकर्त्रा—‘भवनपतिसुहृत्त्रम्’ इत्यस्य श्रीपतिश्लोकस्य वाक्यचतुष्टय-  
मङ्गीकृत्य तावत्परिहाराभिधानं कृतम् । तट्टीकाकृन्महादेवोऽप्येवमेव  
व्याख्यत् । यत्र हि प्रत्येकं परिहारकत्वं तत्र गुणसमुदायः परिहारकः  
स्यादिति किं वाच्यम् । वस्तुतस्तु—‘मैत्री क्षेत्रपयोर्द्वयोरपि तयोरे  
काधिपत्येपि चेत्तारामित्रसुमित्रजन्मशुभदा त्रेमा च सम्पत्करी’ इत्या-  
दिप्राग्लिखितेन राजमातङ्गवाक्येन दुष्टे भकूटे ग्रहमैत्र्या सह तथै-  
काधिपत्येन सह ताराशुद्धिरेव परिहारिका समुचिता ॥ अर्थादेकस्य  
मित्रत्वेऽपरस्य समत्वे वश्यत्वापेक्षात्वे । अत एतद्वाक्यं ज्योतिःसारसा-  
गरकर्त्रा पितृचरणैश्चैवं विवृतम्—“अत्रान्योन्यमित्रत्वे तुल्याधिपतित्वे  
वा ताराशुद्धिरेवचिन्त्या । एकान्तरमित्रतायां तु वशित्वादिगुणान्तरा-  
पेक्षा । शत्रुत्वे तु सर्वथात्यागः” इति । अत एवैतस्मिन्पद्ये चेत्पदाभि-  
धानादेकवाक्यतावसायः । एवं श्रीपतिवाक्यमपि व्याकर्त्तव्यम् ।  
एकवाक्यताबलात् । तत्र षष्ठाष्टके पुनः ‘भवनपतिसुहृत्त्रम्’ इति सक-  
लगुणसत्त्वमेव परिहारकम् । अन्ययोर्दुष्टभकूटयोर्द्वयमेव । यदाह ज्यो-  
तिर्निबन्धे गर्गः—“ग्रहमैत्रं शुभा तारा राशिवश्यं त्रिभिः शुभम् ।  
षष्ठाष्टकं बुधाः प्राहुर्द्वाभ्यां द्वयकं त्रिकोणकम् ॥” इति । द्वयकं द्विर्द्वादशं  
“द्विर्द्वादशे वा नवपञ्चमे वा” इत्यादीनि वसिष्ठवाक्यानि तूपलक्ष-  
णपरतया व्याख्येयानि । अत्र यथासंप्रदाये व्यवस्था ध्येयैत्यलमियता ।

सौहृदशब्दस्य साधुत्वविचारः—

सौहृद इति । सुष्ठु हृदयं यस्यासौ सुहृन्मित्रम् । “सुहृद्दुर्दुदौ मि-  
त्रामित्रयोः” इति साधुः । सुहृदो भावः सौहृदम् “हायनान्तयुवादि-  
भ्योऽण्” इत्यण् । “तद्धितेष्वचामादेः” इत्यादिवृद्धिः । केचित्तु सुष्ठु-  
हृदयं यस्यासौ सुहृदयः तस्य भावः सौहृदमिति युवादित्वादणि  
“हृदयस्य हल्लेख्यदण्णासेषु” इति हृदादेश इत्याहुः । अपरे  
तु—‘स्त्रान्तं हन्मानसं मनः’ इत्यभिधानान्मनोवाचीहृच्छब्दः सुष्ठु  
हन्मनो यस्येति सुहृत्तस्य भावः प्राग्वदणिरूपं सिद्धमित्यभिदधुः ।  
तदुभयमपि चिन्त्यं । यतो “हृद्गर्गसिध्वन्ते पूर्वपदस्य च” इत्युभय-  
पदवृद्धौ सत्यां सौहार्दमित्येव स्यात् । न तु सौहृदमिति । ननु प्रथ-  
मपक्षेऽप्यनेनैव सूत्रेणोभयपदवृद्धिः कस्मान्न भवति । नहि तत्र कश्चि-

द्विशेष उपादीयते । उच्यते । “ओर्गुणः” इत्यत्र ओरोदिति वक्तव्ये-  
गुणग्रहणं ‘संज्ञापूर्वको विधिरनित्यो यथा स्यात्’ इति ज्ञापका-  
त् ‘हृद्भग’ इत्यस्यानित्यत्वेनाप्रवर्तमानत्वादादिवृद्धिरेवात्रेति ऋजवः  
समादधते । परे तु प्रतिपदोक्तहृदयपर्यायस्य हृच्छब्दस्य ‘हृद्भग’ इ-  
त्यत्र ग्रहणात् “हृदयस्य ‘हृल्लेखयदणलासेषु’ इति हृदादेश-  
स्यादिवृद्धिर्नेति साधयन्ति तत् “हृदयस्य हृल्लेख’ इत्यादि ग्रन्थ-  
विरुद्धम् । तथाहि “वाशोकष्यङ्गोर्गेषु” इत्यत्र सौ-  
हार्दं सौहृदय्यम् ब्राह्मणादित्वात्प्यञ् । हृदादेशपक्षे—“हृद्भग-  
सिञ्चन्ते पूर्वपदस्य च” इत्युभयपदवृद्धिरिति काशिकाकारो व्या-  
ख्यत् । वयं तु ब्रूमः । ‘हृद्भग’ इत्यत्र—‘अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक-  
स्य’ इति परिभाषया हृदयवाचिनो हृदयादेशस्य हृच्छब्दस्येव ग्रहण-  
म् । तेनात्र—“सुहृद्द्वन्द्वौ मित्रमित्रयोः” इति निपातितस्य सुहृ-  
च्छब्दस्य मित्रवाचित्वेनार्थवत्त्वेपि तदवयवो हृच्छब्दस्तदन्तस्योत्त-  
रपदस्य वृद्धिर्न भवति । अवयवस्यानर्थकत्वादित्यादिवृद्धिरेवात्र भव-  
ति । अमुमेवाशयं मनसि निधाय—‘विनयं विशेषयति  
सौहनेन सः’ इति माघः । ‘सौहृदं हि मनसो न गो-  
हयोः’ इति केशवाकौपि सौहृदशब्दं प्रायुंक्तेति निरवद्य-  
मिति ॥ ३२ ॥

अथ दुष्टानां गणकूटभकूटग्रहकूटानां परिहारं शालिन्याह—

मैत्र्यां राशिस्वामिनोरंशनाथ-

ब्रह्मस्यापि स्याद्गणानां न दोषः ।

खेटारित्वं नाशयेत्सङ्गकूटं

खेटप्रीतिश्चापि दुष्टं भकूटम् ॥ ३३ ॥

मैत्र्यामिति । स्त्रीपुंसराशिस्वामिनोर्मैत्र्यां सत्यां तथा राशिनवांश-  
योर्द्वन्द्वं युग्मं तस्यापि मैत्र्यां सत्यां गणानां दुष्टगणानां दोषो न स्या-  
त् । स्त्री रत्नोगणा पुमान्मनुष्यगणो देवगणो वा तदा गणदोषो न स्या-  
दित्यर्थः । यदाहात्रिः—“राशिशयोः सुहृद्भावे मित्रत्वे वांशनाथयोः । गणा-  
दिदौष्ट्ये व्युद्वाहः पुत्रपौत्रप्रवर्द्धनः ॥” इति । अथ सङ्गकूटं शुभफलदं



भकूटं राशिकूटं तृतीयैकादशादिकं खेटारित्वं ग्रहयोः शत्रुतासम्बन्धिनं दोषं नाशयेत् । एवमेव खेटप्रीतिर्ग्रहमैत्री चापि दुष्टं भकूटं षष्ठाष्टकादिकसम्बन्धिनं दोषं नाशयेदित्यर्थः । तदुक्तं सप्तर्षिमतं विवाहपटले—  
“नमोगारिभावं हरेत्सद्भकूटं विरुद्धं भकूटं हरेत्खेटमैत्री । सदा नाशयत्येकनाडीसमाजो भकूटादिकान् सप्तभेदांश्च तेषाम् ॥” अत्र चतुर्थचरणः—‘प्रोक्ते दुष्टभकूट—’ इत्यादिना पुनरुक्तोपि स्मरणाविच्छेदार्थं पठितः । यत्तुक्तं नारदेन—“एकाध्रीशे मित्रभावे शुभदं पाणिपीडनम् । द्विर्द्वादशे त्रिकोणे च न कदाचित्पडष्टके ॥” इति—एतन्नाडीदोषे सत्येव द्रष्टव्यम् । अधुनोदितवाक्यस्वरसात्

“भवनपतिसुहृत्त्वं स्यात्तथैकाधिपत्यं

यदि भवनवशित्वं चैव षष्ठाष्टकेपि ।

शुभकृदिह विवाहोन्योन्यताराविशुद्धौ

यदि खलु फणिक्रमे स्यान्न नाडीसमाजः ॥” इति—

श्रीपत्युक्तेश्च । अन्यथा प्रागभिहितवसिष्ठादिवाक्यान्यनर्थकान्यापद्येरन्निति ॥ ३३ ॥

अथ क्रमप्राप्तसकलकूटप्रधानं नाडीकूटं स्रग्धरयाह—

ज्येष्ठार्यम्णेशनीराधिपभयुगयुगं (१) दास्रभं चैकनाडी पुष्येन्दुत्वाष्ट्रमित्रान्तकवसुजलभं योनिबुध्न्ये च मध्या । वायवग्निव्यालविश्वोदुयुगयुगमथो पौष्णभं चापरास्या-  
हम्पत्योरेकनाड्यां परिणयनमसन्मध्यनाड्यां हि मृत्युः ३४

ज्येष्ठेति । ज्येष्ठा प्रसिद्धा, अर्यम्णमुत्तराफल्गुनी, ईश आर्द्रा, नीराधिपो वरुणस्तदभं शततारका, एभ्यो नक्षत्रेभ्यः युगयुगं द्वयं-द्वयं ज्येष्ठा मूलं, उत्तराफल्गुनी हस्तश्च, आर्द्रा पुनर्वसुश्च, शततारका पूर्वाभाद्रपदा चेत्यर्थः । दास्रभमश्विनी च । एतन्नक्षत्रनवकं परस्परमेकनाडीत्युच्यते ।

मध्यनाडी—

अथ पुष्यः प्रसिद्धः, इन्दुर्मृगः, त्वाष्ट्रं चित्रा, मित्रोनुराधा, अंतकं

(१) ‘ज्येष्ठार्यौदार्यमाम्भःपतिभयुगयुगं’ एवमपि पाठः ।

भरणी, वसुधनिष्ठा, जलमं पूर्वाषाढा, योनिः पूर्वाफल्गुनी, बुध्नोहि-  
बुध्न्यः उत्तराभाद्रपदा । एतन्नक्षत्रनवकं परस्परं मध्यनाडीत्युच्यते ।

अन्त्यनाडी—

अथ वायुः स्वाती, अग्निः कृत्तिका, व्याल आश्लेषा, विश्वोदूत्तरा-  
षाढा, पद्मो युगयुगं स्वाती विशाखा च कृत्तिका रोहिणी च आश्लेषा  
मघा च उत्तराषाढा श्रवणश्चेत्यर्थः । पौष्णमं रेवती च एतन्नक्षत्र-  
नवकमपरा तृतीयनाडीत्युच्यते ।

तासां फलानि—

एतत्फलमाह—द्वंपत्योः स्त्रीपुंसयोरेकनाड्यां परिणयनमसदुष्टफलं  
स्यात् । मध्यनाड्यां हि निश्चयेन मृत्युर्द्वयोरपि स्यात् ।

“मूलेन्द्रार्कभपाश्यजैकचरणादित्यार्यमेशाश्विभै-  
र्याम्येन्द्रीज्यभमित्रभाग्यवसुभत्वाष्टांश्वहिर्वुध्न्यभैः ।

अन्यैर्नाड्य इहैकनाडिनवके स्यातां द्विभेचेन्मृति-

गोदादक्षिणतः कचिन्पुममुखे पार्श्वैकनाडी हिता ॥”

गोदादक्षिणतः सर्ववर्णेषु पार्श्वैकनाडी हिता । क्षत्रियादौ  
कचित् । अन्यकन्याया अलाभे पार्श्वैकनाडी हितेत्यर्थः । यदाह गर्गः—  
नाडीकूटं तु संग्राह्यं कूटानां तु शिरोमणिः । ब्रह्मणा कन्यकाकण्ठ-  
सूत्रत्वेन विनिर्मितम् ॥” इति । वराहः—“आद्यैकनाडी कुरुते वियोगं  
मन्याख्यनाड्यामुभयोर्विनाशः । अन्त्या च वैधव्यमतीव दुःखं तस्माच्च  
तिष्ठः परिवर्जनीयाः ॥” इति ।

अत्र चक्रन्यासो वसिष्ठेनोक्तः—

“आवृत्तिभिर्भैस्त्रिभिरश्विभाद्यं क्रमोक्तमात्सङ्गणयेदुडूनि ।

यदेकपर्वण्युभयोश्च धिष्ये नेष्टा नृनार्योर्भृशमेकनाडी ॥”

फलेपि विशेषमाह वसिष्ठः—

“सा मध्यनाडी पुरुषं निहन्ति तत्पार्श्वनाडी खलु कन्यकां तु ।

आसन्नपर्यार्यसमागता चेद्वर्षेण साप्यन्तरिता त्रिवर्षैः ॥” इति ।

उत्तरार्द्धस्यायमर्थः । आसन्ने समीपस्थिते पर्याये आवृत्तौ

चेदेकनाडी समागता यथाऽश्विन्यार्द्रयोर्भरणीमृगयोः रोहिण्याश्लेष-  
योर्वा सा नाडी वर्षेणैकेन स्त्रीपुंसयोरुक्ताशुभफलदात्री स्यात् । यदा



त्वश्चिन्त्युत्तराफालगुन्योरितरकृतव्यवधाना सा नाडी त्रिभिर्वर्षैरुक्ता-  
शुभफलदात्री स्यात् ।

नाडीसंग्रहो गुणाश्च—

अत्र सफले नाडीनक्षत्रे अस्मदुक्तं पद्यद्वयम्—

“दक्षेशादित्ययमाकेंद्रमूलतोयाधीशाजांघ्रिभान्येकनाडी ।  
मध्या याम्येन्द्रोज्ययोन्यृक्षचित्राभिर्त्रांभोवस्वहिर्बुध्न्यभानि ॥  
वह्निब्राह्मर्क्षाहिपित्र्यानि लङ्घ्नीशविश्वेविष्णुपौष्णो परा च ।  
दम्पत्योर्मे सन्निकृष्टे हि दुःखं वर्षेण स्यात्सांतराले त्रिवर्षैः ॥”

ग्रन्थकर्त्रा तु नाडीदोषस्य तावदवस्थाक्रममनङ्गीकृत्य नाडीन-  
क्षत्राण्येवोक्तानि । अश्विनीमृगयोरिव नाडीभेदे तु दोषाभाव एव । ते-  
नाष्टौ गुणा इत्यर्थः ।

इयं चाश्विन्यादित्रिकगणना कन्यायाश्चतुश्चरणे जन्मनक्षत्रे सति ।  
यदा त्रिचरणं नक्षत्रं तदा कृत्तिकामारभ्य चतुःपर्वगणना साभि-  
जित् । द्विचरणत्वे तु कन्यानक्षत्रस्य मृगशीर्षतः पञ्चपर्वगणना ।  
यदाह नारदः—

“चतुश्चिद्वयं त्रिभोत्थायाः कन्यायाः क्रमशोऽश्विभात् ।

वह्निभादिन्दुभाक्षाडी त्रिचतुःपञ्चपर्वसु ॥

गणयेत्संख्यया चैकनाड्यां मृत्युर्न संशयः ।”

अमुमर्थं स्पष्टमाह गर्गः—

“चतुः पात्कन्यकात्रयं गणयेदश्विभादिकम् ।

त्रिभं सव्यापसव्येन भिन्नं पर्वं सुखावहम् ॥

कन्यकर्क्षं त्रिपाचवेत्स्याद्गणयेत्कृत्तिकादिकम् ।

चतुर्भिः पर्वभिस्तद्वदभिजित्तरकान्वितम् ॥

कायकर्क्षं द्विपाचवेत्स्याद्गणयेत्सौम्यभादिकम् ।

पञ्चभिस्त्ववरोहे तु पञ्चमांगुलिवर्जिते ॥”

एतत्फलमप्याह गर्गः—

“संश्लिष्टा मध्यनाडी तु पुरुषं हन्ति वेगतः ।

संश्लिष्टा पार्श्वनाडी तु कन्यकां हन्त्यसंशयम् ॥” इति ।

“आसन्ना त्रेकनाडी स्यादासन्नमृतिदायिनी ।

दूरस्था चैकनाडी स्याददूरानिष्टकारिणी ॥” इति । दूरं बहुकालम् ।

जगन्मोहने नारदः—

“ एकनाडीविवाहश्च गुणैः सर्वैः समन्वितः ।

वर्जनीयः प्रयत्नेन दम्पत्योर्निधनं यतः ॥ ” इति ।

अथ देशभेदेन नाडीगणनाक्रमभेदानां नियमः—

आसां नाडीनां देशभेदेन व्यवस्थामाह जगन्मोहने नारदः—

“ चतुर्नाडी त्वहल्यायां पांचाले पञ्चनाडिका । त्रिनाडी सर्वदेशेषु वर्जनीया प्रयत्नतः ॥ ” इति । अहल्यापांचालौ देशविशेषौ । सर्वदेशशब्दः अहल्यापांचालव्यतिरिक्तदेशेषु वर्तते । ‘विशेषसन्निधाने आम्नातं सामान्यं तद्व्यतिरिक्ते सामान्ये वर्तते’ इतिन्यायात् । ‘ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात’ इतिवत् । ननु—‘चतुस्त्रिद्व्यंघ्रिभोत्थायाः’ इति ‘चतुर्नाडी त्वहल्यायाम्’ इत्यनयोर्वाक्ययोः सामान्यविशेषभावयोः समापन्नयोरयमर्थः संपन्नः । कन्यर्क्षे च चतुःपादे सत्यश्विन्यादित्रिनाड्यहल्यापांचालव्यतिरिक्तसर्वदेशेषु स्यात् । तथा कन्यर्क्षे त्रिपादे कृत्तिकादिचतुःपर्वनाड्यहल्यायामेव स्यात् । तथा कन्यर्क्षे द्विपादे मृगादिपञ्चपर्वनाडी पांचाल एव स्यात् । एवं देशभेदेन नाडीनैयत्ये सति तद्देशेषु प्रोक्तो नाडीविचारो भिन्ने गूढज्ञायां कन्यकायां न स्यादेव । तथा त्रिपादे द्विपादे वा कन्यर्क्षे सति सर्वेष्वपि देशेषु त्रिनाडीविचारो न स्यात् । एवं सति पुनर्यसुकृत्तिकाप्रभृतीनां ज्यंघ्रीणामुभयपार्श्वधिष्ण्यानां तत्तन्नाडीस्थैः सर्वेनक्षत्रैः सह नाडीविचाराभावः प्रसज्येत । तथा मृगचित्राधनिष्ठाद्व्यंघ्रीणां मध्यनाडीधिष्ण्यानां मध्यनाडीसंस्थैः सर्वैर्भरण्यादिभैः सह च तथा चतुष्पादे भेदो देशविशेषे नाड्यभाव एव प्रसज्येत । न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, आर्यावर्त्तनिवासिसकलशिष्टाचारविरोधप्रसङ्गात् न च—‘त्रिनाडीसर्वदेशेषु वर्जनीया प्रयत्नतः’ इत्युक्तेरहल्यापांचालयोरपि देशयोस्त्रिनाड्यस्त्येवेति वाच्यम्, ‘चतुर्नाडी त्वहल्यायां पांचाले पञ्च नाडिका’ इत्येतद्विशेषविधानात् । अत्रेमां समाधिसरणिं पश्यामः । “ चतुस्त्रिद्व्यंघ्रिभोत्थायाः कन्यायाः क्रमशोऽत्रिभात् । वह्निमार्दिदुम्नानाडी त्रिचतुःपञ्चपर्वभिः ॥ ” इति पद्येन कश्यपो नाडीत्रयविचारमभिधायानुपदमेव—“रेखास्तिष्ठो विरच्याशु दक्षभाद्यानि विन्यसेत् । एकरेखास्थयोर्मृत्युर्दम्पत्योर्जन्मधिष्ण्ययोः ॥ ” इति पुरनपि त्रिनाडीमुपन्यस्तवान् । सा च त्रिनाडी सर्वेष्वपि कन्यानक्षत्रेषु सर्वेष्वप्यहल्यापांचालसहितेषु देशेषु अवश्यं



विचार्या यथा स्यादित्येतदर्थमुक्ता । न चेदं त्रिनाड्या लक्षणवाक्यमि-  
दमिति वाच्यम् । एवं चतुर्नाडीपञ्चनाड्योरपि लक्षणाभिधानं कर्त्तव्यं  
स्यात् । किं च यदि लक्षणवाक्यमङ्गीक्रियेत तदा वसिष्ठवाक्यवदनुलो-  
मविलोमगणना वक्तव्या स्यात् । सा च नोक्तेति विधिवाक्यमेवैतत् ।  
तस्माद्वसिष्ठादिभिर्देशनक्षत्रभेदेनानित्यप्रवृत्तिके चतुःपञ्चनाड्यावुपे-  
क्ष्य सकलदेशव्यापित्वात्सकलनक्षत्रव्यापित्वाच्च त्रिनाड्येवोक्ता । न चैता-  
वता चतुःपञ्चनाड्यौ स्वस्वदेशव्यतिरिक्तान्यदेशेषु नैवावलोक्ये किन्तु  
सर्वेष्वपि देशेषु विचार्ये । तत्र स्वदेशे दोषमहत्त्वमन्यदेशे दोषाल्पता ।  
त्रिनाडी तु सर्वत्रैव समानदोषा । यदाह मनुः—

“अहल्यायां चतुर्नाडीसंयोगः कालमृत्युदः ।  
एष योगोन्यदेशेषु ह्यपमृत्युफलप्रदः ॥  
पञ्चनाडीसमायोगः पांचाले कालदण्डदः ।  
इतरत्र समायोगो दुःखदारिद्र्यदोषकृत् ॥  
त्रिनाड्यां तु समायोगः सर्वत्रानिष्टकारकः ॥” इति ।

यत्तु ज्योतिर्निबन्धे, ज्योतिःप्रकाशे अश्विन्यादित्रिनाडीं प्रकृत्या-  
भिहितं—“ निधनं मध्यमनाड्यां दम्पत्योर्नैव पार्श्वयोर्नाड्योः ” इति ।  
तत्र पार्श्वनाड्यां मृत्युरूपमहादोषाभावं मत्वा विवाहादिकरणं शुभमि-  
त्यर्थः । ततः क्षत्रियादिविषयं गोदावरोतो दक्षिणदेशवासिविषयं वा ।  
तदभ्युक्तं तत्रैव—“ करप्रहे पृष्ठनाड्यौ न निधे इति यद्वचः । तत्क्ष-  
त्रियादिविषयं गौतम्या याम्यतस्तथा ॥ ” इति । गौतमीगोदावरी ।  
अत्रार्थे आर्षं मूलं मृग्यम् ।

त्रिनाड्यपि गुरुप्रभुपरयाङ्गनादावनिष्ठा—

इयं चाश्विन्यादित्रिनाडी गुर्वादिष्वप्यनिष्ठा प्रभुपरयाङ्गनादौ न  
शुभैवः । उक्तं च स्वरोदये—

“एकनाडी स्थिता यत्र गुरुमन्त्राश्च देवताः ।  
तत्र द्वेषं रुजं मृत्युं क्रमेण फलमादिशेत् ॥  
प्रभुः परयाङ्गना मित्रं देशग्रामं पुरं गृहम् ।  
एकनाडीस्थितं भञ्जं विरुद्धं वेधवर्जितम् ॥” इति ।

अत्र नाडीवेधे चरणवेधे आवश्यकविषयस्त्याज्यः—

एतदप्युक्तं तत्रैव—

“आद्यांशेन चतुर्थांशं चतुर्थांशेन चादिमम् ।  
द्वितीयेन तृतीयं तु तृतीयेन द्वितीयकम् ॥  
एवं भांशव्यधो येषां जायते वरकन्ययोः ।  
तेषां मृत्युर्न सन्देहः शेषांशाः स्वल्पदोषदाः ॥”  
नाडीदोषे जपादिकम्—

तत्राप्यावश्यकत्वे गुरुः—

“दोषापनुत्तये नाड्या मृत्युञ्जयजपादिकम् ।  
विधाय ब्राह्मणांश्चैव तर्पयेत्कांचनादिना ॥  
हिरण्मयीं दक्षिणां च दद्याद्द्वर्णादिकूटके ।  
गावोन्नं वसनं हेम सर्वदोषापहारकम् ॥” इति ।

अष्टकूटानामेवोक्तौ हेतुः—

एवं सर्वसंमतत्वाद्दष्टौ कूटभेदा अभिहिता नान्ये—“माहेन्द्रं गौड-  
देशे च मालवे रज्जुसंज्ञकम्” इत्यादिबादरायणवाक्येन कूटानां तत्त  
द्देशविषयतापादनात् । ते च कूटभेदा वसिष्ठसंहितायामस्मत्पितृश्र-  
णकृते टोडरानन्दे च सामान्यविशेषभावसहिता द्रष्टव्याः ॥ ३४ ॥

अथेन्द्रवज्रया पूर्वमध्यापरभागयोगीनि भान्याह—

पौष्णेशशाक्राद्रससूर्यनन्दा

पूर्वाद्धर्मध्यापरभागयुग्मम् ।

भर्ता प्रियः प्राग्युजि भे स्त्रिया स्या-

न्मध्ये द्वयोः प्रेम परे प्रिया स्त्री ॥३५॥

पौष्णेशेति । पौष्णाद्रेवत्याः षड्भं भानि जात्यभिप्रायमेकवचन-  
म् । पूर्वार्द्धयोगीनि ज्ञेयानि । आर्द्रादिद्वादशमध्यभागयोगीनि ज्ञेयानि ।  
ज्येष्ठादीनि नव अपरभागयोगीनि ज्ञेयानि । फलमाह भर्ता प्रिय इति ।  
अयं भावः । राज्ञामन्तःपुरस्थस्त्रीसमागमे गणिकादिसमागमे वा पूर्वा-  
र्द्धं युजि नक्षत्रे सति स्त्रीणां भर्ता प्रियः । मध्यभागयुजि भे  
परस्परं प्रीतिर्भवेत् । परे परभागयुजि भे स्त्री नृणां प्रिया भवे-



दिति । एवं वधूरयोर्नवसमागमेपि ज्ञेयमिति रत्नमालाटीकायां महा-  
देवेनोक्तम् ॥ ३५ ॥

अथ प्राच्यसम्मतं वर्गकूटमार्यथाह—

अकचटतपयशवर्गाः खगेशमार्जारसिंहशुनाम् ।

सर्पाखुमृगावीनां निजपञ्चमवैरिणामष्टौ ॥ ३६ ॥

अकचटेति । नामकर्मप्रकरणे चूचेचोलापदेष्वाद्य इत्यज्भलरूपाः  
सर्वे वर्णा अस्माभिरभिहिताः । तत्राज्जखोऽवर्गः कुचुदुतुपु इति पञ्चव-  
र्गाः, एको यवर्गः, अन्यः शवर्गः, एवमष्टौ वर्गाः । तत्र अवर्गः खगेशस्य  
गरुडस्य, कवर्गो मार्जारस्य, चवर्गः सिंहस्य, टवर्गः शुनः कुक्कुरस्य,  
तवर्गः सर्पस्य, पवर्गः आखोः मूषकस्य, यवर्गः मृगस्य, शवर्गो मेष-  
स्य । अत्र निजात्स्वस्मात्पञ्चमा वैरिणो येषां ते तथोक्ताः । गरुडसर्प-  
योः, मार्जारमूषकयोः, सिंहमृगयोः, श्वमेषयोः, परस्परं महावैरमित्य-  
र्थः । अत्र स्त्रीपुंसयोर्नक्षत्रद्वयं भक्ष्यभक्षकवर्गे चेत् भवेत्तदा न शुभम् ।  
यदा त्वेकवर्गे उदासीनवर्गे वा स्यात्तदा शुभमेव ।

एवञ्च स्वामिसेवकयोरपि विचार्यम्—

उक्तं च ज्योतिर्निबन्धे—

“वर्गेशास्तादर्थ्यमार्जारसिंहश्वव्यालमूषकाः ।

मृगश्च शशकस्तत्र स्ववर्गात्पञ्चमो रिपुः ॥” इति ॥ ३६ ॥

अथैवं कूटान्यभिधायेदानीं नक्षत्रराश्यैक्ये विशेषं शालिन्याह—

राश्यैक्ये चेद्भिन्नमृत्तं द्वयोः स्या-

नक्षत्रैक्ये राशियुग्मं तथैव ।

नाडीदोषो नो गणानां च दोषो

नक्षत्रैक्ये पादभेदे शुभं स्यात् ॥ ३७ ॥

राश्यैक्ये इति । द्वयोः स्त्रीपुंसयोरेकराशित्वे सति यदि भिन्नमृत्तं  
स्यात्तदा नाडीदोषो गणानां च राक्षसमनुष्यगणानां च दोषो ना-  
स्ति । यथा एकस्मिन्नाशौ शततारकापूर्वाभाद्रपदापादत्रयं च इत्येव

रूपो नक्षत्रभेदः । तथैव नक्षत्रैक्ये राशियुग्मं राशिद्वयं चेत्स्यात्तदापि प्रागुक्तो दोषो न स्यात् । उपलक्षणत्वात्तारादोषोपि न भवेत् । यथा एकस्मिन्नेव नक्षत्रे पूर्वाभाद्रपदाख्ये पूर्वाभाद्रपदायाः प्रथमपादत्रयं कुम्भे चतुर्थचरणश्च मीने इत्येवंरूपो राशिभेदः । यदाह नारदः—

“एकराशौ पृथग्धिष्ये दम्पत्योः पाणिपीडनम् ।

उत्तमं मध्यमं भिन्नराश्येकर्त्तव्योस्तयोः ॥

एकत्वं चैकराशौ च विवाहः प्राणहानिदः ।”

वसिष्ठः—“दम्पत्योर्जन्मभे चैक्ये राशौ च निधनं तयोः ।

एकस्य च तथोद्वाहे किञ्चिद्भेदेपि वा न वा ॥” इति ।

नक्षत्रभेदे राशिभेदे च गर्गः—

“एकराशिं विना नाडीयौगमादौ विवर्जयेत् ।

न दोषस्त्वेकराशिस्थे भकूटेऽन्येषु मृत्युदः ॥” इति ।

भृगुरपि—“दम्पत्योरेकराशिश्चेत्पृथगृत्तं यदा भवेत् ।

वसिष्ठोक्तो विवाहः स्याद्गणनाडी न योजयेत् ॥” इति ।

अत एवाह केशवार्कः—

“अभिन्नराशोर्यदि भिन्नमृत्तमभिन्नमृत्तं यदि भिन्नराश्योः ।

प्रोतिस्तदानीं निविडा नृनार्योश्चेत्कृत्तिकारोहिणिवन्न नाडी ॥” इति ।

चतुर्थचरणस्यायमर्थः । चेद्यदि कृत्तिका रोहिणीवत्स्यात्तदापि नाडीदोषो न स्यात् । उपलक्षणत्वाद्गणदोषोपि । यथा कृत्तिकारो-  
हिणयोरेकनाडीत्वेपि गणदौष्ट्येपि तत्सूचिताऽशुभफलं नैव स्यात् ।

स्त्रीपुंसारयोः प्रथमा पुंतारा चेदेव शुभो विवाहः—

अत्रापि प्रथमतः पुंतारापेक्षिता द्वितीया स्त्रीतारेत्यपि विशेषो ध्ये-  
यः । यदाह गर्गः—“एकराशौ पृथग्धिष्ये पुंतारा प्रथमा भवेत् । अ-  
तीव शोभना प्रोक्ता स्त्रीतारा चेत्त्वशोभना ॥” इति । तदैवं कैमुतिकन्या-  
येन यत्र नाडीगणदोषाद्यभावो यथा रोहिणीमृगयोर्हस्तचित्रयोर्वा तत्र  
पाणिपीडनं शुभं स्यादिति किं वाच्यमित्यर्थः ।

राश्यैक्ये नक्षत्रैक्ये पादभेदे विवाहः—

अथैकराशिनक्षत्रत्वेऽपवादमाह—नक्षत्रैक्ये इति । स्त्रीपुंसयो रा-  
श्यैक्ये नक्षत्रैक्ये च यदि चरणभेदो यथा भरण्याः प्रथमपादे पुंसो  
जन्म द्वितीयपादे स्त्रियास्तदापि शुभं कल्पाणं स्यात् । तदुक्तं केशवा-



कैण—“पराशरः प्राह नवांशभेदादे कर्त्तृराश्योरपि सौमनस्यम् ॥” इति ।  
 सौमनस्यं प्रीतिः । वसिष्ठेनापि—“एकगृहसम्भवानां भवति विवाहः  
 सुतार्थसम्पत्तयै । यद्युभयोरैकं भवति तदा चांशको भिन्नः ॥” इति ।  
 एतच्च सङ्कोचविषयं वेदितव्यम् । तथा च जगन्मोहने—“एकं चैक-  
 राशौ च विवाहस्त्वशुभः स्मृतः । संकोचे तु तदा कार्यो भिन्नः पादो  
 यदा तयोः ॥” इति ।

नक्षत्रैक्यं तद्वर्णना च—

अत्रापि विशेषो ज्योतिर्निबन्धे विधिरत्ने—“रोहिण्यार्द्रामघेन्द्राग्नी  
 तिष्यश्रवणपौष्णभम् । उत्तरा प्रोष्ठपाञ्चैव नक्षत्रेकप्रेपि शोभनाः ॥”  
 इति । इन्द्राग्नी विशाखा । तदेतत्स्पष्टमुक्तं तत्रैव विधिरत्ने—“विशाखि-  
 कार्द्वश्रवणप्रजेशतिष्यान्त्यतत्पूर्वमघाः प्रशस्ताः । स्त्रीपुंसतारैक्यपरिग्रहे  
 तु शेषा विवर्ज्या इति संगिरन्ते ॥” इति । शेषास्तारा इत्यर्थः ।

जन्मनक्षत्रादीनामज्ञाने तज्ज्ञानोपायः—

अत्र द्वयोरन्यतरस्य वा जन्मराशिनक्षत्राद्यज्ञाने उपायमाह वसिष्ठः—

“अज्ञातजन्मनां नृणां नामभे परिकल्पना ।

तेनैव चिन्तयेत्सर्वं राशिकूटादि जन्मवत् ॥

जन्मभं जन्मधिष्येन नामधिष्येन नामभम् ।

व्यत्ययेन यदा योज्यं दम्पत्योर्निधनप्रदम् ॥” इति ।

“कुर्यात्षोडश कर्माणि जन्मराशौ बलान्विते ।

सर्वाण्यन्यानि कर्माणि नामराशौ बलान्विते ॥” इति ।

बृहस्पतिः—“व्यवहारराजसेवासंग्रामग्राममैत्रेषु ।

ज्ञातेपि जन्मराशौ फलमुक्तं नोमराशिवशात् ॥” इति ।

नाम्नः सकाशाज्जन्मनक्षत्रज्ञानं स्वरोदयाभिहितशतपदचक्रान्तर्गत-  
 स्त्रोयनामादिवर्णवशाज्ज्ञेयमिति । यस्तु ऋकारादिवर्णो नास्ति ऋषभा-  
 दिनामसु च दृश्यते तत्र यथासम्प्रदायं व्यवस्था ॥ ३७ ॥

अथ सेवकादिभ्यः स्वाम्यादिभात् पूर्वत्वे विशेषं वसन्तति-  
 लक्याह—

सेव्याधमर्णयुवतीनगरादिभं चेत्

पूर्वं हि भृत्यधनिभर्तृपुरादिसद्भात् ।

सेवाविनाशधननाशनभर्तृनाश-

ग्रामादिसौख्यहृदिदं क्रमशः प्रदिष्टम् ॥३८॥

सेव्याधमर्णेति । स्पष्टार्थम् । तथा चोक्तं डामरसंग्रहे—

“भामिनीजन्मनक्षत्राद्वितीयं पतिजन्मभम् ।

न शुभं भर्तृनाशाय कथितं ब्रह्मयामले ॥

प्रथमं सेव्यजन्मर्क्षं द्वितीयं सेवकस्य च ।

न सेवा सुस्थिरा तस्य जलबुद्बुदवत्प्रिये ॥ ” इति ।

“ऋणग्राहकजन्मर्क्षं प्रथममृणदस्य भात् ।

द्वितीयं ऋणसम्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ॥

कदाचिद्द्रव्यलोभेन क्रियते नैव लभ्यते ।

पार्वतीप्राणनाथेन प्रोक्तं डामरसंग्रहे ॥

ग्रामभं प्रथमं यस्य द्वितीयं जन्मभं भवेत् ।

न ग्राह्यः सर्वथा ग्रामो यतः प्राप्यार्थनाशदः ॥ ” इति ॥ ३८॥

अथ विवाहे एवं मासशुद्धिं दम्पत्योरानुकूल्यशुद्धिं चोक्तवेदानीं  
सूक्ष्मं निर्दोषं दिनलग्नविचारं वक्ष्यति । तत्रैकविंशतिः सर्वसंमता दोषा  
नारदेन परिगणिताः—

“एकविंशतिदोषाणां नामरूपफलानि च ।

पितामहोक्तं संवीक्ष्य तानि वक्ष्ये समासतः ॥

पञ्चांगशुद्धिरहितो दोषस्त्वाद्यः प्रकीर्तितः ।

उदयास्तशुद्धिरहितो द्वितीयः सूर्यसंक्रमः ॥

तृतीयः पापषड्वर्गो भृगुः षष्ठः कुजोष्टमः ।

गण्डांतं कर्त्तरीरिष्फषडष्टेन्दुश्च संग्रहः ॥

दम्पत्योरष्टमं लग्नं राशिर्विषघटी तथा ।

दुर्मुहूर्त्तो वारदोषः खार्जूरिकसमांघ्रिभम् ॥

ग्रहणोत्पातभं क्रूरविद्धत्तं क्रूरसंयुतम् ।

कुनवांशो महापातो वैधृतिश्चैकविंशतिः ॥ ” इति ।

अन्यैस्तु दशदोषा उक्ताः—

“वेधश्च लत्ता च तथा च पातः

खार्जूरयोगो दशयोगचक्रम् ।



युतिश्च जामित्रमुपग्रहाश्च  
बाणाख्यवज्रौ दश चैव दोषाः ॥”

इति व्यवहारोच्चयेऽभिधानात् । दुर्मुहूर्तौ ‘खावर्यमा’ इत्यादिः ।  
वारदोषः कुलिकादिः । क्रूरसंयुतमित्यस्योपलक्षणत्वादकालवृष्टिना को-  
पि दोषो गृह्यते । यदाह वसिष्ठः—“पञ्चांगशुद्धिरहिताश्चोत्पाताऽका-  
लवृष्टिजाः ।” इति ।

एतद्दोषाणां फलानि—

एषां दोषाणां कर्मविशेषे फलमाह वसिष्ठ एव—  
“एकविंशन्महादोषास्त्वेते ब्रह्ममुखोदिताः ।  
कदाचिन्नैव सीदन्ति गुणानां कोटिकोटिभिः ॥  
तस्मादेतेषु दोषेषु कदाचिन्नाचरेच्छुभम् ।  
विवाहे विधवा नारी मरणं व्रतबन्धने ॥  
ग्रामनाशः प्रतिष्ठायां सीमन्ते गर्भनाशनम् ।  
नवाग्रभोजने मृत्युः कृषौ तत्फलनाशनम् ॥  
कर्तुर्नाशो गृहारम्भे प्रवेशे पतिनाशनम् ।  
यात्रायां कर्तृनाशः स्याद्युद्धयाने विशेषतः ॥  
लभ्यते सुमहत्पुण्यमेषु श्राद्धादिकर्मभिः ।” इति ।

षड्वर्गस्वरूपाणि—

ग्रन्थकर्त्रा तु दोषलक्षणस्य वक्तव्यत्वात्पृथग्दोषनामानि नोक्तानि ।  
तत्र पञ्चांगदोषदुर्मुहूर्तवारदोषग्रहणोत्पातनक्षत्रदोषा आद्ये शुभाशुभ-  
प्रकरणे निरूपिता एवेति पुनर्नोच्यन्ते । दुर्मुहूर्तवारदोषयोः पुनरभि-  
धाने प्रयोजनं तत्रैव वयं वदयामः । अतोऽन्यान्दोषान्सलक्षणां विचक्षुरा-  
दौ व्याख्यानिरपेक्षत्वेन सुगमं षड्वर्गदोषमाह—कुजशुक्रेत्यादिचतुर्भिः  
पद्यैः । तत्र गृहनवांशस्वामिनः आदिमेन मञ्जुभाषिणीवृत्तेनाह—

कुजशुक्रसौम्यशशिसूर्यचन्द्रजाः

कविभौमजीवशनिसौरयो गुरुः ।

इह राशिपाः क्रियमृगास्यतौलिके-

न्दुमतो नवांशविधिरुच्यते बुधैः ॥३६॥

कुजेति । अत्र लग्नादीनां लक्षणं नारदेनोक्तं—

“त्रिंशद्भागात्मकं लग्नं होरा तस्यार्द्धमुच्यते ।

लग्नत्रिभागो द्वेष्काणो नवमांशो नवांशकः ॥

द्वादशांशो द्वादशांशस्त्रिंशांशस्त्रिंशदंशकः ।

षड्वर्गाः कथिता ह्येते तेषामीशा इमे स्मृताः ॥ ” इति ।

तेषां स्वामिनः—

तत्रैते भौमशुक्रबुधचन्द्रसूर्यबुधशुक्रभौमशुक्रशनिगुरवः क्रमेणैह  
षड्वर्गे राशिषा मेषादिराशीनां स्वामिनः ।

नवांशैरंशलग्नानां विभागो राशीशाश्च—

क्रियेति । क्रियो मेषः, मृगास्यं मकरः, तौलिकं तुला, इंदुमं  
कर्कः, एभ्यो राशिभ्यो द्वादशस्वपि राशिषु नवांशविधिर्बुधैरुच्यते । मेषे  
मेषादेव, वृषे मकरादेव, मिथुने तुलातः । कर्कं कर्कादेव । एवं सिंहपि  
मेषादेव । एवं कन्यादिष्वपि राशिषु मकरादित एव । एवमेव धनुरा-  
दिष्वपीत्यर्थः । यदाह नारदः—

“सिंहस्याधिपतिर्भानुश्चन्द्रः कर्कटकेश्वरः ।

मेषवृश्चिकयोर्भौमः कन्यामिथुनयोर्बुधः ॥

धनुर्मीनयोर्देवेज्यः शुक्रो वृषतुलेश्वरः ।

शनिर्मकरकुम्भेश इत्येते राशिनायकाः ॥” इति ।

“नवमांशा मेषसिंहचापमेषादयः क्रमात् ।

क्रमाद्भौममृगकन्यासु ज्ञेयाः स्युर्मकरादयः ॥

तुलामिथुनकुम्भेषु स्युः क्रमेण तुलादयः ।

अलिकर्कटमीनेषु क्रमात्स्युः कर्कटादयः ॥” इति ॥ ३६ ॥

अथ होराविधिं गायत्रीच्छन्दोभेदेन शशिवदनावृत्तेनाह—

समगृहमध्ये शशिरविहोरा ।

विषमभंमध्ये रविशशिनोः सा ॥४०॥

समगृहेति । पञ्चदशभागात्मिकैका होरा समराशिमध्ये प्रथमा  
चन्द्रस्यापरा सूर्यस्य । विषमराशिमध्ये प्रथमा रवेरपरा चन्द्रस्येत्यर्थः ।



‘होराकेंद्रोरोजराशौ समभे चन्द्रसूर्ययोः’ इति नारदोक्तोः ॥ ४० ॥

अथ त्रिंशद्रेष्काणान्वसन्ततिलकयाह—

शुक्रज्ञजीवशनिभूतनयस्य बाण-

शैलाष्टपञ्चविशिखाः समराशिमध्ये ।

त्रिंशांशको विषमभे विपरीतमस्माद्

द्रेष्काणकाः प्रथमपञ्चनवाधिपानाम् ॥ ४१ ॥

शुक्रज्ञेति । समराशिमध्ये क्रमेण प्रथमतः पञ्चानामंशानां शुक्रः स्वामी, ततः शैलानां सप्तानां ज्ञो बुधः, ततोऽष्टानां जीवो गुरुः, ततः पञ्चानां शनिः, ततो विशिखा बाणाः पञ्च तेषां भूतनयो भौमः । शुक्रज्ञेत्यादिस-  
माहारद्वन्द्वः । विषमभे तु अस्मात्समराशेर्विपरीतं ज्ञेयम् । यथा प्रथमतः पञ्चानां भौमः, ततः पञ्चानां शनिः, ततोऽष्टानां गुरुः, ततः सप्तानां बुधः, ततः पञ्चानां शुक्र इत्यर्थः । अयमेव त्रिंशांशकसंज्ञ इति । यदाह नारदः—  
“कुजाकीर्ज्यज्ञशुक्राणां बाणेष्वष्टाद्रिमार्गणाः । भागाः स्युर्विषमे ते तु समराशौ विपर्ययात् ॥” इति । अत्र केचिदाहुः—तुर्विशेषे । तु इति हि प्रथमावहुवचनांतः । ततः प्रथमांतसामानाधिकरण्यानुरोधादानंत-  
र्याच्च बाणादिका भागा एव परामुच्यन्ते न स्वामिनः । अनानन्तर्याद्भिन्न-  
विभक्तिकत्वाच्च । तथा सत्ययमर्थः । समराशौ तु विशेषः । ते बाणा-  
दिका भागा विपर्ययाद् व्यत्यस्तस्थितानामेव कुजादीनां ज्ञेयाः ।  
यथा प्रथमतः पञ्चानामंशानां स्वामी भौमः, ततः सप्तानां शनिः, ततोऽष्टानां गुरुः, ततः पञ्चानां बुधः, ततः पञ्चानां शुक्र इति । मूले-  
प्येवमेव धत्तुमुचितम् । तत्कस्य हेतोर्द्वयोरपि वैपरीत्यम् । उच्यते—  
अव्ययानामनेकार्थत्वात्तुशब्दस्य समुच्चयार्थत्वांगीकरणात्कुजादयोपि सं-  
मुच्चीयन्ते । तथा सति बाणादिका भागाः कुजादिकाः स्वामि-  
नोपि विपर्यस्ता ज्ञेया इत्यर्थः । अत्रार्थे प्रमाणं श्रुतिकीर्ति-  
वचनं यथा—

“पञ्चाथ पञ्च चाष्टौ सप्त च पञ्चैव चोजभवनेषु ।

धरणिमुत्तमन्दसुरगुरुबुधशुक्राणां क्रमेणांशाः ॥

पञ्चैव सप्त चाष्टौ पञ्चपञ्चाथ युग्मभवनेषु ।

भागा भार्गवशशिसुतसुरेज्यशनिभूमिपुत्राणाम् ॥” इति ।

अत एव वराहेणापि—

‘युजि तु ते विपर्यस्ताः’ इत्यत्र तुशब्दः प्रयुक्तः । यदि नायमर्थोभिप्रेतः स्यात्तदा न केपि तुशब्दं प्रयुंजीरन्निति सर्वं निरवयम् ।

द्रेष्काणका इति । अत्र प्रमाणं—दशांशाः द्वादशसु राशिषु प्रथमो द्रेष्काणः प्रथमस्य स्वराश्यधीशस्य द्वितीयो द्रेष्काणः स्वराशितः पञ्चमराशीश्वरस्य तृतीयः स्वराशितो नवमराशीश्वरस्य । यथा वृषे प्रथमो द्रेष्काणो वृषाधीशशुक्रस्य, द्वितीयः कन्याधीशबुधस्य, तृतीयो मकराधीशशनेरित्यर्थः । ‘स्युर्द्रेष्काणा लग्नपञ्चनवराशीश्वराः क्रमात्’ इति नारदोक्तेः ॥ ४१ ॥

अथ द्वादशांशं षड्गोपसंहारं सफलं वसन्ततिलकयाह—

स्याद्द्वादशांश इह राशित एव गेहं

होराऽथ दृक्नवमांशकसूर्यभागाः ।

त्रिंशांशकश्च षडिमे कथितास्तु वर्गाः

सौम्यैः शुभं भवति चाशुभमेव पापैः ॥ ४२ ॥

स्यादिति । इह षड्गो द्वादशांशः सार्द्धमशद्वयं तत्स्वराशित एवेष्टांशांतं गणितं सद्यस्तद्राशिस्वामी स द्वादशांशेश्वरः । “आरभ्य लग्नराशेस्तु द्वादशांशेश्वरः क्रमात्” इति नारदोक्तेः । अन्यच्चरणत्रयं स्पष्टतरम् । तदुक्तं वसिष्ठेन—

“लग्नं तदङ्गं च तत्त्रिभागो नवांशकश्च द्विदशांशकश्च ।

त्रिंशांशकश्चेति हि वर्गषट्कं शुभं शुभव्योमचराधिपत्यम् ॥

यः पापषड्गर्भवो हि दोषः पञ्चाङ्गसौम्यग्रहलग्नजातम् ।

गुणौघमम्भोधिममोघवाणः शुष्यत्यशेषं खलु राघवस्य ॥” इति ।

तस्मात्सौम्यपापग्रहषड्गर्गसांकर्ये सति सौम्यषड्गर्गत्रिभ्योऽधिकश्चेच्छुभः त्रिभ्यो हीनश्चेदशुभ इत्यर्थः ॥ ४२ ॥



अथ गरुडान्तदोषं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

ज्येष्ठापौष्णभसार्पभान्त्यघटिकायुग्मं च मूलाश्विनी-  
पित्र्यादौ घटिकाद्वयं निगदितं तद्वस्थ गरुडान्तकम् ।  
कर्काल्यएडजभान्ततोऽर्धघटिका सिंहाश्वमेषादिगा  
पूर्णान्ते घटिकात्मकं त्वशुभदं नन्दातिथेश्चादिमम् ॥४३॥

ज्येष्ठेति । गरुडान्तं नाम सन्धिविशेषः । स चानेकविधः—  
नक्षत्रसंधिस्तिथिसंधिलग्नसन्धिस्तथा योगसन्धिः करणसन्धिर्वर्षस-  
न्धिरयनसन्धिर्ऋतुसन्धिर्माससन्धिः पक्षसन्धिर्दिनसन्धी रात्रिसन्धि-  
र्मध्याह्नसन्धिः प्रातःसन्धिः सायंसन्धिर्निशीथसन्धिश्च । तत्र तिथिनक्ष-  
त्रलग्नविशेषाणां यः सन्धिर्नियतकालः स गरुडान्तसंज्ञः । अन्येषां तु  
सन्धिर्नियतकालसंधिशब्दवाच्य एव ।

नक्षत्रगरुडान्तदोषास्तत्फलानि च—

तत्रादौ नक्षत्रगरुडान्तमुच्यते । ज्येष्ठा प्रसिद्धा, पौष्णभं रेवती, सार्प-  
भमाश्लेषा, एषामन्ते घटिकाद्वयम् । तथा मूलाश्विन्यौ प्रसिद्धे, पित्र्यं  
पितरोदेवतास्येति पित्र्यं मघा, “वाय्वृतुपित्रुषसो यत्” इति यत् ।  
एषामादौ घटिकाद्वयं गरुडान्तं नाम । यथा रेवत्यश्विनयोराश्ले-  
षामघयोर्ज्येष्ठामूलयोरन्तरालवर्तिघटिचतुष्टयं नक्षत्रगरुडान्तमशुभदमि-  
त्युत्तरादूर्ध्वेनान्वयः । तदुक्तं रत्नमालायाम्—

“पौष्णाश्विन्योः सार्पपित्र्यर्क्षयोश्च  
यच्च ज्येष्ठामूलयोरन्तरालम् ।  
तद्गरुडान्तं स्याच्चतुर्नाडिकं हि  
यात्राजन्मोद्वाहकालेष्वनिष्टम् ॥” इति ।

यत्तु वसिष्ठेनोक्तं—

“यदन्तरालं पितृसार्पयोश्च मूलेन्द्रयोराश्विनपौष्णयोश्च ।  
भसन्धिगरुडान्तमिति त्रयं तद्यामप्रमाणं शुभकर्महन्तृ ॥” इति ।  
यामः प्रहरः । नक्षत्रभोगस्येति शेषः । नारदोपि—

“सार्पे न पौष्णधिष्यान्ते षोडशांशा भसन्धयः ।

तदग्रमेष्वाद्यजाता पापा गण्डान्तसंज्ञकाः ॥

उग्रं सन्धित्रितयजं गण्डान्तत्रितयं महत् ।

मृत्युदं जन्मयानादिविवाहस्थापनादिषु ॥”

षोडशांशो नक्षत्रभोगस्यार्द्धप्रहर इति यावत् । आद्यजाताः षोडशांशाः, तदेतद्दोषमहत्स्वालपत्वसूचनार्थम् । तथा हि चतुर्घटिके नक्षत्रगण्डान्ते महान्दोषस्तदधिके त्वष्ट्रघटिकात्मके मध्यमदोषः । ततोप्यधिके चरणावधिके त्वहोदोषः । अत एवोक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

“सार्पेद्रपौष्णधिष्यानामन्त्याः पादा भसन्धयः ।

तदग्रमेषु सार्द्धांशो गण्डान्तं नाम कीर्त्यते ॥

व्यतीपातत्रयं घोरं गण्डान्तत्रितयं तथा ।

एतद्भसन्धित्रितयं सर्वकर्मसु धर्जयेत् ॥” इति ।

अर्द्धांशश्चरणार्द्धं प्रहर इत्यर्थः । दीपिकायां च—

“आद्ये मघाचतुर्भागे मूलपादाद्य एव च ।

रेवत्यन्ते चतुर्भागे विवाहः प्राणनाशकः ॥” इति ।

अथ लग्नगण्डान्तमुच्यते—

कर्केति । कर्कः प्रसिद्धः, अलिर्वृश्चिकः, अण्डजो मीनः ‘मीनो वैसारिणोण्डजः’ इत्यभिधानात् । एषां भानां लग्नानामन्ततः । सप्तम्यन्तात्तसिः । अन्तेऽर्द्धघटिका । तथा सिंहमेषौ प्रसिद्धौ, अश्वो धनुः, एषां लग्नानामादिभूतार्द्धघटिकागण्डान्तं नाम । तथा कर्कसिंहयोर्वृश्चिकधनुषोर्मीनमेषयोर्वा लग्नयोरन्तर्वर्तिन्येका घटिका लग्नगण्डान्तमशुभमित्यर्थः । यदाह कश्यपः—“सिंहकर्कटयोश्चापकीटयोर्मीनमेषयोः । गण्डान्तमन्तरालं तन्नाडिका निधनप्रदा” इति । यत्तु नारदेनोक्तं—“कुलीरसिंहयोः कीटचापयोर्मीनमेषयोः । गण्डान्तमन्तरालं स्याद्वटिकार्द्धं मृतिप्रदम् ॥” इति । वसिष्ठेनापि—“लग्नान्तमन्तरालं स्याद्वटिकार्द्धमेतत्कुलीरहयोरलिचापयोश्च । मीनाजयोः सर्वगुणान्निहन्ति लोभो यथा सर्वगुणान्नरस्य ॥” इति—तद्दोषाधिक्यसूचनार्थम् ।



अथ तिथिगण्डान्तमुच्यते—

पूर्णात इति । पूर्णाः पञ्चमीदशमीपञ्चदश्यस्तासामन्ते घटिकैका,  
तथा नन्दा प्रतिपत्षष्ठ्येकादश्यस्तासामादिभूतैका घटिका तिथि-  
गण्डातं नाम । यथा पञ्चमीषष्ठयोर्दशम्येकादश्योः पञ्चदशीप्रति-  
पदोर्वा तिथ्योरन्तरालवर्तिघटिद्वयं तिथिगण्डान्तमशुभमित्यर्थः ।  
यदाह नारदः—

“पूर्णानन्दाख्ययोस्तिथ्योः सन्धिर्नाडीद्वयं सदा ।  
गण्डान्तं मृत्युदं जन्मयात्रोद्वाहव्रतादिषु ॥” इति ।

यत्तु कश्यपेनोक्तं—

“पूर्णानन्दाख्ययोस्तिथ्योः सन्धिर्नाडीचतुष्टयम् ।  
उद्वाहजन्मयानेषु गण्डान्तं निधनप्रदम् ॥” इति ।  
तद्दोषतारतम्यसूचनार्थम् । एवं गण्डान्तसंज्ञः सन्धिरुक्तः ।  
तत्र तिथिलग्नगण्डान्तपरिहारः शाकल्यसंहितायाम्—  
“तथैव तिथिगण्डान्तं नास्तीदौ बलशालिनि ।  
तथैव लग्नगण्डान्तं नास्ति जीवे बलान्विते ॥” इति ।  
अत्र प्रसङ्गादन्येषामपि सन्धिरुच्यतेऽस्माभिः ।  
यदाह गुरुः—“घटिकाद्वयमृक्षान्ते मासान्ते तु दिनत्रयम् ।  
वर्षाते वर्जयेत्पक्षं ग्रहणादिनसप्तकम् ॥” इति ।

तिथ्यादिसन्धिमप्याह वसिष्ठः—

“पक्षेब्दसन्धिलिदिनं च माससन्धिलिनाड्यः खलु सन्ध्ययोश्च ।  
नाड्यश्चतस्रस्थितिऋक्षयोगं सन्धिस्तद्वर्द्धं करणस्य सन्धिः ॥”

सौरचान्द्रसावननाक्षत्राब्देषु त्याज्यदिनानि विवाहे—

वर्षेषु विशेषमाह स एव—“सौराब्दान्ते त्यजेत्पक्षं चान्द्रे  
तु नवमं त्यजेत् । सावनांतेष्टमं त्याज्यं नाक्षत्रे पौष्णभाज्यह-  
म् ॥” इति ।

अत्रापि विशेषमाह स एव—

“अब्दाः स्युस्त्रिविधा जीवसौरचान्द्राह्वयाः सदा ।  
तेषामादौ तथा चान्ते त्रिदिनं वर्जयेच्छुभे ॥” इति ।

अयं च सर्वकार्यसाधारणो निषेधः, अन्यथा मीनादित्ये विवाहप्रसङ्गाभावादेव वर्षान्तनिषेधस्य वैयर्थ्यापातात् । गुरुः—

“ऋत्नान्ते पुत्रनाशः स्यान्मासान्ते तु धनक्षयः ।

वर्षान्ते वर्गनाशः स्याद्ग्रहणात्सर्वनाशनम् ॥ ” इति ।

सर्वत्रापवादो विवाहे—

आवश्यकत्वे तु—“ नक्षत्रयोगतिथिसन्धिषु नाडिकैका तिथ्यष्टविंशतिपलैः सहितोभयत्र । कर्कालिमीनतनुसन्धिषु दिक्पलानि त्यक्तानि शेषविशेषेषु च पञ्च पञ्च ॥ ” इति । वासनासिद्धं केशवार्कवाक्यमनुकर्त्तव्यम् । वासना च सिद्धान्तशिरोमणावभिहिता—

“शशितनुविकलाभ्यश्चन्द्रभुक्तेन्दुमान्वो-

र्गतिविवरकलाभिर्भूय एवाभिरेव ।

पृथगथ गतिगुण्या नाडिकाः सन्धिराप्ता

भतिथिकरणयोगानां फलं तत्र मिश्रम् ॥ ” इति ।

सन्धिफलमप्याह केशवार्कः—

“सन्धौ पुरन्ध्री शुचमेति वन्ध्या मृतप्रजा वा यदि सन्धिसन्धिः ।

वदन्ति वात्स्या ऋतुना विमूढा निशीथमध्यंदिनसन्धिषूढा ॥ ” इति ।

अर्द्धरात्रमध्यन्दिनसन्धिर्मध्ये निशाहोर्घटीज्यंशमित्याद्यप्रकरणेभिहितः । सन्धिसन्धिस्तु केशवार्कणोक्तः—

“रवेर्मवेदेकगृहाधिकस्य यदंशवृन्दं खलु सायनस्य ।

तदत्र राशिद्वयमागतष्टं स्पष्टं वसन्तादृतवो भवन्ति ॥

तत्सन्धयौगांगघटोसमाः स्युर्द्विसंगुणाश्चेद्विषुवायनीयाः ।

स सन्धिसन्धिः खलु यत्र शेषं शून्यं भवेदेष विशेषपुण्यः ॥ ” इति ।

मीनसंक्रान्तिमारभ्य वसन्तादृतुगणनेति पक्षमङ्गीकृत्यैकगृहाधिकस्येत्युक्तम् । ग्रन्थरूप्येतद्विषुवायनेष्विति पद्येन संक्रान्तिदोषे वक्ष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अभिजिन्मुहूर्तेपि गण्डान्तदोषस्यापवादान्तरम्—

गण्डान्तदोषपरिहारमाह वसिष्ठः—“ गण्डान्तदोषमखिलं मुहूर्तोभिजिदाह्वयः । हन्ति यद्वन्मृगं व्याधः पक्षिसङ्घमिवाखिलम् ॥ ”



तदेतद्दोषापवादाख्यस्य प्रकारस्य नियामकत्वाद्विवाहविषयं न जा-  
तकादौ ॥ ४३ ॥

अथ कर्त्तरीदोषमनुष्ठुभाह—

लग्नात्पापावृज्वनृजू व्ययार्थस्थौ यदा तदा ।

कर्त्तरी नाम सा ज्ञेया मृत्युदारिद्र्यशोकदा ॥ ४४ ॥

लग्नादिति । यदा पापग्रहौ लग्नाद्व्ययार्थस्थावृज्वनृजू द्वादशस्थः  
पापग्रहो मार्गगतिर्द्वितीयस्थः पापग्रहो वक्री स्यात्तदा कर्त्तरीनामदोषः ।  
कृन्तति स्त्रीपुंसयोः प्राणांश्छेदयतीति 'कृती छेदने' इति धात्वर्थानुसा-  
रादन्वर्था । संमुखकर्त्तरीयं दारिद्र्यशोकदा भवेत् । यदाह नारदः—

“लग्नाभिमुखयोः पापग्रहयोर्ऋजुवक्रयोः ।

सा कर्त्तरीति विज्ञेया दम्पत्योर्गलकर्त्तरी ॥

कर्त्तरीदोषसंयुक्तं यल्लग्नं तत्परित्यजेत् ।

अपि सौम्यग्रहैर्युक्तं गुणैः सर्वैः समन्वितम् ॥” इति ।

गर्गोपि—

“व्यये मार्गगतिः क्रूरो वक्री क्रूरो धने यदि ।

तौ च लग्नांशतुल्यौ च तदा घोराख्यकर्त्तरी ॥”

कर्त्तरीदोषाभावः—

यदा तु द्वितीये मार्गी द्वादशे च वक्री अथ द्वावपि क्रूरौ व्ययार्थ-  
स्थौ सन्तौ शोघ्रिणौ वक्रिणौ वा स्यातां तदा कर्त्तरी नास्त्येव । यदाह  
वसिष्ठः—“लग्नस्य पृष्ठाग्रगयोरसाध्वोः सा कर्त्तरी स्यादृजुवक्रगतयोः ।  
तावेव शीघ्रौ यदि वक्रचारौ न कर्त्तरी चेति पितामहोक्तिः ॥” इति ।

चन्द्रलग्नयोः कर्त्तरीदोषः—

इयं कर्त्तरी चन्द्रस्यापि द्रष्टव्या । यदाह कश्यपः—“चन्द्रस्य क-  
र्त्तरी तद्ब्रह्मभट्टा न दोषदा” इति । परन्तु लग्नस्य चन्द्रस्य वा  
क्रूरग्रहमध्यगतत्वदोषोस्त्येव कर्त्तरीतोल्पफलः । कन्यानाशकरत्वात् ।  
यदाह वसिष्ठः—“क्रूरग्रहमध्यगते लग्ने चन्द्रेऽथवा करग्रहणम् । ते  
यमसदनाभिमुखं गमनं चेच्छन्ति कन्यायाः ॥” इति । कर्त्तरीदोषे त्व-  
न्यदप्यपवादान्तरं 'पापौ कर्त्तरिकारकौ' इत्यादिना स्वयं वक्ष्यति ।

अन्यत्रापि कर्त्तरीदोषः—

अत्र लग्नादित्युपलक्षणात्सर्वेषामपि भावानां कर्त्तरीदोषो ध्येयः ।  
'यो यो भावः स्वामिदृष्टो युतो वा' इत्यादिना तुल्यन्यायत्वात् । तत्र  
लग्ने कर्त्तरी यदा महादोषकरी लग्नभंगाधायकत्वात्तस्या अन्यत्र ता-  
दृशदोषाभाव इति तत्त्वम् । अत्र केचित् । द्वादशे यः कश्चित्पापग्रहो  
भवतु मार्गी द्वितीयस्थाने यदि राहुः केतुर्वा स्यात्तदा कर्त्तरीव नास्ती-  
त्याहुः । ते प्रष्टव्याः । किं राहुकेत्वोर्ग्रहत्वाभावात्क्रूरग्रहत्वाभावाद्वा दृ-  
श्यग्रहत्वाभावाद्वा कर्त्तरी नास्ति ।

राहुकेत्वोर्ग्रहत्वं श्रुतिस्मृतिभ्याम्—

नाद्यः । राहोर्ग्रहत्वं श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यसिद्धम् । तथाहि । “स्वर्भा-  
नुर्ह वा आसुरिः सूर्यं तमसा विव्याध” इति माध्यन्दिनीया श्रुतिः । क-  
श्यपश्च—“छिन्नोऽपि विष्णुचक्रेण सुधामयशिरास्तमः । केशवस्य व-  
रेणासौ तथापि ग्रहतां गतः ॥” इति । नारदोऽपि—“अमृतास्वादना-  
द्राहुःशिरश्छिन्नोऽपि सोऽमृतः । विष्णुना तेन चक्रेण तथापि ग्रहतां  
गतः ॥” इति । यद्यपि—“अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्त्तयो भगणाश्चि-  
ताः । शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥” इति सूर्यसिद्धान्ते  
पातानामदृश्यतोका । तथापि चन्द्रपातस्य हि ग्रहत्वं वाचनिकमेव ।  
“स्वध्रुवे कुमुदिनीपतिपातो राहुमाहुरिह केपि तमेव” इति भास्करा-  
चार्योक्तेश्च । अत एव राहोर्नैर्ऋतदिकस्यामित्वं दानं च संहिताकर्तृ-  
भिस्तुम् । राहोरधःशरीरभागः केतुसंज्ञ इति पुराणप्रसिद्धम् ।

राहुकेतवः क्रूरग्रहाः—

न द्वितीयः । ननु केन वचनेन राहुकेत्वोः क्रूरत्वमुच्यते । न च—  
“क्षीणेन्द्रकर्ममाराः पापास्तैः संयुतः सौम्यः” इति वराहेणोक्तमिति  
वाच्यम् । तदुपादानाभावादेव । किं च पापग्रहत्त्वानभिधानाच्छुभग्र-  
हत्वमेवावसीयते । न च—“गुरुबुधशुक्राः सौम्याः सौरिः कुजार्का निस-  
र्गतः पापाः । शशिशोऽशुभसंयुक्तः क्षीणोऽपि निशाकरः पापः ॥” इति  
कल्याणवर्मवाक्ये शुभग्रहमध्ये गणनाभावात्क्रूरत्वमिति वाच्यम् ।  
पापग्रहमध्येऽपि गणना नास्तीति शुभग्रहत्वस्यापि सुवाच्यत्वात् । उ-  
भयग्रहत्वेन वा नरसिंहवज्रात्यन्तरस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति  
चेत्, सत्यम् ।



“सूर्यभौमशनिराहुकेतवः पापसंज्ञखचराः क्षयिचन्द्रः ।

पूर्णचन्द्रगुरुशुक्रसोमजाः सर्वकर्मसु हि सौम्यखेचराः ॥”

इति वसिष्ठेन कण्ठतः क्रूरत्वाभिधानादस्ति क्रूरत्वम् । स्वरोदये-  
पि—“बुधशुक्रेन्दुजीवाश्च सदा सौम्यग्रहा मताः । शन्यर्कराहुमाहेयाः  
केतुः क्रूरग्रहा मताः ॥” इति ।

फलदातृत्वेन राहुकेत्वोर्ग्रहत्वं दृश्यत्वेपि—

न तृतीयः । ननु ‘स्वयमशक्तः कथं परान्साधयिष्यति’ इति न्याया-  
त्सदा चाक्षुषदर्शनाभावमितस्य राहोः केतोर्वा कथं फलदातृत्वासा-  
मर्थ्यमिति चेत् । न अमावास्यायां प्रतिपदि वोत्पन्नस्य लग्नादिदुष्ट-  
स्थानस्थितचन्द्रस्यारिष्टत्वमशुभफलजनकत्वं भवन्मते निरर्थकमाप-  
द्येत । ननु “षष्ठेष्टमे च चन्द्रः सद्यो मरणाय पापसंदष्टः । अष्टाभिः  
शुभदृष्टो मिश्रैर्वर्षैस्तदर्द्धेन ॥” इति वराहोक्तेस्तत्फलं भविष्यतीति  
चेत् । इहापि—

“स्वच्छन्दत्वं कदशनरतिर्वल्लभत्वं विशील्यं

व्याधिः सुश्रीमतिरथसुखं गर्भपातप्रवृत्तिः ।

द्यूतासक्तिर्भवति रविजे वैभवं वक्रूरेणं

स्वर्भानौ वाप्यथ शिखिनि वा लग्नभावादिसंस्थे ॥”

इति वसिष्ठपद्ये शनिवद्राहुकेत्वोः शुभाशुभफलदातृत्ववचनं किं  
वायसैर्मन्त्रितम् । सारावल्यां च—

“राहुश्चतुष्टयस्थो निधनाय निरीक्षितो भवति पापैः ।

वर्षैर्वदन्ति दशभिः षोडशभिः केचिदाचार्याः ॥

अजवृषकर्कटलग्ने रक्षति राहुः समस्तपीडाभ्यः ।

पृथ्वीपतिः प्रसन्नः कृतापराधं यथा पुरुषम् ॥”

इति राहोः शुभाशुभफलाभिधानमस्ति । ननु वराहेण राहोः फलं  
कुत्रापि नोक्तमिति चेत् । “सोपप्लवे शशांके सकूरे लग्नगे कुजेष्टम-  
गे । मात्रा सार्द्धं म्रियते चन्द्रवदकेण शस्त्रेण ॥” इति । वराहपद्येपि  
राहुकेत्वोरन्यतराभिधानमस्ति । तथाहि किमिदं चन्द्रग्रहणं राहुसाहि-  
त्यकृतमुत केतुसाहित्यकृतमिति । तत्र ग्रहणीयं चन्द्रे लग्नगे सकूरे इत्यत्र  
क्रूरसाहित्यमभिहेतम् । क्रूरास्तु सूर्यभौमशयन एव विवक्षिता इति  
चेत् । सूर्यस्य तावद्योगाभावश्चन्द्रग्रहणे हि सप्तमराशिस्थत्वा-

त् । भौमस्यापि योगः कुजेष्टमग इत्युक्तेर्नास्ति । पारिशेष्याच्छुने-  
रेव योगो वाच्यः । तत्र स्पष्टार्थं शनिपदग्रहणमेव कस्मान्नाकारि ।  
अतः सामान्यवाचिनः क्रूरशब्दस्य प्रयोगाद्वाहुकेत्वोरन्यतरयोगोपि  
विवक्षितः । अपरस्य सप्तमराशिस्थत्वात् । योगोपि एकराशिस्थत्वे  
स्यान्नतु भिन्नराशिस्थत्वे इति । एवं च ग्रहणसम्बन्धिलग्नस्य सूर्या-  
रिष्टोपि राहुकेत्वोन्यतरयोगो व्याख्येयः । अत एव 'राहुस्तमोऽगुरसु-  
रश्च शिखी केतुः' इति पर्यायाभिधानं कृतं । विवाहपटलेपि 'मरणं ल-  
त्ताराहोः कार्यविनाशं भृगोर्वदन्ति' इति कण्ठतो राहुलत्ताप्युक्ता ।  
तस्माद्विराहमतेपि राहुकेतुयोगो विवक्षित एव । एवं सति  
जातके यथा राहोः शुभाशुभफलदातृत्वं वचनाद्बोध्यते तथा विवाहेपि  
प्रागुक्तवसिष्ठवाक्यादपि । तत्र तुल्यन्यायत्वात्कर्तरीदोषे सत्यप्यदृश्य-  
त्वे फलदातृता त्वयापि वक्तव्यैव । ननु—

“पापयोः कर्त्तरीकर्त्रोः शत्रुनीचगृहस्थयोः ।  
यदा त्वस्तगयोर्वापि कर्त्तरी नैव दोषदा ॥ ”

इति कश्यपाद्युक्तेरस्तंगतत्वेन राहुकेत्वोः कर्त्तरीदोषो नास्तीति  
चेत्, भ्रान्तोसि । शृणु । 'संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' इति  
न्यायादस्तङ्गतत्वविशेषणं भौमस्य क्रूरयुक्तबुधस्य शनेर्वेति त्रयाणामेव  
संभवति न संभवति च । सूर्यस्तु नित्योदित एव राहुकेतू नित्यास्त-  
मिताविति, व्यभिचाराभावात्त्रयाणां नैव विशेषणम् । यथा—“एत्ये-  
धत्यूठ्सु ” इत्यत्रानुवर्तमानमेज्जग्रहणं संभवव्यभिचाराभ्यामेतेरेव वि-  
शेषणम् । यथा उपैति उपेत इतिदर्शनादिण एवैजादाविति विशेष-  
णं न त्वेधतेः । एजादित्वादेव । नाप्यूठः । अनेजादित्वादेवेति । तस्मा-  
दीदृशे विषयेयं परिहारो न प्रवर्तते । किं च किमस्तगत्वं क्षितिजसं-  
निधिकृतमुत सूर्यसन्निध्यकृतं वेति । तत्र क्षितिजसन्निधिकृतं यत्तत्सू-  
र्यादिसकलग्रहसाधारणम् । तथा सत्यस्तगत्वविशेषणवैयर्थ्यम्, प्रागु-  
क्तन्यायात् । राहोस्तु नारदादिवाक्याच्छिरोरूपमण्डलावगतेः—“इन्द्र-  
कर्मण्डलाकृतिरसितत्वात्किल न दृश्यते गगने ” इति वराहोक्तेस्तमो-  
रूपत्वात्ताडकस्वरूपाणुपलब्धेरगोचरत्वपरम् । स्थापनमप्यस्य चन्द्रश-  
रमण्डलक्रान्तिमण्डलस्वस्तिके । यदाह केशवार्कः—“वेश्म चास्य श-  
शभृद्विमण्डलक्रान्तिमण्डलमिलच्चतुष्पथे ” इति । अत एव न विद्यन्ते



गावः किरणा यस्येत्यगुरित्यत्रान्वर्थताप्यवसीयते । यदि सूर्यसन्निधि-  
कृतमित्युच्येतेति चेत्, न । इतरग्रहवद्राहोरन्युदयास्तप्रसिद्ध्यभावा-  
त् । किं च कालांशानभिधानात् कदोदितः कदास्तमितश्चेति निर्णेतुम-  
शक्यत्वात् । एवं केतोरप्येतद्द्रष्टव्यम् । ननु केतूदयो ह्युत्पातादौ प्रत्यक्ष-  
तो दृश्यत इति चेन्न । तस्यानियतदिक्प्रभवत्वात् अनियतनक्षत्रप्रमेय-  
त्वाच्च । किं च केतूत्पातो हि लोके दूरदृष्टसूचकः । अनियतेन बहु-  
ना स्वल्पेनापि वा कालेन भवेत् । सूर्यसांनिध्यकृतोदयास्तौ तु नियत-  
कालावेवेति तयोः केत्वोर्भेदः स्वीकर्त्तव्यः । तस्माद्राहुकेतू समदशावेवे-  
ति प्रागुक्तदोषानवसरः । तस्मात् स्थितं राहुकेत्वोर्द्वितीयस्थानस्थित-  
त्वेन वक्रित्वात्कर्तरीदोषोस्त्येवेति सिद्धान्तः । ननु ग्रहाणां कथं शुभा-  
शुभफलदातृत्वमरिष्टपरिहारकर्तृत्वं च । यतो—

“यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम् ।  
व्यंजयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥”

इति स्वसिद्धान्तव्याघातः, सत्यम् । उपरिष्ठाच्चितयिष्यतेऽस्मा-  
भिरेतदित्यलमतिप्रसंगेन ॥ ४४ ॥

अथ संग्रहदोषमनुष्ठुभाह—

चन्द्रे सूर्यादिसंयुक्ते दारिद्र्यं मरणं शुभम् ॥

सौख्यं सापत्न्यवैराग्यं पापद्वययुते मृतिः ॥ ४५ ॥

चन्द्रे इति । सूर्ययुक्ते चन्द्रे दारिद्र्यं स्यात् । भौमादियोगे  
मरणादि फलं क्रमेण स्यादित्यर्थः । पापग्रहसाहित्ये शुभफलं राहुके-  
त्वोरपि द्रष्टव्यम् ।

यदाह नारदः—

“शशांके ग्रहसंयुक्ते दोषः संग्रहसंज्ञकः ।

सूर्येण संयुक्ते चन्द्रे दारिद्र्यं भवति ध्रुवम् ॥

कुजेन मरणं व्याधिः सौम्येन त्वनपत्यता ।

दौर्भाग्यं गुरुणा युक्ते सापत्न्यं भार्गवेण तु ॥

प्रवज्या सूर्यपुत्रेण राहुणा कलहः सदा ।

केतुना संयुक्ते चन्द्रे नित्यं कष्टं दग्धिता ॥

तस्मिन्संग्रहदोषे तु विवाहं नैव कारयेत् ।” इति ।

सापत्न्यं सापत्नभावः—भर्तुः स्यन्तरं स्यात् । अत्र गुरुबुध-  
साहित्यफलमशुभमुक्तम् । ग्रन्थकर्त्रा तु वसिष्ठवाक्ये केचिन्मताभि-  
प्रायेण शुभफलमुक्तम् । तदुक्तं वसिष्ठेन—

“दारिद्र्यं रविणा कुजेन मरणं सौम्येन न स्युः प्रजा  
दौर्भाग्यं गुरुणा सितेन सहिते चन्द्रेण सापत्नकम् ।  
प्रव्रज्यार्कसुतेन सेन्दुजगुरौ वाञ्छन्ति केचिच्छुभं  
द्वयाद्यैर्मृत्युरसद्ग्रहैः शशियुतैर्दीर्घप्रवासः शुभैः॥” इति ।

अत एव श्रीपतिनोक्तं ‘शुभं च दम्भोलिभृदीज्यविद्भयाम्’ इति ।  
दम्भोलिर्वज्रस्तं विभर्ति स दम्भोलिभृदिन्द्रस्तस्येज्यः पूज्यो बृहस्पति-  
रित्यर्थः ।

चन्द्रस्य पापद्वित्र्यादिग्रहयोगे मृतिः, सौम्यबहुग्रहयोगे  
पत्युर्देशान्तरेवस्थितिः—

पापेति । पापद्वयेन युते उपलक्षणत्वात्पापत्रयादिभिर्युते, मृतिरेव  
स्यात् । ‘पापद्वययुते चन्द्रे दंपत्योर्मरणं ध्रुवम्’ इति नारदोक्तेः ।  
बहसौम्यग्रहयोगे तु बहुकालं पत्युर्देशान्तरेऽवस्थानं स्यात् । तद्वाक्य-  
मधुनैवाभिहितम् ।

अथ सग्रहचन्द्रदोषापवादः—

अथास्य परिहारो नारदेनोक्तः—“स्वक्षेत्रगः स्वोच्चगो वा  
मित्रक्षेत्रगतो विधुः । युतिदोषाय न भवेद्दम्पत्योः श्रेयसे त-  
दा ॥” इति । कचिद्वर्गोत्तम इति पठ्यते । कश्यपेनापि—  
“तुल्लमित्रस्वराशिस्थः शुभयुक्तः शुभप्रदः । एवंविधः क्रूरयुतः सम्पूर्ण-  
फलदः शशी ॥” इति ॥ ४५ ॥

अथाष्टमलग्नदोषं सापवादमनुष्ठुभाह—

जन्मलग्नभयोर्मृत्युराशौ नेष्टः करग्रहः ।

एकाधिपत्ये राशीशे मैत्रे वा नैव दोषकृत् ॥४६॥

जन्मलग्नेति । जन्मलग्नजन्मराशयोः सम्बन्धिनि मृत्युराशावष्टम-  
लग्ने करग्रहो नेष्टः । यदाह नारदः—



“ दम्पत्योरष्टमं लग्नं त्वष्टमो राशिरेव च ।  
यदि लग्नगतः सोऽपि दम्पत्योर्निधनप्रदः ॥  
स राशिः शुभयुक्तोऽपि लग्नं वा शुभसंयुतम् ।  
लग्नं विवर्जयेद्यत्नात्तदंशांश्च तदीश्वरान् ॥ ” इति ।

निधनं मरणम् ।

जन्मलग्नराश्यपेक्षया विशेषो विवाहलग्नस्याष्टमत्वे—

अत्र जन्मलग्ने जन्मराशौ च विशेषमाह कश्यपः—“ इष्टं स्वजन्म-  
लग्नं तज्जन्मराशिरनिष्टदः । लग्नगस्तु तयोः स्थानाच्छुभान्युपचयानि  
वै ॥ ” इति । नारदोऽपि—“ जन्मराश्युद्गमो नैव जन्मलग्नोदयः शुभः ।  
तयोरुपचयस्थानं यदि लग्नगतं शुभम् ॥ ” इति ।

अथाष्टमलग्नदोषपरिहारमह—

एकेति । जन्मराशिजन्मलग्नयोरन्यतरस्य विवाहलग्नस्य च स्वा-  
म्यैक्ये सति यथा मेषवृश्चिकयोः तथा द्वयो राशीश्वरयोः मैत्रे यथा  
सिंहमीनयोः अत्र हि सूर्यगुर्वोरन्योन्यप्रीतिरस्ति । एतादृशविषये  
लग्नाष्टमदोषकृद्विवाहो न स्यात् । यदाह कश्यपः—

“जन्मेशाष्टमलग्नेशौ मिथो मित्रे व्यवस्थितौ ।

जन्मराश्यष्टमर्क्षोत्थदोषो नश्यति भावतः ॥” इति ॥ ४६ ॥

अथोत्तरार्द्धोक्तमेवार्थं स्पष्टमुपजातिकयाह—

मीनोऽक्षकर्कालिमृगस्त्रियोऽष्टमं  
लग्नं यदा नाष्टमगेहदोषकृत् ।

अन्योन्यमित्रत्ववशेन सा वध-

र्भवेत्सुतायुर्गृहसौख्यभागिनी ॥ ४७ ॥

मीनेति । उक्षा वृषः, स्त्री कन्या, अन्ये प्रसिद्धाः । एते राश्यो यद्य-  
ष्टमलग्नं स्युः । यथा सिंहान्मीनः, तुलातो वृषः, धनुषः कर्कः, मे-  
षाद्वृश्चिकः, मिथुनान्मकरः, कुम्भात्कन्याष्टमलग्नं तदाष्टमगेहदोष-  
कृत् भवेत् । कुत इत्यत आह अन्योन्येति । प्रागुक्तपरस्परप्रीतिवशे-  
नेदं चोपलक्षणं मेषवृश्चिकयोस्तुलामकरयोश्च एकाधिपत्यात् । एवं  
सति सा वधूः परिणीता कन्या सुतायुर्गृहसौख्यभागिनी स्यात् ।

उक्तं च—

“भूषकुलीरवृषालिमृगाङ्गना जननराशिविलग्नगृहाष्टमाः ।

शुभफला भृगुणा कथितास्तयोरधिपती सुहृदौ हि परस्परम् ॥” इति

परिहारान्तरमप्याह गुरुः—

“लग्नाष्टमराशीशः केन्द्रगः शुभवीक्षितः ।

यद्यष्टमगतस्योक्तदोषमाशु व्यपोहति ॥

रन्ध्रेशः स्वशुभांशस्थस्तुङ्गस्वक्षेत्रमित्रगः ।

अष्टमस्थानदोषो हि विनश्यति न संशयः ॥” इति ॥ ४७ ॥

अथाष्टमलग्नदोषप्रसङ्गाज्जन्मराशिजन्मलग्नाभ्यामष्टमेशस्य तदंशस्य च लग्नस्थितत्वदोषं तथा द्वादशभवनदोषं कुसुमविचित्राच्छन्दसाह—

मृतिभवनांशो यदि च विलग्ने

तदधिपतिर्वा न शुभकरः स्यात् ।

व्ययभवनं वा भवति तदंश-

स्तदधिपतिर्वा कलहकरः स्यात् ॥ ४८ ॥

मृतीति । अष्टमभवननवांशो यदि विलग्ने स्यादथवाष्टमभवनस्वामी विलग्ने स्यात्तदा शुभकरो न स्यात् । यदाह कश्यपः—“दम्पत्योर-  
ष्टमे लग्ने राशौ वापि तदंशके । तदीशे वा लग्नगते तयोर्मृत्युर्न संशयः ॥” इति ।

अथ जन्मराशिभ्यां द्वादशं लग्नं तदंशस्तत्स्वामी वा लग्ने इति दोषत्रयम्—

व्ययभवनं जन्मलग्नजन्मराशिभ्यां द्वादशं भवनमथवा व्ययांशोऽथवा व्ययस्वामी यदि लग्ने स्यात्तदा कलहकृत्स्यात् । उक्तं च कश्यपेन—

“तथैव द्वादशे लग्ने तदंशे वा तदीश्वरे ।

विवाहे लग्नो नैःस्वयं नित्यं स्यात्कलहो द्वयोः ॥” इति ।

नारदेनापि—“दंपत्योर्द्वादशं लग्नं राशिर्वा यदि लग्नगः ।

अर्थहानिस्तयोस्तस्मात्तदंशस्वामिनं त्यजेत् ॥” इति ॥ ४८ ॥

अथ विषघटीदोषं वंशस्थाभ्यामिन्द्रवज्रयाचाह—

खरामतो-३० ऽन्त्यादितिबहिपित्र्यभे

खवेदतः ४० के रदत-३२श्च सार्षभे ।



खवाणतो-५०ऽश्वे धृतितो-१८ऽर्यमांबुपे  
 कृते-२०र्भगत्वाष्ट्रभविश्वजीवभे ॥४६॥  
 मनो-१४ द्विदैवानिलसौम्यशाक्रभे  
 कुपक्षतः २१ शैवकरेऽष्टितो १६ऽजभे ।  
 युगाशिवतो २४ बुध्यभतोययाम्यभे  
 खचन्द्रतो १० मित्रभवासवश्रुतौ ॥५०॥  
 मूलेऽङ्गबाणा ५६ द्विषनाडिकाः कृता ४  
 वर्ज्याः शुभेऽथो विषनाडिका ध्रुवाः ।  
 निघ्ना भभोगेन खतर्क-६०भाजिताः  
 स्फुटा भवेयुर्विषनाडिकास्तथा ॥५१॥

खरामेत्यादि । रेवतीपुनर्वसुकृत्तिकामघानक्षत्रेषु खरामतः त्रिंशद्-  
 घटिकोत्तरं कृताश्चतस्रो घटिका विषनाडिकाः शुभे कार्ये वर्ज्याः स्यु-  
 रिति तृतीयश्लोकेनान्वयः । एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । के रोहिण्यां कृतै-  
 र्विंशतेः । अजभे पूर्वाभाद्रपदायाम् । अन्यानि पदानि स्पष्टानि ।  
 तदेयं षष्टिघटीरूपे नक्षत्रभोगे ध्रुवकाश्चतस्रो विषनाडिकाश्च  
 प्रोक्ताः ।

षष्टिघटिकान्यूनधिक्ये विषनाडिकाप्रमाणानि—

न्यूनाधिकत्वे तु स्पष्टीकरणमुच्यते—अथो इति । विषनाडीनां  
 ध्रुवाः खरामत इत्येवमादयो नक्षत्रभोगेनेष्टेन निघ्नाः खतर्कैः षष्ठ्या  
 भाजितास्ततो विषनाडिका ध्रुवाः स्पष्टा भवेयुरित्यर्थः । अत्रोपपत्ति-  
 स्त्रैराशिकेन, यदि घटीषष्ठ्यात्मकभभोगेनेमे ध्रुवका इमाश्चतस्रो विष-  
 नाडिकाश्च लभ्यन्ते तदेष्टभभोगेन किमिति तत्र ध्रुवा विषनाडि-  
 काश्चेष्टभभोगेन गुण्याः षष्ठ्या भाज्या इति फलितम् । यदा-  
 ह कश्यपः—

“वियद्बाणा वेददस्त्राः खरामा व्योमसागराः ।

वेदचन्द्राश्चन्द्रदक्षाः खरामा व्योमबाहवः ॥  
 नेत्राग्रयो व्योमगुणाः शून्यदक्षाः गजेन्दवः ।  
 क्षमाबाहवो वियदक्षाः शक्राश्चन्द्राः खभूमयः ॥  
 वेदचन्द्रास्तर्कवाणा वेददक्षाः खबाहवः ।  
 व्योमैन्दवो व्योमचन्द्रा धृतयस्तर्कभूमयः ॥  
 वेदाश्विनः खरामाः स्युर्दास्रर्दाद् घटिकाः क्रमात् ।  
 आभ्यः परस्तात्क्रमशश्चतस्रो विषनाडिकाः ॥  
 ऋत्वाद्यन्तद्विटीनिघ्नाः षष्टिमक्ताः स्फुटाः स्मृताः ।  
 विषनाडीदोषदुष्टं लगनं सर्वगुणान्वितम् ॥  
 शुभैः सर्वैश्च संयुक्तमपि पञ्चैष्टकं त्यजेत् ।” इति ।

वसिष्ठः—

“कुर्वंत्युद्वाहितां कन्यां विधवां वत्सरत्रयात् ।  
 अन्यस्मिन्मङ्गले ताश्च निधनं चाथ निर्व्वनम् ॥” इति ।  
 ताः विषनाडिकाः ।

तिथिवारयोर्विषनाडिकाः—

अथ प्रसङ्गात् ग्रन्थान्तरोक्तास्तिथिवारविषनाडिकाः प्रोच्यन्तेऽस्मा  
 मिः । दैवज्ञमनोहरे—

“तिथी-१५ बु-५ नागा-८ द्वि-७ गिरी-७ बु-५ वारिधि-४  
 गंजा-८ द्वि-७ दिक्-१० पावक-३ विश्व-१३ वासवाः १४ ।  
 मुनी-७ भ-८ संख्या प्रथमातिथेः क्रमा-  
 त्परं विषं स्याद्वटिकाचतुष्टयम् ॥  
 नखा २० द्वयं २ द्वादश १२ दिक् च १० शैला ७  
 बोणाश्च ५ तत्त्वानि २५ यथाक्रमेण ।  
 सूर्यादिवारेषु परं चतस्रो  
 नाड्यो विषं स्यात्बलु वर्जनीयम् ॥”

ज्योतिः सागरे—

“विवाहव्रतचूडासु गृहारम्भप्रवेशयोः ।  
 यात्रादिशुभकार्येषु विघ्नदा विषनाडिकाः ॥” इति ।



अथ विषनाडिकादोषापवादः—

अस्या परिहारमाह दैवज्ञमनोहरे गुरुः—

“चन्द्रो विषघटीदोषं हन्ति केन्द्रत्रिकोणगः ।

लग्नं विना शुभैर्दृष्टः केन्द्रे वा लग्नपस्तथा ॥ ” इति ।

फलप्रदीपे—

विषनाड्युत्थितं दोषं हन्ति सौम्यर्क्षगः शशी ।

मित्रदृष्टो वा स्वीयवर्गस्थो लग्नपो भवेत् ॥ ” ॥ ४६—५१ ॥

अथ दुर्मुहूर्तदोषं विवक्षुरादौ दिवामुहूर्तान्मालिनीच्छन्दसाह—

गिरिशभुजगमित्राः पित्र्यवस्वम्बुविश्वे-

भिजिदथ च विधातापीन्द्र इन्द्रानलौ च ।

निर्ऋतिरुदकनाथोऽप्यर्यमाथो भगः स्युः

क्रमश इह मुहूर्ता वासरे बाणचन्द्राः ॥ ५२ ॥

गिरिशेति । अत्र बाणचन्द्रा इत्युक्ते मुहूर्तस्य पार्थक्येन लक्षणं नोक्तम् । गिरिशो महादेवः, भुजगः सर्पः, मित्र सूर्यविशेषः, पित्र्य-वस्वम्बुविश्वे प्रसिद्धाः, अष्टमोऽभिजित् । ततो विधाता ब्रह्मा, इन्द्रः इन्द्रानलौ च । अत्र समुदितयोर्व्यासज्यवृत्तिदेवतात्वम् । ततश्चमुहूर्तस्वामिनः इत्यपेक्षितं । पित्र्येति नक्षत्राभिधानादयुक्तं प्रतिभाति । अथ-वा नक्षत्रतदीशयोरभेदोपचारात् स्वामिनिवृत्तिः । ‘इन्द्रस्य’ अल्पाक्ष-रत्वात्पूर्वनिपातः । निर्ऋती राक्षसः । उदकनाथो वरुणः, अर्यमा भगश्चेमौ सूर्यविशेषौ । इत्येते बाणचन्द्राः पञ्चदश वासरे मुहूर्ताः स्युः । यदाह नारदः—

“दिवामुहूर्ता रुद्राहिमित्राः पितृवसूदकम् ।

विश्वे विधातृब्रह्मोऽपि इन्द्राग्न्यसुरतोयपाः ॥

अर्यमा भगसंज्ञश्च विज्ञेया दशपञ्च च ।” इति ॥ ५२ ॥

अथ रात्रिमुहूर्ताननुष्ठुमाह—

शिवोजपादादष्टौ स्युर्भेक्षा अदितिजीवकौ ।

विष्णवर्कत्वष्टमरुतो मुहूर्ता निशि कीर्तिताः ॥ ५३ ॥

शिव इति । प्रथममुहूर्त्तस्वामी शिवः । ततोऽजपादादष्टौ भेशा नक्ष-  
त्रस्वामिनो मुहूर्त्तेशाः स्युः । यथा अजपादः अहिर्बुध्न्यः पूषा अश्विनौ  
यमः अग्निर्ब्रह्मा सोम इत्यष्टौ ततो दशमेशोऽदितिः जीवको गुरुः ।  
स्वार्थे कः । विष्णवर्कत्वष्टमस्तः प्रसिद्धाः । एते निशि मुहूर्त्ताः प्रकी-  
र्त्तिताः । मुनिभिरिति शेषः । यदाह नारदः—

“ईशाजपादहिर्बुध्न्यपूषाश्वियमवह्नयः ।

धातृचन्द्रादिर्ताज्याख्यविष्णवर्कत्वष्ट्रवायवः ॥” इति ।

मुहूर्तलक्षणं तत्फलं च

मुहूर्तलक्षणं कश्यपेनोक्तम्—“अहः पञ्चदशो भागो मुहूर्त्तोऽथ  
तथा निशि” इति । प्रयोजनमाह नारदः—“यस्मिन्नुद्वेगे हि यत्कर्म  
कथितं निखिलं च यत् । तद्वैवत्ये तन्मुहूर्ते कार्यं यात्रादिकं सदा ॥”  
इति । यात्रेत्युपलक्षणं देवस्थापनोद्यं कार्यम् । ‘धिष्ये प्रोक्तं स्वामि-  
तिथ्यंशकेस्य, इति ग्रन्थकृतान्युक्तम् ॥ ५३ ॥

अथावसरप्राप्ताग्निषिद्धमुहूर्त्तान् भुजङ्गप्रयातेनाह—

रवावर्यमा ब्रह्मरक्षश्च सोमे

कुजे वह्निपित्र्ये बुधे चाभिजित्स्यात् ।

गुरौ तौर्यरक्षौ भृगौ ब्राह्मपित्र्ये

शनावीशसापौ मुहूर्त्ता निषिद्धाः ॥ ५४ ॥

रवाविति । रवेर्वार्यमा लक्षणया अर्यमस्वामिकचतुर्दशसंख्या-  
को मुहूर्त्तौ निषिद्धः । एवं सोमवारे ब्रह्मरक्षः । द्वंद्वैकवद्भावः ब्रह्म-  
रक्षःस्वामिकौ मुहूर्त्तौ निषिद्धौ । एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । पदानि  
स्पष्टार्थानि । ईशो महादेवः । यदाह नारदः—

“अर्यमाराक्षसौ ब्राह्मौ पित्र्याग्नेयौ तथाभिजित् ।

रक्षःसापौ ब्राह्मपित्र्यौ भौजङ्गेशाविनादिषु ॥

वारेषु वर्जनीयास्ते मुहूर्त्ताः शुभकर्मणि ।” ननु दुर्मुहूर्तोपल-  
क्षितास्तिथ्यंशाः ‘सूर्ये षट्स्वरनाग’ इत्यादिनोक्ता इति पुनरत्राभिधान-



मयुक्तमिति चेत् । सत्यम्, अग्रे कुलिका अपि वक्तव्याः सन्ति । तत्पुन-  
रुक्तिपरिहारावसरे समाधास्ये ॥ ५४ ॥

अथ वेधदोषं विवबुर्विहितनक्षत्रादिकमभिजिन्मानं च ग्रहर्षिण्याह—

निर्वेधैः शशिकरमूलमैत्र्यपित्र्य-

ब्राह्मान्त्योत्तरपवनैः शुभो विवाहः ।

रिक्तामारहिततिथौ शुभेऽहि वैश्व-

प्रान्त्याद्भिः श्रुतितिथिभागतोऽभिजित्स्यात् ॥ ५५ ॥

निर्वेधैरेति । मृगशिरोहस्तमूलानुराधामघारोहिण्युत्तराफल्गु-  
न्युत्तराषाढोत्तराभाद्रपदास्वातीनक्षत्रैः निर्वेधैः वेधाख्यदोषरहितैः  
विवाहः शुभः शुभफलप्रदः । यदाह वसिष्ठः—

“स्वात्यां मघायां निःश्रुतौ ध्रुवांत्यमित्रैर्दुहस्तेषु च कन्यकानाम् ।  
पाणिग्रहस्त्वष्ट्रफलप्रदः स्यादविद्धभेष्वेव गुणान्वितानाम् ॥”

नारदोपि—

“पौष्णघात्र्युत्तरामैत्रमरुच्चन्द्रार्कपित्र्यभैः ।

समूलमैरविद्धैस्तैः स्त्रीकरग्रह इष्यते ॥” इति ।

स्त्रीग्रहणं मुख्यत्वसूचनार्थम् । गृहस्थाश्रमस्य तदायत्तत्वात् ।

निषिद्धतिथिवारादयः—

रिक्तेति । रिक्तामाः प्रसिद्धाः । आभिर्वर्जिततिथिषु शुभेहि शुभग्रह-  
वासरेपि विवाहः शुभः । यदाह वसिष्ठः—

“शुक्लद्वितीयादित एव कृष्णे पक्षे दशम्यन्तगताः प्रशस्ताः ।

तास्वष्टमीस्कन्दगणेशदुर्गाचतुर्दशी चापि तिथिर्विवर्ज्या ॥

वाराः प्रशस्ताः शुभलेचराणां सूर्यार्किवारौ खलु मध्यमौ तौ ।

त्याज्यः सदा भूमिसुतस्य वारः कामार्कतिथ्योरपि तौ प्रदोषौ ॥” इति ।

तौ सूर्यार्किवारौ त्रयोदशीद्वादश्योः प्रदोषौ प्रकृष्टदोषावित्यर्थः ।  
गणेशश्चतुर्थी ।

चतुर्थीकर्मन्तं श्राद्धं यथा नापतेत्तथा लगनावश्यकता विवाहादौ—

अत्र यदि विचारितविवाहदिनमारभ्य चतुर्थीकर्मपर्यन्तं पित्र्या-

द्यावश्यकश्राद्धदिनममावास्या वा भवति तदा विवाहो न कार्यः ।  
उक्तं च—

“विवाहमारभ्य चतुर्थिमध्ये श्राद्धं दिनं दर्शदिनं यदि स्यात् ।  
वैधव्यमाप्नोति तदाशु कन्या जीवेत्पतिश्चेदनपत्यता स्यात् ॥” इति ।

अन्यच्च—

“विवाहमध्ये यदि तत्क्षयाहस्तत्राश्रमाख्याः पितरो न यान्ति ।  
वृत्ते विवाहे परतस्तु कुर्याच्छ्राद्धं स्वधाभिर्न तु दूषयेत्तम् ॥” इति ।

अथाभिजिन्मानम्—

वश्वेति । वैश्वमुत्तराषाढा, तस्यान्त्याङ्घ्रिः चतुर्थचरणः, श्रुतेः  
श्रवणस्य पञ्चदशांशो मिलित्वाऽभिजिद्भोगः स्यात् । यदाह वसिष्ठः—

“अभिजिद्भोगमेतद्वै वैश्वदेवान्त्यपादमखिलं तत् ।  
आद्यचतस्रो नाड्यो हरिभस्यैतच्च रोहिणीविद्धम् ॥”

प्रयोजनमप्यधुनैव वदयति ॥ ५५ ॥

अथ वेधदोषं पञ्चशलाकाचक्रोद्धारनिरपेक्षं स्पष्टार्थं शार्दूलवि-  
क्रीडितेनाह—

वेधोऽन्योन्यमसौ विरिंच्यभिजितोर्याम्यानुराधर्क्षयो-  
र्विश्वेन्द्रोर्हरिपित्र्ययोर्ग्रहकृतो हस्तोत्तराभाद्रयोः ।

स्वातीवारुणयोर्भवेन्निर्ऋतिमादित्योस्तथोपान्त्ययोः

खेटे तत्र गते तुरीयचरणयोर्वा तृतीयद्वयोः ॥ ५६ ॥

वेध इति । विरिंचिः रोहिणी, रोहिण्यभिजितोर्ग्रहैः क्रूराक्रूरैः कृतो  
वेधोन्योन्यं परस्परं भवेत् । रोहिणीस्थे ग्रहे अभिजिद्विद्धः अभिजित्स्थे  
रोहिणीविद्धः । एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । पदानि स्पष्टार्थानि ।

पञ्चशलाकावेधचक्रम्—

यदाह नारदः—

“तिर्यक्पञ्चोर्ध्वगाः पञ्च रेखे द्वे द्वे च कोणयोः ।

द्वितीयशम्भुकोणेग्निधिष्यं चक्रे च विन्यसेत् ॥

भान्यतः साभिजित्यकरेखाकोणे च विद्धभम् ॥” इति ।



चक्रोद्धारो यथा—

“चक्रं तस्मिन्नेकरेखास्थितेन तद्विद्धं खेचरेण प्रदिष्टम् ।  
 क्रूरैर्विद्धं सर्वधिष्यं विवर्ज्यं सौम्यैर्विद्धं नाखिलं पाद एव ॥” इति ।  
 नन्वष्टाविंशतिनक्षत्राणि चक्रं तत्र द्वयोः परस्परवेधे चतुर्दश यु-  
 ग्मानि वक्तव्यानि स्युः, कथमष्टावेवाभिहितानि, उच्यते । विवाहे  
 होकादशनक्षत्राणामेव प्राशस्त्याभिधानात्तद्वेधोपयोगिन्येतावन्त्येव यु-  
 ग्मानि सम्भवन्तीति तावतामेवाभिधानम् । अत एव दैवज्ञमनोहरे—

“रोहिण्यभिजितोर्मूलादित्ययोर्मृगवैश्वयोः ।  
 रेवत्युत्तरफल्गुन्योर्मघाश्रवणयोर्मवेत् ॥  
 हस्तोत्तराभाद्रपदोः स्वातीवारुणयोर्मिथः ।  
 वाराहीयविवाहपटले प्रत्येकं वेधफलम्—

“रविवेधे च वैधव्यं पुत्रशोको भवेत्कुजे ।  
 वन्ध्या पण्डितवेधे दोक्षाकरणं करोति गुरुवेधे ॥  
 भृगुसुतवेधे पुत्री दासी रविजेन्दुराहुसम्भूते ।” इति ।

पण्डितो बुधः दीक्षाकरणं प्रव्रज्या । चरणवेधमाह—खेट इति ।  
 तत्र तस्मिन्नक्षत्रे विद्यमाने ग्रहे सति यदि चतुर्थपादेस्ति तदा परनक्ष-  
 त्रस्य प्रथमपादे वेधः । यदि तृतीयपादे तदा द्वितीयचरणस्य वेधः ।  
 एवं यदि द्वितीयपादे तदा तृतीयपादस्य वेधः । यदि प्रथमपादे तदा  
 चतुर्थपादस्य वेध इत्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—

“अतोन्त्यपादमादिगो द्वितीयगस्तृतीयकं  
 तृतीयगो द्वितीयकं चतुर्थगस्तु चादिमम् ।  
 भिनत्ति वेधकृद्ग्रहो न चान्यपादमादरात् ॥”

एतद्यद्यपि शुभाशुभग्रहसाधारणं प्रतीयते, तथापि सौम्यग्रह-  
 परं द्रष्टव्यम् । यतो वसिष्ठेनैव खार्जूरदोषाभिधानावसरे—

“विषप्रदिग्धेन हतस्य पत्रिणा भृगस्य मांसं शुभदं क्षतादते ।  
 तथैव पादो न शुभोवशिष्टाः पादाः शुभाश्चेति पितामहेन ॥”

इत्याशङ्क्य समाहितं—

“पाद एव न शुभः शुभग्रहैर्विद्ध इत्यखिलशास्त्रसंमतम् ।

क्रूरविद्धभयुतं न शोभनं शोभनेषु गदितं न पादतः ॥” इति ।

नारदः—“पादमेव शुभैर्विद्धमशुभैर्नैव कृत्स्नतः” इति । कश्यपोपि—

क्रूरविद्धं युतं धिष्ययं क्रूराक्रान्तं च कृत्स्नभम् ।

मणिहेममयं हर्म्यं भूताक्रान्तमिव त्यजेत् ॥” इति ।

कृत्स्नभं सकलनक्षत्रम् । तस्मात्क्रूरग्रहविद्धे सम्पूर्णनक्षत्रत्यागः शुभविद्धे चरणत्याग इति सिद्धान्तः । तत्र विवाहे पञ्चशलाकावेध एव । यदाह वसिष्ठः—“पञ्चशलाकाचक्रे पाणिग्रहणं भवेधविधिरुक्तः । शस्तः शुभमित्रकृतः सप्तशलाकाज इतरत्र ॥” इति । श्रीपतिः—“वधूप्रवेशने दाने वरणे पाणिपीडने । वेधः पञ्चशलाकाख्योन्यत्र सप्तशलाककः ॥” इति ॥ ५६ ॥

अथ पञ्चशलाकाचकम् ।

| क  | र  | मृ | आ  | पु | पु | आ  |
|----|----|----|----|----|----|----|
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |
| ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ | ३३ |

अथ केचित्सप्तशलाकाचक्रे वेधमाहुः । तदर्थं चक्रन्यासं विनैव वेधदोषं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

शाक्रेज्ये शतभानिले जलशिवे पौष्णार्यमर्क्षे वसु-

द्वीशे वैश्वसुधांशुभे हयभगे सार्पानुराधे तथा ।

हस्तोपान्तिमभे विधातृविधिभे मूलादितित्वाष्ट्रमे-

जाङ्घ्री याम्यमघे कृशानुहरिभे विद्धेऽद्रिरेखे(१)मिथः५७

शाक्रेति । अद्रिरेखे सप्तशलाकाख्ये चक्रे शाक्रेज्ये ज्येष्ठापुष्यनक्षत्रे मिथः

( १ ) अत्र ‘विद्धे कुभृद्रेखिके’ इति पाठो वा दृश्यते ।



परस्परं क्रूराधिष्ठितत्वेन विद्धे ज्ञेये । एवं जलशिवे पूर्वाषाढाद्रै विद्धे  
ज्ञेये । एवं सर्वत्र व्याख्येयम् । वैश्वसुधांशुभे उत्तराषाढामृगशिरसो हय-  
भगे अश्विनीपूर्वाफाल्गुन्यौ उपान्तिमभमन्त्यस्य समीपमुपयाति उत्त-  
राभाद्रपदा । अन्यत्पष्टम् । अत्र मूलवाक्यं स्वरोदयस्थं यज्ञोपवीतप्रक-  
रणेऽभिहितम् । चक्रोद्धारो व्यवहारसमुच्चयेपि—

“सप्त सप्त विनिपात्य रेखिकास्तिर्यगूर्ध्वमथ कृत्तिकादिकम् ।

लेखयेदभिजिता समन्वितं चैकरेखखगमेन विध्यते ॥” इति ।

दीपिकायां—“यस्याः शशी सप्तशलाकभिन्नः पापैरपापैरथवा विवाहे ।

उद्वाहवस्त्रेण तु संवृताङ्गी श्मशानभूमिं रुदती प्रयाति ॥”

तथा च भोजः—“विद्धे सप्तशलाकाख्ये विधवा लग्नवाससा ।

पुनर्यात्यचिराच्चारी मुखान्नौ मुखचन्द्रिकाम् ॥”

वैधव्यं च नक्षत्रतुल्याब्दैर्भवति । तदुक्तं वराहेण—“नक्षत्रजमुद्वाहे  
फलमब्दैस्तारकामितैः सदसत्” इति । अत्रापि तुल्यन्यायत्वात्क्रूरवेधे  
सम्पूर्णं नक्षत्रं त्याज्यं, शुभग्रहवेधे पादस्त्याज्य इति ध्येयम् । नन्वत्र  
प्रागुक्तहेतोरष्टावेव नक्षत्रयुग्मानि वाचयानि, किमर्थं चतुर्दशयुग्मानाम-  
भिधानम्, उच्यते । सप्तशलाकाज इतरत्रेति वचनात्सकलशुभकर्मसु  
विचार्यमाणत्वादेतावतामुक्तिः—

“भुक्तं भोग्यं तथा क्रान्तं विद्धं पापग्रहेण च ।

शुभाशुभेषु कार्येषु वर्जनीयं प्रयत्नतः ॥” इति स्वरोदयेपि सा-  
मान्यतोभिधानात् ॥ ५७ ॥

अथ सप्तशलाकाचक्रम्—

| क. रो. मृ. आ. पु. पु. आ. |  |  |  |  |    |
|--------------------------|--|--|--|--|----|
| म.                       |  |  |  |  | म. |
| प.                       |  |  |  |  | प. |
| र.                       |  |  |  |  | र. |
| व.                       |  |  |  |  | व. |
| श.                       |  |  |  |  | श. |
| स.                       |  |  |  |  | स. |
| म.                       |  |  |  |  | म. |
| प.                       |  |  |  |  | प. |
| र.                       |  |  |  |  | र. |
| व.                       |  |  |  |  | व. |
| श.                       |  |  |  |  | श. |
| स.                       |  |  |  |  | स. |
| म.                       |  |  |  |  | म. |
| प.                       |  |  |  |  | प. |
| र.                       |  |  |  |  | र. |
| व.                       |  |  |  |  | व. |
| श.                       |  |  |  |  | श. |
| स.                       |  |  |  |  | स. |

अथ क्रूराक्रान्तादिनक्षत्रदोषं सापवादमनुष्ठुमाह—

ऋक्षाणि क्रूरविद्वानि क्रूरमुक्तादिकानि च ।

भुक्त्वा चन्द्रेण मुक्तानि शुभार्हाणि प्रचक्षते ॥५८॥

ऋक्षाणीति । क्रूरग्रहैर्विद्वानि ऋक्षाणीति । तथा क्रूरैर्मुक्तानि-  
त्यक्तानि आदिशब्दात्क्रूराक्रान्तानि क्रूरगन्तव्यानि च । चकारस्यानुक्त-  
समुच्चयार्थत्वात् । त्रिविधोत्पातैः दूषितानि ऋक्षाणि ज्ञेयानि । तानि यदि  
चन्द्रेण भुक्त्वा मुक्तानि तदा शुभार्हाणि प्रचक्षते वदन्ति । मुनय इति  
शेषः । यदाह वात्स्यः—“भुक्तं भोग्यं तथा क्रान्तं विद्धं पापग्रहेण भम् ।  
मङ्गलेषु च कार्येषु यत्नतः परिवर्जयेत् ॥” इति । वसिष्ठोपि—“उत्पातभं  
ग्रहणभं क्रूरविद्धस्थितं च यत् । दहत्येव शुभं कर्म राघवाग्निशरोबु-  
धिम् ॥ ” इति । शार्ङ्ग्ये—

“क्रूराश्रितं क्रूरविमुक्तविद्धं गन्तव्यधिष्येषु कुमारिकाणाम् ।

वदन्ति पाणिग्रहणे मुनीन्द्रा वैधव्यमब्दैस्त्रिभिरेवमाहुः ॥” इति ।

क्रूरोत्पाताद्याक्रान्तस्य भस्य चन्द्रेण भोगे न दोषो विवाहे—

अस्यापवादमाह केशवार्कः—“उत्पातपापग्रहदूषितं भं यदीदुरा-  
क्रम्य पुनर्भुनक्ति । तदा तदहं किल मङ्गलेषु त्यजेत्समाक्रान्तधनू रवीं-  
द्वोः ॥ ” इति ॥ अयमवधिराक्रान्तनक्षत्रभिन्नविषयो वेदितव्यः ।  
तत्र हि चाण्डालधृतहस्तस्नानवच्चन्द्रभोगस्या निर्णैजकत्वात् । तदुक्तं  
शार्ङ्ग्ये—

“यद्विषयं दोषसंयुक्तं स्यात्तथापीन्दुसंयुतम् ।

शुभकार्येषु तस्याज्यमन्यकर्मसु सिद्धिदम् ॥

यथा हि चाण्डालधृतैकहस्तो मज्जनगाधेपि सरित्प्रवाहे ।

भवेन्न पूतः शशिभोगतोपि तथा न शुद्ध्येदुडु पापयुक्तम् ॥

स्पृष्ट्वागते तु चाण्डाले शुद्धिराप्लवनाद्यथा ।

तथा भुक्त्वा गते क्रूरे चन्द्रभोगाद्विशोधनम् ॥” इति ।

अत एवोक्तं वसिष्ठेन—

“गतव्यधिष्यं खलु भुक्तभं यत्क्रूरैर्महोत्पातविदूषितं च ।

चन्द्रोपभोगादमलं तदानीं शुभेषु कार्येषु शुभप्रदं च ॥ ” इति ।



एतच्च सामान्यन्यायत्वात् क्रूरविद्धे भे चन्द्रभोगादपि शुद्धिर्ना-  
स्तीत्युक्तम् । यत्तु नारदेनोक्तं—“ग्रहणोत्पातभं त्याज्यं मङ्गलेषु  
ऋतुत्रयम् । यावच्च रविणा भुक्त्वा मुक्तं तद्ग्रहकाष्ठवत् ॥ ” इति ।  
तद्याद्याक्यं वाचनिकमिति न्यायेन ग्रहणोत्पातभयोः षण्मासपर्यन्तं निषे-  
धस्ततोपि यावद्रविणा भुक्त्वा न त्यक्तं तावत्तयजेत् । तत्रापि चन्द्र-  
ग्रहण एव । सूर्यग्रहणीयनक्षत्रस्य तु षण्मासानन्तरं सूर्यभोगासंभव  
एवाऽऽवर्षमतो न क्रूरमुक्तादौ रविभोगापेक्षा । उत्पातभस्य तु चन्द्रो-  
पभोगोप्यावश्यकः । वसिष्ठवाक्यालोचनात् । अत्र क्रूरवेधे निखिलं  
भं त्याज्यं न चरण एव तदुक्तं कथ्यते—

“क्रूरविद्धयुतं धिष्ण्यं निखिलं नैव पादतः ।

अन्यैरपि गुणैर्भुक्तं सर्वदोषविवर्जितम् ॥

त्यजेदनर्घ्यमाणिक्यं कलङ्कोपहतं यथा ।” इति ।

अयं च क्रूराधिष्ठितत्वे दोषः क्रूरग्रहचन्द्रयोरेकराशिस्थित्वे वेदि-  
तव्यः । यदा तु चन्द्रः प्रथमपादे क्रूरग्रहश्च तृतीयपादे एवं सति  
राशिभेदोप्युपजायते तदा क्रूरग्रहाधिष्ठितत्वदोषो नास्तीति ध्येयम् ।  
उक्तं च ज्योतिर्निबन्धे—

“एकस्मिन्नधिपे धिष्ण्ये भिन्ने राशौ खलग्रहे शशिनि ।

तच्चन्द्रर्क्षे कुर्याद्विवाहयात्रादिकं सर्वम् ॥ ” इति यथा मृगशि-  
रसि प्रथमे पादे चन्द्रः तृतीये क्रूरग्रहः तत्र सत्यप्येकनक्षत्रत्वे राशि-  
भेदो द्वयोरिति ॥ ५८ ॥

अथ लत्तादोषमुपजातिकयाह—

जराहुपूर्णेन्दुसिताः स्वपृष्ठे

भं सप्तगोजातिशरैर्मितं हि ।

संलत्तयन्तेऽर्कशनीज्यभौमाः

सूर्याष्टतर्काग्निमितं पुरस्तात् ॥ ५९ ॥

हेति । सप्त प्रसिद्धाः गावो नव जातयो द्वाविंशतिः शराः पञ्च एतै-  
र्मितं भं स्वाक्रान्तनक्षत्राज्जराहुपूर्णेन्दुसिताः स्वपृष्ठे संलत्तयन्ते । य-

थाबुधः सप्तमं राहुर्नवमं पूर्णेन्दुः पूर्णिमांतचन्द्रो द्वाविंशम् । तच्च गत-  
कृष्णपक्षे पञ्चमीषष्ठीसप्तमीनामन्यतमस्यां संभवति । शुक्रः पञ्चमं स्वपृष्ठे  
लत्तयतीत्यर्थः । अर्कशनीज्यभौमाः क्रमेण पुरस्तादग्रे सूर्याष्टतर्काग्निमितं  
संलत्तयन्ते । यथा सूर्यः स्वाक्रान्तनक्षत्राद्द्वादशं शनिरष्टमं गुरु षष्ठं भौ-  
मस्तृतीयम् अग्रतो लत्तयतीत्यर्थः । यदाह नारदः—“पुरतः पृष्ठतोऽर्काद्या  
दिनक्षत्रं लत्तितं च यत् । अर्काकृतिगुणांगर्तुबाणाष्टनवसंख्यमम् ॥”  
इति । सूर्यः पुरतश्चन्द्रः पृष्ठतः एवं क्रमेण भौमादयोपि पुरतः पृष्ठतश्च-  
लत्तयन्तीत्यर्थः । वराहोपि—

“सूर्यो द्वादशमृक्षं षष्ठं गुरुखनिजस्तृतीयं तु ।  
संलत्तयति दिवाकरपुत्रोऽष्टममग्रतः पादैः ।  
पश्चाद्द्वाविंशतिभं पौर्णिमचंद्रस्तु पञ्चमं शुक्रः ।  
स्वर्भानुरपि नवमं सप्तममृक्षं शशांकसुतः ॥” इति ।  
प्रत्येकं वेधफलमाह स एव—

“रविलत्ता वित्तहरी नित्यं कौजी विनिर्दिशेन्मरणम् ।  
चान्द्री नाशं कुर्याद्बौध्नी नाशं वदत्येव ॥  
सौरी मरणं कथयति बन्धुविनाशं बृहस्पतेर्लत्ता ।  
मरणं लत्ता राहोः कार्यविनाशं भृगोर्वदन्तीति ॥”

नन्वग्रलत्ता वा पृष्ठलत्ता वा वक्तव्या, किमिति द्वैरुच्यकथनम् ।  
अत्र समाधत्ते केशचार्कः—

“इति सति द्युसदामभिलत्तने यदनुलत्तनमुक्तमृषिब्रजैः ।  
तदुडुपश्चिमपूर्वविभागयोरनधिकाधिकदोषविवक्षया ॥” इति ।

अनधिकः स्वल्पः । अत्र राहोः सदा वक्रित्वाप्तवमगणनाक्रमेणैव  
ग्राह्या । यथाश्विन्यां राहुराश्लेषां लत्तयति सम्मुखलत्तावादिमतेपि  
वक्रगामिणा राहुणा सम्मुखमश्विनीरेवतीत्यादिगणनया विंशतिभमा-  
श्लेषैव न त्वन्यथा श्रयितव्यमिति साम्प्रदायिकाः ॥ ५६ ॥

अथ पातदोषं सुबोधं पठ्यार्ययाह—

हर्षणवैधृतिसाध्यव्यतिपातकगण्डशूलयोगानाम् ।  
अन्ते यन्नक्षत्रं पातेन निपातितं तत्स्यात् ॥६०॥

हर्षणवैधृतीति । व्यतिपातक इति स्वार्थे कः । हर्षणेत्यादिषड्-



योगानामन्ते यच्चन्द्रनक्षत्रं भवेत्तत्पातेन चण्डीशचण्डायुधाख्येन नि-  
पातितं स्यात् । यदाह त्रिविक्रमः—

“साध्यहर्षणशूलानि वैधृतिव्यतिपातयोः ।

षड्भं गण्डस्य चान्ते स्यात्तत्पातेन निपातितम् ॥” इति ।

नारदेन प्रकारान्तरेणैतत्प्रकारसम्पादकः पातोभिहितः—

“सूर्यभात्सापंपिड्यांत्यत्वाप्त्रमित्रोडुविष्णुभे ।

संख्यया दिनभे तावदश्विभात्पातदुष्टभम् ॥”

वसिष्ठेनापि—

“रविभादहिपितृमित्रत्वाष्ट्रमहरिपौष्णभेषु गणितेषु ।

आश्विनभादिन्दुयुतौ तावति वैपतति गणनया पातः ॥

अयमपि पातो दोषश्चण्डीशवरणायुधाह्वयो ज्ञेयः ।

अखिलेषु मङ्गलेष्वपि वज्र्यो यस्माद्विनाशदः कर्तुः ॥”

इति पद्येषु यद्यपि हर्षणादीनामुपादानं नास्ति तथाप्यभिहिताश्ले-  
षादिनक्षत्रसाहित्येन पाताभिधानात्तत्तुल्यसंख्याकेष्वेव योगेषु पातसं-  
भवो जायत इति मत्वा हर्षणादीनामुक्तिः । यद्येवं व्यतीपातवैधृतिभ्यां  
स्वीयभोगघटिकात्मकाभ्यां तिथिनक्षत्रादिकं सर्वमेव सामान्यतो निन्द्यमु-  
क्तं तत्किमत्रानयोर्योगयोः पुनर्ग्रहणेन, उच्यते, यदा नक्षत्रयोगयोस्तुल्य-  
काले एव प्रवृत्तिनिवृत्ति तदाऽनयोर्योगयोरुपादानं व्यर्थमेव । यदा तु  
सूर्योदयादारभ्य कियद्घटिकत्वं दर्शयोगयोर्नक्षत्रभोगस्तु सूर्योदयादेव  
बहुकालव्यापी तदा पातासम्भवे तावत्कालस्यैव निषेधः । सामान्यवा-  
क्यात् । पातसम्भवे हि सम्पूर्णस्य नक्षत्रस्य निषेधो यथा स्यादिति  
तयोर्दुष्टयोगयोः पुनरुपादानं कृतम् । एवमन्येष्वपि योगेषु पातसम्भवे  
सम्पूर्णनक्षत्रस्य निषेधो यथा स्यादित्यनयोर्दुष्टयोगयोः पुनरुपादानं  
त्याग इत्यर्थः । अयं च सर्वोपि विचार एकार्गलदोषेपि द्रष्टव्यः । यदा  
तु पातैर्कार्गलौ न स्तस्तदा दुष्टयोगानामुक्तादिमघटीत्यागः कर्तव्य  
इति ॥ ६० ॥

अथ सूर्यचन्द्रक्रान्तिसाम्यापरपर्यायं महापातदोषं शालिन्याह—

(१) पञ्चास्याजौ गोमृगौ तौलिकुम्भौ

(१) पञ्चस्याजौ गोमृगाविति । यदा रवेः क्रान्तिश्चन्द्रस्पष्ट-

कन्यामीनौ कर्क्यली चापयुग्मे ।

तत्रान्योन्यं चन्द्रभान्वोर्निरुक्तं

क्रान्तेः साम्यं नो शुभम्मङ्गलेषु ॥ ६१ ॥

पञ्चेति । पञ्चास्याजौ सिंहमेघौ, अन्ये प्रसिद्धाः, एषु राशियुग्मेषु चन्द्रभान्वोः पाठक्रमेण व्युत्क्रमेण वा स्थितयोः क्रान्तिसाम्यं निरुक्तं तन्मङ्गलेषु नो शुभं स्यात् । अत्र पञ्चास्याजावित्येवमादीनां ग्रहणमुदाहरण-  
दिक्प्रदर्शनार्थत्वात्सर्वथा सूर्याचन्द्रमसोः सायनयोर्योगः षड्दशिमि-  
तो द्वादशराशिमितो वा विवक्षितः । तदैव क्रान्तिसाम्यस्य सम्भवा-  
त् । अतः सम्मतिवाक्यस्यानवसरः । नन्वेतावन्त एव षड्दशियोगा  
द्वादशराशियोगा वा सम्भवन्तीति चेन्न । राश्यन्तावच्छेदस्थित्याधि-  
कानामपि सम्भवात् तथाहि प्रत्यंशकलाविकलान्तस्थितत्वेनानन्तमे-

क्रान्त्या समा तदैव योगः पातो नाम । सा क्रान्तिसमता लक्षणद्वय-  
विशिष्टेति पातो द्विविधो यथायनभेदे गोलैकत्वे तत्क्रान्तिसाम्ये  
व्यतीपातोऽन्यथार्थादेकायने गोलभिन्नत्वे वैधृतिरिति—

“ व्यतिपातोऽयनभेदे गोलैकत्वेऽर्कचन्द्रयोः क्रान्त्योः ।

साम्ये वैधृतिरेकायनेऽन्यदिगपक्रमसत्त्वे ॥ ”

भास्करेणान्युक्तम् । अथ कदैवं क्रान्तिसाम्यं भवतीत्युच्यते—  
रविचन्द्रयोरेकतरः प्रथमपदे यत्र वर्तते, तद्राश्याद्यवयवसमे चेद्वि-  
तीयपदान्तात्पूर्वमेवापरस्तदा तयोर्भुजांशसमत्वान्मध्यमक्रान्त्योरपि सम-  
ता स्यात् ( अत्राचार्येण चन्द्रो हि स्थानीयो गृहीतोऽन्यथा क्रान्तिसा-  
म्याभावात् ) ईदृक्स्थितौ सायनरविशशियोगो राशिषट्कसमोऽतो  
व्यतीपातलक्षणं सम्यग्घटितम् । अथवा तयोरेकश्चतुर्थपदान्ताद्याव-  
द्राश्याद्यवयवे पृष्ठे, तद्वत् एव द्वितीयपदान्तादत्रतोऽपरस्तदापि ( कल्पना-  
द्वयेऽपि गोलैकत्वमयनभिन्नत्वं च स्फुटं दृश्यते ) भुजांशानां समत्वा-  
त्तत्क्रान्तिसाम्यन्तयोः सायनयोर्योगश्च षड्दशिसमोऽतोऽत्रापि व्यतीपातः  
सिद्धः । अथैवन्तयोर्यदैकः प्रथमगोले यावद्राश्याद्यवयवगस्तद्वत् ए-  
वापरो द्वितीयगोलान्तात्पृष्ठे तदातयोः क्रान्तिसाम्यम्भुजांशसमत्वात्तथा  
तयोर्योगो ह्यत्र द्वादशराशिसमोऽतः सायनरविशशियोगस्य चक्रसम-  
त्वाद्वैधृतिलक्षणां सिद्धम् । तयोरेको वा प्रथमगोलान्तात्पूर्वं यन्मितावयवे



दसम्भवाच्च । अतः प्रागुक्तं व्याख्यानं ज्यायः । क्रान्तिसाम्यस्य च महापात इति नाम । एतस्य निद्यतामाह वसिष्ठः—

“दोषो महापात इति प्रसिद्धः सर्वैधृतो हन्ति वधूं वरं च ।

तं रक्षितुं लग्गुणास्त्वशक्ताः स्वबांधवास्तेऽशनितोपघातम्॥”

अशनिर्वज्रम् । नारदोपि—“यस्मिन्दिने महापातस्तद्दिनं वर्जये-  
च्छुभे” इति । अत एव पतनात्पातः सकलशुभकर्मणामित्यन्वर्थतापि  
सा च स्पष्टा सोमसिद्धांते—

“यच्छुभानां विनाशाय नदन्निव पतत्ययम् ।

व्यतीपातः प्रसिद्धोत्र संज्ञामेदेन वैधृतिः ॥” इति ।

महापातशब्दस्य रूढिस्तु रवीन्दुक्रान्तिसाम्य एव नत्वन्येषां ग्रहाणां  
क्रान्तिसाम्ये । यथा जलजशब्दस्य रूढिः कमले न तु भेकादौ । क्रान्तिर्नाम  
ग्रहाणां दक्षिणोत्तरवृत्ते गमनम् । या च सूर्यस्य क्रान्तिः सा यदा  
चन्द्रक्रान्त्या तुल्यं स्यात्स पातमध्यकालः । तत्रोत्सर्गतो रवीन्दुक्रान्त्योः  
समानत्वं भुजसाम्ये सति भवति । भुजो नाम—

“त्र्यूनं भुजः स्याद्व्यधिकेन हीनं भाद्धं च भाद्धादधिकं विभाद्धम् ।

न वा धिकेनोनितमर्कभं च” इति लक्षणलक्षितः । तत्साम्यं तु

तन्मिते चेदपरः प्रथमगोलान्तादग्रे ( अत्रायनैकत्वं गोलभिन्नत्वञ्च )  
तदापि वैधृतिरिति “सायनरविशशियोगो भाद्धं चक्रं यदा तदा-  
सन्नः । तत्सम्भवः.....” भास्करोऽप्याह । अथैतत्प्रदर्शितसरण्या मेष-  
सिंहान्तस्थयोस्तुलाकुम्भान्तस्थयोस्तथा कन्यामिथुनान्तस्थयो रवि-  
चन्द्रयोः क्रान्तिसाम्यं भवति, तेनात्रापि गोलैकत्वेऽयनभिन्नत्वे व्यती-  
पातयोगः । वृषमकरान्तस्थयोर्धनुर्मिथुनान्तस्थयोः कर्कवृश्चिकान्त-  
स्थयो रविचन्द्रयोस्तथैव क्रान्तिसमत्वं किन्त्विहायनैकत्वं गोलवैभि-  
न्यञ्जात उक्तलक्षणलक्षितो वैधृतिरित्यादि सर्वं क्रान्तिवृत्ते मेषादिद्वादश-  
राशिसन्निवेशनानुसन्धानेन स्फुटम् । अत उक्तस्थानगरविचन्द्रजनि-  
तव्यतीपातवैधृतियोगयोः शुभं कर्म विवर्जयेदिति रामोक्तं सर्वमुपप-  
न्नम् । किन्त्वेवं वृषकर्कान्तस्थयोस्तथा वृश्चिकमकरान्तस्थयोस्तु-  
लाकुम्भान्तस्थयोश्च क्रान्तिसाम्ये व्यतीपातस्य, तथा मेषकुम्भान्त-  
गयोः सिंहतुलान्तस्थयोस्तयोः क्रान्तिसमत्वे वैधृतियोगस्य संभवो  
रामेण नोक्तः ।

सूर्याचन्द्रमसोर्योगे षड्राशितुल्ये द्वादशराशितुल्ये वा सति भवति । अत एव ग्रन्थकृता तादृशा योगा एव पठिताः । यदा तु भुजस्य न्यूनाधिकत्वं तदा—‘दिवौकसोरन्तरलितिकौट्याद्रत्योर्वियोगेन हृतात्’ इत्यादिना प्रकारेण ग्रहयुतिवत्तु भुजसाम्यमानेयम् । नतु भुजसाम्यमेव क्रान्तिसाम्यसाधकं चेत् किं गणितग्रन्थोक्तेन बह्वायांससाध्येन पाताध्यायेन, उच्यते—

“विक्षेपाय क्रमैकत्वेक्रान्तिविक्षेपसंयुता ।

दिग्भेदे वियुता स्पष्टा भास्करस्य यथागता ॥”

इति सूर्यसिद्धान्तवाक्यात्सूर्यव्यतिरिक्तानां ग्रहाणां शरसंस्कृता क्रान्तिः स्पष्टेत्युच्यते तादृशी चन्द्रक्रान्तिश्चेत्सूर्यक्रान्त्या समा यस्मिन्काले स्यात्स स्पष्टः पातमध्यकालः । तत्र तादृशक्रान्तिसाम्यानयनस्यातिकष्टसाध्यत्वात्तदध्यायोक्तिः सार्थिकैव । एवं ग्रन्थकर्त्रा सूर्याचन्द्रमसोः क्रान्तिसाम्यमेव दोषोभिहितः—‘पञ्चास्याजौ’ इत्यादिकथनं किमर्थमिति चेदुच्यते । “विनाशपातेन्दुमिहायनांशकैर्युतो रविः शीतकरश्च गृह्यते । समापमत्त्वे व्यतिपातवैधृताह्वयास्तदैक्ये रसभेर्भे क्रमात् ॥” इति भास्कराचार्योक्तिमङ्गीकृत्य सामान्यतः क्रान्तिसाम्यदिवसस्य शीघ्रोपस्थित्यर्थं भुजसाम्यप्रतिपादकत्वात् । नन्वेवं भुजसाम्यमेव चेत्क्रान्तिसाम्योत्पादकं भवेत्तर्हि यत्र सूर्याचन्द्रयोः षड्राशिमितमन्तरं द्वादशराशिमितमन्तरं वा यथा मेषतुलयोर्मेषयोर्वा तत्रापि भुजसाम्यस्य तावदवस्थाक्रान्तिसाम्यं भवत्येवेति मासमध्ये महापातचतुष्टयं वक्तव्यं स्यात् । तत्कुतो हेतोर्नोक्तं ग्रन्थकृतेति चेत्, अत्रोच्यते । योगोत्पन्ने हि पाते मुनिभिः स्नानदानादिकफलमुक्तम् । अतः स एव महापातो गृह्यते न तु वियोगोत्पन्ने उक्तम् । अतः स न गृह्यते तदुक्तं वसिष्ठेन स्वसिद्धान्ते—

“चक्रे चक्रार्द्धतुल्ये वा कियद्भागाधिकोणके ।

सायनार्केन्दुयोगे चेत्तदा पातस्य सम्भवः ॥

शुभमङ्गलकर्माणि लोकानां च विनाशयेत् ।

स्नानदानादिकास्तत्र जपश्राद्धादिकाः क्रियाः ॥

तदापि कुरुते मर्त्यः सुमहत्फलमश्नुते ।

सूर्यग्रहे कुरुक्षेत्रे कोटिस्वर्णार्पणफलम् ॥



तत्फलं लभते पाते स्नानश्चाद्वजपादिना ।  
उत्पत्तौ लक्षगुणितं भ्रमणो कोटिसंगुणम् ॥  
पातेथार्बुदसंगुणं पतिते दत्तमक्षयम् ॥” इति ।

तथा सूर्यसिद्धान्तेपि—

“एकायनगतौ स्यातां सूर्याचन्द्रमसौ यदा ।  
तद्युतौ मण्डले क्रान्त्योस्तुल्यत्वे वैधृताभिधः ॥  
विपरीतायनगतौ चन्द्रार्कौ क्रान्तिलिप्तिकाः ।  
समास्तदा व्यतीपातो भगणाद्ध्यं तयोर्युतौ ॥  
तुल्यांशजालसम्पर्कात्तयोस्तु प्रवहात्ततः ।  
तादृक्क्रोधोद्भवो वह्निलोकाभावाय जायते ॥” इति ।

अत एवास्तरोत्पन्नक्रान्तिसाम्ये महापातदोषो नास्त्येव ।  
तदुक्तं गणेशदैवज्ञैः—“पूर्वतस्यात्पातमध्यं द्वितीयं पूर्वैर्नोक्तं तद्य-  
तो नातिदुष्टम्” इति । अनेनैवाशयेन वसिष्ठेन स्वसंहिताया-  
मुक्तम्—

“शास्त्रात्समानीय महातिपातः स वैधृतो हन्ति वधूं वरं च ।  
त्रिःसप्तवारानिवजामदग्न्यक्रोधोऽचिरात्क्षेत्रकुलं समस्तम् ॥” इति  
शास्त्राद्गणितशास्त्रोक्तान्महापाताधिकारादित्यर्थः । तत्र हि योगा-  
देवं महापातस्यानित्यत्वात्तस्यैव दोषत्वं नान्यस्येत्यर्थादुक्तं भवति ।  
किं च पञ्चांगीयोपि योगः सूर्याचन्द्रमसोर्योगादेव साधितः । स्पष्टा-  
धिकावेकस्तस्मादेव महापातोपि साधयितुमुचित एव । अथात्र ज्ञाते  
क्रान्तिसाम्येऽप्येकस्मिन्काले मङ्गलकृत्यं निषिद्धमित्येष विशेषविचारो  
“न्यूनाधिमासकुलिकप्रहरार्धपात ” इत्यत्रास्माभिरभिहितोस्ति ।  
स तत एवावगन्तव्य इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ६१ ॥

अथ क्रान्तिसाम्यचक्रम्—

|    | कु. | मी. | मे. |    |
|----|-----|-----|-----|----|
| मं |     |     |     | मं |
| रं |     |     |     | रं |
| जं |     |     |     | जं |
|    | जि  | क   | शु  |    |

अथ खार्जूरदोषं सुबोधमिन्द्रवज्रयाह—

व्याघातगण्डव्यतिपातपूर्वे

शूलान्त्यवज्रे परिघातिगण्डे ।

( १ ) एकार्गलाख्यो ह्यभिजित्समेतो

दोषः शशी चेद्विषमर्क्षगोऽर्कात् ॥ ६२ ॥

व्याघातेति । अन्यो वैधृतिः, अन्ये प्रसिद्धाः । यस्मिन्दिने व्याघातादिके विरुद्धे दुष्टयोगे सति अर्कादर्कनक्षत्राच्छंशी चन्द्रोऽभिजित्समेतो विषमे विषमसंख्याके ऋक्षे नक्षत्रे स्यात्तदा खार्जूरचक्रोत्पन्न एकार्गलाख्यो दोषः स्यात् । यदा समे स्यात्तदा न दोष इत्यर्थः ।

तदाह त्रिविक्रमः—

“विरुद्धनामयोगेषु साभिजिद्विषमर्क्षगः ।

अर्कादिन्दुस्तदा योगो निघ एकार्गलाभिधः ॥” इति ।

केशवाकैणापि—‘न्यस्ते सहाभिजिति’इत्यादिनाऽभिजिद्वरणोक्ता ।

वसिष्ठेन त्वत्र चक्रमभिहितम्—

“अन्त्यातिगण्डपरिघव्यतिपातपूर्व-

व्याघातगण्डवरशूलमहाशनीषु ।

चित्रानुराधपितपन्नगदस्त्रभेषु

साहित्यमूलशशिसुरिषु मूर्धभेषु ॥

रेखामेकामूर्ध्वगां षट् च सप्त

तिर्यक् कृत्वाप्यत्र खार्जूरचक्रे ।

तिर्यग्रेखासंस्थयो अन्द्रभान्वो-

र्द्धक्संपातोदोष एकार्गलाख्यः ॥ ”

चक्रोद्धारो यथा—

“खरकरतुहिनांश्वोर्द्धक्संपातजन्मा

अनलभयशरीरी सूक्ष्मरन्ध्रसंघान् ।

( १ ) ‘ योगे विरुद्धे त्वभिजित्समेतः खार्जूरमर्काद्विषमे शशीचेत् ’  
इत्युत्तरार्धपाठः समुचितः ।



भुवि पतति जनानां मङ्गलध्वंसनाय  
गुणगणशतसंघैरप्यवार्योग्निकोपः ॥” इति ।

अत्र वसिष्ठवाक्येभिजित्साहित्यमस्ति न वेति सन्देहः ।

नारदस्त्वभिजिद्वर्जितं चक्रमाह—

“व्याघातशूलपरिघपातपूर्वेषु सत्स्वपि ।  
गण्डातिगण्डकुलिशवैधृत्या सहितेषु च ॥  
अदितीन्दुमघाह्याद्यमूलमैत्रेज्यभानि च ।  
ज्ञेयानि सह चित्राभिर्मूर्ध्नि भानि यथाक्रमम् ॥  
लिखेदूर्ध्वगतामेकां तिर्यग्नेखास्त्रयोदश ।  
तत्र खार्जूरिके चक्रे कथितं मूर्ध्निभं न्यसेत् ॥  
भान्येकरेखागतयोः सूर्याचन्द्रमसोर्मिथः ।  
एकार्गलो दृष्टिपाताच्चाभिर्जिद्वर्जितानि वै ॥  
लांगले कमठे चक्रे फण्णचक्रे त्रिनाडिके ।  
अभिजिद्वर्णना नास्ति चक्रे खार्जूरिके तथा ॥” इति ।

कश्यपेनापि—“एकार्गलो दृष्टिपातश्चाभिजिद्वर्हितानि वै” इति ।  
तत्र त्रिविक्रमकेशवार्कवाक्ययोः समूलत्वस्य शिष्टसम्मतत्वान्नारदादिवा-  
क्यैः सह विकल्पः । ततोऽनयोः पक्षयोर्यथादेशाचाराद्वयवस्थेति युक्तं  
प्रतीमः ॥ ६२ ॥

अथोपग्रहदोषमुपेन्द्रवज्रयाह—

शराष्टदिक्छक्रनगातिधृत्य-  
स्तिथिधृतिश्च प्रकृतेश्च पञ्च ।

उपग्रहाः सूर्यभतोऽब्जताराः

शुभा न देशे कुरुवाह्निकानाम् ॥ ६३ ॥

शरेति । सूर्यभतः सूर्याक्रान्तनक्षत्रादब्जताराश्चन्द्रनक्षत्राणि पञ्चाष्ट-  
दशचतुर्दशसप्तैकोनविंशतिपञ्चदशाष्टादशैकविंशतिद्वाविंशतित्रयोविंशति  
चतुर्विंशतिपञ्चविंशतिसंख्याकाश्चेत्युस्तदोपग्रहनामका दोषाः स्युः ।  
प्रकृतिरेकविंशतिः । यदाह नारदः—

“भूकम्पः सूर्यभात्सप्तमर्क्षे विद्युच्च पञ्चमे ।  
शूलोष्टमे च नवमे शनिरष्टादशे ततः ॥  
केतुः पञ्चदशे दण्डश्चोल्का एकोनविंशतिः ।  
निर्घातपातसंज्ञश्च ज्ञेयः स नवपञ्चमे ॥  
मोहनिर्घातकम्पाश्च कुलिशं परिवेषकम् ।  
विज्ञेयाश्चैकविंशाख्यादारभ्य च यथाक्रमम् ॥  
चन्द्रयुक्तेषु भेष्वेषु शुभकर्म न कारयेत् ॥” इति ।

वराहः—“उपग्रहर्षेषु विवाहिता स्त्री सूर्यर्क्षतो दुर्भगतामुपैति ।”

अन्यत्रापि—

“गृहप्रवेशे दारिद्र्यं विवाहे मरणं भवेत् ।  
प्रस्थाने विपदः प्रोक्ता उपग्रहदिने यदि ॥” इति ।

एवं सामान्यतो निषेधमभिधाय देशभेदेन परिहारमाह—शुभा  
इति । स्पष्टार्थमेतत् । “वाह्निके कुरुदेशे च वर्जयेद्भुपग्रहम्” इति-  
कश्यपोक्तेः ॥ ६३ ॥

अथोपग्रहापवादप्रसङ्गात्पातोपग्रहलत्तास्वपवादं वारदोषभेदमर्द्ध-  
यामं चानुष्टुप्छन्दसाह—

पातोपग्रहलत्तासु नेष्टोङ्घ्रिः खेटपत्समः ।

वारस्त्रिघ्नोऽष्टभिस्तष्टः सैकः स्यादर्धयामकः ॥६४॥

पात इति । पातश्चण्डीशचण्डायुधाख्यो दोषः । उपग्रहः प्रागुक्त  
एव । लत्ता ‘झराडुपुर्णन्दु’ इत्यादिनोक्ता । तत्र खेटपत्समः ग्रहचरण-  
तुल्यो नक्षत्रचरणोनिष्टः । अस्यार्थः । पाते उपग्रहे च रविर्यस्मिन्नङ्घ्रौ  
स्याद्यत्संख्यचरणस्तस्य नक्षत्रस्य वर्ज्यो नान्यः । लत्तायां तु ये लत्ता-  
कारिणो ग्रहा यच्चरणे स्युस्तत्संख्य एव चरणो वर्ज्यो नान्यः । उक्तं  
च मुहूर्तदीपिकायाम्—

“उपग्रहेषु लत्तायां तथा चण्डायुधाह्वये ।

ग्रहोस्ति यत्प्रमाणांशे विद्वांशस्तत्प्रमाणतः ॥” इति ।

उपग्रहचण्डायुधयोः सूर्यकृतौघ्रिर्ग्राह्यः । तस्यैव सम्भवात् । अयं



च परिहारस्तुल्यन्यायत्वात् खार्जूरिकेपि द्रष्टव्यः । सूर्यो यस्मिन् पादे भवेत्तत्समसंख्यश्चरण एकरेखावस्थितचन्द्रनक्षत्रस्य वर्ज्य इत्यर्थः । 'खार्जूरिकसमाग्निभम्' इति नारदोक्तेः । ज्योतिर्निबन्धे गर्गः—

“पूर्वाह्णे दण्डदोषः स्यादपराह्णे तु मोहजः ।  
उल्कायामर्द्धरात्रे तु कम्पोऽहोरात्रदूषकः ॥”

“कम्पोल्कादंडमोहानामग्निभम्” इति नारदोक्तेः । ‘स्वरमास-  
दशर्त्तवः ७ । १२ । १० । ६ । आदितो घटिकास्तेषु वर्जनीयाः पराः  
शुभा’ इति । वार इष्टो वारस्त्रिघ्नः सैकोऽष्टभिस्तष्टः शेषितो योऽकः  
सोर्द्धयामाख्यो दोषः स्यात् । स्वार्थे कः । यदाह श्रोपतिः—

“मनीषिणोर्द्धप्रहराद्वितीयादारभ्य सर्वेष्वपि मङ्गलेषु ।

भौमे भृगौ सूर्यबुधार्किचन्द्रसुरेज्यवारेषु विवर्जनीया ॥” इति ।

अत्र कथनं समानार्थतेति चेत् प्रथमार्द्धप्रहरः कस्यापि वर्ज्यो  
नास्ति । तत्र सूर्यस्य वारे तावत्प्रथमार्द्धप्रहरादारभ्य तृतीयोर्द्धप्रहर  
उक्तोऽतस्त्रिगुणः सैक इत्युपपन्नः । ततः स्तृतीयचन्द्रस्य वारे सूर्यो-  
दयात्सप्तम इति वारस्त्रिघ्नः सैक इत्यत्रापि सिद्धम् । ततस्तृतीयो  
भौमस्य वारे सूर्योदयाद्दशमः । रात्रौ चार्द्धयामानुक्तेरिति दिवसस्या-  
ष्टावर्द्धयामा इत्यष्टाभिः शेषित इत्युपपन्नम् । एवं बुधवारादिष्वपि  
द्रष्टव्यम् । अत्र पुनरुक्तपरिहारमधुनैव वक्ष्यामः । कश्यपः—

“शैलान्नश्रुतयः सूर्ये चन्द्रे षड्वेदपर्वताः ।

भौमे वाणाग्निनेत्राणि सौम्ये वेदाक्षिवायवः ॥

गुरुवारेग्निचन्द्रेभाः शुके नेत्राद्रिवह्मभाः ।

शनौ चन्द्रेभतर्काः स्युः कुलिकी यमघण्टकः ॥

अर्द्धप्रहरसंज्ञाः स्युर्मङ्गलेषु विवर्जयेत् ।

वारदोषेण दुष्टं तल्लग्नं सर्वगुणान्वितम् ॥

त्यजेद्यथा पुरोडाशं वायसोपहतं तथा ।” इति ।

फलमाह वसिष्ठः—

“निधनं प्रहरार्द्धं तु निःस्वत्वं यमघण्टके ।

कुलिके सर्वनाशः स्याद्रात्राचेते न दोषदाः ॥” इति ॥ ६४ ॥

अथ वारदोषभेदं कुलिकमनुष्ठुमाह—

शक्रार्कदिग्वसुरसान्ध्यशिवनः कुलिका रवेः ।

रात्रौ निरेकास्तिथ्यंशाः शनौ चान्त्योऽपि निन्दिताः॥६५॥

शक्रेति । रवेरिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । रविमारभ्य सर्ववारेषु क्रमा-  
दुक्तसंख्यास्तिथ्यंशा मुहूर्ताः कुलिकाः स्युः । यथा दिवसे रवौ  
१४, सोमे १२, भौमे १०, बुधे ८, गुरौ ६, शुके ४, शनौ २, रात्रावते  
निरेकाः कार्याः यथा रवौ १३, सोमे ११ भौमे ९, बुधे ७, गुरौ ५,  
शुके ३, शनौ १, शनौ त्वन्त्योपि रात्रेः पञ्चदशोपि मुहूर्तः कुलि-  
कः । एते कुलिका निन्दिताः । यदाह श्रीपतिः—

“मन्वर्कदिग्वस्वृतुवेदपक्षैरर्कान्मुहूर्तैः कुलिका भवन्ति ।

दिवा निरेकैरथ यामिनीषु ते गर्हिताः कर्मसु शोभनेषु ॥”

रत्नकोशे—

“दिवा द्वितीयः कुलिकोर्कजाते रात्रौ प्रदिष्टः प्रथम स एव ।

रात्रेस्ततः पञ्चदशे विभागे एवं विवर्ज्य कुलिकत्रयं च ॥” इति ।

ननु सामान्यतः सूर्ये षट्स्वरनागेत्यादिना दुमुहूर्तार्धयामकुलिका  
उक्ताः, इदानीं किं पुनरुच्यन्ते इति सत्यम्, आवश्यकत्वद्योतनार्थम् ।  
तथा हि विवाहे एषां दोषाणां सर्वथैव त्यागः । ‘विवाहे विधवा नारि’  
इत्यभिहितफलस्य दुस्सहत्वात् । भर्तुर्मरणो हि यावज्जीवं पत्न्याः सर्व-  
प्रकारकदुःखानुभवसत्त्वात् । यज्ञोपवीतादिशुभकर्मणि तु संस्कार्यमर-  
मरणे सम्बन्धिनां तात्कालिकं दुःखम् । पित्रोस्तु पुत्रान्तराभावे किय  
त्कालमेव, तत्सत्त्वे पुनः कियद्दिनमात्रम् । सर्वथा विधवाशदृशं दुःख-  
कस्यापि नास्ति । किं च वारप्रकरणे सामान्यतो मुनिभिर्दिनरात्रिसाधा-  
रण्येन कुलिकाद्युक्तां रात्रावते न दोषदा इत्युक्तम् । तस्यापि बाधो  
यथा स्यात् । अत एव कश्यपो वारप्रकरणे कुलिककंटकार्द्धयामानभिधाय  
विवाहप्रकरणे पुनरप्यभिदधाति स्म । ग्रन्थकर्त्रा मुहूर्तत्वं कुलिकादीना-  
मभिसंधाय दुमुहूर्तानामप्यभिधानं कृतम् । किं च कुलिका अत्रावश्यं  
वक्तव्याः रात्रौ कुलिकज्ञानं यथा स्यात् तत्र साधारण्येन दिनरात्रिविभा-  
गेन शीघ्रोपस्थित्यर्थं पद्येनाभिधानं—‘सूर्ये षट्स्वरनाग’ इत्यादिना मुह-  
र्त्तत्यागे कुलिककंटकार्द्धप्रहरा इति पुनः संदेहे ‘कुलिकः कालवेला



च' इति पद्यस्मरणमपेक्षितमिति गौरवापत्तेश्च । अत एव शिष्टा-  
अप्यन्येषां दोषाणां यथासम्भवत्यागपूर्वकं कुलिकाद्धयामदुर्मुहूर्ता-  
नामवश्यं त्यागं विधत्ते । ग्रन्थकर्त्रापि पुनरुक्ता इति युक्तं प्रतीम इत्यल-  
मतिप्रसङ्गेन ॥ ६५॥

अथ पञ्चांगदोषविशेषं दग्धतिथ्याख्यमिद्रमज्जयाह—

चापान्त्यगे गोघटके पतङ्गे

कर्काजगे स्त्रीमिथुने स्थिते च ।

सिंहालिगे नक्रघटे समाः स्यु-

स्तिथ्यो द्वितीयाप्रमुखाश्च दुग्धाः ॥ ६६ ॥

चापेति । तत्तद्वाशियुग्मस्थिते पतङ्गे सूर्ये स्थिते द्वितीयाप्रमुखाः  
शुक्ररुष्णपक्षसाधारणाः समास्तिथ्यो दग्धाः स्युरिति वाक्यार्थः । यथा  
चापान्त्यगे धनुर्मीनगते सूर्ये द्वितीया दग्धा गोघटगे सूर्ये चतुर्थी कर्का-  
जगे कर्मेषगे सूर्ये षष्ठी स्त्रीमिथुने कन्यामिथुनस्थिते सूर्येऽष्टमी सिं-  
हालिगे सूर्ये दशमी नक्रघटे मकरतुलागते सूर्ये द्वादशी दग्धेत्यर्थः ।  
यदाह वसिष्ठः—

“एकान्तरा दिनपतौ दिवसे द्वितीया पूर्वात्यचापघटयोर्घटमौक्षयोश्च ।  
कर्काजयोर्मिथुनकन्यकयोश्च कीटहर्योस्तुलामकरयोः खलु मासदग्धाः ॥

मासदग्धास्तु तिथिषु कृतं यन्मङ्गलादिकम् ।

तत्सर्वं नाशमायाति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥” इति ।

पूर्वान्त्येत्यत्र पूर्वा अन्त्येत्याद्यपेक्षितम् । तत्र “नमुने” इत्य-  
त्र नेति योगविभागादसिद्धत्वाभावे सन्धिः । औक्षयोरिति ।  
उक्षा वृषस्तस्यायं वृषराशिरौक्षः । “औक्षमनपत्ये” इत्यकारान्तो  
निपातितः । अस्यापवादमाह कश्यपः—“मासदग्धाश्चतिथ्यो मध्यदेशे  
विवर्जिताः” इति ॥ ६६ ॥

अथ जामित्रदोषं भ्रमरविलसितेनाह—

लग्नाच्चन्द्रान्मदनभवनगे

खेटे न स्यादिह परिणयनम् ।

किं वा बाणाशुगमितलवगे

जामित्रं स्यादशुभकरमिदम् ॥ ६७ ॥

लग्नादिति । विवाहलग्नाच्चन्द्राद्वा सप्तमभवनं गृहं तत्र गते खेदे परिणयनं न स्यात् । उक्तं च—

“जामित्रं द्विविधं प्रोक्तं गर्गालवगौतमैः ।

तस्माल्लग्नच्च चन्द्राच्च जामित्रं परिवर्जयेत् ॥” इति ।

तत्स्वरूपमाह महेश्वरः—“ लग्नाच्छीतकराद्ग्रहा द्युनगता नेष्टा विवाहे स्मृता ” इति । वसिष्ठो लग्नप्रकरणे—‘सर्वे जामित्रसंस्था विदधति मरणम् ’ इत्याह स्म । लल्लः—

“पापात्सप्तमगः शशी यदि भवेत्पापेन युक्तोथवा  
यत्नेनापि विवर्जयेन्मुनिमते दोषोपि संकथ्यते ।  
उद्वाहे विधवा व्रते तु मरणं शूलं च पुं कर्मणा  
यात्रायां विपदो गृहेषु दहनः क्षौरेपि रोगो महान् ॥”

भुजबलः—

“चन्द्रात्सप्तमराशिगे दिनकरे त्यक्ता धनैः कन्यका-  
भौमे च प्रमदा प्रयाति विलयं सौरेण घन्ध्या सखेक् ।  
जीवः शुक्रशशांकजौ शुभकराः केचिद्वदन्ति क्रमा-  
द्भर्तृप्रेप्सितदीक्षितास्तभवने नित्यं प्रवासान्विता ॥” इति ।

अस्यापवादमाह—

किं वेति । किं वाशब्दो विकल्पे । पूर्वग्रहाधिष्ठितराशेः सप्तमरा-  
शिस्थितत्रिशङ्गागात्मके लग्नेपि चन्द्रो निषिद्ध इत्युक्तम् । इदानीं  
तदधिष्ठितराशिनवांशमारभ्य बाणाशुगाः पञ्चपञ्चाशत् तन्मितनवांशने  
लग्ने चन्द्रे सति जामित्रं स्यात् । यथा मेषराशौ पञ्चमनवांशे भौ-  
मोस्ति । तस्मात्तुलायां पञ्चनवांशस्थं लग्नम् । तत्र चन्द्रो निषिद्धः ।  
अन्येष्टौ नवांशाः शुभाः । एवंविधं सूक्ष्मं जामित्रमिदमशुभकरं स्यात् ।  
यदाह महेश्वरः—

“कैश्चित्त्रायनवांशकादिषु शरैस्तुल्ये नवांशे स्थिता ।” इति ।

केशवार्कस्तु नवांशादेवाह—

“हिमरश्मिनवांशकात्खलो यदि चन्द्रोपि स्वलब्धसायकांशके ।



अयमन्यगुणैर्न हन्यते निबिडैरत्युपसर्गडम्बरः ॥” इति ।

अपवादान्तरमाह राजमार्तण्डः—

“तुङ्गत्रिकोणभवने भवने निजे वा  
सौम्याधिमित्रगृहगोपि तदीक्षितो वा ।  
जामित्रवधजनितानपहृत्य दोषा-  
न्दोषाकरः सुखमनेकविधं विधत्ते ॥ ” इति ।

व्यवहारसमुच्चयेपि—

“स्वोच्चेथवा स्वभवने स्फुरदंशुजालः  
सौम्यालये हितगृहे शुभवर्गगो वा ।  
जामित्रकारिपरिसंचितदोषराशिं  
हत्वा ददाति बहुशः सुखमेव चन्द्रः ॥ ” इति ।

कालखण्डे वात्स्यायनः—

“गुरुश्चन्द्रश्च जामित्रे तिष्ठेद्यदि बलान्वितः ।  
धनसौभाग्यपुत्रांश्च लभते नात्र संशयः ॥  
मणिमुक्ताप्रवालैश्च सुवर्णाभरणैः शुभैः ।  
शोभिता तु सदा तिष्ठेद्गुण्यपि निरीक्षिते ॥  
सा तु भर्तुः प्रिया नित्यं बुधे चन्द्रस्य सप्तमे ।” इति ॥६७॥

अथैकार्गलादिमहादोषाणामुक्तानां लग्नांतराभावे सत्यपि अपवाद-  
भूतमिन्द्रवज्रलक्षणक्रान्तं साक्षाद्वसिष्ठवचनमेवाह—

एकार्गलोपग्रहपातलत्ता-

जामित्रकर्त्तर्युदयास्तदोषाः ।

नश्यन्ति चन्द्रार्कबलोपपन्ने

लग्ने यथार्काभ्युदये तु दोषाः ॥ ६८ ॥

एकार्गलेति । एकार्गलः खार्जूरचक्रे, उपग्रहः शराष्टेत्यादिनोक्तः  
पातश्चण्डीशचण्डायुधम्, लत्ता 'शराहु' इत्यादिनोक्ता, जामित्रमधु-  
नोक्तम्, कर्त्तरी 'लग्नात्पापा' वित्याद्युक्ता । उदयास्तदोषा वक्ष्यन्ते  
एवंविधा दोषा नश्यन्ति, कदा विवाहलग्ने चन्द्रार्कबलं स्वोच्चमित्रा-

दिराशिस्थितत्वरूपं विहितस्थानस्थितत्वं च तेनोपपन्ने सहिते स-  
ति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । अर्कस्य सूर्यस्याभ्युदये दोषा रात्रि-  
र्यथा नश्यतीत्यर्थः । गाढांधकारयुक्तापि रात्रिरेकाकिना सूर्यस्योदयेन  
स्वयमेव नश्यति । अत एव दोषापदं प्रयुक्तम् । निशादिप्रयोगे तु सा-  
धारण्येन शुक्लपक्षीयाया अपि रात्रेः सम्भवाच्चन्द्रेणैव कियत्तमसो  
निरस्तत्वादवशिष्टांधकारनाशे सूर्यस्यापुरुषार्थत्वापत्तेरिति कैमुतिक-  
न्यायमपि सूचयति दोषापदम् । वसिष्ठवाक्यस्य मन्वादिवाक्यवत्प्राप्ता-  
ग्यान्न संमत्यन्तरापेक्षा ॥ ६८ ॥

अथ केषांचिद्दोषाणां देशभेदेन परिहारभूतमुपजातिलक्षणाक्रान्तं  
वसिष्ठपद्यमेवाह—

उपग्रहर्क्षं कुरुवाह्निकेष्टु

कलिङ्गबंगेषु च पातितं भम् ।

सौराष्ट्रशाल्वेषु च लत्तितं भं

त्यजेत्तु विद्धं किल सर्वदेशे ॥ ६९ ॥

उपग्रहर्क्षमिति । कुरवो बाह्निकाश्च पश्चिमदेशास्तेषूपग्रहदोषाक्रा-  
न्तंभं त्यजेत् । तदतिरिक्तसर्वदेशेषु शुभमेवेत्यर्थः । कर्लिंगा वङ्गाश्च  
प्राग्देशौ । बहुवचनान्मगधाङ्गोदयोपि । तेषु चण्डीशचण्डायुधापरपर्यायं  
पातं त्यजेत् । न तु क्रान्तिसाम्यरूपं पातं तस्व महापात इति व्यवहारा-  
त् । सौराष्ट्रशाल्वदेशौ पश्चिमदेशविशेषौ । बहुवचनाद्ग्रामबाहुल्यं, तेषु  
लत्तितं लत्तासंजातास्य तद्भं परित्यजेत् । विद्धं क्रूरेण शुभेन वा  
पञ्चशलाकादिचक्रद्वाराभिन्नं भं भूतलवर्तिसर्वदेशेषु त्यजेत् । किल  
निश्चयेन । न त्वस्य देशभेदेन परिहारः । एतदपि वाक्यं संमत्यन्तरं  
नार्हति । विवाहपटलेपि—

“लत्तां मालवके देशे पातं कोशलके तथा ।

एकार्गलं तु काश्मीरे वेधं सर्वत्र वर्जयेत् ॥” इति ।

वराहः “युतिदोषो भवेद्गौडे जामित्रस्य च यामुने ।

वेधदोषस्तु विंध्याख्ये देशे नान्येषु केषु च ॥” इति ।

एषां वाक्यानां यथादेशाचारं व्यवस्था ॥ ६९ ॥



अथ दशयोगदोषानुपजातिकयाह—

शशाङ्कसूर्यर्क्षयुतेर्भशेषे

खं भूयुगाङ्गानि दशशतिथ्यः ।

नागेन्दबोङ्केन्दुमिता नखाश्चे-

द्भवन्ति चैते दशयोगसञ्ज्ञाः ॥ ७० ॥

शशाङ्केति । चेद्यदि चन्द्रसूर्यनक्षत्रयोर्युतेर्योगाद्भैः सप्तविंशत्या भ-  
काद्यः शेषस्तस्मिन् शून्यैकचतुःषड्दशैकादशपञ्चदशाष्टादशैकोनविं-  
शतिविंशतिसंख्याके सन्ति एते अंका दशयोगसंज्ञा भवन्ति । नान्ये इत्य-  
र्थः । शिष्टानां दशानामंकानामभिहितत्वादशयोग इत्यन्वर्थसंज्ञा । त-  
दुक्तं दीपिकायाम्—

‘तिथ्यङ्गयेदैकदिगूनविंशमेकादशाष्टादशविंशसंख्याः ।

इष्टोडुना सूर्ययुतोडुना वा योगादमी चेद्दशयोगदोषाः ॥”

लल्लोपि—

“यस्मिन्नृक्षे रविस्तिष्ठेद्यस्मिन्नृक्षे शशी तथा ।

द्वयोयोगहते धिष्ण्ये शेषः स्यात्खादितो दश ॥

शून्यवेदत्तूरूपाणि दिशुद्रतिथयो धृतिः ।

ऊनविंशा नखाश्चेति दशयोगाः प्रकीर्तिताः ॥” इति ॥ ७० ॥

अथ दशयोगानां फलं तदपवादं च शार्दूलविक्रीडितेनाह—

वाताभ्राग्निमहीपचोरमरणं रुग्वज्रवादाः क्षति-

योगाङ्के दलिते समे मनुयुतेऽथौजे तु सैकेऽर्धिते ।

भं दास्रादयः सम्मितास्तु मनुभी रेखाः क्रमात्संलिखे-

द्वेधोऽस्मिन्ग्रहचन्द्रयोर्न शुभदः स्यादेकरेखास्थयोः ॥ ७१ ॥

वातेति । शून्यशेषे वातदोषः स्यात् । एकशेषे भ्रान्मेघात् चतुर्ष्वव-  
शिष्टेष्वग्नेः षट्सु महीपाद्राज्ञः, दशसु चौरात् एकादशसु मरणं द्वयो-  
रन्यतरस्य वा पञ्चदशसु रुक् अष्टादशसु वज्रम् एकोनविंशेषु वादः

कलिर्भक्तक इति यावत् विंशतिशेषे क्षतिर्द्रव्येण नाशः स्यात् ।  
यदाह लल्लः—

“मरुन्मेघाग्निभूपालचौरमृत्युरुजोऽग्निः ।  
कलिर्हानिर्दशोद्वाहे दोषास्त्याज्याः सदा बुधैः ॥  
विवाहादौ प्रतिष्ठायां व्रते पुंसवने तथा ।  
कर्णवेधे च चूडायां दशयोगं विवर्जयेत् ॥” इति ।

अथोपवाद उच्यते—

योगांक इति । खशून्ययुगाङ्गादिरूपे योगांके समे युग्मसंख्याके  
दलिते सत्यर्द्धीकृते सति मनुभिश्चतुर्दशभिर्युते योगांके तदा दास्त्राद-  
श्विनीतो भं नक्षत्रं स्यात् । यथा समांशके दशयोगः १० अर्द्धितः ५ म-  
नुयुतः १६ मूलनक्षत्रं जातम् । योगांके अयुग्मसंख्याके सति सैके एक-  
युक्ते ततोर्द्धिते अश्विनीतो भं स्यात् । यथा विषमांकपञ्चदशयोगः १५  
सैकः १६ अर्द्धितः ८ पुष्यनक्षत्रं जातम् । अथेत्यनन्तरं मनुभिः समि-  
ताश्चतुर्दशरेखास्तिर्यक् क्रमात्संलिखेत् तद्यथा अनेन प्रकारेण यन्नक्ष-  
त्रमागतं तत आरभ्य साभिजिन्नक्षत्रवृन्दमस्मिंश्चक्रे लेख्यम् । तत्र स्वा-  
क्रान्तनक्षत्रे स्थाप्याः दिननक्षत्रे च चन्द्रे । एवं सति यदि ग्रहचन्द्रावे-  
करेखास्थौ स्यातां तयोस्तादृशयोः परस्परालोकनरूपो वेधो न शु-  
भदः । उक्तं च ज्योतिः सागरे—

“योगांके विषमे सैके समे सवसुलोचने ।  
दलीकृतेश्विनीपूर्वं दशयोगमुदाहृतम् ॥  
दशयोगे महाचक्रे प्रमादाद्यदि विध्यते ।  
क्रूरैः सौम्यग्रहैर्वापि दम्पत्योरेकनाशनम् ॥” इति ।

दशयोगापवादान्तरमाह भरद्वाजः—

“गुरो लग्नाधिपे शुके सवीर्ये लग्नकेन्द्रगे ।  
दशदोषा विनश्यन्ति यथाग्नौ तूलराशयः ॥” तूलं कार्पासः ।

व्यासोपि—

“शुकेण गुरुणा वापि संयुतं दृष्टमेव च ।  
दशयोगसमायुक्तमपि लग्नं शुभावहम् ॥” इति ॥ ७१ ॥



अथ बाणदोषं शालिन्याह—

लग्नेनाढ्या याततिथ्योङ्कतष्टाः

शेषे नागद्वयवधितर्केन्दुसङ्ख्ये ।

रोगो बह्वी राजचौरौ च मृत्यु-

र्बाणश्चायं दक्षिणात्यप्रसिद्धः ॥ ७२ ॥

लग्नेनेति । शुक्रपक्षप्रतिपदमारभ्य लग्नेनाढ्या गततिथ्योर्कैर्नवभि-  
स्तष्टाः शेषे नागसंख्येऽष्टसंख्ये रोगाख्यो बाणः । एवं द्विसंख्ये शेषे व-  
ह्याख्यः । चतुःसंख्ये शेषे राजाख्यः । तर्काः षट् तत्संख्ये शेषे चौराख्यः ।  
एकसंख्ये शेषे मृत्युसंज्ञो बाणः । अयं च दक्षित्येषु महाराष्ट्रदेशीयेषु  
लोकेषु प्रसिद्धः । तेन देशाचारव्यवस्थया बाणस्य त्यागः, न तु  
प्राच्योदीच्यपाश्चात्यानाम् । तदुक्तं सप्तर्षिमतं विवाहपटले—

“गततिथियुतलग्नं पञ्चधा स्थापनीयं

तिथि—१५रवि-१२दश१०-नागै-८ वैद-४युक्तं क्रमेण ।

नव-६हृतशर-५शेषे बाणसंज्ञा क्रमेण

रुगनलनृपचौराः पञ्चमो मृत्युसंज्ञः ॥” इति ॥ ७२ ॥

अथ प्राच्यमतेन बाणं सापवादं मालिनीच्छन्दसाह—

रसगुणशशिनागाब्ध्याढ्यसंक्रान्तियातां-

शकमिति रथ तष्टाङ्कैर्यदा पञ्च शेषाः ।

रुगनलनृपचौरा मृत्युसंज्ञश्च बाणो

नवहृतशरशेषे शेषकैक्ये सशल्यः ॥ ७३ ॥

रसेति । अथशब्दः पादपूरणे । रसगुणशशिनागाब्धिभिराढ्या  
चासौ संक्रान्तियातांशकमितिश्चेति कर्मधारयसमासः । स्पष्टनिरयनां  
शसूर्यसंक्रान्तिमुकांशानां मितिः संख्या पञ्चधा स्थाप्या । कलादिक-  
मुपेक्ष्यम् । सा क्रमेण षट्त्र्येकाष्टचतुर्भिराढ्या संयोज्यां कौर्नवभिस्तष्टा  
सती यदा पञ्च शेषा यस्मिन्स्थले पञ्चावशिष्यन्ते तत्र क्रमेण रुगादि-  
र्बाणो ज्ञेयः । यथा आदौ पञ्चशेषे रोगबाणः, द्वितीये पञ्चशेषेऽग्निबाणः,  
तृतीये पञ्चशेषे राजबाणः, चतुर्थे पञ्चशेषे चौरबाणः, पञ्चमे पञ्चशेषे

मृत्युबाणः, तस्मात्तस्माद्भयं भवतीत्यर्थः । यदाह कश्यपः—

“संक्रातियातांशकनन्दशेषस्तर्काग्निरूपाष्टयुगैः समेतः ।

तथो ग्रहै रोगदुताशमूपस्तेनो मृतिश्चेति च पञ्च बाणाः॥” इति ।

पञ्चेति पृथक् पृथक् पदम् । पञ्च शिष्यते तदा बाणाः स्युरित्यर्थः । तत्र बाणो द्विविधः एकः काष्ठशल्योऽपरो लोहशल्यः । तत्राभिहितो बाणः काष्ठशल्य उच्यते । अस्य नाम प्राच्याख्यो बाण इत्याहुः तेन तादृशे बाणे लग्ने तथा पीडा न भवेत्तदर्थं तदपवादभूतो लोहशल्यसहितो बाण उच्यते । नवेति । यानि प्रागागतानि शेषाणि तेषामैक्ये नवहते पञ्चाच्छशेषे पञ्चशेषे सति सशल्यः लोहसहितो बाणः स्यात् । पञ्चव्यतिरिक्ते शेषे शल्यरहितो दुष्टबाणः । अयं तुल्यन्यायत्वात्प्राक्पद्योक्तेषु बाणं सशल्यो बाणो ज्ञेयः । ज्योतिश्चितामणावन्यथा बाणोभिहितः—

“तिथिवारभलग्नांको रसाग्न्यब्जाष्टवेदयुक् ।

नन्दाप्तपञ्चशेषे रुग्वहिराट्चौरमृत्युकृत् ॥” इति ॥ ७३ ॥

अथ समबभेदेन वारभेदेन कार्यभेदेन वा त्रिविधं बाणपरिहारं शादूर्लविक्रीडितेनाह—

रात्रौ चौररुजौ दिवा नरपतिर्वह्निः सदा सन्ध्ययो-  
मृत्युश्चाथ शनौ नृपो विदि मृतिर्भौमेऽग्निचोरौ रवौ ।

रोगोऽथ व्रतगेहगोपनृपसेवायानपाणिग्रहे

वर्ज्याश्च क्रमतो बुधैरुगनलक्ष्मापालचौरा मृतिः ॥७४॥

रात्राविति । तत्र तावत्कालभेदेन परिहारः । (१) रात्रौ चौररुजौ बाणौ

(१) अत्र प्रमिताक्षरायां त्वेवंविधा व्याख्या दृश्यते—“रात्रौ चौररुजौ बाणौ त्याज्यौ, दिवा नरपती राजबाणस्त्याज्यः, वह्निबाणः सदा दिवा रात्रौ त्याज्यः, सन्ध्ययोः सायंप्रातःसन्ध्ययोर्मृत्युबाणस्त्याज्यः । ज्योतिः प्रकाशे—

‘रोगं चौरं त्यजेद्रात्रौ दिवा राजन्यपञ्चकम् ।

सन्ध्ययोर्मृत्युदं त्याज्यं सर्वदा वह्निपञ्चकम् ॥’ इति ।”



त्याज्यौ, दिवा दिवसेऽग्निनृपती वहिराजबाणौ त्याज्यौ, सन्ध्ययोः प्रातः सायंसन्ध्ययोः सदा मृत्युबाणस्त्याज्यः, अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः। तदुक्तं ज्योतिः प्रकाशे—

“रोगं चौरं त्यजेद्रात्रौ दिवा राजाग्निपञ्चकम्।

उभयोः सन्ध्ययोर्मृत्युमन्यकाले न निर्दितः ॥” इति।

वारभेदेन परिहारः—

अथेति। अथ शनौ शनिवारे नृपबाणः, विदि बुधवारे मृतिबाणः, भौमेग्निचौरबाणौ, रवौ रोगबाणः, त्याज्यस्त्याज्याविति यथायोग्यं सम्बन्धः। उक्तं च दैवज्ञमनोहरे—

रवौ रोगं कुजे वह्निं शनौ च नृपपञ्चकम्।

वज्र्यं पुनः कुजे चौरं बुधवारे च मृत्युदम् ॥” इति।

कार्यभेदेन परिहार उच्यते—

अथेति। क्रमतः एतेषु शुभकर्मसु एते बाणा वज्र्याः। यथा व्रते यज्ञोपवीते रुक्, गेहं गृहं तस्य गोप आच्छादनं तत्रानलोभिः, नृप-सेवायां दमापालो राजा, याने यात्रायां चौरः, पाणिग्रहे मृतिबाणो वज्र्य इत्यर्थः। तदुक्तं ज्योतिःप्रकाशे—

“नृपाख्यं राजसेवायां गृहगोपेऽग्निपञ्चकम्।

याने चौरं व्रते रोगं त्यजेन्मृत्युं करग्रहे ॥” इति।

केचिदेवं पाठमाहुः—

“व्रते विवर्जयेद्रोगं गृहगोपेऽग्निपञ्चकम्।

यात्रायां राजचौराख्यौ विवाहे मृतिपञ्चकम् ॥” इति ॥७४॥

अथोदयास्तशुद्धिं विवक्षुस्तदुपयोगिनीं ग्रहदृष्टिमुपजातिकयाह—

त्र्याशं त्रिकोणं चतुरस्रमस्तं

पश्यन्ति खेदाश्चरणाभिवृद्धया।

मन्दो गुरुभूमिसुतः परे च

क्रमेण सम्पूर्णदशो भवन्ति ॥ ७५ ॥

ज्याशमिति । खेटा ग्रहा यस्मिन् स्थाने तिष्ठन्ति तस्मात्कथ्यमानानि स्थानानि चरणाभिवृद्ध्या पादवृद्ध्या पश्यन्ति । तद्यथा ज्याशं तृतीयं दशमं चैकचरणदृष्ट्या पश्यन्ति, त्रिकोणं नवमं पञ्चमं द्विचरणदृष्ट्या पश्यन्ति, चतुरस्रं चतुर्थमष्टमं त्रिचरणदृष्ट्या पश्यन्ति, अस्तं सप्तमस्थानं चतुश्चरणदृष्ट्या पश्यन्ति, अनेन तत्तद्ग्रहोद्भवशुभफलं चरणाभिवृद्धयैव भवतीत्यसूचि । तदुक्तं वराहेण—

“ दशमतृतीये नवपञ्चमे चतुर्थाष्टमे कलत्रं च ।

पश्यन्ति पादवृद्ध्या फलानि चैवं प्रयच्छन्ति ॥” इति ।

मन्द इति । मन्दः शनैश्चरः स्वस्थानात् ज्याशं सम्पूर्णदृक् चतुश्चरणदृष्टिः । एवं गुरुस्त्रिकोणं भूमिसुतः चतुरस्रं परे चन्द्रबुधसूर्यशुक्राः सम्पूर्णदश इत्यर्थः । यदाह गार्गिः—

“दुश्चिक्वदशमान्सौरिस्त्रिकोणस्थान्वृहस्पतिः ।

चतुर्थाष्टमगान्भौमः शेषाः सप्तमसंस्थितान् ॥

भवन्ति वीक्षणान्नित्यमेवाधिकफलग्रहाः ।” इति ।

वराहोपि—

“पूर्णं पश्यन्ति रविजस्तृतीयदशमे त्रिकोणमपि जीवः ।

चतुरस्रं भूमिसुतः सितार्कबुधहिमकराः कलत्रं च ॥” इति ॥ ७५ ॥

अथावसरप्राप्ताबुदयास्तशुद्धिं शिखरिण्याह—

यदा लग्नांशेशो लवमथ तनुं पश्यति युतो

भवेद्वायं वोढुः शुभफलमनल्पं रचयति ।

लवद्यूनस्वामी लवमदनभं लग्नमदनं

प्रपश्येद्वा वध्वाः शुभमितरथा ज्ञेयमशुभम् ॥ ७६ ॥

यदेति । यदा लग्नांशेशो लग्नांशस्तस्येशः स्वामी लवं नवांशं पश्यति



वा अथवा नवांशेन सह युतो वा भवेत्तदा वोढुर्वरस्यानल्पं बहु शुभ-  
फलं रचयति । यथा मेषलग्ने मिथुनांशस्तदीशो बुधः तुलायां मिथुनं  
पश्यति तत्र तिष्ठति वा । अयमुदयशुद्धेः प्रथमः कल्पः । ‘तनुफलं हि  
लवा न बलवन्त’ इति केशवाकौकन्यायात् । तदलाभे तु लग्नांशेशस्तनुं  
लग्नं पश्यति लग्नेन सह युतो वा भवेत्तदापि वोढुः शुभफलमनल्पं  
स्यात् । यथा मेषलग्न एव मिथुननवांशस्वामी बुधो मकरे स्वनवांशं न  
पश्यति किंतु लग्नं पश्यति अथवा मेष एव तिष्ठति । अयमस्तशुद्धेः द्वि-  
तीयः प्रकारः । लवेति । लवद्यूनस्वामी बलवान्नवांशात् द्यूनं सप्तमनवांशस्त-  
त्स्वामी लवमदनं लवान्मदनं सप्तमनवांशं पश्यति तेन सह युतो वा  
भवेत्तदा वध्वा अनल्पं शुभं रचयति । तथा मिथुननवांशात् सप्तमो धनु-  
रंशस्तदधीशो गुरुर्मेघे धनुः पश्यति तत्र तिष्ठति वा । अयमस्तशुद्धेः  
प्रथमः प्रकारः, तदलाभे तु लवद्यूनस्वामी लग्नमदनं सप्तमभवनं  
पश्यति युतः सप्तमभवनेन सह युतो वा भवेत्तदा वध्वाः शुभम् । यथा-  
गुरुः कर्के स्वनवांशं न पश्यति किंतु सप्तमभवनं तुलां पश्यति अथ-  
वा तुलायामेवास्ति । अयमस्तशुद्धेर्द्वितीयः प्रकारः । इतरथेति । इत-  
रथा यदा लग्नांशेशो लवं तनुं वा न पश्यति तत्र युतो वा न स्यात्तदा  
वरस्याशुभं मृत्युः स्यात् । यदा त्वस्तांशेशोऽस्तांशमस्तभवनं लवं तनुं  
वा न पश्यति तत्र युतो वा न स्यात्तदा कन्याया अशुभं मृत्युरित्यर्थः ।  
यदाह कश्यपः—

“स्वस्वेशेनोदयास्तांशौ वीक्षितावथ संयुतौ ।

लग्नं वास्तगृहं तत्तदंशेशेनेक्षितं युतम् ॥” इति ।

वसिष्ठः—

“इष्टोदयांशे निजपत्यदृष्टे वरस्य मृत्युस्तनुसंयुते च ।

अस्तांशकेऽप्येवमदृष्टयुक्ते स्वस्वामिना नाशमुपैति कन्या ॥” इति ।

तुल्यन्यायत्वाल्लग्नोऽप्यस्तलग्नोऽपि उदयलवादस्तांशस्वामिनोर्दृष्ट्य-  
भावेऽप्येतदेव फलं ध्येयम् ॥ ७६ ॥

तदेव भुजङ्गप्रयातेनाह—

लवेशो लवं लग्नपो लग्नगेहं

प्रपश्येन्मिथो वा शुभं स्याद्वरस्य ।

लवद्यूनपौंशद्युनं लग्नपोऽस्तं

मिथो वीक्षते स्याच्छुभं कन्यकायाः ॥ ७७ ॥

लवेश इति । नवांशस्वामी नवांशं प्रपश्येदलग्नस्वामी लग्नं प्रपश्येत्तदा वरस्य शुभं स्यात् । अथवा मिथः परस्परं लवस्वामी लग्नं लग्नेशो लवं च पश्येत्तदापि वरस्य शुभं स्यात् । एवं लवद्यूनपो नवांशान्मदननवांशस्वामी अंशद्यूनमंशं सप्तमराशिमीक्षते लग्नपो लग्नस्वामी अस्तं लग्नात्सप्तमभवनमीक्षते तदा कन्यायाः शुभं स्यात् । वा अथवा मिथौशसप्तमाधीशो लग्नसप्तमं वीक्षते लग्नात्सप्तमाधीशौशसप्तममीक्षते तदापि कन्यायाः शुभं स्यात् अत्रोदाहरणं स्पष्टत्वान्नोक्तमस्माभिः । अत्रान्यथात्वे दम्पत्योरशुभमित्यर्थः । वदाह नारदः—

“लग्ननवांशकौ स्वस्वपतिना वीक्षितौ युतौ ।

न चेद्द्वान्योन्यपतिना शुभमित्रेण वाथवा ॥

वरस्य मृत्युः स्यात्ताभ्यां सप्तसप्तोदयांशकौ ।

एवं तावीक्षितौ युक्तौ मृत्युर्वध्वाः करग्रहे ॥”

वसिष्ठोपि—

“उदयांशः स्वनाथेन मित्रसौम्येन वा युतः ।

प्रेक्षितो वा तथास्तांशो दम्पत्योः पुत्रपौत्रदः ॥” इति ।

परस्परवीक्षणोपेतदेव फलं ध्येयम्, नारदवाक्यस्वरसात् ॥७७॥

अथ पूर्वोक्तप्रकारेणोदयास्तशुद्धेरभावेपि तृतीयप्रकारं मालिनी-  
च्छन्दसाह—

लवपतिशुभमित्रं वीक्षतेऽंशं तनुं वा

परिणयनकरस्य स्याच्छुभं शास्त्रदृष्टम् ।

मदनलवपमित्रं सौम्यमंशं द्युनं वा

तनुमदनगृहं चेद्वीक्षते शर्म वध्वाः ॥ ७८ ॥

लवपतीति । शुभमित्रं शुभं च तन्मित्रं चेति कर्मधारयः । लवपतेर्ल-  
ग्ननवांशेशस्य शुभग्रहः सोमबुधगुरुशुक्राणामन्यतमश्चेन्मित्रं स्यात्स चेदं-  
शं स्वनवांशं तनुं लग्नं वा वीक्षते तदा परिणयनकरस्य वरस्य शास्त्रदृष्टं



वसिष्ठोक्तं पुत्रपौत्रादिप्राप्तिरूपं शुभं फलं स्यात् । एवं मदनलवस्यास्तां-  
शेशस्य मित्रं सौम्यं चेत्स्यात्तच्चांशद्यूनमंशाङ्गननवांशात् द्यूनं सप्तम-  
नवांशं चेद्वीक्षितं वा अथवा तजुमदनगृहं लग्नात्सप्तमभवनं चेद्वीक्षिते  
तदा वध्वाः शास्त्रदृष्टं शर्मं न स्यात् । यद्युभयत्रापि नवांशस्वामिनो  
मित्रं पापग्रहश्चेत्तस्य दृष्टिरशुभैवेति फलितोर्थः । यदाह वराहः—

“शुद्धस्त्वह स्यान्न यदोदयांशो लग्नेन चास्तांशमुपैति सिद्धिम् ।

तदा सुहृत्सौम्यनिरीक्षितो यः शुभाय स स्यात्प्रवदन्ति सन्तः॥” इति ।

नन्वत्र वाक्ये सुहृत्सौम्यनिरीक्षित इति पदे सुहृत्चासौ सौम्यश्चेति  
कर्मधारयाङ्गीकारे भवदुक्तं व्याख्यानं सत् । यदा तु सुहृच्च सौम्यश्चेति  
द्वन्द्वः तदा सुहृत्पापग्रहोपि स्यादिति चेन्न । प्रागुक्तवसिष्ठवाक्ये मित्रे  
सौम्येन वा युते इति तृतीयैकवचनान्तस्य पार्थक्योपादानात् । मित्रं  
चासौ सौम्यश्च मित्रसौम्यस्तेन मित्रशब्दस्य विशेषणत्वात्पूर्वनिपातः ।  
द्वन्द्वाङ्गीकारे तु मित्रसौम्याभ्यामिति भवितव्यम् । तथा सति छन्दो-  
भङ्गोपि स्यात् । समाहारद्वन्द्वो भविष्यतीति चेत्, न किञ्चित्प्रमाणम् ।  
अतः कश्यपेनाप्येवमेवोक्तम्—

“राश्यंशौ मित्रसौम्येन वीक्षितौ वाथ संयुतौ ।

उदयास्तांशयोः शुद्धिस्त्रिविधा मङ्गलप्रदा ॥” इति ।

अतो वराहवाक्येपि कर्मधारय एवेति युक्तं प्रतीमः । वसिष्ठः—

“लग्नास्तशुद्ध्या रहितः सरोषः करोति मृत्युं वरकन्ययोश्च ।

त्रातुं यथा लग्नगुणास्त्वशकास्तं वन्धुवर्गा इव सर्पदष्टम् ॥” इति ।

केचित्तु विवाहादौ वज्रयोगं निषिद्धमाहुः । तल्लक्षणम्—

“तिथिं वारं च नक्षत्रं नवभिश्च समन्वितम् ।

सप्तभिस्तु हरेद्भागं शेषांके फलमादिशेत् ॥

त्रिशेषे तु जलं विद्यात्पञ्चशेषे प्रभञ्जनः ।

सप्तशेषे वज्रपातो ब्रह्मं वज्रस्य लक्षणम् ॥” इति टोडरानन्दे ॥७८॥

अथ सूर्यसंक्रमणाख्यं दोषं मञ्जुभाषिण्याह—

विषुवायनेषु परपूर्वमध्यमान्

दिवसांस्त्यजेदितरसंक्रमेषु हि ।

घटिकास्तु षोडश शुभक्रियाविधौ

परतोऽपि पूर्वमपि सन्त्यजेद् बुधः ॥७६॥

विषुवेति । विषुवं तुलामेषसंक्रांती । अयनं कर्मकरसंक्रान्ती । एवं चतसृषु विषुवायनाख्यासु संक्रान्तिषु परपूर्वमध्यमान् गतागामि-  
वर्त्तमानान्दिवसान्बुधः शुभक्रियाविधौ विवाहयज्ञोपवीतादिशुभकार्येषु  
त्यजेत् । इतरेष्वष्टसंक्रमेषु संक्रमात्परतोऽपि पूर्वं प्रागपि षोडश घ-  
टिका मिलित्वा द्वात्रिंशद्घटिकास्त्यजेत् । यदाह वसिष्ठः—

“विषुवतोरयनयोर्दिनत्रयं हरिपदे षडशीतिमुखेषु च ।

पूर्वतोपि परतोपि संक्रमान्नाडिकाश्च खलु षोडश त्यजेत् ॥

संक्रान्तिदोषे त्वचिरात्कृतं यदुद्वाहपूर्वाखिलमङ्गलाद्यम् ।

लाक्षासमूहोज्ज्वलिताग्निमध्ये विलीयते तद्वदशेषमेतत् ॥” इति

उद्वाहादिग्रहणात्स्नानादावनिषेधः । तद्वाक्यानि संक्रान्तिप्रकरणे  
स्माभिरुक्तानि ।

तत्र सावनसंक्रमेपि व्यवस्था—

किं तद्दिनत्रयं त्याज्यं किं संक्रान्तिकालात् प्राग्दिनत्रयमुत तदन-  
न्तरमुत मध्यमं वेति पक्षत्रयसम्भवे निर्णयमाह गुरुः—

“अयने विषुवे पूर्वं परं मध्यदिनं त्यजेत् ।

अन्यसंक्रमणे पूर्वा पराः षोडश नाडिकाः ॥” इति ।

अयं च निषेधः संक्रान्तिष्वपि ध्येयः । यदाह वसिष्ठः—

“यदायनप्रवेशः स्यात्तदा तद्वाशिसंक्रमः ।

तस्मिन्नपि दिने त्याज्या नाड्यः षोडश षोडश ॥” इति ।

शौनकः—

“अयनद्वये समूहा भर्तारं नाभिनन्दते नारी ।

विषुवद्द्वयेऽपि विधवा षडशीतिमुखेषु सा म्रियते ॥

विष्णुपदेषु विगीता कन्या विकलेन्द्रिया व्यतीपाते ।

वैधृतिविष्टयोर्भ्रष्टा सुभगा शेषेषु करणेषु ॥” इति ।

विगीता पुंश्चलीत्याद्यभिशापेन प्रसिद्धा ॥ ७६ ॥



अथ संक्रान्तिप्रसङ्गात्सकलग्रहाणां संक्रान्तिघटीरनुष्ठुभाह—

(१) देवद्वयङ्कर्तवोऽष्टाष्टौ नाड्योङ्काः खनृपाः क्रमात् ।

वर्ज्याः संक्रमणेऽर्कादेः प्रायोऽर्कस्यातिनिन्दिताः ॥८०॥

(१) अत्राचार्येण सूर्यादिग्रहाणां संक्रान्तिघटिकाः पठिताः । तासां सामान्यतो रविसंक्रान्तिघटिकास्तद्विम्बकेन्द्राश्यादिसंयोगात्पूर्वतः परतश्च षोडश षोडश ( योगेन द्वात्रिंशत् ) घटिकाः स्थूलत्वेन रवि-विम्बकलामानं द्वात्रिंशन्मितं रविगतिश्च षष्टिमितां प्रकल्प्य संक्रान्ति-प्रकरणोक्तेन 'संक्रान्तिकालादुभयत्र नाडिकाः पुण्या मताः षोडश षोडशोष्णगो-' रित्यनेन व्यवहारार्थं दर्शिताः । इहान्येषामपि वास्त-वमध्यगतिविम्बकलामानज्ञानात्संक्रान्तिघटिकाः समानीय पठिता-स्तच्चैवम् । तत्रानुपातो यदि वास्तविकरविमध्यगत्या (५६ । ८) नया षष्टि-६०घटिकास्तदा तद्विम्बकलामानेना—( ३२ । ३१ । ३३ ) नेन का इत्यागता रविसंक्रान्तिघट्यो वास्तविकास्तत्स्वरूपम्

$$= \frac{६०(३२।३१।३३)}{५६।८} = \frac{१६२०।१८६०।१६८०}{५६।८} = \frac{११७०६०।१६८०}{३५४८}$$

$$= \frac{११७०६३}{३५४८} = ३३ + \frac{६}{३५४८} \text{ अत्र द्वितीयखण्ड } \frac{६}{३५४८} \text{ मिदमतीवात्यत्वा-}$$

स्यक्तं तदा रसंघ = ३३ ।

$$\text{एवं चन्द्रस्यानुपातेन संघ} = \frac{६० ( ३२ । ० । ६ )}{७६० । ३५}$$

$$= \frac{१६२० । ०० । ५४०}{७६० । ३५} = \frac{११५२०० । ५४०}{४७४३५} ( \text{ एकजातीये कृते } )$$

$$= \frac{११५२०६}{४७४३५} = २ + \frac{२०२३६}{४७४३५} \text{ अत्रार्धाधिके रूपं ग्राह्यमर्धाल्पे त्याज्यमिति }$$

नियमेन द्वितीयखण्डत्यागात् चंसंघ = २ । एवं कुजादीनामपि । तेषां विम्बकलामानं "व्यङ्ग्रीषवः सचरणा ऋतवलिभागयुक्ताद्रयो नव च सत्रिलवेषवश्च । स्युर्मध्यमास्तनुकलाः क्षितिजादिकानाम्....." इत्यादि भास्करोक्तमवगम्यम् । तेभ्योऽनुपातात्सर्वेषां संक्रान्तिघ-टिका आनेयाः ।

देवेति । अर्कादेः सूर्यादेर्ग्रहसमूहस्यैता घटिकास्त्याज्याः । यथा सूर्यस्य संक्रमणकालात्प्राक् पञ्चाच्च मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्घटिकास्त्याज्याः । एवं चन्द्रस्य द्वे घटिके, भौमस्य नव, बुधस्य षट्, गुरोरष्टाष्टौ अष्टाशीतिः, शुक्रस्यांका नव, शनेः खनृपाः षष्ठ्यधिकशतघटिका वर्ज्याः । तत्रार्कस्य घटिकाः प्रायो बाहुल्येनातिनिन्दिताः । अत्र संमतिवाक्यं वासनासहितविवरणं संक्रान्तिप्रकरणेऽभिहितमस्माभिः । तत एवावधार्यम् ॥ ८० ॥

अथ पंग्वंधकाणवधिराख्यान् लग्नदोषानुपजातिकयाह—

घस्त्रे तुलाली बधिरौ मृगाश्वौ

रात्रौ च सिंहाजवृषा दिवान्धाः ।

कन्यानृयुक्कर्कटका निशान्धा

दिने घटोऽन्त्यो निशि पङ्गुसंज्ञः ॥ ८१ ॥

घस्त्रे इति । घस्त्रे दिवसे तुलाली तुलावृश्चिकौ बधिरौ स्मृतौ, मृगाश्वौ मकरधनुषौ रात्रौ बधिरौ न तु दिवसे, सिंहाजवृषा दिवांधा दिवसेन्धा उक्ता न तु रात्रौ । कन्यानृयुक्कर्कटा निशांधा रात्र्यन्धा न तु दिवांधाः । घटः कुम्भो दिने पङ्गुसंज्ञो न तु रात्रौ । अन्त्यो मीनो निशि पङ्गुसंज्ञो न तु दिने । यदाह वसिष्ठः—

“मेषादिरंधकं षट्कं चत्वारौ बधिराः स्मृताः ।

द्वौ पङ्गु वेति विज्ञेयावित्येतद्राशिलक्षणम् ॥

मेषो वृषो मृगेन्द्रश्च दिवसेन्धाः प्रकीर्तिताः ।

नृयुक्कर्कटकन्याश्च रात्रावन्धाः प्रकीर्तिताः ॥

तुला च वृश्चिकश्चैव दिवसे बधिरौ तथा ।

धनुश्च मकरश्चैव बधिरौ निशि कीर्तितौ ॥

कुम्भमीनौ च पङ्गु द्वौ दिवारात्रौ यथाक्रमम् ।” इति ।

कुम्भो दिवा पङ्गुः, मीनो रात्रौ पङ्गुः, अनेन यस्मिन्काले लग्नस्य यौधपंग्वादोष उक्तस्तस्मिन्नेव काले तल्लग्नं दोषावहं न कालांतरे इत्युक्तं भवति ॥ ८१ ॥



अथ परमते पंग्वधौल्लग्नदोषानाह—

बधिरा धन्वितुलालयोऽपराद्धे

मिथुनं कर्कटकोऽङ्गना निशान्धाः ।

दिवसान्धा हरिगोक्रियास्तु कुब्जा

मृगकुम्भान्तिमभानि सन्ध्ययोर्हि ॥ ८२ ॥

बधिरेति । धन्वितुलालयो धनुस्तुलावृश्चिका अपराद्धे दिवस-  
स्यान्तिमे तृतीयविभागे बधिराः स्मृताः । मिथुनकर्कटकन्या निशान्धाः  
स्मृताः । हरिगोक्रियाः सिंहवृषमेषास्तु दिवसेन्धाः स्मृताः । मृग-  
कुम्भान्तिमभानि मकरकुम्भमीनाः सन्ध्ययोः प्रातःसायंसन्ध्ययोर्हि निश्च-  
येन कुब्जाः पंगवः स्मृताः । अत्र मूलवाक्यं नोपलभ्यते ॥ ८२ ॥

अथैषां प्रयोजनं सापवादं प्रहर्षिण्याह—

दारिद्र्यं बधिरतनौ दिदान्धलग्ने

वैधव्यं शिशुमरणं निशान्धलग्ने ।

पङ्गवङ्गे निखिलधनानि नाशमीयुः

सर्वत्राधिपगुरुदृष्टिभिर्न दोषः ॥ ८३ ॥

दारिद्र्यमिति । स्पष्टार्थं पद्यम् । पंग्वङ्गे पङ्गुलग्ने । यदाह वसिष्ठः—

“अन्धे वैधव्यमाप्नोति दारिद्र्यं बधिरे तथा ।

अर्थनाशो भवेत्पङ्गाविति धात्रा विनिश्चितम् ॥ ” इति ।

सर्वत्रेत्यस्य संमतिः । बादरायणः—

मासशून्याह्वयास्ताराराशयो बधिरादयः ।

गौडमालवयोस्त्याज्यास्त्वन्यदेशे न गर्हिताः ॥ ”

इति नारदवाक्यं ग्रन्थकृतैव प्रागुक्तम् ॥ ८३ ॥

अथोदयास्तशुद्धिः प्रागुक्ता तत्रावसरप्राप्तान्विहितनवांशांश्चित्रपदा-  
च्छन्दसाह—

कार्मुकतौलिककन्या युग्मलवे भूषणे वा ।

यर्हि भवेदुपयामस्तर्हि सती खलु कन्या ॥ ८४ ॥

कार्मुकेति । कार्मुकं धनुः, तौलिकं तुला, कन्या प्रसिद्धा, युग्मं मिथुनम्, एषामंशे नवांशे भूषणे वा मीननवांशे वा विकल्पेन । वाशब्दः स्वकीयमतसूचनार्थः । धनुरादिनवांशा सर्वमुनिसंमता इत्यर्थः । तेष्वंशेषु यर्हि यदा उपयामो विवाहो भवेत्तर्हि कन्या विवाहोत्तरं सती पतिव्रता खलु निश्चयेन स्यात् ।

नवांशलगनेषु विवाहे फलानि—

यदाह वसिष्ठः—

“लग्ने हि सर्वे शुभराशयश्च शुभेक्षिता वाऽथ युताः शुभाः स्युः ।  
नवांशकास्तौलिनृयुग्युवत्यश्चापाद्यभागः शुभदो न चान्ये ॥  
द्विभर्तृका मेषनवांशके स्याद्वृषांशके सापि सुशीलयुक्ता ।  
धनान्विता पुत्रवती तृतीये कुलीरकांशे कुलटाप्यजस्रम् ॥  
सिंहांशके सा पितृमन्दिरस्था कन्यांशके वित्तयुता सुशीला ।  
तुलांशके सर्वगुणास्पदा सा कीटांशके निःस्वतरा विशीला ॥  
चापांशकाद्ये धनिनी द्वितीये भागेन्यसक्ता मलिना गदाढ्या ।  
निःस्वा मृगांशे विगुणा घटांशे विभर्तृका योगरता विशीर्णा ॥  
मीनांशके भर्तृयुतार्थहीना शुभग्रहैर्युक्तनिरीक्षिते वा ।  
तस्मात्सदैवोक्तनवांशकेषु कुर्याद्विवाहं गुणसंप्रवृद्धयै ॥  
नवांशदोषः सकलं गुणौघं लग्नोत्थसौम्यग्रहसंभवं च ।  
ध्रुवं निहन्तीव वृकोऽजसंघं षड्गर्जं सौम्यवियञ्चराणाम् ॥” इति ।

पशुशीलयुक्ता पश्वाचारपरा, गदो रोगः, स्वं धनम्, एते एव च नवांशाः सकलमुनिभिरुक्ताः । “तुलामिथुनकन्यांशा धनुरर्द्धाद्विसंयुताः । एते नवांशा शुभदा यदि नांत्यांशकाः खलु ॥” इति नारदोक्तेः ।

शौनकस्तु मीनांशकमपि शुभमाह—

“सुदती सौभाग्यवती प्रहसितवदना च मीनांशे” इति । तत्र निषेधस्य तुल्यबलत्वात्षोडशी ग्रहणाग्रहणवद्विकल्प इत्याहुः, तन्न ‘एकबाधेनोपपत्तावनेकबाधो न न्याय्यः’ इति बहुमुनिवचनप्रामाण्यसमीक्षांशत्याग एवोचितो न त्वेकतरमुनिवचनानुरोधात्पाक्षिको बाधः पाक्षिको विधिश्च, विकल्पस्याष्टदोषग्रस्तत्वात् । का तर्हि शौनकवाक्यस्य गतिरिति



चेत् । गुणवद्धरोपलब्धौ लग्नांतरासंभवे मीनांशको निषिद्धोऽपि प्रशस्त इत्येवं युक्ता गतिः । यर्हीति । “अनद्यतनेर्हिलन्यतरस्याम्” इति किं यत्तद्भयोऽनद्यतने कालेर्हिलप्रत्ययः । उपयामः “यमः समुपनिविषु च” इति घञ् । “विवाहोपयमौ समौ । तथा परिणयोद्वाहोपयामाः पाणिपीडनम्” इत्यमरसिंहः ॥ ८४ ॥

अथ विहितनवांशो कचिन्निषेधं श्रीच्छन्दसाह—

अन्त्यनवांशे न च परिणया  
काचन वर्गोत्तममिह हित्वा ।

नो चरलग्ने चरलवयोगं

तौलिमृगस्थे शशभृति कुर्यात् ॥ ८५ ॥

अन्त्येति । विहितनवांशेष्वपि यथा मेष लग्ने धनुर्नवांशोन्तिम इत्येवं विषये लग्नातिमनवांशो काचन कन्या न परिणया न विवाहा । परन्तु वर्गोत्तममपि नवांशं हित्वा तत्र विवाह उचित एव । तथा मिथुनलग्ने मिथुनांशोऽतिमोऽपि वर्गोत्तमः शुभः । यदाह कश्यपः—

“अन्त्यांशका अपि श्रेष्ठा यदि वर्गोत्तमाह्वयाः ।

अनुकांशास्तु न ग्राह्या यतस्ते कुनवांशकाः ॥” इति ।

वसिष्ठोऽपि—

“वर्गोत्तमं विनांत्यांशो विवाहे न शुभप्रदः ।

वर्गोत्तमश्चेदन्त्यांशः पुत्रपौत्रादिवृद्धिदः ॥” इति ।

अन्यच्च । नो चरलग्ने इति । तौलिमृगस्थे तुलामकरस्थे शशभृति चन्द्रे सति चरलग्ने विहितचरलवयोगं नो कुर्यात् । यथा मेषलग्ने तुलांशः । उक्तं च केशवार्केण—

“चरलवं चरवेश्मगमुत्सृजेन्मृगतुलाधरगे मृगलक्ष्मणि ।

युवतिरत्र भवेत्कृतकौतुका मदनवत्यनवत्यजनोन्मुखी ॥” इति ।

अनवो जीर्णो भर्ता तस्य त्यजने त्यागे उन्मुखी परपुरुषरता स्यादित्यर्थः ॥ ८५ ॥

अथ सर्वथा लग्नभंगयोगमुपजात्याह—

व्यये शनिः खेऽवनिजस्तृतीये

भृगुस्तनौ चन्द्रखला न शस्ताः ।

लग्नेट् कविग्लौश्च रिपौ मृतौ ग्लौ-

र्लग्नेट्शुभाराश्च मदे च सर्वे ॥ ८६ ॥

व्यय इति । व्यये द्वादशस्थाने स्थितः शनिः न शस्तः “सोमकुले-  
पि हि जातां द्वादशगे मद्यपां कुरुते ” इति शौनकोक्तेः । अत्र रविसुते  
इत्यनुवर्तते । खे दशमेऽवनिजो मङ्गलो न शस्तः ‘शाकिनी व्यो  
मिन वक्रे’ इति केशवाकोक्तेः ।

तृतीये शुक्रो वर्ज्यः—

तृतीये भृगुः शुक्रो न शस्तः “ धन्या धनगे शुक्रे कृपणत्वं प्राप्नु-  
यान्नारी । दुश्चिक्कयगते कन्या ज्यब्दाद्भर्तुः कनीयांसं भजते ॥ ” इति  
शौनकोक्तेः ।

विवाहलग्ने वर्ज्या ग्रहाः—

तनौ लग्ने चन्द्रः खलाः पापग्रहाः न शस्ताः ।

“लग्नस्थेर्के कन्या विधवा संवत्सरेऽष्टमे भवति ।

लग्नस्थो हिमरश्मिर्मृत्युं कुर्यान्नयोदशे मासे ॥

भौमः सद्यो विधवां लग्नस्थोब्दान्न सौम्यदृग्योगात् ।

कामयति नीचवर्णाङ्गनस्थे रविसुते बह्वन्पुरुषान् ॥

शनिवद्विधुंतुदस्य तु विज्ञेयं सदसदिति विज्ञैः ।”

इति शौनकोक्तेः ।

षष्ठे लग्नपशुकचन्द्रा वर्ज्याः—

लग्नेट् लग्नस्वामी, कविः शुक्रः, ग्लौश्चन्द्रश्च रिपौ षष्ठस्थाने न शस्तः ।

“रन्ध्रे कुजे सौम्यखगे च मृत्युः षष्ठाष्टगे लग्नपतौ च मृत्युः” इति

ज्योतिर्निबन्धकारोक्तेः । “भृगुषट्काहयो दोषो लग्नात्षष्ठगते

सिते । उच्चगे शुभसंयुक्ते तल्लग्नं सर्वदा त्यजेत् ॥ ” इति

नारदोक्तेः । “अब्दचतुष्कान्मृत्युर्दपत्योः षष्ठगे चन्द्रे ” इति शौ-

नकोक्तेः । ग्लौश्चन्द्रः ।



अष्टमे लग्नपेन्दुबुधेज्यशुक्रारा वज्याः—

लग्नेट् शुभाश्चन्द्रबुधगुरुशुक्राः आरौ भौमश्चैते मृतावष्टमस्थाने न शस्ताः । “मासत्रयेण विधवा निधनस्थश्चन्द्रमाः कुरुते । मासत्रयेण कन्या निधनस्थे याति पञ्चत्वम् ॥” बुध इत्यनुवर्तते । पञ्चत्वं मरणम् । ‘दम्पत्योर्निधनस्थः सप्तदशाब्दाद्वियोगदो जीवः । पञ्चत्वं नयति भृगुर्निधनस्थः सप्तभिर्वर्षैः ॥’ इति शौनकोक्तेः । नारदः— “कुजोष्टमे महादोषो लग्नादष्टमगे कुजे । शुभत्रययुतं लग्नं त्यजेत्तुंगगे यदि ॥” अत्र सम्मतिः प्रागुक्ता ।

सप्तमे लग्नात्सर्वथा शुद्धिरपेक्षिता—

लग्नेट् च पुनः सर्वे सूर्यादयो ग्रहा मर्तुं सप्तमस्थाने न शस्ताः निषिद्धाः । ‘सर्वे जामित्रसंस्था विदधति मरणम्’ इति वसिष्ठोक्तेः । कश्यपोपि—“सप्तमस्थानगाः सर्वे ग्रहाः कुर्वन्ति शीघ्रतः । दम्पत्योर्मरणं यत्स्यादेकस्य च न संशयः ॥” इति । अर्थादन्येषु स्थानेषु ग्रहाः समीचीनास्तत्र केषुचित्स्थानेषु शुभा एव केषुचिन्मध्यमा एवेत्येतदपि वक्ष्यति । अतोमुमर्थमतिसंक्षिप्य त्रिविक्रमेण निषिद्धस्थानान्येवोक्तानि—

“त्याज्या लग्नेऽब्धयो मन्दात्षष्ठे शुक्रेन्दुलग्नपाः ।

रंध्रे चन्द्रादयः पञ्च सर्वे ऽस्तेऽजगुरु समौ ॥” इति ।

सप्तमे विधौ गुरौ वा दोषफलम्—

अब्जगुर्वोः समत्वं शौनकमतेन, तादृशविरुद्धफलाभावात् । तदाह—

“कन्यास्तिस्रो जनयति सापत्न्यं चैव सप्तमे शशिनि ।

शीलचरित्रोपेतां करोति पत्युः कलत्रगो द्वेष्याम् ॥” इति ।

गुरुरित्यनुवर्तते । अत्र वचनद्वयप्रामाण्याद्विकल्पः ।

शुक्रे चन्द्राद्गुरुबुधशुक्राः शुभाः—

यस्त्रयिणोक्तं—

“जामित्रगो यदि भवेदुशना बुधो वा

गीर्वाणनाथसचिवः सितचन्द्रपत्ने ।

कन्याविवाहसमये परिहृत्य दोषान्  
सौभाग्यपुत्रसहितां वनितां करोति ॥” इति ।

तच्चन्द्रजामित्रविषयम् । तथा च भुजबलः—

“स्त्रीणां विवाहे तु बलैरुपेताः पत्युः प्रणाशं विहगा विदध्युः ।  
त्यक्त्वा बुधं दैत्यगुरुं गुरुं च निशाकरादस्तगृहं प्रपन्नाः ॥” इति ।  
दैत्यगुरुं शुक्रम् । अत एव दीपिकायाम्—  
“रवि मन्दं कुजाक्रान्तं मृगाङ्गात्सप्तमं त्यजेत् ।  
विवाहयात्राचूडासु गृहकर्मप्रवेशने ॥” इति ॥ ८६ ॥

अथैवं निषिद्धस्थानान्यभिधायेदानीं रेखादातृन् ग्रहान्वसन्तति-  
लकयाह—

ज्यायाष्टवत्सु रविकेतुतमोर्कपुत्रा-  
ख्यायारिगः क्षितिसुतो द्विगुणायगोऽब्जः ।  
ससव्ययाष्टरहितौ जगुरु सितोऽष्ट-  
त्रिचूनषड्व्ययगृहान्परिहृत्य शस्तः ॥ ८७ ॥

ज्यायेति । तृतीयैकादशाष्टमषष्ठस्थानेषु रविकेतुतमोर्कपुत्राः शस्ताः  
शुभफलदातारः । यदाह शौनकः—

“बन्धुजनेभ्यः पूजां त्रिशद्वर्षाणि सहजगे त्वर्के ।  
प्राप्नोति धनं षष्ठे ज्येष्ठादूर्ध्वं सुतांश्चैव ॥  
दम्पत्योः सह मरणं निधनस्थेर्केऽष्टसप्तत्या ।  
कारयति धनविवृद्धिं ज्येष्ठादूर्ध्वं तथायगः सविता ॥” इतिरवेः ।  
धनधान्यपुत्रयुक्तां पञ्चमसंवत्सरात्तृतीयस्थः ।  
षष्ठः षड्भिर्मासैरसपत्नीं कन्यकां कुरुते ॥  
निधनगतार्किः कुर्यादामरणादामयवियुक्ताम् ।  
आयगतोर्किः कन्यां त्रिवर्गयोग्यां करोति षणमासात् ॥” इति ।

( अर्कस्यापत्यं अर्किः । “अत इञ्” । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्य-  
त्वाद्बृहस्पतिभावः । सत्यां वा वृद्धौ “नमुने” इति नेतियोगविभागादसि-



द्धत्वाभावात्सन्धिर्दीर्घः । 'आयगतार्किः' इति पाठः । आयगतश्चासौ  
आर्किश्चायगतार्किः इत्येकं पदं वा ) अत्र राहुकेत्वोश्च फलं शनिवदेवे-  
ति । 'स्वर्मानौ वाप्यथ शिखिनि वा लग्नभावादिसंस्थे ।' इति  
वसिष्ठोक्तेः ।

विवाहलग्नात्र्यायारिगो भौमो योगविशेषकारका भवन्ति—  
त्र्यायारिगः तृतीयैकादशषष्ठस्थानस्थितः क्षितिसुतो भौमः शस्तः ।  
"सहजस्थो भूमिसुतः सौभाग्यकरस्तु यावदायुष्यम् ।  
संवत्सरेण विपुलं धनागमं शत्रुसंस्थस्तु ॥  
मणिकांचनरत्नाढ्यामेकादशगः कुजोब्दषट्केन ।" इति शौनकोक्तेः ।

अथ विवाहलग्नाद्द्वित्र्यायस्थश्चन्द्रो योगविशेषकारकः—

अब्जश्चन्द्रो द्विगुणायगो द्वितीयतृतीयैकादशस्थः शस्तः ।  
"अब्दाद्धनसयुक्तां करोति चन्द्रो धने नार्याः ।  
चन्द्रस्तृतीयराशौ सौभाग्यकरस्तु यावदायुष्यम् ॥  
लग्नादेकादशगः कन्यामिदुर्धनान्वितां कुरुते ।" इति शौनकोक्तेः ।  
ज्ञगुरु बुधवृहस्पती सप्तमद्वादशाष्टमातिरिक्तस्थानस्थितौ शस्तौ ।

उक्तस्थानानामशुभत्वादन्युक्तस्थानानां च शुभदातृत्वात् । यदाह वसिष्ठः—

"प्रीतिर्वृद्धिः सगुणनिरतिर्वधुपूजा सुतासिः  
सद्वैपद्यं तनयरहितं त्वन्यथा भर्तृनाशः ।  
धर्मे बुद्धिर्भवति धरणीलब्धिरत्येव बुद्धि-  
हानिः स्त्रीणां हिमकरसुते लग्नभावादिसंस्थे ॥" इति ।  
"लक्ष्मीप्राप्तिर्भवति सुयशः प्रीतिरन्योन्यवृद्धि-  
रिष्टप्राप्तिर्वहुविधमयं चाश्रमाणां विरक्तिः ।  
पापासक्तिः सुकृतनिरतिर्भूरिलाभः सुरेज्ये  
स्त्रीणां सौख्यं रिपुकृतमयं लग्नभावादिसंस्थे ॥" इति ।

अयं शुभदैवम् 'अयःशुभावहो विधिः' इत्यमरः । क्लीबत्वं त्वार्षम् ।  
केचिद्बहुविधमयमित्यत्र बहुविधमयमिति पठन्ति तन्मकारे भशब्द-  
भ्रान्तेः । "उभयकुलानन्दकरीं करोति न चिराद्गुरुः षष्ठे" इति षष्ठ-  
स्थानस्थितगुरोः शौनकेनापि सम्यक् फलाभिधानाच्च ।

अष्टत्रिसप्तषड्द्वादशातिरिक्तस्थानेषु शुक्रः शुभफलदः—

सित इति । अष्टमतृतीयसप्तमषड्द्वादशस्थानानि परिहृत्य त्यक्त्वान्येषु स्थानेषु सितः शुक्रः शस्तः । तदुक्तं वसिष्ठेन—

“भोगप्राप्तिर्विविधविभवं स्वैरवृत्तिर्महत्त्वं  
द्युम्नाधिक्यं भवति निधनं सर्वनाशो वसुत्वम् ।  
तथ्यप्रीतिर्वहुविधगुणाः सर्वसम्पत्समृद्धि-  
रस्वं स्त्रीणामुशनसि तथा लग्नभावादिसंस्थे ॥” इति ।  
द्युम्नं द्रविणम् । ‘हिरण्यं द्रविणं द्युम्नम्’ इत्यभिधानात् ।

ग्रहाणामुत्तमत्वं मध्यमत्वं च—

अतो बुधगुरुशुक्राणां शुभाशुभस्थानोक्तेः शुभाशुभफलत्वमेव न कदाचिन्मध्यमत्वम् । अन्येषां तु शुभाशुभस्थानातिरिक्तस्थानसद्भावा-  
न्मध्यमत्वमप्यस्ति उत्कृष्टशुभाशुभफलानभिधानात् । किंतु किञ्चिन्म-  
ध्यमफलाभिधानम् । तदुक्तं वसिष्ठेन ( रविः )—

“मृत्युनैःस्वं बहुविधधनं भ्रातृहानिः प्रजानां  
व्याधिः सौख्यं बहुविधमतो भर्तृहानिश्चिरायुः ।  
श्रेयोहानिर्भवति हृदयव्याधिरथागमश्च  
भानौ स्त्रीणामतिशयरुजा लग्नभावादिसंस्थे ॥” ( विधुः )—  
“नाशः सम्पद्बहुविधयशो बन्धुवृद्धिः प्रजाप्तिः  
शस्त्रान्मृत्युर्भवति न चिरादीर्घसापत्न्यवाधा ।  
प्रव्रज्यात्वं दुहितृजननं वर्धनं भोगभाक्त्वं  
दास्यं स्त्रीणां तुहिनकिरणे लग्नभावादिसंस्थे ॥” इति ।

अत्र चतुर्थचन्द्रस्य प्रजाप्तिः फलमभिहितम् । तथैव श्रोपतिनापि तद्वाक्ये—

“सुखे तु कथितो बन्धुक्षयः कैश्चन’ इत्येकीयमतमनुसृत्य ग्रन्थः  
कृता चतुर्थस्थानस्य मध्यमत्वमङ्गीकृतम् । “बन्धुश्वशुरवियुक्ता चतु-  
र्थः शशी त्वाष्ट्रात्’ इति शौनकोक्तेश्च । विरुद्धार्थयोः शौनकवसिष्ठ-  
वाक्ययोः का गतिरिति चेत्, बालचन्द्रविषयमशुभफलम्, तद्भिन्न-  
चन्द्रविषयं शुभफलम् । उक्तं च केशवार्केण—“बालोऽब्जः प्रियविरहं  
शनिः स्तनाभः शून्यत्वं सृजति सुखे सुवासिनीनाम्” इति ।



“मृत्युः शोको बहुविधधनं भ्रातृवैरं कुबुद्धि-  
 लक्ष्मीप्राप्तिर्भवति मरणं चोभयोर्वशनाशः ।  
 स्त्रीणां द्वेषो व्यसननिरतिः पुत्रपौत्रादिसिद्धि-  
 भीतिर्भूमेर्बलिनि तनये लग्नभावादिसंस्थे ॥  
 स्वच्छन्दत्वं कदशनरतिर्वल्लभत्वं विशीलं  
 व्याधिः सुश्रीमृतिरथ सुखं गर्भपातप्रवृत्तिः ।  
 द्यूतासक्तिर्भवति रविजे वैभवं वक्त्ररोगं  
 स्वर्मानौ वाप्यथ शिखिनि वा लग्नभावादिसंस्थे ॥” इति ॥८७॥

अथ लग्नभंगिकर्त्तर्यादिमहादोषाणामपवादं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

पापौ कर्त्तरिकारकौ रिपुगृहे नीचास्तगौ कर्त्तरी  
 दोषो नैव सितेऽरिनीचगृहगे तत्षष्ठदोषोऽपि न ।  
 भौमेऽस्ते रिपुनीचगे न हि भवेद्भौमोष्टमो दोषकृ-  
 त्रीचे नीचनवांशके शशिनि रिःफाष्टारिदोषोऽपि न ॥८८॥

पापाविति । तत्र कर्त्तर्यपवाद उच्यते । कर्त्तरीयोगलक्षणं “ लग्ना-  
 त्पापौ ” इत्यादिनोक्तम् । यौ ग्रहौ क्रूरी कर्त्तरीकारकौ रिपुगृहे शत्रु-  
 गृहे स्थितौ नीचेस्तगौ स्वनीचराशिस्थितौ अस्तङ्गतौ वा तदा कर्त्त-  
 री नैव स्यात् । यदाहुः कश्यपनारदवसिष्ठाः—

“पापयोः कर्त्तरीकर्त्रोः शत्रुनीचगृहस्थयोः ।  
 यदाचास्तगयोर्वापि कर्त्तरी नैव दोषदा ॥” इति ।

इदं विशेषणं शत्रुगृहस्थत्वादिकं समुचितं व्यस्तं समस्तं वा  
 ध्येयम् । अपवादान्तरमुक्तं दैवज्ञमनोहरे गर्गेण—

“क्रूरकर्त्तरिसंयुक्तं लग्नं चन्द्रं च न त्यजेत् ।  
 केन्द्रत्रिकोणसंस्थेषु गुरुभार्गववित्सु चेत् ॥”

ननु कर्त्तरिकारकावित्यत्र कथं ह्रस्वत्वम् । यावता कर्त्तरीशब्दः  
 “ उणादयो बहुलम् ” इति बहुलग्रहणसिद्धारोच्यत्ययान्तः ‘ कृती छे-  
 दने ’ इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नः । तत्र यदीकारान्तस्तदाङ्यन्तत्वाभावात्  
 “ उद्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ” इतिह्रस्वत्वं न प्राप्नोति । यदपि—

कृदिकारादकिनः ” इति उच्यन्तत्वं तदा संज्ञाछन्दस्त्वाभावाद्भूस्वो न स्यात्, उच्यते । बहुवचनादसंज्ञायामप्येवविधे प्रयोगे ह्रस्व इति दुर्घटवृत्तिकृत् । अत एव ‘विधेहि धनो हृदयं विद’ इति कालिदासः । ‘स्यादेतदेव प्रमदवनमन्तः पुरोचितम्’ इत्यमरसिंहोपि प्रयुक्तवान् । कचिदन्यत्रापि दृश्यते—“विधौ धनोपगो शुभग्रहेथवांत्यगो गुरौ । न कर्त्तरी भवत्यहो जगाद वारदरायणः” इति । “क्रूरद्वयस्यांतरगं विलग्नं मृत्तिप्रदं चन्द्रमसं च रोगदम् । शुभैर्धनस्थैरथवान्त्यगो गुरौ न कर्त्तरी स्यादिह भार्गवा धिदुः ॥” इति ।

अथ षष्ठशुक्रापवाद उच्यते । सिते शुक्रेऽरिनीचगृहगे शत्रुगृहे स्वनीचगृहगे वा सति तत्षष्ठदोषो भृगुषट्कदोषोपि न स्यात् । यदाह कश्यपः—“नीचराशिगते शुक्रे शत्रुक्षेत्रगतेपि वा ।

भृगुषट्कोत्थितो दोषो नास्ति तत्र न संशयः ॥” इति ।

अथाष्टमभौमदोषापवाद उच्यते । भौमेस्ते अस्तङ्गते रिपुनीचगे शत्रुगृहे वा स्वनीचगृहगे वा सत्यष्टमो भौमो न दोषकृत्स्यात् । उक्तं च कश्यपेन—“अस्तगे नीचगे भौमे शत्रुक्षेत्रगतेपि वा ।

कुजाष्टमोद्भवो दोषो न किंचिदपि विद्यते ॥” इति ।

अथ षडष्टद्वादशस्थानचन्द्रापवाद उच्यते । शशिनि चन्द्रे नीचनवांशके वा सति रिःफाष्टारिदोषोपि द्वादशाष्टमशत्रुस्थानस्थितचन्द्रदोषोपि न स्यात् ।

“नीचराशिगते चन्द्रे नीचांशकगतेपि वा ।

चन्द्रे षष्टारिःफस्थे दोषो नास्ति न संशयः” इतिकश्यपोक्तैः ८८ ॥

अथ विवाहे अष्टदोषाद्यनेकदोषाणामपवादं वसन्ततिलकयाह—

अब्दायनर्तुतिथिमासभपक्षदग्ध-

तिथ्यन्धकाणबधिराङ्गमुखाश्चदोषाः ।

नश्यन्ति विद्गुरुसितेष्विह केन्द्रकोणे

तद्वच्च पापविधुयुक्तनवांशदोषः ॥ ८९ ॥

अब्देति । अब्ददोषः १, अयनदोषः २, ऋतुदोषः ३, तिथिदोषो रिक्तादिः ४, मासदोषः ५, भं नक्षत्रदोषः क्रूरसहितादिः ६, पक्षदोष-



स्त्रयोदशदिनात्मकादिः ७, दग्धतिथिः प्रसिद्धा चापान्त्यगो इत्यादिनोक्ता, अंधकाणबधिराख्यान्यङ्गानि लग्नानि तन्मुखास्तदादयोऽन्ये अकाल-वृष्ट्याद्या दोषाः । विद्गुरुसितेषु केन्द्रकोणे, केन्द्रं सप्तमस्थानरहितं विवक्षितं, जामित्रदोषस्य सत्त्वात् । अत एवोक्तमग्रे 'त्रिकोणे केंद्रे वा मदनरहिते' इति । कोणे नवपञ्चमे सत्सु नश्यन्ति । उक्तं च

कश्यपेन—“अब्दायनर्तुमासोत्थाः पक्षतिथ्यृक्षसम्भवाः ।

ते सर्वे नाशमायान्ति केंद्रसंस्थे शुभग्रहे ॥

काणान्धबधिरोद्भूता दग्धलग्नतिथेर्भवाः ।

ते दोषा नाशमायान्ति केंद्रसंस्थे शुभग्रहे ॥” इति ।

“अकालजाश्च नीहारविद्युत्पांस्वप्नसम्भवाः ।

परिवेषप्रतिसूर्यशक्रचापध्वजादयः ॥

दोषप्रदा मङ्गलेषु कालजाश्चेन्न दोषदाः ।

गुरुरेकोपि केंद्रस्थः शुक्रो वा यदि वा बुधः ॥

हरेः स्मृतिर्यथा हन्ति तद्वद्दोषानकालजान् ।

लत्तोपग्रहचण्डीशचन्द्रजामित्रसम्भवान् ॥

तत्केन्द्रगो गुरुहन्ति सुपर्णः पन्नगानिव ।” इति ।

अकालजत्वनिर्णयं यात्राप्रकरणे 'पौषादिचतुरो मासान्' इत्यादिना वक्ष्यति । तद्वच्चेति । तथा यदि पापः क्रूरो विधुयुक्तराशेर्नवांशे स्याद्यथा चन्द्रो मेषे सूर्यनवांशस्तद्दोषाभिधानं यज्ञोपवीतप्रकरणे । तदा तत्कृतदोषो नश्यति । उक्तं च संहिताप्रदीपे—

“स चन्द्रराशेरशुभो नवांशः प्रोक्तः सपापोपि विलग्नसंस्थः ।

त्रिकोणकेंद्रेषु गुरुः सितो वा यदा तदासावशुभोपि शस्तः” ॥८६॥

अथोक्तानुक्तदोषाणां बह्वन्परिहाराञ्छालिन्याह—

केन्द्रे कोणे जीव आये रवौ वा

लग्ने चन्द्रे वापि वर्गोत्तमे वा ।

सर्वे दोषा नाशमायान्ति चन्द्रे

लाभे तद्वदुर्मुहूर्तांशदोषाः ॥८७॥

केंद्रे इति । केंद्रे कोणे । केंद्रं प्रसिद्धम्, कोणं नवपञ्चमम्,

तत्र च जीवो गुरुः स्यात्तदा सर्वे दोषा नाशमायान्ति । उपलक्षण-  
त्वाद् बुधशुक्रावपि । यदाह नारदः—

“उक्तानुक्ताश्च ये दोषास्तान्निहन्ति बली गुरुः ।  
केन्द्रसंस्थः सितो वापि पन्नगान्गरुडो यथा ॥” इति ।

सित इति बुधस्याप्युपलक्षणम् । उक्तं च कश्यपेन—

“काव्ये गुरौ वा सौम्ये वा यदा केन्द्रत्रिकोणगे ।  
नाशं यान्त्यखिला दोषाः पापानीव हरिस्मृतेः ॥” इति ।

तत्रापि लग्नाख्यकेन्द्रस्यातिबलत्वात्तत्र स्थितो जीवः सर्वारिष्ट-  
हरः । तदुक्तं वसिष्ठेन—

“ये लग्नदोषाः कुनवांशदोषाः पापैः कृता दृष्टिनिपातदोषाः ।  
लग्ने गुरुस्तान्निमलीकरोति फलं यथाभः कतकद्रुमस्य ॥” इति ।

अथवा आये एकादशे रवौ सति दोषनाशः—

“अत्रैकादशगे सूर्ये दोषा नाशं ययुस्तदा ।  
स्मरणादेव रुद्रस्य पापं जन्मशतोद्भवम् ॥” इति ।

अथवा लग्ने वर्गोत्तमे स्वनवांशयुक्ते । यथा मिथुने मिथुनांश-  
श्चेत्तदा दोषनाशः । अथवा चन्द्रे वर्गोत्तमे स्वनवांशस्थिते वा सति  
दोषनाशः । द्वितीयवाशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाच्चन्द्रो लग्नादुपचय-  
स्थाने चेत्स्यात्तदापि सर्वदोषनाशः । एवं क्रमेण परिहारत्रयमुक्तम् ।  
यदाह कश्यपः—“वर्गोत्तमगते लग्ने वर्गदोषा लयं ययुः ।

चन्द्रे वोपचये वापि ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥” इति ।

चन्द्रे इति तद्वत्तेनैव प्रकारेण । दुर्मुहूर्त्ता रवावर्यमेत्यादयः । अंश-  
दोषाः पापग्रहनवांशाख्यास्ते सर्वे चन्द्रे लाभे एकादशस्थानस्थिते  
सति नाशमायान्ति ।

“मुहूर्तलग्नषड्वर्गकुनवांशग्रहोद्भवाः ।

ये दोषास्तान्निहन्त्येव यत्रैकादशगः शशी ॥” इति ।

अन्यदप्याह कश्यपः—

“लग्नाद् स्थानगव्योमचरोत्थं दोषसंचयम् ।

शुभः केन्द्रगतो हन्ति दावाग्निर्विपिनं यथा ॥” इति ॥ ६० ॥

अथैवं विशिष्य दोषाभिधानपूर्वकं विशेषपरिहारानभिधायेदानीं



सामान्यतो दोषसमुदायस्यैकपरिहारं शिखरिण्याह—

त्रिकोणो केन्द्रे वा मदनरहिते दोषशतकं  
हरेत्सौम्यः शुक्रो द्विगुणमपि लक्षं सुरगुरुः ।  
भवेदाये केन्द्रेऽङ्गप उत लवेशो यदि तदा  
समूहं दोषाणां दहन इव तूलं शमयति ॥६१॥

त्रिकोण इति । त्रिकोणे ६।५ केन्द्रे सप्तमरहिते १ । ४ । १०  
यदि सौम्यो बुधस्तिष्ठेत्तदा दोषशतकं हरेत् ।

उक्तस्थानस्थितः शुक्रोपि द्विगुणं दोषशतकं दोषद्विशतं हरेत् ।  
तथोक्तस्थानस्थितो गुरुरपि लक्षं दोषान् हरेत् । यदाह नारदः—

“दोषाणां हि शतं हन्ति बलवान्केन्द्रगो बुधः ।  
अपहाय द्युनं शुक्रो द्विगुणं लक्षमङ्गिराः ॥”

अत्र शतशब्देनानेकसंख्या विवक्षिता । अत एवाह कश्यपः—  
“बलवान्केन्द्रगः सौम्यो हन्ति दोषशतत्रयम् ।  
द्युनं विहाय दैत्येज्यः सहस्रं लक्षमङ्गिराः ॥” इति ।

भवेदिति । अंगो लग्नस्वामी । उतशब्दो वार्थे । लग्नेशो लग्न-  
तांशनाथो वा आये ११ । केन्द्रे १ । ४ । १० यदा भवेत्तदा सः दोषाणां  
समूहं शमयति । तत्र दृष्टान्तः—दहनोग्निस्तूलं कार्पासमिव शमयति ।  
तदुक्तं नारदेन—“लग्नेङ्गलगांशनाथो वा आयगः केन्द्रगोपि वा ।

राशिं निहन्ति दोषाणामिन्धनानीव पावकः ॥” इति ।  
जातकेपि—“लग्नाधिपो यदा केन्द्रे लग्नादेकादशलये ।  
सर्वग्रहकृतं रिष्टमेकोपि विलयं नयेत् ॥” इति ॥ ६१ ॥

अथ लग्नविशोपकानुष्टुभाह—

द्वौ द्वौ जभृग्वोः पञ्चेन्दौ रवौ सार्द्धत्रयो गुरौ ।

रामा मन्दागुकेत्वारं सार्द्धैकैकं विशोपक्राः(१) ॥६२॥

(१) अत्र छन्दोभङ्गभयादाचार्येण विशोपकस्थाने ‘विशोपक’  
इति पदं नियुक्तम् ।

द्वाविति । ञ्भृग्वो रेखाप्रदयोः सतोद्वौ विशोपकौ । यथा बुधस्य २, शुक्रस्य २, एवंविधे चन्द्रे पञ्च ५, तादृशे सूर्ये सार्द्धत्रयः ३ । ३० गुरौ रामास्त्रयः ३, एकमेकमेकैकं सार्द्धं च एकैकं सार्द्धैकैकम् । एकशब्दस्य “नित्यवीप्सयोः” इति द्विर्वचने “एकं बहुव्रीहिवत्” इति बहुव्रीहिवद्भावात् “सुपो धातु” इति विभक्त्येर्लुकि सार्द्धशब्देन कर्मधारयः । तथा सति प्रत्येकं सार्द्धैकैकमित्यर्थः । यथा—मन्दे शनौ सार्द्धैकं १ । ३०, अगौ राहौ १ । ३०, केतौ १ । ३०, आरे भौमे १ । ३०, एते विशोपका रेखादातृग्रहाणां ज्ञेयाः, न मध्यमानां निषिद्धानां च ।

यदाह वराहः—“रवौ सार्द्धास्त्रयोभागाश्चन्द्रे पञ्च गुरौ त्रयः ।

द्वौ शुके द्वौ बुधे चैव प्रोक्ता ह्येते विशोपकाः ॥

मन्दे भौमे तथा राहौ सार्द्धं प्रत्येकमुच्यते ।

बलावलवशादेवं विज्ञातव्या विशोपकाः ॥” इति ।

अत्र पद्ये राहोरुपलक्षणत्वात्केतोरपि सार्द्धैकमेव बलं ग्राह्यम् । अत एव मूले केत्वभिधानम् । नन्विदमयुक्तम्, यतो नवग्रहप्राबल्ये सार्द्धैकविंशतिः २१ । ३० विशोपकात्मको योगो भवेत् । स चासम्भवादनुपपन्नः । अत्युत्कृष्टे हि लग्ने विंशतिः विशोपकात्मकमेव बलं स्यान्न ततोधिकमिति, उच्यते । न विवाहादिलग्नौ द्वयोरपिराहु-केत्वोर्युगपत्समीचीनत्वस्य गगनकुसुमायमानत्वात् । यदैकस्य शुभत्वमपरस्याशुभत्वमिति तदैव विंशतिर्विशोपका लग्ने सम्भवन्ति । द्वयोरप्यनिष्टत्वे सार्द्धाष्टादश । एवं यस्य यस्य ग्रहस्य रेखादातृत्वहानिस्तस्य तस्य तद्विशोपकाहानिरित्यर्थः । तत्र पञ्चभ्यो विशोपकेभ्यो हीनं लग्नं त्याज्यमेव । पञ्चभ्योधिकं दशभ्यो हीनं निकृष्टफलं लग्नान्तराभावे हितम् । दशभ्योधिकं पञ्चदशभ्यो हीनं मध्यम् । ततोधिकं तूत्तममेवोत निष्कृष्टोर्थः ॥ ६२ ॥

अथ ग्रहवशेन श्वशुरादिविभागज्ञानं सप्रयोजनमुपजात्याह—

श्वश्रूः सितोऽर्कः श्वशुरस्तनुस्तनु-

र्जामित्रपः स्यादयितो मनः शशी ।



एतद्बलं संप्रतिभाव्य तान्त्रिक-

स्तेषां सुखं संप्रवदेद्विवाहतः ॥ ६३ ॥

श्वश्रूरिति । शुक्रः श्वश्रूः, सूर्यः श्वशुरः । अत्र कन्यानिमित्तशुभाशु-  
भस्य विचारास्पदत्वात्तस्याः कन्यायाः श्वश्रूर्वरमाता, श्वशुरो वरपिता,  
तनुर्लग्नं, तनुः स्वशरीरं, जामित्रपः सप्तमाधीशो दयितो भर्ता ज्ञेयः ।  
शशी मनो ज्ञेयम् । एतद्बलं एतेषां शुक्रादीनां बलं विचार्य तान्त्रिकः  
तंत्रं सिद्धान्तः 'तंत्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे' इत्यमरः ।  
तं वेत्ति तान्त्रिकः सिद्धान्तवेत्ता ज्योतिर्वित् विवाहतो विवाहादनन्तरं  
तेषां श्वश्र्वादीनां सुखं स्यादिति प्रवदेत् । यदाह शौनकः—

“श्वशुरः सहस्रकिरणः श्वश्रूर्भृगुनन्दनो विनिर्दिष्टः ।

होरागमार्थकुशलैर्जामित्रपतिः पतिस्त्रीणाम् ॥

स्वशरीरं लग्नवशात्सुखदुःखं मानसं शशांकवशाद् ॥”

शार्ङ्ग्येपि—“श्वशुरोर्कः सितः श्वश्रूः स्त्रीणामस्तपतिः पतिः ।

एभिरुच्चोपगैरेषा शुभं नीचारिगैर्न सत् ॥” इति ।

विशेषांतरमप्युक्तं शार्ङ्ग्ये—

“सूर्यात्पतिः स्त्री च विधोस्तथाराद्वित्तं सुतो ज्ञाच्छ्वशुरं गुरोश्च ।

धर्मः सितादर्कसुताच्च वैश्म ब्रूयात्समुद्राहविधौ युवत्या ॥”

एतैर्नीचस्थितैः शत्रुगतैर्विवाहादिकं न सत् । ‘स्वगृहोच्चत्रिकोण-  
स्थैः शुभमेषां यथोदितम् ।’ इति ॥ ६३ ॥

अथ संकीर्णजातीनां विवाहे नियतं कालविशेषं मत्तमयूरच्छदसाह—

कृष्णे पक्षे सौरिकुजार्केपि च वारे

वज्र्ये नक्षत्रे यदि वा स्यात्करपीडा ।

संकीर्णानां तर्हि सुतायुर्धनलाभ-

प्रीतिप्राप्त्यै सा भवतीह स्थितिरेषा ॥६४॥

कृष्ण इति । कृष्णपक्षे शनिभौमार्कवारे विवाहोक्तनक्षत्रादिभिन्न-  
क्षत्रेषु चकारात् ‘व्याघातशूल’ इत्यादिदुष्टयोगेष्वपि यदि संकीर्णा-  
नामनुलोमप्रतिलोमजानां करपीडा विवाहः स्यात् । तर्हि सा करपीडा

सुतायुर्धनलाभप्रीतिप्राप्त्यै भवति । एषां स्थितिराचारोस्ति । अनु-  
लोमजा मूर्द्धावसिकादयः । प्रतिलोमजाश्चाण्डालादयः । तल्लक्षणानि  
धर्मशास्त्रत एवावधार्याणि ।

वाग्रहणमेतदभावे विवाहाद्यावश्यकत्वे च प्रागुक्तदिनेपि कार्यमिति  
सूचनार्थम् । तदुक्तं शाङ्ग्यै—

“कृष्णे पक्षे भानुभौमार्कजानां वारे योगे चापि धिष्ये निषिद्धे ।

संकीर्णानां दारकर्म प्रशस्तं प्रीत्यर्थायुःप्राप्तये शौनकाद्याः ॥” इति

केशवाकोपि—“प्रायेण संकरभुवामशुभर्क्षपक्षकूरक्षणे शुभकृत्क-  
रपीडनं स्यात् ॥” इति ॥ ६४ ॥

अथ गान्धर्वादिदुष्टविवाहे त्रिपदीचक्रे नक्षत्रशोधनमनुष्ठुमाह—

गान्धर्वादिविवाहेऽर्काद्वेद-४ नेत्र-२ गुणे-३न्दवः १ ।

कु१युगा४ङ्गा६ग्नि-३भू१रामा३स्त्रिपद्यां न शुभाः शुभाः॥

गान्धर्वादिति । गान्धर्वादिविवाहाः सलक्षणाः प्रागस्मा-  
भिरभिहिताः ( १ ) । तेषु अर्कात् भं सूर्याक्रान्तनक्षत्रमारभ्य चत्वा-  
र्यशुभानि । ततो द्वे शुभे । ततस्त्रीयशुभानि । तत एकं शुभम् ।  
ततः एकमशुभं । ततश्चत्वारि शुभानि । ततः षडशुभानि । ततस्त्रीणि  
शुभानि । तत एकमशुभं ततस्त्रीणि शुभानि एतान्यष्टाविंशतिभानि  
त्रिपद्यामशुभान्येव ज्ञेयानि । त्रयाणां पद्यानां समाहारस्त्रिपदी । तत्र ब्र-  
ह्मविष्णुरुद्रपद्याभिधचक्रत्रये इत्यर्थः । अत्र सम्मतिग्रन्थानुपलम्भः ॥ ६५ ॥

अथैवं महता ग्रन्थसन्दर्भेण विवाहे सकलमहादोषरहितां दिन-  
शुद्धिमभिधायेदानीं ततः प्राकृर्तव्यानामावश्यककर्माणां दिनशुद्धिं पृ-  
थ्वीच्छन्दसाह—

विधोर्बलमवेक्ष्य वा दलनकण्डनं वारकं

गृहाङ्गणविभूषणान्यथ च वेदिकामण्डपान् ।

विवाहविहितोडुभिर्विरचयेत्तथोद्वाहतो

न पूर्वमिदमाचरेन्ननवषण्मते वासरे ॥ ६६ ॥

( १ ) एतत्प्रकरणस्य प्रथमश्लोकटीकायामेव ।



विधोरिति । अत्र विधोः चन्द्रस्य बलमवेद्य गृहीत्वा, वाग्रहणा-  
त्सत्यवकाशे चन्द्रबलं ग्राह्यम् । दलनं गोधूमादेः पिष्टीकरणम् । कण्डनं  
तण्डुलादेः मुसलाद्याघातादिना शोधनम् । वारंको मङ्गलकलशः । एषां  
द्वन्द्वैकवद्भावः । गृहाङ्गणविभूषणानि गृहभूषणानि चूर्णगैरिकचित्रा-  
दिलेखादीनि । अङ्गणभूषणं संमार्जनगौमयाद्यालेपः । अथानन्तरं वे-  
दिका चत्वरं वधूवरयोरुपवेशनार्थं स्थलविशेषः । मण्डपो गृहाच्छादनं  
कटादिना वितानादिना वा । बहुवचनात्कटाद्यारोहणहरिद्राचन्दनकां-  
जिकाधारणादिसकलशुभप्रारंभान् । एतानुद्वाहतः पूर्वं विवाहोक्तैरुडु-  
भिर्नक्षत्रैः पचाङ्गशुद्धिसहिते दिने रचयेत् । उपलक्षणत्वाद्यञ्चोपवीता-  
दावपि । ततः पूर्वं विवाहविहितनक्षत्ररेतानभिहितशुभकर्मप्रारम्भान्  
विरचयेत् ।

तथा इदमुक्तकार्यजातं त्रिनवषष्टिमे तृतीयनवमे षष्ठे वासरे दिने  
पूर्वं नाचरेत् । तदुक्तं शार्ङ्गिणे—

“दलनकण्डनमण्डपवेदिकागृहसुमार्जनवारकमण्डपाः ।  
करतलग्रहमध्यगतागतं तदखिलं विदधीत विवाहभे ॥  
विवाहकृत्यं निखिलं विवाहभे विलोकयेन्नात्र बलं हिमद्युतेः ।  
नवत्रिषष्ठेहि विवाहपूर्वतो नवर्णको मण्डपतैलमङ्गलम् ॥” इति ।

दैवज्ञमनोहरे निषिद्धभान्युक्तानि—

“चित्रा विशाखा शततारकाश्विनी ज्येष्ठाभरणी शिवभाच्चतुष्टयम् ।  
हित्वा प्रशस्तं फलतैलवेदिकाप्रदानकं कण्डनमण्डपादिकम् ॥” इति ।

क्रांजिकाधारणमुद्धर्तौपि तत्रैव—

“मूलेन्दुरुद्रश्रवणार्कपौष्णविश्वेशचित्रानलरेवतीषु ।  
संस्थापनं क्रांजिककुण्डिकाया वारे रवेर्भूमिसुतस्य शस्तम् ॥” इति ।

वेदिकायां विशेषमाह केशवार्कः—

“वेदिकां विरचवेद्यथा तथा स्यादियं प्रविशतः प्रदक्षिणा ।  
स्युर्जनाश्रययवोत्तिवर्णकाः षण्णवत्रिदिवसेषु नाग्रतः ॥” इति ।  
यवोत्तिरकुरार्पणाख्यं कर्म, जनाश्रयो मण्डपः । “मण्डपोल्ली जना-  
श्रयः” इत्यमरोक्तेः ॥ ६६ ॥

अथावसरप्राप्तवेदिकालक्षणं मण्डपोद्वासनादिदिननियमं च शालिन्याह

हस्तोच्छ्राया वेदहस्तैः समन्ता-

त्तुल्या वेदी सन्ननो वामभागे ।

युग्मे घस्त्रे षष्ठहीने च पञ्च

सप्ताहे स्यान्मण्डपोद्वासनं सत् ॥ ६७ ॥

हस्तेति । सन्ननो गृहस्य वामभागे हस्तोच्छ्राया एकहस्तमितोच्चा समन्तात्सर्वतः चतुर्भिर्हस्तैस्तुल्या समाना तादृशी वेदी विवाहादि-  
मङ्गलकृत्ये स्यात् । शोभाकारिस्तम्भसोपानादियुक्ता चेत्यनुक्तमपि  
ध्येयम् । तदुक्तं नारदेन—

“हस्तोच्छ्रितां चतुर्हस्तैश्चतुरस्रां समन्ततः ।

स्तम्भैश्चतुर्भिः सुश्रुक्ष्णैर्वामभागे स्वसन्ननः ॥

समण्डपां चतुर्दिक्षु सोपानैरुपशोभिताम् ।

प्रागुदकप्रवणारम्भां स्तम्भैर्हंसशुकादिभिः ॥

विचित्रितां चित्रकुम्भैर्विचित्रैस्तोरणाङ्कुरैः ।

एवंविधां समारोहेन्मिथुनं साग्नि वेदिकाम् ॥” इति ।

साग्नीति भिन्नं पदं मिथुनस्य विशेषणम् । वसिष्ठः—

“षोडशारत्निकां कुर्याच्चतुर्द्वारोपशोभिताम् ।

मण्डपं तोरणैर्युक्तं तत्र वेदीं प्रकल्पयेत् ॥

अष्टहस्तं च रचयेन्मण्डपं वा द्विषट्करम् ।” इति ।

द्विगुणिताः षट्करा यस्य तं द्वादशहस्तम् ।

उत्तमः षोडशहस्तो मध्यमो द्वादशहस्तोऽधमोऽष्टहस्तः अयं वैक-  
ल्पिको मण्डपो गृहमानत एव कार्यो न तु स्वेच्छया तदुक्तं सप्तर्षिमतो  
विवाहपटले—

“मङ्गलेषु च सर्वेषु मण्डपो गृहमानतः ।

कार्यः षोडशहस्तो वा द्विषड्दस्तो दशावधि ॥

स्तम्भैश्चतुर्भिरेवात्र वेदीमध्ये प्रतिष्ठिता ।

शोभिता चित्रिता कुम्भैरासमन्ताच्चतुर्दिशम् ॥

द्वारविद्धा बलीविद्धा कूपवृक्षव्यधा तथा ।

न कार्या वेदिका तज्जैः शुभा मङ्गलकर्मसु ॥”



बली काष्ठपाषाणादिनिर्मितः स्तम्भः ।

व्रतबन्धे संस्कार्यत्वात् घटुहस्तेन वेदिनिर्मितिः । विवाहे तु कन्या-  
गृहे एव वरपूजनस्योक्तत्वाद्गृहस्थाश्रमस्य तदायत्तत्वाच्च कन्याह-  
स्तेनैव वेदिनिर्माणम् ।

युग्मे इति । विवाहोत्तरं युग्मे द्वितीयचतुर्थादिके घञ्ने दिने षष्ठ-  
दिवसहीने तथा विषमे तु पञ्चमे सप्तमे चाहनि दिवसे मण्डपोद्भासनं  
देवकोत्थापनं सच्छुभफलदातृ स्यात् । यदाह नारदः—

“समे तु दिवसे कुर्याद्देवकोत्थापनं बुधः ।

षष्ठं च विषमं नेष्टं मुक्त्वा पञ्चमसप्तमौ ॥” इति ।

समेषु षष्ठं विषमेषु च पञ्चमसप्तमव्यतिरिक्तं दिनं नेष्टमित्यर्थः ॥६७॥

अथ प्राप्तशिष्टसंमतं मण्डपादौ स्तम्भनिवेशनमिन्द्रवज्रयाह—

सूर्येऽङ्गनासिंहधटेषु शैवे

स्तम्भोलिकोदण्डमृगेषु वायौ ।

मीनाजकुम्भे निर्ऋतौ विवाहे

स्थाप्योऽग्निकोणे वृषयुग्मकर्के ॥ ६८ ॥

सूर्ये इति । कन्यातुलासिंहस्थिते सूर्ये शैवे ईशानकोणे वृश्चिकधनु-  
र्मकरस्थिते सूर्ये वायौ वायुकोणे मीनमेषकुम्भस्थिते सूर्ये निर्ऋतिकोणे  
वृषमिथुनकर्कस्थिते सूर्येऽग्निकोणे स्तम्भः स्थाप्य इत्यर्थः । यदाह शि-  
वशास्त्रे विश्वकर्मा—

“कन्यासिंहे तुलायां भुजगपतिगृहं शम्भुकोणेग्निखातं

वायव्ये स्यात्तदास्यं मकरधनुरलावीशखातं वदन्ति ।

कुम्भे मीने च मेषे निर्ऋतिदिशि मुखं वायुकोणे हि खातं

वह्नेः कोणे मुखं वै वृषमिथुनगते कर्कटे दक्षखातम् ॥ ” इति ।

एतद्यद्यपि गृहविषयमुक्तम् तथापि वेदीनिर्माणाश्रयेण स्तम्भनि-  
वेशनं वृषादित्रिराशिगतसूर्यवशेनाग्निकोणे सर्पास्थं, शिवकोणे खातं,  
एवमन्यत्र राशिगते सूर्येऽन्यकोणेषु स्तम्भनिवेशनमूह्यम् । यदाह  
विश्वकर्मा—

“वेद्यां वृषाद्गृहे सिंहात्त्रिकं मीनात्सुरालये ।

ईशानतो व्यस्तगत्या पृष्ठं तस्य शुभावहम् ॥ ” इति । तस्य भुजगपतेः ॥ ६८ ॥

अथैवं लग्ननिर्णयमभिधायेदानीं घटिकाललग्नसाधनं बहुगणितसाध्यं गोधूलिकथनं च गणितप्रयासरहितं वक्तुमवशिष्यते । तत्र सूचिकटाहन्यायेन गोधूलिप्रशंसां मन्दाक्रान्तयाह—

नास्यामृक्षं न तिथिकरणं नैव लग्नस्य चिन्ता

नो वा वारो न च लवविधिर्नो मुहूर्तस्य चर्चा ।

नो वा योगो न मृतिभवनं नैव जामित्रदोषो

गोधूलिः सा मुनिभिरुदिता सर्वकार्येषु शस्ता ॥६९॥

नेति । स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । यदाह भागुरिः—

“गोपैर्यष्ट्याहतानां खुरपुटदलिता याति धूलिर्दिनान्ते  
सोद्वाहे सुन्दरीणां विविधधनसुतारोग्यसौभाग्यदात्री ।

तस्मिन् काले न ऋक्षं न च तिथिकरणं नैव लग्नं न योगाः

ख्याताः पुंसां सुखार्थं शमयति दुरितान्युच्छ्रितं गोरजस्तु ॥ ”

सत्यां घटिकाललग्नशुद्धौ गोधूलिलग्नं न ग्राह्यम्—

ननु सकलदोषनिराकरणेनातिप्रशंसनाद्गोधूल्याः घटिकाललग्नानां महादोषनिराकरणपूर्वकमभिहितानां वैयर्थ्यप्रसङ्गः । न च गोधूल्यभावे घटीलग्नमवकाशवदिति वाच्यम् । गोधूल्यभावे हि तस्य दोषवत्त्वे सति स्यात्—“नास्यामृक्षं न तिथिकरणम् ” इत्यादिना स्थूलसूक्ष्मसकलदोषापवादार्थत्वात्तस्या दोषलेशो नास्ति, उच्यते । यदयं नास्यामृक्षमित्यादिः स्तुत्यर्थवादः । तेन गोधूल्याः प्रशंसायां तात्पर्यं न तु विधिः । अन्यथा निषिद्धेषु अमावस्याभद्राभरण्यादिष्वपि गोधूलिलग्नं भवितुं युक्तं स्यात् । सामान्यवैयर्थ्यापत्तेरिष्टापत्तिरपि वक्तुमशक्या । तस्मादभिहिततिथ्यादिष्वेव यावच्छक्याखिलदोषपरिहारपूर्वकं घटीलग्नं कार्यम् । तदभावे गोधूलिलग्नं कार्यम् । यदाह लल्लः—

“लग्नं यदा नास्ति विशुद्धमन्यद्गोधूलिकं साधु तदा वदन्ति ।

लग्ने विशुद्धे सति वीर्ययुक्तं गोधूलिकं नैव फलं विधत्ते ॥

शुभाशुभयुतं सर्वं राशेर्दोषं त्वनिर्दिष्टम् ।

विवाहलग्नवच्छेषं गोधूलिं प्राह भागुरिः ॥ ” इति ।



किंच—“कुलिकं क्रान्तिसाम्यं च मूर्तौ षष्ठाष्टमः शशी ।  
पञ्च गोधूलिके त्याज्यास्त्वन्ये दोषाः शुभावहाः ॥”  
इति दैवज्ञमनोहरीयवाक्यस्यापि वैयर्थ्यापत्तेः ।

गोधूल्यधिकारिण आह नारदः—  
“प्राच्यानां च कलिगानां मुख्यं गोधूलिकं स्मृतम् ।  
गान्धर्वादिविवाहेषु वैश्योद्वाहे च योजयेत् ॥  
चतुर्थमभिजिल्लग्नमुदयर्क्षात्तु सप्तमम् ।  
गोधूलिकं हि भवति सम्पत्पुत्रादिसौख्यदम् ॥” इति ।

दैवज्ञमनोहरे—

“घटीलग्नं यदा नास्ति तदा गोधूलिकं शुभम् ।  
शूद्रादीनां बुधाः प्राहुर्न द्विजानां कदाचन ॥  
महादोषान्परित्यज्य प्रोक्तधिष्ण्यादिकेषु च ।  
कारयेद्गोरजो यावत्तावल्लग्नं शुभावहम् ॥” इति ।  
“लग्नशुद्धिर्यदा नास्ति कन्या यौवनशालिनी ।  
तदा वै सर्ववर्णानां लग्नं गोधूलिकं शुभम् ॥” इति ।

अत एव भूपालवल्लभे—

“विप्रेषु घटिकलाभे दातव्यं गोरजो बुधैः ।  
संकीर्णं गोरजः शस्तं परेषु द्वितयं शुभम् ॥” इति ।  
तत्र गोधूलिसूक्ष्मकालसमयः केशवार्कणोक्तः—  
“अश्रोभयत्र घटिकादलमिष्टमाहुर्ग्राह्यं तदंवरमणेरपि चार्द्धबिंबात्” इति ।  
केचित्तु—

“यावद्दिनान्ते दिशि पश्चिमायां पश्येत्तृतीयं रविर्बिंबभागम् ।  
तस्मात्परं नाडिकयुग्ममेके गोधूलिकालं मुनयो वदन्ति ॥” इति ।  
तदेतयोः पक्षयोर्न्यादेशाचारं व्यवस्था ॥ ६६ ॥  
अथ शीतकालादिभेदेन गोधूलिभेदं जलधरमालाछन्दसाह—

पिण्डीभूते दिनकृति हेमन्तर्तौ  
स्यादर्द्धास्ते तपसमये गोधूलिः ।  
सम्पूर्णास्ते जलधरमालाकाले  
त्रेधा योज्याः सकलशुभे कार्यादौ ॥१००॥

पिंडीभूते इति । हेमन्ताख्ये ऋतौ हेमन्तशब्देन शीतकाल उपल-  
ब्यते । मार्गशीर्षादिमासचतुष्टय इत्यर्थः । तत्र दिनकृति सूर्ये पिंडी-  
भूते ओदनगोलकसदृशे सन्ध्यायां नीहाराद्यावृत्तत्वेन निष्पमे इत्य-  
र्थः । तस्मिन्समये गोधूलिर्ज्ञेया । तथा तपसमये उष्णकाले चै-  
त्रादिमासचतुष्टये सूर्येऽर्द्धास्ते अर्द्धविषयस्य दृश्यत्वे च सति गोधू-  
लिः । जलधरा मेघास्तेषां माला समूहस्तस्योत्पादके काले व-  
र्षाकाले श्रावणादिमासचतुष्टये सूर्यसम्पूर्णास्तमदर्शनमस्य तादृशे स-  
ति गोधूलिः । जलधरमालाशब्देन छन्दोपि सूचितम् । न केव-  
लमियं विवाहे एव किन्तु सकलशुभे समस्तशुभकार्यादिष्वपि ज्ञे-  
या । यदाह घराहः—

“गोधूलिं त्रिविधां वदन्ति मुनयो नारीविवाहादिके  
हेमन्ते शिशिरे प्रयाति मृदुतां पिण्डीकृते भास्करे ।  
ग्रीष्मेऽर्द्धास्तमिते वसन्तसमये भानौ गते दृश्यतां  
सूर्ये चास्तमुपागते भगवति प्रावृट्शरत्कालयोः ॥” इति ॥१००॥

अथ गोधूलिसमयेवश्यवर्ज्यदोषान् वैश्वदेवीछन्दसाह—

अस्तं याते गुरुदिवसे सौरे साके  
लग्नान्मृत्यौ रिपुभवने लग्ने चेन्दौ ।  
कन्यानाशस्तनुमदमृत्युस्थे भौमे  
बोहुर्लाभे धनसहजे चन्द्रे सौख्यम् ॥ १०१ ॥

अस्तं याते इति । गोधूलिरित्यनुवर्तते । गुरुदिवसे बृहस्पतिवारे  
सूर्येऽस्तं याते सूर्यास्तादनन्तरं गोधूलिः शुभा स्यात्, न तु सूर्यास्ता-  
त्पूर्वमर्द्धघटिकं गोधूलिलग्नं कार्यम्, अर्द्धयामसद्भावात् । तथा सौरे  
साके सूर्यदर्शनसहिते गोधूलिः शुभा । न तु सूर्यास्तादनन्तरम् । कुलि-  
कसद्भावात् । उपलक्षणत्वात् क्रान्तिसाम्यमपि त्याज्यम् । तथा लग्ना-  
त्सायंकालीनलग्नान्मृत्यावष्टमे रिपुभवने षष्ठे वा लग्न एव वा चन्द्रे सति  
कन्यानाशः स्यात् । तदुक्तं दैवज्ञमनोहरे—

“कुलिकं क्रान्तिसाम्यं च मूर्तौ षष्ठाष्टमः शशी ।  
पञ्चगोधूलिके त्याज्या अन्ये दोषाः शुभावहाः ॥”



अत्र कुलिकशब्देन तत्कालसम्भाव्यार्द्धयामाख्यो वारदोषो गृह्यते अन्येषां त्वसम्भव एव । केचित्त्रायदादे—“सार्कं शनौ रविविचित्रशिख-  
ण्डिसूनौ तत्केवलं कुलिकयामदलोपलम्भात् ॥” इति केशवाकौकवाक्य-  
सम्पत्तिः कस्मान्न भवतीत्युच्यते । तच्चित्यम् । पूर्वापरग्रन्थालोचनया  
तस्य पूर्वपक्षग्रन्थत्वात् अन्यथा पञ्चम्यन्तहेतूपादानवाक्यमनर्थकं स्या-  
त् । एतच्चाधुनैव निर्णय्यते । लग्ने इति । लग्नस्थे मदनस्थे मृत्युस्थे  
वा भौमे सति वोदुर्वरस्य नाशो भवति । तदुक्तं ज्योतिःसंहितासारे—

“षष्ठेऽष्टमे मूर्तिगते शशांके गोधूलिके मृत्युमुपैति कन्या ।

कुजेऽष्टमे मूर्तिगतेथवास्ते वरस्य नाशं प्रवदन्ति गर्गाः ॥” इति ।

अन्योपि विशेषस्तत्रैव—

“षष्ठाष्टमे चन्द्रजचन्द्रजीवे क्षोणीसुते वा भृगुनन्दने वा ।

मूर्तौ च चन्द्रे नियमेन मृत्युर्गोधूलिकं स्यादेह वर्जनीयम् ॥” इति ।

“धिष्ण्यं क्रूरयुतं त्याज्यं मूर्तौ षष्ठाष्टमः शशी ।

गोरजस्तत्प्रशंसति सन्तः शनिदिनं विना ॥” इति ।

नन्विदं न वक्तव्यम् । सप्तमसूर्यस्य ‘अवीरामस्तेर्क’ इति फलमभि-  
हितम् । ‘अवीरा निष्पतिसुता’ इति कोशः । एवं सति दशदोषदूषितस्य  
गोधूलिलग्नस्य चेदिहादरस्तदा चन्द्रशुद्धेरन्यादरः किमर्थम् । किं च  
लग्नस्था अपि सूर्यभौमशनिराहुकेतवः पूज्याः स्युः । उक्तं च केशवाकौण-

“गोधूलिकोपे विधुरष्टमषष्ठमूर्तौ यन्मोचयन्ति तदयं स्वरुचिं प्रपन्नः ।

पञ्चाङ्गशुद्धिमयमेव विवाहधिष्यैर्यस्मादिदं सततमस्तगते पतङ्गे ॥

नाशो न लग्नमिह दृष्टयुतं स्वभर्त्रा नाकारसौरितमसामपि सङ्गभङ्गः ।  
किं चन्द्रचारभयमेकमिहास्तु किंच नात्रप्रमाणवचनं किमपि श्रुतं नः ॥  
सार्कं शनौ रविविचित्रशिखण्डिसूनौ तत्केवलं कुलिकयामदलोपलम्भात्”  
इति ।

उच्यते, विशेषविधेः सामान्यशास्त्रबाधकता न्यायसिद्धा । सा-  
मान्यतः पञ्चघटिकात्मकस्य सायंकालीनलग्नस्य सप्तमसूर्या-  
ख्यो महान्दोषः । तत्रापि पुनर्गोधूलिकाले सूर्यार्द्धविवरूपे  
सूक्ष्मे न सप्तमसूर्यदोषो विशेषवचनात्, तत्राप्ययं विशेषो यद्गोधूल्यां  
यथाशक्ति दोषहानिर्विधेया । घटिकालग्नौ त्वखिलदोषहानिः ।  
अत एव गोधूलिलग्नौ न ऋक्षमित्यर्थवादोपपत्तिः, तस्याप्ययं  
षष्ठेष्टमे मूर्तिग इत्यर्थवादो विशेषवचनात् । नात्र प्रमाणवचनं किमपि-

श्रुतम् । किन्तु प्रौढवादमात्रम् । एतादृशानां मूलभूतवाक्यानाम-  
नुपलम्भात् । ' साकं शनौ ' इत्यादि तु ' कुलिकं क्रान्तिसाम्यं च ' इति वाक्यात्कुलिकादित्यागे स्वयं हेत्वभिधानपरं न तत्र तात्पर्य-  
म् । सप्तमसूर्यातिरिक्तसकलदोषनिराकरणप्रवृत्तत्वात्तस्य । किं च य-  
दि गोधूल्यां कोपि दोषो नास्तीत्यभिमतं स्यात्तदैकविंशतिमहादोषनि-  
रूपणात्प्राक् नारदोपि गोधूलिलग्नमभिदध्यात् । न च व्यतीपातादि-  
ष्वपि गोधूलिलग्नं स्यादिति वाच्यम्, सामान्यवाक्यैरपि निषेधस-  
त्वात् । किं चैवं ब्रुवतस्तवेष्टापत्तिरेव स्यादित्यास्तां प्रसक्ता-  
नुप्रसक्तेन ।

लाभ इति । चन्द्रे लाभस्थे वित्ते द्वितीयस्थे सहजस्थे वा सति  
स्त्रीपुरुषयोः सौख्यं स्यात् । तदुक्तं संहितासारे—

“यत्रैकादशगश्चन्द्रो द्वितीयो वा तृतीयगः ।

गोधूलिका तु विज्ञेया शेषा धूलिरिति स्मृता ॥ ” इति॥ १०१ ॥

अथावसरप्राप्तां घटिकालग्नसिद्ध्यर्थप्रक्रियां वृत्तपञ्चकेन वक्तुकाम-  
स्तावत्सूर्यस्पष्टगतिमिद्वज्रयाह—

(१) मेषादिगेर्केऽष्टशरा ५८ नगाक्षाः ५७

सप्तषवः ५७ सप्तशरा ५७ गजाक्षाः ५८ ।

गोक्षाः ५६ खतर्काः ६० कुरसाः ६१ कुतर्काः ६१

कङ्गानि ६१ षष्टि-६० नवपञ्च ५६ भुक्तिः ॥१०२॥

मेषादिति । स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । मेषादिद्वादशराशिषु सूर्याक्रान्तासु

( १ ) मेषादिगेऽर्केऽष्टशरा नगाक्षा इत्यादि । अनेन प्रतिराशौ रवि  
संक्रमणेऽष्टाद्रिभागमितं रविमन्दोच्चं प्रकल्प्य तत्केन्द्रादिज्ञानतो गति-  
फलं, तत्संस्कृता मध्यमा गतिः स्पष्टेति सिद्धान्तयुक्त्या स्वल्पान्तरा-  
न्मासपर्यन्तं स्थिरामेव स्पष्टगतिं स्वीकृत्य व्यवहारार्थं मेषादिद्वादश-  
राशिषु ता एव यथागता गतयः पठितास्तद्यथा—मेषार्कसंक्रमणे रवी  
राश्यादिकः =  $r = ०।०।०।०।०$  रविमन्दोच्चमंशादि =  $७८ = २।१८$   
ततो “मन्दोच्चं ग्रहवर्जितं निगदितं केन्द्रं तदाख्य.....” मित्या-  
दिना तावत्केन्द्रम् = रके =  $(२।१८) - (०।०।०।०।० = २।१८)$  ( केन्द्र  
मिदं मृगादिगतम् ) राशित्रयादल्पत्वाद्भुजोऽप्ययमेव, ततो भुजोनं



स्थूलकलात्मिका स्पष्टगतिरित्यर्थः । उक्तं च—

“नागेषवो नगशरास्तुरगेषवोद्भि-

वाणा भुजङ्गविषयाः क्रियतो नवाक्षाः ।

व्योमर्त्तवः शशिरसाः कुरसाः कुतर्काः

षष्टिर्नवेषव इनस्य गतेः कलाः स्युः ॥” इति ।

इयं स्थूला गतिर्भाविनासिद्धेति नार्षवचनापेक्षा ॥ १०२ ॥

अथ सूर्यस्य तात्कालिकीकरणमनुष्ठुभाह—

(१) संक्रान्तियातघसाद्यैर्गतिर्निष्ठी खषट्-६० हता ।

त्रिभं कोटिरिति को=(३।०।०।०)-(२।१८)=० । १२ ∴ कोट्य-  
शाः=१२ । अथ लघुज्यया दशांशानां जीवा तद्विगुणितासन्ना=२१

( इति ग्रहगणितस्पष्टाधिकारतः स्फुटम् ) तेन तत्साहचर्यात्स्वल्पान्त-  
रतो द्वादशांशानां जीवा चतुर्विंशतिभिः धृता ∴ केन्द्रकोटिज्या=ज्या-  
कोक=२४, ततस्तत्कोटिजीवा कृतवाणभक्तेत्यनेन रवेर्गतिफलं कलाद्य-

म् =  $\frac{२४}{५४} = \frac{१२}{२७} = ० । २७$  अत्र केन्द्रं मृगादावतो रवेर्मध्यमगतिकलाभ्य

(५६।८) आभ्यो हीनं (५६।८)-(०।२७=५८ । ४१=स्पष्टगतिः । अत्रा-  
चार्येण गणितलाघवाय विकलाग्रहणं न कृतमतः स्पष्टगतिः=५८, एतेन  
'मेषादिगोकेऽष्टशरा' इत्युपपद्यते । एवमग्रेऽपि राश्यादौ रविं प्रकल्प्यो-  
क्तदिशा गणितेन स्पष्टगतिरिति ततो विकलाद्यवयवत्यागेन च नगा-  
क्षादयः सर्वेऽङ्का उपपद्यन्ते ।

(१) संक्रान्तियातघसाद्यैरिति । अनेन संक्रान्तिकालिकार्का-  
दिष्टदिनजार्कज्ञानं क्रियते । कल्प्यतामिष्टदिनं संक्रान्तिकालादग्रे वर्त्तते,  
तयोरन्तरं दिनादि पञ्चाङ्गतोऽवगम्य तज्जनितरविगतिसाधनार्थमनु-  
पातो यद्येकदिनेनानन्तरश्लोकोक्तरविगतिकलाः ( रविर्यद्वाश्यादिमापन्न-  
स्तद्रूपैव गतिर्ग्राह्या यथा मेषार्कसंक्रमणादन्तरमिष्टदिनेऽष्टशराः ५८,  
वृषार्कसंक्रमणकालादनन्तरञ्चेत्तदा नगाक्षाः ५७, एवं द्वादशराशिषु  
क्षेयम् ) लभ्यन्ते तदा तयोरन्तरदिनाद्यत्रयैः का इत्यागता संक्रान्तेर-  
न्तरन्तदिनावधिका रविगतिः कलात्मिका, षष्ठ्या भक्तेति रविगतिकलानां  
संक्रान्तीष्टकालयोरन्तरं गुणकः, षष्टि-६० हारो लब्धममंशात्मिका  
गतिस्ततोऽनया यथास्थानं सहितो रविभुक्तराशिस्तात्कालिकोऽर्को भ-  
वतीति पठितगतीनां स्थूलत्वादधुनागतोऽप्यर्कः स्थूल एवेत्यलम् ।

लब्धेनांशादिना योज्यं यातर्क्षं स्पष्टभास्करः ॥१०३॥

संक्रान्तीति । संक्रान्तयो मेषाद्याः पञ्चांगदृष्टाः यद्दिने सूर्यस्यां घट्यां च स्युस्तत आरभ्य स्वामीष्टस्थूलकालपर्यन्तं यावद्दिनानि यावत्यो घटिकांश्चभवन्ति तैर्मेषादीष्टराशिस्थे सवितरि सति तत्सूर्य-स्थूलस्पष्टगतिर्गुण्या । खषड्भिः षष्ठ्या ६० भक्ता यल्लब्धं तैशाः । अवशिष्टं कलादि । यैशावयवास्ते आदिशब्दवाच्याः । तेन यातर्क्षं ऋक्षं राशिः सूर्यभुक्तमेषादिराशियुक्तः सन् तात्कालिकस्थूलस्पष्टभास्करः स्यात् ॥ १०३ ॥

अथेष्टकालिकलग्नानयनमनुष्ठुभाह—

(१)तनोरिष्टांशकात्पूर्वं नवांशा दशसङ्गुणाः ।

रामासा लब्धमंशाद्यं तनोर्वर्गादिसाधने ॥१०४॥

तनोरिति । ग्रहबलसहितस्य लग्नस्य यो विहितो नवांशो दोष-रहितो विचारितः सः 'क्रियमृगास्यतौलिकेन्दुमतो नवांशविधिरुच्य-ते बुधै'रिति गणनया यावत्संख्याक आगच्छेत् तत्पूर्वनवांशा यावन्तः स्युः ते दशभिः संगुण्या रामैस्त्रिभिरासा यल्लब्ध-मंशाद्यमंशकलाविकलात्मकं तत्तनोरिष्टकालिकं भुक्तं स्यात् । तेन कृत्वा प्रागुक्तं 'कुजशुकसौम्य' इत्यादिप्रकारेण षड्वर्गसाधनं स्यात् । अत्रोपपत्तिः—यदि नवभिर्नवमांशैस्त्रिंशदंशा लभ्यन्ते तदेष्टनवां-शेन कियन्त इति । अत्र 'प्रमाणमिच्छा च' इत्यादिना इष्टनवां-शानां त्रिंशद्गुणको भाजको नवसम्पन्नः । तत्र द्वयोरपि त्रिभिरपव-र्तै दशगुणकः त्रयो भाजकः इत्युपपन्नं फलमिष्टांशाः स्युः । उक्तं च महेश्वरेण "इष्टात् पूर्ववनवांशका दशहता रामैर्हृताः स्युर्ल-वाः ॥" इति ॥ १०४ ॥

अथैवं साधिताभ्यां स्पष्टार्कलग्नाभ्यामिष्टघटिकानयनं शालिन्याह—

(२)अर्काल्लग्नानात्सायनाद्भोग्यभुक्तै-

(१) अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन टीकाकर्त्रैव व्यक्तीकृता ।

(२) अर्काल्लग्नानात्सायनादिति । अनेन ज्ञाताभ्यां सायनलग्नार्का-



भूमिर्निघ्नात्स्वोदयात्खाग्निभक्तात् ।

भोग्यं भुक्तं चान्तरालोदयादयं

षष्ठ्या भक्तं स्वेष्टनाड्यो भवेयुः ॥ १०५ ॥

अर्कादिति । सायनादयनांशसहितात्सूर्याद्राशिभोग्यांशैः सायनांश  
सूर्याक्रान्तराशेः स्वदेशीय उदयो मेषादिराशीनां पलात्मकं प्रमाणगुण्यं  
खाग्निभिस्त्रिशता भक्तं लब्धानि पलानि स्युः । एवं लग्नात्साय-  
नांशाद्भुक्तांशैराक्रान्तस्वदेशीयराश्युदयो गुण्यः । खाग्निभक्तो लब्धानि  
भुक्तपलानि । एवं जातानां भोग्यभुक्तपलानामैक्यं कार्यम् । तत्सा-  
यनांशलभ्नाकार्कयोरन्तरालोदयपलैर्युक्तं कार्यम् । षष्ठ्याभक्तं सूर्योदया-  
दिष्टघटिका भवेयुः । अत्रोदयज्ञानं भास्कराचार्येणोक्तम्—

“लङ्कोदया नागतुरंगदस्ता २७८

गौकाश्विनो २६६ रामरदा ३२३ विनाड्यः ।

क्रमोत्क्रमस्थश्चरखण्डकैः स्वैः

क्रमोत्क्रमस्थैश्च विहीनयुक्ताः ।

मेषादिषण्णामुदयाः स्वदेशे

तुलादितो मीनषडुत्क्रमस्थाः ॥” इति । स्वैः स्वदेशीयैः ।

भ्यामिष्टघटीज्ञानं क्रियते, तद्यथा—तात्कालिकार्कोपरिगतमहोरात्रवृत्त-  
मुदयक्षितिजे यत्र लग्नन्तस्मात्तात्कालिकार्कावधि सावनेष्टघटीमानमे-  
तस्यैव ज्ञानमभिमतमथात्र रवि-तद्राश्यन्तोपरिगतध्रुवप्रोतवृत्तयोर-  
न्तरेहोरात्रवृत्ते रविभोग्यपलानि, लग्न-तद्राश्याद्युपरिगतध्रुवप्रोतवृत्त-  
योरन्तरे लग्नस्य भुक्तपलानि तथा रविराश्यन्त-लग्नराश्यादिगतध्रुव-  
प्रोतवृत्तयोरन्तरे रविलग्नान्तरालराश्युदयपलानीत्येवं खण्डत्रयन्तेषां  
तावद्रविभोग्यपलानयनार्थमनुपातो यदि त्रिंशदंशै रविनिष्ठराश्युदयप-  
लानि लभ्यन्ते तदा तद्भोग्यांशैः ( रविलग्नज्ञानात्तद्भोग्यभुक्तांशज्ञानम-  
मस्त्येव ) किमिति फलं रविभोग्यपलमानन्तथैवानुपातेन लग्नस्यापि  
तन्निष्ठराश्युदयपलेभ्यस्तद्भुक्तांशेभ्यश्च भुक्तपलमानमानेयम् । ताभ्यां  
सहितानि रविलग्नान्तरालराश्युदयपलानीष्टघटीपलानि, ततो घट्या-  
त्मकज्ञानार्थं षष्टिभक्तानि सूर्योदयादिष्टघट्यो भवन्तीति षष्ठ्या भक्त-  
मित्यन्तमाचार्योक्तमुपपन्नम् ।

अत्र चरखण्डानयनमपि तेनोक्तम्—“अयनलवदिनैः प्राङ्मेष-  
संक्रान्तिकालाद्भवति दिवसमध्ये या प्रभातप्रभा सा । दशगजदश-  
निघ्नी साक्षभांत्यात्रिभक्ता प्रतिगृहचरखण्डानि ” इति । “अ-  
र्कस्य भोग्यस्तनुभुक्तयुक्तो मज्जोदयाढ्यः समयो विलम्बात् ”  
इति च ॥ १०५ ॥

अथ घटिकाजयनविशेषं शालिन्याह—

(१) चेङ्गनाकाँ सायनावेकराशौ

तद्विश्लेषघ्नोदयः स्वाग्निभक्तः ।

स्वेष्टः कालो लग्नमूनं यदाकाँ-

द्रात्रौ शेषेऽर्कात्सषड्भं निशायाम् ॥ १०६ ॥

चेङ्गनेति । लग्नाकाँ सायनौ अयनांशसहितौ यद्येकराशौ स्या-  
तां तदा तयोर्लग्नार्कयोर्विश्लेषोतरांशास्तैर्गुणितः स्वदेशीय उदयः

(१) चेङ्गनाकाँविति । पूर्वमिष्टराशौ रविमन्यराशौ लग्नं प्रकल्पेष्ट-  
घटीज्ञानं दर्शितम् । परं यदि तौ सायनौ लग्नाकाँवेकस्मिन्नेव राशौ  
तदा पूर्वस्थितिवैलक्षण्यत्तज्ज्ञानं कथं स्यादित्युच्यते । इह लग्नार्कयो-  
रन्तरांशजपलान्येवैष्टघटीपलानि भवन्ति तेनानुपातो यदि त्रिशदंशैर्ल-  
ग्नरविनिष्टराशुदयपलानि तदा तयोरन्तरांशैः कानीतीष्टपलानि जा-  
तानि । एतच्चेष्टपलमानं लग्नादल्पे रवौ, रवेः क्षितिजोर्ध्वगतत्वाद्दिन-  
गतकालोऽन्यथा रात्रिशेषः कालो रवेः क्षितिजाधोगतत्वात् । अयं हि  
षष्टिशुद्धः पूर्वदिनोदयादिष्टकालः स्यात् । अथ यदि रात्रौ लग्नमभिमतं  
तदा रविः षड्भयुतः कार्यस्तथा यन्मितोऽस्तक्षितिजादधः केवलार्क  
स्तन्मित एवोदयक्षितिजादूर्ध्वं सषड्भाकाँ भवेदतो रात्रिगतेष्टकाले  
सषड्भसूर्याङ्गनानयने क्रियाया लघुतास्यादेवमेव सूर्योदयादिनार्ध  
यावद्दिनगताकाँभ्यां भोग्यप्रकारेण, दिनार्धादस्तावधि दिनशेषसषड्-  
भाकाँभ्यां भुक्तप्रकारेण, अस्ताग्निशार्धावधिरात्रिगतेष्टसषड्भाकाँभ्यां  
भोग्यप्रकारेण, निशार्धात्सूर्योदयावधि रात्रिशेषाकाँभ्यां भुक्तप्रकारेण  
लाघवेन लग्नानयनं भवितुमर्हतीत्यादिबहवो लग्नानयनविशेषा मच्छो-  
धितबृहज्जातकेऽवलोक्याः ।



कार्यः । खाग्निभिर्लिखिता भाज्यो लब्धमिष्टकालः सूर्योदयात्स्या-  
त् । तत्र यदार्कात्सायनसूर्यादिकराशिस्थितं लग्नमूनं स्यात्तदा यः  
'चेल्लग्नार्कौ सायनौ' इत्युक्तदिशा स्वेष्टकाल आगतः सः सूर्योद-  
यात्प्राक् रात्रिशेषो भवेत् । अयमर्थः । आनीत इष्टकालः षष्ठ्यां  
पात्यः प्राग्दिनीयसूर्योदयादनन्तरमेतावानिष्टकालः । अथ वा राशि-  
मानात्पात्यः प्राग्दिनीयसूर्यास्तादनन्तरमेतावानिष्टकालः । एवमिष्ट-  
काले सामान्यतो निर्णीते रात्रौ विशेष उच्यते । निशायां रात्रावर्का  
त्सषड्भाद्राशिषट्कयुक्तात्प्रागुक्तप्रकारेण 'अर्काल्लग्नार्कौ' इत्यादि-  
नेष्टकालः साध्यः । स सूर्यास्तानन्तरं भवेत् । यदाह भास्करः—  
“यदैकमे लग्नरवी तदा तद्भागान्तरस्नोदयखाग्निभक्तम् । स्या-  
दिष्टकालो यदि लग्नमूनं शोध्यो द्युरात्रादथवा रजन्याः ॥ रात्री-  
ष्टकाले तु सषड्भसूर्याल्लग्नं ततोप्युक्तवदिष्टकालः ॥ ” इति ।  
अत्रांशप्रवृत्तेः पञ्च पलानि पात्यन्ते । विहितनवांशप्रवेशसूचनार्थ-  
मिति दैवज्ञसंप्रदायः । एवमानीत इष्टकाले दम्पत्योरन्योन्यवीक्षणं कार्य-  
मित्याह कश्यपः—“अन्योन्यवीक्षणं सम्यक्सुलग्ने कारयेत्सदा ”  
इति । नारदोपि—“एवं सुलग्ने दम्पत्योः कारयेत्सम्यगीक्षणम् ” इति ।  
एतेन परस्परवलोकनं सुलग्ने कार्यम् । इतरत्तु समयान्तरेपि विधेय-  
मित्युक्तं भवति । तुल्यन्यायत्वादुपनयनादावपि साधितेष्टकाले  
संस्कार्याचार्ययोरप्यन्योन्यवीक्षणं कारणीयम् ।

“शास्त्रोक्तमार्गेण सुलग्नकालं स्फुटं समानीय जलादियन्त्रैः ।

संलभ्य तं मङ्गलसूक्ष्मकालं संलोकयेत्तत्र मिथोर्ध्वदृष्टिः ॥”

इति सामान्यतो वसिष्ठेनाभिहितत्वात् ।

विवाहे निश्चितलग्ने कर्तव्यकर्माणि—

कश्यपोऽपि तथैवाह—“अन्योन्यवीक्षणं सम्यक् सुलग्ने कार-  
येत्सदा ” इति । अनेन सुलग्नकाले अन्योन्यवीक्षणमेव मुख्यम् ।  
पाणिग्रहणादिगायत्र्युपदेशादिकं तदुत्तरकालकर्तव्यतया गौणमिति  
प्रतिभाति ।

स चेष्टकालः कथं साधनीयं इत्यत आह कश्यपः—

“एवं गुणगणान् वीक्ष्य लग्नं निश्चित्य यत्नतः ।

सिद्धांतोक्तेन मार्गेण लग्नकालं प्रसाधयेत् ॥

जलयन्त्रेण तल्लग्नं दद्यात्सेमार्चितो विजः ।

मुखं वृत्तं द्वादशभिरङ्गुलैश्चषडुन्नतम् ॥  
 घटार्द्धधत्ताम्रपात्रं कुर्यात्तद्दशभिः पलैः ।  
 षष्ठीर्भजेदहोरात्रे घटिकापात्रमुत्तमम् ॥  
 माषत्रयत्रयशयुतस्वर्णवृत्तशलाकया ।  
 चतुर्भिरङ्गुलैरायतया विद्धं स्फुटं न्यसेत् ॥  
 रवेरर्द्धोदयं दृष्ट्वा वाप्यर्द्धास्तमयं तथा ।  
 पूर्वोक्तलक्षणं यत्र मंत्रेणानेन निःक्षिपेत् ॥ ”  
 निःक्षिपेज्जलपूर्णपात्र इत्यर्थः । यदाह नारदः—  
 “ताम्रपात्रे जलैः पूर्णं गंधपुष्पैरलङ्कृते ।  
 तंडुलस्थे रत्नयुते शुचिभूमावहर्षते ॥  
 मण्डलार्द्धोदयं वीक्ष्य जलपात्रे विनिःक्षिपेत् ।” इति ।

मन्त्रमप्याह स एव—

“यन्त्राणां मुख्ययन्त्रं त्वमिति धात्रा पुराकृतम् ।  
 दम्पत्योरायुर्वृद्ध्यर्थं पुत्रादिधनहेतवे ॥  
 जलयन्त्रकमेतस्मादिष्टसिद्धिप्रदं भव ।” इति ।  
 ताम्रघटिकाद्यभावे द्वादशांगुलशंकुना कालः साध्यः । तदुक्तं क-  
 श्यपेन—“अथवा साधयेत्कालं द्वादशांगुलशंकुना” इति ।

शङ्कुलक्षणमाह नारदः—

“न्यग्रोधखदिराश्वत्थरक्तचन्दनवृक्षजम् ।  
 श्रीखण्डागरुवृक्षस्य मंजुशंकुमकल्मषम् ॥  
 द्वादशांगुलमुत्सेधं परिणाहं षडंगुलम् ।  
 एवं लक्षणसंयुक्तं कल्पयेत्कालसाधने ॥” इति ।  
 शंकुना घटीज्ञानं तु करणकुतूहले भास्करेणाभिहितम् । यथा—  
 “चरपलयुतहीना नाडिकाः पञ्चचन्द्रा १५  
 द्युदलमथ निशार्धं याम्यगोले विलोमम् ।  
 द्युदलगतघटीनामन्तरं तन्नतं स्या-  
 न्तरहितदिनार्धं चोन्नतं जायतेत्र ॥  
 दिनदलं विशरं खहरो भवेन्नतकृतिः पृथगभ्रशराहता ।  
 खखनवाढ्यपृथक्स्थितया हृता खहरतः पतितोभिमतो हरः ॥  
 अथ नतं यदि पञ्चदशाधिकं दिनलवात्पतितं खहरस्तदा ।  
 प्रथमखण्डहतं दलितं चरं स्वगुणितं स्वषडंशविवर्जितम् ॥



दशयुतं पलकर्णहतं हतिर्हरहतः श्रवणौगुलपूर्वकः ।  
 रवियुतो नितकर्णहतेः पदं द्युतिरिनं द्युतिवर्गयुते श्रुतिः ॥  
 श्रुतिविभक्तहतिस्तु हरो भवेत्स पतितः खहरादवशेषकम् ।  
 पृथगिदं खखनंदहतं हरेत्खविषयैरविशेषविवर्जितैः ॥

फलपदं हि नतं यदि शेषकं दिगधिकं हर एव तदुन्नतम्" इति १०६  
 अथ विवाहादिशुभकार्येष्ववश्यकान्वर्ज्यदोषानविस्मरणार्थं शार्दूल-  
 लविक्रीडितत्रयेणाह—

उत्पातान्सह पातदग्धतिथिभिर्दुष्टांश्च योगांस्तथा  
 चन्द्रेज्योशनसामथास्तमयनं तिथ्याः क्षयद्वी तथा ।  
 गण्डान्तं च सविष्टिसंक्रमदिनं तन्वंशपास्तं तथा  
 तन्वंशेशविधूनथाष्टरिपुगान्पापस्य वर्गास्तथा ॥ १०७ ॥  
 सेन्दुकूरखगोदयांशमुदयास्ताशुद्धिचण्डायुधान्  
 खार्जूरं दशयोगयोगसहितं जामित्रलत्ताव्यधम् ।  
 बाणोपग्रहपापकर्तरि तथा तिथ्युक्षयोगोत्थितं  
 दुष्टं योगमथाद्धयामकुलिकाद्यान्वारदोषानपि ॥ १०८ ॥  
 कुराक्रान्तविमुक्तभं ग्रहणभं यत्क्रूरगन्तव्यभं  
 त्रेधोत्पातहतं च केतुहतभं सन्ध्योदितं भं तथा ।

तद्वच्च ग्रहभिन्नयुद्धगतभं सर्वानिमान्सन्त्यजे-  
 दुद्वाहे शुभकर्मसु ग्रहकृतान् लग्नस्य दोषानपि ॥ १०९ ॥

उत्पातानित्यादि । उत्पातादीन्दोषानुद्वाहे विवाहे यज्ञोपवीतादिशुभ-  
 कर्मसु च सन्त्यजेदिति तृतीयश्लोकगतेनान्वयः । उद्वाहग्रहणं गोबली-  
 वर्दन्यायेन मुख्यत्वसूचनार्थम् ।

उत्पातान् विविधान् दिव्यान्तरिक्षभौमान् लक्षणया तत्सम्बन्धिस-  
 त्ववर्ज्यदिवसान् त्यजेत् । यदाह गुरुः—

“दिग्द्वाहे वा महादारुपतने चाम्बुवर्षणे ।  
 उत्कापाते महावाते महाशनिनिपातने ॥  
 अनभ्राशनिपाते च भूकम्पे परिवेषयोः ।  
 ग्रामोत्पाते शिवाशब्दे दुर्निमित्ते न शोभतम् ॥

केतवो यत्र दृश्यन्ते सधूमा वा पृथग्विधाः ।

चन्द्रसूर्यग्रहे चैव वर्जयेद्दिनसप्तकम् ॥” इति ।

पातो महापातः क्रान्तिसाम्यमिति यावत् । तद्वर्णितप्रसिद्धम् ।

दग्धतिथयः ‘चापान्त्यगे गोघट’ इत्यादिनोक्ताः । एतैः सह त्यजे-  
दिति सम्बन्धः । तथा दुष्टयोगान् व्यतीपातवैधृतिपरिघाद्धादीन् । चन्द्रे-  
ज्योशनसां चंद्रगुरुशुक्राणां अस्तमयनमस्तं च तिथ्योः क्षयर्द्धी तिथि-  
वृद्धिस्तत्क्षयं च पुनर्गण्डान्तं नक्षत्रतिथिलग्नैः त्रिविधं विष्टिर्मद्रा संक्र-  
मदिनं-‘देवद्वयकं’ इत्यादिना संक्रमकालादुभयतो वर्ज्या घटिकाः । अ-  
यनेषु विषुवेषु च पूर्वापरं त्रिदिनमिति विशेषो ध्येयः । ताभ्यां सहितमिति  
पूर्वेण सम्बन्धः । तन्वंशपास्तमिति । तनुर्लग्नं अंशो लग्नगतविहितनवां-  
शः तौ पात इति तन्वंशपौ तयोरस्तं लग्नाधीशलग्ननवांशाधीशास्तं चे-  
त्यर्थः । तथा तन्वंशेशविधून् लग्नेशनवांशेशचन्द्रान् अष्टरिपुगानष्टषष्ठ-  
स्थानगान् । तथा पापस्येत्येकत्वमविवक्षितम् । पापग्रहाणां वर्गान् ।  
सेन्दुकूरखगोदयांशम् । इन्दुश्च क्रूरखगश्चेन्दुकूरखगौ उदयो लग्नं  
च अंशो नवांशश्च उदयांशमिति समाहारद्वन्द्वैकवचनम् । इन्दु-  
क्रूरखगाभ्यां सहितमुदयांशम् । इन्दुसहितं लग्नं लग्नांशं च क्रूरग्र-  
हेण सहितं लग्नं लग्नांशं चेत्यर्थः । उदयास्तशुद्धिचण्डायुधान्  
उदयशुद्धिरस्तशुद्धिश्च—“इष्टोदयांशैर्निजपत्यदृष्टे वरस्य मृत्युस्तद-  
संयुते वा । अस्तांशकेप्येवमदृष्टयुक्ते स्वस्वामिना नाशमुपैति  
कन्या ॥” इति वसिष्ठाद्युक्तम् । इतरथा ज्ञेयमशुभमिति ग्रन्थकर्त्रा  
प्युक्तं प्राक् । चण्डायुधं—‘हर्षणवैधृतिसाध्य’ इत्यादिनोक्तं, खार्जूरम्-  
‘व्याघातगण्डे’ इत्यादिनोक्तं, दशयोगः—‘सूर्यर्क्षचन्द्रर्क्षयुत’ इत्यादि-  
नोक्तः । योगो ग्रहयुतिश्च तत्सहितं जामित्रलत्ताव्यधं-समाहारद्वन्द्वै-  
कवचनम् । जामित्रं द्विविधं-लग्नजामित्रंचन्द्रजामित्रं च-‘लग्नाच्च-  
न्द्र’ इत्यादिनोक्तम् । लत्ता-‘शराहुपूर्णेन्दुसिता’ इत्युक्ता । व्यधं वेधं  
सप्तशलाकोक्तं पञ्चशलाकोक्तं च’ वाणाः पञ्चकम् । उपग्रहः  
प्रसिद्धः—‘शराष्टदिक् शक्र’ इत्यादिनोक्तः । पापकर्तरीक्रूरग्रहकर्त-  
री । समाहारद्वन्द्वैकवचनम् । तिथ्यृक्षवारोत्थितं दुष्टं योगं तिथि-  
नक्षत्रवारैः कृत्वा उत्थितमुत्पन्नं दुष्टयोगं, तथा तिथिनक्षत्रोद्भवं  
‘वैश्वमादिमे’ इत्यादि, तिथिवारोद्भवं ‘सूर्येशपञ्च’ इत्यादि, नक्षत्रवारो-  
द्भवं ‘याम्यं त्वाष्ट्रम्’ इत्यादि, तिथिनक्षत्रवारोद्भवं ‘हस्ताकं



पञ्चमी' इत्यादि, अनेकं दुष्टयोगम् । अथार्द्धयामकुलिकाद्यान् धारदो-  
षानपि । स्पष्टार्थम् । आदिशब्देन दुर्मुहूर्तादिकान्, क्रूराक्रान्तविमुक्तं  
क्रूराक्रान्तं क्रूरविमुक्तं च भं, ग्रहणं यस्मिन् भेसूर्यचन्द्रोपरागो  
जातस्तद्भं, यत् क्रूरगन्तव्यं क्रूरेण जिगमिषितं यद्भं नक्षत्रं, त्रेधोत्पा-  
तहतं च भं त्रिविधोत्पातैर्दिव्यभौमांतरिक्षैरुत्पातैर्हतं तन्मासषट्कं  
त्याज्यम् । एवं ग्रहनक्षत्रमपि केतुहतं च केतुना हतं भं च ।  
ननु केतोर्दिव्योत्पातत्वात्त्रेधोत्पातहतमित्यनेनैव निषिद्धमिति किं पुन-  
र्विशेषनिषेधेन, उच्यते । अशुभफलदकेतोराधूमनैः स्पष्टैश्च नक्षत्रा-  
तरेपि दोषवत्तास्ति । तथा सन्ध्योदितं भम् । अत्र सन्ध्याशब्देन  
सायंसन्ध्या गृह्यते । तत्रोदितं तत्काले यन्नक्षत्रस्य क्षितिजे उद-  
यस्तत्तु सूर्योच्चचतुर्दशं नक्षत्रमित्यर्थः । ननु प्रातःसन्ध्याम् । तत्र  
हि सूर्येणाक्रान्तमुक्तभान्यतमसत्तयात्, यदुक्तं केशवाक्येण—“तर-  
णितारकतोपि चतुर्दशं तदखिलेप्यखिलं शुभकर्मणि ” इति । ता-  
रकशब्दलोकेपि । ‘कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकेपि च ’ इति  
विश्वः । ननूपग्रहत्वादेव निषेधे सिद्धे पुनर्दोषाभिधानं किमर्थम्,  
उच्यते । उपग्रहर्क्षदोषस्य सत्यावश्यकत्वे कुरुवाह्निकविषयत्वाच्च  
चतुर्दशस्य तु भस्य दोषाधिक्यसूचनादावश्यक्ये सर्वदेशविषय-  
त्वेन निषेधो यथा स्यादिति । तद्वच्च ग्रहभिन्नयुद्धगतं ग्रहेण भेदितं  
ग्रहयुद्धगतं च षण्मासं निषिद्धम् । तथा ग्रहकृतान् लग्नस्य दोषान् ‘व्यये  
शनिः खेवनिज’ इत्यादिकान् लग्नसन्धिदोषान् सन्त्यजेत् । अत्र मूलवा-  
क्यानि सर्वाण्यस्मिन्नेव प्रकरणेऽभिहितानि । कानिचिदाद्यप्रकरणे  
इति पुनरत्र नोक्तानीति शिवम् ॥ १०७—१०८ ॥

कैश्चित्तैलादिलापने दिनसंख्यानियम उक्तस्तमाह—

मेवादिराशिजवधूवरयोर्बटोश्च

तैलादिलापनविधौ कथितात्र सङ्ख्या ।

शैला दिशः शरदिगक्षनगाद्रिबाण-

बाणाक्षबाणगिरयो विबुधैस्तु कैश्चित् ॥ ११० ॥

इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्त-  
चिन्तामणौ षष्ठं विवाहप्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

मेषादिराशिजेति । स्पष्टम् । इदं देशविशेषे औदीच्यादौ प्रसिद्ध-  
म् ॥ ११० ॥ विवाहप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—

इति श्रीदैवज्ञेति । स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिवद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा

पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्त्तचिन्तामणोः ।

गोविन्देन विनिर्मिते नयविधौ पीयूषधाराभिधे

व्याख्याने करपीडनप्रकरणं सम्पूर्णातामध्यगात् ॥ १ ॥

इति श्रीदैवज्ञमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्वित्पुत्रगोविन्दज्यो-

तिर्विद्विरचितायां मुहूर्त्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधारा-

भिधायां विवाहप्रकरणं समाप्तिमगमत् ॥ ६ ॥



### अथ वधूप्रवेशप्रकरणम् ७ ।



गणनायकमाराध्य विघ्नसंघनिवारकम् ।

वधूप्रवेशप्रकरणं व्याख्याति विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथ वधूप्रवेशप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र वधूप्रवेशो नाम नूत-  
नपरिणीतायाः कन्यायाः प्रथमतः करिष्यमाणो भर्तृगृहप्रवेशो वधूप्र-  
वेशशब्दवाच्य इति । अधुनावसरप्राप्तत्वात्तन्मुहूर्तमुपेन्द्रवज्रयाह—

समाद्रिपञ्चाङ्कदिने विवाहा-

वधूप्रवेशोऽष्टिदिनान्तराले ।

शुभः परस्ताद्विषमाब्दमास-

दिनेक्षवर्षात्परतो यथेष्टम् ॥ १ ॥

समाद्रीति । विवाहाद्विवाहदिवसादारभ्याष्टिदिनानि षोडश दि-  
नानि तेषामन्तराले समाद्रिपञ्चाङ्कदिने समदिनानि द्वितीयचतुर्थ-  
षष्ठाष्टमदशमद्वादशचतुर्दशषोडशसंख्यानि विषममध्ये सप्तमपञ्चमनवम-  
दिनानि तेषु वधूप्रवेशः वध्वा नूतनपरिणीतायाः कन्यायाः भर्तृगृ-



हप्रवेशः शुभः शुभफलप्रदः । यदाह नारदः—

“आरभ्योद्वाहदिवसात्षष्ठे वाप्यष्टमे दिने ।

वधूप्रवेशः सम्पत्तयै दशमेथ समे दिने ॥ ”

षडादीनां समत्वादेव ग्रहणं पुनस्तदुक्तिरतिप्राशस्त्यसूचनार्थम् ।  
ज्योतिर्निबन्धे तु विशेषः—

“वधूप्रवेशनं कार्यं पञ्चमे सप्तमे दिने ।

नवमे च शुभे वारे सुलग्ने शशिनो बले ॥” इति ।

परस्त्रीप्रतिबन्धवशात् षोडशदिनाभ्यन्तरे वधूप्रवेशो न जातस्तदा तदनन्तरं विषमाब्दमासदिने विषमवर्षे प्रथमतृतीयपञ्चमवर्षे विषममासे विवाहमासात्प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमेकादशमासेषु विषमदिनानि सप्तदशादीनि तेषु वधूप्रवेशः शुभः ।

तत्रापि यदि प्रतिबन्धवशात्कालातिक्रमः पञ्चवर्षात्मको जातस्तदा पञ्चवर्षादनन्तरं यथेष्टं वर्षादिनियमो नास्ति । किंतु दोषरहिते काले वधूप्रवेशो विधेयः । तदुक्तं च संग्रहे—

“विवाहमारभ्य वधूप्रवेशो युग्मे दिने षोडशवासरान्तः ।

ऊर्ध्वं ततोब्देऽयुजि पञ्चमातं पुनःपरस्तान्नियमो न चास्ति ॥”

अत्राब्देऽयुजीति पदच्छेदो द्रष्टव्यः । तदुक्तं विवाहपटले—

“वधूप्रवेशः प्रथमेत्र वर्षे तथा तृतीयेऽप्यथपञ्चमे वा ।

सूर्येन्दुदेवेज्यबलेन कुर्यात्पुंसो मुनिर्गौतम आह सत्यम् ॥” इति ।

समवर्षे दोषस्मरणाच्च । यदाह धर्मशास्त्रे नारदः—

“समे वर्षे समे मासे यदि नारी गृहं व्रजेत् ।

आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी मरणं व्रजेत् ॥” इति ।

अयुग्मवत्सरनिषेधः पञ्चवर्षात्प्राग्ज्ञेयो न पश्चात् । तद्वाक्यस्य प्रागभिधानात् ॥ १ ॥

अथ वधूप्रवेशे नक्षत्रादिशुद्धिमनुष्यदुभाह—

ध्रुवक्षिप्रमृदुश्रोत्रवसुमूलमघानिले ।

वधूप्रवेशः सन्नेष्टो रिक्तारार्के बुधे परैः ॥ २ ॥

ध्रुवेति । ध्रुवाणि रोहिण्युत्तरात्रयं च, क्षिप्राणि अश्विनीपुष्यहस्ताः,  
मृदूनि चित्रानुराधारेवतीमृगाः, श्रौत्रं श्रवणः वसुधनिष्ठा, मूलं प्रसिद्धम्,  
अनिलः स्वातीः, एषु भेषु वधूप्रवेशः सच्छुभफलदः । अर्थादन्यासु  
तिथिषु अर्काराभ्यामन्यवारेषु च वधूप्रवेशः प्रशस्त इत्यर्थः । उक्तं च  
व्यवहारतत्त्वे—

“पौष्णात्कभाच्च श्रवणाच्च युग्मे हस्तत्रये मूलमघोत्तरासु ।

पुष्ये च मैत्रे च वधूप्रवेशो रिक्तेतरे व्यर्ककुजे च शस्तः ॥”

कभं रोहिणी । बुधे परैरिति । अन्यैः शिष्टैर्बुधवारे वधूप्रवेशो  
नेष्यते । कस्मिंश्चिद्देशे शिष्टाचारो यद्बुधवारे वधूप्रवेशो न विधीयते ।  
केचिदत्र हेतुमपि वर्णयन्ति यद्बुधो नपुंसक इति, तच्चित्यम् । शनैरपि  
नपुंसकत्वात्तस्यापि निषेधो वाच्यः स्यात् ॥ २ ॥

अथ विवाहानन्तरं प्रथमं केषुचिन्मासेषु वध्वाः पित्रादिगृह-  
निवासे फलमिन्द्रवंशाच्छन्दसाह—

ज्येष्ठे पतिज्येष्ठमथाधिके पतिं

हन्त्यादिमे भर्तृगृहे वधूः शुचौ ।

श्वश्रूँ सहस्ये श्वशुरं क्षये तनुं

तातं मधौ तातगृहे विवाहतः ॥ ३ ॥

इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्तचिन्ता-

मणौ वधूप्रवेशप्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

ज्येष्ठ इति । विवाहतो विवाहादनन्तरं भर्तृगृहे स्थिता यदि आ-  
दिमे प्रथमे ज्येष्ठे मासि तिष्ठन्ती वधूः पतिज्येष्ठं भर्तृज्येष्ठभ्रातरं हन्ति ।  
एवमादिमेऽधिके मासि स्थिता वधूः पतिं भर्तारं हन्ति । आदिमे-  
शुचावाषाढे श्वश्रूँ भर्तृजननीं हन्ति । आदिमे पौषे श्वशुरं भर्तुः पितरं  
हन्ति । आदिमे क्षये क्षयमासे भर्तृगृहे तिष्ठन्ती तनुं निजशरीरं हन्ति  
अन्यत इत्यर्थः । तथादिमे मधौ चैत्रे तातगृहे पितृगृहे तिष्ठन्ती तातं  
पितरं हन्तीत्यर्थः ।

यदि कन्यायाः पित्राद्यभावस्तदा तत्तन्मासे तत्तद्गृहे वावस्थितौ



सत्यामपि न कोपि दोष इत्यर्थः । उक्तं च मुहूर्तमार्तण्डे—

“उद्वाहात्प्रथमे शुचौ यदि वसेद्भर्तृगृहे कन्यका  
हन्त्यात्तज्जननीं क्षये निजतनुं ज्येष्ठे पतिज्येष्ठकम् ।  
पौषे च श्वशुरं पतिं च मलिने चैत्रे स्वपित्रालये  
तिष्ठन्ती पितरं निहन्ति न भयं तेषामभावे भवेत् ॥” इति ।

मलिनेऽधिकमासे । क्षयमासाधिकमासयोर्लक्षणं संक्रान्तिप्रकर-  
णेभिहितम् । तस्मान्नववध्वा विवाहानन्तरं ज्येष्ठाषाढपौषाधिकमा-  
सक्षयमासेषु भर्तृगृहे न स्थातव्यम् । किन्तु पितृगृहे एव स्थातव्य-  
म् । एवं चैत्रे मासि पितृगृहे न स्थाव्यम् । किन्तु भर्तृगृहे एव  
स्थातव्यमिति फलितोर्थः । तदुक्तं ज्योतिर्निबन्धे—

“विवाहात्प्रथमे पौषे आषाढे चाधिमासके ।  
न सा भर्तृगृहे तिष्ठेच्चैत्रे पितृगृहे तथा ॥”

आषाढो ज्येष्ठोपलक्षकः । अधिमासः क्षयमासोपलक्षकः । अत्र  
प्रमाणं प्रागुक्तमिति ॥ ३ ॥ अथोपसंहरति—इति श्रीदैवज्ञेति ।  
स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा  
पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणोः ।  
गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे  
व्याख्याने हि वधूप्रवेशसमयाध्यायः समाप्तिं गतः ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वद्दैवज्ञमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्वित्पुत्रगोविन्द  
रचितायां मुहूर्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधाराभि-  
धायं वधूप्रवेशप्रकरणां समाप्तिमगात् ॥ ७ ॥



अथ द्विरागमप्रकरणम् ८ ।

—१३०६—

गणनायकमाराध्य नीलकण्ठं गुरुं तथा ।

द्विरागमप्रकरणं व्याख्याति विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथ द्विरागमप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र पूर्वं नववधूप्रवेशे जाते तदनंतरं परावृत्यापि पितृगृहप्राप्ताया अपि वध्वा यथेष्टवर्षाणि स्थितायाः पुनर्भर्तृगृहप्रवेशो द्विरागमशब्दवाच्यः । अयमाचारः (१) प्राच्योदीच्यपाश्चात्यानामेवेति । अधुनावसरप्राप्तत्वात्तन्मुहूर्तं पंचचामर-छन्दसाह—

चरेदथौजहायने घटालिमेषगे रवौ

रवीज्यशुद्धियोगतः शुभग्रहस्य वासरे ।

नृयुग्ममीनकन्यकातुलावृषे विलग्नके

द्विरागमं लघुध्रुवे चरेऽस्त्रपे मृदूदुनि ॥ १ ॥

चरेदिति । अथ वधूप्रवेशकथनानंतरं पुनर्वधूप्रवेशः द्विरागमनं वक्ष्यमाणनक्षत्रादिषु चरेत्कुर्यात् । कदा ओजहायने विषमवर्षे प्रथमे तृतीये पंचमे वा वर्षे सति । तथा घटालिमेषगे कुंभवृश्चिकमेषस्थिते रवौ । तथा वरस्य रवीज्यशुद्धियोगतः रवेः सूर्यस्य, इज्यस्य गुरोः शुद्धियोगतः शुभग्रहस्य सोमबुधगुरुशुक्राणामन्यतमस्य वासरे सति । मिथुनमीनकन्यातुलावृषाणामन्यतमे लग्ने शुभग्रहावलोकिते शुभयुक्ते वा सति । लघून्यश्विनीपुष्यहस्ताः, ध्रुवाणि प्रसिद्धानि, चराणि श्रवणादित्रयपुनर्वसुस्वात्यः, अस्त्रपो राक्षसस्तर्ज मूलम्, मृदूनि प्रसिद्धानि, एषु भेषु द्विरागमः प्रशस्त इत्यर्थः । यदाह ऋक्षोच्चयः—

“तिष्यादित्यसमीरणादितिवसुत्रीण्युत्तरायणश्विनी-  
रोहिण्यः शुभदाश्च वर्षमसमं मेषालिकुम्भे रविः ।

(१) मिथिलायां शूद्रादिषु बहुधा विवाहानन्तरं नव दिनानि यावद्भर्तृगृहन्ततः परावर्त्य द्विरागमनकालावधि पितृगृहमेवाश्रयन्ति नवविवाहिता इति नवीनस्तत्समितिसंस्कृतोऽयं सम्प्रदायः ।



कन्यामन्मथमीनभे नववधूयानं वृषे तौलिके  
 देवाचार्यसितेंदुसौम्यदिवसे शुद्धे गुरौ भास्करे ॥ ” इति ।  
 ग्रन्थकर्त्रात्र कानिचिद्भ्रान्त्यधिकान्युक्तानि । तानि राजमार्तुडेनोक्तानि—  
 “नीहारांशुधनोत्तरादितिगुरुब्रह्मानुराधाशिवनी-  
 मूलाहस्करवारुणानिलहरित्वाष्ट्रेषु शस्ते तिथौ ।  
 कुम्भाजालिगते रवौ शुभकरे प्राप्नोदये भार्गवे  
 सूर्ये कीटघटाजगे शुभदिने पक्षे च कृष्णोत्तरे ॥  
 हित्वा दिक्प्रतिलोमगौ बुधसितौ लालाटगं दिक्पतिं  
 चानीता गुणशालिनी नववधूर्नित्योत्सवैर्मदिरम् । ”

लालाटगान् यात्रायां वक्ष्यति । शुक्रास्तनिषेधस्तु सामान्यतो—‘वा-  
 प्याराम’ इत्यादिनोक्त एवेति न पुनरुक्तः । यद्यपि प्राक्सामान्येन  
 कालशुद्धिरुक्ता । तथाप्यावश्यकत्वे—

“चैत्रे पौषे हरिस्वप्ने गुरोरस्ते मलिम्लुचे ।  
 नवोढागमनं नैव कृते पञ्चत्वमाप्नुयात् ॥”  
 इति बादरायणवाक्यान्नैव वधूप्रवेशः कार्यः ॥ १ ॥

अथ द्विरागमने सम्मुखशुक्रदोषं प्रहर्षिणीछन्दसाह—

दैत्येज्यो ह्यभिमुखदक्षिणे यदि स्याद्  
 गच्छेयुर्न हि शिशुगर्भिणीनवोढाः ।  
 बालश्चेद्भ्रजति विपद्यते नवोढा  
 चेद्वन्ध्या भवति च गर्भिणी त्वगर्भा ॥२॥

दैत्येज्य इति । यदि दैत्येज्यः शुक्रोऽभिमुखे दक्षिणे गन्तव्यदिगभि-  
 मुखे गन्तुर्दक्षिणदिग्भागे वा स्थितः स्यात्तदा शिशुर्बालः, गर्भिणी  
 गर्भवती, नवोढा नूतनपरिणीता, इत्येते न गच्छेयुः । यदि ब्रजेत्तदा  
 बालः विपद्यते म्रियते, गर्भिणी त्वगर्भा गर्भरहिता स्यात् । गर्भस्त्रा-  
 ववती भवेत्, नूतनपरिणीता नवोढा वन्ध्या अपत्यसम्भवरहिता  
 स्यात्, यदाह बादरायणः—

“अस्तं गते भृगोः पुत्रे तथा संमुखमागते ।  
 नष्टे जीवे निरंशौ वा नैव संचालयेद्वधूम् ॥

गर्भिया बालकेनापि नववध्वा द्विरागमे ।  
पदमेकं न गन्तव्यं शुक्रे संमुखदक्षिणे ॥  
गुर्विणी स्रवते गर्भं बालो वा मरणं व्रजेत् ।  
नवा वधूर्मवेद्वंध्या शुक्रे सम्मुखदक्षिणे ॥ ”

यदि शुक्रः पूर्वस्यामुदितः पूर्वदिशि गंतुः सम्मुख एव, पश्चिमे-  
गंतुः पृष्ठे, दक्षिणे गंतुर्वामे, उत्तरे गन्तुः दक्षिणे स्यात् तदा पूर्वो-  
त्तरे दिशौ न गच्छेत् । किन्तु पश्चिमदक्षिणे दिशौ गच्छेत् । यदि  
पश्चिमायामुदितः शुक्रः पश्चिमां गन्तुः सम्मुख एव, दक्षिणां गन्तुः  
दक्षिणः, पूर्वां गन्तुः पृष्ठे, उत्तरां गन्तुर्वामः तदा पश्चिमदक्षिणे दि-  
शौ न यायात् । किन्तु पूर्वोत्तरे दिशौ गच्छेत् ।

“पृष्ठे भृगौ पुत्रवती प्रयाणे कान्ता कुलीनां सुभगां करोति ।  
अग्रे सुखं वै विदधाति शुक्रो वैधव्यशोकः खलु नास्ति शुक्रे ॥” इति ।

केचिद्दीपोत्सवप्रतिपदि नक्षत्रादिनियमं विनैव वधूप्रवेशं वाञ्छ-  
न्ति । उक्तं च—“अस्तं गते गुरौ शुक्रे सिंहस्थे वा बृहस्पतौ ।  
दीपोत्सववलेनैव कन्या भर्तृगृहं विशेत् ॥”  
इति तदेतच्छिष्टाचारतो ज्ञेयम् ।

अत्र लग्नशुद्धिमाह बादरायणः—

“उपचयगते जीवे भृगौ केन्द्रमुपागते ।

शुद्धे लन्ने शुभाक्रान्ते गन्तव्यं भर्तृमन्दिरम् ॥” इति ॥२॥

अथ प्रतिशुक्रापवादं प्रहर्षियाह—

नगरप्रवेशविषयाद्युपद्रवे

करपीडने विबुधतीर्थयात्रयोः ।

नृपपीडने नववधूप्रवेशने

प्रतिभार्गवो भवति दोषकृन्न हि ॥३॥

नगरेति । नगरप्रवेशे, विषयो देशः, आदिशब्देन ग्रामः, तस्योपद्र-  
वे अन्यराजकृतोपद्रवे सति दुर्भिक्षादिनोपद्रवे सति गन्तव्यदिशि  
प्रतिशुक्रदोषो नास्ति । करपीडने विवाहोद्देशेन यात्रायां सत्या-



म् । विबुधा देवास्तेषां यात्रा । यथा नगरकोटयात्रा देवयात्रा तीर्थयात्रा प्रयागादिका । तयोः नृपपीडने नृपाद्राज्ञः सकाशात्पीडने पीडायां दण्डादिकृतायां सत्यां, नववधूप्रवेशने नूतनपरिणीतायाः कन्यायाः भर्तृगृहप्रवेशे, एतेषामन्यतमे सति भार्गवः सम्मुखदोषकृन्नहि । य-

थाह वादरायणः—

“स्वभवनपुरप्रवेशे देशानां विभ्रमे तथोद्वाहे ।

नूतनवध्वा गमने प्रतिशुक्रो नैव दोषकृद्भवति ॥” इति ।

नूतनवधूप्रहणादभिगमनं स्त्रीणां प्रतिशुक्रयात्रायां महादोष-  
कृत् । तद्वाक्यं प्रागुक्तम् ॥ ३ ॥

अथ प्रौढस्त्रीणां द्विरागमने तथा गोत्रपरत्वेन प्रतिशुक्रापवादान्त-  
रमिन्द्रवंशाच्छन्दसाह—

पित्र्ये गृहे चेत्कुचपुष्पसम्भवः

स्त्रीणां न दोषः प्रतिशुक्रसम्भवः ।

भृग्वङ्गिरोवत्सवसिष्ठकश्यपा-

त्रीणां भरद्वाजमुनेः कुले तथा ॥४॥

इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्तचिन्ता-  
मणौ अष्टमं द्विरागमप्रकरणं समाप्तम् ॥ ८ ॥

पित्र्ये इति । पितुरिदं पित्र्यं—“वाय्वृतुपित्रुषसो यत्” इति यत्र-  
त्ययः । तस्मिन्पित्र्ये गृहे कुचौ स्तनौ पुष्पमृतुः तत्सम्भवः स्यात्तदा  
स्त्रीणां प्रतिशुक्रसम्भवदोषो नास्ति । उपलक्षणत्वाद्भर्तुः सूर्यगुरुशु-  
द्धिराहित्यसम्भवोपि दोषो नास्तीति । तदुक्तं चण्डेश्वरेण—

“पित्र्यागारे कुचकुञ्जमयोः सम्भवो वा यदि स्या-

त्पत्युः शुद्धिर्न भवति रवेः सम्मुखो वाथ शुक्रः ।

तूले लग्ने गुणवति तिथौ चन्द्रताराविशुद्धौ

स्त्रीणां यात्रा भवति सफला सेवितुं स्वामिसन्ना ॥” इति ।

वाशब्दाद्गुरुशुद्धिरपि चेन्न भवतीत्यर्थः ।

अथ भृग्वंगिरोक्तसवसिष्ठकश्यपात्रिवंशोत्पन्नानां तथा भरद्वाजवंशो-  
त्पन्नानामपि प्रतिशुक्रसम्भवो दोषो नास्ति । यदाह बादरायणः—

“कश्यपेषु वसिष्ठेषु चात्रिभृग्वंगिरःसु च ।

भारद्वाजेषु वात्स्येषु प्रतिशुक्रो न दुष्यति ॥” इति ।

अयं चापवादो यात्रामात्रसाधारणः न द्विरागमने एव । सम्मति-  
वाक्ये विशेषानुक्तेः । एवं प्राक्पद्योक्तोपवादो ध्येयः । केचिच्छु-  
भमाहुः । यदाह महेश्वरः—

“एतेषां प्रतिशुक्रपातमशुभं ये वत्सभृग्वंगिरो-

भारद्वाजवसिष्ठकश्यपकुलोत्पन्नास्तथाऽत्रेः कुले ।

देशानां विषयपूवे च नियतं न स्याद्विवाहे तथा

तीर्थानां गमने तथैकनगरे ग्रामे च सौम्यं तथा ॥” इति ।

सोमस्यापत्यं सौम्यो बुधः—“सोमाद्यज्” इति यज् । बुधसां-  
मुख्येपि भृगवादिगोत्रोत्पन्नानामपि तथा यानमशुभं नास्ति । चकारा-  
इर्मिन्नाद्युपद्रवसद्भावेन्येषामपि यानमशुभं नास्तीत्यर्थः । तद्धित्यम्  
मूलवाक्यस्यापवादरूपस्यानुपलम्भात् । किं च यथा साधार-  
ण्येन यस्यां कस्यांचिदिशि यात्रायां शुक्राधिष्ठितदिङ्निषेधः स च  
बादरायणादिवाक्यैरपोह्यते तथा बुधसांमुख्ये गमननिषेधानुक्ते अप-  
वादस्यानुक्तत्वदर्शनात् । ननु “प्रतिशुक्रं प्रतिबुधं प्रतिभौमं गतो  
नृपः । बलेन शक्रतुल्योपि हतसैन्यो निवर्तते ॥” इति वसिष्ठोक्ति-  
रेव बुधसांमुख्यदोषनिषेधवाधिकास्तीति । किं च—

“कुजाय वृषभं दद्यात्स्वर्णं दद्याद् बुधाय च ।

तत्तत्सम्मुखजो दोषस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥”

इति बुधसांमुख्यदोषनिराकरणार्थापि तदुक्तिरेषास्ति प्रमाणमिति  
चेत्, सत्यम् ‘प्रतिशुक्रं प्रतिबुधम्’ इत्यादिवाक्यैर्बुधसांमुख्यमपि दोषा-  
वहमेवेति प्रतीयते । अत्रार्थवादोप्यभाणि श्रीपतिना—“प्रतीन्दुजं भूमिपते-  
र्गतस्य नान्ये ग्रहास्त्राण्यविधौ समर्थाः” इति । त्राणं रक्षणम् । नारदेना-  
पि—“प्रतीन्दुजकृतं दोषं हंतुं शक्ता ग्रहा नहि” इति । तत्र गोत्रादिविष-  
यत्वे परिहारो योभिहितः स शुक्रसांमुख्ये । वचनं तु बुधसांमुख्ये ।  
अतो गोत्रपरिहारस्तु दोषकरवाक्यान्ते प्रतिशुक्रं न विद्यते इत्युक्तम्,  
ननु ‘प्रतिशुक्रम्’ इत्यादिवाक्योपात्तस्य प्रतिबुधदोषस्याप्ययं परिहा-  
रोस्तु । दोषकथनानन्तरमेव तस्याभिधानात् । प्रतिशुक्रपदं तु मुख्यतां



सूचयितुमुपात्तम् । तदभिप्रायेण सौम्यस्य तथेति महेश्वरोक्तिः साधी-  
यसीति चेन्न । यद्येषोभिमतः स्यात्सौम्यं तथेति चेद्भौमं तथेति वक्तव्यं  
स्यात् । तच्च नोक्तम् । किं च प्रतिशुक्रपदं मुख्यतां सूचयितुमुपात्तमि-  
त्युक्तम् । तदप्ययुक्तम्, कुतः शुक्रास्तदोषस्य महत्त्वोक्तेः । तद्विषयकोऽयं  
गोत्रादिपरिहारः । “कामं व्रजेद्वा प्रतिशुक्रमस्तं गते च यायान्न जिगी-  
षुरत्र” इति श्रीपत्युक्तेः ।

शुक्रास्तदोषापवादः—

शुक्रास्तदोषस्यापवादो बुधानुकूल्यमपि तेनैव—“अस्तं गतेप्यास्फु-  
जिति प्रयायाद्बुधो यदि स्यादनुकूलवर्ती” इति । अनुकूलवर्ती यातव्यदि-  
शीष्टवर्ती । बुधप्रातिकूल्यं तु महादोषावहम् । एतद्वाक्यं प्रागभिहितम् ।  
परन्तु बुधास्तः समीचीनो वेति कैरपि वचनं युक्तिपदवीं कांचिद-  
भ्यधायि । तस्माद्वाचनिकेऽर्थे न युक्तिः प्रभवोदिति । बुधसामुख्ये गोत्रा-  
दिपरिहारो न शिरोमणिपदवीमारोहति । आदिशब्दात्—

“स्वभवनपुरप्रवेशे देशानां विभ्रमे तथोद्वाहे ।

नूतनवध्यागमने प्रतिशुक्रविचारणा नास्ति ॥

एकग्रामे पुरे वापि दुर्मिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।

विवाहे तीर्थयात्रायां प्रतिशुक्रो न दुष्यति ॥” इति ।

तुल्यन्यायत्वाद्भौमसामुख्येऽपि न । वसिष्ठऋषिवचनेऽभावात् ।  
किंतु शुक्रसामुख्य एव स परिहारः सर्वोपि सर्वेषां यात्रामात्रसाधा-  
रणः । परन्तु शिशुगर्भिणीनववधूनाम् ‘अस्तं गते भृगोः पुत्रे’ इत्या-  
दिना वादरायणादिवाक्यान्तु विशेषफलावगतिमात्रम् । तत्रैषां शि-  
शवादीनां बुधसामुख्यविचारस्तु दूरापास्त एवेत्यलमतिप्रसङ्गेनेति शि-  
वम् ॥ ४ ॥ द्विरागमनप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—इति श्रीदैवज्ञेति ।  
स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा

पुत्रेणाहि गवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणः ।

गोविंदेन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे

व्याख्याने पुनरागमप्रकरणं सम्पूर्तिमागात्किल ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वद्दैवज्ञमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्विद्विरचितायां

मुहूर्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधाराभिधायामष्टमं द्वि-

रागमनप्रकरणं समाप्तिमगमत् ॥ ८ ॥

अथाग्न्याधानप्रकरणम् ६ ।



गणनायकमाराध्य नीलकण्ठं गुरुं तथा ।

अग्निहोत्रप्रकरणं व्याख्याति विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथाग्न्याधानप्रकरणं व्याख्याते । तत्राग्निर्धीयते श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मविशेषेणेत्यग्न्याधानम् । तत्र प्रवदन्ते । केचित्पाणिग्रहणसमये एव अग्न्याधानमाहुः ।

अपरे पित्रा भ्रातृभिः सह विभागकाले एवाहुः । उक्तं च श्रुतौ—“आवसथ्याधानं दारकाले दायाद्यकाले एकेषाम्” इति पारस्करः । दायाद्यकाले विभागकाले । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं महेश्वरेण—“अग्न्याधानं दारकाले विधेयं कैश्चित्प्रोक्तं तच्च दायाद्यकाले” इति ।

अन्ये वसन्ताद्यृतपुरस्सरेण वर्षविशेषानाहुः तदुक्तं श्रुतौ—“वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यो वर्षासु रथकार आदधीत” इति ।

इतरे तु श्रद्धोदये एवाहुः । एतदप्युक्तं श्रुतौ—“यदहरेवैनं श्रद्धोपरमेत्तदहरेवाद्ध्यत्” इति । एतच्च सोमाग्न्याधानविषयम् । यदाह आपस्तम्बः “सोमेन यद्यमाणो नर्तुं प्रतीच्छेन्न नक्षत्रम्” इति ।

तत्र पाणिग्रहणकालस्य प्रागुक्तत्वात्तत्क्षणादारभ्यमाणग्न्याधानार्थं न मुहुर्त्तंगवेषणा । एवं पित्रादिभिः सह यस्मिन्काले विभागो जातः तस्मिन् यथाकथंचिद्वधतीपातभद्रादिदोषरहिते आधानं कार्यमेव । तदा उत्तरायणादिकालशुद्धेर्नापेक्षा । तत्रापि यदि प्रतिबन्धवशादाधानाभावो जातस्तदा कालशुद्धिर्विद्यमानविषया विचार्यैव अथैषां वर्णानां वसन्ताद्यृतवः सोमयागाद्यर्थं नियता एवोक्तास्तेषां यद्यप्युत्तरायणविचारो नास्ति । सम्भवव्यभिचाराभावात् । तथापि शुक्रास्तादिदोषनिवारणार्थं मुहुर्तो गवेष्य एव । येषां तु श्रद्धोदये एवाधानमिति पक्षस्तेषां सोमाधानकालः श्रद्धोदय एवेति यथाकथंचित्पञ्चांगशुद्धिर्विचार्या, नर्तुं नक्षत्रादिप्रतीक्षा धारादेर्वा । ‘वाजपेयेन यजेत’ इति वाजपेयादीनां यागविशेषाणां शरदाद्यृतविशेषविहितानामपि सौम्यायनप्रतीक्षामकृत्वा शुक्रास्तादिदोषराहित्यं विचार्यम् ।

तद्यमत्र निर्णयः संपन्नः । यत्र तु कालनियमेनाधानादि विहितं



तदा न मुहूर्तविचारः । यदा तु कालनियमाभावस्तदा मुहूर्तो विचार्य  
एवेत्यभिसंधायाग्न्याधानसोमयागादिमुहूर्तं वसंततिलकावृत्तेनाह—

स्यादग्निहोत्रविधिरुत्तरगे दिनेशे

मिश्रध्रुवान्त्यशशिशक्रसुरेज्यधिष्णये ।

रिक्तासु नो शशिकुजेज्यभृगौ न नीचे

नास्तङ्गते न विजिते न च शत्रुगेहे ॥१॥

स्यादिति । उत्तरगे उत्तरायणगते उत्तरदिग्गते दिनेशे सूर्ये अग्निहो-  
त्रविधिः स्यात् । यदाह नारदः—“गृहप्रवेशवैवाहप्रतिष्ठाभौजिवंधनम् ।  
मखादिमंगलं कर्म विधेयं चोत्तरायणे(१) ॥” इति । मखस्याग्निहोत्रपूर्व-  
कत्वात्तदारंभोपि । विवाह एव वैवाहः । स्वार्थे अण् । प्रतिष्ठा देवता-  
दिप्रतिष्ठा । मिश्रेति । मिश्रे कृत्तिकाविशाखे, ध्रुवाणि प्रसिद्धानि, अन्त्यं  
रेवती, शशी मृगः, शक्रो ज्येष्ठा, सुरेज्यः पुष्यः, एतेषामन्यतमेषु ऋक्षेषु  
अग्निहोत्रविधिः स्यात् । यदाह श्रीपतिः—

“प्राजापत्ये पूषमे सद्विदैवे पुष्ये ज्येष्ठास्वैदवे कृत्तिकासु ।

अग्न्याधानं ह्युत्तराणां त्रयेपि श्रेष्ठं प्रोक्तं प्राग्जनैर्विप्रमुख्यैः ॥” इति ।

अग्न्याधाने निषिद्धकालाः—

रिक्तास्त्रिति । रिक्ताश्चतुर्थीनवमीचतुर्दश्यः, आसु अग्न्याधानं नो  
कार्यम् । तदुक्तं दीपिकायाम्—

“पुष्योत्तराविशाखासु ज्येष्ठांत्याग्निकचन्द्रभे ।

अग्न्याधानमरिक्तासु कार्यं वा देवजेहनि ॥” इति ।

को रोहिणी शशीति । चन्द्रमङ्गलगुरुशुक्रेषु नीचगतेषु तथास्तङ्गतेषु  
तथा ग्रहान्तरैर्विजितेषु तथा शत्रुगृहस्थितेषु अग्न्याधानं नो कार्यम् ।  
उक्तं च रत्नमालायाम्—

“कुजेन्दुजीवै रिपुराशिसंस्थैः पराजितैर्नीचगृहोपगैर्वा ।

अस्तङ्गतैर्वाग्नि परिग्रहं यः करोति हास्यं विदुषां स याति ॥” इति ।

कश्यपस्तु शुक्रदोषमप्याह अत एव मूलपद्ये चतुर्णामभिधानम् ॥१॥

(१) बहुधोत्तरायण एव शुभं कर्मेति कस्यचिद्वचनम्—

“सौम्यायने कर्म शुभं निरुक्तं यद्गर्हितं तत्खलु दक्षिणे च”

अथाग्न्याधाने लग्नशुद्धिं वसन्ततिलकयाह—

नो कर्कनक्रभूषकुम्भनवांशलगने  
नोऽब्जे तनौ रविशशीज्यकुजे त्रिकोणे ।  
केन्द्रर्क्षषड्भवनगे च परैस्त्रिलाभ-  
षट्खस्थितैर्निधनशुद्धियुते विलगने ॥ २ ॥

नो कर्केति । कर्कः प्रसिद्धः, नक्रो मकरः, भूषो मीनः,  
कुम्भः प्रसिद्धः, एतेषामन्यतमे लग्ने नवांशे वा अग्न्याधानं नो  
कार्यम् ।

अग्न्याधानलग्ने निषिद्धा ग्रहाः—

तथा अब्जे चन्द्रे तनौ लग्नस्थे सति चाग्न्याधानं न कार्यम् ।  
तथा चोक्तं श्रीपतिना—

“नक्रे विलगनेम्बुचरे घटे वा तदंशके वाप्यथवा शशांके ।  
आधानकालो द्विजपुंगवानां जातेपि निर्वाणमुपैति सिद्धिम् ॥” इति ।  
ये नवांशकाद्यास्तेषामम्बुचरत्वाभावात्पृथग्रहणम् ।

मन्तातरं लग्ने चन्द्रे शुके वा—

वराहस्तु नैतन्मन्यते । मकरस्य पश्चिमाधं कुम्भो मीनः कर्क  
इति जलचरे इति । अतएवैतद्दूषणभयाच्चाप्युक्तं महेश्वरेण—

“कर्कनक्रघटमीनविलगने वा गते तनुगतेथ तदीये ।  
लग्नगे कुमुदिनीदयिते वा नाशमेति जनितोपि हुताशः ॥” इति ।

लग्नगचन्द्रस्योपलक्षणत्वाच्छुक्रोपि लग्ने निषिद्धः । यदाह  
कश्यपः—“यस्यैवाधानलग्नस्थे चन्द्रे वा भृगुनन्दने ।

उपैति तस्य जातोऽग्निर्निर्वाणं सततं ज्वलन् ॥” इति ।

आधानेनुकूलग्रहस्थित्यादयः—

रवीति । सूर्यचन्द्रगुरुभौमेषु त्रिकोणस्थितेषु सत्सु परैर्बुधशुक्र-  
शनिराहुकेतुभिस्त्रिलाभषट्खस्थितैस्तृतीयैकादशषष्ठदशमस्थानस्थितैः  
सद्गिराधानं हितं स्यात् । यदाह श्रीपतिः—

“त्रिकोणकेन्द्रोपचयेषु सूर्ये बृहस्पतौ शीतकरे कुजे वा ।



शेषग्रहेषूपचयस्थितेषु धूमध्वजोत्पादनमोमनन्ति ॥” इति ।  
धूमध्वजोऽग्निः । निर्घातस्थे केचिदाहुः अग्न्याधानम् ।

आधानलगादष्टमशुद्धिरावश्यकौ—

निधनशुद्धियुते अष्टमस्थाने सकलग्रहराहित्यं निधनशुद्धिः तया युते सत्याधानं शुभम् । तस्मादष्टमस्थाने यः कश्चिद्ग्रहः स्यात् तदाऽशुभमेव । उक्तं च श्रीपतिना—“चन्द्रे पत्नी मृत्युगे मृत्युमेति क्षिप्रं वह्नयाधायको याजमानः ।” धाधातोः “एबुलत्चौ” इति एबुल् । “आतो युक्चिण्कृतोः” इति युगागमः अन्यत्वेवमाहुः । निधनमष्टमं लग्नम् कस्मान्निधनमित्याकांक्षायामाधानकर्तुर्जन्मराशिजन्मलग्नाभ्यामष्टमं लग्नमित्यर्थः । तस्य शुद्धिः राहित्यम् । तदभाव इति यावत्, तेन युते लग्ने इति । यदाह कश्यपः—

“पञ्चांगशुद्धिदिवसे चन्द्रताराबलान्विते ।

चन्द्रे शुद्धियुते लग्नं चाष्टमोदयवर्जिते ॥” इति । अत्र व्याख्याद्वये प्रमाणसद्भावाद्द्वयमपि युक्तमिति वयमुत्पश्यामः । तत्र निधनशुद्धिश्च निधनशुद्धिश्च ताभ्यां युते लग्ने इति मूलस्थस्य निधनशुद्धिपदस्य—“सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ” इत्येकशेषः । यथा अन्वर्था भवादयः स्मृता इति तृतीयपक्षव्याख्यानावसरे भवादयश्चेति तन्नावृत्येकशेषाणामन्यतमाश्रयणेन पदमन्जरीकारादिभिर्भादीनां धातुत्वमुक्तम् ॥ २ ॥

अथाग्निहोत्रेण आधानलग्नवशाद्यागकर्तृत्वयोगाननुष्टुभाह—

चापे जीवे तनुस्थे वा मेषे भौमेम्बरे ध्रुवे ।

षट्त्रयायेऽब्जे रवौ वा स्याज्जाताग्निर्यजति ध्रुवम् ॥३॥

इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्तचि-

न्तामणौ नवममग्न्याधानप्रकरणं समाप्तम् ॥६॥

चापे इति । जीवे गुरौ चापस्थे धनुःसंस्थे सति तनुस्थे आधानलग्ने धनुराख्ये गुर्वधिष्ठिते सतीत्यर्थः । अयमेको योगः । वा अथवा भौमे मेषलग्ने सति अयं द्वितीयो योगः । वा अथवा आधानलग्नस्थानस्थे सप्तमस्थानस्थे भौमे सति योगद्वयमेतत् । अथवा अब्जे चन्द्रे

षष्ठे तृतीयैकादशस्थानान्यतमस्थानस्थे योगत्रयमेतत् । अथवा सूर्ये  
षष्ठतृतीयैकादशान्यतमस्थानस्थे सति योगत्रयमप्येतत् ।

शुद्धलग्ने कृताधानस्य फलम्—

एवंविधे लग्ने जाताग्निः अग्निहोत्रकर्ता स्यात् भवेत्सं ध्रुवं निश्च-  
येन यजति ज्योतिष्टोमादियागं करोतीत्यर्थः । उक्तं च श्रीपतिना—

“लग्नस्थे धनुषि गुरावथ क्रिये वा भूसूनौ दशमगतेथ सप्तमे वा ।

तिग्मांशौ सहजषडायगे विधौ वा जाताग्निर्यजति न संशयं द्विजै-  
र्द्रः ॥ ” इति ।

मतान्तररीत्या फलम्—यागपदार्थश्च—

केचिदेवमाहुः ध्रुवं निश्चितं निरंतरमिति यावत् यजति देवतोद्देश-  
नावदानत्यागो यागस्तं करोति । निरंतरमग्निहोत्रकर्मकर इत्यर्थः ।

यदाहकश्यपः—“लग्नस्थे चापगे जीवे मेघे वा सप्तकर्मगे ।

कुजेऽर्के त्रिषडायस्थे चंद्रे वाग्निर्ज्वलत्यलम् ॥” इति ॥ ३ ॥

अथाग्निहोत्रप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—इति श्रीदैवज्ञेति । स्पष्टार्थमेतत् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचंद्रिकायास्तथा

पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिंतामण्येः ।

गोविंदेन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे

व्याख्यानेऽग्निपरिग्रहप्रकरणं संपूर्णातामध्यगात् ॥ १ ॥

इति श्रीदैवज्ञमुकुटालंकारनीलकण्ठज्योतिर्वित्पुत्रगोविंदज्योतिर्वि-

द्विरचितायां मुहूर्तचिंतामणिटीकायां पीयूषधाराभिधा-

यामग्न्याधानप्रकरणं समाप्तिमगमत् ॥ ६ ॥





अथ राजाभिषेकप्रकरणम् १० ।

गौरीतनयमाराध्य गोविन्देन सतां मुदे ।

राजाभिषेचनाध्यायः सम्यग्व्याख्यायतेऽधुना ॥ १ ॥

अथ राजाभिषेकप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र वैदिकेनाभिषेकाख्येन विशिष्टकर्मणा राजशब्दवाच्यपुरुषस्य संस्कारविशेषो राजाभिषेकशब्देनोच्यते । तत्र चैतन्मुहूर्तं वक्तुकामः कालशुद्धिं तावदिद्व-  
वंशयाह—

राजाभिषेकः शुभ उत्तरायणे

गुर्विन्दुशुक्रैरुदितैर्बलान्वितैः ।

भौमार्कलग्नेशदशेशजन्मपै-

र्नो चैत्ररिक्तारनिशामलिम्लुचे ॥१॥

राजाभिषेक इति । उत्तरायणगते सूर्ये सति तथा गुर्विन्दुशुक्रैरुदितैर्बलान्वितैः बृहस्पतिचन्द्रशुक्रैरुदितैः सद्भिः भौमसूर्यलग्नेशदशेशजन्मलग्नस्वामिभिः बलान्वितैः सद्भिः राज्ञोभिषेकः शुभः शुभफलप्रदः स्यात् । यदाह कश्यपः—

“अथातः संप्रवक्ष्यामि भूपानामभिषेचनम् ।

सौम्यायने सिते जीवे नास्तगे नच वृद्धगे ॥” इति ।

ननु ‘गोर्वाणांबुप्रतिष्ठा’ इत्यादिना प्राग्दक्षिणायननिषेधस्योक्तत्वादेव शस्तानां प्रयोज्यादीनां च गुरुशुक्रास्तादिदोषरहिते काले भूपाभिषेको ज्ञास्यत एव किमनेन पुनरुक्तग्रन्थेन । नच कश्यपादिभिरुक्तमिति कृत्योक्तमिति वाच्यम् । तैस्तु सामान्यप्रकरणस्याकृतत्वात् । किन्तु तत्कृत्ये विशेषाभिधानमेव कृतम्, उच्यते ‘गोर्वाणांबुप्रतिष्ठा’ इत्यादिना “वाप्याराम तडाग” इत्यादिना च सामान्यत एव कृत्येषु दोषराहित्यमुक्तम् । तत्र कस्यचिदेव भ्रान्तिः स्यात् । यदि दक्षिणायने शुक्रास्तादिदोषरहिते शुभं कर्म वाप्यारामादि कार्यं शुक्रास्तादिदोषरहितोत्तरायणेपि कार्यमिति सन्देहस्तन्निरासार्थमाह—‘राजाभिषेकः शुभ उत्तरायणे गुर्विन्दुशुक्रैरुदितैर्बलान्वितैः’ इति । “सिंहस्थं मकरस्थं च गुरुं यत्नेन वर्जयेत्” इत्यादिदोषाणां ‘मगधे गौडदेशे’ इत्यादिना देशभेदकृतपरिहारस्य स्ववचनत्वादि-

ति तेषां पुनरुक्तिः । ननु—

“सदा कृतयुगं चात्र सदा चैवोत्तरायणम् ।

न ग्रहास्तोदयकृतो दोषो विश्वेश्वरालये ॥”

इत्यादिभिर्व्यासवाक्यैः शुक्रास्तादिदोषसहिते उत्तरायणे-  
पि कार्यमिति तन्निरासार्थमाह—“राजाभिषेकः शुभ उत्तरायणे  
गुर्विन्दुशुक्रैरुदितैर्बलान्वितैः ।” इति । ‘सिंहस्थं मकरस्थं च गुरुं  
यत्नेन वर्जयेत्’ इत्यादिदोषाणामपि वाराणस्यादिदेशभेदेन परि-  
हार्यत्वात् किमित्युक्तिरिति चेन्न । काशीखण्डे तीर्थयात्राप्रस्तावा-  
त्तद्विषय एवापवादस्तेन वाराणस्यादावलपदिनस्थास्योः पुनरखि-  
लदोषराहित्ये एव स्युः । नतु मकरस्थगुर्वादौ मगधदेशहीनार्थमेव  
कर्तव्यावश्यं पुनरुक्तिः, सत्यम् । नकृतेत्येव वस्तुतस्तु दोषाविस्मरणार्थ-  
मेवेयं पुनरुक्तिः । न चैतावद्दोषहानार्थमेवावश्यकम् । विवाहप्रकरणो-  
क्तानां वेधादिदोषाणामपि निरासस्यावश्यकत्वात् । उक्तं च वसिष्ठेन—  
“तस्मादेतेषु दोषेषु कदाचिन्नाचरेच्छुभम् ” इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

राजाभिषेकलग्नरीत्या ग्रहवलानि—

बलान्वितैः बलं सद्ग्रहाधिष्ठितत्वं तेनान्वितैः गुर्विन्दुशुक्रैः सद्ग्री-  
राजाभिषेकः शुभः । उक्तं च वसिष्ठेन—

“मूलत्रिकोणस्वगृहोच्चवभिन्नगृहस्थितैर्वापि तदंशसंस्थैः ।

शुभे विलग्ने सततं ग्रहेन्द्रा दिशन्ति लक्ष्मीं विपुलां च कीर्तिम् ॥” इति ।

अर्थान्नैर्बलैर्ग्रहाणामशुभं स्यात् । तदप्युक्तं तेनैव—

“स्वनीचगैः शत्रुगृहस्थितैश्च तदंशसंस्थैः स्वगृहोपगैर्वा ।

पापोदये शोकभयं त्वकीर्तिं दिशन्ति राज्ञां भृशमन्तरायम् ॥” इति ।

राज्ञः जन्मकालग्रहवलमभिषेककाले—

भौमेति । भौमाकां प्रसिद्धौ, लग्नेशौ जन्मलग्नस्वामिनौ दशेशौ वर्त-  
मानजातकीयमहादशान्तर्दशास्वामिनौ जन्मपो जन्मराशिस्वामी एतै-  
रपि बलान्वितैः सद्भिः राजाभिषेकः शुभः । बलान्वितत्वमधुना व्याकृत-  
मेव । यदाह वसिष्ठः—

“आधानजन्मेशदशाधिनाथरवीन्दुभौमेज्यसितैर्बलिष्ठैः ।

उत्पातदोषादिविवर्जितेषु पदं स्थिरं स्याच्च नराधिपानाम् ॥” इति ।

आधानं जन्मलग्नजन्मराशी अनयोरीशावाधानजन्मेशौ ।



यदाह श्रीपतिः—

“विलग्नजन्मेशदशाधिनाथमार्तण्डधात्रीतनयैर्बलिष्ठैः ।

गुर्विन्दुशुक्रैः स्फुरदंशुजालैर्महीपतीनामभिषेक इष्टः ॥” इति ।

राजाभिषेके मासतिथ्यादयः ऋते बुधममां च—

नो चैत्र इति । चैत्राख्यो मासः, रिक्ताः ४ । ६ । १४ तिथयः प्रसिद्धाः, आरो भौमवारः, निशा रात्रिः, मलिम्बुचोऽधिकमासः एषु राजाभिषेको न शुभः । यदाह चण्डेश्वरः—

“नाभिषेकः शुभो वाच्यो नृपे चैत्रेऽधिमासके ।

न भूसुते प्रसुप्ते च विष्णौ रिक्तासु रात्रिषु ॥”

वसिष्ठेन बुधवारस्यामावास्यायाश्च निषेध उक्तः । स यथा—

“रिक्तास्वमायां बुधभौमवारविवर्जिते वारदिनेषु चैव ।

खले दिने ऋक्षनिशे तथैव न नैधने भे त्वभिषेक इष्टः ॥” इति ।

यत्तु भीमपराक्रमेणोक्तम्—

“राजाभिषेको हयदुष्टदन्तिसेतुच्छिदानां कृषिकर्मणां च ।

वादस्य च क्षमातनयस्य वारे प्रारम्भसिद्धिं मुनयो वदन्ति॥” इति ।

अत्र भौमवारे राजाभिषेकविधानं सेनापत्यभिषेकविषयं द्रष्टव्यम् । भौमस्य सेनापतित्वात् । ‘राजानौ रविशीतगू क्षितिसुतो मन्त्री’ इति वराहोक्तत्वात् । अन्यथा वसिष्ठचण्डेश्वरोक्तो भौमनिषेधो निर्विषयः स्यात् ।

मृते राजनि तत्पुत्रस्य राज्याभिषेके न कालप्रतीक्षा कार्या—

यत्तु रत्नमालायाम्—“मंत्रौषधानि शकुनौ च सपौष्टिकानि गोवि-  
प्रराजपितृकर्मचतुष्पदे तु” इति अत्र हि चतुष्पदाख्ये करणे राज्यं कर्त-  
व्यमित्युक्तम् । तच्चावास्यायामवश्यं भवत्येवेत्युक्तं श्रीपतिवाक्यं  
प्रतिभाति । उच्यते । जीर्णराजमरणे संजाते पुत्रादेः शीघ्रमेवाखिलदोष-  
निरासपूर्वकशुभमुहूर्तालब्धौ कालान्तरप्रतीक्षायां च द्विषदादिभिः सर्व-  
नाशः कृतः स्यादित्येवंविषयेपि चतुष्पदकरणे पुत्रादिरभिषेक्तव्य एवे-  
त्येतत्परं व्याख्यानमिति युक्तं प्रतीमः । उक्तं च दैवज्ञमनोहरे—

“मृते राज्ञि न कालस्य नियमोत्र विधीयते ।

नृपाभिषेकः कर्तव्यो दैवज्ञेन पुरोधसा ॥” इति ॥१॥

अथ राजाभिषेकनक्षत्राणि लग्नशुद्धिं च इन्द्रवंशयाह—

शाक्रश्रवःक्षिप्रमृदुध्रुवोडुभिः

शीर्षोदये वोपचये शुभे तनौ ।

पापैस्त्रिषष्टायगतैः शुभग्रहैः

केन्द्रत्रिकोणायधनत्रिसंस्थितैः ॥ २ ॥

शाक्रेति । शाक्रं ज्येष्ठा, श्रवः श्रवणः, क्षिप्राणि अश्विनीपुष्यहस्ताः, मृदूनि मृगशिरातुराधारेवत्यः, ध्रुवाणि रोहिण्युत्तरात्रयं च, एतैरुडुभिः सद्भिः राजाभिषेकः शुभः । यदाह कश्यपः—“उत्तरात्रयमैत्रैन्द्रधातृ-चन्द्रकरोडुषु । सधृत्यश्वीज्यपौष्णेषु कुर्याद्राजाभिषेचनम् ॥” इति । ऐन्द्रं ज्येष्ठा, अत्र वाक्ये द्वादश ग्रन्थकृद्वाक्ये त्रयोदश चित्रैकाधि-का । सा च महेश्वरवाक्यालोचनेन । यथा ‘तथा श्रवःक्षिप्रमृदुध्रु-वेषु सौम्यग्रहस्याहि तिथावरिके’ इति । नात्र प्रमाणं पश्यामः । रत्न-मालावाक्यं भविष्यतीति चेन्न ।

“मैत्रशाक्रकरपुष्यरोहिणीवैष्णवेषु तिसृषूत्तरासु च ।

रेवतीमृगशिरोऽश्विनीषु च दमाभृतां समभिषेक इष्यते ॥” इति ॥

चण्डेश्वरोपि—“मैत्रं शाक्रं श्रवणः पुष्यं त्रीण्युत्तराणि चाश्वि-करैः । पौष्णं प्राजापत्यं मृगशिरः” इति । तस्माच्चित्राग्रहणं निर्मूलम् ।

राजाभिषेके लग्नानि शीर्षोदयपदार्थश्च—

शीर्षोदय इति । शीर्षोदया मिथुनसिंहकन्यातुलावृश्चिककुम्भाख्याः । यदाह धराहः—

“गोजाश्विककिंमिथुनाः समृगा निशाख्याः

पृष्ठोदया विमिथुनाः कथितास्त एव ।

शीर्षोदया-दिनबलाश्च भवन्ति शेषा

लग्नं समेत्युभयतः पृथुरोमयुग्मम् ॥” इति ।

एषु शीर्षोदयराशिषु अभिषेकलग्ने वा अथवा उपचये विशेषानु-क्तैः । स्वजन्मलग्नात्स्वजन्मराशितो वोपचयभवने त्रिप्रदेकादशभाना-



मन्यतमे तनौ लग्ने वा सति शुभे शुभग्रहाक्रान्ते शुभग्रहेक्षिते वा राजा-  
भिषेकः शुभः । यदाह वसिष्ठः—

“शीर्षोदयेचोपचये ग्रहे वा स्वजन्मलग्नादथ लग्नरोपि ।  
शुभग्रहैर्युक्तनिरीक्षिते वा स्थिरं पदं स्यात्सततं हि राज्ञाम् ॥” इति ।  
अपिशब्दात्स्वजन्मराशेरप्युपचयभवनं ग्राह्यम् । यदाह कश्यपः—  
“जन्मराशेरुपचये लग्ने शीर्षोदये स्थिरे ।  
शुभग्रहेक्षितयुते नृपाणां नेक्षिते परैः ॥” इति ।

तथैव ग्रहाः शुभाः—

परैः पापग्रहैस्तृतीयषष्ठैकादशस्थानस्थितैः शुभग्रहैः प्रथमचतुर्थसप्त-  
मदशमनवमपञ्चमैकादशद्वितीयतृतीयस्थानस्थितैः राजाभिषेकः शुभदः ।  
यदाह वसिष्ठः—

“त्रिकोणकेन्द्रत्रिधनेषु सौम्यैस्त्रिषष्ठलाभलग्नैश्च पापैः ।

षष्ठाष्टलग्नव्ययवर्जितेन चन्द्रेण राज्ञां शुभदोऽभिषेकः ॥” इति ॥२॥

अथ स्थानविशेषे पापग्रहैरशुभं फलं सापवादं इन्द्रवंशयाह—

पापैस्तनौ रुङ्निधने मृतिः सुते

पुत्रार्तिरर्थव्ययगैर्दरिद्रता ।

स्यात्खेऽलसो अष्टपदो द्यूनाम्बुगैः

सर्वं शुभं केन्द्रगतैः शुभग्रहैः ॥ ३ ॥

पापैरिति । तनौ लग्ने पापग्रहैः रुक् रोगः स्यात् । राज्ञ इति शेषः ।  
निधने अष्टमस्थाने पापग्रहैः मृतिः ( मृत्युः ) स्यात् । सुते पञ्चमस्थाने  
पापग्रहैः पुत्रार्तिः पुत्रजनितपीडा स्यात् । अर्थव्ययगैः द्वितीयद्वादश-  
स्थानस्थितैः पापैः दरिद्रता दारिद्र्यं स्यात् । खे दशमे पापग्रहैः  
अलसो निरुद्योगः । द्यूनाम्बुगैः सप्तमचतुर्थस्थानस्थितैः पापग्रहैर्भ्रष्टपदो  
भ्रष्टैश्वर्यः स्यात् । उपलक्षणत्वात् षष्ठाष्टमद्वादशस्थानस्थितश्चन्द्रोपि मृ-  
त्युदः । यदाह वसिष्ठः—“पापग्रहैः स्वांत्यगतैश्चनिःस्वो रोगो विलग्नोप-  
गतैर्भवेत्सः । पदच्युतः सप्तचतुर्थगैस्तु पुत्रस्थितैः सर्वसुतैर्विहीनः ॥”  
इति । “नूनं व्याघ्रादिगतः शशांकः क्षितीश्वरं हन्ति तदा बलिष्ठः” इति

बलिष्ठशब्दोपाधानाभिर्वलश्चन्द्रः व्ययाष्टमषष्ठगतो न दुष्टफलद इति तात्पर्यम् । अपवादमाह—सर्वमिति । केन्द्रगतैः शुभग्रहैः सर्वं प्रागुक्तं दुष्टफलं शुभं शुभोदकं स्यात् ॥ ३ ॥

अथाभिषेके राज्ञः संप्रत्यस्थैर्यकर्तृयोगद्वयं भुजङ्गप्रयातेनाह—

गुरुर्लग्नकोणे कुजोऽरौ सितः खे  
स राजा सदा मोदते राजलक्ष्म्या ।  
तृतीयायगौ सौरिसूर्यौ खबन्धवो-  
गुरुश्चेद्धरित्री स्थिरा स्यान्नृपस्य ॥४॥

इति श्रीदैवज्ञानन्ततनूजदैवज्ञरामसूरिविरचितमुहूर्त-  
चिन्तामणौ दशमं राजाभिषेकप्रकरणम् ॥ १० ॥

गुरुरिति । लग्ने गुरुश्चेत्स्यादथवा कोणे नवमे पञ्चमे वा गुरुः स्यात्, कुजो मङ्गलोऽरौ शत्रुगृहे षष्ठे स्यात्, सित शुक्रः कर्मगो दशमगः स्यात् एतादृशे अभिषेकयोगे यो राजा अभिषिच्यते स राजा सर्वदा सर्वकालं राजलक्ष्म्या मोदते । अयमेको योगः । यदाह वसिष्ठः—  
“यस्याभिषेके पुरुहूतमन्त्री लग्ने त्रिकोणे यदि वा भवेत्सः ।

षष्ठः कुजः कर्मगतश्च शुक्रः स मोदते विक्रमराजलक्ष्म्या ॥” इति

अथापरो योगः—

सौरिसूर्यौ तृतीयायगौ स्यातां यथासंख्यं शनिस्तृतीये, सूर्य रविः एकादशे स्यात्, गुरुः खबन्धवोः खे दशमे बन्धौ चतुर्थे वा चेद्गुरुः स्यात् एवंविधे योगेऽभिषिक्तस्य नृपस्य राज्ञः धरित्री पृथ्वी स्थिरा सदा हस्तगता स्यात् । यदाह कश्यपः—

“त्रिलोमस्थः शनिः सूर्यश्चतुर्थे वांबरे गुरुः ।

यस्याभिषेकः क्रियते तत्र तस्य मही स्थिरा ॥” इति ।

श्रीपतिरपि—

“त्रिलोमसंस्थौ शनितिग्मरश्मी  
मेषूरणे बन्धुगृहे गुरुश्च ।



यस्यात्र योगे क्रियतेऽभिषेकः

संपत्स्थिरा तस्य चिरायुरेषः ॥” इति ।

मेषूरणं दशमम् केचित्रिलाभारिगौ सौरिसूर्यौ इत्याहुः । अन्य-  
त्समानम् । तृतीयैकादशषष्ठानामन्यतमस्थानद्वये स्थितौ सौरिसूर्यौ  
स्यातामित्यर्थः । एतदपि युक्तमेव । यदाह वसिष्ठः—

दुश्चिक्कयलाभारिगताविनार्की खस्थोऽमरेज्यो यदि बन्धुगेहे ।

यस्यात्र योगे क्रियतेभिषेकः संपत्स्थिरा तस्य चिरायुरेषः ॥” इति ।

अत्र वचनद्वयप्रामाण्याद्विकल्प इति शिवम् ॥ ४ ॥

अथ राजाभिषेकप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—

इति श्रीदैवज्ञानन्तेति । स्पष्टार्थमेतत् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा

पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणोः ।

गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे

व्याख्याने ह्यभिषेचनप्रकरणं राज्ञोगमत्पूर्णाताम् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वच्चक्रमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्विदुषः गोविन्दज्योतिर्वि-

द्विरचितायां मुहूर्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधाराभिधायां दश-

मं राजाभिषेकप्रकरणं समाप्तिमगमत् ॥ १० ॥



अथ यात्राप्रकरणम् ११ ।

पार्वतीहृदयपद्मभास्करं वक्रतुण्डमघसंघवारणम् ।

तं प्रणम्य कुरुते नयान्वितां यात्रिकप्रकरणस्य दीपिकाम् ॥१॥

अथ यात्राप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य देशा-  
न्तरगमनं यात्रा । सा च संक्षेपतो द्विविधा—एका समरविजययात्राऽ-  
परासामान्ययात्रा । तत्र शत्रुनगरजयार्थं वक्ष्यमाणयोगलग्नजातकोक्त-  
राजयोगलग्नेषु प्राधान्येन यात्रा सा समरविजयाख्या । यद्यपि कानि-  
चिन्नगराणि विनैव युद्धं कटकबाहुल्यादेव वशं यान्ति । तथापि युद्ध-  
सम्भावनास्त्येव । या द्रव्यार्जनार्थं वाराणस्यादितोर्थदर्शनार्थं वा ति-  
थ्यादिशुद्धिमङ्गोक्त्य यात्रा सा सामान्ययात्रा । तदुक्तं वसिष्ठेन—

“परविषये विजयार्थं गन्तुर्यात्रा तु समरविजयाख्या ।

निखिलाऽपरयात्रा या सामान्या सा भवेद्विविधा ॥

कथिततिथिवासरर्क्षेष्वभिमतफलदा भवेच्च सामान्या ।

समराह्वया च यात्रा योगविलग्नक्षितीशयोगेषु ॥” इति ।

तत्र यात्राप्रकरणं प्रारिप्सुर्ग्रन्थकृद्यात्राधिकारिणस्तावत्प्रहर्षिणी-  
छन्दसाह—

यात्रायां प्रविदितजन्मनां नृपाणां

दातव्यं दिवसमबुद्धजन्मनां च ।

प्रश्नाद्यैरुदयनिमित्तमूलभूतै-

र्विज्ञाते ह्यशुभशुभे बुधः प्रदद्यात् ॥ १ ॥

यात्रायामिति । वैरिव्यतिरिक्तसकललोकहितकारित्वान्नृपस्य वक्ष्य-  
माणशुभाशुभसमुदायविचारस्य सकलशिष्टसंमतत्वेन तदधीनत्वाच्च  
नृपग्रहणं । नच नृपग्रहणाद्राज्ञामेवैष विचारो युक्त इति वाच्यम् । वक्ष्य  
माणयोगलग्नेषु प्रतिश्लोकं राजपदानुपादानप्रसङ्गात् । प्रकरणादेत-  
स्मादधिस्मरणार्थमिति चेन्न । दिक्शूलादावप्यविस्मरणार्थं नृपग्रहणं  
कर्त्तव्यं स्यात् । तस्माद्यथासंभवं राजव्यतिरिक्तस्य ब्राह्मणादेरप्येष



विचार उपयोज्यः । एवमेव च वसिष्ठाद्यृषिवाक्येष्वपि समाधेयम् ।

प्रविदितं छायाघटिकादिना ज्ञातं जन्म जन्मसमयो लक्षणया तत्कालीनलग्नकुण्डलीस्थशुभाशुभग्रहसूचितशुभाशुभफलोदकज्ञानं येषां तेषां नृपाणां यात्रायां दिवसं दातव्यं यात्रादिनं देयमित्यर्थः । 'वा तु क्लीवे दिवसवासरौ' इति दिवसशब्दो नपुंसकलिङ्गः । तच्च ज्ञानं जातकशास्त्राधीनम् । शुभफलदग्रहस्य दशायामन्तर्दशायां च, राज्ञो यात्रा विधेया ।

अशुभफलदग्रहस्य दशायामन्तर्दशायां च यात्रा नैव विधेया । यदाह वराहः—

“विदिते होराराशौ स्थानादिवले ग्रहाणां च ।

आयुषि च परिज्ञाते शुभमशुभं यातुरिह वाच्यम् ॥” इति ।

वसिष्ठोपि—

“निखिलगुणयुतानां राज्ञां कथयामि विधानमत्र यात्रायाम् ।

जातकमवलोक्य वदेत्फलसिद्धिस्त्वन्यथा मृषा भवति ॥” इति ।

अज्ञातजन्मकालस्य शुभाशुभद्वारा—

ननु यस्य दैवाज्जन्मकालो न विदितस्तस्य कथं यात्रा स्यादित्यत आह । अबुद्धेति । अबुद्धमज्ञातं जन्मकालो येषां तेषामपि प्रश्नाद्यैः पृच्छोपश्रुत्यादिभिरशुभे शुभे विज्ञाते निर्ज्ञाते सति बुधो यात्रादिवसं प्रदद्यात् । कीदृशैः, उदयो दिने दिने राज्याभिवृद्धिः । अथवा लग्नं निमित्तं शकुनादि । एतदादीनि वस्तूनि मूलभूतानि निदानकारणानि येषां तैः । यदाह नारदः—

“अज्ञातजन्मनां नृणां फलाप्तिर्घुणवर्णवत् ।

प्रश्नोदयनिमित्ताद्यैस्तेषामपि फलोदयः ॥” इति ।

नन्वत्र नारदवाक्ये अज्ञातजन्मनः पुंसो यात्राफलं घुणाक्षरतुल्यमिति पूर्वाद्धं उक्तम् । प्रश्नादिना तु तादृश्यपि फलाप्तिरिति पूर्वापरविरोधः । उच्यते प्रश्नादिना हि शुभाशुभनिर्णये कृते निष्पन्नमपि यात्राफलं घुणाक्षरतुल्यम् । घुणः कीदृशविशेषः स यथाशक्ति काष्ठं भिदन् तत्र दैवादेकः ककारादिको वर्णो जातस्तद्वदिदम् । यदा तु प्रश्नादिना शुभनिर्णयसद्भावे क्रियमाणा यात्रावश्यफलदेति न कोपि विरोधः ।

विशेषमाह बृहद्यात्रायां वराहः—

“तस्मान्नृपः कुसुमपुष्पफलाग्रहस्तः  
प्राप्तः प्रणम्य स्वये हरिदिङ्मुखस्थः ।  
होरांगशास्त्रकुशलान्हितकारिणश्च  
संगृह्य दैवगणकान्सकृदेव पृच्छेत् ॥  
अथ नृपतिसमीपे दैववित्पृष्टमात्रः  
फलमुदयनिमित्तैस्तर्कयेच्छास्त्रदृष्ट्या ।  
सदसि सदिति वाच्यं यद्यपि स्यादनिष्टं  
स्फुटमपि कथनीयं मन्त्रिणे भूभुजे वा ॥” इति ॥१॥

अथ ज्ञाताज्ञातजन्मनां पुंसां साधारण्येन यात्रा वक्ष्यते । तत्र  
ज्ञातजन्मनां जातकाद्यवगतशुभफलानां यात्राविचारोऽल्पायाससाध्यः ।  
अज्ञातजन्मनां तु जातकशास्त्रे प्रश्नाद्यनुक्तेः कथं तद्यात्रानिर्वाह इत्या-  
शंक्य शुभफलयात्रावेदकं प्रश्नं द्रुतविलम्बितेनाह—

जननराशितनू यदि लग्नगे  
तदधिपौ यदि वा तत एव वा ।  
त्रिरिपुखायगृहं यदि वोदयो  
विजय एव भवेद्वसुधापतेः ॥ २ ॥

जननेति । नन्वत्र कथमज्ञातजन्मत्वं यावता जन्मराशिलग्नज्ञानं  
विना समयज्ञानं नैव भवेत्, सत्यम् । यद्यपि राशिलग्नज्ञानं जातं तथा-  
पि त्रिशिष्यजातकागमजशुभफलदग्रहदशानवगमादज्ञातजन्मत्वं ज्ञेयम् ।  
अत एव राशिलग्नज्ञानाभावे “यदि पृच्छितनौ” इति प्रश्नं वक्ष्यति ।

यात्रायां प्रश्नवशाच्चतुर्धा जयः—

जननं जन्म तत्सम्बन्धिनी राशिलग्नने ते यदि प्रश्ने स्यातां जन्म-  
राशिजन्मलग्नं वा यदि प्रश्नलग्नं स्यात्तदा वसुधापते राज्ञो विजय  
एव । वा अथवा तदधिपौ जन्मलग्नराश्योः स्वामिनौ लग्नगतौ  
स्यातां तदापि वसुधापतेर्विजयः । अथवा तत एव ताभ्यामेव जन्मलग्न-  
जन्मराशिभ्यामेव त्रिरिपुखायगृहं तृतीयषष्ठदशमैकादशानामन्यतमं गृहं  
यद्युदयो लग्नं स्यात्तदापि वसुधापतेर्विजय एव शत्रुक्षय एव स्यादि-



त्यर्थः । यदाह नारदः—

“जन्मोदये जन्मराशौ तयोरीशस्थमेपि वा ।

ताभ्यां ज्यायारिदशमे यातुः शत्रुक्षयो भवेत् ॥” इति ।

अत्र तदीशः शुभग्रहश्चेत्लग्नगोपेक्षित इत्यपि विशेषो ध्येयः । यदाह वसिष्ठः—

“जन्मराशौ लग्नगते तदीशे वापि लग्नगे ।

अभीष्टफलदा यात्रा राशीशश्चेच्छुभग्रहः ॥

जन्मलग्ने लग्नगते तदीशे वापि लग्नगे ।

अथ लाभप्रदा यात्रा लग्नेशश्चेच्छुभग्रहः ॥” इति ।

केचित्ताभ्यामित्यनेन जन्मलग्नजन्मराश्यधिपाभ्यामित्याहुः । तन्न ।

“जन्मराशिविलग्नाभ्यां लग्ने वोपचये गृहे ।

सम्पूर्णाफलदा यात्रा तथैव विजयप्रदा ॥”

इति वसिष्ठेन कण्ठत एव जन्मराशिविलग्नाभ्यामित्युक्तत्वात् ॥२॥

अथान्यं प्रश्नं मञ्जुभाषिणीछन्दसाह—

रिपुजन्मलग्नभमथाधिपौ तयो-

स्तत एव वोपचयसद्म चेद्भवेत् ।

हिबुके द्युनेऽथ शुभवर्गकस्तनौ

यदि मस्तकोदयगृहं तदा जयः ॥ ३ ॥

रिपुजन्मलग्नभमिति । रिपोः शत्रोर्जन्मलग्नभं यज्जन्मलग्नं जन्मराशि-  
श्च तच्चेत्प्रश्नलग्नाद् हिबुके चतुर्थे द्युने सप्तमे वा स्यात्तदा राज्ञः  
पराजयो न भवेत् । अथवा तत एव ताभ्यां शत्रोर्जन्मलग्नराशिभ्यामेव  
वोपचयगृहं त्रिषड्देकादशदशमानामन्यतमगृहं प्रश्नलग्नाद्धिबुके द्युने वा  
चेज्जयः । अथवा तयोः शत्रुजन्मलग्नराशयोरधिपौ स्वामिनौ प्रश्नलग्नाद्धि-  
बुके द्युने वा स्यातां तदापि विजय एव । अथवा तनौ प्रश्नलग्ने शुभवर्गकः  
शुभग्रहाणां यः षड्वर्मः स चेत्स्यात्तदापि विजय एव । अथवा यदि  
मस्तकोदयाः शीर्षोदयराशयः प्रश्नगताश्चेत्स्युस्तदापि जय एव ।  
शीर्षोदयराशीनाह वराहः—

“गोजाश्विकर्किमिथुनाः समृगा निशाख्याः

पृष्ठोदया विमिथुनाः कथितास्त एव ।

शीर्षोदया दिनबलाश्च भवन्ति शेषा

लग्नं समेत्युभयतः पृथुरोमयुगमम् ॥ ” इति । पृथुरोमा मीनः,

श्रीपतिः—‘इदमप्यरिसम्भवं यदास्ते हिबुके वा विजयस्तदापि यातुः ।

शिरसोदयमेति यश्च राशिर्जयकृत्सोप्युदये तथेष्टवर्गः ॥’ इति ।

यदा अस्ते इति पदच्छेदः । अस्ते सप्तमस्थाने इन्द्रशब्देन प्रागुक्त-  
पद्योक्तार्थः परामृश्यते । “जन्मराशिरुत जन्मविलग्नं तत्पती उदयगौ  
यदि वास्तः । आयकर्मरिपुभान्युत ताभ्यां शत्रुसंक्षयमवेहि तदा-  
नीम् ॥ ” इति । जन्मराशिरित्यादिकं सर्वं शत्रुसमुद्भवं चेदस्ते स-  
प्तमस्थाने स्यादथवा हिबुके स्यात्तदापि यातुर्नृपस्य विजय इत्य-  
र्थः । वराहोपि—

“उदयमुदयपं वा जन्ममं जन्मपं वा

तदुपचयगृहं वा वीक्ष्य लग्ने यियासोः ।

विनिहतमरिपक्षं विद्धि शत्रोरिदं वा

हिबुकगृहसमेतं पृच्छतोस्तत्स्थितं वा ॥” इति ॥ ३ ॥

अथाज्ञातजन्मनां शुभफलदप्रश्नं तोटकच्छन्दसाह—

यदि पृच्छितनौ वसुधा रुचिरा

शुभवस्तु यदि श्रुतिदर्शनगम् ।

यदि पृच्छति चादरतश्च शुभ-

ग्रहदृष्टयुतं चरलग्नमपि ॥ ४ ॥

यदीति । अत्र वसुधापतेर्जय इत्यनुवर्तते । पृच्छितनौ प्रश्नलग्ने  
वसुधा भूमी रुचिरा स्यात् । अथवा यदि शुभवस्तु मांगल्यवस्तु  
वस्त्राभरणादि श्रुतिदर्शनगं श्रवणगोचरं वा । दर्शनमत्र चानुषम् ।  
अथवा प्रष्टा आदरतो दैवज्ञं पृच्छति तदा वसुधापतेर्जयः स्यादिति  
सर्वत्र व्याख्येयम् । यदाह श्रीपतिः—

“मनोरमा भूर्यदि पृच्छतः स्यान्मांगल्यवस्तु श्रुतिदर्शने स्तः ।

यथादरात्पृच्छति वा ग्रहज्ञं तदादिशेदस्ति जयस्तयेति ॥ ” इति ।



अथवा चरलग्नं मेघकर्कतुलामकराणामन्यतमं यदि प्रश्नलग्नं शुभग्रहैः दृष्टं युतं वा तदापि राक्षो जयः । “करोति राशिर्गमनं फलं च चरो विलग्ने शुभदृष्टयुक्तः” इति श्रीपत्युक्तेः ॥ ४ ॥

अथ ज्ञाताज्ञातजन्मनां पुंसांसाधारण्येनाशुभफलदं प्रश्नं मालिनीछन्दसाह—

विधुकुजयुतलग्ने सौरिदृष्टेऽथ चन्द्रे

मृतिभमदनसंस्थे लग्नगे भास्करोऽपि ।

हिबुकनिधनहोराद्यूनगे वापि पापे

सपदि भवति भङ्गः प्रश्नकर्तुस्तदानीम् ॥ ५ ॥

विध्विति । विधुकुजयुते चन्द्रमङ्गलयुक्ते लग्ने सौरिणा शनिना दृष्टे तदा प्रश्नकर्तुर्नृपादेर्मंगः शत्रुतः पराजयो नाशो वा स्यात् । अथ चन्द्रे मृतिभमदनसंस्थेष्टमसप्तमसंस्थे लग्नगे च भास्करो सत्येवंविधे विशिष्टे योगे प्रष्टुर्मंगः स्यात् । अत्र अपिशब्दोऽव्ययानामनेकार्थत्वाद्धिपर्ययार्थः । तथाहि—अपिर्विपर्यये वा सति भास्करो मृतिभमदनसंस्थे चन्द्रे लग्नगे च सति एवंविधे योगे प्रष्टुर्मंगः स्यात् । उक्तं च वराहेण—

“सचन्द्रे रुधिरे लग्ने मंगः सूर्यात्मजेक्षिते ।

द्यूननैधनगे चन्द्रे लग्ने याते दिवाकरे ॥

विपर्यये वा यातस्य त्रासभंगवधागमाः ।” इति ।

वा अथवा पापग्रहे चतुर्थाष्टमलग्नसप्तमस्थानानामन्यतमस्थे सति प्रष्टुर्मंगः स्यात् । उक्तं च वराहेण—

“निधनहिबुकहोरासप्तमर्क्षेषु पापा

न शुभफलकराः स्युः पृच्छतां मानवानाम् ।

दशमभवनयुक्तेष्वेषु सौम्याः समस्ताः

सदसदिदमशेषं यानकाले विचित्यम् ॥” इति ॥ ५ ॥

अथ याता कस्यां दिशि गमिष्यतीतिप्रश्ने निर्णयं भुजङ्ग-  
प्रयातेनाह—

त्रिकोणे कुजात्सौरिशुक्रज्ञजीवा

यदैकोपि वा नो गमोऽर्काच्छशी वा ।

बलीयांस्तु मध्ये तयोर्ग्रहः स्यात्  
स्वकीयां दिशं प्रत्युतासौ नयेच्च ॥ ६ ॥

त्रिकोणे इति । कुजान्मङ्गलात्रिकोणे नवमपञ्चमे सौरिशुकञ्जजीवाः  
शनैश्चरशुकबुधगुरवश्चेत्युरथवा एकोपि वा सौरिशुकञ्जजीवानामन्यत-  
मश्चेत्रिकोणे स्यात्तदा याता यां दिशमुद्दिश्य जिगमिषति तत्र दिशि  
गमो गमनं न स्यात् । वा अथवाऽर्काच्छशी त्रिकोणे चेत्स्यात्तदाप्युद्दि-  
ष्टदिग्गमनं न स्यादेव ।

तर्हि कस्यां दिशि गमनं स्यादित्यत आह—बलीयानिति । तयो-  
र्मध्येऽधुनोक्तोद्दिष्टदिक्प्रतिबन्धकारकयोर्मध्ये यो ग्रहो बलवान् स्या-  
त्स्वकीयां दिशं प्रत्युत संप्रतं नयेत् । चः पादपूरणे । यदाह  
वराहः—

“एकोपि जीवज्ञसितासितानां कुजात्रिकोणे रवितोथवेन्दुः ।

यत्रोद्यतस्तत्र न याति याता तयोर्बलीयान्नयति स्वकाष्ठाम् ॥” इति ।

काष्ठां दिशम् । ग्रहदिशस्तु—‘सूर्यः सितो भूमिसुत’ इत्यादिना  
वक्ष्यति ॥ ६ ॥

अथैतादृशं द्वितीयं योगं मदलेखाल्छन्दसाह—

प्रश्ने गम्यदिङ्गीशात्खेटः पञ्चमगो यः ।

बोभूयाद्वलयुक्तः स्वामाशां नयतेऽसौ ॥७॥

प्रश्ने इति । गम्यदिङ्गीशात् गंतुमिष्टा या दिक् तस्याः ईशः स्वा-  
मी प्रश्ने प्रश्नलग्ने यस्मिन्स्थाने स्यात्ततः पञ्चमे स्थाने यो ग्रहो बल-  
युक्तो बोभूयात् बलयुक्तो भवेत्तदासौ ग्रहः स्वां स्वीयामाशां दिशं  
नयते प्रापयति । उक्तं च वराहेण—

“यात्रादिङ्गीशाद्यदि पञ्चमेन्यो गृहे ग्रहो वीर्ययुतस्तु तिष्ठेत् ।

समुद्यता सा कथितानिभुक्त्वा फलानि वीर्यान्नयति स्वकाष्ठाम् ॥” इति  
अन्यदपि योगान्तरं तेनैवोक्तम्—

“परस्परं सौरिकुजौ रवीन्दू त्रिकोणगौ भार्गवलोहितौ वा ।

फलं यदुक्तं तदशेषमेव विनाश्य पञ्चान्नयति स्वकाष्ठाम् ॥” इति ॥७॥



अथैवं प्रश्नलग्नात्प्रभुः शुभाशुभे निर्णय यात्राकालादि भुजङ्ग-  
प्रयातेनाह—

धनुर्मेघसिंहेषु यात्रा प्रशस्ता  
शनिज्ञोशनोराशिगे चैव मध्या ।  
रवौ कर्कमीनालिसंस्थेऽतिदीर्घा  
जनुः पञ्चसप्तत्रिताराश्च नेष्टाः ॥८॥

धनुर्मेघेति । रवौ धनुर्मेघसिंहस्थिते सति यात्रा प्रशस्ता शुभफ-  
लदा । शनिज्ञोशनोराशिगे मकरकुम्भकन्यामिथुनवृषतुलागते रवौ  
मध्या मध्यमफलदा न शुभदा नाप्यशुभफलदेत्यर्थः ।

बहुकालसाध्या यात्रा—

कर्कमीनालिसंस्थे रवौ अतिदीर्घा बहुकालसाध्या यात्रा । हीन-  
फलेत्यर्थः । यदाह लल्लः—

“यात्राजसिंहतुरगोपगते धरिष्ठा  
मध्या शनैश्चरवुधोशनसां गृहेषु ।  
भानौ कुलीरवृषवृश्चिकगेऽतिदीर्घा  
शस्तस्तु देवलमतेऽध्वनिपृष्ठगोऽर्कः ॥”

यात्रायां पृष्ठगसूर्यप्राशस्त्यं पृष्ठगसूर्यस्वरूपं च—

शस्त इति । देवलाचार्यमतेऽध्वनि मार्गेऽर्कः सूर्यः पृष्ठगः शस्तः ।  
पृष्ठगत्यं तु भ्रमणवशेन । सूर्यो ह्यहोरात्रमध्ये उदयकालादारभ्य प्रह-  
राष्टकेन प्रदक्षिणां प्राच्याद्यष्टौ दिशो भ्रमतीति । यदाह वसन्तराजः—  
“दग्धा दिगैशी ज्वलिता दिगैंद्री प्रधूमिता चानलदिक् प्रभाते ।  
इत्येवमेव प्रहराष्टकेन भुंक्ते दिशोऽष्टौ सत्रिता क्रमेण ॥  
दग्धा दिगुक्ता दिननाथमुक्ता विवस्वदाभा भवति प्रदीप्ता ।  
सन्धूमितायां सत्रिता प्रयातः शेषा दिगन्ताः खलु पञ्च शान्ताः ॥” इति ।

एतेन भ्रमणप्रकारेण यस्यां दिशि यस्मिन् प्रहरे भ्रमणसम्भवः सा  
दिक् सूर्यसंमुखेत्युच्यते । तत्पञ्चमी दिक् सूर्यपृष्ठगते इति पितृचरणा  
व्याचख्युः ।

सूर्यपृष्ठादिस्वरूपनिर्णयः स्वमतेन—

घयं त्वेवं व्याकुर्मः । शस्त इति । द्वादशराशिचक्रभ्रमवशेन यस्यां दिश्यर्कः स्थितस्तां पृष्ठतः कृत्वा यायादित्यर्थः । यथा लग्नस्थेर्के पश्चिमां दिशं गच्छेत् । चतुर्थस्थे सूर्ये दक्षिणां दिशं गच्छेत् । सप्तमे सूर्ये पूर्वां गच्छेत् । दशमस्थे सूर्ये उत्तरां दिशं गच्छेत् । यदाह देवलः—

“लग्नस्थे वरुणाशां द्विबुकस्थे दक्षिणां रवौ यायात् ।

सप्तमगे पूर्वाशां मेघूरणसंस्थिते सौम्याम् ॥” इति ।

एवं विदिच्चपि तुल्यन्यायत्वाज्ज्ञेयम् यथा द्वितीयस्थे तृतीयस्थे वा सूर्ये नैर्ऋतीं गच्छेत् । पञ्चमस्थे षष्ठस्थे वा सूर्ये आग्नेयीं गच्छेत्, अष्टमस्थे नवमस्थे वा सूर्ये पेशानीं गच्छेत् । एकादशस्थे द्वादशस्थे वा सूर्ये वायव्यां गच्छेदिति ।

तारानिषेधो यात्रायाम्—

अथ तारानिषेध उच्यते । जनुरिति । स्वजन्मनक्षत्रादिनक्षत्रं यत्संख्यं स्यात्तन्नवभक्तमवशिष्टाः प्रथमसप्तमपञ्चमतृतीयाख्यास्ताराश्चेत्स्युस्तदा नेष्टाः निषिद्धाः । यदुक्तं रत्नमालायां श्रीपतिना—‘त्यक्त्वा त्रिपञ्चादिमसप्तताराः’ इति । नारदोपि—‘त्रिपञ्चसप्तत्रयाद्येषु यात्राभीष्टफलप्रदा’ इति । जनुरित्यादिनक्षत्रोक्तिसमीपे वक्तव्यमप्यत्रोक्तं पादपूरणार्थम् ॥८॥

अथ तिथिनक्षत्रशुद्धिं भुजङ्गप्रयातेनाह—

न षष्ठी न च द्वादशी नाष्टमी नो

सिताद्या तिथिः पूर्णिमाऽमा न रिक्ता ।

हयादित्यमित्रेन्दुजीवान्त्यहस्त-

श्रवोवासवैरेव यात्रा प्रशस्ता ॥ ९ ॥

नेति । सिताद्या तिथिः शुक्लपक्षप्रतिपत्, अर्थात्कृष्णपक्षप्रतिपदुत्तमा । अमा अमावास्या, अन्यास्तिथयो नामतः प्रसिद्धाः ज्ञेयाः । आसु तिथिषु यात्रा प्रशस्तेति वाक्यार्थः । पदार्थस्त्वयम् । षष्ठी न यात्रायां प्रशस्तेत्यर्थः । एवं सर्वत्र । बहुनकारकरणं कवित्वे पदानां पुनरुक्त्या गौरवलाघवविचारो नास्तीति द्योतयितुम् । न खरो न च भूयः स्यान्मृदुरिति वत् । यदाह नारदः—



“षष्ठ्यष्टमीद्वादशिकारिकामावर्जितासु च ।

यात्रा शुक्लप्रतिपदि निधनाय भवेदिति ॥”

अर्थात्षष्ठ्यादिनिषिद्धतिथिव्यतिरिक्तास्तिथयो यात्रायां प्रशस्ता इत्यर्थः ।

अत्र प्रत्येकं तिथिफलान्याह वसिष्ठः—

“वल्लक्षपक्षे प्रतिपत्प्रयाणे भृङ्गप्रदा वा निधनप्रदा वा ।

यशस्करी भूरिधनप्रदा च या पञ्चमी मृत्युकरी च षष्ठी ॥

सप्तमी विजयदा ह्यथाष्टमी शोकदुःखभयदामयप्रदा ।

सर्वदुःखशमनी यशस्करी लाभदा च दशमी निरन्तरम् ॥

पशुप्रदा मानकरी सुगन्धरक्ताम्बरानेकशुभप्रदा स्यात् ।

एकादशी चित्रमृगप्रभूता धान्याकरा ह्युत्तमवस्तुदा स्यात् ॥

भूरिभूतिनाशिनी भूरिशर्महारिणी

भूरिभीतिदायिनी द्वादशी प्रभंगदा ।

त्रयोदशी सुभोगदा विपक्षपक्षनाशिनी

विनाशदाथ पूर्णिमा यशःक्षयं करोत्यमा ॥” वल्लक्षपक्षः शुक्लपक्षः ।

यस्यां प्रतिपदि सत्यपि उदये चन्द्रस्यातिक्षीणत्वाद्भृङ्गप्रदत्वम् । यदा तु

चन्द्रोदयाभाव एव तदा निधनप्रदत्वं मरणदातृत्वं च । अर्थात् कृष्णप-

क्षप्रतिपदुत्तमा । आहुश्च—“प्रतिपत्सु प्रयातानां सिद्धिरेव न संशयः”

इति-तत्कृष्णप्रतिपद्विषयम् ।

हयेति । ननु तिथयः प्रोक्ताः । मध्ये वारान्विहाय नक्षत्रोक्तिर्न सङ्ग-  
च्छते । किं च वसिष्ठेनोक्तत्वाद्द्वारा वक्तव्या एव—

“सुरेज्यदैत्येज्यशशीन्दुजानां वाराश्च वर्गाः शुभदाः प्रयाणे ।

आदित्यमूसुनुशनैश्चराणां वाराश्च वर्गा न शुभप्रदाः स्युः ॥” इति ।

फलान्याह राजमार्तरण्डः—

“सूर्यदिनेष्वनि नाशश्चन्द्रे शक्तिक्षयोर्थनाशश्च ।

ज्वलनासृक्पित्तरुजः कौजे वौधे सुहृत्प्राप्तिः ॥

जैत्रे जयधनलब्धिः शुके स्त्रीवस्त्रगन्धधनलाभः ।

दैन्यधनवन्धरोगान्प्राप्नोति दिनेऽर्कपुत्रस्य ॥” इति ।

तस्माद्द्वारा वक्तव्या एवेति चेत्, उच्यते । न वक्तव्या एव वारा

इति वयं ब्रूमः, कुतः । नारदकश्यपादिभिरनुक्तत्वात्, किं च—

“न मन्देन्दुदिने प्राचीं न गच्छेद्वक्षिणां गुरौ ।

सितार्कयोर्न प्रतीचीं नोदीचीं क्षारयोरपि ॥”

इति नारदवाक्यबोधितम् ।

“तुहिनकरमन्दवारे शक्रदिशं व्रजेद् गुरौ च याम्यायाम् ।

रविसितदिने प्रतीच्यां सौम्यदिशं क्षारयोश्च धारशूलं स्यात् ॥”

इति वसिष्ठवाक्यबोधितमपि पापग्रहवारशूलं सर्वमते निरर्थकमा-  
पद्येत । सामान्यत एव निषेधसत्त्वात् । दोषाधिक्यसूचनार्थमिति चेन्न ।  
भिन्नकर्तृकेषु मुनिग्रन्थेषु मुनिवचनानां वैयर्थ्यानर्हत्वादेवंविधा गतिरु-  
चिता न त्वेककर्तृके ग्रन्थे । तत्र हि पूर्वापरविरोधे अर्थान्तरं वाक्यार्थं ग्र-  
न्थान्तरेण सहैकवाक्यतया वा कार्या । तत्रायं वसिष्ठवाक्यस्वरसः । ‘तुहि-  
नकरमन्दवारे’ इति वाक्यात्पापवारनिषेधो गौण इत्यनुमीयते तत्र तस्य  
गतिस्त्वेवम् । यदा स्वजन्मराशेरुपचयस्थानस्थो यो ग्रहः स्यात्स शुभो  
वा पापो वा भवतु सर्वदिक्षु हितः परन्तु शूलदिशो विहाय । यदा त्वनुप-  
चयस्थानस्थः स्यात्स कुत्रापि न हितः । यदाह राजमार्त्तण्डः “उपचय-  
करग्रहदिने शुद्धिः क्रूरेपि पापिनां भवति । सौम्येऽप्यनुपचयस्थे न भवति  
यात्रा शुभा यातुः ॥” इति । एवं ग्रन्थभेदेन चन्द्रे शुभाशुभोक्तिरपि परि-  
हर्त्तव्या । केचित्पुष्टदीर्घचन्द्रविषयेत्याहुः । तस्मान्नाथो वारोक्त्या । अतो  
ग्रन्थकृतापि नोक्ता वारा इत्यलमतिप्रसङ्गेन । प्रस्तुतमनुसरामः । हयेति ।  
ह्योश्विनी, आदित्यं पुनर्वसुः, मित्रोऽनुराधा, इन्दुर्मृगः, जीवः पुष्यः,  
अंत्यं रेवती, हस्तादयः प्रसिद्धाः, एतैर्नवनक्षत्रैरेव यात्रा प्रशस्तोत्तमा  
यदाह वसिष्ठः—

“पौष्णद्वयादित्यकरेज्यमित्रमिन्दुर्हरीवासवभानि यानि ।

श्रेष्ठानि यात्रासु नवैव तानि मुक्त्वा त्रिपञ्चादिमसप्तमानि ॥” इति ।

श्रेष्ठानीत्युक्तेः कियतां नक्षत्राणां मध्यमत्वं कियतां निकृष्टत्वं  
चानुमीयते ।

उत्तमानि मध्यमानि च नक्षत्राणि यात्रायाम्—

तदपि तेनैवोक्तम्—

“तिस्रोत्तरावारुणैर्ऋतेन्द्रपूर्वात्रयं ब्राह्मभयुग्दशैवम् ।

मध्यानि नेष्टान्यनलानिलेशद्विदैवचित्राहिमघान्तकानि ॥” इति ।



तिष्ठ उत्तरा इति वक्तव्ये तिस्रोत्तरा इत्यार्षः सन्धिः ।

गुरुस्तु बह्वनि भानि निषिद्धान्याह—

“पूर्वासु त्रिषु याम्यर्क्षे ज्येष्ठायां रौद्रभौरगे ।

सर्वाशासु गते यात्रां प्राणहानिर्भविष्यति ॥ ” इति ।

केचित्तु—

“पूर्वात्रयं सानलमग्रजानां राज्ञां तु पुष्येण सहोत्तराणि ।

सपौष्णमैत्रं पितृदैवतं च प्रजापतेर्भं च कृषीवलानाम् ॥

आदित्यहस्ताभिजिदाश्विनानि वणिग्जनानां प्रभवन्ति भानि ।

मूलत्रिनेत्रानलवारुणानि भान्युग्रजातेः प्रभविष्णुतायाः ॥

सौम्येन्द्रचित्रावसुदैवतानि भानि ग्रहस्वाम्यमुपागतानि ।

सार्पं विशाखाश्रवणाभरण्यश्चांडालजातेरभिनिर्दिशन्ति ॥”

इति वराहोक्तेर्जातिविशेषेण यात्रानक्षत्राण्याहुः । तर्हिचत्यम्, यतो वराहसंहितायां नक्षत्रव्यूहाध्याये पंचदशसंख्याके एतानि पद्यान्युक्तानि । तत्र देशजातिवस्त्वाद्युक्तेरशुभोपघाते तेषां देशानां जातीनां च गोधूमादिवस्तूनां च पीडा । अन्यथा हि शुभमिति तस्यार्थः । उक्तं च तत्रैव वराहेण—

“रविरविमुतभोगमागतं क्षितिमुतभेदनवक्रदूषितम् ।

ग्रहणगतमथोक्तपातहतं नियतमुखाकरपीडितं च यत् ॥

तदुपहतमिति प्रचक्षते प्रकृतिविपर्ययातमेव वा ।

निगदितपरिवर्ग इत्ययं कथितविपर्ययगं समुद्धये ॥ ” इति ।

परिवर्गः स्ववर्गः ॥ ६ ॥

अथ वारशूलनक्षत्रशूले पृथ्वीछिंदसाह—

न पूर्वदिशि शक्रभे न विधुसौरिवारे तथा

न चाजपदभे गुरौ यमदिशीनदैत्येज्ययोः ।

न पाशिदिशि धातृभे कुजबुधेऽर्यमर्क्षे तथा

न सौम्यककुभि ब्रजेत्स्वजयजीवितार्थी बुधः ॥१०॥

न पूर्वदिशीति । शक्रभे ज्येष्ठानक्षत्रे पूर्वदिशि न ब्रजेत् । तथा विधु-

सौरिचारे सोमशनिवारेपि पूर्वदिशि न व्रजेत् । तथा अजपदभे पूर्वाभा-  
द्रपदानक्षत्रे तथा गुरौ गुरुवारेपि यमदिशि न व्रजेत् । इनदैत्येज्ययोः  
रविशुक्रवारयोस्तथा धातृभे रोहिण्यां पाशिदिशि, पाशी वरुणस्तस्य दिशि  
पश्चिमदिशि न व्रजेत् । कुजबुधे मंगलबुधवारे तथार्थमर्हं उतराफलगु-  
न्यां सौम्यककुभ्युत्तरदिशि न व्रजेत् । कः । बुधः पंडितो ज्ञाता वा  
राजादिः । कीदृशो बुधः । स्वजयजीवितार्थी स्वं धनं जयः शत्रुपराज-  
यपूर्वकः स्वोत्कर्षः जीवितमायुष्यम् एतानि अर्थयतेऽसौ । गच्छतश्च  
पुंसो द्रव्यनाशो जयनाशो मरणं वा स्यादिति निष्कृष्टार्थः । यदाह नारदः

“न मंदेदुदिने प्राचीं न व्रजेदक्षिणां गुरौ ।

सिताकंयोर्व प्रतीचीं नोदीचीं क्षारयोरपि ॥ ” इति ।

राजमार्तंडेन विशेष उक्तः—

“तोयेशवह्निधनदांतकरक्षसानां

यातोऽथवानिलशतक्रतुशंकराणाम् ।

दिग्भागमुष्णकिरणादिदिनेषु देवैः

संरक्षितोपि निधनं न चिरादुपैति ॥

सूर्ये शुके कुजे राहौ मंदे चन्द्रे बुधे गुरौ ।

अग्रतः शोभना यात्रा पृष्ठतो मरणं ध्रुवम् ॥

प्रतीचीं रविवारेण प्राचीं च रविनंदने ।

उदीचीं भूमिपुत्रेण न यायादक्षिणां गुरौ ॥ ” इति

तदेतदनापर्ववाक्यं मूलाभावादुपेक्ष्यम् ।

वसिष्ठोक्तानि दिग्भेदेन योग्यनक्षत्राणि यात्रायाम्—

“पुरुहूतदिशं पुरंदरर्क्षं नेयाद्याम्यदिशं त्वजांघ्रिधिष्ये ।

ज्वलनाप्यदिशं पितामहर्क्षं शूलाख्यान्यथ सौम्यमर्यमर्क्षं ॥ ” इति ।

पितामहो रोहिणी । सौम्यं सोमदेवताकं देशमुत्तरदिशमित्यर्थः ।

एतत्फलमप्याह वसिष्ठः—

“शूलसंज्ञानि धिष्यानि शूलसंज्ञाश्च वासराः ।

यायिनां मृत्युदाः शोघ्रमथवा चार्थहानिदाः ॥ ” इति ।

वारशूलपरिहारमाह गुरुः—

“सूर्यवारे घृतं प्राश्य सोमवारे पयस्तथा ।

गुडमंगारके वारे बुधवारे तिलानपि ॥



गुरुवारे दधि प्राश्य शुक्रवारे यवानपि ।  
 माषान्भुक्त्वा शनेवारि गच्छञ्जूलं न दोषभाक् ॥  
 तांबूलं चन्दनं मृच्च पुष्पं दधि घृतं तिलाः ।  
 धारशूलहरण्यर्काद्दोनाद्धारणतोऽदनात् ॥ ” इति ।

ननु—‘हयादित्य’ इत्यादिना नवैव भानि यात्रायां प्रशस्तान्युक्ता  
 नि । तत्रैतासां ज्येष्ठापूर्वाभाद्रपदारोहिण्युत्तराफल्गुनीनां यात्रायां प्रवेशा-  
 भावः । किंच अग्रे दिग्भारभानि सपरिधानि वक्ष्यन्ते । तत्र ज्येष्ठापश्चिमा-  
 स्थत्वात्प्रागुदीच्योः परिधः, पूर्वाभाद्रपदोत्तरास्थत्वाद्दक्षिणपश्चिमयोः  
 परिधः, रोहिणीप्राक्स्थत्वाद्दक्षिणपश्चिमयोः परिधः, उत्तराफल्गुनीद-  
 क्षिणास्थत्वात्प्रागुदीच्योः परिधः । तत्र ‘प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य, इति  
 न्यायान्नक्षत्रशूलाभिधानं व्यर्थमिति चेत्, उच्यते ‘योगात्सिद्धिर्धर-  
 णिपतीनाम्’ इति वक्ष्यति । तत्र योगयात्राया आत्ययिककार्यविषय-  
 त्वात् । पंचांगशुद्धिमनादृत्य केवललग्नशुद्धौ राक्षां यात्रायाः प्रशस्तत-  
 त्वोक्तेः । यदाह पराशरः—“आत्ययिककार्यपाते दैवेन निषिद्धिते च  
 यातव्ये । केवलविलग्नयोगादपि याता सिद्धिमाप्नोति ॥ ” इति । तत्र  
 यदि नक्षत्रशुद्धौ दैवाद्विहितनक्षत्रादन्यनक्षत्रेष्वपि यात्राप्रसक्तौ सत्यां  
 कदाचित्पूर्वस्यां दिशि गन्तुर्ज्येष्ठानक्षत्रेपि यात्रा स्यात्, एवं दक्षि-  
 णादिदिग्गमने पूर्वाभाद्रपदादिनक्षत्रेष्वपि यात्रा स्यात्सा माभूदित्ये-  
 तदर्थं नक्षत्रशूलोक्तिः । किंच “ तिस्रोत्तरा ” इत्यादीनां दशन-  
 क्षत्राणां निन्दानिन्दव्यतिरिक्तफलत्वेन मध्यमत्वोक्तेर्विहितनक्षत्राला-  
 भे मध्यमनक्षत्रेषु यात्रायां प्राप्तावां ज्येष्ठादिषु दिक्शूलनक्षत्रेषु  
 सर्वथा यात्रा न कार्येति वा समाधिः । अत एव दक्षिणदिशि त्रयाणा-  
 मपि प्राशस्त्यावगतेः ऋक्षगुणैरपि भूदेवानामिति वचनाद्वाह्यणानां  
 नक्षत्रप्राशस्त्यावश्यकत्वाच्च मध्यमनक्षत्रधनिष्ठादिपञ्चकनिषेधोपपत्तिः ।  
 शततारकापूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदानामसत्त्वात् । नन्वेवं सति दक्षिण-  
 दिशि धनिष्ठादिपञ्चकनिषेधादेव पूर्वाभाद्रपदानिषेधः सिद्धः । किं पुन-  
 र्निषेधेन । उच्यते । दोषाधिक्यसूचनार्थमेवेति ऋजवः । वयं तु यदा  
 एकस्मिन्नेवाहनि प्रयाणं नगरप्रवेशश्च सम्भवेत्तदा प्रावेशिक एव मुहूर्तो  
 विचार्य इत्युक्तम् । यदाह गर्गः—“प्रवेशनिर्गमौ स्यातामेकस्मिन्नेव वा-  
 सरे । तदा प्रावेशिकं चिन्त्यं बुधैर्नैव तु यात्रिकम् ॥ ” इति । भृगुरपि—

“एकस्मिन्नपि दिवसे यदि चेद्गमनं प्रवेशश्च ।

यच्छुक्रवारशूलं न चिन्तयेद्योगिनीपूर्वम् ॥” इति ।

तत्र यथा प्रतिशुक्रभद्रादिको दोषो नास्ति तथेह दक्षिणदेशगमने पञ्चकदोषोपि नास्ति । तादृशेपि गमने पूर्वाभाद्रपदानिषेधो यथा स्यादित्यजपाद्ग्रहणं कृतमिति ब्रूमः । एतच्च ‘योगात्सिद्धिर्धरणिपती-  
नाम्’ इत्यत्र ‘कुलमषांस्तिलतण्डुलान्’ इत्यत्रापि च सम्यक्विचारयि-  
ष्यत इत्यलं पल्लवितेन ॥ १० ॥

अथ भ्रुवादिनक्षत्रैः पूर्वाह्णादिकालविशेषे कालशले यात्रानिषेधं  
शादूलविक्रीडितेनाह—

पूर्वाह्णे भ्रुवमिश्रभैर्न नृपतेर्यात्रा न मध्याह्नके  
तीक्ष्णाख्यैरपराह्नके न लघुभैर्नो पूर्वरात्रे तथा ।  
मिश्राख्यैर्न च मध्यरात्रिसमये चोग्रैस्तथा नो चरै  
राज्यन्ते हरिहस्तपुष्यशशिभिः स्यात्सर्वकाले शुभा ॥ ११ ॥

पूर्वाह्णे इति । नृपतेरिति सर्वत्र सम्बध्यते । भ्रुवाख्यैर्मिश्राख्यैश्च भैर्न-  
क्षत्रैः पूर्वाह्णे यात्रा न स्यात् । तीक्ष्णाख्यैर्मैर्मध्याह्नके यात्रा न स्यात् ।  
मध्याह्नक इति स्वार्थे कः । अपराह्नके लघुभैर्यात्रा न स्यात् । त-  
था पूर्वरात्रे मैत्राख्यैर्यात्रा न स्यात् । मध्यरात्रिसमये उग्रनक्षत्रैर्या-  
त्रा न स्यात् । तथा राज्यन्ते रात्रितृतीयभागे चरनक्षत्रैर्यात्रा  
न स्यात् ।

अत्र विशेषः ।

हरिहस्तपुष्यशशिभिः श्रवणहस्तपुष्यमृगैः । सर्वकाले षष्टिघटिका-  
त्मकेऽहोरात्ररूपे यस्मिन्कारिर्मश्रित्काले शुभा स्यात् । यदाह वसिष्ठः—

“स्थिरसाधारणधिष्ण्यैः पूर्वाह्णे नैव गमनं सत् ।

गमनं न दारुणदौर्दिनदलसमये न कार्यमशुभं स्यात् ॥

क्षिप्रैर्नापरवासरसमये मृदुभिर्न रात्रिमुखे ।

उग्रदौर्निशिसमये चरधिष्ण्यैरुषसि न श्रेष्ठम् ॥”



निशिसमये अर्द्धरात्रे । तथाचाह श्रीपतिः—

“पूर्वाह्ने ध्रुवमिश्रमैर्न गमनं तीक्ष्णैर्न मध्यन्दिने .

श्रेष्ठे नापरवासरे च लघुभिर्मैत्रैर्न रात्रेर्मुखे ।

उग्राख्यैर्न च मध्यरात्रिसमये नेष्टं निशान्ते करैः

सर्वेष्वेव करैर्नद्वेज्यहरिभिः कालेषु यात्रा शुभा ॥” इति ।

अत्र दिनस्य रात्रेश्च त्रेधा विभागं कृत्वा पूर्वाह्णादिव्यवहारः प्रसिद्धः । तदेतदुक्तं स्पष्टं महेश्वरेण—

“आद्येहस्त्रिलवे ध्रुवर्दसहितैर्मिश्रैर्न यात्रा शुभा

नो तीक्ष्णैरपरांशके न लघुभैरहस्त्रिभागेन्तिमे ।

ज्यंशे त्वादिमके निशो न मृगमैरुग्रैर्न मध्यंशके

नान्त्यांशे चरमैः करश्रुतिमृगेज्यर्क्षैः शुभा सर्वदा ॥” इति ।

ननु प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रातिषेधस्येतिन्यायात् ध्रुवर्द्धेषु यात्राप्राप्तिरेव नास्ति किं पुनःपूर्वाह्णादिकालविशेषनिषेधेनेति चेत्, उक्तोत्र समाधिः । ननु प्राक्पद्ये ‘तिस्रोत्तरा’ इत्यादिना ध्रुवादीनां मध्यमत्वमुक्तीकृत्य समाहितम् । मिश्रादीनां तु विशिष्यनिषेधात्कथं प्रागुक्तः समाधिरत्र संगच्छेतेति चेत्, सत्यम् । तुल्यन्यायत्वादावश्यकयात्रायां यथा भद्राव्यतीपातादिषु दुष्टेषु केवलां लग्नशुद्धिमाश्रित्यैव यात्रा राज्ञां प्रशस्ता तथा निषिद्धनक्षत्रेष्वपि । अस्मिन्नेवार्थे इदमेव वाक्यं ज्ञापकमिति वयं ब्रूमः । एवं सति कालविशेषनिषेधोपपत्तिरसङ्गता भवति । पूर्वरात्र इति । रात्रेः पूर्वः पूर्वरात्र इति “पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे” इत्येकदेशिसमासस्तत्पुरुषः । तत्र समासशास्त्रांतर्गतस्य प्रथमान्तपूर्वापरादिवाक्यस्थस्य पूर्वशब्दस्य “प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्” इत्युपसर्जनसंज्ञकत्वात् “उपसर्जनं पूर्वम्” इति पूर्वनिपातः । ततः “अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः” इत्युच्यते; समासान्तः । “यस्येति च” इतीकारलोपः । अमुमेवाशयं मनसि निधाय ‘उग्राख्यैर्न च मध्यरात्रसमय’ इत्यत्र कृतसमासान्तमध्यरात्रशब्दं पठन्ति केचित्, तच्चिन्त्यम् । यतो रात्रेर्मध्यं मध्यरात्र इति विगृह्यते । तदैकदेशिसमासविधायकसूत्रे मध्यशब्दस्याभावादेकदेशिसमासोऽनुपपन्नः । अत एव पूर्वनिपातोपि न । समासान्तस्य त्वनुन्मेष एव । तस्माद्रात्रिमध्यसमये इत्येव पाठ्यं स्यादिति कथमयं प्रयोगः । उच्यते । मध्या चासौ रात्रिश्च मध्यरात्र इति “वि-

शेषणं विशेष्येण बहुलम्” इति समानाधिकरणस्तत्पुरुषः । ‘पुंव-  
त्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु’ इति । पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । पूर्वोदिक-  
पश्चिमं नभ इत्यादिवदेकदेशपर्यवसानम् । अर्द्धरात्र इत्यर्थः । स-  
मासांतस्त्वत्र नैव भवति । ‘अहः सर्वैकदेश’ इत्यत्र ‘कृत्रिमाकृत्रिम-  
योः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्यय’ इति न्यायादेकदेशिशब्देन पूर्वापरादिसू-  
त्रस्थः प्रतिपदोक्त एकदेशिसमासो गृह्यते । अत एव च समासा-  
न्तविधानादिति घण्टापथकारादयः । ये त्वेवंविधेष्वपि समासेष्वेक-  
देशीसमासमाश्रित्य समासान्तमाहुः—ते समासविधायकसूत्राभावा-  
त्समासान्तविषयन्यायविरुद्धत्वाच्च चिन्त्योक्तयो ध्येयाः । अतः ‘उग्रा-  
ख्यैर्न च मध्यरात्रिसमये’ इति श्रीपतिवाक्येपि मध्यरात्रिरितीकरांतः  
पाठः पाठ्यः एवं मूलेपीत्यलमतिविस्तरेण ॥११॥

अथ तत्रापि कालविशेषे मध्यमानां निषिद्धानां च कियतां भानां व-  
र्ज्यघटिका इन्द्रवज्राच्छन्दसाह—

पूर्वाग्निपित्र्यन्तकतारकाणां

भूपप्रकृत्युग्रतुरङ्गमाः स्युः ।

स्वातीविशाखेन्द्रमुजङ्गमानां

नाड्यो निषिद्धा मनुसंमिताश्च ॥१२॥

पूर्वेति । पूर्वात्रये प्रथमातिक्रमे कारणाभावादादिमाः षोडश नाड्यो  
निषिद्धाः । एवमग्नेः कृत्तिकाया एकविंशतिघटिकाः पितृस्य मघाया  
एकादश घटिकाः । अन्तकस्य भरण्याः सप्त घटिकास्त्याज्या इत्य-  
र्थः । स्वातिविशाखाज्येष्ठाश्लेषाणां चतसृणां तारकाणां च चतुर्दश  
घटिकास्त्याज्याः । यदाह भरद्वाजः—

“भरण्यां सप्त घटिका वह्निमे चैकविंशतिः ।

एकादशघटीः पितृये त्रिपूर्वासु च षोडश ॥

स्वातीसार्पविशाखासु ज्येष्ठायां च चतुर्दश ।

वर्जयेच्छेषघटिका यातुः शुभफलप्रदाः ॥” इति ।

एतदप्यावश्यकगमनविषयम् । तथा च तेनैवोक्तम्—

“निषिद्धेष्वपि ऋतेषु त्यक्त्वा दुष्टघटीः क्रमात् ।



तदन्या घटिका ग्राह्या आवश्यकगमने सति ॥” इति ।

अपिशब्दान्मध्यमेषु ऋक्षेषु ॥ १२ ॥

अथ मतांतरेण वर्ज्यघटीत्वमिन्द्रवज्रयाह—

पूर्वार्द्धमाग्नेयमघानिलानां  
त्यजेद्धि चित्राहियमोत्तरार्द्धम् ।

नृपः समस्तां गमने जयार्थी  
स्वार्ती मघां चोशनसो मतेन ॥ १३ ॥

पूर्वार्द्धमिति । स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । यदाह बृहद्योगयात्रायां वराहः—  
“विवर्जयेत्त्राष्ट्रयमोरगाणामर्द्धं द्वितीयं गमने जयेत्सुः ।

पूर्वार्द्धमाग्नेयमघानिलानां स्वार्ती मघां चोशनसः समस्ताम् ॥” इति  
उशनसो मतेनेति शेषः ॥ १३ ॥

अथ भानां जीवपक्षादिकाः संज्ञा भुजङ्गप्रयातेनाह—

तमोभुक्तताराः स्मृता विश्वसंख्याः

शुभो जीवपक्षो मृतश्चापि भोग्याः ।

तदाक्रान्तभं कर्तरीसञ्ज्ञमुक्तं

ततोऽक्षेन्दुसङ्ख्यं भवेद्ग्रस्तनामः ॥ १४ ॥

तमोभुक्ततारा इति । तमो राहुनामा ग्रहो विपरीतगतिरस्ति । आ-  
गमप्रामाण्यात् । तेन भुक्ताः तमोभुक्ताः एवंविधा विश्वसंख्यास्त्रयोदशसं-  
ख्यास्तारा नक्षत्राणि जीवपक्षो जीवपक्षसंज्ञानि शुभः शुभकार्यकराणि ।  
भोग्याः राहुणाक्रान्तनक्षत्राद्भोग्यानि भोक्तुं योग्यानि गम्यानि त्रयोदश  
नक्षत्राणि मृतो मृतपक्षसंज्ञानि । तदाक्रान्तभं तेन राहुणाक्रान्तभं कर्तरी  
इत्येवं नामकम् । ततो राहुणाक्रान्तनक्षत्रादक्षेन्दुसंख्यं पंचदशसंख्याकं भं  
ग्रस्तनामकं स्यात् । यथा—राहुर्हस्तेस्ति तेन भुक्तानि चित्रास्वार्ती-  
विशाखानुराधाज्येष्ठा मूलपूर्वाषाढोत्तराषाढाभिजिच्छ्रवणधनिष्ठाशतता-  
रकापूर्वाभाद्रपदाख्यानि भानि जीवपक्षः । तदा क्रांतभात् हस्तात्पंचद-

शमुत्तराभाद्रपदाभं ग्रस्तभं ग्रस्तसंज्ञम् । तेन राहुणा भोग्यानि उत्तरा-  
फाल्गुनीमघाश्लेषापुष्यपुनर्वस्वाद्राभृगरोहिणीकृत्तिकाभरण्यश्विनीरेव-  
त्याख्यानि मृतपक्षः । हस्तस्तु कर्त्तरीसंज्ञमिति । यदाह वसिष्ठः—

“राहुस्थिरर्क्षं तस्यास्यं पुच्छं पञ्चदशं ततः ।  
तदेव केतुर्विज्ञेयः सदा राहुः प्रतीपगः ॥  
त्रयोदश च देयानि धिष्यान्नुभयपार्श्वयोः ।  
मुखभागो मृतेः पक्षो जीवपक्षस्तु पृष्ठगः ॥” इति ।

स्वरोदयेपि—

“राहुभुक्तानि ऋक्षाणि जीवपक्षस्त्रयोदश ।  
त्रयोदशैव भोग्यानि मृतपक्षः प्रकीर्तितः ॥  
यत्र ऋक्षे स्थितो राहुर्वदनं तद्विनिर्दिशेत् ।  
मुखपञ्चदशे ऋक्षे तस्य पुच्छं व्यवस्थितम् ॥” इति ।

अन्यकृता कर्त्तरीग्रस्तसंज्ञा समरसारोक्तत्वात्कृता स्वरोदये षडङ्ग-  
राह्यभिधाने च कृताः । अत्र जीवपक्षमृतपक्षयोरन्वर्थसंज्ञाविज्ञानाज्जीव-  
पक्षे यात्रा कार्या । मृतपक्षे यात्रा न कार्येति व्यंग्योऽर्थः । कर्त्तरी-  
ग्रस्तयोस्तु फलं स्वयमेव वक्ष्यति—‘ग्रस्तर्क्षं मृतपक्षतः शुभकरं ग्र-  
स्तात्तथा कर्त्तरी’ इत्यादिना ॥ १४ ॥

अथ जीवपक्षादीनां विशेषफलं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

मार्त्तण्डे मृतपक्षगे हिमकरश्चेज्जीवपक्षे शुभा  
यात्रा स्याद्विपरीतगे क्षयकरी द्वौ जीवपक्षे शुभा ।

ग्रस्तर्क्षं मृतपक्षतः शुभकरं ग्रस्तात्तथा कर्त्तरी

यायीन्दुः स्थितिमानूविर्जयकरौ तौ द्वौ तयोर्जीवगौ १५

मार्त्तण्ड इति । मृतपक्षे मार्त्तण्डे सूर्ये सति चन्द्रश्चेज्जीवपक्षे  
स्यात्तदा यात्रा शुभा स्यात् । विपरीतगे मार्त्तण्डे जीवपक्षगे सति  
चन्द्रश्चेन्मृतिपक्षगस्तदा क्रियमाणा यात्रा यातुः क्षयकरी स्यात् । उक्तं  
च स्वरोदये—

“जीवपक्षे क्षपानाथे मृतपक्षे रवौ तथा ।

तस्मिन्काले शुभा यात्रा विपरीता तु हानिदा ॥” इति ।



द्वौ सूर्याचन्द्रमसौ चेज्जीवपक्षे स्यातां तदा शुभा शुभतरेत्यर्थः ।  
अर्थात् द्वावपि सूर्याचन्द्रमसौ मृतपक्षे स्यातां तदा यात्रातिक्षयकरी  
स्यात् । एतदप्युक्तं तत्रैव—

“चन्द्रादित्यौ यदा ह्युक्तौ जीवपक्षे व्यवस्थितौ ।  
तत्र क्षेमं जयो लाभो यात्राकाले न संशयः ॥  
मृतपक्षे यथाकाले संस्थितौ चन्द्रभास्करो ।  
तदा हानिर्भयं भङ्गो मृत्युर्यात्राफलं मतम् ॥” इति ।

अस्यापवादमाह—

ग्रस्तमिति । मृतपक्षतः मृतपक्षसंज्ञकनक्षत्रगणनात् ग्रस्तक्षं राह्या-  
क्रान्तनक्षत्रात्पञ्चदशसंख्याकं भं शुभकरं स्यात् । यथा शवान्मरिष्यमाणो  
वेही प्रबलः तथा ग्रस्ताद् ग्रस्तनक्षत्रात्कर्तरी राह्याक्रान्तं भं शुभकरं  
स्यात् । तदुक्तं समरसारे—“प्रेताज्जग्धं किमपि तु वरं कर्तरीजग्धत-  
श्च” इति ।

स्थायियायिनोराज्ञोर्जयपराजयसन्धयः फलानि अर्थार्जनयुद्धयात्रयोः—

एवं सामान्यतः सर्वेषां यात्राफलविचारमभिधाय राज्ञां विशेष-  
माह—यायीति । द्विविधो राजा स्थायी यायी चेति । यो राजा स्व-  
देशे दुर्गं कृत्वा तिष्ठति स स्थायी । यो वैरिणमुद्दिश्य जिगमिषुः स  
यायी । तत्रेदुश्चन्द्रो यायिनो राज्ञः स्वामी, रविः स्थितिमान् स्थायिनो  
राज्ञः स्वामी । तौ द्वौ सूर्याचन्द्रमसौ जीवगौ जीवपक्षगतौ सन्तौ तयो  
राज्ञोः स्थायियायिनोर्जयकरौ सन्धिकरौ स्याताम् । रविश्चेज्जीवपक्षगः  
तदा स्थायिनो जयः । चन्द्रश्चेज्जीवपक्षगस्तदा यायिनो जयः । अर्थात्  
द्वावपि चेत् मृतपक्षगौ तदा पराजयकरौ स्याताम् । यदाह वसिष्ठः—

“जीवपक्षगयोः सूर्यचन्द्रयोः सन्धिमादिशेत् ।

उभौ पराजितौ ज्ञेयौ मृतपक्षगयोस्तयोः ॥” इति ।

अत्रापि मार्तण्डे ‘मृतपक्षग’ इत्यनुवर्तत एव । एवं सत्ययमर्थः ।  
मृतपक्षगे सूर्यचन्द्रश्चेज्जीवपक्षगस्तदा यायिनां राज्ञां शुभा यात्रा  
जयः स्यात्, स्थायिनां पराजयश्च । तदुक्तं वसिष्ठेन—

“रविः स्थायी शशी यायी तद्वशाच्च जयाजयौ ।

मृतपक्षगते भानौ जीवपक्षगते विधौ ॥

यायिनां विजयस्तत्र स्थायिनां च पराजयः ।” इति ।

विपरीतगो चन्द्रे मृतिपक्षगते सूर्यश्चेज्जीवपक्षगतस्तदा स्थायिनां राक्षां शुभा यात्रा जयः स्यात् । अर्थाद्यायिनां पराजयः । उक्तं च तेनैव—

“जीवपक्षगते सूर्ये मृतपक्षगते विधौ ।

स्थायिनां विजयस्तत्र यायिनां च पराजयः ॥” इति ।

यदा तु सूर्ये राह्वाक्रान्तनक्षत्रे चन्द्रोर्द्धेदुसंख्ये तदा यायिनां स्वल्पो जयो स्थायिनां नैव । यदा तु चन्द्रो राह्वाक्रान्तनक्षत्रे सूर्योऽर्द्धेदुसंख्ये तदा स्थायिनां स्वल्पो जयो यायिनां नैव । यदा द्वावपि राह्वाक्रान्तनक्षत्रे तदा द्वयोरपि पराजयः । यदा तु अर्द्धेदुसंख्यमस्थितौ द्वौ तदा द्वयोरपि सन्धिरित्यपि विशेषो ध्येयः । यदाह वसिष्ठः—

“चन्द्रे पुच्छे मुखे सूर्ये जयः स्वल्पोपि यायिनाम् ।

व्यत्यये व्यत्ययफलं युद्धेन्येवं विचिन्तयेत् ॥

यात्रायामपि सर्वत्र चिन्तनीयं प्रयत्नतः ।” इति ।

तस्मादयं त्रिचारो युद्धयात्रायामर्थार्जनादिसामान्ययात्रायां च ज्ञेयः सामान्यतो मङ्गलकृत्येष्वपि ज्ञेयः । उक्तं च स्वरोदये—

“जीवपक्षस्थिते चन्द्रे कार्यं स्यादमृतोपमम् ।

मृतपक्षे मृतं ज्ञेयं यतश्चन्द्रबले बलम् ॥” इति ।

अत्र स्वरोदयादियुद्धग्रन्थेषु षडंगराहुनक्षत्रचरणफलान्यभिहितानि ग्रन्थकर्त्रा ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोक्तानीति नास्माभिर्विविच्यन्ते शुश्रूषुभिश्च तत एवावधार्याणीत्यलं परलवितेन ॥ १५ ॥

अथ सफलमकुलकुलाकुलकुलचक्रं युद्धयात्रायां वसन्ततिलकशार्दूलविक्रीडिताभ्यामाह—

स्वात्यन्तकाहिवसुपौष्णकरानुराधा-

दित्यध्रुवाणि विषमास्तिथयोऽकुलाः स्युः ।

सूर्येन्दुमन्दगुरवश्च कुलाकुला ज्ञौ

मूलांबुपेशविधिभं दशषड्द्वितिथ्यः ॥ १६ ॥

पूर्वाश्वीज्यमघेन्दुकर्णदहनद्वीशेन्द्रचित्रास्तथा

शुक्रारौ कुलसञ्ज्ञकाश्च तिथयोर्काष्ठेन्द्रवेदैर्मिताः ।



यायी स्यादकुले जयी च समरे स्थायी च तद्वत्कुले  
सधिः स्यादुभयोः कुलाकुलगणे भूमीशयोर्युध्यतोः ॥१७॥

स्वात्यन्तेति । स्वाती प्रसिद्धा, अन्तकं भरणी, अहिराश्ले-  
षा, वसुधनिष्ठा, पौष्णं रेवती, करो हस्तः; आदित्यं पुनर्वसुः;  
ध्रुवाणि रोहिण्युत्तराश्रयं च, एतानि द्वादश भानि विषमास्तिथयः प्रति-  
पत्तृतीयापञ्चमीसप्तमीनवम्येकादशीत्रयोदशीपञ्चदश्य इत्यष्टौ तिथयः;  
वाराः सूर्येन्दुमन्दगुरवः, मन्दः शनिः, चत्वारो वाराः एतानि नक्षत्राणि  
तिथयो वाराश्च प्रत्येकमकुलसंज्ञकाः स्युः । शो बुधवार एकः, मूलं  
प्रसिद्धम्, अम्बुपं शततारका, ईश आर्द्रा, विधिभमभिजित् एतानि  
चत्वारि भानि दशषड्विंशतिथयः दशमीषष्ठीद्वितीयास्तिस्त्रिंशतिथयश्च ।  
एते पदार्थाः प्रत्येकं कुलाकुलसंज्ञकाः स्युः ।

पूर्वाशीति । पूर्वास्तिस्त्रः, अश्विनौ अश्वीनी, इज्यः पुष्यः, मघा-  
इन्दुर्मृगः, कर्णः श्रवणः, दहनः कृत्तिका, द्वीशं विशाखा, इंद्रो ज्येष्ठा,  
चित्रा प्रसिद्धा, एतानि द्वादश भानि शुक्रारौ शुक्रमंगलवारौ अर्काष्टि-  
द्रवेदैर्मिताः द्वादश्यष्टमीचतुर्दशीचतुर्थीसंज्ञाश्चतस्रस्तिथय एते प्रत्येकं  
कुलसंज्ञकाः स्युः ।

अकुलकुलाकुलादियोगेषु यात्रायां फलानि—

तदुक्तं स्वरोदये—

“द्वितीया दशमी षष्ठी कुलाकुलमुदाहृताः ।  
विषमा अकुला सर्वाः शषाश्च तिथयः कुलाः ॥  
रविश्चंद्रो गुरुः सौरिश्चत्वारो ह्यकुला मताः ।  
भौमशुक्रौ कुलाख्यौ च बुधवारः कुलाकुलः ॥  
वारुणाद्राभिजिन्मूलं कुलाकुलमुदोरितम् ।  
कुलानि मासधिष्ययानि शेषमान्यकुलानि तु ॥”

अस्य फलमाह—यायीति । अकुलसंज्ञके तिथिवारनक्षत्राणां ग-  
णे समरे युद्धप्रारंभे सति यायी राजा जयी स्यात् । यदि कुलसंज्ञके  
तिथिनक्षत्रवारगणे सति समरे स्थायी राजा तद्वज्जयी जययुक्तः स्यात् ।  
कुलाकुलसंज्ञके तिथिवारनक्षत्रगणे युद्धयोर्युद्धं कुर्वतोर्भूमीशयो राज्ञो-  
रुभयोः परस्परं संधिः प्रीतिः स्यात् । उक्तं च स्वरोदये—

“तिथौ वारे च नक्षत्रे अकुले यायिनो जयः ।

कुलाख्ये स्थायिनो ज्ञेयः संधिश्चैव कुलाकुले ॥” इति ।

वसिष्ठेन तु फलांतरमप्युक्तम्—

“कुलभेषु च ये जातास्ते मनुजा भवन्ति कुलमुख्याः ।

उपकुलभे परविभवं भोक्तारस्त्वन्यभेषु सामान्याः ॥” इति ।

एतत्तुल्यन्यायत्वाद्द्वारेषु तिथिष्वपि ध्येयम् ॥ १७ ॥

अथ पथिराहुचक्रं स्रग्धरयाह—

स्युर्धर्मे दस्रपुष्योरगवसुजलपद्मीशमैत्राण्यथार्थे

याम्याजाङ्घ्रीन्द्रकर्णादितिपितृपवनोडून्यथो भानि कामे ।

बह्वयाद्राबुध्न्यचित्रानिर्ऋतिविधिभगाख्यानि मोक्षेथ रोहि-

ण्यार्यम्णाप्येन्दुविश्वान्तिमभदिनकरर्क्षाणि पथ्यादिराहौ

स्युरिति । अश्विनीपुष्याश्लेषाधनिष्ठाशतारकाविशाखानुराधाख्यानि

भानि धर्मे धर्मस्थाने लेख्यानि स्युः । अथ भरणीपूर्वाभाद्रपदाज्येष्ठाश्रवण-

पुनर्वसुमघास्वात्याख्यान्युडूनि अर्थे लेख्यानि स्युः । अथ कृत्तिकाद्रौत्तर-

भाद्रपदाचित्रामूलाभिजित्पूर्वाफलगुनीनक्षत्राणि कामे लेख्यानि स्युः ।

अथ रोहिण्युत्तराफलगुनीपूर्वाषाढामृगोत्तराषाढारेवतीहस्ताख्यानि भा-

नि मोक्षमार्गे लेख्यानि स्युः । पथिशब्द आदिर्यस्य स तादृशे राहौ

पथिराहावित्यर्थः । चक्रे इति शिशोष्यमन्याहायम् ।

चक्रन्यासो यथा । तदुक्तं राजविजये—

“ऊर्ध्वगाः पञ्च रेखाः स्युस्तिर्यग्रेखास्तथा नव ।

द्वात्रिंशत्कोष्ठकैश्चक्रं पथिराहुः प्रकीर्तितः ॥

धर्मार्थकाममोक्षाः स्युरुर्ध्वकोष्ठचतुष्टये ।

विन्यसेत्सर्पचलनादश्विन्यादीनि भान्यथ ॥” इति ।

सर्पचलनवदनुलोमविलोमाभ्यां भानि लेख्यानीत्यर्थः ।

तदेतत्स्पष्टमुक्तमादियामले—

“अश्विन्यादीनि चत्वारि गणयेत्सप्तधा पुनः ।

अनुलोमविलोमाभ्यां साभिजिन्ति पुनःपुनः ॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्या मार्गाश्चत्वार एव च ॥” इति ।

अत्र ग्रन्थकृत्यद्ये गौरवदर्शनात्पूर्वपक्षो जायते । तदुपपत्तिस्तत्स-



माधिश्च 'अन्धाक्षं वसुपुत्र्य' इत्यादिपद्यव्याख्याने तिष्ठति । सा तत एवावधार्या । अत एवोक्तमादियामले—

“तिष्याश्वाहिविशाखाश्च मैत्रं शतभिषग्वसुः ।  
 एतानि सप्तऋक्षाणि धर्ममार्गे नियोजयेत् ॥  
 अजपादमघास्वाती याम्यज्येष्ठाः पुनर्वसुः ।  
 श्रवणं सप्त ताराश्च धनमार्गे प्रकीर्तिताः ॥  
 अहिर्बुध्न्याभिजिन्मूलभगत्वाष्ट्रद्रुहिर्दक्षिणाः ।  
 एतावत्यः सप्त ताराः काममार्गे व्यवस्थिताः ॥  
 विधीन्दुविश्वहस्ताश्च उत्तरावारिपौष्णकाः ।  
 सप्तसंव्याकऋक्षाणि मुक्तिमार्गे व्यवस्थिताः ॥” इति ।  
 विधिः रोहिणी ॥ १८ ॥

### पथिराहुचक्रम् ।

|       |     |     |     |       |       |      |     |
|-------|-----|-----|-----|-------|-------|------|-----|
| मोक्ष | रो. | मृ. | उ.  | ह.    | पू.   | उ.   | रे. |
| काम   | कृ. | आ.  | पू. | चि.   | मू.   | अ.   | उ.  |
| अर्थ  | भ.  | पु. | म.  | स्वा. | ज्ये. | श्र. | पू. |
| धर्म  | अ.  | पु. | आ.  | वि.   | अनु.  | ध.   | श.  |

अथैवं पथिराहुचक्रमुक्त्वा तत्फलं सवित्रीणीछन्दसाह—

धर्मगे भास्करे वित्तमोक्षे शशी

वित्तगे धर्ममोक्षस्थितिः शस्यते ।

कामगे धर्ममोक्षार्थगः शोभनो

मोक्षगे केवलं धर्मगः प्रोच्यते ॥ १९ ॥

धर्मग इति । धर्ममार्गस्थिते भास्करे सूर्ये सति चेद्वित्तमोक्षगे अर्थ-  
 मार्गे मोक्षमार्गे वा शशी स्यात्तदा शोभनश्चन्द्रः । अथवा वित्तगे अर्थगे  
 भास्करे सति धर्ममार्गस्थितो मोक्षमार्गस्थितो वा चेच्छशी स्यात्तदा  
 शोभनः । अथवा कामगे काममार्गस्थिते भास्करे धर्ममार्गगे मोक्षमार्गगे  
 वा स्याच्चेच्छशी तदापि शुभः । अथवा मोक्षमार्गस्थिते भास्करे केवलं

धर्ममार्गस्थितश्चन्द्रः स्यात्तदापि शुभः । अर्थात् विपरीतावस्थितौ  
द्वयोः सूर्याचन्द्रमसोरशुभत्वं स्यात् । उक्तं चादियामले—

“सूर्ये धर्मगते चन्द्रो धने मोक्षे शुभप्रदः ।  
सूर्ये धनगते वित्तमोक्षमार्गे शुभः शशी ॥  
कामेर्के धर्ममोक्षार्थे संस्थश्चन्द्रो जयप्रदः ।  
मोक्षेऽर्के धर्मगश्चन्द्रः शुभोन्यत्र न शोभनः ॥” इति

राजविजये तु शुभाशुभाख्यफलद्वयमप्यभिहितम्—

“धर्ममार्गगते सूर्ये चन्द्रे तत्रैव संस्थिते ।  
समं युद्धं भवेत्तत्र किञ्चिद्यायी जयी भवेत् ॥  
धर्मे सूर्योऽर्थगश्चन्द्रो यायिनो विजयप्रदौ ।  
धर्मेऽर्कः कामगश्चन्द्रो विरोधो बांधवैः सह ॥  
धर्मेर्को मोक्षगश्चन्द्रः शुभयोगेन लाभकृत् ।  
अर्थेर्को धर्मगश्चन्द्रः शुभयुक्तश्च लाभकृत् ॥  
अर्थस्थौ चन्द्रसूर्यौ च यायिनां भङ्गदायकौ ।  
अथर्कः कामगश्चन्द्रो निन्द्यौ यात्रासु कर्मसु ॥  
अर्थेर्को मोक्षगश्चन्द्रः शुभयुग्भूमिलाभकृत् ।  
कामेर्को धर्मगश्चन्द्रः शुभयुग्ललाभकृत् ॥  
कामेर्कोऽर्थगतश्चन्द्रो बुधो जीवगतो यदि ।  
श्रीलाभदौ समाख्यातौ भृगुणाथ समन्वितौ ॥  
चन्द्रार्को कामगौ यत्र रिपुयोगादिदुःखदौ ।  
कामेर्को मोक्षगश्चन्द्रः शुभयुक्तोऽर्थलाभकृत् ॥  
मोक्षेर्कश्चन्द्रमा धर्मे महालाभः शुभान्वितः ।  
मोक्षे सूर्योऽर्थगश्चन्द्रस्तथा यात्रा न निष्फला ॥  
मोक्षेऽर्के कामगश्चन्द्रो यात्रा दुःखप्रदा भवेत् ।  
चन्द्रार्को मोक्षमार्गस्थौ घोरविघ्नप्रदायकौ ॥  
यात्रादिसर्वकार्येषु चक्रमेतद्विलोकयेत् ।  
पथिराङ्कुरिति ज्ञेयः शुभाशुभफलप्रदः ॥” इति ।

अत एवास्य निष्कृष्टमर्थमाहुरस्मत्पितामहानन्तचरणाः—

“धर्मेर्को वित्तमोक्षेज्जो वित्तस्थे धर्ममोक्षगः ।  
कामो धर्मार्थमोक्षेषु मोक्षे धर्मगतः शुभः ॥”  
इति सफलं पथिराङ्कचक्रम् ॥ १६ ॥



अथावश्यकर्तव्यायां यात्रायां तिथौ दुष्टायां तिथिचक्रं शालिनीवृ-  
त्तचतुष्टयेनाह—

पौषे पक्षत्यादिका द्वादशैवं  
तिथ्यो माघादौ द्वितीयादिकास्ताः ।  
कामात्तिस्रः स्युस्तृतीयादिवच  
याने प्राच्यादौ फलं तत्र वक्ष्ये ॥ २० ॥  
सौख्यं क्लेशो भीतिरर्थागमश्च  
शून्यं नैःस्वं निःस्वता मिश्रता च ।  
द्रव्यक्लेशो दुःखमिष्टासिरर्थो  
लाभः सौख्यं मङ्गलं वित्तलाभः ॥ २१ ॥  
लाभो द्रव्यासिर्धनं सौख्यमुक्तं  
भीतिर्लाभो मृत्युरर्थागमश्च ।  
लाभः कष्टद्रव्यलाभौ सुखं च  
कष्टं सौख्यं क्लेशलाभौ सुखं च ॥ २२ ॥  
सौख्यं लाभः कार्यसिद्धिश्च कष्टं  
क्लेशः कष्टात्सिद्धिरर्थो धनं च ।  
मृत्युर्लाभो द्रव्यलाभश्च शून्यं  
शून्यं सौख्यं मृत्युरत्यन्तकष्टम् ॥ २३ ॥

पौषे इत्यादि। अत्र पौषमासादितः प्रतिमासं द्वादश द्वादश कोष्ठका ले-  
ख्याः। एवं कृते चतुश्चत्वारिंशदधिकशतं कोष्ठका जायन्ते। मासकोष्ठक-  
सहिताः षट्पञ्चाशदधिकशतं कोष्ठकाः स्युरित्यर्थः। एवं चक्राकृतिर्भवति  
तत्र पक्षस्य ( शुक्लस्य कृष्णस्य वा ) मूलं प्रारम्भः प्रतिपदिति यावत् ।  
“पक्षात्तिः ” इति मूलैर्धे तिप्रत्ययः। प्रथमं पौषे पौषमासे पक्षतिः प्रति-  
पत् तदादिका द्वादश तिथयोऽधोधो लेख्याः । माघादौ माघा-  
दिमासेषु द्वितीयादिकास्तिथयो लेख्याः। यथा माघे द्वितीयादिकाः,  
फाल्गुने तृतीयादिकाः, चैत्रे चतुर्थ्यादिकाः वैशाखे पञ्चम्यादिकाः,

ज्येष्ठे षष्ठ्यादिकाः आषाढे सप्तम्यादिकाः, श्रावणेऽष्टम्यादिकाः, भाद्र-  
पदे नवम्यादिकाः, आश्विने दशम्यादिकाः, कार्तिके एकादश्यादिकाः,  
मार्गशीर्षे द्वादश्यादिकाः लेख्याः सर्वास्तिथयो द्वादश्यन्ता लेख्याः ।  
कामात्तिष्ठः स्युरिति विशेषोक्तेस्तयोदश्याद्यग्रहणादवशिष्टस्थानानि प्रति-  
पदादिभिः पूरणीयानि तत्र त्रयोदशीचतुर्दशीपञ्चदश्यस्तिथयोवशिष्यन्ते  
तासां विभागमाह—कामात्तिष्ठ इति । कामात्रयोदशीतस्तिष्ठस्तयोद-  
शीचतुर्दशीपञ्चदश्यस्तृतीयादितिथिवत्स्युः । यथा त्रयोदशी तृतीयावत्  
चतुर्दशी चतुर्थीवत्, पञ्चदशी पञ्चमीवत्स्युरित्यर्थः । फलार्थमतिदेशो-  
यम् तिथिचक्रन्यासो यथा—तत्र प्राच्यादौ प्राचीदक्षिणाप्रतीच्युदीचीषु  
चतसृषु दिक्षु याने गमने चिकीर्षिते सति फलं शुभाशुभरूपं 'सौख्यं  
क्लेशं' इत्यादिना वृत्तत्रयेण वक्ष्ये कथयिष्यामि ।

तत्र सौख्यं क्लेश इत्यादि वृत्तत्रयं स्पष्टार्थमेव । तत्र पौषमासे प्रति-  
पदि दिक्चतुष्टये सौख्यं क्लेशो भीतिरर्थागमश्चेतिफलचतुष्टयं क्रमेण  
वेद्यम् । एवं द्वितीयादिष्वपि क्रमेण दिक्चतुष्टये श्लोकतुर्यांशोक्तं फलं  
स्यात् । तदेतत्सर्वं माघादिमासेषु द्वितीयादितिथिषु ध्येयमित्यर्थः २०-२३

अथ तिथिचक्रम्—

| पौ. | मा. | फा. | चै. | वै. | ज्ये. | आ. | श्रा. | भा. | आ. | का. | मा. | पूर्व      | दक्षि०     | पश्चिम     | उत्तरा |
|-----|-----|-----|-----|-----|-------|----|-------|-----|----|-----|-----|------------|------------|------------|--------|
| १   | २   | ३   | ४   | ५   | ६     | ७  | ८     | ९   | १० | ११  | १२  | सौख्यम्    | क्लेशः     | भीति       | अर्था. |
| २   | ३   | ४   | ५   | ६   | ७     | ८  | ९     | १०  | ११ | १२  | १   | शून्यम्    | नैऋत्यं    | नैऋत्यं    | मिथ.   |
| ३   | ४   | ५   | ६   | ७   | ८     | ९  | १०    | ११  | १२ | १   | २   | द्र. क्ले. | दुःख       | द्र. प्रा. | अर्थः  |
| ४   | ५   | ६   | ७   | ८   | ९     | १० | ११    | १२  | १  | २   | ३   | लाभः       | सौख्यं     | मङ्गलं     | वित्तल |
| ५   | ६   | ७   | ८   | ९   | १०    | ११ | १२    | १   | २  | ३   | ४   | लाभः       | द्र. प्रा. | धनप्रा.    | सौख्यं |
| ६   | ७   | ८   | ९   | १०  | ११    | १२ | १     | २   | ३  | ४   | ५   | भीतिः      | लाभः       | मृत्युः    | अर्था  |
| ७   | ८   | ९   | १०  | ११  | १२    | १  | २     | ३   | ४  | ५   | ६   | लाभः       | कष्टं      | द्र. ला.   | सुखं   |
| ८   | ९   | १०  | ११  | १२  | १     | २  | ३     | ४   | ५  | ६   | ७   | कष्टं      | सौख्यं     | क्लेशः     | सुखं   |
| ९   | १०  | ११  | १२  | १   | २     | ३  | ४     | ५   | ६  | ७   | ८   | सौख्यं     | लाभः       | कष्टात्सि  | कष्टं  |
| १०  | ११  | १२  | १   | २   | ३     | ४  | ५     | ६   | ७  | ८   | ९   | क्लेशः     | कष्टा.     | अर्थः      | धनम्   |
| ११  | १२  | १   | २   | ३   | ४     | ५  | ६     | ७   | ८  | ९   | १०  | मृत्युः    | लाभः       | द्र. ला.   | शून्यं |
| १२  | १   | २   | ३   | ४   | ५     | ६  | ७     | ८   | ९  | १०  | ११  | शून्यम्    | सौख्यं     | मृत्युः    | अत्यं  |



अथ सर्वांकज्ञानं वसन्ततिलकयाह—

तिथ्यृक्षवारयुतिरद्विगजाग्नितष्टा

स्थानत्रयेऽत्र वियति प्रथमेऽतिदुःखी ।

मध्ये धनक्षतिरथो चरमे मृतिः स्यात्

स्थानत्रयेऽङ्गयुजि सौख्यजयौ निरुक्तौ ॥२४॥

तिथ्यृक्षवारेति । तिथयोऽत्र शुक्लपक्षादितो ग्राह्याः । तत्र तिथि-  
नक्षत्रवाराणां युतिः स्थानत्रये स्थाप्या । क्रमेण सप्तभिरष्टभिस्त्रिभिश्च  
तष्टा भक्तावशिष्टा सती प्रथमस्थाने वियति शून्ये सति अतिदुःखी  
यात्राकर्ता स्यात् । मध्ये द्वितीयस्थाने वियति सति धनक्षतिर्द्रव्यनाशः ।  
अथो चरमे तृतीयस्थाने वियति सति मृत्युर्मरणं स्यात् । स्थानत्रये-  
कयुज्यंकयुते सौख्यजयौ भवेताम् । उक्तं च दैवज्ञमनोहरे चण्डेश्वरेण-

“तिथिं वारं च नक्षत्रं संयुक्तं स्थापयेन्निधा ।

द्वाभ्यां रामैस्तथा वेदैर्गुणयित्वाथ तद्बुधैः ॥

भाजितं चाष्टमुनिभिस्तथा द्विगुणपावकैः ।

आदिशून्ये भवेत्पीडा मध्यशून्ये महद्भयम् ॥

अन्तशून्ये भवेद्भानिः सर्वशून्ये न जीवति ।

सर्वाङ्के विजयो राज्ञो धनलाभो रिपोर्वधः ॥” इति ।

द्विगुणपावकाः षट् । ननु ग्रन्थकर्त्रा स्थानत्रये शून्ययुजि फला-  
भिधानं कस्माद्भाकारीति चेत्, सत्यम् । असम्भवादेव नोक्तमिति  
वयं ब्रूमः । अनेकधा हि तिथिवारनक्षत्रयुतौ कल्पितायां यथाकथंचि-  
त्स्थानद्वये शून्ययोगो भवति न कदाचित्स्थानत्रय इति चण्डेश्वरस्य-  
क आशय इति चेत्, सत्यम् । यद्यपि सर्वशब्दो वस्तुगतं बहुत्वं प्राह ।  
तथाप्यत्रासम्भवादेकत्वव्यतिरिक्तसंख्यापरः । तथा सति स्थानद्वये  
शून्ययुजि मृत्युरित्यर्थः । अत्र सर्वाङ्कध्रुवाङ्के यात्राकर्तुर्नक्षत्रं योज्य-  
मित्याहुः ॥ २४ ॥

अथ दाक्षिणात्यप्रसिद्धान् कियतो दोषान् वक्तुकामस्तावन्महाडल-  
भ्रमणाख्यौ दोषौ प्रमाणिकाच्छब्दसाह—

रवेर्भतोऽब्जभोन्मितिर्नगावशेषिता द्वयगा ।

महाडलो न शस्यते त्रिषष्टिमता भ्रमो भवेत् ॥ २५ ॥

रथेरिति । सूर्यनक्षत्रादब्जभस्य चन्द्रनक्षत्रस्योन्मितिर्गणना कार्या । सा नगैः सप्तभिरवशेषिता सती द्वयगा द्विशेषमिता सप्तशेषमिता वा भवेत्तदा महाडलो दोषः स्यात् । स न शस्यते प्रशस्तो न भवेत् । प्रागुक्त प्रकारेण यदि त्रिषष्टिमता त्रिशेषमिता षट्शेषमिता वा स्यात्तदा भ्रमणाख्यो दोषः स्यात् । सोऽपि न शस्यते । एतन्निर्मूलम्, ऋषिवाक्याभावात् । तथापि पौरुषवाक्यमेतत्—

“सूर्यभोद्वरणेच्छादं सप्तभिर्भागमोहरेत् ।

एवं पञ्च च चत्वारि आडलो याति निश्चयात् ॥

त्रिषट्के भ्रमणं शेषे द्वौ सप्त स्यान्महाडलः ।” इति ।

तत्र भ्रमणाख्यं दोषं तु यात्रायामेव त्यजन्ति । आडलो बहूनि शुभकर्माणि त्यजन्ति । आहुश्च—

“यात्रायां च हलप्रवाहसमरे चौयै च सन्धौ तथा

कूपारामतडागवन्धनविधौ पापद्धिदुर्गप्रहे ।

अश्वेभोद्धरथादिरोहणकृतौ त्याज्यं सदैवाडलं

यत्नादत्र शुभेषु मङ्गलविधौ दोषो न तस्य क्वचित् ॥” इति ॥ २५ ॥

अथ हिंवराख्यं योगमुपजातिकयाह—

शशाङ्कभं सूर्यभतोऽत्र गण्यं

पक्षादितिथ्या दिनवासरेण ।

युतं नवाप्तं नगशेषकं चेत्

(१) स्याद्धिंवरं तद्रमनेतिशस्तम् ॥ २६ ॥

शशाङ्कभमिति । सूर्यनक्षत्राच्चन्द्रनक्षत्रं गण्यं पक्षादितिथ्या पक्षस्य शुक्लस्य कृष्णस्य वादिः प्रतिपत्तस्याः सकाशोद्वर्तमानया तिथ्या युतं दिनवासरेण रविवारादिना च युतम् । तत्र नवमिराप्तं भक्तं नगशेषकं

(१) योगोऽयं क्वचिद्धिंवरनाम्ना प्रसिद्धस्तथाचेत् ‘स्याद्धिंवरं तद्रमनेतिशस्तम्’ एवं पाठान्तरं योज्यम् ।



सप्तशेषं चेत्तदा द्विवरं भवति । तद्विवरं गमनेति शस्तं स्यात् ।  
उक्तं च—

“सूर्यभाद्रणयेच्चान्द्रं पक्षादितिथिवारयुक् ।

नवभक्तं सप्तशेषं द्विवरं तस्य कीर्तितम् ॥” इति ।

तदेतन्निर्मूलम् ।

प्रसङ्गात् घवाडमपि—

“सूर्यभाद्रणयेच्चान्द्रं त्रिगुणं तिथिसंयुतम् । सप्तभिस्तु हरे-  
द्भागं त्रिशेषं स्याद्दवाडकम् ॥” एतच्च ह्यैवराच्छुभं ज्ञेयम् । एत-  
त्सर्वं दाक्षिणात्या विचारयन्ति ।

टेलकगौरवयोगौ—उक्तचतुर्योगानां फलानि च—

अत्र प्रसङ्गात् ग्रन्थान्तरस्थसंग्रहः—

“सूर्यभाद्रणयेच्चान्द्रं तिथिवारं च मिश्रितम् ।

सप्तभिस्तु हरेद्भागं पञ्चशेषं तु टेलकम् ॥

सूर्यभाद्रणयेच्चान्द्रं तिथिवारं च मिश्रितम् ।

अर्कसंख्यैर्हरेद्भागं नवशेषं तु गौरवम् ॥

प्रवेशे गौरवं दद्यान्निर्गमे ह्यैवरां तथा ।

तस्करे टेलकं दद्याद्दवाडं सर्वकर्मसु ॥” इति ज्योतिर्निबन्धे ॥२६॥

अथ घातचन्द्राख्यं शालिन्याह—

भूपञ्चाङ्गद्वयद्विग्वहिसप्त-

वेदाष्टेशार्काश्च घाताख्यचन्द्रः ।

मेषादीनां राजसेवाविवादे

यात्रायुद्धाद्ये च नान्यत्र वर्ज्यः ॥ २७ ॥

भूपञ्चाङ्केति । मेषादीनां राशीनां भूपञ्चाङ्केत्यादिको घाताख्यचन्द्रो  
ज्ञेयः, यथा मेषस्य प्रथमो मेष एव, वृषस्य पञ्चमः कन्यास्थः, मिथुन-  
स्य नवमः कुम्भस्थः, कर्कस्य द्वितीयः सिंहस्थः, सिंहस्य षष्ठो मकर-  
स्थः, कन्याया दशमो मिथुनस्थः, तुलायास्तृतीयो धनुःस्थः, वृश्चिकस्य  
सप्तमो वृषस्थः, धनुषश्चतुर्थो मीनस्थः, मकरस्याष्टमः सिंहस्थः ।

कुम्भस्थैकादशो धनुःस्थः । मीनस्य द्वादशः कुम्भस्थः । एते घात-  
चन्द्रा ज्ञेया इत्यर्थः ।

अथ घातचन्द्रफलानि—

स घातचन्द्रो राजसेवायां विवादे प्रतिवादिना सह कलहे विद्या-  
सम्बन्धिनि वा विवादे युद्धे आदिशब्दान्मृगयादिषु वर्ज्यः । अन्य-  
त्र विवाहान्नप्राशनादिमङ्गलकृत्ये न वर्ज्यः । उक्तं च—“अजाज्जन्म-  
धीधर्मवित्तारिखत्रिस्मरांश्चष्टलाभान्त्यगो घातचन्द्रः । नृपद्वारया-  
त्रावरोधागमादौ विचिन्त्यो विवाहादिके नैव चिन्त्यः ॥” इति अ-  
न्यत्रापि—

“भूपञ्चनन्दायमषड्दिशश्च बह्व्यद्विवेदावसुखदसूर्याः ।  
मेषादिकानां क्रमशो भवन्ति यात्रासु युद्धेषु च घातचन्द्राः ॥  
युद्धे चैव विवादे च कुमारीपूजने तथा ।  
राजसेवावाहनादौ घातचन्द्रं विवर्जयेत् ॥  
तीर्थयात्राविवाहान्नप्राशनोपनयादिषु ।  
माङ्गल्यसर्वकार्येषु घातचन्द्रं न चिन्तयेत् ॥” इति ।

अत्र मदीयं घातचन्द्रपद्यमिदम्—

“मेषकन्याघटहरिनक्रयुग्मधनुर्वृषाः ।

मीनसिंहधनुःकुम्भा घातचन्द्रा अजादितः ॥” इति ।

अत्र गणनाभावादर्थलाघवम् । मूलपद्ये तु अमुकस्मादमुकसंख्या-  
क इति गणनायाः कदाचिदुभयमसङ्गावाच्च गौरवमिति । एतदपि  
निर्मूलम् ॥ २७ ॥

अथ घातचन्द्रपरिहारमनुष्ठुभ्यामाह—

आग्नेयत्वाष्ट्रजलपिण्यवासवरौद्रभे ।

मूलब्राह्माजपादर्चे पिण्यमूलाजभे क्रमात् ॥ २८ ॥

रूपद्वयग्न्यग्निभूरामद्वयग्न्यब्धियुगाग्नयः ।

घातचन्द्रे पिण्यपादा मेषाद्वर्ज्या मनीषिभिः ॥ २९ ॥

आग्नेयेति । स्पष्टार्थमिदं पद्यद्वयम् ॥ २८—२९ ॥



अथ घाततिथीनुपजातिकयाद—

गोस्त्रीभूषे घाततिथिस्तु पूर्णा

भद्रा नृयुक्कर्कटकेऽथ नन्दा ।

कौर्ष्याजयोर्नक्रधटे च रिक्ता

जया धनुःकुम्भहरौ न शस्ताः ॥ ३० ॥

गोस्त्रीति । गौर्वृषः, स्त्री कन्या, भूषो मीनः, एतद्राशिमिति नरे पूर्णातिथिः पञ्चमी दशमी पञ्चदशी घाततिथिः । नृयुक् मिथुनं, कर्कट-  
कः प्रसिद्धः, अनयोर्भद्रातिथिः द्वितीया सप्तमी द्वादशी च घाततिथिः ।  
कौर्ष्यो वृश्चिकः, अजो मेषः, एतयोर्नन्दा तिथिः प्रतिपत्षष्ठ्येकादशी च  
घाततिथिः । नक्रधटे मकरतुल्यो रिक्तातिथिः चतुर्थी नवमी चतुर्द-  
शी च । धनुःकुम्भसिंहानां जयातिथिः तृतीयाष्टमी त्रयोदशी  
च घाततिथिः । एते घाततिथयो यात्रायां युद्धादौ च न  
शस्ता इति ॥ ३० ॥

अथ घातवारान् शालिन्याह—

नक्रे भौमो गोहरिस्त्रीषु मन्द-

अन्द्रो द्वन्द्वेऽर्कोऽजमेज्ञश्च कर्के ।

शुक्रःकोदण्डालिमीनेषु कुम्भ-

जूके जीवो घातवारा न शस्ताः ॥ ३१ ॥

नक्रे इति । मकरराशिमिति पुरुषे भौमो घातवारः, वृषसिंहकन्या-  
सु मन्दवारः, द्वन्द्वे मिथुने चन्द्रवारः, अजे मेषेर्कवारः कर्के बुधवारः,  
धनुर्वृश्चिकमीनेषु शुक्रवारः, जूकस्तुला, कुम्भतुल्योर्जीवो गुरुघातवार  
इत्यर्थः । एते घातवाराः यात्रायां न शस्ता इत्युक्तम् । एतदपि  
निर्मूलम् ॥ ३१ ॥

अथ घातनक्षत्राण्यनुष्टुभाह—

मघाकरस्वातिमैत्रमूलश्रुत्यम्बुपान्त्यभम् ।

याम्यत्राह्येशसार्पं च मेषादेर्घातभं न सत् ॥ ३२ ॥

मघाकरेति । मेषादिराशीनां क्रमेण घातकभमिदं स्यात् । यथा मेषस्य मघा, वृषस्य हस्तः, मिथुनस्य स्वाति, कर्कस्यानुराधा, सिं- हस्य मूलं, कन्यायाः श्रवणः, तुलायाः शतभम्, वृश्चिकस्य रेवती, धनुषो भरणी, मकरस्य रोहिणी, कुम्भस्यार्द्रा, मीनस्याश्लेषा, एतत् घातनक्षत्रमित्यर्थः । तथात्रायां सत् शोभनं न, किन्तु दोष इत्यर्थः । उक्तं च—“मघार्कस्वातिमैत्राणि मूलं श्रवणवारुणे । रेवतीयाम्य- धात्रीशसापं मेषादि मृत्यवे ॥” इति । क्वचित् ‘धात्रशिसापम्’ इति पा- ठः । तत्राग्निः कृत्तिकानक्षत्रं, कुम्भस्य घातभं तदा याम्यब्राह्मादिसापं चेति कल्प्यमिति तदेते दोषा दाक्षिणात्यप्रसिद्धा निर्मूलाः ॥ ३२ ॥

अथ घातलग्नान्याह—

भूमिद्वयब्ध्यद्रिदिक्सूर्याङ्गाष्टाङ्केशाग्निसायकाः ।

मेघादिघातलग्नानि यात्रायां वर्जयेत्सुधीः ॥ ३३ ॥

भूमीति । स्पष्टार्थम् । एतदपि यात्रायां वर्ज्यम् ॥ ३३ ॥

अथ सफला योगिनीशङ्खदोविशेषेणाह—

नवभूम्यःशिवबहुयोऽक्षविश्वेऽ-

र्ककृताः शक्ररसास्तुरङ्ग तिथ्यः ।

द्विदिशोऽमावसवश्च पूर्वतः स्यु-

स्तिथयः सम्मुखवामगा न शस्ताः ॥ ३४ ॥

नवभूम्य इति । एतास्तिथयः पूर्वतः पूर्वा दिशमारभ्य ह्यब्लोपे पञ्चमी, पूर्वादितोष्टदिक्षु ज्ञेयाः । यथा पूर्वस्यां नवभूम्यः नवमी प्रति- पच्च, आग्नेय्यां शिवबहुयः एकादशी तृतीया च, दक्षिणस्यामक्षविश्वे पञ्चमी त्रयोदशी च, नैऋत्यामर्ककृता द्वादशी चतुर्थी च, पश्चिमायां शक्ररसाः चतुर्दशी षष्ठी च, वायव्यां तुरङ्गतिथ्यः सप्तमी पूर्णिमा च, उत्तरस्यां द्विदिशो द्वितीया दशमी च, ऐशान्याममावास्याष्टमी च, एतास्तिथयस्तत्तदिक्षु योगीन्याख्या इति जीर्णाः । तास्तिथयः सम्मु- खवामगा न शस्ताः । यथा प्राच्यां गन्तुः प्रतिपत्सम्मुखी, दक्षिणस्यां गन्तुः वामा, पश्चिमायां गन्तुः पृष्ठगा, उत्तरस्यां गन्तुर्दक्षिणा । एवं



सर्वासु दिक्षु सर्वास्तिथयो विचार्याः । तत्र सम्मुख्यो वामगाश्च तिथयो  
न शुभाः । अर्थादक्षिणाः पृष्ठगाश्च तिथयः शुभाः । उक्तं च  
स्वरोदये—

“पूर्वस्यामुदयेद्ग्राही प्रथमे नवमे तिथौ ।  
माहेशी चोत्तरस्यां तु द्वितीयादशमीतिथौ ॥  
एकादश्यां तृतीयायां कौमारी वह्निकोणगा ।  
चतुर्थी द्वादशी प्रोक्ता वैष्णवी नैऋते तथा ॥  
वाराही दक्षिणे भागे पञ्चमी च त्रयोदशी ।  
षष्ठी चतुर्दशी चैव इंद्राणी पश्चिमे तथा ॥  
पूर्णिमायां च सप्तम्यां वायव्ये चण्डिकोदयः ।  
नष्टचन्द्रदिनाष्टम्योर्महालक्ष्मीः शिवालये ॥” इति ।

नष्टचन्द्रदिनममावास्या । विजयकल्पलतायाम्—

“पृष्ठतो दक्षिणे वापि योगिनी गमने हिता ।  
वामसंमुखयोर्नेष्टा वायुमेवं विचिन्तयेत् ॥” इति ।

अर्द्धप्रहरयोगिन्यः—

समरसारोऽर्द्धप्रहरयोगिन्युक्ता । तथा—

“प्राक्तोया नलरक्षोवायुः पाशीशदिक्षु दर्शान्तैः ।

तिथिभिः स्थितिपदयुक्ता ह्यर्द्धप्रहरा तु योगिनी शस्ता ॥” इति ।

अस्यार्थः—अत्र पूर्वार्द्धेन योगिन्युक्ता उत्तरार्द्धेनार्द्धप्रहरयोगिन्यु-  
च्यते—स्थितिपदे इत्यादिना । पदं स्थानं स्थितिः या तिथिर्यस्यां दिशि  
प्रागुक्तक्रमेणावस्थिता तद्दिशि तत्तत्तिथिमारभ्य सर्वयोगिन्यस्तेनैव  
क्रमेण तत्तिथिमध्ये वारद्वयं भ्रमन्ति । यथा द्वितीयोत्तरस्यां योगिनी तां  
षोडशधा विभज्य प्रथमो विभागो द्वितीयायाः । एवमुत्तरस्यामर्द्धप्रहर-  
योगिनीसंज्ञः द्वितीयो द्वितीयो विभाग आग्नेय्याम् । तृतीयाया अर्द्धप्र-  
हरयोगिनीसंज्ञ इत्यग्निमाः सर्वे विभागाः अर्द्धप्रहरयोगिनीसंज्ञा ज्ञेया  
इत्यर्थः । उक्तं च स्वरोदये—“यत्रोदयगता देवी ततोयामार्द्धभुक्तिगा ।  
भ्रमन्ती तेन मार्गेण भवेत्तत्कालयोगिनी ॥” इति उदयस्थाने देवीयोगिनी ।  
विजयकल्पलतायामपि—“यत्रैता उदयं यांति भ्रमन्त्येवं तिथिक्रमात् ।  
ततो यामार्द्धभुक्त्यैव योगिन्यः स्वेष्टकालिकाः ॥” इति ॥ ‘इनवत्तु  
योगिनी शस्ता’ इति पाठे स्पष्टार्थम् ।

वारयोगिन्यः—

स्वरोदये तु वारयोगिन्यप्युक्ता “ इन्द्रचंद्राग्निनैऋत्ययाम्यतोयानिले हरी । सूर्यादिषु च वारेषु वर्जयेद्धारयोगिनीम् ॥ ” इति ।

फलमपि स्वरोदय एव—

“जयदा पृष्ठदक्षस्था भंगदा वामसंमुखी ।

त्रिविधं योगिनीचक्रमित्युक्तं ब्रह्मयामले ॥ ” इति ।

त्रिविधत्वं तु तिथियोगिन्यर्द्धप्रहरयोगिनीवारयोगिनीभेदतः ॥ ३१ ॥

अथ कालपाशाख्यौ योगौ शालिन्याह—

कौबेरीतो वैपरीत्येन कालो

वारेऽर्काद्ये सम्मुखे तस्य पाशः ।

रात्रावेतौ वैपरीत्येन गण्यौ

यात्रायुद्धे सम्मुखे वर्जनीयौ ॥ ३५ ॥

कौबेरीति । कुबेरो देवतां यस्याः सा “सास्य देवता” इत्यण् । आदिवृद्धिः । अणन्तत्वात् ङीप् । कौबेरी उत्तरा दिक् । ततः ल्यब्लोपे पंचमी । उत्तरां दिशमारभ्यार्काद्ये वारे दिवसे वैपरोत्येन दिक्प्रातिलोम्येन संहारमार्गेण यस्यां दिशि वारेशस्थितिस्तस्यां दिशि कालः स्यात् । यथा रविवारे उत्तरस्यां कालः, सोमे वायव्यां, भौमे पश्चिमायां, बुधे नैऋत्यां, गुरौ दक्षिणस्यां, शुके आग्नेयां, शनौ पूर्वस्यामित्यर्थः । अयमर्थः स्पष्टो रत्नसारे—

“रवाबुत्तरतः कालः सोमे वायव्यभागके ।

भौमे तु पश्चिमे भागे बुधे नैऋत्यकोणके ॥

जीवे च याम्यदिग्भागे शुके चाग्नेयकोणके ।

शनौ तु पूर्वदिग्भागे कालचक्रं प्रकीर्तितम् ॥ ” इति ।

इति कालयोगः ।

पाशयोग उच्यते—

तस्य कालस्य संमुखे संमुखदिशि कालदिशातः पंचमदिशि तस्य



कालस्य पाशो गलकर्त्तनरज्जुः स्यात् । यथा रविवारे दक्षिणस्यां पाशः, सौमे आग्नेय्यां, भौमे पूर्वस्यां, बुधे ऐशान्यां, गुराबुत्तरस्यां, शुक्रे वायव्यां, शनौ पश्चिमायामित्यर्थः ।

कालपाशदोषद्वयफलानि—

फलमुच्यते । यात्रायामर्थयात्रायां युद्धे युद्धयात्रायां समाहारद्वन्द्वः । तयोर्यात्रायुद्धयोरुपस्थितयोः सतोस्तौ कालपाशौ गंतव्यदिगवस्थितौ वर्जनीयौ । तद्विशि न गच्छेदित्यर्थः । अर्थाद्वामभागदक्षिणभागयोः कालपाशौ शुभौ । तत्रापि कालो दक्षिणभागस्थ एव शुभः । पाशो वामभागस्थ एव शुभ इत्ययमुक्तोपि विशेषो ज्ञेयः । उक्तं च स्वरोदये—

“वारोत्थः पूर्वदिग्भागे ततः सव्येन मंदगः ।

यत्रस्थस्तत्र कालः स्यात्पाशस्तस्य तु संमुखः ॥

दक्षिणस्थः शुभः कालः पाशो वामदिगाश्रयः ।

यात्रायां समरे श्रेष्ठस्ततोऽन्यत्र न शोभनः ॥ ” इति ।

सव्येन प्रदक्षिणमार्गेण मंदगः शनैश्चरः अन्यत्र संमुखपृष्ठभागयोः ।

दिवा यौ कालपाशौ तौ रात्रौ विपरीतौ—

अथ कालपाशविचारो दिवैव । रात्रौ विशेष उच्यते । तु विशेषे । एतौ कालपाशौ तु रात्रौ व्यस्तसंज्ञौ विपरीतनामकौ चिंत्यौ ज्ञेयौ । दिवा यस्यां दिशि कालस्तस्यां दिशि रात्रौ पाशः । दिवा यस्यां दिशि पाशस्तस्यां दिशि रात्रौ कालः । यथा रविवारे रात्रौ दक्षिणस्यां कालः उत्तरस्यां पाशः । एवं सर्ववारेष्वित्यर्थः । उक्तं च—

“सौम्यादौ वाममार्गेण रवितः कालसंस्थितिः ।

तत्संमुखे भवेत्पाशो रात्रौ ज्ञेयौ विलोमतः ॥ ” इति ।

सोमो देवतास्याः सा “सोमादृषण” इति देवतार्थे दृषण, शिस्वादादिवृद्धिः “यस्येति च” इत्यलोपः, ततो “हलस्तद्धितस्य” इति यलोपः सौमी उत्तरा दिक् तदादौ सौम्यादौ । ननु वर्ज्यत्वाविशेषाद्वात्रौ किं नाम वैपरीत्येन कृत्यमिति चेत्, उच्यते । गंतव्यदिशि कालो दक्षिणभागस्थः शुभो यथा भवेत्पाशो वामभागस्थः शुभो यथा स्यादित्येवमर्थमुक्तिः । अन्यथा ह्यशुभ इत्यर्थः । “दक्षिणस्थः शुभः कालः पाशो वामदिगाश्रयः” इति वचनात् । ननु कालपाशयोर्नामवैपरीत्यं स्वरोदयस्थषावये

कुतो नोक्तमिति चेत्, सत्यम् । साक्षात् नोक्तं परंतु स्वरोदयकतुरभि-  
प्रेतमस्तोत्यनुमीयते । तथा हि यद्यपि 'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीवे  
दिवसवासरो' इति कोशात्, "दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते"  
इति धर्मशास्त्रोक्तेऽहःशब्दस्याहोरात्रपरतैव तथा 'आगामिवर्तमानाह-  
र्युक्तायां निशिपक्षिणी' इत्यादिषु निशीतिपदोपादानादहःशब्दः सूर्यदर्शन-  
परिच्छेद्यकालवाचको यथास्ति तथेहापि । 'धारोहः पूर्वदिग्भागे' इत्यत्र  
चापरः पूर्वदिग्भागे' इति वक्तव्येऽहःशब्दोपादानान्यथाऽनुपपत्त्याहःशब्दः  
सूर्यदर्शनपरिच्छेद्यं कालमाह । तेनाहनि दिवसे ह्येवं विचारो न तु रात्रौ ।  
अतस्तत्र वैलक्षण्यम् । तद्वैलक्षण्यं नाम किम् । वैपरीत्यमित्यर्थः । अतः  
पूर्वोक्तं—“रात्रावेतौ व्यस्तसंज्ञौ तु चिन्त्यौ” इति ।

खण्डराहुदोषो यात्रायाम्—

कालपाशप्रसङ्गात् खंडराहुरुच्यतेस्माभिः । यथा स्वरोदये—

“पेंद्यां कृष्णे तृतीयायां सप्तम्यां शूलिनो दिशी ।  
दशम्यां धनदाशायां घायव्यां भूतवासरे ॥  
शुक्रपक्षे तु घारुण्यां चतुर्थ्यां समुदेत्यसौ ।  
नैऋत्ये च तथाष्टम्यामेकादश्यां यमौकसि ॥  
आग्नेय्यां पंचदश्यां च मासे राहुदये सति ।  
खंडगत्या भ्रमत्येवं खण्डराहुस्ततो मतः ॥” इति ।

यमौकसि दक्षिणस्याम्, शूलिनः ईशानस्य, अतस्तस्यां दिशि  
सत्तिथौ राहुसन्नावाच्च गंतव्यमिति वाक्यतात्पर्यार्थः । एतासु भद्राति-  
थिषु भद्रामपहाय तद्विक्तोन्यस्यां दिशि सुखेन गतव्यमिति । खण्डे ति-  
थिखंडे तिथ्यर्द्धे भद्रारहिते गमनं गतिरित्यन्वर्थत्वमपि खण्डराहौ प्रती-  
यते । सूक्ष्मोर्द्धयामकाल उक्तः समरसारे—

“हालांतकाभसजियामदलैस्तु कालः सूर्यादिवासरगतो युधि वर्जनीयः ।  
भासारमेदलतियामदलानि भानुर्वारक्रमादपि पुनःस्वहितार्थमूहेत् ॥” इति

रवौ हालाकारोपलक्षितोऽष्टमोर्द्धयामः, एवं सोमे तृतीयः, भौमे  
प्रथमः, गुरौ चतुर्थः, शुके सप्तमः, शनौ द्वितीयो युद्धे च वर्जनीय इति  
पूर्वार्द्धस्यार्थः । उत्तरार्द्धे तु सांहितिका अर्द्धयामा उक्ताः समस्तशुभक-



मंसु निषिद्धाः ग्रन्थकर्त्रापि विवाहप्रकरणेभिहिताः । अर्द्धयामो नाम दिनस्य रात्रेर्वाष्टमो भाग इति ।

अथार्द्धयामराहुर्प्युक्तः स्वरोदये—

“इंद्रवायुयमरुद्रतोयामिशिशिभास्करे ।

यामार्द्धमुदितो राहुर्भ्रमत्येवं दिगष्टके ॥” इति ।

अयं यामार्द्धराहुर्भ्रमो दिवसे रात्रौ च तुल्यो ज्ञेयो वि-  
शेषानुक्तेः ।

तत्रैव मुहूर्त्तराहुर्प्युक्तः—

“ईशानयमवातेंद्ररक्ष सोमामिवाख्ये ।

पूर्वाह्नेपि भ्रमत्येवमपराह्नेप्ययं क्रमः ॥

जलामिसौम्यनैऋत्यशक्रानिलयमेतरे ।

पूर्वरात्रे भ्रमत्येव पररात्रेप्ययं क्रमः ॥

दिनस्य षोडशांशेन मुहूर्तः परिकीर्तितः ।

एवं मौहूर्तिको राहुर्ज्ञातव्यः सुखवेदिभिः ॥” इति ।

दिनस्येत्युपलक्षणं रात्रेरपि एवमेव अर्धमुहूर्तचतुर्थचतुर्थदिग्ग-  
णनोक्ता । रात्रौ तु षष्ठषष्ठदिग्गणनोक्ता ।

यत्तु रामवाजपेयिभिः समरसारे उक्तम्—

“प्राग्वातान्तकशंभुपाशिहुतभुक्पौलस्त्यरक्षोदिशो

यामार्द्धैरगुरहि पाशिककुभोसौ षष्ठषष्ठी निशि ।

पृष्ठे दक्षिणतः शुभो द्विघटिकोसौ तुर्यतुर्या व्रज-

क्षीशावाक्पवनेन्द्रराक्षसमरुद्वह्निप्रतीचीं दिशम् ॥” इति ।

अत्र यामार्द्धराहौ दिने प्राच्याः सकाशात्षष्ठषष्ठदिग्गणनोक्ता ।  
रात्रौ तु प्रतीच्याः सकाशात्तथैवोक्ता । उत्तरार्धे मौहूर्तिकराहौ तु दिने  
दिनरात्रिविभागो नोक्तस्तद्दीकाकृता भरतेन तथैव व्याकृतश्च । यथा यथा  
द्विघटिको मौहूर्तिको राहुः प्रातरारभ्यैशानीतश्चतुर्थचतुर्थदिशं मुहूर्ते  
मुहूर्ते याति । दिनरात्र्योर्द्वान्निशन्मुहूर्त्ता अष्टदिशां चत्वारो भ्रमाः । तत्र  
क्रमः पेशानीदक्षिणवायव्यपूर्वनैऋतोत्तराग्नेयपश्चिमास्विति—तदेतन्निर्मु-  
लम् । मूलवाक्यानुपलम्भात् । ननु कस्तर्हि तदुक्तावाशय इति चेत्,  
सत्यम् । तदेवोच्यते । स्वरोदये हि यामार्द्धराहौ षष्ठषष्ठदिग्गणनो-

का । मुहूर्तराहौ तु दिने चतुर्थचतुर्थदिग्गणनामभिधाय रात्रौ तु षष्ठ-  
षष्ठदिग्गणनोक्ता अनुचितेत्यभिसन्धाय स्वयं स्वपद्ये षष्ठषष्ठदिग्गणना-  
मुररीकृत्य दिनरात्रिविभागेन यामार्द्धराहुकृतः । मुहूर्तराहुरीशानतश्च-  
तुर्थचतुर्थदिग्भागेन दिनरात्रिविभागमनादृत्योक्त इति, एवंविधे पाठे मू-  
लान्तरं मृग्यम् । ऋषीणां तु स्वतन्त्रेच्छापर्यनुयोगानर्हत्वात्स्वरोदये  
एवमुक्तिः ।

स्थूलसूक्ष्मराहोर्दिग्भेदेन फलानि—

एतादृशः स्थूलः सूक्ष्मो वा राहुः कस्यां दिशि शुभोऽशुभो वेति स्व-  
रोदय एवाभिहितम्—

“सम्मुखा वामसंस्था वा यस्येवं राहुमण्डली ।  
पराजयो भवेत्तस्य वादधूतरणादिषु ॥  
यस्य दक्षिणगृष्टस्था ह्येवा राहुपरंपरा ।  
सहस्रशः शतेनापि परसैन्यं निहन्तति ॥” इति ।

समरसारेपि—

“पृष्ठे दक्षे योगिनी राहुयुक्ता यस्यैकोयं शत्रुलक्षं निहन्ति ।  
श्रेष्ठं सर्वेभ्यो बलेभ्यस्तदेवं संचेपोयं सर्वसारो भ्यधायि ॥” इति ।

ननु योगिनीकालपाशवारयोगिनीमृतपक्ष्मण्डराह्वादिभिः स्थूलै-  
र्दोषैरर्द्धयामराह्वादिभिः सूक्ष्मश्च स्वरोदयस्थैस्तथा सांहितिकैश्चायनशूल-  
निषिद्धमासवारशूलनक्षत्रनिषिद्धनक्षत्रपारिघदण्डमृतपक्षादिभिश्च दोषै-  
र्यात्रादिनाऽनुन्मेष एव, तथा हि । रवौपूर्वस्यां वारयोगिनी दक्षिणस्यां  
पाशो दिवा रात्रौ तु कालः पश्चिमायां वारशूलम् उत्तरस्यां कालो दिवा-  
रात्रौ तु पाशः विदिशस्तु महादिगन्तर्गता एव । ‘प्रादक्षिण्यं चैव मासा  
विपूर्वा’ इति श्रीपंत्युक्तेः एवं सति रविवारे कस्यामपि दिशि यात्रां  
न स्यात् । अन्ये पुनर्दोषामृतपक्षादयो विचारणीयाः । एवं सति सो-  
मवारादिष्वपि यथासम्भवं दोषा ऊहनीया इति प्रागुक्तदोषवज्ज्ञापि-  
ताः अत्र समाधिः । अयं सर्वोपि स्वरोदयस्थो मृतपक्षयोगिनीकालपा-  
शादिस्थूलसूक्ष्मदोषविचारो युद्धयात्रायामेव बहुधा विचार्यः प्रकर-  
णस्यापि त्रियामकत्वात्, तथा हि । सर्वेऽपि स्वरोदयग्रन्थेषु नरपति-



जयचर्योच्यते । सा च युद्धं विना न संभवति । अत एव स्वरोदयबले प्रोक्तम्—“पुण्यैरपि न योद्धव्यं यावद्धीनः स्वरोदयः । स्वरोदयबले प्राप्ते योद्धव्यं शस्त्रकोटिभिः ॥” इति । तथा चतुरशीतिचक्रान्तेऽप्युक्तम्—

“एतानि सर्वचक्राणि ज्ञात्वा युद्धं समारभेत् ।  
जयेदिह न सन्देहः शक्रतुल्येऽपि वैरिणि ॥” इति ।

तथा भूबलेऽप्युक्तम्—

“इमानि भूबलान्यत्र ज्ञात्वा यः प्रविशेद्रणम् ।  
अरयस्तस्य नश्यन्ति मेघा वातहता यथा ॥” इति ।

सर्वतोभद्रकालदंष्ट्रसूर्यचन्द्रकालानलचक्राणि—

एवं सतिसर्वतोभद्रकालदंष्ट्रसूर्यचन्द्रकालानलचक्राणि युद्ध एव विचार्याणि यथासम्भवजन्मेषु शुभकृत्येष्वपि विचार्याणि । उक्तं च तत्रैव—

“लाभालाभं सुखं दुःखं जयं चैव पराजयम् ।  
चन्द्रकालानले चक्रे ज्ञानं संशयवर्जितम् ॥” इति ।

तथा—

“यथा जन्मविवाहे च संग्रामे विग्रहेऽपि च ।  
घोरकालानलं चक्रं ज्ञात्वा कर्म समारभेत् ॥” इति ।

यात्रावश्यकत्वमपेक्ष्य सांहितिकदोषहानितारतम्यम्—

सामान्ययात्रायामप्यावश्यकानावश्यकवशेन यथासम्भवं सांहितिकदोषहानिर्विचार्या । अन्यथा हि सर्वेषां स्वरोदयस्थानां सांहितिकानां च स्थूलसूक्ष्मदोषाणां त्यागो वर्षसहस्रेणापि दुःशकः स्यात् । तत्रापि गुणानां भूयस्त्वं दोषाणां चाल्पत्वमङ्गीकृत्य निखिलकृत्यं निर्वाह्यम् । उक्तं च श्रीपतिना—

“समस्तगुणसम्पदां न खलु लब्धिरल्पैर्दिनै-  
र्गुणप्रचुरता ततो बहुमता च दोषाल्पता ।  
न भूरिगुणसंचये प्रभवतीह दोषाल्पको  
ह्युदर्चिषि हुताशने सलिलविन्दुरेको यथा ॥” इति ।

विवाहादौ महादोषे तद्विरुद्धमहाप्रतीकारः—

तत्रापि महादोषः पापग्रहवेधयुतिकर्तरीमहापातादिश्चेत्तदावश्यं

वर्ज्य एव यदि तत्समः प्रतीकारकारको गुणो न भवेत् । उभयसम्भवे-  
हि प्रबलदुर्बलविचारः कार्यः । तदप्युक्तं श्रीपतिना—

“एकोपि हन्ति गुणलक्ष्मणीह दोषः

कश्चित्परो यदि गुणोस्ति न तद्विरोधी ।

मद्यस्य बिन्दुरपि पावनपञ्चगव्यं

सम्पूर्णमत्र कलशं मलिनीकरोति ॥” इत्यास्तां प्रसक्तानुप्रस-

केन ॥ ३५ ॥

अथ पारिघदण्डाख्यं दोषमनुष्ठुभाह—

भानि स्थाप्यान्यब्धिदिक्षु सप्तसप्तानलर्क्षतः ।

वायव्याग्नेयदिक्संस्थं पारिघं नैव लङ्घयेत् ॥ ३६ ॥

भानीति । अब्धिदिक्षु चतुर्दिक्ष्वनलर्क्षतः कृत्तिकातः सप्तभानि पूर्वस्यां  
स्थाप्यानि । मघातः सप्तभानि दक्षिणस्यां स्थाप्यानि । अनुराधातः सप्त  
भानि पश्चिमायां स्थाप्यानि । धनिष्ठातः सप्तभान्युत्तरस्यां स्थाप्यानि ।  
तत्र वायव्याग्नेयदिगुपनिबद्धा रेखा पारिघदण्डः स्यात् । तं सर्वथा  
नैव लङ्घयेत् ।

चक्राकृतिरियम् ।

यदाह नारदः—“क्रमाद्दिग्द्वारभानि स्युः संत सप्ताग्निः सप्त-  
तः । पारिघं लङ्घयेद्दंडं नाग्निश्चसनदिगंगतम् ॥” इति । कश्य-  
पोपि—“अग्निधिष्ण्यात्सप्त सप्त क्रमाद्धिष्ण्यानि पूर्वतः । वाय्वग्निदि-  
गंगतं दण्डं पारिघं तु न लङ्घयेत्” इति । ननु प्रागादिदिङ्मन्यस्तानां नक्ष-  
त्राणां प्रयोजनं किं नोक्तम् । पारिघदण्डाख्यानार्थत्वं तु धनिष्ठादिचतु-  
र्दश भानि वायव्याग्नेयदिशोः पूर्वभागे स्थाप्यानि, मघादिचतुर्दश भा-  
नि तयोरेव दिशोः पश्चिमविभागे स्थाप्यानीत्येवमर्थकपद्योपनिबन्धनेन  
स्यात्, उच्यते स्पष्टत्वाश्लोकम् । तथा हि प्राग्द्वारिकैः कृत्तिकादिकसप्त-  
नक्षत्रैः पूर्वस्यां यात्रा प्रशस्ततमा एवं दक्षिणस्यां मघादिसप्तमैः, प-  
श्चिमायामनुराधादिसप्तमैः, उत्तरस्यां धनिष्ठादिसप्तमैः, अयमर्थो या-  
त्राप्रकरणे—‘क्रमाद्द्वारभानि स्युः’ इति नारदकश्यपाद्युक्तेर्लभ्यते ।

प्रतिशुक्रविचारे पारिघदण्डदोषविचारः कार्यः—

किं च त्रिविधप्रतिशुक्रविचारेपि दिग्द्वारभानामुपयोगोस्ति । यदा-



हात्रिः—“तदिगगतः समुदयेद्विचरेद्यत्र गोलके । यद्द्वारभेषु विचरेन्निविधं प्रतिभार्गवम् ॥” इति । श्रीपतिश्च—‘विचरति च भवक्रो येषु दिग्द्वारभेषु’ इति ।

गृहप्रवेशेपि पारिघदण्डदोषविचारः कार्यः—

अन्यच्च गृहप्रवेशे पूर्वादिदिग्द्वारेषु गृहेषु तत्तदिङ्मन्त्रैः प्रवेशश्चोक्तः । तदुक्तं वसिष्ठेन—“यद्दिग्द्वारं मन्दिरं तदिगद्वैरुक्तद्वैः स्यात्संनिवेशो न सर्वैः” इत्यादीनि प्रयोजनानि ध्येयानि ।

दिग्भेदेन केषांकेषांचिद्भानां श्रेष्ठत्वादिकम्—

तत्र प्रस्तुते पारिघदण्डोक्तेरेवं ज्ञायते—यद्द्वनिष्ठादिचतुर्दश भानि प्रागुत्तरदिशोर्यात्रायां प्रशस्तानि मघादिचतुर्दश भानि दक्षिणपश्चिमदिशोः प्रशस्तानि, तत्र स्वदिशि प्रशस्ततमानि, अन्यदिशि प्रशस्तानि । यथा मघादि सप्त भानि पश्चिमायामनुराधादिसप्त भानि दक्षिणास्यां प्रशस्तानीत्यर्थः । अत एवाह दुर्गादित्यः “प्राग्दिगतैरुदग्दिशमुदगतैः प्राग्दिशं मनक्षत्रैः । दक्षिणगैरपरां दिशमपरगैर्दक्षिणां यायात् ॥” इति । भानि राशयो मेवाद्या नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि । यवनेश्वरोपि—“प्राचीमुदग्द्वारिभिरत्र यायात्प्राग्द्वारभैश्चोडुभिरभ्युदीचीम् । तथैव याम्यामपराश्रितैर्भैर्याम्याश्रयैश्चाप्यपरां प्रयायात्” इति एतेन “नो गच्छेदुत्तराशां त्रिदशपतिककुम्भैर्न याम्यप्रतीच्यैः” इति वदन् महेश्वरः प्रत्याख्यातो भवति । मूलवाक्यानुपलम्भात् । किन्तु सर्वथा प्रागुदयनक्षत्रैर्दक्षिणां पश्चिमां च नैव गच्छेत् । तथा दक्षिणपश्चिमनक्षत्रैः प्रागुदीचीं च नैव गच्छेत् । पारिघदण्डसत्त्वात् । यदाह यात्रायां घराहः—“दिशि दिशि बहुलाद्यास्तारका सप्त लेख्याः पवन दहनदिकस्थस्तिर्यगत्युग्रदण्डः । सुरपतिरपि कृच्छ्रं याति तं लंघयित्वा नहि भवति विरोधो दिक्षु दंडैकगासु ॥” इति ॥ ३६ ॥

अथ कस्यचिद्विदिग्गमनं चिकीर्षितं तदा पृथक्नक्षत्रोपदेशाभावात्तासु विदिक्षु अग्नेय्यादिषु कैर्नक्षत्रैर्गमनं स्यादित्याशंक्य विदिक्षु नक्षत्राणि चावश्यकत्वे पारिघदण्डापवादं च वसन्ततिलकावृत्तेनाह—

अग्नेर्दिशं नृप इयात्पुरुहूतदिग्भै-

रेबंप्रदक्षिणगताविदिशोऽथकृत्ये :

आवश्यकेऽपि परिघं प्रविलंघ्य गच्छे-

च्छूलं विहाय यदि दिक्तनुशुद्धिरस्ति ॥ ३७ ॥

अग्नेर्दिशमिति । नृपः पुरुहुतदिक् प्राची तदुत्थैः कृत्तिकादिसप्तनक्षत्रैः अग्नेर्दिशमाग्नेयीमियात् गच्छेत् । एवमनेन प्रकारेण प्रदक्षिणगताः सृष्टिमागंगास्थिता विदिशो नैऋत्यादीर्गच्छेत् । यथा दक्षिणदिक्स्थैर्मैर्मघादिसप्तभिर्नैऋतीं दिशं गच्छेत् । प्रतिचीस्थैरनुराधादिसप्तभिर्मैर्वायव्यां गच्छेत् । उदीचीस्थैर्धनिष्ठादिसप्तभिर्मैः पेशानीं गच्छेदित्यर्थः । यदाह नारदः—“आग्नेयीं पूर्वदिक्संस्थैर्विदिशस्त्वेषमेव हि” इति । अस्याथ स्पष्टमाह गुरुः—

“प्राग्द्वारिकैश्च नक्षत्रैराग्नेय्यां शोभना गतिः ।

दक्षिणस्थैश्च नैऋत्यां वायव्यां वारुणैरपि ॥

पेशान्यां दिश्युदक्संस्थैर्यात्रातीव शुभप्रदा ।” इति ।

पारिघदंडापवाद उच्यते-

अथेति । आवश्यके कृत्ये अवश्यकर्तव्ये गमनादिकृत्ये पारिवमपि पारिघदंडमपि प्रविलंघ्य लंघयित्वा नृपो गच्छेत् । परंतु शूलं वारुणं नक्षत्रशूलं च विहाय त्यक्त्वा यदि दिक्तनुशुद्धिरस्ति स्यात् । अस्तीति स्यादित्यर्थकमव्ययम् । पूर्वादिचतुर्दिक्षु मेषादयस्त्रिरावृत्ता दिग्प्राशयः स्युः । त एव तस्यां तस्यां दिशि दिग्लग्नशब्देन व्यवहियंते । तेषां शुद्धिः शुभफलदातृग्रहानुकूल्यसाहित्यं स्यात् । यदाह श्रीपतिः—“प्रयोजनेष्वात्ययिकेषु भूपतिर्विलंघ्य रेखामपि पारिघीं ब्रजेत् ।

विहाय दिक्छूलसमाह्वयानुङ्ग्यदि स्वदिग्लग्नविशुद्धिराप्यते ॥” इति । उडुशब्देन वारोऽप्युपलक्ष्यते । यतो वराहेण—“उल्लंघ्य दंडमपि काममियान्नरेन्द्रः शूलं विहाय यदि भस्य विलग्नशुद्धिः” इत्यत्र शूलं विहायेति सामान्यतोभिधानात् ।

दिग्प्राशयः—तत्र गमने फलानि च—

अत्र दिग्प्राशीनाह नारदः—“दिग्प्राशयः स्युः क्रमशो मेषाद्याश्च पुनः पुनः” इति । फलमाह वसिष्ठः—

“पूर्वादिदिक्षु मेषाद्याः क्रमादिद्वारराशयः ।

तत्तच्छुद्धिवशात्सर्वे तद्दिग्ग्यातुः शुभप्रदाः ॥



तद्वर्गाश्च तदंशाश्च ज्ञातव्या वै तथाविधाः ।” इति ॥ ३७ ॥

अथानावश्यकत्वेपि पारिघट्टापावादे चिकीर्षिते सर्वदिग्द्वारकन-  
क्षत्राणि वक्रिग्रहस्य केन्द्रगत्वादिनिषेधं चेद्वज्रयाह—

मैत्रार्कपुष्याश्विनमैर्निरुक्ता

यात्रा शुभा सर्वादिशासु तज्ज्ञैः ।

वक्त्री ग्रहः केन्द्रगतोस्य वर्गो

लग्ने दिनं चास्य गमे निषिद्धम् ॥ ३८ ॥

मैत्रार्केति । मैत्रमनुराधा, अर्को हस्तः, पुष्यः प्रसिद्धः, आश्विन-  
मश्विनी, एतैश्चतुर्भिर्नक्षत्रैः कृत्वा सर्वादिशासु प्राच्यादिचतुर्दिक्षु तज्ज्ञै-  
ज्योतिर्विद्भिर्यात्रा गमनं शुभा शुभफलदा निरुक्ता । यदाह वसिष्ठः—

“पुष्यार्काश्विनमैत्राणि सर्वदिग्द्वारभानि च ।

सर्वदिक्ष्वपि यात्रायां सर्वकामार्थदानि च ॥ ” इति ।

नारदः—“पुष्ये मैत्रे करेश्विन्यां सर्वांशागमनं शुभम् ।” आशा  
दिशः । श्रौपतिरपि—“हस्तः पुष्यो मैत्रमप्याश्विनं च चत्वार्याहुः सर्वदि-  
ग्द्वारभानि” इति ।

यत्तु बालबोधिण्यां—

“पूर्वाद्याः शनिचंद्रगीष्पतिबुधादित्येषु शुक्रे कुजे

नो गम्याः क्रमशस्तथा परिहरेत्प्राचीं च मूलेन्द्रयोः ।

याम्ये च श्रवणादिषट्सु विधिभे पुष्ये प्रतीचीं त्यजेत्

सौम्यां चोत्तरफाल्गुनेष्वपि तथा हस्ते न यायाद्बुधः ॥ ”

इति प्रागादिचतुर्दिक्षु श्रवणाश्विपुष्यहस्तानां क्रमेण त्याग उक्ताः—स  
निर्मूलत्वादुपेक्ष्यः । किंच यद्येषामस्ति निषेधो वसिष्ठादीनामभिमतः  
स्यात्तदा ‘पुरुहूतदिशं पुरंदरर्क्षं’ इत्यादिनक्षत्रशूलपद्ये हि ‘विष्णुशाक्रे  
याम्यदिशं त्वजांघ्रिधिष्यं ज्वलनार्थदिशं विधातुपुष्यौशूलास्वात्यथ  
सौम्यार्यमाक्रे’ इति । एवमेव वादिनामाशयो व्याख्येयः । बालबोधिनी-  
वद्विन्नं वाक्यं तु दूरापास्तमेव अन्यच्च पुष्याद्यष्टभानां कचित्सर्वदिग्द्वार-  
रिक्तत्वं स्मर्यते । यदाह गुरुः—

“पुण्याश्विहस्तमैत्राणि पौष्णवैष्णवसौम्यभम् ।  
वासवं सर्वदिक्त्वाशु यात्रायां शोभनानि हि ।” इति ।  
वराहोऽपि—

“सर्वद्वारगसंज्ञितानि गुरुभं हस्ताश्विमैत्राणि च  
श्रेष्ठान्यैदवपौष्णविष्णुवसुभान्याद्यैः सहाष्टौ सदा ॥ ” इति ।

तत्राष्टानामपि सार्वदिग्द्वारगत्वं स्मर्यते चतुर्णां का कथा । बहुवच-  
नसंवादात् । तत्र मृगरेवतीश्वरणाधनिष्ठानां सर्वद्वारगत्वमाश्रयकगमनेऽभ्य-  
नुज्ञानार्थम् । तत्र यदि पुण्यादीनि भानि दिग्विशेषेन त्यजेरंस्तदा बहुदि-  
क्त्वं स्यात् न सर्वदिक्त्वम् । तत्र को विशेषः सर्वदिक्त्वबहुदिक्त्वयोः ।  
उच्यते, सर्वशब्दः शक्त्या बुद्धिस्थवस्तुमात्रवचनः । तत्र वस्तुसंघं  
गृहोत्तैकत्वस्योपपत्तिः—सर्वः पदार्थ इति । तस्यैव द्वित्वे च सर्वो पदार्थो  
इति भवति । सर्वे इत्यत्र तु वस्तुसंघातो सर्वशब्देनोच्यते न बहुत्वम् ।  
तदेव वचसा द्योत्यते । अत्र सर्वे इति बहुवचनेन त्रिचतुरादयः पदार्था  
उच्यन्ते । बहुशब्देन त्रय एवोच्यन्ते नाधिकाः । बहूनामंत्रयस्वेत्युक्ते चतु-  
रादिशब्दसन्निधाने त्रय एव निमंत्र्यन्ते । किमत्र प्रमाणमिति चेच्छृणु ।  
मीमांसायां एकादशेऽध्याये—“वसन्ताय कर्पिजलानालभेत ” इति वैदिके  
वाक्ये वसन्ताय वसन्त इत्यर्थः । छांदसम् । कर्पिजलाः पक्षिविशेषाः ।  
तानालाभेत हन्यात् । तत्र कर्पिजलानिति बहुत्वं तावत् गम्यते ते ज्या-  
दयः परार्धावधिकाः कर्पिजला, त्रयो वा चत्वारो वा पंच वाऽऽलब्ध-  
व्याः, त्रय एवेति संशयः । तत्रैवं पूर्वपक्षः—कर्पिजलानिति बहुवचनेन  
द्वित्वातिरिक्तसंख्यासामान्यरूपेणाभ्यधायि । तद्विशेषाकांक्षायामसत्यां  
ज्यादिपरार्धातिरिक्तसंख्याविशेषाभावात् ज्यादिसंख्याविशेषा आक्षिप्यं-  
ते । न च तत्र चत्वारोपि पंच वा हंतव्या इति संख्यान्तरमेव प्रतीयेत न  
ज्यादयः । न च कर्पिजलत्वावच्छेदकावच्छिन्नकर्पिजलका हन्तव्या इति  
वाच्यम् । तथा सत्येकस्मिन्नेव यागे कृते जगतीतलवर्तिनां  
सर्वेषां कर्पिजलानां विनाशप्रसंगः । तस्माद्यथाप्राप्तानां त्रिचतु-  
रादीनां तेषामेव विकल्पेनालंभ इति । उक्तं च जैमिनिना पूर्वपक्ष-  
सूत्रेण बहुवचनेन सर्वप्राप्तेर्विकल्पः स्यादिति । सिद्धांतस्तु घटाना-  
नयेतिवदुच्चारितस्य बहुवचनांतस्य शब्दस्य चतुरादिशब्दोपादा-  
नमंतरेण त्रित्वमात्रं वाच्यम् । तावतैव बहुत्वोपपत्तेः । अतिरिक्ता-



क्षेपे च प्रमाणाभावः । तस्मादत्र एव कर्पिजला हिंस्याः । उक्तं च जैमि-  
निना—‘प्रथमं वा नियम्येतकारिणा स्यादतिक्रमः । ‘स्यात्’ इति ।  
सिद्धांतसूत्रेण । अत एव बहुत्वं त्रित्वे पर्यवस्यतीति लोकोक्तिः साधी-  
यसी । एवं प्रस्तुतेपि विषये दृष्टिः । न च प्रथमोक्तेः साधुत्वाव्याख्यानाथं  
बहुव इत्यादौ प्रवृत्तिनिमित्तगतबहुत्वव्यंजकबहुवचनोत्पत्तिः । बहुरोदन  
इत्यत्र बहुवचनं कस्मान्न भवति, सत्यम् । नात्र बहुशब्देन संख्योच्यते  
किंतु वैपुल्यम् । तस्माद्बहुशब्देन त्रित्वसंख्योच्यते । सर्वशब्देन न त्रित्व-  
संख्या न तु चतुरादिका वा । अतोत्र मतभेदः ।

ननु पुण्यादीनां सर्वदिक्त्वे समर्थिते सत्यपि नैव सर्व-  
दिक्त्वोपपत्तिः । यावता वारशूलं मत्वा तदिग्वर्जनादिकत्र-  
यमेवावशिष्यते । तेन बहुदिक्त्वमेवोपपद्यते इति । उच्यते ।  
नैतावता भवदिष्टं सिध्यति । ‘प्राचीं श्रवणशक्राभ्याम्’ इत्यादि-  
ना नक्षत्रविशेषे दिग्विशेष इत्यादि प्रतीयते । वारशूलेनायमर्थ उच्यते—  
रविवारे पश्चिमशूलं सोमे पूर्वत्यादि । अतः बहुदिक्त्वसर्वदिक्त्वप्र-  
तिपादकयोरन्यतरस्य सर्वदिक्त्ववाक्यस्य सबलत्वे निर्णीते तृतीये-  
न वारशूलेन सर्वदिक्त्वं व्याहृतं यद्यपि तथापि नियतबहुदिक्त्ववा-  
क्यात्तु सबलमेव । नहि यथा वालिसुग्रीवयोर्युद्धयमानयोर्भगवता रामेण  
वालिनिहते वा लिनः सुग्रीवापेक्षया दौर्बल्यं मन्यन्ते शूराभिमानिन इति ।

किंच दक्षिणाशायां धनिष्ठोत्तरार्द्धादिपंचकं त्याज्यमित्युक्तम् । तत्रा-  
श्विनीत्यागे धनिष्ठादि षट्कं त्याज्यमित्येवं कस्मान्नोक्तम् । न च प्रेतदाह-  
तृणकाष्ठसंग्रहादिनिषेधार्थं तथाभिधानमिति वाच्यम् । वाक्यान्तरे हि  
प्रतिपदमेव पंचकस्य निषेधात् । यदाह वसिष्ठः—

“वसुभस्योत्तरार्द्धाच्च पंचधिष्ण्येषु सर्वदा ।

याम्यंदिग्यायिनां नृणां न मुहूर्तो जयप्रदः ॥” इति

अन्यच्चापरे आहुः—

पश्चिमे पुण्यस्त्याज्य इत्युच्यते च ।

श्रीपतिना तु—‘हस्तः पुण्य’ इत्यादिना पुण्यस्य सर्वदिग्द्वारगत्यमुक्त्वा  
नक्षत्रप्रकरणे—

“ग्रहेण विद्वोप्यशुभान्वितोपि विरुद्धतारोपि विलोमगोपि ।

करोत्यवश्यं सकलार्थसिद्धिं विहाय पाणिग्रहमेव पुण्ये ॥”

इत्युक्तम् । अत्र हि 'विलोमग' इति पदं टीकाकृन्महादेवो विलोमगः प्रतीच्यादिगमनविरुद्धोपि तत्र शुभ इति शब्दार्थं व्याख्यत् । तस्यायमाशयः । पुण्यो हि प्राचीनक्षत्रं तद्वक्षिणस्यां पश्चिमायां वा पारिघट्टसत्त्राद्विदिग्गमनप्रतिबंधकर्तृ सदोपपद्यते । तत्र 'द्विवद्धं सुवद्धं भवति' इति । न्यायोत्पुण्योपि सर्वदिग्द्वारण एव । यद्येवं हस्तेष्वपवादः पुण्यवत्कार्यः स्यात् । तुल्यन्यायत्वात् । एककर्तृकेणैव वाक्येन सर्वदिग्द्वारणत्वे सिद्धे पुनरन्येनाभिधानं व्यर्थं स्यात् । तस्मान्नैवं शक्यं वक्तुम् । अतः प्रागुक्तमेवोपोद्धलकं सत् । यद्येवं कस्तर्हि विलोमग इत्यस्यार्थः । केचिदाहुः विलोमं विपरीतं गच्छतीति विलोमगः । यथा—'तेषां संक्षेपोयं प्रकृतेरन्यत्वमुत्पातः' इति वराहोक्तैर्यदोत्पातेन विलोमगामित्वं पुण्यस्य स्यात्तदापि न दोषः । यथा भौमस्योष्णादिपंचविधं वक्रत्वमुक्तम् । तत्रोष्णं वक्रम् ।

“स्वस्वोदयाक्षयमेष्टमे वा सप्तर्षगे वा क्षितिजे प्रतीपे ।

तद्वक्रमुष्णाह्वयमेव तत्र बह्वर्भयं व्याधिभयं जनानाम् ॥”

इति वसिष्ठेन तल्लक्षणमुक्तम् । तत्रैतादृशं वक्रं न कदाचित्संभवति । तथापि उत्पातवशाद्वर्णितविरुद्धापिवक्रगतिः । स्यात्तदर्थं फलोपन्यासः । एवं पुण्यवक्रत्वमव्यालोच्यम् । एतद्व्याख्यानं निर्मूलत्वादुपेक्ष्यम् । यथोष्णस्य वक्रस्यासंभवस्तथा पितृचरणैष्टोडरानंदे भौमचारे सम्यक् प्रतिपादितम् । अन्ये त्वाहुः—विलोमगोपि विलोमग्रहाधिष्ठितोपि शुभः—

“एकार्गलहतं धिष्यं क्रूराक्रांतं च विद्धभम् ।

उत्पातदूषितं यत्तद्यात्रायां भंगदं सदा ॥” इति । वसिष्ठादिवाक्यात् क्रूरस्य वक्रिणो मार्गिणो वा योगो दुष्ट एव । अत एवा शुभान्वितोपि पुण्यः सकलार्थसिद्धिदातेत्युक्तम् । अनेन तु सौम्यस्य गुर्वादेर्वक्रिणो मार्गिणो वा दष्ट एवाशुभान्वितोपि अशुभफलदाता न स्यात् । तच्चित्यम् मूलभूतार्षवाक्यानुपलंभात् । यद्वक्रिसौम्यग्रहयोगेप्यशुभफलदाता पुण्यो न भवेदिति ।

“क्रूरैर्विद्धो युतो वापि पुण्यो यदि बलान्वितः ।

विना पाणिग्रहं सर्वमंगलेष्विष्टदः सदा ॥”

इति वसिष्ठादिवाक्यान्यव्येवमर्थकानि संति न कुत्रापि विलोमग



इत्यभिहितम् । किं च सौम्यवक्रिग्रहाधिष्ठितोऽश्विन्यादिभगणश्चेत्तदा श्विन्यादेर्दोषवत्ता भवन्मते प्रसज्यते । सा चाप्रसिद्धा । अन्यच्च ग्रहाधिष्ठितत्वं लक्षणया व्याक्रियते । मुख्यार्थसंभवे सा प्रयुक्ता । अस्ति च मुख्यार्थसंभवो यदुत्पातादिना नक्षत्रस्य वक्रत्वमिति । अपरे पुनराहुः— विलोमा उत्पातास्तैः सह गच्छतीति विलोमगः त्रिविधोत्पातैर्यदि पुण्यो निहतः तदापि शुभ इति । तदपि न । पुण्यस्त्रिविधोत्पातहतो दृष्ट एव । यदाह वसिष्ठः—

“मृगगणमध्ये सिंहो ह्युदुगणमध्ये तथैव पुण्यश्च ।

निजबलसहितोऽप्येवं त्रिविधोत्पातैर्न शक्तिमान्निहतः ॥”

इति तस्माद्विलोमग इत्यास्यार्थश्चिन्त्यः ।

ननु नक्षत्रविशेषे अश्विन्यादौ विहितत्वप्रतिषिद्धत्वाभ्यां विकल्पः । यथा षोडशीग्रहणाग्रहणयोः न पुनरतुल्यबलयोः । यथौदुम्बरीयाः सर्ववेष्टनस्पर्शनप्रतिपादिकयोः स्मृत्योः । तत्र हि स्पर्शनस्मृतेः प्रत्यक्षदृश्यो वेदः प्रमाणमौदुम्बरी स्पृष्ट्वा वेष्टयेदिति । सर्ववेष्टनस्मृतेस्तु प्रत्यक्षदृश्यमूलवेदानुपलम्भः । एतच्च स्मृतिचरणे सम्यगुपपादितं वार्तिककृता, एत्रमश्विन्यादिविषयकसार्वदिग्द्वारगप्रतिपादकस्य ‘हस्तः’ पुण्यइत्यस्य वाक्यस्य वसिष्ठादिमुनिवाक्यानि प्रमाणानि । निषेधवाक्यं तु चिन्त्यम् । मूलमित्यतुल्यबलत्वाद्विकल्पोऽपि न सम्भवति । तस्मान्मैत्रार्कपुण्याश्विनीनां भानां सार्वदिग्द्वारगत्वं सिद्धम् । तत्र सर्वशब्दग्रहणाद्वा ‘अग्नेर्दिशं नृप इयात्’ इत्यादिना वा विदिद्वाग्नेयादिदिद्वपि मैत्रादिभिर्यात्रोचितेति भावः । यदाह वसिष्ठः—

“सर्वस्मिन्नपि समये सर्वासु च दिग्निदिद्वेव ।

सार्वद्वारगधिष्ययान्यतिशुभदातृण्यखिलनृणाम् ॥” इति ।

अत्र सार्वद्वारगधिष्ययानामेव सर्वकालगामित्वमुक्तम् । रत्नमालायां तु श्रवणमृगशीर्षहस्तपुण्याणामुक्तम् । तच्च गुरुक्तसार्वदिग्द्वारगत्वाभिप्रायेण । अनुराधाश्विन्योस्तु सर्वमतेन सर्वकालगामित्वम् । तदा कालविशेषे निषेधे क्षिप्रग्रहणमश्विनीरहितं ध्येयम् । मृदुग्रहणमनुराधारहितं ध्येयम् । गुरुमते रेवतीरहितमपि । चरग्रहणं धनिष्ठाव्यतिरिकं गुरुमते एव द्रष्टव्यम्, एवमष्टानां सार्वदिग्द्वारगत्वं सर्वकालगमनार्थम् । चतुर्णां पुनर्मैत्रादीनां दिक्षु यात्रार्थमपि सार्वद्विग्द्वारगत्व-

मित्यलमतिप्रसङ्गेन । वक्री ग्रह इति । वक्रं विपरीतं गमनं यस्य भौमा-  
देः स वक्री ग्रहश्चेत्केन्द्रगतः स्यात्स गमे यात्रायां निषिद्धः । अथवास्य-  
लग्ने वर्गः षड्वर्गश्चेत्स्यात्तदापि भङ्गदः । अथ वा अस्य वक्रीग्रहस्य  
दिनं वारोपि स्यात् सोपि निषिद्धः । यदाह वराहः—

“एकोपि वक्रोपगतो नराणां शुभोशुभो वापि चतुष्टयस्थः ।

वर्गोपि वास्योदयगो विनाशं बहुप्रकारं कुरुतेध्वगानाम् ॥” इति ।

श्रीपतिनापि—

“नेष्टश्चतुष्टये वक्री तद्वर्गोपि विलम्बतः ।

करोति बहुधा नाशं तद्वारोपि यियासताम् ॥” इति ।

चतुष्टयं केन्द्रम् । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—

एकोपि वक्रगः खेटो लग्नस्थो वारिराशिगः ।

नीचस्थो वा तदंशस्थो यात्राफलविनाशनः ॥” इति ।

वारिराशिश्चतुर्थस्थानम् । नारदोपि—

“विलोमगो ग्रहो यस्य यात्रालग्नोपगो यदि ।

तस्य भङ्गप्रदो राजस्तद्वर्गोपि विलम्बगः ॥” इति—

तद्वक्रिग्रहस्य लग्नादिस्थितत्वे दोषाधिक्यं सूचयितुम् ।

यात्रार्थं वाराः—

तर्हि कस्य वारे गमनं कार्यमित्याह वसिष्ठः—

“बलप्रदस्य खेटस्य वारवर्गः शुभप्रदः ।

इतरग्रहवारादि यात्रायामशुभप्रदम् ॥” इति ।

अत्र केचित्—‘नेष्टश्चतुष्टये वक्र’ इति पाठमादृत्य वक्रं मङ्गलमिति  
व्याचख्युः । ‘आरो वक्रः क्रूरदक् चावनेय’ इति वराहोक्तेः । तत्र  
वक्रमस्यास्तीति वक्रः । अर्श आदित्वादच् । वक्री ग्रह एवेत्यर्थः ।  
अत्रापि ‘एकोपि वक्रगः खेट’ इति विलोमगो ग्रहो यस्येति च वसि-  
ष्ठनारदादिवाक्यान्यनुकूलानि वक्रीति पाठे मत्वर्थीये इतिप्रत्यये सति  
वक्रीति रूपसिद्धौ भौमस्य गन्धोपि नास्ति ॥ ३८ ॥

अथायनशुद्धिमिन्द्रवज्राच्छन्दसाह—

सौम्यायने सूर्यविधू तदोत्तरां

प्राचीं व्रजेत्तौ यदि दक्षिणायने ।



प्रत्यग्यमाशां च तयोर्दिवानिशं

भिन्नायनत्वेऽथ वधोऽन्यथा भवेत् ॥ ३६ ॥

सौम्यायन इति । यदि सूर्यचन्द्रौ सौम्यायन उत्तरायणे गतौ स्यातां तदा उत्तरां प्राचीं वा व्रजेत् । तदिङ्मुखा यात्रा शुभेत्यर्थः । यदि तु रविचन्द्रौ दक्षिणायनगतौ स्यातां तदा प्रतीचीं दक्षिणां वा व्रजेत् । यदाह पराशरः—

“चन्द्राकौ दक्षिणगतौ यायाद्याभ्यां परां प्रति ।

सौम्यायनगतौ यायात्प्राचीं सौम्यां दिशं प्रति ॥” इति ।

अयनभेदे एव दिवानिशं यात्रा कार्या—

तयोः सूर्याचन्द्रमसोर्भिन्नायनत्वे अयनभेदे सति दिवा निशं व्रजेत् । यथा सूर्यो यस्मिन्नयने तां दिशमुत्तरां दक्षिणां वा दिवा दिवसे यायात् । यदा चन्द्रो यस्मिन्नयने तां दिशमुत्तरां दक्षिणां वा निशी रात्रौ यायात् । अत्रोत्तरस्यां पूर्वस्या अन्तर्भावः । दक्षिणां पश्चिमाया इत्यपि ध्येयम् । अत्र संमतिर्वक्ष्यते । अन्यथा चेत्कुर्यात्तदा वधो मरणं भवेत् । यथा भिन्नायनत्वे सति सूर्यो यस्मिन्नयने तां दिशं यदि रात्रौ गच्छेत् । चन्द्रश्च यस्मिन्नयने तां दिशं दिवसे गच्छेत्तदा यातुर्वधो भवेदित्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—

“यात्रेष्टसिद्धिदार्केन्द्रोरेकायनगयोस्तयोः ।

भिन्नायनगयोरहि निशि चेदन्यथा वधः ॥” इति ।

नारदोपि—

“रवीद्वयनयोर्यानमनुकूलं शुभप्रदम् ।

तदभावे दिवा रात्रौ यात्रा यातुर्वधोन्यथा ॥” इति ।

तदभावे एकायनत्वाभावे दिवारात्रौ यात्रा गमनं स्यात् ।

स्पष्टं व्याख्यानं प्राग्बद्ध्येयम् । तदुक्तं रत्नकोशे—

“दिनकरकरप्रतप्तां मकरादावुत्तरां च पूर्वा च ।

यायाच्च कर्कटादौ यास्या माशां प्रतीचीं च ॥” इति । अतो

विलोमदिग्यात्रायां वधः स्यात् । एतस्य नामायनप्रतिलोमयात्रेत्युच्यते ।

तन्माहात्म्यमाह वराहः—

“यातोयनस्य प्रतिलोमकाष्ठां यः स्यात्स्वतन्त्रोपि जितः परेषाम् ।

स केवलव्याकरणाभियुक्तः काव्यज्ञगोष्ठ्यामिव हास्यमेति ॥”

इति ॥ ३६ ॥

अथ राक्षां यात्रायां सम्मुखशुक्रदोषमुपजातिकाङ्क्षन्दाह—

उदेति यस्यां दिशि यत्र याति

गोलभ्रमाद्वाथ ककुब्भसङ्घे ।

त्रिधोच्यते सम्मुख एव शुक्रो

यत्रोदितस्तां तु दिशं न यायात् ॥ ४० ॥

उदेतीति । शुक्रलिङ्गा प्रकारत्रयेण सम्मुख उच्यते । मुनिभिरि-  
ति शेषः । कथम् । शुक्रो यस्यां दिशि प्राच्यां प्रतीच्यां वा उदेति  
कालांशवशेनोदयं करोति । अत्र गन्तुः पुंसः शुक्रः सम्मुखः । अयमे-  
कः प्रकारः । वा अथवा गोलभ्रमादुत्तरदक्षिणगोलभ्रमणवशेन यत्र  
यस्यां दिशि उत्तरस्यां दक्षिणस्यां वा याति गच्छति तत्र गन्तुः स-  
म्मुखः शुक्रः स्यात् । अयं द्वितीयः प्रकारः । यत्र शब्दोऽनुवर्तते । य-  
त्र ककुब्भसङ्घे प्राच्यादिदिशि कृत्तिकादिन्यासवशेन यद्दिङ्मन्त्रे च-  
रति तत्र दिशि गन्तुः सम्मुखः शुक्रः स्यात् । अयं तृतीयः प्रकारः ।  
यदाहात्रिः—

“यदिगतः समुदयेद्विचरेद्यत्र गोलके ।

यद्द्वारभेषु विचरेद्विविधं प्रतिभार्गवम् ॥” ।

उदिते शुक्रे तद्दिशि न गन्तव्यम्—

एवं प्रकारत्रयेण शुक्रसामुख्ये निर्णीते उदयं गते शुक्रे दोषाधि-  
क्यमाह—यत्रोदित इति । तुर्विशेषे । एवमशब्दो भिन्नक्रमो दिशमि-  
त्यनेन सम्बध्यते । यस्यां दिश्युदितः शुक्रो दृश्येत तां दिशमेव न  
यायान्न गच्छेत् । अन्यदिश्यपि यथासम्भवं न यायात् । यदाह  
श्रीपतिः—

“उदयति दिशि यस्यां याति तत्र भ्रमाद्वा

विचरति च भचक्रे येषु दिग्द्वारभेषु ।

त्रिविधमिह सितस्य प्रोच्यते सम्मुखत्वं

मुनिभिरुदय एव त्यज्यते तत्र यत्नात् ॥” इति । स्पष्टार्थं



पद्यम् । याति यत्र भ्रमाद्वेति अत्र केचित् । स्वोदयकालात्प्र-  
दक्षिणं प्राच्याद्यष्टदिक्षु प्रहराष्टकेन सूर्यवच्छुक्रोपि भ्रमति । सूर्य-  
भ्रमणं च वसन्तराजेनोक्तं—

“दग्धा दिगैन्द्री ज्वलिता दिगैशी प्रधूमिता वानलदिकप्रभाते ।

प्रत्येकमेवं प्रहराष्टकेन भुङ्क्ते दिशोष्टौस विता क्रमेण ॥

दग्धादिगुक्ता दिननाथमुक्ता विवस्वदाता भवति प्रदीप्ता ।

सन्धूमितायां सविता प्रयाता शेषां दिगन्ताः खलु पञ्च शान्ताः॥” इति

अनेन सूर्यभ्रमणप्रकारेण शुक्रोपि यस्यां दिशि स्यात्सा दिक् गन्तुः  
सम्मुखा स्यात् । अतस्तस्मिन्प्रहरे सापि दिक् त्याज्येत्यर्थ इत्या-  
हुः । तत्र वसन्तराजे हि सूर्यभ्रमणवच्छुक्रभ्रमणमप्यवसेयमित्येवं-  
विधशुक्रातिदेशं वाक्याभावात् तस्मात् भ्रमादिति गोलभ्रमादित्येवं  
व्याकर्तव्यम् । अत्रार्थेऽत्रिरप्यनुकूलः तद्वाक्यं च प्रागुपन्यस्तम् ।

प्रतिशुक्रदोषफलमाह वराहः—

“प्रतिशुक्रबुधाशनिवृष्टिहतादिवधं कुरुते नृपतेर्गमने ।

मदिरामुदिता मदना कुलिता प्रमदेव कुलं परवेशमगता ॥” इति ।

नारदोपि—

“मूढे शुक्रे कार्यहानिः प्रतिशुक्रे पराजयः ।” इति । ननु वधू-  
प्रवेशप्रकरणे ‘दैत्येज्यो ह्यभिमुखदक्षिणेन शस्त’ इतिपद्येन शुक्रसाम्मु-  
ख्यदोषनिराकरणार्थं पुनरभिधानम् । किं च आवश्यकयात्रायां यत्रोदि-  
तस्तामेव दिशं नेयात् । तथा सति—

“पञ्चादभ्युदिते शुक्रे यायात्प्राचीं तथोत्तराम् ।

प्राच्यामभ्युदिते शुक्रे प्रतीचीं दक्षिणां दिशम् ॥” इति वसि-  
ष्ठवाक्यमपि यथासम्भ्रमादरणीयं च भवति । अनेन संमुखशु-  
क्रव्यतिरिक्तदिग्यात्राभ्युपगमात् । किं च वधूप्रवेशप्रकरणे  
शिश्वादीनां विशेषफलाभिधानं कृतं न तु सामान्यतो यात्रासाधार-  
ण्येनान्येषामपि राजादीनां कृतम् अत एव यस्य विशेष्य पुनरपेक्षा  
नास्ति नगरप्रवेशविषयाद्युपद्रव इति ‘भृङ्गङ्गिरोवत्स’ इति चा-  
भिहितस्य सम्मुखशुक्रापवादस्याभिधानमत्र पुनर्न कृतमेते-  
नैव सिद्धेः ।

अथैवंविधेपि शुक्रसांमुख्ये अवश्यकर्तव्ये च गमने शांतिमाह वसिष्ठः—

“तद्दोषशमनार्थाय शांतिं वक्ष्ये समासतः ।  
 कृत्वा शांतिं प्रयत्नेन पश्चात्सर्वं समाचरेत् ॥  
 भृगुलग्ने भृगोवारि भृगोर्वर्गे भृगूदये ।  
 उपोष्य भृगुवारेऽपि यावच्छुक्रोदयं प्रति ॥  
 रजतेन च शुद्धन कारयेत्प्रतिमां भृगोः ।  
 लिखेदष्टदलं पद्मं कांस्यपात्रे च तंडुलैः ॥  
 शुक्रसूक्ष्मांबरैर्वेष्ट्य प्रतिमां तत्र पूजयेत् ।  
 शुक्रपुष्पाक्षतैर्गन्धैर्मुक्ताहारैर्विचित्रितैः ॥  
 उपचाराणि कार्याणि शुक्रं ते अन्यदित्यूचा ।  
 तन्मंत्रेण जपं कुर्यात्सम्यगष्टोत्तरं शतम् ॥  
 कर्मान्ते तेन मंत्रेण भक्त्या चार्घ्यं प्रदापयेत् ।  
 श्वेतगंधाक्षतैः पुष्पैः क्षीरमिश्रेण वारिणा ॥  
 दैत्यमंत्री दिवादर्शी चोशना भार्गवः कविः ।  
 श्वेतोथ मंडली काव्यो विधिस्थो भृगवे नमः ॥  
 दत्स्वेत्यर्घ्यं प्रयत्नेन प्रार्थयेद्देवभक्तिः ।  
 अनेनैव च मंत्रेण प्रांजलिः प्रणतः स्थितः ॥  
 त्वत्पूजयानया शुक्रं संमुखत्वसमुद्भवम् ।  
 दोषं विनाशय क्षिप्रं रक्ष मां तेजसां निधे ॥  
 इति प्रार्थ्यं प्रयत्नेन प्रतिमां भूषणान्विता ।  
 दैवज्ञायैव दातव्या श्वेताश्वसपितैव च ॥  
 शिष्टेभ्यो दक्षिणां दद्याद्यथावित्तानुसारतः ।  
 ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चात्स्वयं भुंजीत बंधुभिः ॥  
 इतरेषां ग्रहाणां च पूजां कुर्यात्प्रयत्नतः ।  
 तत्तत्संमुखजो दोषस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥  
 सूर्याय कपिलां दद्याच्छङ्खं चंद्रमसे तथा ।  
 कुजाय वृषभं दद्यात्स्वर्णं दद्याद्बुधाय च ॥  
 गुरवे पीतवस्त्रं चाश्वं सितायासिताय गाम् ।  
 एवं प्रयत्नतः कृत्वा सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥” इति ।  
 इतरग्रहसांमुख्येपि यात्रा न कार्या—



शुक्रवदितरग्रहसामुख्ये तत्तल्लिंगस्वशास्त्रोक्तवैदिकमंत्रैः पूजादिकं विधेयम् । अस्मादेव शांतिकथनज्ञापकादितरसामुख्ये दोषाभिधायकं वाक्यं विनैव किञ्चिद्दोषोस्तीत्यनुमीयते । बुधसामुख्यदोषं तु स्वयमेव वक्ष्यति । भौमसामुख्यदोषं कण्ठतो वसिष्ठ एवाह । तद्वाक्यमधुनैव प्रदर्शयिष्यत इत्यास्तां प्रसक्तानुप्रसक्तेन ।

दीपिकायां तु दानमेवोक्तम्—

“सितमश्वं सितं छत्रं हेममौक्तिकसंयुतम् ।

ततो द्विजातये दद्यात्प्रतिशुक्रप्रशांतये ॥” इति ।

एतच्छांतिप्रकाराशक्तौ ध्येयम् ॥ ४० ॥

अथैवं संमुखशुक्रदोषमभिधायेदानीं तस्यैव वक्रास्तादिदोषं साप-  
वादमुपजातिकयाह—

वक्रास्तनीचोपगते भृगोः सुते

राजा ब्रजन्याति वशं हि विद्विषाम् ।

बुधोऽनुकूलो यदि तत्र सञ्चलन्

रिपूञ्जयेन्नैव जयः प्रतीन्दुजे ॥ ४१ ॥

वक्रास्तेति । भृगोः सुते शुक्रे वक्रोपगते अस्तोपगते वा उपलक्षण-  
त्वाद्ग्रहयुद्धपराजिते वर्णरहिते वा सति राजा परराष्ट्रं ब्रजन् सन् हि  
निश्चयेन विद्विषां शत्रूणां वशं याति निबद्धो भवतीत्यर्थः । यदाह  
भारद्वाजः—

“विवर्णे विजिते नीचे वक्रिते वा सितेऽस्तगे ।

शत्रुग्रहयुते वापि तदंशे तन्निरीक्षिते ॥

यात्रां नैव प्रकुर्वीत लक्ष्म्यायुर्बलहानिदाम् ॥” इति । श्रीपतिरपि—

“नीचग्रहजिते प्रतिलोमे भार्गवे कलुषितेस्तगते वा ।

प्रस्थितो नरपतिः प्रबलोपि क्षिप्रमेव वशमेति रिपूणाम् ॥” इति ।

गुरुशुक्रचन्द्राणामस्तदोषे बाल्ये वार्द्धक्ये च यात्रा न कार्या—

अत्र विशेषमाह लघुवसिष्ठः—“शुक्रे वास्तंगते जीवे चन्द्रे वास्तमु-  
पागते । तयोर्बाल्ये वार्द्धक्ये च सा यात्रा भयरोगदा ॥” इति ।

अथ शुक्रास्तापवाद उच्यते—

बुध इति । तत्र शुक्रास्ते यदि बुधोऽनुकूलः पृष्ठदिक्संस्थो भवेत्तदा

संचलनाच्छुन् राजा रिपून् शत्रून् जयेत् । यदाह श्रीपतिः—“एवंविधे  
ह्यास्फुजिति प्रयायाद्बुधो यदि स्यादनुकूलवर्ती” इति । अपवादांत-  
रमप्याह नारदः—

“नीचगोरिगृहस्थो वा वक्रगो वा पराजितः ।

यातुर्भगप्रदः शुक्रः स्वोच्चस्थश्चेद्धनप्रदः ॥” इति ।

संमुखे बुधे कुजे शुक्रे वा न यात्रा कार्या—

नैवेति । प्रतीदुजे बुधसंमुखत्वे सति गंतुं राज्ञो नैव जयः किंतु  
पराजयः । यदाह नारदः—“प्रतीदुजकृतं दोषं हंतुं शक्ता प्रहा नहि”  
इति । वसिष्ठोपि—

“प्रतिशुक्रं प्रतिबुधं प्रतिभौमं गतो नृपः ।

बलेन शक्रतुल्योपि हतसैन्यो निवर्त्तते ॥” इति ।

प्रतिशुक्रबुधादिदोषो नृणां प्रथमगमे राज्ञां युद्धयात्रामेव—

अयं च प्रतिशुक्रादिविचारः नृणां प्रथमगमने राज्ञां तु विजययात्रा-  
माहुः । तथा च रैभ्यः—“प्रतिशुक्रादिदोषोयं नूतने गमने नृणाम् । राज्ञां  
विजययात्रायां नान्यथा दोषमावहेत् ॥” इति । आदिशब्दाच्छुक्रास्तप्रति-  
भौमप्रतिबुधा गृह्यन्ते । तेषामप्येवंविधे विषये दोषः ॥ ४१ ॥

अथ कालविशेषे प्रतिशुक्रापवादं शुक्रास्ते च विशेषं शालिनीछ-  
न्दसाह—

यावच्चन्द्रः पूषभात्कृत्तिकाद्ये

पादे शुक्रोऽन्धो न दुष्टोऽग्रदत्ते ।

मध्येऽमार्गं भार्गवास्तेऽपि राजा

तावत्तिष्ठेत्समुखत्वेऽपि तस्य ॥ ४२ ॥

यावदिति । चंद्रो यदा पूषभादेवतीनक्षत्राक्षरभ्य कृत्तिकाद्ये पादे  
रेवत्यश्विनीभरणीकृत्तिकाप्रथमचरणे यावच्चन्द्रस्तिष्ठति तावच्छुक्रोऽन्धो  
ज्ञेयः । दृष्टोपि शुक्रो दर्शनकार्यं न करोतीत्यर्थः । तदेवाह—न दुष्ट इति ।  
शुक्रोऽन्धो यदा भवेत्तदा अग्रे संमुखे दक्षिणभागे च दुष्टो न स्यात् ।  
यदाह पराशरः—

“पौष्णादिवह्निभाद्यांघ्रि यावत्तिष्ठति चन्द्रमाः ।

तावच्छुक्रो भवेदंधः संमुखे गमनं हितम् ॥” इति ।



मध्येमार्गमिति । मार्गस्य मध्ये मध्येमार्गं 'पारेमध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावसमासः । पूर्वपदस्यैदंतत्वं निपातनात् पारे मध्ये इति । सुमुहूर्तप्रस्थितो राजा मार्गमध्ये यदि शुक्रास्तो भवेत्तावत्कालं तस्मिन्नेव प्रयाणे तिष्ठेत् यावच्छुक्रोदयो भवेत् । यदि शुक्रो गन्तू राक्षः संमुखो दैवात्तावत्तस्य शुक्रस्य सम्मुखत्वेपि तस्मिन्नेव प्रयाणे तिष्ठेत् ।

क्वचिद्गुरोरपि सामुख्यास्तत्वदोषौ यात्रायां न स्तः—

उपलक्षणत्वाद्गुरावप्येवंविधे द्रष्टव्यम् । यदाह पराशरः—“जीवः शशाङ्कः शुक्रौ वा मार्गमध्येस्तगो यदि । तत्रैव निवसेद्राजा यावदभ्युदितो भवत् ॥” इति ।

तत्र विशेषः—

उदयादनंतरं यदि संमुखः शुक्रस्तदापि स्थेयमिति प्राग्वचनाज्ज्ञायते । ततः शुक्रास्तापेक्षायां तत्रैव स्थितिः । ततः शुक्रोदयमपेक्ष्य तं च पृष्ठतः कृत्वाप्रे सुमुहूर्ते वा गच्छेदित्यनुक्तमप्येतत्सर्वं ज्ञायत इति ।

एवं मध्येमार्गं बुधास्तश्चेत्स्यात्तदा दोषाभावः । सामान्यविशेषवाक्याभावात् । यदा तु मध्येमार्गं बुधोदयो भवेत्स च पुनः संमुखः स्यात्तदा दोष एव । उक्तं च वसिष्ठेन—“संमुखे चंद्रजे यत्र मार्गमध्योदितो यदि । यावदस्तंगते तस्मिस्तावत्तत्रैव संवसेत् ” इति ॥ ४२ ॥

अथैवं महतायासेन दिनशुद्धिगमिधायेदानीं लग्नशुद्धिं वक्तुकामस्तावत्प्रयाणेनिष्ठलग्नमनुष्ठुमाह—

कुम्भ कुम्भांशकौ त्याज्यौ सर्वथा यत्नतो बुधैः ।

तत्र प्रयातुपनृतेरर्थनाशः पदे पदे ॥ ४३ ॥

कुंभेति । स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । यदाह नारदः—“निधो निखिलयात्रासु घटलग्नं घटांशकः” इति । श्रीपतिरपि—“नेष्टुः कुंभोप्युद्गमेशस्थितो वा” इति । वराहोपि—“न कुंभलग्नं शुभमाह सत्यो न भागभेदाद्यवना वदंति” इति ॥ ४३ ॥

अथान्यदनिष्टलग्नं शुभफलदलग्नं च मंजुभाषिणीद्वंदसाह—

अथ मीनलग्न उत वा तदंशके

चलितस्य वक्रमिह वर्त्म जायते ।

जनिलग्नजन्मभपती शुभग्रहौ

भवतस्तदा तदुदये शुभो गमः ॥ ४४ ॥

अथ मीन इति । मीनलग्ने वा सत्यपि लग्नांतरे तदंशे मीनांशे वा चलितस्य राशौ वर्त्म वक्रं स्यात् । यदाह नारदः—“वक्रः पंथा मीनलग्ने यातुर्मीर्निनांशकेऽपि वा” इति । श्रीपतिरपि—“वक्रः पंथा मीनलग्नेशके वा कार्या सिद्धिः स्यान्नवृत्तिश्च तस्य” इति । दुर्गादित्यः—“मीनोदये गमनमन्यगृहोदयेपि मीनांशके कुटिलमेव च निष्फलं स्यात्” इति

यात्रायां शुभलग्नानि—

एवमशुभलग्नमभिधायेदानीं शुभलग्नान्युच्यन्ते—जनीति । जनिर्जन्मकालीनलग्नं जनिलग्नं जन्मभं जन्मराशिः तयोर्जन्मराशयोः पती स्वामिनौ शुभग्रहौ चेदुदये लग्ने भवतस्तदा गमो गमनं शुभः स्यात् । जन्मलग्नं जन्मराशिश्च यात्रालग्नं शुभमिति प्रागेवाभिहितं—‘जननराशितनू यदि लग्नगे’ इति । अर्थाज्जन्मलग्नजन्मराशिस्वामिनौ पापग्रहौ यदि यात्रालग्नने स्यातां तदा तादृशे लग्ने गमनमशुभफलदमित्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—“जन्मराशौ लग्नगते तदीशे वा विलग्नगे ।

अभीष्टफलदा यात्रा राशशीश्चेच्छुभग्रहः ॥ ”इति ।

ननु—“जन्मराशयुद्धमो नैव जन्मलग्नोदयः शुभः ।

तयोरुपचयस्थानं यदि लग्नगतं शुभम् ॥ ”

इति बृद्धनारदेन जन्मराशेयात्रालग्ननावस्थितौ निषेधोभिहितः सत्यम् । राशेः पापग्रहस्वामित्वे दोषो न शुभग्रहस्वामित्वे प्रागुक्तवसिष्ठवाक्यस्वरसात् । एवं जन्मलग्नोदयः शुभ इत्यपि जन्मलग्नस्य शुभग्रहस्वामित्वे शुभफलं न पापस्वामित्वे इति व्याख्येयम् ॥ ४४ ॥

अथान्यदनिष्टं लग्नं रथोद्धताच्छन्दसाह—

जन्मराशितनूतोऽष्टमेऽथवा स्वारिभाच्च रिपुभे तनुस्थिते ।



लग्नगास्तदधिषा यदाथवा स्युर्गतं हि नृपतेर्मृतिप्रदम् ॥ ४५ ॥

जन्मराशीति । स्वस्य जन्मराशेर्जन्मलग्नाच्चाष्टमे राशौ लग्नस्थे सति तथा स्वारिभात् जिगमिषतः स्वशत्रोर्भाद्राशेर्लग्नाच्च रिपुभे षष्ठराशौ तनुस्थिते वा सति अथवा स्वराशिलग्नान्ध्यामष्टमभवने स्वशत्रोर्जन्मराशिलग्नान्ध्यां षष्ठमवने तेषां स्वामिनो यात्रा लग्नगताः स्युर्यदा तदा राक्षो मृतिप्रदाः । यदाह श्रीपतिः—

“जननसमयलग्नान्धेने जन्मभाद्रा  
निजरिपुभवनाद्वा शत्रुभे लग्नयाते ।  
पतिभिरुत तदीयैर्लग्नगैः पार्थिवानां  
गमनमथ विषं वा भक्षितं तुल्यमेव ॥ ” इति ।

विषं वा भक्षितं मरणप्रदमित्यर्थः । वसिष्ठेन तु स्वजन्मराशिलग्नान्ध्यां द्वादशमवनमपि निषिद्धमुक्तम् । यथा—

“स्त्राष्टलग्ने लग्नगते राशौ वा लग्नगे सति ।  
यातुर्भंगो भवेत्तत्र द्वादशे वाथ लग्नगे ॥ ” इति ॥ ४५ ॥

अथान्यच्छुभलग्नं शालिन्याह—

लग्ने चन्द्रे वापि वर्गोत्तमस्थे  
यात्रा प्रोक्ता वाञ्छितार्थैकदात्री ।  
अम्भोराशौ वा तदंशे प्रशस्तं  
नौकायानं सर्वसिद्धिप्रदायि ॥ ४६ ॥

लग्ने इति । मीनकुम्भव्यतिरिक्ते यस्मिन्कस्मिंश्चिल्लग्नो वर्गोत्तमस्थे वर्गोत्तमनवांशगते सति वा अथवा चन्द्रे वर्गोत्तमस्थे सति यात्रा वाञ्छितार्थस्य मनोभीष्टार्थस्यैकाद्वितीया दात्री । यदाह वसिष्ठः—वर्गोत्तमांशगे लग्ने त्वथवापि सुधाकरे । यात्रा कार्यदुधा यातुर्माता पुत्रस्य वै यथा ॥ ” इति । वै निश्चयेन् ॥

नौकायात्रालग्नम्—

नौकायात्राया असाधारणत्वेन, लग्नमुच्यते—अम्भोराशाविति । जलचरराशौ लग्नगते सति अथवा लग्नान्तरे तद्वेशं जलचरांशे सति

नौकायानं सर्वसिद्धिप्रदायि स्यात् । यदाह नारदः—“जलोदयो जलां-  
शोपि जलयाने शुभप्रदः” इति । दुर्गादित्योपि—“नौयानमाप्यभवनेषु  
विलग्नगेषु कुर्यात्तथान्यगृहगेषु तदंशगेषु” इति । वराहोपि—“नौयान-  
मिष्टं जलराशिलगने तदंशके वान्यगृहोदयेपि” इति । एतेन सम्मतिदर्शनेन  
लग्ने चाप्यंशे च नौयानमिष्टमिति श्रीपतिवाक्यं च आप्ये इति पद-  
च्छेदेन स्पष्टार्थमपि चापसम्बन्धिनि लग्ने धनुर्लग्ने धनुरंशे च नौका-  
यानमिष्टमित्येवं केचिद्व्याकुर्वन्ते । तद्व्याख्यानमपाकृतं भवति । किंच  
तादृशे वाक्यार्थे क्रियमाणे मूलवाक्यानुपलम्भः प्रयोगाशुद्धिश्च स्यात्  
चापशब्दात्—“वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् ” इति वृद्धसंज्ञका-  
त्—“वृद्धाच्छः” इति विहितस्य शैविकल्लुप्रत्ययस्येयादेशे चापीय  
इति पाठ्यं स्यात्तथा च पाठे छन्दोभङ्गः स्यात् ॥ ४६ ॥

अथ मेषादीनां दिगनुलोमप्रतिलोमराशीनां लग्नावस्थितौ फलमि-  
न्द्रवज्राच्छन्दसाह—

दिग्द्वारभे लग्नगते प्रशस्ता

यात्रार्थदात्री जयकारिणी च ।

हानिं विनाशं रिपुतो भयं च

कुर्यात्तथा दिक्प्रतिलोमलग्ने ॥ ४७ ॥

दिगिति । दिग्द्वारभानि मेषादिराशयस्तद्विलग्नगेषु गन्तव्यदिगव-  
स्थितेषु सत्सु यात्रा प्रशस्ता । प्रशस्तत्वमेवाह—अर्थदात्री जय-  
कारिणी चेति । यथा मेषः पूर्वस्यां, वृषो दक्षिणस्यां, मिथुनः प-  
श्चिमायां, कर्कटः उत्तरस्याम् । एवं सिंहादयो धनुरादयश्च पूर्वा-  
दिषु ध्येयाः । यदाह वसिष्ठः—“पूर्वादिदिक्षु मेषाद्याः क्रमादिग्द्वारराश-  
यः । दिग्द्वारराशयः सर्वे तदिग्यातुः शुभप्रदाः ” इति ।

तत्र द्रव्यहानिशत्रुभयादिदलग्नानि—

हानिमिति । दिक्प्रतिलोमलग्ने विपरीतदिगवस्थिते लग्ने सति  
यथा पश्चिमायां मेषः, उत्तरस्यां वृषः, पूर्वस्यां मिथुनः, दक्षिणस्यां  
कर्कः । एवं पुनः पश्चिमादिषु दिक्षु सिंहादयो धनुरादयश्च ज्ञे-  
याः । तादृशे लग्ने गन्तुः पुंसो यात्राहानिं द्रव्यादिनाशं रिपुतः



शत्रुतो भयं च कुर्यात् । तथाशब्दः पादपूरणे । उक्तं च वसिष्ठेन—“दिग्द्वारमे लग्नगते यात्रार्थविजयप्रदा । लग्ने दिक्प्रतिलोमे सा हानिदा शत्रुभीतिदा” इति । बृहद्यात्रायां वराहोपि—“यातव्यदिक्शत्रुगतस्य सुखेन सिद्धिर्व्यर्थश्रमो भवति दिक्प्रतिलोमलग्ने” इति ॥ ४७ ॥

अथ शुभलग्नान्येव वसन्ततिलकाच्छन्दसाह—

राशिः स्वजन्मसमये शुभसंयुतो यो  
यः स्वारिभान्निधनगोऽपि च वेशिसञ्ज्ञः ।  
लग्नोपगः स गमने जयदोऽथभूप-  
योगैर्गमो विजयदो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥४८॥

राशिरिति । जिगमिषोः पुंसः स्वजन्मसमये यो राशिः शुभग्रहैश्चन्द्रबुधगुरुशुक्रैः संयुतोस्ति स राशिश्चेद्यात्रालग्नोपगः स्यात् अथवा स्वारिभात् स्वशत्रोर्भं राशिर्लग्नं वा ततोष्टमो यो राशिः स चेद्यात्रालग्नोपगः स्यात् अथवा यो राशिर्वेशिसञ्ज्ञः सूर्याक्रान्तराशोर्द्वितीयो राशिर्वेशिसञ्ज्ञः स चेद्यात्रालग्नोपगः स्यात् तदा स राशिर्गमने जयदः स्यात् । यदाह नारदः—“यो ग्रहो जन्मनि शुभो यो राशिर्वेशिसञ्ज्ञकः । तावुमौ जन्मलग्नं च यात्रायां शुभदं त्रयम् ॥” इति । शुभः शुभग्रहयुतः । यदाह श्रीपतिः—“यः स्वजन्मनि शुभग्रहाश्रितो यश्च राशिरिह वेशिसञ्ज्ञकः । यः स्वशत्रुभवनाच्च नैधने लाभगः स गमने शुभावहः ॥” इति ।

वसिष्ठः—

“शत्रोरष्टमलग्ने वा राशौ वापि विलग्नगे । तदीशस्थितलग्ने वा यातुः शत्रुक्षयः सदा ॥” इति । वेशिलक्षणमाह वराहः—“दिनकरयुताद्भाद्वितीयो हि वेशिः” इति ।

यात्रालग्नयुतजातकोक्तराजयोगाः—

अथवा भूपयोगैर्जातकोक्तयात्रालग्नवस्थितै रोजयोगैर्गमो मुनिभिर्विजयदः प्रोक्तः । यदाह नारदः—“ये नृपा यान्त्यरीर्जतुं तेषां योगैर्नृपाह्वयैः । उपैति शान्तिं कोपान्निः शत्रुयोषाश्रुवारिभिः ॥” इति ।

वराहोपि—

“जातकोक्तनृपयोगगतानां प्रत्यहं भवति राज्यविवृद्धिः ।  
घातधूर्णितमिवाणवियानं पल्लवे तु समुपैति विनाशम् ॥” इति ।  
ते च राजयोगा बृहज्जातके सारावल्यां च टोडरानन्दे च सन्त्यतस्त-  
त एवावधार्याः ॥ ४८ ॥

अथ लालाटिकयोगान्वक्तुकामस्तावद्विक्स्वामिन् उपजातिकयाह—

सूर्यः सितो भूमिसुतोऽथ राहुः  
शनिः शशी ज्ञश्च बृहस्पतिश्च ।  
प्राच्यादितो दिक्षु विदिक्षु चापि  
दिशामधीशाः क्रमतः प्रदिष्टाः ॥४९॥

सूर्य इति । स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । यदाह वसिष्ठः—“दिगीश्वरा  
भास्करशुक्रभौमराह्वर्किचन्द्रबसुरार्चिताः स्युः” इति ॥ ४९ ॥

अथ दिग्धीशकथनप्रयोजनं तनुमध्याङ्गन्दसाह—

केन्द्रे दिग्धीशे गच्छेदवनीशः ।

लालाटिनि तस्मिन्नेयादरिसेनाम् ॥ ५० ॥

केन्द्रे इति । दिक्स्वामिनि सूर्यः सित इत्यादिनोक्ते केन्द्रे  
केन्द्रवर्तिनि सति अवनीशो राजा गच्छेत् । तस्मिन् दिग्धीशे ला-  
लाटिनि सति अरिसेनां नेयान् गच्छेत् । यदाह श्रीपतिः—“लालाटगे  
न प्रवसेदिगीशे गन्तव्यमस्मिन् खलु कण्टकस्थे” इति ॥ ५० ॥

अथ लालाटिकयोगान् शार्दूलविक्रीडितेनाह—

प्राच्यादौ तरणिस्तनौ भृगुसुतो लाभव्यये भूसुतः

कर्मस्थोऽथ तमो नवाष्टमगृहे सौरिस्तथा सप्तमे ।

चन्द्रः शत्रुगृहात्मजेऽपि च बुधः पातालगो गीष्पति-

र्वित्तभ्रातृगृहे विलग्नसदनाल्लालाटिकाः कीर्तिताः ॥५१॥



प्राच्यादाविति । प्राच्यादौ प्राच्याद्यष्टदिक्षु क्रमेण विलग्नादिषु भा-  
 वेषु सूर्यादिग्रहस्थित्या ललाटिकाः स्युरिति वाक्यार्थः । यथा तनौ  
 लग्नस्थस्तरणिः सूर्यः प्राच्यां गन्तुर्लालाटिकः । एवमाग्नेय्यां भृगुसुतो ला-  
 भव्यैकादशद्वादशस्थाने लालाटिकः । कर्मस्थो दशमस्थो भूसुतो मङ्गलो  
 दक्षिणस्याम् । तमो राहुरष्टमनवमस्थानस्थितो नैऋत्याम् । सौरिः शनिः  
 सप्तमस्थः पश्चिमायाम् । चन्द्रः शत्रुगृहात्मजे षष्ठपञ्चमस्थो वायव्याम् । बुधः  
 पातालगश्चतुर्थस्थानस्थ उत्तरस्याम् । गोपतिर्बृहस्पतिर्विचित्रातृष्टहे द्वि-  
 तीयतृतीयस्थानस्थ ऐशान्यां लालाटिक इत्यर्थः । यदाह नारदः—“ल-  
 ग्नस्थो भास्करः प्राच्यां दिशि यातुर्ललाटगः । द्वादशैकादशे शुक्र आ-  
 ग्नेय्यां तु ललाटगः ॥ दशमस्थः कुजो लग्नाद्याम्यायां तु ललाटगः ।  
 नवमाष्टगतो राहुर्नैऋत्यां तु ललाटगः ॥ लग्नात्सप्तमगः सौरिः प्रतीच्यां  
 तु ललाटगः । षष्ठपञ्चमगश्चन्द्रो वायव्यां तु ललाटगः ॥ चतुर्थस्थानगः  
 सौम्य उत्तरस्यां ललाटगः । द्वित्रिस्थानगतो जीव ऐशान्यां तु लला-  
 टगः ॥ ललाटिदिकपतिं त्यक्त्वा जीवतेऽभुर्ब्रजेन्मृपः” इति । वराहोपि—  
 “लग्ने भानुः सुतरिपुगतश्चन्द्र आरो नभःस्थः पातालस्थो हिमकरसुतः  
 स्वत्रिगो देवमन्त्री । तद्वच्छुक्रो व्ययभवनगो भास्करिः सप्तमस्थो राहुर्नि-  
 त्यं निधननवगः स्वां दिशं वारयन्ति” इति । यत्तु वसिष्ठवाक्ये—“राशी-  
 नेके द्वाविनाक्रान्तराशेरप्रादक्षिण्याद्विन्यसेद्दिग्विदिक्षु । यद्दिग्राशौ लग्नगो  
 संमुखत्वं तदिग्यातुर्मृत्युदस्तदिगीशः” इति—तदयुक्तं प्रतिभाति । तथाहि  
 सूर्याधिष्ठितराशेरप्रादक्षिण्येन द्वादशराशिवक्त्रे दिश्येको विदिशिद्वावि-  
 त्येवं व्यस्ते ‘सूर्यः सित’ इत्यादिना प्राच्याद्यष्टदिक्षु ग्रहन्त्यासे कृते सति  
 सूर्याक्रान्तराशेश्चेच्चतुर्थो बुधस्तदोत्तरस्यां लालाटिकः स्यात् । स चासं-  
 भवनीयः । नहि केनापि गणितप्रकाररेण सूर्याच्चतुर्थो बुधः स्यात् । अत  
 एव वराहोपि—“चतुर्थभवने सूर्याज्जसितौ भवतः कथम्” इति । अन्यच्च  
 सूर्याधिष्ठितराशेः सप्तमः शनिः पश्चिमायां लालाटिकः । तत एव दशमस्थो  
 भौमो दक्षिणस्याम् । एवमेव सर्वेऽपि ग्रहाः लालाटिका इत्यापद्येत ।  
 इष्यते च लग्नाराशेरेव । एवं सति सकलमुनिविरोधश्चापतेत् । तस्माद्वसि-  
 ष्टसंहितापुस्तके—‘इनाक्रान्तराशेः’ इति लेखकभ्रमसम्भूतः पाठः । तस्मा-  
 त् ‘राशीनेके द्वावितो लग्नराशेः’ इति पाठः सार्धायान् कल्प्यः ।  
 एवं सति चतुर्थस्थानगतबुधासंभवः सकलमुनिविरोधश्च नास्ति । रत्न-  
 कोशे—“योधिपतिर्दिशि यस्यास्तस्मिन्तत्स्थेन तां दिशं यायात् । अनु-

कूले च दिगीशे गतव्यं कंटकोपगते" इति । अत्र सूर्यभौमशनिबुधाना-  
मस्ति च कंटकोपगतत्वमस्ति लालाटिकत्वम् । अन्येषां शुक्रादीनामु-  
भयरूपत्वासंभव एव । तत्र लालाटिकस्थानव्यतिरिक्तं स्थानत्रयं कंट-  
कशब्देन व्यवहर्तव्यम् । बहुव्यापकत्वालपव्यापकत्वरूपसामान्यविशे-  
षभावसत्त्वात् । तस्माल्लालाटिकव्यतिरिक्ते कंटकस्थाने यदि दिगीशस्त-  
दा शुभफलदा यात्रान्यथा ह्यशुभदेति हृदयम् ॥ ५१ ॥

अथ पर्युषितयात्रायोगचतुष्टयमनुष्टुभेन्द्रवज्रया चाह—

मृगे गत्वा शिवे स्थित्वादितौ गच्छञ्जयेद्रिपून् ।

मैत्रे प्रस्थाय शाक्रे हि स्थित्वा मूले व्रजंस्तथा ॥५२॥

प्रस्थाय हस्तेनिलतक्षधिष्ये

स्थित्वा जयार्थं प्रवसेद्विदैवे ।

वस्वन्त्यपुष्ये निजसीम्नि चैक-

रात्रोषितः क्षमां लभतेऽवनीशः ॥ ५३ ॥

मृगे इति । मृगशिरसि स्वगृहाद्यातव्यदिगभिमुखं कस्यचिदिष्टस्य  
गृहे गत्वा प्रस्थायाद्रायां तस्मिन्नेव गृहे स्थित्वोषित्वादितौ पुनर्वसौ  
गच्छन् तद्गृहं त्यक्त्वा ग्रामाद्बहिरेव गच्छन् सन् रिपून् शत्रून् जयेत् ।  
अयमेको योगः । एवमेव मैत्रेऽनुराधायां प्रस्थाय शाक्रे ज्येष्ठायां स्थित्वा  
मूले व्रजन् सन् तथा शत्रून् जयेदित्यर्थः । अयं द्वितीयो योगः । तथा  
हस्ते प्रस्थायानिलतक्षधिष्ये स्वातिचित्रानक्षत्रद्वये स्थित्वा द्विदैवे  
विशाखायां जयार्थं भूपादिः प्रवसेद्देशांतरं गच्छेत् । अयं तृतीयो योगः ।  
वस्वन्त्यपुष्ये धनिष्ठारेवतीपुष्येषु निजसीम्नि स्वनगरप्रांते प्रस्थितः  
सन् यदि एकरात्रोषितः स्यात्तदाऽवनीशो राजा क्षमां भूमिं शत्रोरिति  
शेषः । लभते जयेन प्राप्नोतीत्यर्थः । अयं चतुर्थो योगः । यदाह बृहद्यात्रायां  
वराहः—“सौम्ये गत्वाध्युष्य रौद्रे दितीशे संप्रस्थाता बाधते शत्रुसंघान् ।  
मैत्रे गत्वा पौरुद्धते समुष्य मूले यायाच्छत्रुनाशाय भूपः ॥ हस्ते गत्वा  
स्वातिचित्रे समुष्य शुक्राग्न्योर्भे प्रस्थितो बाधतेऽरीन् । तिष्ये पौष्णे  
वासवे चैकरात्रं सीम्नि स्थित्वा भूतिमाप्नोति याता ॥” इति ।



अयमन्यो योगः—

कचिन्मृगो प्रस्थायाद्रायां पुनर्वसौ च स्थित्वा पुष्ये गच्छेदित्युक्तम् ।  
यदाह गुरुः—“सौम्ये गत्वा समध्युष्य रौद्रादित्ये ब्रजेत्पुनः । पुष्येतिसं-  
पदो विद्वाँल्लभते जीवसंपदः” इति ।

विशेषमाह वराहः—

“यथेष्टवेलागमनं प्रशस्तं हस्तैर्दवोपेन्द्रसुरेशभेषु । कृत्वा प्रयाणं श्रवणे  
श्रियोर्थी वसेन्न जातु क्षितिपः स्वसीम्नि” इति ।  
उपेन्द्रः श्रवणः, सुरेशमं ज्येष्ठा ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अथ समयबलमनुधुमाह—

उषःकालो विना पूर्वा गोधूलिः पश्चिमां विना ।

विनोत्तरं निशीथः सन्याने याम्यां विनाभिजित् ॥ ५४ ॥

उषःकाल इति । स्पष्टार्थं पद्यम् । सन् शब्दश्चरणचतुष्टयेऽपि संब-  
ध्यते । निशीथोर्द्धरात्रम् । याने यात्रायाम् । सर्वत्र विना योगे द्वितीया-  
“पृथग्विना नानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्” इति पक्षे द्वितीयाया अपि  
विधानात् । अत्र हि—‘दग्धा दिगैशी ज्वलिता दिगैन्द्री’ इति वसंतराजो-  
क्तीत्या तुर्यस्य तत्तादिगवस्थानात्तस्यां तस्यां दिशि यात्रा निषिद्धेति  
युक्तिसिद्धोयमर्थ उपनिबद्धः ।

दिग्विशेषेण समयविशेषः—

वराहेण दिग्विशेषे समयविशेषः प्रशस्तोऽभिहितः । यथा—“पूर्वाह्णे  
तूत्तरां गच्छेन्मध्याह्णे पूर्वतो ब्रजेत् । अपराह्णे ब्रजेद्याम्यां मध्यरात्रे तु  
पश्चिमाम्” इति । वसिष्ठोपि—“पूर्वाह्णेऽप्युत्तरां गच्छेत्प्राचीं मध्यदिने  
तथा । दक्षिणां चापराह्णे तु पश्चिमामर्द्धरात्रके । न तत्रांगारको विष्टिर्य-  
तीपातो न वैधृतिः । सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि यात्रायां दक्षिणे  
रविः” इति ।

अभिजित्प्रशंसा—

अत्राभिजित्प्रशंसामाह श्रीपतिः—“अष्टमोह्यभिजिदाह्वयक्षणे दक्षि-  
णामिमुखयानमंतरा । कीर्तितोऽपरककुप्सु सूरिमिर्यायिनामभिमतार्थ-  
सिद्धये” इति ॥ ५४ ॥

अथ लग्नादिभावानां सञ्ज्ञा अनुष्टुभाह—

लग्नाद्भावाः क्रमाद्देहकोशधानुष्क वाहनम् ।

मन्त्रोरिमार्ग आयुश्च हृदयापाराऽऽगमव्ययाः ॥ ५५ ॥

लग्नादिति । हन्मनः—‘स्वान्तं हन्मानसं मनः’ इत्यभिधानात् ।  
आगमः प्राप्तिः । अन्यत्सपष्टार्थं पद्यम् । ‘मूर्तिः कोशो धन्विनश्च वा-  
हनं मन्त्रसञ्ज्ञकः । शत्रुमार्गस्तथायुश्च मनोव्यापारसञ्ज्ञकः ॥ प्राप्तिर-  
प्राप्तिरुदयाद्भावाः स्युर्द्वादशैव ते ॥’ इति नारदोक्तेः । एवंविधसञ्ज्ञा-  
कथनप्रयोजनं तु क्रूरग्रहसाहित्ये तत्तद्भावानां पीडा, शुभग्रहसाहित्ये  
तद्भावानां शुभमित्युत्सर्गः ॥ ५५ ॥

अथ विशिष्य शुभाशुभफलं शालिन्याह—

केन्द्रे कोणे सौम्यखेटाः शुभाः स्यु-

र्याने पापास्यायषट्खेषु चन्द्रः ।

नेष्टो लग्नान्त्यारिरन्ध्रे शनिः खे-

ऽस्ते शुक्रो लग्नेऽनगान्त्यारिरन्ध्रे ॥ ५६ ॥

केन्द्रे इति । केन्द्राणि १ । ४ । ७ । १० कोणं ६ । ५ यदि सौम्यग्रहाः  
केन्द्रे कोणे स्युस्तदा शुभफलदाः स्युः । अर्थादन्येषु भावेष्वशुभ-  
फलदाः । पापग्रहास्यायषट्खेषु तृतीयैकादशषष्ठदशमस्थानस्थाः  
शुभफलदाः । अर्थादन्येषु अशुभफलदाः । चन्द्रो लग्नान्त्या-  
रिरन्ध्रे लग्नद्वादशषष्ठाष्टमेषु स्थितो नेष्टोऽशुभफलदः शनिः खे दशमे  
नेष्टोऽशुभफलदः । शुक्रोस्ते सप्तमे नेष्टः । यदाह वसिष्ठः—  
“घ्नन्ति कूरास्त्रिषष्टायभावान्हित्वा परान्तसदा । पुष्णन्ति सौम्य-  
खचराः षष्ठाष्टात्यं विना परान् ॥ लग्नषष्ठाष्टमं हन्ति चन्द्रः शु-  
क्रोस्तगस्तथा । मृत्युलग्नस्थितश्चन्द्रो यातुर्मृत्युप्रदः सदा ॥” इति ।

अन्यत्रापि—केन्द्रत्रिकोणैः सौम्यैस्त्रिभवारिगतैः परैः ।

अलग्नरिःफचन्द्रेण यात्रामीष्ट फलप्रदा ॥” इति ।



वराहोपि—“प्रायो जगुः सहजशत्रुदशायसंस्थाः  
पापाः शुभाः सवितृजं परिहृत्य खस्थम् ।  
सर्वत्रगाः शुभफलं जनयन्ति सौम्या-  
स्त्यक्त्वास्तसंस्थममरारिगुरुं यियासोः ॥” इति ।

श्रीपतिरपि—“कूरग्रहास्त्यरिदशायगताः शुभाः स्यु-  
र्हित्वा शनिं दशमभावगतं यियासोः ।  
मृत्यादिभावनिचये सकलेपि सौम्याः  
श्रेष्ठा भृगोस्तनयमस्तगतं विहाय ॥” इति ।

यात्रालक्षणः षष्ठसप्तमाष्टमद्वादशस्थोऽनिष्टदः—

लग्नेडिति । लग्नेट् यात्रालग्नस्वामी नगान्त्यारिरन्ध्रे सप्तम-  
द्वादशषष्ठाष्टमस्थश्चेत्तदनिष्टोऽशुभफलदो मृत्युद इत्यर्थः । यदाह  
गुरुः—लग्नपो मृत्युदो याने रन्धास्तारिव्ययोपगः । केप्याहुर्मयदो  
धर्मे शेषस्थाने शुभावहः ॥” इति ।

अत्र यात्राकालीनलग्नेन लग्नादिद्वादशभावस्थितानां ग्रहाणां फ-  
लानि बादरायणप्रोक्तानि लिख्यन्ते—

तनुभावस्थग्रहफलम्—

“राहुर्भौमदिवाकरेन्दुरविजाः प्रस्थानलग्नं गताः  
जुत्तृष्णाग्निविषायुधज्वरभवारोगाश्च नानाविधाः ।  
जीवः सोमसुतस्तथैव भृगुजो यात्रोदयस्थो नृणां  
सा यात्रा धनधान्यभोगसुखदा पुण्यैः कृतैर्लभ्यते ॥ १ ॥

धनभावस्थग्रहफलम्—

कोशस्थाने नराणामसुरगुरुबुधैर्धर्मकामार्थलाभं पुत्रोत्पत्तिं च  
जीवो धनुसुखमतुलं शत्रुपक्षक्षयं । च मन्दो बन्धं सुदीर्घं मृतिमवनिसुतः  
कोशहानिं च भास्वाश्चन्द्रः कुर्यान्नरेन्द्रं प्रियजनसहितं राहुरु-  
त्पातरूपम् ॥ २ ॥

सहजभावस्थग्रहफलम्—

प्रस्थाने भूमिपस्य क्षितिसुतरविजौ तिग्मभानुश्च राहुः शुक्रश्च-  
न्द्रात्मजो वा सुरगुरुरथवा शीतरश्मिर्धनायुः । दुश्चिक्वस्थानसंस्थो

गजतुरंगरथान्प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं जित्वा शत्रूनशेषान्विचरति वसुधा  
गोकुले गोपयेषः ॥ ३ ॥

सुखभावस्थग्रहफलम्—

बन्धुस्थानगतो ददाति विपुलान्भोगान् भृगोरात्मजो  
जीवः शत्रुविनाशमिच्छति महालाभं करोतीन्दुजः ।  
हार्नि बन्धुगतः करोति रविजो वृद्धिं क्षयं चन्द्रमा  
राहुर्भूमिसुतस्तथोष्णकिरणः कुर्वन्ति दुःखं महत् ॥ ४ ॥

पुत्रभावस्थग्रहफलम्—

कुर्यादर्थस्य सिद्धिं सुतभवनगतो वाक्पतिः शत्रुनाशं  
शुक्रः शीतांशुपुत्रः सुरगुरुसदृशं युद्धकाले करोति ।  
सूर्यश्चन्द्रश्च भौमो दिनकरतनयः सिंहिकानन्दनोऽसौ  
सर्वे ते पञ्चमस्था विविधभयकराः पार्थिवानां रणोर्व्याम् ॥ ५ ॥

अरिभावस्थग्रहफलम्—

शत्रुस्थाने नराणां दिनकरतनयो भूमिपुत्रस्तथार्कः  
शीतांशुदैत्यमन्त्री रजनिकरसुतः सैहिकेयोथ जीवः ।  
कुर्वन्त्येवार्थलाभं परबलमथनं सिद्धिमाप्नोति कार्यं  
शत्रुघ्नं भूमिपानां भवति हि गमने धर्मकामार्थसिद्धिः ॥ ६ ॥

कलत्रभावस्थग्रहफलम्—

नाशं शुक्रदिवाकरार्कतनया राहुस्तथा भूमिजः  
क्षिप्रं शत्रुवशं नयन्ति पथिकं स्थाने स्थिताः सप्तमे ।  
सौम्यो मित्रसमागमं सुरगुरुः स्त्रीवित्तलाभं नृणां  
चन्द्रोऽभीष्टसुखं ददाति च धनं यात्रासु जामित्रगः ॥ ७ ॥

आयुर्भावस्थग्रहफलम्—

आरोग्यं चंद्रपुत्रो जनयति भृगुजः सर्वकामार्थसिद्धिं  
जीवो रक्षत्यशेषं सुतमिव जननी यात्रिकं नैधनस्थः ।  
चद्रार्कौ चेत्तमो वा जनयति नियतं शत्रुपक्षस्य  
वृद्धिर्भौमश्चार्कात्मजो वा जनयति सततं तस्करेभ्यो भयं च ॥ ८ ॥

भाग्यभावस्थग्रहफलम्—

शुक्रोत्तिसौख्यं नवमो बुधश्च जीवो जयः श्रीधनधान्यलाभम् ।



चंद्रार्कसौरा नवमाः समौमाः कुर्वन्त्यनेकान्पुरुषस्य दोषान् ॥ ६ ॥

कर्मभावस्थग्रहफलम्—

कर्मस्थानस्थितोर्कः प्रचुरजयकरः पुष्टिदः शीतरश्मि-  
र्जीवः संग्रामकाले भवति शुभकरः सर्वकार्यप्रदो ज्ञः ।  
शुक्रः साम्राज्यलक्ष्मीं वितरति च महीनंदनः प्राज्यकीर्ति-  
राहुर्वैरापनुत्तिं जनयति सततं दीर्घरोगं तथार्किः ॥ १० ॥

लाभभावस्थग्रहफलम्—

शशिवुधगुरुशुक्राः सूर्यराह्वार्किर्भौमा  
व्रजति हि नरनाथः क्षिप्रमेकादशस्थाः ।  
द्रुतमिह रिपुवर्गघ्नन्ति नूनं प्रयातु-  
र्विचरति गजराजो युद्धमध्यस्थितो वा ॥ ११ ॥

व्ययभावस्थग्रहफलम्—

क्षितिजरविसुतार्काः सैंहिकेयो नराणां  
जनयति रजनीशः श्रेष्ठभृत्येषु भेदम् ।  
रिपुजयधननाशं भृत्यनाशं च कुर्यु-  
र्यदि बुधगुरुशुक्रा द्वादशस्था भवन्ति ” ॥ १२ ॥

इति वादरायणीययात्रायां भावफलानि एवं सम्यग्यात्रालग्नं  
दत्त्वा यात्रा कारणीयेति तात्पर्यार्थः ।

लग्नभङ्गयोगे यात्रा न कार्या—

तत्रैकस्मिन्नपि लग्नभङ्गिनि ग्रहे सति यात्रा सर्वथा न विधेया ।  
तथा हि, मृत्युमृत्योश्चन्द्रस्य स्थितिर्लग्नभङ्गिनी । सप्तमस्थान-  
स्थितिः शुक्रस्य दशमस्थितिः शनैश्चरस्य । एवंविधे ग्रहेन्येषु  
ग्रहेषु शुभफलदातृष्वपि नैव कार्या यात्रा अत्र केचिद्वद्वल्गुः  
चेल्लग्नधीशो केंद्रे स्यात्तदा लग्नभङ्गी ग्रहो दोषदो न भवति ।  
यथा मकरलग्नधीशः शनिस्तुलायां दशमे स्यात् कुंभलग्नधीशो-  
वृश्चिके तथा वृषलग्नधीशो भृगुः सप्तमे वृश्चिके स्यात्तुलाधी-  
शश्च मेघे तथा कर्कराशिस्थितश्चन्द्रो यात्रालग्न कर्काख्ये स्यात् । एतादृशे  
यात्रालग्न दोषो नास्तीति । उक्तं च जातकेपि—“लग्नधीपो यदा केंद्रे  
लग्नादेकादशालये । सर्वग्रहकृतं रिष्टमेकोपि विलयं नयेत् ” इति ।

सत्यम् । इदं तावद्वाक्यं जातकविषयकम् । तत्रैवोत्पत्तिसत्त्वात् । “ये जा-  
तकोक्तक्षितिपालयोगैर्महीभृतो यांति रिपून्विजेतुम् । तेषां प्रकोपाग्निरु-  
पैति शान्तिं विद्वेषियोषाश्चजलप्रवाहैः ।” इति वदति देशाभावाच्च । प्राग्-  
वाक्यं तु निर्मूलमेव । निर्वधेष्वदृष्टत्वात् । सत्यपि वा समूलत्वे सामान्यदू-  
षणस्य सामान्यत एव परिहार उचितः । यथा—“घ्नन्ति क्रूरास्यायवज्जं हि  
भावाच्चव्यापारं निहतः सूर्यभौमौ” इति वाक्यात्सर्वे क्रूरप्रहास्तृतीयैका-  
दशस्थानवर्जितानि स्थानानि घ्नन्ति । तत्र सूर्यभौमौ दशमस्थानं न हत  
इतिवत्सूर्यो वा, भौमो वा चेत्लग्नाधीशः सन् लग्नचतुर्थसप्तमस्थानगतो  
भवति तदा क्रैद्वगतत्वेन—“घ्नन्ति क्रूरास्यायवज्जं हि भावान्” इति  
तस्यापवादांतरमप्यस्तु न काप्यस्माकं हानिः । यत्र तु विशिष्य स्थान-  
विशेषो ग्रहव्यक्तिविशेषश्चोच्यते—यथा—“शुक्रश्चास्तं मृत्युमूर्तिस्तथेदं  
हित्वा शनिं दशमभावंगतं हिमांशुम्” इति च तत्रैतस्माद्विशेषवाक्याभि-  
षेधप्रावलयमेवास्ति । यथा शुक्रश्चेत्लग्नाधीशः सन्सप्तमाख्यकेंद्रे चंद्रो वा  
लग्नाधीशः सन् लग्नमेव चेत्कक शनिर्वाल्लग्नधीशः सन् दशमाख्यकेंद्रे एव  
चेत्स्यात्तदा निषेध एव प्रबलः । “सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान्  
भवेत्” इत्युक्तेः । अतो निषिद्धकेंद्रव्यतिरिक्तकेंद्रेषु स्थिताः सोमशुक्रशनयः  
सामान्यतोरिष्टपरिहारकर्तारः स्युरिति कथमस्य सामान्यवाक्यत्वम् । उच्य-  
ते । लग्नाधिप इत्यत्र लग्नपदेन द्वादशराशय उच्यते । तेषामधिप इत्यनेन  
सप्तापि ग्रहाः प्रोच्यन्ते । केंद्रपदेन च चत्वारि स्थानान्युच्यन्ते इति परिहा-  
रवाक्ये सामान्यतोभिहितमस्ति । निषेधवाक्ये तूभयोः स्थानविशेषग्रह-  
शेषयोरभिधानमिति प्रागुक्तदोषो वज्रायितः ।

एवं लालाटिकयोगेष्वपि ध्येयम् । यथा—“प्राच्यादौ तरणिस्तनौ भृगु-  
सुतो लाभंयये भूसुतः कर्मस्थः” इति लालाटिकयोगवाक्येषु यदि प्रा-  
च्यां यातुः सिंहलग्नाधीशः सूर्यो लग्न एव चेत्तदा लालाटिकत्वे न दोष  
एव प्रबलो न तु लग्नाधीशोऽस्य केंद्रगतत्वेन सिंहलग्नं शुभदम् ।  
एवं दक्षिणस्यां यातुर्मेषवृश्चिकयोरधीशो भौमः क्रमेण मकरस्थ उच्च-  
गतः सिंहस्थो मित्रगृहगतोपि तथैव । पश्चिमायां यातुर्मकरकुंभयोरधीशः  
शनिः क्रमेण मकरस्थ उच्चगतः सिंहस्थो मित्रगृहगतोपि तथैव । एवंमु-  
त्तरस्यां यातुर्मिथुनकन्यालग्नयोरधीशो बुधः क्रमेण कन्यायां धनुषि वा  
चेत्तदापि तथैव । उच्चगतत्वादिकं तु दैवागतम् । “केंद्रे दिग्धीश” इति  
परिहारवाक्यं तु तत्तत्स्थानविशेषव्यतिरिक्तं केन्द्रपरं द्रष्टव्यम् । यदीदं



वाक्यमेवपि केन्द्रेषु प्रवर्तते तदा प्राचीदक्षिणाप्रतीच्युत्तरासु महादिक्षु लालाटिकदोषाभिधानं खपुष्पायितमेव स्यात् । तासु विषयालाभात् । किन्तु विदिक्षु चतसृषु विशिष्यैव लालाटिकदोषाभिधानं वक्तव्यं स्यात् । तासु विदिक्षु एवं च “लग्नपो मृत्युदो याने रंध्रास्तारिव्ययोपगे” इति गुरुवारेपि लग्नाधीशस्य सप्तमस्थानगतत्वमशुभमुक्तम् । तत्र सप्तमस्थानस्य केन्द्रत्वेन परिहारोऽनुचित एव । अन्यथा दोषोक्तिरेव वक्तव्या भवेदिति । ननु—‘एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतींदोः किरणेष्विवांकः’ इति दृष्टांतलग्नस्य समीचीनस्थानस्थितवहुग्रहसाहित्येन सबलत्वात्तत्तद्भाव इति चेत् । चिंत्यमेव । यथा मीनलग्नैशके वा कार्यसिद्धिः स्यात्तन्निवृत्तिश्च । तत्र “नेष्टः कुम्भोऽप्युद्गमैश्चस्थितो वा लग्नो चाप्यंशे च नौयानमिष्टम्” इति स्वरोदयतो दुष्टयोः कुम्भमीनसंज्ञकयोर्यात्रा लग्नयोर्ग्राह्यता भवन्मते प्रसज्येत । तत्रेष्टापत्तिरिति चेत् । ज्योतिःशास्त्रे हि सामान्यशास्त्रेणैव सर्वसिद्धविषयस्य व्यापृतत्वाद्विशेषशास्त्रे दत्तजलांजलितादोषप्रसंगः स्यात् । एवं च ‘न हिंसात्सर्वाभूतानि’ इत्यादिसाधारणवैदिकवाक्यानाम् ‘आग्नीषोमीयं पशुमालभेत’ इत्यादिविशेषवाक्येष्वपि व्यापृतत्वाद्विशेषशास्त्रोच्छेदापत्तिः ।

केषां ग्रहाणां फलदातृत्वमित्यस्योत्तरं तद्भेदेन फलेषु तारतम्यं च—

अत्र ग्रहाणां फलदातृत्वं सबलानां दुर्बलानां वा यादृशतादृशानां वा स्यादिति संदेहस्तत्र निर्णयमाह श्रीपतिः—“अस्तंगता ग्रहजिता रिपुदृष्टद्रेहा नीचस्थिता विरुचयोरिगृहं प्रयाताः । ऋक्षाण्यवश्यकमपि स्वफलं विलग्ने दातुं क्षमाः खलु भवन्ति न खेचरेंद्राः ॥ युद्धे जिताः शुभफलानि विनाशयन्ति पोषानि चाशु नितरां परिवर्धयन्ति” इति । “अत्रौत्पातिकाः सवितृलुप्तकरा विरुक्षा नीचंगता रिपुगृहं च नभश्चरेंद्राः” इति सारावल्याम् । अत एव तादृशाधिकारविशेषमाह श्रीपतिः—“स्वोच्चे रूपं चरणरहितं स्वत्रिकोणे स्वभेदं नागांशानां त्रयमधिसुहृद्देहगो मित्रभैषिः । अंशोष्टानां समग्रहगते भूपभागोरिगेहे दन्तांशः स्यादधिरिपुगृहे नीचगे शून्यमेव ॥ एतच्छ्रमाख्यमशुभं च पुनर्गृहेषु स्वोच्चादिवर्तिषु तदन्ति तदूनमेकम्” इति ॥५६॥

अथ योगयात्रा व्याख्यायते । तत्र ग्रन्थकृच्छ्रन्दःशास्त्रकृतपटुतराभ्यासं सूचयन्नानाविधैश्छंदोभिः मज्जुभाषिणीप्रभृतिभिर्ग्रथितामावश्य-

कराजयात्रौपयिकीं योगयात्रां वक्तुकामस्तदारंभप्रयोजनमाह—

योगात्सिद्धिर्धरणिपतीनामृच्छगुणैरपि भूदेवानाम् ।

चौराणामपि शुभशकुनैर्वा भवति मुहूर्तादपिमनुजानाम् ५७

योगादिति । पादाकुलकं छन्दः । तदलक्षणं वृत्तरत्नाकरे—“यदती तद्विविधलक्ष्मणयुतैर्मात्रा समादिपादैः कलितम् । अनियतवृत्तपरिमाण- सहितं प्रथितं जगत्सु पादाकुलकम्” । इदं लक्षणं—“द्विगुणितवसुलघुच- रचलधृतिरिह” इत्येतत्प्रकरणे पठ्यते । तेनचरणचतुष्टये प्रत्येकं षो- डशमात्रा ज्ञेयाः । तत्र गुरोर्मात्राद्वयं लघोर्मात्रैका मिलित्वा षोडश- यथात्र पद्ये । अत्र प्रथमतृतीयचतुर्थचरणेषु मात्रासमकलक्षणम् । उक्तं च—‘मात्रासमकं नवमोलान्तलगतम्’ इति मात्रासमकाख्ये छन्दसि नवमो लघुरित्यर्थः । गत पादान्ते गुरुः द्वितीयचरणो उपचित्रालक्षण- म् । उक्तं च—‘उपचित्रा नवमे पर्युक्ते’ परा दशमी मात्रा तथा युक्ते नवमे दशममात्राद्वये नैको गुरुः स्यादित्यर्थः । अत एवो- क्तं—‘यदतीतकृतविविधलक्ष्मणयुतैः’ इति । न चास्त्यत्र मात्रासा- म्यम् । परन्तु वृत्तम् । यत्तु वृत्तं परिमाणसहितमिति तेन पादा- कुलकमित्यन्वर्थसंज्ञाप्यस्ति ।

दोषेपि सिद्धिर्योगबलेन—

धरणिपतीनां राज्ञां योगाद्वक्ष्यमाणसहितयोगयात्रालग्नवशादुष्टे- पि तिथ्यादौ सिद्धिर्वाञ्छितकार्यनिष्पत्तिः स्यात् । भूदेवानां ब्राह्म- णानामृच्छगुणैश्चन्द्रबलतारावलविहितनक्षत्रादिभिः सिद्धिर्भवति । अपि- शब्दात्पञ्चांगशुद्ध्यादिषु नावश्यकता । चौराणां शकुनैर्वक्ष्यमाण- शुभदूचकशकुनैः सिद्धिर्भवति । केचित्तु शिशालिखितोक्तमुहूर्तात्सि- द्धिः स्यादित्याहुः । यदाह नारदः—“फलसिद्धिर्योगबलाद्राज्ञो वि- प्रस्य धिष्यतः । मुहूर्तशक्तितोष्येषां शकुनैस्तस्करस्य च” इति ।

वराहोपि—

“योगैः क्षितिपालविनिर्मिताः शकुनैस्तस्करचारणादयः । नक्ष- त्रबलैर्द्विजातयः क्षणबोर्यादितरो जनोर्थभाक्” इति । द्विजातयो ब्राह्म- णाः । अत्र द्विजातय इति ब्राह्मक्षत्रियवैश्या इति भट्टोत्पलो व्या



ख्यत् । तन्न । नारदवाक्ये साक्षाद्विप्रपदोपादानात् । अ-  
 त एव वसिष्ठोपि—“फलसिद्धिर्धिष्यगुणैरप्रजानां भवेत्सदा । योग-  
 लग्नैः क्षितीशानां चौसणां शकुनैर्भृशम्” इत्यप्रजपदं प्रायुक्तम् । न-  
 न्वत्र राज्ञां योगैर्यात्राफलसिद्धिर्देत्युक्तम् । तत्रेयं योगयात्रा किं स-  
 र्वदोषापवादिका उत विषयविवेक इति । सर्वापवादिकेति चेत् ।  
 किं सर्वशब्देन शुभाशुभप्रकरणाभिहिता दोषा उच्यन्ते, उत एत-  
 द्यात्राप्रकरणोक्तनक्षत्रशूलवारशूलपरिधदण्डप्रतिशुक्रादिका दोषाः, उत  
 अविशेषात्सर्वेपि दोषा इति । तत्र यदि शुभाशुभप्रकरणोक्त-  
 दोषापवादकत्वे सति योगयात्रालग्नौ तद्विचारस्य त्यागप्रसङ्ग इति चेत् ।  
 न । ‘न हि स्यात्सर्वाभूतानि’ ‘अग्नीषोमीयं पशुमालभेत’ इतिवदतो-  
 त्सर्गापवादस्य शिष्टसम्मतत्वाभावात् । अत्र यात्राप्रकरणोक्तदोषा-  
 पवादकत्वे सति नक्षत्रशूलप्रतिशुक्रादीनां राजविषयकारणान्नभिधान-  
 प्रसङ्गात् । तथाहि, “ज्येष्ठायां पुरुङ्गदिङ्मुखमतः प्राप्तो बलिर्व-  
 धनं याम्यामाजपदे मुरश्च दितिजो यातो मुरारेर्वशम् । रोहिण्यां  
 नमुचिः प्रतीच्यभिगतश्चूर्णीकृतो वज्रिणा सौम्यामर्यमदैवतेन गत-  
 वान्मृत्योर्वशं शंवरः” इति । “प्रतिशुक्रं प्रतिबुधं प्रतिभौमं गतो-  
 नृपः । बलेन शक्रतुल्योपि हतसैन्या निवर्तते” इत्यादिषु नृप-  
 विषयत्वात् । अस्तु वा, ननु नक्षत्रशूलकथने वासिष्ठादिभ्यो राजप-  
 दोपादानं तादृशो दृष्टान्ते वा नाभ्यधायि, कथं नृपतिविषयताङ्गो क्रि-  
 यते । सत्यम् । सामान्यवाक्यस्य विशेषवाक्यानुबोधाद्विशेषे  
 पर्यवसानम् । यथा ‘पुरोडाशं चतुर्धा करोति’ ‘आग्नेयं चतुर्धा  
 करोति’ इतिवत् । तेन न वैश्वदेवाख्यपुरोडाशस्य चतुर्धाकर-  
 णम् । किं च योगादेव चेत्फलसिद्धिस्तदा ‘न षष्ठी न च द्वाद-  
 शो नाष्टमी’ इत्येतत्प्रकरणपठितं तिथेशुद्ध्यादिकं स्यादिति वाच्यम् ।  
 तत्रापि नक्षत्रगुणादिभिरेव प्राशस्त्यावबोधनात् । अथोभयदोषाप-  
 वादकत्वे इष्टे शुभाशुभप्रकरणं यात्राप्रकरणं चोल्लङ्घ्य स्थलान्तरेऽतिदे-  
 शं विना योगयात्रोपनिबन्धः कर्तव्यः स्यात् श्वप्रतिकृतिदाहश्चाद्ध-  
 निर्णायकथनवत् । नहि तत्र पञ्चांगदोषा उपयुज्यन्ते । यद्येवं संस्का-  
 रप्रकरणगृहप्रवेशप्रकरणादीनां पार्थक्योपनिबन्धात्पञ्चांगदोषापवाद-  
 कता कुतो नास्तीति चेत् । उच्यते । तत्राहि—‘पञ्चांगसंशुद्ध-  
 दिनादिके च’ इति वसिष्ठादिभिः ‘पर्वारख्यरिकोनतिथौ शुभेऽहि’ इति

ग्रन्थकृताप्यतिदेशोपनिबन्धस्य कृतत्वात् । अतः सर्वापवादिकेत्युक्तः पक्षः । तस्मात्—“अवाधेनोपपत्तौ बाधो न न्याय्यः” इति हेतोर्विषयविवेक इत्येव युक्तः पक्षः ।

द्विविधा यात्रा तयोर्विषयविवेकेश्च—

यथा सा च यात्रा द्विविधा, एका साधारणयात्रा परा समरविजयाख्या । साधारणयात्रा तु वर्णचतुष्टयसाधारणी । तत्र बहुना कालेन बहुदोषहानं बहुगुणोपादानं चोदितम् । द्वितीया समरविजयाख्या राज्ञामेव । तत्र योगयात्रा समरविजयोपयोगिनी । उपस्थिते युद्धे पञ्चांगशुद्धिर्बहुदिवसप्राप्येति तद्विचारानुपयोगात् । उक्तं च वसिष्ठेन योगयात्राप्रारम्भे—“उक्ता साधारणी यात्रा युद्धयात्रां ब्रवीम्यहम् । व्रजन्ति ये नृपाः सूक्ष्मे लग्ने ते जयिनः सदा ॥ योगलग्नैर्युता राज्ञां यात्रा च विजयप्रदा । विचित्रान्योगलग्नास्तान्सम्यग्वृद्धे समासतः ॥” इति । अन्ये तु युद्धं विनैव आत्ययिककार्यविषयैव योगयात्रेत्याहुः । यदाह पराशरः—“आत्ययिककार्यपाते दैवेन निपीडिते च यातव्ये । केवलविलग्नयोगादपि याता सिद्धिमाप्नोति ॥” इति । तत्रापि केवलेन योगयात्राबलेनैव विधे विषये यात्रा न विधेया । किंतु यथासम्भवं पञ्चाङ्गसम्बन्धिनां दोषाणां त्यागः तादृशानां गुणानां चोपादानं विधेयम् । सन्ति हि द्विविधाः दोषा नैसर्गिकाः अन्याहिताश्च । यथा तिथेः ‘न षष्ठी न च द्वादशी’ इति नैसर्गिको दोषः । ‘चापांत्यगे गोघटगे’ इति दग्धद्रोषोऽन्याहितः ।

वारनक्षत्रगुणा अप्वेवं द्विविधाः—

एवं वारनक्षत्रयोगानां द्वैविध्यमूहम् । एवं गुणा अपि द्विविधा । ‘हयादित्य’ इति विहितनक्षत्रत्वान्नैसर्गिको गुणः । शुभग्रहस्य साहित्यमन्याहितो गुणः । एवमन्येषामपि गुणानां द्वैविध्यमूहम् ।

राजवद्ब्राह्मणादीनामपि यथासंभवं शुभदोषयोर्हानोपादाने—

तत्र यथा राज्ञां यथासंभवं दोषहानं गुणोपादानं चांगीकृत्य योगयात्रा विधेया एवं ब्राह्मणादीनामत्यावश्यककार्यातिपातविषये नक्षत्रादिवलं ग्राह्यम् । यथासंभवं च लग्नादिसमस्तदोषगुणानां हानोपादाने न्याय्ये स्तु इति । तथा च लग्नः—‘यातव्ये व्यसनगते ह्यनिष्टदैवे च भूपतिस्त्वरया । लग्नैरभीष्टकल्पैर्व्रजेत्तिथौ भेषु च समेषु ॥ कार्येषु पराधीनेष्वने-



कसाधारणेषु शीघ्रेषु । प्रायेण गमनमिष्टं सदैव नतु सूक्ष्मचितया-  
स्तीति ॥” अत एव—“न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो नैन्दवं बलम् । योग-  
मेव प्रशंसन्ति वसिष्ठात्रिपराशराः ॥” इति वराहवाक्यं योगयात्रालग्न-  
प्रशंसापरं न तु तिथ्यादीनामपवादकमिति तात्पर्यम् । ननु पूर्वं दोष-  
हानपूर्वकं समीचीनलग्नाभिधानं कृतमेवास्ति कोस्ति योगयात्रालग्न-  
विशेषः । उच्यते शुक्रः सप्तमो लग्नभङ्गकर्तृत्युक्तं प्राक् अत्र तु शशिनि  
चतुर्थे सति शुक्रः सवुधश्चेत्सप्तमस्थस्तदा तद्योगयात्रालग्नमतीव शुभफ-  
लदम् । एतादृशं योगलग्नं ग्रन्थकृद्वक्ष्यति । तत्र तिष्ठतामेव ग्रहाणां  
नियतस्थानावस्थित्यात् प्रागुक्तनीतेरशुभफलदायकं लग्नं भवति । यदाह  
श्रीपतिः—“यथा हि योगादमृतायते विषं विषायते मध्वपि सर्पिषा  
समम् । तथा विहाय स्वफलानि खेचराः फलं प्रयच्छन्ति हि योगसं-  
भवम् ॥” इति योगात् दुग्धादिद्रव्ययोगेन शोधनादित्यर्थः । सर्पिर्घृतम् ।  
लग्नप्राबल्ययोगयोः सत्त्वे यात्रातिशुभफलदा योगयात्रापदार्थौ च—  
स्वभावतो लग्नप्राबल्यो योगोपि चेत्संभवेत्तदातीवशुभफलदं ल-  
ग्नम् । अत एव योगेन यात्रायोगयात्रेत्यन्वयसंज्ञाविज्ञानमपि प्रतीयते ।  
योगो नाम कियतां ग्रहाणां नियतस्थानावस्थितत्वम् । एवं वक्ष्यमाणेषु  
सर्वेष्वपि योगयात्रालग्नेषु यथासंभवं किञ्चिद्वर्णनं समूह्य तस्मादेव वा-  
क्याद्दोषाभावपूर्वकं गुणाधिक्यमस्तीति व्याकर्तव्यमित्यलमति-  
गसंगेन ॥ ५७ ॥

अथ योगयात्रामाह—

सहजे रविर्दशमभे शशी तथा

शनिमङ्गलौ रिपुगृहे सितः सुते ।

हिबुके बुधो गुरुरपीह लग्नगः

स जयत्यरीन्प्रचलितोऽचिरान्नृपः ॥ ५८ ॥

सहज इति । मञ्जुभाषिणीछन्दः । तल्लक्षणं च—“सजसाजगौ भवति  
मञ्जुभाषिणी” इति । अस्यार्थः । सगणजगणसगणजगणगुरवो यस्य  
पद्यस्य चरणे तन्मञ्जुभाषिणी नाम यथा ननु मञ्जुभाषिणीति पद्यनाम-  
धेयमुक्तं, लक्षणं तु चरणस्यैवोक्तं न सकलस्य । सत्यम् । एतच्चरणल-  
क्षणं पादचतुष्टयेपि ध्येयम् । समवृत्तत्वात् । त्रिविधानि हि वर्णच्छंदांसि  
‘सममर्द्धसमं वृत्तं विषमं च तथापरम्’ इति तत्रैवोक्तत्वात् । तत्र यस्य

पद्यस्य चत्वारश्चरणा एकलक्षणप्रथितास्तत्समवृत्तम् । उक्तं च—“अंघ्र-  
यो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षणलक्षिताः । तच्छृङ्गदःशास्त्रतत्त्वज्ञाः समवृत्तं  
प्रचक्षते ॥” तुल्यमेकम् । यथा द्रुतविलवितं—“नवपलाशपलाशवनं पुरः  
स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् । मृदुलतांतलतांतमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सु-  
मनोभरैः ॥” इति । तल्लक्षणं चेदं—“द्रुतविलंवितमाह नभौ भरौ” इति यस्य  
पद्यस्य प्रथमचरणस्तृतीयचरणश्चैकलक्षणलक्षितो द्वितीयश्चतुर्थश्चाप्ये-  
कलक्षणलक्षितस्तदर्धसमं वृत्तम् । “प्रथमांघ्रिसमो यस्य तृतीयचरणो  
भवेत् । द्वितीयस्तुर्यवद्वृत्तं तद्वर्द्धसममुच्यते ॥” इति तनैवोक्तत्वात् ।  
एतेनाहं सममर्द्धसममित्यन्वर्थसंज्ञापि यथा पुष्पिताग्रा—“अनुगिरमृ-  
तुभिर्वितायमानामथ स विलोकयितुं वनांतलक्ष्मीम् । निरगमदभिरोद्धु-  
मागतानां भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः ॥” इति । पुष्पिताग्राल-  
क्षणं चेदम्—“अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पि-  
ताग्रा ” इति । यस्य चतुर्थं चरणेषु प्रत्येकं भिन्नं भिन्नं लक्षणं तद्विषमं  
वृत्तम् । उक्तं च—“यस्य पादचतुष्केपि लक्ष्मभिन्नं परस्परम् । तदाहु-  
र्विषमं वृत्तं छंदःशास्त्रविशारदाः ॥” इति । यथोद्गता “ननु सर्व एव  
समवेद्य कमपिगुणमेति पूज्यताम् । सर्वगुणविहितस्य हरेः परिपूजया  
कुरु नरेंद्र को गुणः ।” इति । लक्षणं चास्येदं “सजमादिमे सलघुकौ  
च न सजगुरुकेष्वथोद्गता । त्र्यंघ्रिगतभनजलागयुता सजसा जगौ चर-  
णमेकतः पठेत् ।” इति भगणादिकगणा उक्ता भामहेन—“मस्त्रिगुरुस्त्रि-  
लघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः । जोगुरुमध्यगतोरलमध्यः  
सोऽन्तगुरुः कथितौतलघुस्तः ॥” इति । एवं सत्यत्र मञ्जुभाषिणीछंदसः  
समवृत्तत्वादेकचरणलक्षणाभिधानं कृतं केदारेणेत्यलमतिप्रसङ्गेन । अथ  
प्रस्तुतमनुसरामः । सहज इति । रविः सहजे तृतीयस्थाने स्यात् । शशी  
चंद्रो दशमभेदशमस्थाने शनिमङ्गलौ रिपुगृहे षष्ठस्थाने स्याताम् । सि-  
तः शुक्रः सुतेपश्चमस्थाने । बुधो हिवुके चतुर्थस्थाने । गुरुर्लङ्गनगश्चेत्स्यात् ।  
अपितथाशब्दौ पादपूरणे । इहैवंविधयोगे यात्रालक्षणे नृपो राजा प्रचलित-  
श्शत्रुनगरजयार्थं कृतयात्रः सन्नचिरात्स्वलपकालेनैवारीन् शत्रून् जयति  
वशो करोतीत्यर्थः । यदाह वराहः—“लग्ने गुरुबुधभृगू हिवुकात्मजस्थौ  
पष्ठौ कुजार्कतनयौ दिनकृत्तृतीयः । चन्द्रश्च यस्य दशमे भवति  
प्रयातुस्तस्याभिवाञ्छितफलाप्तिरलं नृपस्य ” इति । बुधो हिवुके  
भृगुरात्मजे इति यथासंख्येनान्वयः । कचित् ‘भृगुबुधौ’ इति



पाठः स चित्यः । 'भृगुर्हिबुके' इति तावद्युक्तम् । परन्तु रविस्तृ-  
ये बुधः पञ्चमे इतोदमयुक्तम् । नहि सूर्यात्तृतीयो बुधः कचिदपि  
सम्भवेत् । तस्मात्प्रागुक्त एव साधीयान् पाठः ॥ ५८ ॥

अथान्यद्योगयात्रालग्रमाह—

भ्रातरि सौरिभूमिसुतो वैरिणि लग्ने देवगुरुः ।

आयगतेऽर्के शत्रुजयश्चेदनुकूलो दैत्यगुरुः ॥ ५९ ॥

भ्रातरोति । अस्य गाथाछन्दः । तल्लक्षणं च—“विषमाक्षरपादं  
वा पादैरसमं दशधर्मवत् । यच्छन्दो नोक्तमत्र गाथेति तत्पूर्व-  
सूरिभिः प्रोक्तम्” इति । अत्र ग्रन्थे उक्तछन्दोभ्यो यदन्यद्विषमाक्षर-  
पादं पादैरसमं वा छन्दस्तद्गाथाव्यमिति केचिदाहुः । अपरे तु  
प्रागुक्तेषु समाक्षरपादेषूक्तादिष्वपि विशिष्य यस्याभिधानं नोक्तं तद्गा-  
थेत्युचुः । तदेतदर्थद्वयं यच्छन्दो नोक्तमत्र गाथेतीत्येतस्यावस्था  
लभ्यम् । अत एव पिङ्गलः सूत्रकारोपि—“सम्मुग्धाकारेणात्रानुक्तं  
गाथा ” इत्यवोचत् । छन्दोग्रन्थान्तरेस्य नामास्ति । भ्रातरि तृती-  
ये सौरिः शनिः स्यात् वैरिणि षष्ठे भूमिसुतो मङ्गलः, लग्ने देवगुरुः  
आय एकादशस्थानं तत्र गतोऽर्कश्च । एवंविधे योगे राज्ञः शत्रु-  
जयो भवेत् । चेदैत्यगुरुः शुक्रोनुकूलो यातव्यदिक्पृष्ठवर्ती भवति  
यदाह वराहः—“होरातृतीयरिपुलाभगतैः क्रमेण जीवार्कभौमरविभि-  
र्भृगुजानुकूले । यातोतिदृष्टमपि शत्रुबलं निहन्ति नैशं तमिस्त्रमिव  
तिग्ममयूषमाली ” इति । भृगुजानुकूलं यातव्यदिक्पृष्ठवर्तित्वं विव-  
क्षितम् । यदाह बादरायणः—“लग्नत्रिलाभारिगतैः क्रमेण जीवार्कि-  
सूर्यावनिजैः सितश्च । यातव्यदिक्पृष्ठगतो नरेन्द्रः शत्रोर्बलं हन्ति  
गतोऽचिरेण ” इति ॥ ५९ ॥

अथान्यद्योगयात्रालग्रमाह—

तनौ जीव इन्दुर्मृतौ वैरिगोऽर्कः ।

प्रयातो महीन्द्रो जयत्येव शत्रून् ॥ ६० ॥

तनौ जीव इति । गाथाछन्दः प्राग्वत् स्वमतौ ग्रन्थान्तरे च ।

लग्ने जीवो गुरुः स्यात् । मृतावष्टमस्थाने इन्दुः स्यात् । वैरि-  
गः षष्ठस्थानगतोर्कश्चेत्स्यादेवंविधे योगे प्रयाता गन्ता महीन्द्रो राज-  
शत्रून् जयत्येव । यदाह श्रोपतिः—“गुरुर्लग्ने रविः षष्ठे रन्ध्रे इन्दु-  
श्च गच्छतः । यस्य तस्यारिसेनाग्रे खलमैत्रोव न स्थिरा” इति ।  
केचित् ‘रन्ध्रे नेन्दुः’ इति पाठं पठन्ति । तत्र रन्ध्रेऽष्टमे स्थाने  
इन्दुर्नापेक्षितो यत्र कुत्राप्यस्तु चन्द्र इति व्याकुर्वते तदशुद्धम् । य-  
स्मात्षष्ठमाह वराहः—“गुरुदये रिपुराशिगतोऽर्को यदि निधनेपि  
च शीतमयूखः । भवति गतोत्र शशोव नरेन्द्रो रिपुव्रनिताननतामर-  
सानाम्” इति ।

नारदोपि—

“जीवार्कचन्द्रा लग्नारिरन्ध्रगा यदि गच्छतः । तस्याग्रे खलमै-  
त्रोव न स्थिरा रिपुवाहिनी” इति । वादरायणोपि—“गुरुर्वि-  
लग्ने रिपुराशिगोर्कस्तथाष्टमे शीतमयूखमाली । गतोत्र योगे रिपु-  
कामिनीनां वक्त्रारविन्देषु शशित्वमेति” इति ॥ ६० ॥

अथान्यद्योगयात्रालग्नमाह—

लग्नगतः स्यादेवपुरोधाः ।

लाभधनस्थैः शेषनभोगैः ॥६१॥

लग्नगत इति । अत्र सुप्रतिष्ठायां पंक्तिच्छन्दः । तल्लक्षणं च ‘भगौ-  
गिति पंक्तिः’ यथा बृहस्पतिर्लग्नगतः स्यात् । अन्ये ग्रहा लाभधन-  
स्था एकादशद्वितीयस्थानस्थाश्चेत्तदैवं विधे योगे राज्ञो विजयः ।  
उक्तं च नारदेन—“लग्नस्थे त्रिदशाचार्ये धनायस्थैः परग्रहैः । गतस्य  
राज्ञोऽरिसेना नीयते यममन्दिरम्” इति ।

श्रोपतिवापि—

“वाक्पतौ तनुस्थिते वित्तलाभगैः परैः । गच्छतोर्वाहिनी नीय-  
तेन्तकालयम्” इति ॥६१॥

अथान्यद्योगयात्रालग्नमाह—

द्युने चन्द्रे समुदयगोऽर्के जीवे शुके विदि धनसंस्थे ।

ईदृग्योगे चलति नरेशो जेता शत्रून्गरुड इवाहीन् ॥६२॥



धून इति । अस्य पंकौ मत्ताच्छन्दः । तल्लक्षणं च 'ज्ञेया मत्ता मभ सगयुक्ता' । चन्द्रे धूने सप्तनस्थाने सति अर्के समुदयगे लग्नगते सति जीवे शुक्रे विदि बुधे एषु त्रिषु ग्रहेषु धनसंस्थेषु द्वितीयस्थानस्थेषु सत्सु एवंविधे योगे चेन्नरेशश्चलति तदा शत्रुन् जेता जेष्यति । कः कानिव । गरुडोऽहीन्सर्पान्यथा जयति । यदाह वराहः—“शुक्रवाक्पतिबुधैर्धनसंस्थैः सप्तमे शशिनि लग्नगतेर्के । निर्गतो नृपतिरेति कृतार्थो वै न तेयवदरीन्विनिहन्ति” इति ॥ ६२ ॥

अथान्यदपि योगलग्नमाह—

वित्तगतः शशिपुत्रो भ्रातरि वासरनाथः ।

लग्नगतो भृगुपुत्रः स्युः शलभा इव सर्वे ॥६३॥

वित्तगत इति । अस्यानुष्टुभि चित्रपदाच्छन्दः । तल्लक्षणं च 'भौग्नितिचित्रपदागः' शशिपुत्रो बुधो वित्तगतः द्वितीयस्थः वासरनाथः सूर्यो भ्रातरि तृतीयस्थः भृगुपुत्रे शुक्रे लग्नसंस्थे सति, एवंविधे योगे चेद्राजा चलति तदा शत्रवः शलभा इव स्युः । यथा शलभा आग्नौ स्वयमेव गत्वा पतन्ति तथा शत्रवोपि गन्तृराजप्रतापानले पतिष्यन्तीत्यर्थः । यदाह वराहः—“मूर्तिवित्तसहजेषु संस्थिताः शुक्रचन्द्रसुततिगमरश्मयः । यस्य यानसमये रणानले तस्य यान्ति शलभा इवारयः” इति ॥ ६३ ॥

अथान्यद्योगलग्नमाह—

उदये रविर्यदि सौरिररिगः शशी दशमेऽपि ।

वसुधापतिर्यदि याति रिपुवाहिनी वशमेति ॥६४॥

उदये इति । अस्य गाथाच्छन्दः प्राग्वत्स्वमते ग्रन्थांतरे च । यदि उदये लग्ने रविः स्यात् सौरिः अरिगः षष्ठस्थः स्यात् । शशी दशमस्थः स्यात्तदा एवंविधे योगे वसुधापतिः राजा याति तर्हि रिपुवाहिनी शत्रुसेना वशमेतीति । यदाह नारदः—“व्यापारशत्रुमूर्तिस्थैश्चंद्रमंददिवाकरैः । रणे गतस्य भूपस्य जयलक्ष्मीः प्रमाणिका ॥ ” इति । व्यापारो दशमम् । वराहोपि—“दिवाकरो लग्नगतो यदि स्यात्षष्ठेऽर्कसूनुर्दशमे

शशी च । योगेन यातस्य न तिष्ठतेन्यो बलेन हीनस्य बलान्वितोपि ”  
इति ॥ ६४ ॥

अथान्यद्योगयात्रालग्नद्वयमाह—

तनौ शनिकुजौ रविर्दशमभे बुधो भृगुसुतोऽपि लाभदशमे ।  
त्रिलाभरिपुभेषु भूसुतशनी गुरुः भृगुजास्तथा बलयुताः ६५

तनौ इति । अस्य जगत्यां जलोद्धतगतिर्द्वन्द्वः । तल्लक्षणम्—‘रसै-  
र्जसजसाजलोद्धतगतिः’ । रसैः षड्भिरक्षरैर्यतिर्विच्छेदः । इत आरभ्य  
वधापतिर्यदि याति रिपुवाहिनी वशमेतीत्युत्तरार्द्धं ‘सहजे कुजः’ इत्येत-  
त्पद्यपर्यन्तमनुवर्तते । तेन यत्रयत्र श्लोके फलनिर्देशो नास्ति तत्र जिग-  
मिषो राज्ञो विजयः स्यादिति वाक्यार्थो ध्येयः । तनौ लग्नस्थौ शनि-  
मंगलौ यथासंभवं स्यातां रविर्दशमभे स्यात् बुधो लाभे दशमे वा स्यात्  
भृगुसुतो वा लाभे दशमे वा स्यात् तदैवविधे योगे प्रचलितस्य राज्ञो  
जयः स्यात् । यदाह वराहः—“सौरे भौमे लग्नगोर्के खमध्ये कर्मण्याये  
भागवे चंद्रजे वा । यायाद्भूपः शत्रुदेशं निहंतुं दप्तं शत्रुं कालवत्क्रूरचेष्टः”  
इति गुरुरपि—“आरे वा सूर्यजे वापि लग्नगे दशमे रवौ । कर्मण्याये  
सिते ज्ञे वा योगोऽयं यातुरुत्तमः ” इति । अयमेको योगः ।

द्वितीयो योगः—

त्रिलाभरिपुभेषु तृतीयैकादशषष्ठस्थानानामन्यतमस्थानद्वयस्थि-  
तौ भूसुतशनी मंगलशनैश्चरौ यदि स्यातां यस्मिन् कस्मिंश्चित्स्था-  
ने स्थिता गुरुः भृगुजा बलयुताः स्युस्तदैवविधे योगे तथा राज्ञो विजय  
इत्यर्थः । यदाह नारदः—“त्रिषडायेषु सौरारौ बलवन्तः शुभा यदि । या-  
त्रायां नृपतेस्तस्य करस्था शत्रुमेदिनी” इति । श्रीपतिरपि—“आयारिषु  
यमारौ चेच्छक्तिभाजः शुभग्रहाः । प्रयाणे नृपतेर्यस्य हस्तस्था तस्य मे-  
दिनी ॥” इति । शुभग्रहाश्चंद्ररहिता विवक्षिताः । यदाह गुरुः—“यमारौ  
त्रिषडायस्थौ बुधजीवसितास्तदा । महाबलयुता योगो यातुरिष्टार्थदः  
सदा ॥” इति ॥ ६५ ॥

अथान्यद्योगयात्रालग्नमाह—

समुदयगे विबुधगुरौ मदनगते हिमकिरणे ।

हिबुकगतौ बुधभृगुजौ सहजगताः खलखचराः ॥ ६६ ॥



समुदयगे इति । अस्य गाथाछन्दः प्रागुत्सवमते ग्रंथांतरे च । समुदयगे लग्नस्थे गुरौ सति हिमकिरणे चंद्रे मदनगते सप्तमस्थे सति, हिबुकं चतुर्थस्थानं, तत्र गतौ बुधशुक्रौ स्यातां खलखचरे पापग्रहे सहजं तृतीयस्थानं तत्र गते च सति एवंविधे योगे वसुधापतिर्यदि याति रिपुवाहिनीं तदा वशमेति । यदाह वराहः—“पापास्तृतीये हिबुके सितज्ञौ जीवो विलग्ने मृगलांछनोऽस्ति । यस्योद्यमे तस्य बलं रिपूणां कृतं कृतघ्नेष्विव याति नाशम् ॥ ” इति ॥ ६६ ॥

अन्ययात्रायोगमाह—

त्रिदशगुरुस्तनुगो मदने हिमकिरणो रविरायगतः ।

सितशशिजावपि कर्मगतौ रविसुतभूमिसुतौ सहजे ॥ ६७ ॥

त्रिदशगुरुरिति । अस्य त्रिष्टुभि सुमुखीछन्दः । तल्लक्षणं च ‘नजज-लग्नैर्गदिता सुमुखो’ यथा बृहस्पतिलग्नगः स्यात् चन्द्रः सप्तमे स्यात् शुक्रबुधौ दशमगतौ स्यातां सूर्य एकादशस्थः स्यात् शनिमङ्गलौ तृतीयस्थाने स्यातां एवंविधे योगे राज्ञो विजय एव । यदाह वराहः—“चन्द्रेस्तगे देवगुरौ विलग्ने ज्ञशुक्रयोः कर्मणि लाभगेर्के । सौरारयो-भ्रातृगयोश्च याता नृपः स्वभृत्यानिव शास्ति शत्रून्” इति ॥ ६७ ॥

अन्यद्योगयात्रालग्नमाह—

देवगुरौ वा शशिनि तनुस्थे वासरनाथे रिपुभवनस्थे ।

पञ्चमगेहे हिमकरपुत्रः कर्मणि सौरिः सुहृदि सितश्च ॥ ६८ ॥

देवगुरुराविति । अस्य त्रिष्टुभि श्रीछन्दः । तल्लक्षणं च ‘पञ्चरसैः श्रीर्भतनगैश्च’ पञ्चरसैः पञ्चभिः षड्भिरक्षरैश्च यतिः । गुरौ चन्द्रे वा लग्नस्थे सति, सूर्ये षष्ठस्थे, बुधश्च पञ्चमस्थाने, शनिर्दशमे स्यात्, शुक्रः चतुर्थस्थाने स्यात्, एवंविधे योगे जिगभिषो राज्ञो विजय एव । यदाह वराहः—“गुरौ विलग्ने यदि वा शशांके षष्ठे रवौ कर्मगतेऽर्कपुत्रे । सितज्ञयोर्वन्धुसुतस्थयोश्च यात्रा जनित्रीव हितानि धत्ते ॥” इति । जनित्री माता ॥ ६८ ॥

अन्यद्योगयात्रालग्नमाह—

हिमकिरणसुतो वली चेत्तनौ

त्रिदशपतिगुरुर्हि केन्द्रस्थितः ।

व्ययगृहसहजारिधर्मस्थितो

यदि च भवति निर्बलश्चन्द्रमाः ॥ ६६ ॥

हिमकिरणसुत इति । अस्य जगत्यां प्रमुदितवदनाच्छन्दः । तल्लक्षणं च—‘प्रमुदितवदना भवेन्नौरौ’ बुधो वली सन् चेत्तनौ लने स्यात् हि निश्चयेन बृहस्पतिश्चेत्केन्द्रगतः प्रथमचतुर्थसप्तमदशमानामन्यतमस्थानस्थः यदि च निर्बलो नीचाद्यशुभाधिकारप्राप्त्या बलरहितः सन् चन्द्रो द्वादशतृतीयषष्ठाष्टनवमानामन्यतमस्थानस्थस्तदैवंविधे योगे जिगमिषो राज्ञो विजय एव यदाह वराहः—“त्रिषण्णवांत्येषु वली शशांकश्चाद्विर्वली यस्य गुरुश्च केन्द्रे । तस्यारियोषाभरणैः प्रियाणि प्रियाः प्रियाणां जनयन्ति सैन्ये ॥” इति । तस्य सैन्ये प्रियाः शैनिका अरियोषाभरणानि बलादपहृत्य स्वस्त्रीभ्यो दत्त्वा तासां प्रियाणि जनयन्तीत्यर्थः । अत्र यद्यपि बुधस्य स्थानविशेषो नाभ्यधायि । तथापि लग्नस्थो बुध इति व्याकर्त्तव्यम् ! यदाह गुरुः—“त्रिषण्णवांत्यगो चन्द्रे लग्ने च सवले बुधे । गुरौ केन्द्रे तदा याता राजलक्ष्मीं लभेन्नृपः” इति ॥ ६६ ॥

अन्यद्योगयात्रालग्नमपि—

अशुभखगैरनवाष्टमदस्थै-

र्हिबुकसहोदरलाभगृहस्थः ।

कविरिह केन्द्रगगीष्पतिदृष्टो

वसुचयलाभकरः खलु योगः ॥ ७० ॥

अशुभखगैरिति । अस्य जगत्यामभिनवतामरसाख्यं छन्दः । तल्लक्षणं च बृहद्रात्नाकरे—‘अभिनवतामरसं नजजाद्यः’ इति । स अशुभखगैः पापग्रहैर्हि निश्चितं नवमाष्टमसप्तमस्थानव्यतिरिक्तस्थानस्थैः सद्भिर्नृपि कविः शुक्रः चतुर्थतृतीयैकादशस्थानस्थः सन् केन्द्रस्थितो यो गीष्पतिगुरुस्तेन दृष्टो भवेत् एवंविधो योगो वसुचयो द्रव्यसमूहस्तस्य लाभकरः



स्यात् । विजगोषो राज्ञो बिज्रयोपि स्यात् । उक्तं च वराहेण—“केंद्रोपग-  
तेन वीक्षिते गुरुणा त्र्यायचतुर्थगे सिते । पापैरनवाष्टसप्तगैर्वसु तत्किं  
न यदाप्नुयान्नृपः ॥” इति ।

पापग्रहाणां नवमाष्टमसप्तमस्थाने स्थितावपि शुभदा योगयात्रा—

क्वचित् पापग्रहा नवमाष्टमसप्तमस्थाः शुभा एवेत्युक्तम् । तथा च  
गुरुः—“भ्रात्रायगृहगे शुक्रे केंद्रे देवगुरौ स्थिते । सप्ताष्टनवराशिस्थाः पापा  
यातुः शुभप्रदाः ॥” इति । गृहं चतुर्थस्थानम् ॥ ७० ॥

अन्यद्योगयात्रालग्नमाह—

रिपुलग्नकर्महिबुके शशिजे

परिवीक्षिते शुभनभौगमनैः ।

व्ययलग्नमन्मथगृहेषु जयः

परिवर्जितेष्वशुभनामधरैः ॥ ७१ ॥

रिपुलग्नेति । अस्य जगत्यां प्रमिताक्षराञ्छन्दः । तल्लक्षणं च ‘प्रमि-  
ताक्षरा सजससैरुदिता ।’ षष्ठ-६ लग्न-१ दशम-१० चतुर्थ—४ स्था-  
नानामन्यतमस्थानस्थे शशिजे बुधे शुभनभोगमनैः शुभग्रहैश्चन्द्रगुरु-  
शुक्रैः परिवीक्षिते दृष्टे सति द्वादश—१२ लग्न—१ सप्तम—७ स्थाने-  
भ्यो व्यतिरिक्तस्थानस्थितैरशुभनामधरैः पापग्रहैरुपलक्षिते सति एवं-  
विधेर्विशिष्टे योगे जिगमिषो राज्ञो जय एव स्यात् । यदाह वराहः—“ल-  
ग्नारिकर्महिबुकेषु शुभेक्षिते ज्ञे द्यूनांत्यलग्नरहितेषु शुभग्रहेषु । यातुर्भयं  
न भवति प्रतरेत्समुद्रं जद्यश्मनापि किमुतारिसमागमेषु ॥” इति ॥ ७१ ॥

अन्यद्योगयात्रालग्नद्वयमाह—

लग्ने यदि जीवः पापा यदि लाभे

कर्मण्यपि चेद्राज्याधिगमः स्यात् (१) ।

(१) अत्र द्वितीयपदे वर्यैकाल्पतारूपश्छन्दोभङ्गदोषो लक्ष्यते । अ-  
तोऽत्र “कर्मण्यपि वा चेद्राज्याधिगमः स्यात्” इति पठनीयः । सी. भा. ।

द्यूने बुधशुक्रौ चन्द्रो हिवुके वा

तद्वत्फलमुक्तं सर्वैर्मुनिवयैः ॥ ७२ ॥

लग्ने इति । अस्य जगत्यां मणिमालाच्छन्दः । तल्लक्षणं च—‘त्यौत्यौ मणिमाला छिन्ना गुहवक्त्रैः तगणप्रगणतगणयगणाः गुहः कार्तिकेयस्तस्य वक्त्राणि मुखानि षट् तैः षड्भिर्दक्षैश्छिन्ना यतिसहिता । लग्ने गुरुर्यदि स्यात् अथवा लाभे एकादशस्थाने कर्मणि दशमस्थाने पापग्रहाः स्युस्तदा राज्यप्राप्तिर्भवेत् । उक्तं च वराहेण—“होराश्रिते देवगुरौ प्रयाता क्रूरग्रहैः कर्मणि लाभगैर्वा । कृत्वा रिपूणां क्षयमक्षतांगः क्षयं क्षितीशोऽक्षयकोशमेति ॥” इति । क्षितीशो राजा रिपूणां क्षयं नाशं कृत्वाऽक्षतांगः क्षतरहितशरीरः संन अक्षयकोशमक्षीणकोशं क्षयं स्वगृहमेति आगच्छतीत्यर्थः । अथवा द्यूने सप्तमे बुधशुक्रौ स्यातां चन्द्रश्च हिवुके चतुर्थस्थाने स्यादेवंविधे योगे सर्वैर्मुनिवयैस्तद्वत्फलमुक्तं राज्याधिगमः स्यात् । तथा च श्रीपतिः—“शशिनि चतुर्थे सविदि सितेस्ते जयति गतोरोन्हरिरिव युद्धे” इति । वराहोपि—“शशिनि चतुर्थगृहं समुपेते बुधसहितेस्तगते भृगुपुत्रे । गमनमवाप्य पतिर्मनुजानां जयति रिपून्समरेण विनैव ॥” इति ॥ ७२ ॥

अन्ययोगत्रयमाह—

रिपुतनुनिधने शुक्रजीवेन्दवो

ह्यथ बुधभृगुजौ तुर्यगेहस्थितौ ।

मदनभवनगश्चन्द्रमा वाम्बुगः

शशिसुतभृगुजान्तर्गतश्चन्द्रमाः ॥ ७३ ॥

रिपुतनुनिधने इति । अस्यातिजगत्यां चन्द्रिकाच्छन्दः । तल्लक्षणं च—“ननततगुरुमिश्रश्चन्द्रिका चतुर्भिः, सप्तभिः षड्भिश्चाक्षरैर्यतिः” । अत्र स्थानसाम्याद् ग्रहसाम्याच्च यथासंख्यं ज्ञेयम् । यथा रिपौ षष्ठे शुक्रः तनौ जीवः निधने अष्टमे इन्दुश्चन्द्रः एवंविधे विशिष्टे योगे राज्ञो विजयः स्यादित्यर्थः । यदाह वराहः—“गुरौ विलगने भृगुजेऽरिसंस्थे चन्द्रेऽष्टमे हन्ति गतोरिसेनाम् । वृष्टिं यथा दक्षिणमार्गचारी वृद्धो यथा हस्वतनुश्च शुक्रः ॥” इति । अयं प्रथमो योगः ।



अथ द्वितीयो योगः—

बुधभृगुजौ तुर्यगेहं चतुर्थस्थानं तत्र स्थितौ चेत्स्यातां चन्द्रमा  
मदनभवनगः सप्तमस्थानस्थितश्चेत्स्यात्तदैव विधेःपि योगे राज्ञो विजयः  
यदाह वराहः—“सितेन्दुजौ चतुर्थगौ निशाकरश्च सप्तमे । यदा तदा  
गतो नृपः प्रशास्त्यरीन्विना रणम् ॥” इति ।

अथ तृतीयो योगः—

अथवा चन्द्रमा अंबुगश्चतुर्थः सन् शशिसुतभृगुजयोर्बुधशुक्रयोरन्तर्गते  
मध्यवर्ती स्यात् एवंविधे योगे गन्तू राज्ञो विजय एव । यदाह वराहः—  
“बुधभार्गवमध्यगते हिमगौ हिंबुकोपगते च बुधः प्रवसेत् । पुरुहूतदिशं  
यदि वांतकृतः पुरुहूतयमप्रतिमो भवति ॥” इति । ननु चन्द्रस्य  
बुधभार्गवमध्यवर्तित्वं किं भिन्नराशिस्थितत्वे सत्युतैकराशिस्थितत्वे  
सति विवक्षितम् । तत्र भिन्नराशिकृतमध्यवर्तित्वे विवक्षिते सत्यय-  
मर्थः स्यात् । बुधभार्गवयोरन्यतरस्तृतीयस्थाने परः पञ्चमे चन्द्र-  
श्चतुर्थ इति एकराशिस्थितत्वे त्वंशकृतं पौर्वापर्यम् । चतुर्थे स्था-  
ने बुधशुक्रौ वा स्वल्पांशैः स्यात् तयोरन्यतरोतिवह्मंशैस्तत्रैव स्थाने  
चन्द्रस्तत्रैवांशैर्मध्यवर्ती स्यात् । यथा बुधो राश्यादिः ३ । ५ ।  
१० चन्द्रः ३ । १५ । २० शुक्रः ३ । २५ । ३० एवं पक्षद्वया-  
सम्भवे किं युक्तमिति । उच्यते । यद्यपि वराहशक्रे संदेहः तथापि  
बादरायणवाक्यादेकराशिष्यवधानकृतमेव मध्यवर्तित्वं विवक्षितम् ।  
यदाह बादरायणः—“पुत्राम्बुश्चिक्यगतैः क्रमेण दुश्चिक्यतोयात्मजसं-  
स्थितैर्वा । बुधेन्दुशुक्रैर्यमशुक्रनाथकाष्ठां प्रयातस्य जयः प्रदिष्टः ॥” इति ।  
काष्ठां दिशम् । एतच्चोपलक्षणम् । तेन लग्नस्थचन्द्रः पार्श्ववर्तिस्थानद्वय-  
वर्तिनोर्बुधशुक्रयोर्मध्यवर्ती चेत्स्यात्तदा सोऽपि राज्ञो विजयद इति । यदाह  
गुरुः—चन्द्रे सितद्वयोर्मध्ये हिवुके लग्नगोपि वा । प्रयाता श्रियमाप्नोति  
जित्वा शत्रून्महीमिमाम् ” इति ॥ ७३ ॥

अन्ययोगयात्रालग्नद्वयमाह—

सितजीवभौमबुधभानुतनूजा-

स्तनुमन्मथारिहिबुकत्रिगृहे चेत् ।

क्रमतोऽरिसोदरखशात्रवहोरा-

हिबुकायगैर्गुरुदिनेऽखिलखेटैः ॥ ७४ ॥

सितजीवेति । अस्य गाथाछन्दः प्राग्वत्स्वमते ग्रन्थान्तरे च । लग्ने शुक्रः स्यात्, सप्तमे जीवः, षष्ठे भौमः, चतुर्थे बुधः, तृतीये शनिः, एवंविधे-  
विशिष्टे योगे राज्ञो विजय एव । यदाह वराहः—“यस्योदयास्तारिचतु  
द्विसंस्थाः शुक्रांगिरोगारकसौम्यसौराः । द्विषद्वलस्त्रीवदनानि त-  
स्य कान्तानि कान्तान्न विलोकयन्ति” इति ।

नारदोपि—

“शुक्रार्थज्ञार्किभौमेषु लग्नास्ताम्बुत्रिशुषु । गतस्याग्रे ह्यरिचमू-  
रणौ लान्धेव लीयते” इति ।

श्रोपतिरपि—

यमज्ञशुक्रेज्यमहीसुतेषु त्रिबन्धुलग्नास्तरिपुस्थितेषु । विलीयते वैरि-  
चमूरणाग्रे लान्धेव बह्वौ नृपतेर्गतस्य” इति । अयमेको योगः । अथा-  
न्यः—गुरुदिने बृहस्पतिवासरे अखिलखेटैः समस्तग्रहैः सूर्यादिभिः  
सप्तभिः क्रमतोऽर्थादिस्थानस्थितैः सद्भिरुपलक्षिते सति यथा षष्ठे सूर्य-  
स्तृतीये चन्द्रः दशमे मङ्गलः षष्ठे बुधः लग्ने गुरुः चतुर्थे शुक्रः एका-  
दशे शनिरिति । एवंविधे योगे राज्ञो विजय एव । यदाह वरा-  
हः—“सूर्यादयोरिसहजाम्बरशत्रुलग्नबन्ध्वायगाः सुरगुरोर्दिवसश्च य-  
स्य । यानेऽरिसैन्यमुपगच्छति तस्य नाशं मीमांसकश्रवणकेष्विव तीर्थ-  
पुण्यम्” इति । मीमांसाविचारस्तन्मात्रनिष्ठा मीमांशका न तु वेदान्त-  
विद एवंविधा ये श्रमणका बौद्धसंन्यासिनस्तेषां तीर्थेषु यथा वैदिकानां  
पुण्यनाशः ॥ ७४ ॥

अन्यद्योगयात्रालग्नद्वयमाह—

सहजे कुजो निधनगश्च भार्गवो

मदने बुधो रविररौ तनौ गुरुः ।

अथ चेत्स्युरीज्यसितभानवो जल-

त्रिगता हि सौरिरुधिरौ रिपुस्थितौ ॥ ७५ ॥



सहजे इति । अस्यातिजगत्यां मंजुभाषिणीछन्दः । तल्लक्षणमुक्तं प्राक् । अथ तृतीये मंगलः स्यात् अष्टमे शुक्रः सप्तमे बुधः षष्ठे सूर्यः लग्ने गुरुः एवंविधे योगे गंतू राज्ञो विजय एव । यदाह वराहः—“त्रिनिधनतनुसप्तमारिसंस्थाः कुजसितजीवबुधा रविश्च यस्य । खलजनजनि-तेव लोकयात्रा न भवति तस्य चिराय शत्रुसेना” इति । अयमेको योगः अथेति—योगांतरमुच्यते । ईज्यसितमानवो बृहस्पतिशुक्रसूर्याः जलत्रि-गताश्चतुर्थतृतीयस्थानगताश्चेत्स्युः सौरिरुधिरौ शनिमंगलौ रिपुस्थितौ भवेताम् एवंविधे विशिष्टे योगे हि निश्चितं राज्ञो जयः स्यात् । यदाह वराहः—“कुजरविजयुतेरिमे गतानां जलसहजोपगतैः सितार्कजीवैः । रिपुबलमुपयाति नाशमाशु श्रुतमधनस्य कुटुंबचितयेव” इति ॥७५॥

अथ नामविशेषपुरस्कारेण योगयात्रालभान्याह—

❀एको ज्ञेज्यसितेषु पञ्चमतपःकेन्द्रेषु योगस्तथा

द्वौ चेत्तेष्वधियोग एषु सकला योगाधियोगः स्मृतः ।

\*अथान्येपि यात्रायोगा लिख्यन्ते । कश्यपः—पञ्चमे ज्ञो रविः षष्ठे वरंते नवमे गुरुः । भाग्ययोगाभिधे योगे निहन्ता वैरिणां सदा ॥ १ ॥ गुरुः केन्द्रे त्रि-कोणे वा रविलभे च कर्मणि । कल्याणयोगो भूपस्य यातुः कल्याणकृद्भ-वेत् ॥ २ ॥ दिगीशो दिग्बली चेत्स्याल्लग्नेशस्य सुहृद्यदि । विजयो नाम योगोयं याता राजा जयी भवेत् ॥ ३ ॥ अत्रिः—सहजस्थानगो भौमो भाग्यस्थश्च-बृहस्पतिः । चिन्तामणिसमाख्योयं यातुः संकल्पपूरकः ॥ ४ ॥ लग्ने शुक्रः-शशी बन्धौ कर्मस्थाने गुरुर्यदा । मृगेंद्रयोगो विख्यातो यातुः सर्वार्थसाध-कः ॥ ५ ॥ लग्ने भौमो गुरुश्छिद्रे षष्ठस्थाने च भास्करः । मृत्युञ्जयसमा-ख्योयं सर्वशत्रुनिर्वहणः ॥ ६ ॥ आपोक्लिमगते चन्द्रे केन्द्रस्थे सुरपूजिते । योगः पारावतो यातुः शुक्रे वा लग्नकेन्द्रगे ॥ ७ ॥ चन्द्रोदये गुरुश्चास्ते ल-ग्ने वासुरपूजिते । योगः पारावतो यातुः शुक्रे वा लग्नकेन्द्रगे ॥ ८ ॥ प्रबलो यदि योगोऽसौ गमने सर्वसिद्धिदः ॥ ९ ॥ रविः षष्ठे सितश्छिद्रे तृतीये भूमिनंदनः । पिनाकियोगो विख्यातो यातुर्विजयकारकः ॥ १० ॥ अन्योन्यक्षेत्रगावेकक्षेत्रे वा कविभास्करौ । मृत्युयोगोयमाख्यातो यातु-मृत्युप्रदायकः ॥ ११ ॥ उच्चक्षेत्रगतश्चन्द्रो ह्यक्षीणश्च रविर्गुरुः । सखीवन

योगे क्षेममथाधियोगगमने क्षेमं रिपूणां वधं

चाथो क्षेमयशोऽवनीश्च लभते योगाधियोगे व्रजन् ॥७६॥

समाख्योय मृत्युयोगापहारकः ॥१२॥ एकर्तृगौ जीवशुकौ स्यातामन्योन्य-  
सप्तमौ । भयङ्कराख्ययोगोयं यातुर्भीतिप्रदः स्मृतः ॥ १३ ॥ उच्च-  
मूलत्रिकोणेषु वर्तते गुरुभार्गवौ । अभयाभिधयोगोयं भयंकरविनाशनः ॥  
१४ ॥ भार्येशो व्ययगो नीचः पुत्रस्थाने शनैश्चरः । विदारिकसमाख्यो-  
यं यातुः पत्नीं निहन्त्यसौ ॥१५॥ मार्गेशः शनिसंयुक्तः सप्तमेऽस्तङ्गतो ग्र-  
हः । विदारिकमिमं मन्येयातुः पत्नीविनाशकम् ॥ १६ ॥ सप्तमे चन्द्र-  
मास्तस्मात्सप्तमे नीचखेचरः । कुटुम्बहारको योगो यातुः प्रियतमां हरे-  
त् ॥ १७ ॥ दुर्बलो यदि मार्गेशो निवसेत्पापमध्यगः । पापकुंजर-  
योगोयं यातुः पत्नीं निहन्त्यसौ ॥१८॥ मार्गेशात्सप्तमे भानुः पञ्चमे क्रूर-  
खेचरः । विदारिकाख्य एवासौ भार्यामरिवशं नयेत् ॥ १९ ॥ स्वोच्च-  
मूलत्रिकोणस्थः सौम्यः पापविवर्जितः । आनन्दार्णवयोयं धर्मेणैवजया-  
वहः ॥ २० ॥ रत्नावल्याम्—उदयारिनभस्तलगैर्दिनकृद्यमशीतक-  
रैः । नभवंत्यरयोभिमुखा हरिणा इव केसरिणः ॥ २१ ॥ दैवञ्चवल्ल-  
भे—ज्ञे सितेन सहितेऽस्तगे विधौ बन्धुगे प्रवसता महीभुजा ।  
सङ्गरे रिपुगणो विकीर्यते तूलराशिरिव मातरिश्वना ॥ २२ ॥  
मूर्तिवित्तसहजेषु संस्थितः शुक्रचन्द्रसुततिगमरश्मयः । यस्य यानसमये  
रणांगणे तस्य यान्ति शलभा इवारयः ॥ २३ ॥ यात्राशिरोमणौ—यो-  
याति जीवे तनुगे महीशः क्रूरैः स्थितैर्व्योम्यथवायसंस्थैः । तस्याग्रतः  
संयति वैरिसेना प्रीतिर्नृपाणामिव नो स्थिरा स्यात् ॥ २४ ॥ राजमार्त-  
ण्डः—लाभारिदुश्चिक्थगतौ यमारौ बलान्विता भार्गवजीवसौम्याः ।  
यस्य प्रयाणे विलयं प्रयाति तस्य द्विषः सर्वरसं यथाप्सु ॥२५॥ फलप्र-  
दीपे—लाभविक्रमसुखस्थिते कवौ कंटकस्थगुह्या निरीक्षिते । द्यू-  
नरध्रुमववर्जितैः खलैः स्याद्गतोभिमतसिद्धिभाङ्गनृपः ॥ २६ ॥ सौम्य-  
ग्रहैः केन्द्रतपःसुतस्थैः क्रूरैः खिलाभारिगतैर्गता ये । कोपानलः शांति-  
मुपैति तेषां विरोधिनारीनयनाम्बुपातैः ॥२७॥ वराहः—एकोपि जीवा-  
ककुजाकजानां स्वोच्चैः विलग्नैः स्वगृहे यदीदुः । यातस्य यान्त्यत्रपराः  
प्रणाशं महाकुलानीवकुटुम्बभेदे ॥ २८ ॥ चन्द्रेस्तगे देवगुरौ विल-



एक इति । अस्यातिधृत्वां शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । तल्लक्षणं च—‘सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्’ । सूर्याश्वैर्द्वादशभिः सप्तभिश्चाक्षरैर्यतिः ।

ग्ने इत्युक्तयोः कर्मणि लाभगेर्के । सौरारयोर्भातृगयोश्च यातो नृपः स्वभृत्यानिव शास्ति शत्रून् ॥ २६ ॥ नारदः—स्वोच्चस्थे लग्नगे जीवे चन्द्रे चायगते यदि । गतो राजा रिपून्हन्ति पिनाको त्रिपुरं यथा ॥ ३० ॥ शुके त्रिकोणे केन्द्रस्थे लग्ने चन्द्रे तथा रथौ । शत्रून्हन्ति गतो राजा ब्रह्मद्वेषः कुलं यथा ॥ ३१ ॥ पापास्तृतीये हिबुके सितशौ जीवो विलग्ने मृगलाञ्छनोस्ते । यस्योद्गतस्यापि बलं रिपूणां कृतं कृतघ्नेष्विव याति नाशम् ॥ ३२ ॥ यस्योदयास्तारिचतुस्त्रिसंस्थाः शुक्राङ्गिरोगारकसौम्यसौराः । द्विषद्बलस्त्रीवदनानि तस्य क्लान्तानि कान्तान्न विलोकयन्ति ॥ ३३ ॥ पूर्वोक्तयोगे धनगो बुधश्चेच्छशांकसूर्यौ च दशायसंस्थौ । अस्मिन्गतस्यालिकुलोपगीता नानावनस्था द्विरदा भवन्ति ॥ ३४ ॥ वराहः—त्रिषण्णवान्तेष्ववलःशशाङ्को बुधो वलीयांश्च गुरुश्च केन्द्रे । तस्यारियोषाभरणैः प्रियाणि प्रियाः प्रियाणां जनयन्ति सैन्ये ॥ ३५ ॥ चन्द्रोऽवलःबुधोवलो उभौ चत्रिषण्णवान्त्येष्वेव भवतस्तदायोगः—केन्द्रोपगते न वीक्षिते गुरुणा खायतुरीयगे सिते । पापैरनवाष्टसप्तगैर्वसु किंतन्न यदाप्नुयान्नृपः ॥ ३६ ॥ षष्ठाष्टगौ शुक्रबुधौ प्रयागो सुरेशूज्यो गगने यदि स्यात् । रिपुप्रणाशं विषयेषु सौख्यं प्राप्नोति कीर्तिं विपुलां च भोगम् ॥ ३७ ॥ दुश्चिक्क्यलाभारिगते ऽर्कपुत्रे चतुर्थगे दैत्यगुरौ प्रयाति । यदा पुमान्सद्विरदेन्द्रयानं कीर्तियशःसिद्धिसहस्रमेति ॥ ३८ ॥ केन्द्रस्थाने सुरपतिगुरौ कंटकस्थे सुरेज्ये छिद्रे सौम्ये प्रवसति यदा त्वष्टमे ग्लौर्यदि स्यात् । येषां क्रूरा रिपुसहजगा राहुकेतू च मूर्तावायुःकीर्तिर्द्वित्रिणमतुलं ते लभन्ते यशश्च ॥ ३९ ॥ मूर्तौ शत्रौ सुरपतिगुरौ छिद्रगे वात्रिकोणे केन्द्रस्थाने शनिरविकुजा लाभगा वा यदिस्युः । ये भूपा यान्ति शत्रुं विपुलधनमथो सैन्यनाशं रिपूणां कीर्तिंशुद्धं यशश्च प्रमथितरिपवस्ते सुखादाव्रजन्ति ॥ ४० ॥ होरासंस्थे सुरपतिगुरौ भार्गवे कण्टकस्थे षष्ठे चन्द्रेव्रजति यदि वा कार्ययोगात्क्षितीशः । प्राप्नोत्यग्न्यं कनकतुरगं रूप्यरत्नादिकोशमायुःकीर्तिं जयति च तदा मत्तमातङ्गयूथम् ॥ ४१ ॥ लग्नारिकर्महिबुकेषु शुभेक्षितेषु द्यूनान्त्यलग्नरहितेष्वशुभग्रहेषु । यातुर्भयं न भवति प्रतरेत्समुद्रं यद्यश्मनापि किमुतारिसमा-

योगाख्यो योगः—

ज्ञेयसितेषु बुधवृहस्पतिशुक्रेण्वेकोपि बुधो वा गुरुर्वा शुक्रो वाचे-  
त्पंचमतपःकेंद्रेषु स्यात् । पंचमे वा स्थाने तपसि नवमे वा केंद्रे प्रथम-  
चतुर्थसप्तमदशमानामन्यतमे स्थाने वा स्यात् तदा योगाख्यो योगः ।

गमेषु ॥ ४२ ॥ एकांतरर्क्षं भृगुजातुजाद्वा सौम्ये स्थिते सूर्यसुताद्गुरो-  
र्वा । प्रध्वस्यतेऽरिर्नचिराद्गतस्य द्वेषाधिको भृत्य इवैश्वरस्य ॥ ४३ ॥ शुक्रा-  
ज्ञौमाद्वा सौराज्ञौवाद्वा बुधः एकान्तरे तृतीयस्थाने यत्र कुत्र स्यात्तदा यो  
गः—निरन्तरं यदि भवनेषु पञ्चसु ग्रहाः स्थिता दिवसकरेण वर्जिताः ।  
यियासतो यदि च भवन्ति पृष्ठतस्तदा परान्वलभिदिवाशु कृतंति ॥ ४४ ॥ प्रा-  
क्पालस्थैर्ग्रहैः पश्चिमदिशि पृष्ठगतत्वम् । अपरकपालस्थैः प्राच्यां खम-  
ध्यस्थैरुत्तरदिशि । अर्धरात्रस्थैर्दक्षिणदिशि । बुधभार्गवमध्यगते-  
हिमगौ हिवुकोपगते च नृपः प्रवसेत् । पुरुहूतदिशं यदि वान्तकृतः पुरु-  
हूतयमप्रतिमो भवति ॥ ४५ ॥ सितेन्दुजौ चतुर्थगौ निशाकरश्च सप्तमे । य-  
दा तदा गतो नृपः प्रशास्त्यरीन्विना रणात् ॥ ४६ ॥ शुक्रवाक्पतिबुधैर्धन-  
संस्थैः सप्तमे शशिनि लग्नगतेऽर्के । निर्गतो नृपतिरेति कृतार्थो वत्सराच्च-  
यदरीन्विनिहत्य ॥ ४७ ॥ सूर्येन्दू बलवर्जितौ बलयुतौ लग्नेशजन्मेश्वरौ पा-  
ताले दशमेपि वा शशिसुतो लग्नस्थितो वाक्पतिः । षट्सप्ताष्टमवर्जितेषु  
भृगुजःस्थानेषु यस्य स्थितो यातुस्तस्य न विद्विषो रणमुखे तिष्ठन्ति यो-  
षा इव ॥ ४८ ॥ सौरे भौमे लग्नगेर्के खमध्ये कर्मण्याये भार्गवे चन्द्रजे वा । या-  
याद्भूपः शत्रुगेहं निहतुं द्रुप्तं शत्रुं कालवत्क्रूरचेष्टः ॥ ४९ ॥ गुरौ विलने यदि वा  
शशांके षष्ठे रवौ कर्मगतेर्के पुत्रे । सितज्ञयोर्बन्धुसुतस्थयोश्च यात्रा जनित्रीव  
द्वितानि धत्ते ॥ ५० ॥ त्रेनिधनतनुसप्तमारिः स्याः कुजसितजीवद्वा रविश्च  
यस्य । खलजनजनितेव लोकयात्रा न भवति तस्य चिराय शत्रुसेना ॥ ५१ ॥  
कुजरविजयुतेऽरिमे गतानां जलसहजायगतैः सितार्कजीवैः । परवलमुपया-  
तिनाशमाशु श्रुतमधनस्य कुटुंबचिन्तयेव ॥ ५२ ॥ भृगुपुत्रमहेन्द्रगुरु गगने स-  
हितो यदि भंयुगपत्यजतः ज्ञगुरु यदि वांशकमेकगतौ समरेऽमरराडिव भा-  
ति तदा ॥ ५३ ॥ क्षितितनययुतान्नवांशकाद्यदि शततमे भृगुजोथवा गुरुः ।  
शतगुणमपि हन्त्यरेर्वलं विषमिव कायमसूक्ष्मपथोपगम् ॥ ५४ ॥ स्वोच्चो-  
पगौर्जीवकुजाकस्त्रैरेभिस्त्रिभिर्वा कथितैर्विलने ॥ राज्ञः प्रणाशं समुपैति  
शत्रुः सौख्यं द्विभार्यस्य यथाधनस्य ॥ ५५ ॥ शतांशकादूर्ध्वमवस्थिते बुधे



अधियोगाख्यो योगः—

तथा तेषु ज्ञेयशुक्रेषु द्वौ बुधगुरु बुधशुक्रौ वा चेत्तदा—अधियोगः ।

यमारयोस्तत्र गतस्य भूभृतः प्रयाति नाशं समरे द्विषद्बलं यथार्थिभावोपग-  
तस्य गौरवम् ॥५६॥ भौमाधिष्ठितनवांशाद्यदि बुधो नवांशकशतादूर्ध्वन्ति-  
ष्ठति एवं शनिरपि । सिंहाजतौलिमिथुना मृगकर्कटौ च स्वेशाग्विताभव-  
ति यस्य शनिश्च लग्ने । तत्सैनिकाः परबलं क्षपयन्ति यातुर्मूर्खस्य वित्तमि-  
व चारणचट्टमन्त्राः ॥५७॥ चट्टा धूर्ताः मन्त्रा अलीकवादिनः । अथ समरया-  
त्रा—गुरौ वाथो केंद्रयुते बुधे वा भृगुनन्दने । विजयोनाम योगोऽयं या-  
तुर्विजयदः सदा ॥५८॥ स्वराशिगे बुधे लग्ने सिते वा सुरवन्दिते । नन्दावर्ता  
ह्यो योगो यातुरिष्टार्थसिद्धिदः ॥५९॥ स्वांशसंस्थे बुधे लग्ने शुके वा सुर-  
पूजिते । शंखसंज्ञाह्यो योगो यातुः कीर्तिप्रदः सदा ॥६०॥ स्वराशौ स्वांश-  
गे सौम्ये लग्नस्थे वा भृगोः सुते । जीवे वा व्रजयोगोयं यातुः शत्रुविनाश-  
कृत् ॥६१॥ अधिमित्रांशगे सौम्ये सिते वाथ सुरार्चिते । लग्नगे मातृयोगोयं  
शत्रूणां सन्धिकृत्सदा ॥६२॥ यत्रैकादशगश्चन्द्रोभानुर्वाप्रत्रलः शुभः । अभ-  
योनाम योगोयमरिभूतिविनाशकृत् ॥६३॥ त्रिकोणगे शुभे खेटे सवले वा द्वि-  
तीयगे । कल्याणसंज्ञो योगोयं यायिनां मङ्गलप्रदः ॥६४॥ यत्र स्वोच्चगतश्च-  
न्द्रो लग्नादेकादशे स्थितः । जयन्तो नाम योगोयं शत्रुपक्षविनाशकृत् ॥६५॥  
वर्गोत्तमगते लग्ने शुभे वाथ बलान्विते । शुभग्रहयुते केन्द्रे योगोयं सिद्धि-  
दायकः ॥ ६६ ॥ षष्ठे वायगते सूर्ये कामगे हरसंज्ञकः । योगो महारणो  
शत्रुपक्षक्षयकरः सदा ॥६७॥ उच्चस्थे लाभगे शुके त्रिषष्ठे देवपूजिते ।  
सुदर्शनो महायोगः शत्रुध्वंसकरो रणो ॥ ६८ ॥ लग्नान्यकेन्द्रगे चन्द्रे  
लग्नस्थे देवपूजिते महाशङ्काह्यो योगः प्रतिपक्षाच्चमानदः ॥६९॥ भू-  
सुते स्वोच्चगे लाभे मृगकुम्भगते यमे । नन्दावर्त्ताह्यो योगो रणे शत्रुतृ-  
णानलः ॥७०॥ मेषगे भारकरे षष्ठे लाभगे स्वोच्चगे यमे । नक्षत्रपादयोगो-  
यं शत्रुमेघानिलो रणो ॥७१॥ भौमे स्वराशिगे लग्ने सौम्ये केन्द्रत्रिकोण-  
गे । पुण्ययोगोरिविपिनकुठारः सङ्गराङ्गणो ७२ एकान्तरगते लग्नाच्छुभ-  
खेटेथवाऽशुभे । वापियोगस्वरित्राततिमिरौघदिवाकरः ॥ ७३ ॥  
आवश्यकं तथा याने सौम्येस्ते निधनेपि वा । व्रजेदकौदयेस्ते वा मध्याह्ने  
वाप्यशङ्कितः ॥७४॥ प्रमथ्युतितारका स्फुटतटी प्राची भवेन्निर्मला त्वीष-  
द्रकविलोहिता न धवला देवैः सदा वाञ्छिता । नो धारं न तिथिं न चापि

योगाधियोगाख्यो योगः—

तथा तेषु ज्ञेयशुक्रेषु सर्वेऽपि चेत्पञ्चमतपःकेंद्राणामन्यतमस्थानभेदेन स्थानैक्येन वा स्थिताश्चेत्स्युस्तदा योगाधियोगाख्यो योगः ।

योगाधियोगयोगाधियोगेषु यात्रायां फलानि—

फलमाह—योग इति । योगे व्रजन् राजा क्षेमं कुशलं लभते । कुशलेन गतागतं करोतीत्यर्थः । अधियोगे राजा व्रजन् क्षेमं तथा रिपूर्णां शत्रूणां वधं च लभते । योगाधियोगे व्रजन् राजा क्षेमयशोऽवनीश्वकराच्छत्रुवधं च लभते । यदाह नारदः—“केंद्रत्रिकोणेष्वेकेन योगः शुक्रज्ञसूरिषु । अधियोगः स चेद्द्वाभ्यां त्रिभिर्योगाधियोगकः ॥ योगे यियासतां क्षेममधियोगो जयावहः । योगाधियोगे क्षेमायुर्विजयार्थविभूतयः” इति । वराहोपि—“एकेन वा बुधबृहस्पतिभार्गवाणां योगो भवेन्नवमपञ्चमकंदकेषु । द्वाभ्यां वदन्ति मुनयस्त्वधियोगमेषां योगाधियोगमपरे त्रिभिरुद्दिशन्ति ॥ योगेन येनृपतयोऽरिपुरं व्रजन्ति क्षेमेण ते गमनमागमनं च कुर्युः । क्षेमं यशो रिपुविनाशमथाधियोगे योगाधियोगगमनेन जयेद्धरित्रीम्” इति ।

योगाधियोगयोर्भेदेषु योगभेदाः—

अत्र योगस्याधियोगस्य च भेदविचारः । तत्र योगस्याष्टादश भेदाः तथा हि त्रयो ग्रहाः षट् स्थानानि तत्रैकस्य तु तन्वादस्थानं षड्स्थित्या षड्भेदाः । एवं गुरोः षट् शुक्रस्यापि षट् । एवं योगेष्टादशभेदाः । अधियोगस्याष्टोत्तरशतं भेदाः । यथा ज्ञेयशुक्राणां द्वयोर्द्वयोर्योगे त्रयो भेदाः । बुधशुक्रौ गुरुशुक्रौ बुधगुरु तत्र बुधगुरोरेकैकस्थानस्थित्या ष-

करणां लग्नञ्च नापेक्षते हत्वा दोषसहस्रकञ्च यमुषा नूनं करोत्युत्तमम् ॥७५॥ मध्यव्योमप्रयाते स्फुरदनलनिभे केसरैः स्वर्कबिम्बं छाया साध्वीव कान्ता प्रचलति पुरुषे यत्र तत्पादलग्ना । तावत्सौरिर्नवृष्टिः कुजकृतमशुभं नैव ऋक्षान्न योगः संमानारोग्यसम्पत्तिमथयुवतिं तत्र गन्ता लभेत ॥७६॥ यावत् सिन्दूरवर्णं गगनतलगतं भानुबिम्बं च नास्तं यावन्नोदिक्षु शान्तिं व्रजति खुरपुटैरुद्धतो रेणुसङ्घः । तावन्नैवास्ति दोषः प्रभवति न च सा क्रूरदृष्टिर्ग्रहणां यात्रायां वा विवाहे सकलशुभकरी सर्वकार्येषु सिद्धिः । इत्यलं ग्रन्थविस्तरेण । इति यात्रालग्ने राजयोगाः ॥ ७७ ॥



भेदाः । स्थानभेदे तु बुधः प्रथमे स्थाने गुरुद्वितीयादिषु पञ्चसु स्थानेषु स्थितस्तदा पञ्च । एवं गुरुः प्रथमे स्थाने बुधो द्वितीयादिषु पञ्चसु तत्रापि पञ्चैव । अथ बुधो द्वितीये गुरुस्तृतीयादिषु चतुर्षु तदा चत्वारो भेदाः एवं वैपरीत्येपि द्वयोश्चत्वारः । तथा बुधस्तृतीये गुरुश्चतुर्थादिषु तदा त्रयः । एवं वैपरीत्येपि त्रयः । तथा बुधः चतुर्थे गुरुः पञ्चमे षष्ठे वा तदा द्वौ भेदौ । एवं वैपरीत्येऽपि द्वौ । तथा बुधः पञ्चमे गुरुः षष्ठे तदैको भेदः । एवं द्वौ भेदौ । एवं वैपरीत्येऽप्येकः । एवं बुधगुर्वोः सर्वे मिलिताः षट्त्रिंशत् भेदाः स्युः । अनेनैव प्रकारेण बुधशुक्रयोः षट्त्रिंशद्भेदाः । एवं गुरुशुक्रयोरपि तावन्त एव मिलित्वाऽष्टोत्तरशतं भेदा भवेयुः ।

योगाधियोगभेदाः—

तथाहि ज्ञेयशुक्राणां संघेनैकस्थानस्थात्यापद् भेदाः भवन्ति ।

स्थानभेदेन योगभेदाः—

स्थानभेदेनोच्यन्ते भेदास्तत्र द्वयोः समुदाय एको भिन्नश्चैवं ग्रहाणां त्रयो भेदाः स्युः । यथा हि संघः प्रथमस्थाने एको द्वितीयादिषु तदापि पञ्चैव । द्विग्रहसंघो द्वितीये एकस्तृतीयादिषु चतुर्षु चत्वारो भेदाः एवं भेदवैपरीत्येपि चत्वारः । तथा द्विग्रहसंघस्तृतीये एकश्चतुर्थादिषु तदा त्रयः तथा द्विग्रहसंघश्चतुर्थे एकः पञ्चमे षष्ठे वा तदा द्वौ भेदौ एवं वैपरीत्येऽपि द्वौ । एवं बुधगुरुसमुदायस्य शुक्रसहितस्य त्रिंशद्भेदाः । एवमेव बुधशुक्रसंघस्य गुरुसहितस्य त्रिंशत् ३० । तथा गुरुशुक्रसंघस्य बुधसहितस्य तावन्त एव । सर्वभेदैक्यम् ६० ।

त्रिग्रहाणां स्थानत्रयाक्रान्त्या योगभेदाः—

अथ त्रयाणां ग्रहाणां स्थानत्रयाक्रान्तत्वेन भेदाः उच्यन्ते । तत्र बुधगुरुशुक्राणामन्योन्य परिवर्त्तनात्षट्भेदा भवन्ति । यथा एतदुत्पत्तिप्रकारो भास्कराचार्येण—अङ्गपाशगणिते—स्थानान्तमेकादिचयांकघात' इत्यादि-

नाभ्यधायि । तत्र त्रिभिर्ग्रहैः षण्णां स्थानानां मध्ये निरन्तरस्थानत्रयाक्रान्तत्वेन चत्वारो भेदाः । एवं पञ्चभिरपि भेदैरित्येवं चत्वारो जाताः सर्वे चतुर्वि-

|     |     |     |     |     |     |     |     |
|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|
| बु. | बृ. | शु. | बु. | बृ. | शु. | शु. | बृ. |
| बु. | शु. | बृ. | बु. | बु. | बु. | बु. | शु. |
| बृ. | शु. | बु. | बृ. | शु. | शु. | बृ. | बु. |

सतिः २४ ।

योगलालाटिकयोः प्राबल्यदौर्बल्यविचारः—

अत्रायं विचारः—बुधश्चतुर्थे उत्तरस्यां दिशि लालाटिकः केंद्रगतत्वाद्योगकर्त्ता च । तत्र किं योगः प्रबलः उत लालाटिक इति तत्र सामान्यविशेषभावेन एव प्रबलः । एवं सप्तमश्च शुक्रो लग्नभङ्गी प्रबल एव । तथैवाधियोगे योगाधियोगे चोक्तहेतुः । तथैव बुधशुक्रयोर्लालाटिकलग्नभङ्गिदोषौ प्रबलाविति वालानामप्येतत्सुबोधम् । अत्र वसिष्ठकश्यपनारदाद्यृषिभिर्वराहादिभिश्च भूयांसि योगयात्रालग्नान्युक्तानि तानि तद्ग्रन्थेभ्य एवावधार्याणि ग्रन्थाधिक्यभयादत्र ग्रन्थकृता नोक्तानि ॥ ७६ ॥

अथ विजयदशमीसंज्ञकं सिद्धमुद्धर्त्तमाह—

इषमासि सिता दशमी विजया

शुभकर्मसु सिद्धिकरी कथिता ।

श्रवणर्क्षयुता सुतरां शुभदा

नृपतोस्तु गमे जयसन्धिकरी ॥ ७७ ॥

इषमासीति । अस्य जगत्यां तोटकाख्यं छंदः । तद्भक्षणम् यथा “इह तोटकमंबुधिसैः प्रथितं” । स्पष्टार्थं पद्यम् । यदाह नारदः—“वल्लभपक्षदशमी आश्विने विजयाभिधा । विजयस्तत्र यातृणां संधिर्वा न पराजयः” इति । कश्यपोपि—“मासीने शुक्लदशमी सर्वदा विजयाभिधा । जयप्रदा सा यातृणां संधिर्वा न पराजयः” इति ।

विजयदशमीसिद्धमुद्धर्त्तेन श्रवणयोगेतिप्राशस्त्यम्—

वसिष्ठेन तु श्रवणसाहित्येऽतिप्राशस्त्यमुक्तम्—“श्रवणर्क्षं यदा काले सा तिथिर्विजयाभिधा । विजया दशमी तत्र सर्वकार्येष्वनिदिता । यात्रायां जयदा राज्ञां संधिं वापि प्रयच्छति” इति । आश्वयुक्तशुक्ले इत्यनुवर्तते । काले कालस्वामिकायां तिथौ दशम्याम् ॥ ७७ ॥

अथैवं महतायासेन विचारिते पञ्चांगशुद्धिसहिते लग्ने सत्यपि मनोविशुद्धौ वक्ष्यमाणमकुनाद्यावश्यकत्वं तत्रापि प्रबलदुर्बलभावं च वसंततिलकाछंदसाह—

चेतोनिमित्तशकुनैरतिसुप्रशस्तौ-

ज्ञात्वा विलग्नबलमुर्व्यधिपः प्रयाति ।



सिद्धिर्भवेदथ पुनः शकुनादितोऽपि

चेतोविशुद्धिरधिका न च तां विनेयात् ॥ ७८ ॥

चेत इति । अथशब्दो मङ्गलार्थं आनन्तर्यार्थश्च । चेतोतःकरणम् । निमित्तमङ्गस्फुरणादि । शकुनानि वक्ष्यमाणानि । एतैः खलु निश्चयेन सुप्रशस्तैः सद्भिः तथा समीचीनं विलम्बबलमपि ज्ञात्वा उर्व्यधिपो राजा प्रयाति तथा सिद्धिर्वाञ्छितकार्यसिद्धिर्भवति । यदाह नारदः—“मनोनिमित्तशकुनैर्लग्नं लब्ध्वा रिपोः पुरम् । विजिगीषुर्यो व्रजति विजयश्रीस्तमेत्यलम्” इति । निमित्तमङ्गस्फुरणादि । श्रीपतिरपि—“शकुननिमित्तमनोभिरनिर्द्यैरुदयविशुद्धिमिह प्रतिपद्य । रिपुविषयं प्रति यो विजिगीषुर्व्रजति तमेत्य चिराद्विजयश्रीः” इति ।

अपशकुने यात्रा न कार्या ( लग्नादिशुद्धत्वपि )—

यदा तु लग्नादिवले सत्यपि निंद्यानि चेच्छकुनादीनि स्युस्तदा यात्रा निषिद्धैव । यदाह वसिष्ठः—“अशुभानि निमित्तानि उत्पातशकुनानि च । यात्राकाले नृणां तेषां निधनायाधनाय वा” इति ।

मनोजयाभावे लग्नशुद्धिसुशकुनयोः सतोर्यात्रा न कार्या—

यदा तु दैवाच्छकुनलग्नादीन्यनिंद्यानि लब्धानि मनोविशुद्धिश्च नास्त्येव तत्र कस्य प्राबल्यमित्यत आह—अधिकेति । शकुनादितः सकाशाच्चेतोविद्धिरधिका । तां चेतोविशुद्धिं विना नेयात् न गच्छेत् । यदाह कश्यपः—“निमित्तशकुनादिभ्यः प्रधानो हि मनोजयः । तस्माद्यियासतां नृणां फलसिद्धिर्मनोजयात्” इति । श्रीपतिश्च—“निमित्तराशिरेकतो नृणां मनस्तथैकतः । अथो यियासतां बुधैर्मनोविशुद्धिरिष्यते” इति ॥ ७८ ॥

अथ शुभसूचकसकलपदार्थसमवायेपि यात्रायामवश्यनिषिद्धनिमित्तान्याह—

व्रतबन्धनदैवतप्रतिष्ठा-

करपिडोत्सवसूतकासमाप्तौ ।

न कदापि चलेदकालविद्यु-

दधनवर्षातुहिनेपि ससरात्रम् ॥ ७९ ॥

व्रतवन्धेति । अस्य विषमच्छन्दसि वसन्तमालिकाच्छन्दः । तल्लक्षणं च—“विषमे ससजा गुरु समे चेत्समरा, यश्च वसन्तमालिका सा” व्रतवन्धनं यज्ञोपवीतम्, देवताप्रतिष्ठा प्रसिद्धा, करपीडा विवाहः, उत्सवो होलिकादिः । सूतकं द्विविधं—जननसूतकं मरणसूतकं च । एतेषां पदार्थानां शास्त्रोक्तयावद्दिनसमाप्त्यानामसमाप्तौ समाप्तिं विना कदापि नैव चलेद्गच्छेत् । यदाह नारदः—उत्सवोपनयोद्वाहप्रतिष्ठाशौचसूतके । असमाप्ते न कुर्वीत यात्रां तत्र जिजीविषुः” इति ।

अकालविद्युदादिषु उत्पातत्रयेपि यात्रादिकं सप्तदिनेषु न कार्यम्—

अकालेति । विद्युत्प्रसिद्धा, घनो घनगर्जितम्, वर्षा वृष्टिः, तुहिनं नीहारः, एषु पदार्थेष्वकालजेषु सत्सु सप्तरात्रं दिवससप्तकं न चलेत् । यदाह राजमार्तण्डः—“पौषादिचतुरो मासान् प्राप्ता वृष्टिरकालजा । व्रतं यात्रादिकं चैव वर्जयेत्सप्तवासरान् ॥” श्रीपतिः—“वृष्टिरकालप्रभवा चतुर्षु मासेषु पौषपूर्वेषु । आसप्ताहं त्याज्यं व्रतं च यात्रादिकं तत्र” इति । नारदोपि—“अकालजेषु नृपतिर्विद्युद्गर्जितवृष्टिषु । उत्पातेषु त्रिविधेषु सप्तरात्रं न तु व्रजेत्” इति । त्रिविधत्वं दिव्यान्तरिक्षमौमभेदेन । यदाह श्रीपतिः—सौदामिनीवर्षणवर्जितेषु नाकालजेषु प्रवसेन्नरेन्द्रः । आसप्तरात्राद्भुवमद्भुतेषु दिव्यान्तरिक्षक्षितिजेषु चैवम्” इति । ग्रन्थकर्त्रात्रोत्पातग्रहणं न कृतम् ‘उत्पातग्रहतोद्ग्रहानि’ इति शुभाशुभप्रकरणेऽभिहितत्वात् ।

धूमकेतूत्पाते तु यावद्दर्शनं यात्रानिषेधः—

अत्रोत्पाताः केतुव्यतिरिक्ता द्रष्टव्याः । केतौ तु यावद्दर्शनं गमननिषेधः । यदाह ऋषिपुत्रः—“यावदभ्युदितः केतुरस्तमेवोपगच्छति । तावद्राजा न गच्छेत् निवर्तेत गतोन्यथा” इति ।

अकालविद्युदादिषु यात्रादौ कालसंकोचे मतान्तरम्—

अत्र श्रीपतिवाक्ये ‘सौदामिनी’ इत्यादिषु तात्कालिक एव निषेधः । आसप्तरात्रादिति तूत्तरार्द्धपठितेषूत्पातेष्वेव सम्बध्यत इत्याहुः । यदाह वसिष्ठः—“प्रयाणसमये यस्य विद्युन्नीहारवृष्टयः । अकालजा भवन्त्येते तदा भङ्गकरा नृणाम्” इति । ननु देहलीदीपन्यायेनात्र पूर्वत्रापरत्र वा सम्बन्धः स्यान्नोभयत्र । न चावृत्त्या सेत्स्यतीति नचोभयत्राप्यासप्तरात्रादिति सम्बन्ध इति वाच्यम्, गौरवापत्तेः । कथम् । ‘सकृदुच्चरितः



शब्दः सङ्गदर्थप्रत्यायकः 'इतिन्यायेनैकत्र पूर्वत्र परत्र वा सम्बन्धः स्यान्नो भयत्र । न चावृत्त्या सेत्स्यतीति वाच्यम्, आवृत्तौ प्रमाणाभावात् । अत्रोच्यते । आसत्तरात्रादित्युभयत्रापि सम्बध्यते । ध्रुवमद्भुतेषु दिव्यान्तरिक्षक्षितिजेषु चैवम्' इति समुच्चयद्योतकस्य चकारस्य स्पष्टमनुवृत्तिसूचकस्य चैवमित्यत्र करणात् । अत एव नारदोपि—“अकालजेषु नृपतिर्विद्युन्नीहारवृष्टिषु उत्पातेषु त्रिविधेषु सप्तरात्रं न तु व्रजेत्” इति दोषानुवादपूर्वकं 'सप्तरात्रं न तु व्रजेत्' इति वाक्यान्तेऽभिधाति स्म । कश्यपोपि—“उत्पातेषु त्रिविधेषु तडिद्गर्जितवृष्टिषु । अकालजेष्वेषु सत्सु सप्तरात्रं न तु व्रजेत्” इति । 'प्रयाणसमये यस्य' इति वसिष्ठवाक्यं प्रयाणदिवसोत्पन्नस्य विद्युदादेर्दोषातिशयसूचनार्थम् तेन तस्मिन् दिने नैव गच्छेदित्यर्थः । वृष्ट्यर्थं स्वयमेवाग्रे वक्ष्यति 'यदिमास्तु' इति ॥ ७६ ॥

अथ राज्ञ एकदिनसाध्ये एकस्मान्नगरान्नगरान्तरगमने चिकीर्षिते दिक्छलत्वाद्यभावं वंशस्थवृत्तेनाह—

महीपतेरेकदिने पुरात्पुरे यदा भवेतां गमनप्रवेशकौ ।

भवारशूलप्रतिशुक्रयोगिनीर्विचारयेन्नैव कदापि पण्डितः ८०

महीपतेरिति । यथा वाराणसीनगराच्चरणाद्रिगमनमेकदिनसाध्यम् । तद्वदन्यत्रापि महीपते राज्ञः पुरादेकस्मान्नगरात्पुरे नगरान्तरे एकदिने एव गमनप्रवेशकौ स्याताम् । कोऽर्थः । यस्मिन्नेव दिने एकास्मात्पुराद्गमनं तस्मिन् दिने एव च नगरान्तरे प्रवेशः । तत्र यथाकथञ्चित्पञ्चाङ्गशुद्धिमालोच्य नक्षत्रशूलं वारशूलं प्रतिशुक्रश्च योगिन्यश्च एतान् दोषान् पण्डितः कदापि नैव विचारयेत् । उक्तं च भृगुणा—“एकस्मिन्नपि दिवसे यदि चेद्गमनं प्रवेशश्च । प्रतिशुक्रवारशूलं न चिन्तयेद्योगिनीपूर्वम् ॥” इति । यदा तु दिनभेदेन यात्राप्रवेशौ भवतस्तदा यात्रायां प्रतिशुक्रवारशूलादिविचारोऽस्त्येव ॥ ८० ॥

अथैकदिनसाध्ये निर्गमनप्रवेशरूपे कार्ये चिकीर्षिते किं विचार्यमित्याशङ्क्योत्तरमार्यावृत्तेनाह—

यद्येकस्मिन्दिवसे महीपतेर्निर्गमप्रवेशौ स्तः ।

तर्हि विचार्यः सुधिया प्रवेशकालो न यात्रिकस्तत्र ॥ ८१ ॥

यद्येकेति । स्पष्टार्थं पद्यम् । प्रवेशकालो गृहप्रवेशप्रकरणे वक्ष्यते । यात्रिको यात्रासम्बन्धी कालः । तत्र नगरान्नगरान्तरगमने । यदाह गर्गः—प्रवेशनिर्गमौ स्यातामेकस्मिन्नपि वासरे । तदा प्रावेशिकं त्रित्यं बुधैर्नैव तु यात्रिकम् ” इति । प्रावेशिकं वासरं यात्रिकं च वासरम् । “वा पुंसि क्लीबे दिवसवासरौ” इति वासरशब्दस्य पुंनपुंसकत्वात्सामानाधिकरण्येन संबंधः । अत्राहुः—एतत्पद्योपनिबन्धने प्राक्पद्योपनिबन्धनस्याजागलस्तनाय मानत्वमस्ति एककर्तृकत्वात् । भिन्नकर्तृके तु नायं दोषः, यथासंमतिवाक्ययोः । अत्र समाधिः एकस्मिन्नेव दिने यात्राप्रवेशकालयोः कियद्वटिकाकृतो विलम्बस्तिष्ठति । परं तु यात्रासमये भद्राव्यतीपातादिकं महादोषजातं विचार्य वा नवेति सन्देहः । यदि विचार्य तदा विशिष्यप्रोक्तं प्रतिशुक्राद्यपि विचार्यम् । यदि न विचार्य तदेदमपि न विचार्यम् । एवं सति भृगुवाक्यमनर्थकं स्यात् । न तु सामान्यविशेषवाक्यभावेन प्रतिशुक्रादिकं वाधकं भविष्यतीति चेन्न । एतत्प्रकरणपठितानां शुभाशुभप्रकरणत्वादोषाणां नास्ति सामान्यविशेषभावः । अयं विचारो ‘योगात्सिद्धिर्धरणिपतीनाम्’ इति पद्यव्याख्यानेभिहितः । तस्मात्प्रकरणद्वयपठिते दोषविचारे प्रसक्ते विना वचनं दोषत्यागोपादानविचारो न निर्णयपदवीमवगाहत इति प्राक्पद्योपनिबन्धः सार्थक इति ॥ ८१ ॥

अथ प्रयाणो त्रिनवमीदोषमनुष्ठुमाह—

प्रवेशान्निर्गमं तस्मात्प्रवेशं नवमे तिथौ ।

नक्षत्रे च तथा वारे नैव कुर्यात्कदाचन ॥ ८२ ॥

प्रवेशेदिति । त्रिविधा नवमी प्रयाणनवमी, प्रवेशनवमी, तिथिनवमी । तत्र गृहप्रवेशतिथितो नवमे तिथौ निर्गमं न कुर्यात् । इयं च प्रयाणनवमी । पुनश्च गमनदिवसान्नवमे तिथौ गृहप्रवेशं न कुर्यात् । इयं च प्रवेशनवमी । नवमी तिथिस्तु प्रसिद्धैव । यदाह वसिष्ठः—“नवमी ज्ञेया त्रिविधा प्रवेशनवमी प्रयाणनवमदिनम् । निर्गमनतः प्रवेशात् प्रयाणनवमी नवमदिनं च । शततं नवमीत्रितयं यात्रायां प्राणहानिदं यातुः” इति । अत्र पद्ये तु नवमीदोषः प्रागुक्तत्वाच्चोपनिबद्धः । ननु प्रयाणनवम्यां तिथौ च नवम्यां यात्रा निषि-



द्धेति युक्तम् । प्रवेशनवस्यां तु बहिःस्थस्य पुंसो गृहप्रवेशनिषेध-  
स्यैव युक्तत्वात्कथं पुनस्तस्य गृहाद्गमनसम्भवो युक्तः । अतो दो-  
षाभिधानमपि न युक्तम् । उच्यते । यथा गृहान्निर्गतः पुमान् दैवा-  
त् शीघ्रमेव कृतकार्यः सन् सप्तमे अष्टमे वा तिथौ गृहं प्रविष्टः स  
चेत्पुनः कार्यनिपातप्रवेशतिथेः सकाशात्तृतीया द्वितीया वा तिथिः  
प्राङ्निर्गमतिथितो नवमीतिथिस्तस्यां तिथौ यात्रां नैव विदध्या-  
दित्यर्थः ।

प्रयाणप्रवेशनवमीवन्नक्षत्रवारयोरप्यत्र दुष्टत्वम्—

नक्षत्रे च तथेति । तथा प्राङ्निर्गमतिथितो नवमीतिथिरित्ये-  
तत्तुल्येन प्रकारेण नक्षत्रे वारे वा कदाचन नैव कुर्यात् । अय-  
मर्थः । यस्मिन्नक्षत्रे गृहप्रवेशः कृतस्ततो नवमे नक्षत्रे प्रयाणं  
न कार्यम् । यथा मृगे प्रवेशो हस्ते गमनम् । अत्र निर्गमन-  
क्षत्रान्नवमे नक्षत्रे प्रवेशो न कार्यः । यथा हस्ते गमनमुत्तराषाढा-  
यां प्रवेशः । अत्रापि प्रागभिहितरीत्या यात्रापि निषिद्धा ।  
एवं वारेपि ध्येयम् । यथा बुधवारे प्रवेशस्ततो नवमे दिवसे गु-  
र्वाख्ये प्रयाणं न कार्यम् । गुरुदिवसाच्च नवमे शुक्राख्ये दिवसे  
प्रवेशोपि न कार्य इत्यर्थः । यदाह गर्गः—“प्रवेशान्निर्गमश्चै-  
व निर्गमाच्च प्रवेशनम् । नवमे जातु नो कुर्याद्दिने वारे तिथा-  
विति ” ॥ ८२ ॥

अथ यात्रादिनीयं विधिं शालिनीछन्दसाह—

अग्निं हुत्वा देवतां पूजयित्वा

नत्वा विप्रानर्चयित्वा दिगीशम् ।

दत्त्वा दानं ब्राह्मणेभ्यो दिगीशं

ध्यात्वा चित्ते भूमिपालोऽधिगच्छेत् ॥ ८३ ॥

अग्निमिति । स्पष्टार्थम् । यदाह नारदः—“हुताशनं तिलैर्हुत्वा  
पूजयेत्तु दिगीश्वरम् । तथा प्रणम्य भूदेवानाशीर्वादैनृपो व्रजे-  
त् ” इति ।

वसिष्ठोपि—

“दिगीश्वराकृतिं कृत्वा सुवर्णेन स्वमन्त्रकैः । स्वस्ववर्णैः स्वगन्धा-  
द्यैर्धूपैर्दीपैर्मनोरमैः ॥ तद्वर्णवस्त्रनैवेद्यैर्भक्ष्यैः सम्यक् प्रपूजयेत् । दिगी-  
शं च सुसम्पूज्य तिलहोमं च कारयेत् ॥ दैवज्ञाय ततो दद्यात्प्र-  
तिमां भूषणान्विताम् । दैवान्गुरुन्पितृन्विप्रान्स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥  
नत्वा तुष्टः प्रतिमना ब्रजेन्मङ्गलनिःस्वनैः ।” इति ।

ग्रहयज्ञगुह्यकपूजादिकं यात्रादिनात्प्राक् त्रिसप्तदिनमध्ये—

अत्र यात्रादिनात्प्राक् सप्तदिनमध्ये गुह्यकपूजनमुक्तम् । ज्येष्ठे पूर्वं  
विजयस्नानमुक्तम् । विजयस्नानं ग्रहयज्ञः । सप्तदिवसमध्ये गुह्यक-  
पूजा इति । तदेतद्वराहेण बृहद्यात्रायां महताग्रन्थसंदर्भेणाभिहितं तत्त-  
त एवावधार्यम् । वसिष्ठादिभिस्तु दिगीश्वरध्यानान्यपि तत्तत्पूजायां  
पाठात्तत्रैव द्रष्टव्यानीति नास्माभिर्लिख्यन्ते । गमनसमये ध्यान-  
मिन्द्राय नमः अग्नये नमः इत्यादिनापि पूजा सम्भवति ॥ ८३ ॥

अथ नक्षत्राणां दोहदाञ्छादूलविक्रीडिताभ्यामाह—

कुल्माषांस्तिलतण्डुलानपि तथा माषांश्च गव्यं दधि  
त्वाज्यं दुग्धमथैण्मांसमपरं तस्यैव रक्तं तथा  
तद्वत्पायसमेव चाषपललं मार्गं च शाशं तथा  
षाष्टिक्यं च प्रियङ्गूपूपमथवाचित्राण्डजान्सत्फलम् ॥ ८४ ॥  
कौर्मं सारिकगौधिकं च पललं शाल्यं हविष्यं हया-  
द्यक्षे स्यात्कृसरान्नमुद्रमपि वा पिष्टं यवानां तथा ।  
मत्स्यान्नं खलु चित्रितान्नमथ वा दध्यन्नमेवं क्रमा-  
द्भक्ष्याभक्ष्यमिदं विचार्य मतिमान्भक्षेत्तथाऽऽलोकयेत् ॥ ८५ ॥

कुल्माषानिति । अत्र प्रथमपद्ये चतुर्थचरणे ‘प्रियङ्गवपूप’ इ-  
त्यत्र छन्दोभङ्गोस्ति, स गणप्रक्षेपाकरणात् “सत्यप्रो भ्रे ह्वे वा” इति  
पिङ्गलसूत्रकारणो रेफसंयोगे च प्राग्वर्णस्य लघुत्वाभिधानात् । तथाच  
कालिदासः—“गृहीतप्रत्युद्गमनीय वस्तु” तद्वदत्रापि छन्दोभङ्गाभावः । सूत्र-  
कारोच्चारणं मुखसुखाथम् तेन प्रीत्यादावपि लघुत्वम् । अन्ये तु संयो-



गमात्रे परभूतमतीवप्रयत्नेनेत्याहुः । उक्तं च सरस्वतीकण्ठाभरणे  
 “यत्रातीवप्रत्नेन संयोगादेरगौरवम् । न च्छन्दोभङ्गमप्याहुस्तद्वद्दोषाय  
 सूरयः” इति । “एतच्च श्रुत्वा गदितो भवांस्त्वं सीतोपलम्भे प्रकुरु प्रबु-  
 द्धिम्” इति च । ततोऽतीवप्रयत्नेन नात्रप्राप्तस्योच्चारणो प्राग्वर्णस्य  
 लघुत्वैव तेनासगणप्रक्षेपेण । तथा सति छन्दोभांगाभाव इत्यलमतिप्र-  
 सङ्गेन । हयाद्यृक्षे अश्रियन्यादिसप्तविंशतिभेषु नक्षत्रदोहदं कुलमाषानित्या-  
 दिकमिदं भक्ष्याभक्ष्यं वर्णभेदेन देशभेदेन वा इदं भक्ष्यमेतदभक्ष्यमिति  
 विचार्य भक्ष्यसम्भवे भक्षयेत् । भक्ष्यासंभवे आलोकयेत्पश्येत् स्पृशेद्वेत्यपि  
 ध्येयम् । यथा अश्विन्यां कुलमाषानक्षतस्विन्नमाषान्, भरण्यां तिलमि-  
 श्रतंडुलान्, कृत्तिकायां माषान्, रोहिण्यां गव्यं गोसंबन्धि दधि, मृगे  
 गव्यमाज्यं घृतम्, आर्द्रायां दुग्धं गव्यमेव, पुनर्वसौ पणमांसं हरिणमां-  
 सं, पुष्ये तस्यैव मृगस्य रक्तं रुधिरम्, आश्लेषायां पायसं दुग्धमध्ये  
 वह्निस्पर्शकं पाचिततंडुलान्, मघायां चाषस्य पक्षिणः पललं मांसं, पूर्वा-  
 फाल्गुन्यां मृगस्येदं मार्गं मांसम्, उत्तराफाल्गुन्यां शशस्येदं शाशं मांसं,  
 हस्ते षाष्टिक्यं षष्टिकान्नं, साठीतिभाषया, चित्रायां प्रियंगुः फलिनी,  
 स्वात्यामपूपं घृतपक्वो भक्ष्यविशेषः, विशाखायां चित्रांडजाज्ञानावर्णान्प-  
 क्षिणः, अनुराधायां सत्फलमुत्तमफलमाम्रादि, ज्येष्ठायां कूर्मस्य कच्छप-  
 स्प कौर्मं मांसं, मूले सारिकायाः पक्षिण्याः इदं सारिकं मांसं, पूर्वाषाढायां  
 गोधया इदं गौधिकं मांसम्, उत्तराषाढायां शाल्यं शल्यस्य पक्षिण इदं  
 शाल्यं पललं मांसं, ‘श्वावित्तु शल्यं’ इत्यमरः । सारसलमितिभाषया,  
 अभिजिति हविष्यं मुद्गादि, श्रवणे कृसरान्नम् । खिचडीतिभाषया ।  
 धनिष्ठायां मुद्गान्नं मुद्गौदनं शतभे यवानां पिष्टं, पूर्वाभाद्रपदायां मत्स्य-  
 मिश्रितमन्नमोदनम्, उत्तराभाद्रपदायां चित्रितान्नं, नानाविधैरनैर्गोधू-  
 मादिभिः पक्कैर्मिश्रमन्नमोदनमिति केचित् । वयं त्वेवं व्याकुर्मः । यव तंडु-  
 लतिला मेषीदुग्धेन पक्त्वा मेषकर्णोपरक्तेनारक्ताश्चित्रान्नमोदनमिति  
 चित्रितशब्देनोच्यते इति । रेवत्यां दध्यन्नं दध्योदनमिति अपिच तथेत्या-  
 दीन्यव्ययानि पादपूरणार्थानि । यदाह नारदः—“कुलमाषांश्च तिलान्माषा-  
 न्दधिगव्यं घृतं पयः । मृगं मांसं च तत्सारं पायसं चाषकं मृगम् ।  
 शशमांसं च षाष्टिक्यं प्रियंगुकमपूपकम् ॥ चित्रांडजा फलंकूर्मं शाटी-  
 गोधां च शल्यकम् ॥ हविष्यं कृसरान्नं च मुद्गान्नं यवपिष्टकम् । मत्स्या-  
 न्नं चित्रितान्नं च दध्यन्नं दस्रभात्कमात्” इति । तत्सारं मृगरुधिरम् ।

अत्र चित्रांडजाफलमित्येकमेव दोहदमाहुः । तत्र । 'चित्रांडं च फलं ततः' इति कश्यपेन पृथगुक्तैः । अंडा अंडजा उच्यन्ते । अंडगतवैचित्र्याभावात् । यत्तु श्रीपतिवाक्ये 'चित्रांडजायाः फलम्' इत्युक्तं—तस्यार्थं न विद्मः । 'प्राश्याः प्रियंगुचित्रांडजाः फलं यावककुलत्थाश्च' इति बराहपद्यव्याख्याने चित्रान्नाकाराः पक्षिणश्चित्रायां प्राश्याः फलानि प्रसिद्धानि स्वातावितिभट्टोत्पलो व्याख्यत् ।

### चित्रान्नलक्षणम्—

चित्रान्नलक्षणमुक्तं दीपिकायाम्—“अजाक्षीरेण संस्विन्ना यवाः सतिलतंडुलाः । अजकर्णस्य रक्तेन रक्ताश्चित्रान्नसंज्ञकाः ॥” इति ।

केषांचिदभक्ष्यत्वे अलाभे वा तद्दानतद्दर्शनतत्स्मरणानि कार्याणि—

अत्र यदभक्ष्यं दुष्प्रापं वा स्मृत्वा दृष्ट्वा तद्दर्शना गंतव्यमित्याह गुरुः—

“अलभ्यलभ्यभक्ष्यान्वास्मृत्वा स्पृष्ट्वाऽथ तान्नजेत् ।

दत्त्वा वा सिद्धिमाप्नोति दुष्टमादिषु भूपतिः” इति ।

दुष्टतिथिवारादिष्वप्येवं दोहदः कार्यः—

आदिशब्दात्तिथिवारदिदोहदेषु स्मरणं स्पर्शनं दानं भक्षणं वा यथासंभवं ध्येयम् । नक्षत्रदोहदेषु वसिष्ठादिपद्येषु क्वचिद्भेदः । तत्र विकल्पः । तुल्यबलत्वात् । ननु भक्षेदिति । 'भक्ष्य अदने' इति धातुश्रु-रादिः । तस्मात् 'सत्यापपाश' इति स्वार्थेणिजन्ताद्विधिलिङितिपि श-बादौ च कृते “इतश्च ” इतीकारलोपे भक्षयेदिति भवितव्यं ननु भक्षे-दिति । कथमयं प्रयोगः उच्यते । चुरादिभ्यस्तु णिज नित्योस्ति । 'अति-त्ययन्ताश्चुरादयः' इत्युक्त एवं सति णिजभावपक्षे विधिलिङि भक्षेदिति सिद्ध्यति । ज्ञापकं चात्र चुरादौ 'चिति स्मृत्याम्' इतीचितिधातोरिदि-त्करणम् । तद्धि चिंतति इत्यादौ । “इदितोनुमधातौः” इति नुमि “अनि-दिता हल उपधायाः क्ङिति” इति नलोपो माभूदित्येवमर्थं कृतम् । नित्ये तु णिचि नलोपस्याप्रसंगादिस्त्वं वृथैव भवति । नुमर्थमिति चेन्न । चिति-स्मृत्यां निर्नुम्बमेव पठितव्यं किमिदिस्त्वेन । एवं सति कृतमिदिस्त्वं ज्ञापक-मुक्तार्थस्य संपन्नमिति । अत एव—“महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुण्य-मानवाः” इति विशब्दनार्थस्य चौरादिकस्य घुषेर्घोषयामासुरित्यर्थे जुघुषुरित्यादिमहाकविप्रयोगोपपत्तिरिति वामनः । पक्षे चोरतीत्यादिप्र-



क्रियाकौमुदीकृञ्चेत्याह स्मेत्यलमतिप्रसंगेन । अथवा व्यक्तमेवं पठित-  
व्यं—‘खादेत्तथालोकयेत्’ इति ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

अथ दिग्दोहदमनुष्ठुभाह—

आज्यं तिलौदनं मत्स्यं पयश्चापि यथाक्रमम् ।

भक्षयेद्दोहदं दिश्यमाशां पूर्वादिकां व्रजेत् ॥ ८६ ॥

आज्यमिति । आज्यं घृतं पूर्वस्यां, तिलौदनं दक्षिणस्यां, मत्स्यं  
प्रसिद्धं पश्चिमायां, पयो दुग्धमुत्तरस्याम् । एतद्यथाक्रमं दिश्यमभीष्ट-  
दिग्भं दोहदं भक्षयेत् । ततः पूर्वादिकाशां जिगमिषितां दिशं व्रजेत् ।  
यदाह श्रीपतिः—“आज्यतिलौदनमत्स्यपयोभिः प्राक्प्रभृति क्रमशः खलु  
भुक्त्वा” इति । नारदेन त्वन्यथोक्तं—“घृतान्नं तिलपिष्टान्नं मत्स्यान्नं  
घृतपायसम् । पूर्वादिषु क्रमाद्भुक्त्वा याता सिद्धिमवाप्नुयात् ॥” इति ।  
अत्रैवंविरोधे विकल्पो यथादेशाचारं व्यवस्था ॥ ८६ ॥

अथ वारदोहदमनुष्ठुभाह—

रसालां पायसं कांजीं शृतं दुग्धं तथा दधि ।

पयोशृतं तिलान्नं च भक्षयेद्धारदोहदम् ॥ ८७ ॥

रसालामिति । रसालां शर्करादधिमरीचकर्पूरेलासंस्पृष्टा लोके  
शिखरिणीति प्रसिद्धा, तां रविवारे । पायसकांज्यौ प्रसिद्धे सोममंगल-  
वारयोः । शृतं पक्वं दुग्धं बुधे । “शृ पाक” इति साधु तत्रापि “क्षीरह-  
विषोरेव” इति वार्तिकात्प्रस्तुते क्षीरे साधुत्वम् । दधि प्रसिद्धं गुरुवारे ।  
अशृतमपक्वं दुग्धं शुके । तिलान्नं तिलमिश्रमोदनं शनौ । एतद्धारदोहदं  
रविवारादौ क्रमेण भक्षयेत् । यदाह श्रीपतिः—“मज्जिकां सघृतपायसं  
तथा कांजिकं शृतपयो दधि क्रमात् । क्षीरपक्कमथितं तिलौदनं वारदो-  
हदविधिर्बुधैः स्मृतः ॥” इति ।

क्षीरस्य पाकविशेषो नेति मतान्तरम्—

वसिष्ठनारदाभ्यां दुग्धस्य पाकविशेषो नाभ्यधायि । “मज्जिका  
परमान्ने च कांजिकं च पयो दधि । क्षीरं तिलौदनं भुक्त्वा भानुवारादिषु  
क्रमात्” इति । ‘मज्जिका रसाला । स्याद्रसाला तु मज्जिका’  
इत्यभिधानात् ।

घारदोहदा मतान्तरेण—

गुरुस्तु विशेषमाह—“सूर्यवारे घृतं प्राश्य चन्द्रवारे पयस्तथा ।  
गुडमंगारके वारे बुधवारे तिलानपि ॥ गुरुवारे दधि प्राश्यं शुक्रवा-  
रे यवानपि । माषान्भुक्त्वा शनेर्वारे शूले गच्छन्न दोषाभाक्”  
इति ॥ ८७ ॥

अथ तिथिदोहदं वसन्ततिलकाञ्छन्दसाह—

पक्षादितोऽर्कदलतन्दुलवारिसर्पिः

आणा हविष्यमपि हेमजलं त्वपूपम् ।

भुक्त्वा ब्रजेद्रुचकमम्बु च धेनुमूत्रं

यावान्नपायसगुडानसृगन्नमुद्गान् ॥ ८८ ॥

पक्षादित इति । पक्षादिः प्रतिपत्तस्याः । ह्यब्लोपे पञ्चमी ।  
प्रतिपदादिपञ्चदशतिथिषु क्रमेण तिथिदोहदं भुक्त्वा ब्रजेत् । यथा  
प्रतिपदि अर्कस्य वृक्षविशेषस्य दलानि पर्णानि । । रुद्र इति भाषा-  
याम् । द्वितीयायां तण्डुलवारि क्षालिततण्डुलजलम् । तृतीयायां  
सर्पिर्वृतम् । चतुर्थ्यां आणा यवागुः अंबिलि इति भाषायाम् ।  
पञ्चम्यां हविष्यं मुद्गादि । षष्ठ्यां हेमजलं प्रक्षालितसुवर्णजलम् । स-  
प्तम्यामपूपम् । अष्टम्यां रुचकं बीजपूरफलम् । “फलपूरो बीज-  
पूरो रुचको मातुलिङ्गके” इत्यमरः । नवम्यामम्बु जलम् । दशम्यां  
धेनुमूत्रं स्त्री गवीमूत्रं न तु वृषमूत्रम् । धेनुशब्दग्रहणात् । एकादश्यां  
यावान्नं यवविकारम् । द्वादश्यां पायसम् । त्रयोदश्यां गुडमिक्षु-  
विकारम् । चतुर्दश्यामसृक् रुधिरम् । पञ्चदश्यामन्नमुद्गानोद-  
नमिश्रितमुद्गान् । यदाह बृहस्पतिः—“अर्कपत्रं भवेद्यातुः प्रथमा-  
यां तु भक्षणम् । द्वितीयायां भवेद्यातुर्भक्ष्यं सत्तण्डुलोदकम् ।  
तृतीयायां यथा सर्पिर्यवागुः स्यात्ततः परम् । पञ्चम्यां तद्धविष्यं स्या-  
त्षष्ठ्यां वा काञ्चनोदकम् ॥ अपूपभुक्तिः सप्तम्यां अष्टम्यां बीजपूरकम् ।  
नवम्यां तोयपानं स्याद्भोमूत्रं तु ततः परम् ॥ एकादश्यां यवान-  
द्याद्द्वादश्यां पायसं भवेत् । त्रयोदश्यां गुडं लेह्यं रुधिरं स्याच्च  
तुर्दशे । मुद्गौदनं भवेद्भोज्यं पञ्चदश्यां यियासतः । पक्षयोरुभयोरे-



यं यात्रायोगे विधिः स्मृतः” इति ।

तिथिदोहदेषु कचिद्भेदाः—

दैवज्ञमनोहरेपि कचिद्भेदः । यथा—“अर्कदलतण्डुलोदकसर्पा-  
वि हविष्यदधिसुवर्णपयः । तिलवारिवीजपूरकमध्वाज्यकमूत्रपिष्टि-  
काश्चापि । तिलपिष्टकन्दमूलानि शाकमशस्तवृक्षपर्णानि । प्रति-  
पत्रभृतिषु भुक्त्वा प्रस्थाता सिद्धिमाप्नोति” इति । ननु च “अ-  
लभ्यलभ्यभक्ष्यान्वा स्मृत्वा दृष्ट्वाथ तान्व्रजेत् । दत्त्वा वा सिद्धिमा-  
प्नोति दुष्टभादिषु भूपतिः” इति गुरुकोः वारादिषु दोहदाभिधानं  
सार्थकम् । विहितेषु पुनर्नक्षत्रतिथिवारादिषु दोहदाभिधानं व्यर्थ-  
कम् । दोषनिवारणफलको हि दोहदः तदभावेन वैयर्थ्यप्रसं-  
गात् । उच्यते,—‘दुष्टभादिषु भूपतिः’ इत्यत्र, दुष्टत्वं किं नैसर्गि-  
कमुतान्याहितम् । नक्षत्रेष्वपि क्रूरग्रहसाहित्यादिर्महान् दोषः स-  
म्भावितेस्ति तदपाकरणाय दोहदाभिधानं युक्तम् । एवं सर्ववर्णा-  
नामपि पारिषदण्डे विरुद्धताराक्रूरग्रहसाहित्यादिमहादोषनिवारणाय  
दोहदोक्तैः सार्थक्याच्च । एवं विहिततिथिदोहदाभिधानं योगि-  
न्यादिदोषनाशार्थं ‘सक्रूरराशेरशुभा तिथिः स्यात्’ इत्येतद्दोषनिवार-  
णार्थं च तद्दोषाभिधानम् । रत्नमालायां च—“आद्याश्चतस्रः क्रिय-  
पूर्वकाणां मेषाच्चतुर्णामिह पञ्चमी स्यात् । परा परेषां परतस्तथैव  
सक्रूरराशेरशुभा तिथिः स्यात्” इति एवं वारदोहदोक्तिरपि वक्रि-  
ग्रहवारशूलादिदोषहान्या सार्थिका, दिग्दोहदोक्तिरपि त्रिविधप्रतिबुध-  
प्रतिशुक्रप्रतिभौमादिदोषहान्या सार्थिका ॥ ८८ ॥

अथ गमनसमयभवं विधिं प्रहार्षिणीञ्जन्दसाह—

उद्धृत्य प्रथमत एव दक्षिणाङ्घ्रिं

द्वात्रिंशत्पदमभिगत्य दिश्यमानम् ।

आरोहेत्तिलघृतहेमताम्रपात्रं

दत्त्वादौ गणकवराय च प्रगच्छेत् ॥ ८९ ॥

उद्धृत्येति । राजा गमनसमय एव प्रथमतो दक्षिणाङ्घ्रिं दक्षिणचर-  
णमुद्धृत्य पश्चात् द्वात्रिंशतं पदं द्वात्रिंशत्पदपरिमितां भूमिं गत्वा दि-

श्ययानं वक्ष्यमाणं दिग्विशेषं हस्त्यादियानमारोहेत् इति । यदाह गुरुः—“पूर्वं दक्षिणमुद्धृत्य पादं यायान्नाराधिपः । द्वात्रिंशतं पदं गत्वा यानमारुह्य संव्रजेत्” ।

वराहोपि—

“कल्याणनामसचिवाप्तजनायुधीय दैवज्ञविप्रजनकंचुकिमभ्यसंस्थः । द्वात्रिंशतं समुपगम्य पदानि भूमौ प्रागादि नागरथवाजिनरैस्तु यायात्” इति ।

यानारोहणसमये गणकाय ब्राह्मणेभ्यश्च दानविशेषो राज्ञः—

तिलेति । आरोहणसमये तिलघृतहेमसतिलताम्रपात्रमादौ गणक-  
वराय ज्यौतिर्विच्छ्रेष्ठाय चकारादन्येभ्योपि ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्ति  
दानं दत्त्वा प्रगच्छेत् । यदाह गुरुः—“ताम्रपात्रे तिलान्कृत्वा सघृता-  
न्हेमसंयुतान् । निवेद्य विप्रमुख्याय दैवज्ञाय विशेषतः” इति ॥८६॥

अथावसरप्राप्तानि दिश्ययानान्यनुष्ठुभाह—

प्राच्यां गच्छेद्भजेनैव दक्षिणस्यां रथेन हि ।

दिशि प्रतीच्यामश्वेन तथोदीच्यां नरैर्नृपः ॥ ६० ॥

प्राच्यामिति । स्पष्टार्थं पद्यम् । नरैर्नरवाह्यैः सुखासनादिभिः ।  
यदाह श्रीपतिः—“हस्तिरथाश्वनरैर्यदि राजा याति तदा सुजयत्यरि-  
चक्रम्” इति । वराहोपि—“प्रागादि नागरथवाजिनरैस्तु या  
यात्” इति ॥ ६० ॥

अथ निर्गमस्थानानि पादाकुलकच्छन्दसाह—

देवगृहाद्वा गुरुसदनाद्वा स्वगृहान्मुख्यकलत्रगृहाद्वा ।

प्राश्य हविष्यं विप्रानुमतः पश्यञ्छृण्वन्मङ्गलमेयात् ॥६१॥

देवेति । देवा विष्णवादयः पूज्यन्ते यस्मिन् गृहे तद्देवगृहम्, गुरु-  
रध्यापकः स्वस्य कुलगुरुर्वा, स्वगृहं स्वशय्यागृहम्, बहुस्त्रीसत्त्वे मु-  
ख्यकलत्रं पट्टराज्ञी तद्गृहम् । एषां मध्ये मनोभीष्टात् स्थानात्  
भोजनसम्भवे हविष्यमन्नं प्राश्य भक्षयित्वा विप्रैर्ब्राह्मणैरनुमतः क-



तोत्सवः मङ्गलं मङ्गलद्रव्यं मनोभीष्टं पश्यन् सन् एयात् गच्छेत् ।  
यदाह लल्लः—“स्वनिकेतादेवगृहात्प्रधानदाराश्रयाद्गुरुगृहाद्वा । या-  
यात्कृताग्निकार्यः प्राश्यहविष्यं द्विजानुमतः ॥ द्विजो विष्णुक्रमाद्भूपं  
मन्त्रेणानेन चालयेत् । इदं विष्णुर्विचक्राम इत्येवं पादमुद्धरेत् । म-  
ङ्गलानि ततः पश्यन् स्पृशञ्छृण्वन्नृपो ब्रजेत् ” इति ।

वराहोपि—

“अन्तःपुराद्वा स्वनिवेशनाद्वा सिंहासनादग्निपरिग्रहाद्वा । कुर्या-  
न्नरेन्द्रः प्रथमं प्रयाणं विप्रैः शताग्र्यैः कृतमङ्गलाशीः ॥ इदं विष्णुर्वि-  
चक्रम इत्येवं पादमुद्धरेत् । अमुकस्य वधायेति दक्षिणं क्षितिपो न्य-  
सेत् ” इति अग्निपरिग्रहोद्दिष्टोद्दिष्टगृहम् ॥ ६१ ॥

अथ गमनकाले निर्णीते सत्यपि स्वस्यावश्यकार्यानिष्पादाद्गमन-  
विलम्बे वर्णक्रमेण प्रस्थानवस्तूनि प्रहर्षिणीञ्छन्दसाह—

कार्याद्यैरिह गमनस्य चेद्विलम्बो

भूदेवादिभिरुपवीतमायुधं च ।

चौरं चामलफलमाशु चालनीयं

सर्वेषां भवति यदेव हृत्प्रियं वा ॥ ६२ ॥

कार्याद्यैरिहेति । किञ्चिदावश्यकं कार्यं नाभूदिति गमनस्य चेद्विल-  
म्बः स्यात्तदा विचारिते यात्रालम्बे भूदेवादिभिर्ब्राह्मणप्रभृतिभिरेतानि  
वस्तूनि आशु चालनीयानि प्रस्थापनीयानि—यथा ब्राह्मणोनोपवीतम्,  
क्षत्रियेणायुधं, वैश्येन मधु, शूद्रेण आमलकफलं, नारिकेलादि ।  
यदाह वसिष्ठः—“तस्मिन्मुहूर्ते स्वयमप्रयागो प्रयोजनापेक्षितया च  
दैवात् । तत्रैव तान्निर्गमनं च कार्यं स्वीयासनाच्चापि तदुच्यमा-  
नम् ” इति । राजमार्त्तण्डः—“प्रस्थाने ब्राह्मणादीनां यज्ञसूत्रमथायु-  
धम् । मध्यामलफलं चैव प्रशस्तं वृद्धिकारणम् ” इति ।

सर्ववर्णानामप्येकमभीष्टं वस्तु प्रस्थापनीयमिति प्रकारान्तरम्—

वा अथवा सर्वेषां वर्णानां यदेव हृत्प्रियं मनोभीष्टं तदेव प्रस्थाप-  
नीयम् । उक्तं च वसिष्ठेन—“श्वेतातपत्रध्वजचामराश्वविभूषणोष्णी-

षगजाम्बराणि । आन्दोलिकारत्नरथाश्ववाराङ्गुल्यासनाद्यं मनसस्त्व  
भीष्टम् ” इति । नारदोपि—“अप्रयाणे स्वकं कार्यमपेक्षी भूपतिस्तथा ।  
कुर्यान्निर्गमनं छत्रध्वजवाहनसंयुतम् ” इति ॥ ६२ ॥

अथ स्वयं गमने कियद्दूरं प्रस्थानं कार्यमित्येतदाशंक्य प्राच्यमतेन  
प्रस्थानपरिमाणं मन्दाक्रान्ताच्छन्दसाह—

गेहाद्गेहान्तरमपि गमस्तर्हि यात्रेति गर्गः

सीम्नः सीमान्तरमपि भृगुर्बाणविद्धेपमात्रम् ।

प्रस्थानं स्यादिति कथयतेऽथो भरद्वाज एवं

यात्रा कार्या बहिरिह पुरात्स्याद्वसिष्ठो ब्रवीति ॥ ६३ ॥

गेहादिति । स्वगृहात्परगृहमतिसमीपवर्त्यपि तत्रापि चेद्गमो गमनं  
स्यात्तर्हि यात्रा जातेति गर्गः कथयते । अथवा स्वग्रामसीमामुल-  
ङ्घ्य सीमान्तरं ग्रामान्तरसीमां प्राप्य वसेदिति भृगुः कथयते । अथवा  
महता योद्ध्रा स्वबलेन क्षिप्यमाणः शरो यावद्दूरं गच्छति तावन्मात्रं  
प्रस्थानं स्यादिति भरद्वाजः कथयते । अथवा पुरातनगराद्बहिर्यात्रा  
कार्या स्यादित्येवं वसिष्ठः ब्रवीति । यदाह राजमार्त्तण्डः—“गृहाद्गृ-  
हान्तरं गर्गः सीम्नः सीमान्तरं भृगुः । शरक्षेपाद्भरद्वाजो वसिष्ठो  
नगराद्बहिः ” इति । एतच्च यथायोग्यं कार्यस्यावश्यकतायां च  
ध्येयम् ॥ ६३ ॥

अथ मुनिमतेन प्रस्थानपरिमाणं वसन्ततिलकाच्छन्दसाह—

प्रस्थानमत्र धनुषां हि शतानि पञ्च

केचिच्छतद्वयमुशन्ति दशैव चान्ये ।

सम्प्रस्थितो य इह मन्दिरतः प्रयातो

गन्तव्यदिक्षु तदपि प्रयतेन कार्यम् ॥ ६४ ॥

प्रस्थानेति । धनुषः परिमाणमाह भास्करः—यवोदरैरङ्गुलमष्ट-  
संख्यैर्हस्तोङ्गुलैः षड्गुणितैश्चतुर्भिः । हस्तैश्चतुर्भिर्भवतीह दण्डः क्रो-  
शः सहस्रद्वितयेन तेषाम् ” इति । अत्र गमनकाले तादृशानां धनुषां प-  
ञ्चशतानि हस्तसहस्रद्वयमिति यावत् । स्वगृहात्तावद्भस्तावधि प्रस्था-



न स्यादिति केचिदूचुः । अन्ये तु तादृशानां धनुषां शतद्वयमष्टौ शतानि हस्तास्तावत्प्रस्थानमित्याहुः । अपरे तु इह यात्राकाले मन्दिरतः स्वगृहादशैव धनूंषि चत्वारिंशद्वस्तास्तावदूरे सम्प्रस्थितः प्रयातएव ज्ञेय इत्याहुः यदाह वसिष्ठः—“प्रस्थानं धनुषां पञ्चशस्तान्युत शतद्वयम् । स्वदेवसदनाद्वापि दशभिः प्रस्थितो गतः” इति ।

कार्याविश्यकत्वानावश्यकत्वाभ्यामुपरितनविकल्पानुसरणम्—

नायं स्वेच्छाविकल्पः किन्तु कार्यस्यानावश्यकोवश्यकत्वात्तादृशप्रस्थानम् । अत एव नारदोपि—“स्वस्थानान्निर्गमं स्थानं दण्डानां च शतद्वयम् । चत्वारिंशत्पञ्चविंशत्प्रस्थितः स स्वयं गतः” इति । प्रस्थानविकल्पानाह । अत एव प्रयागो स्वकं कार्यमपेक्ष्येत्याह च ।

गन्तव्यदिगभिमुखं प्रस्थानम्—

गन्तव्यदिद्विवति । तदपि प्रस्थानं प्रयतेन सविधानेन राजादिना गन्तव्यदिक्षु यस्यां दिशि गमनं चिकीर्षितं तद्दिगभिमुखं कार्यम् । यदाह राजमार्तण्डः—“गन्तव्यदेशाभिमुखे प्रदेशे प्रस्थानप्राहुः शुभदं नराणाम्” इति ।

स्वयं प्रस्थाने गुणाः—

अतः स्वयं प्रस्थानगुणमप्याह स एव—“स्वशरीरेण यः कश्चिन्निर्गच्छेच्छुद्धयान्वितः । तस्य यात्राफलं सर्वं सम्पूर्णं पथि सिध्यति” इति ।

यात्रोत्तरदिनेष्टमचन्द्रादिदोषे स्वयं यात्रा न कार्या—

यदा तु स्वयं प्रस्थानं कृतं ततोऽपरदिनेष्टमचन्द्रादिदोषसद्भावेन गन्तव्यमित्याह नारदः—“जन्मर्क्षे चाष्टमे चन्द्रे वारे भौमे शनैश्चरे । प्रस्थितेपि न गन्तव्यं यदि स्याद्गर्हितं दिनम्” इति । अष्टमचन्द्रादिदोषसद्भावदुष्टे यात्रा न कार्येत्यर्थः ।

वैधृत्यादिदोषे स्वयं यात्रा कार्यैव—

ये तु व्यतीपातवैधृतिभद्राभरणयादिदोषसद्भावेन गर्हितेपि दिने यात्रेत्याहुः । तन्न, पूर्वार्द्धस्य वैयर्थ्यापातात् वाक्यभेदाच्च । दोषोपलक्षणार्थमिति चेन्न । एकस्मिन्नेव दोषे उपलक्षणार्थं वक्तव्ये बहुदोषकथनस्य वैयर्थ्यात् । तस्मादष्टमचन्द्रादिदोष-

षु सर्वथा यात्रा न कार्या । व्यतीपातादिदोषसद्भावप्रतिबन्धकेषु सुखेन यात्रेति तत्त्वमिति प्रतीमः ।

गृहान्निर्गतेन प्रस्थानकरणे प्रथमादिदिनयात्राक्रमः—

यस्तु गृहान्निर्गतो न प्रस्थानमाचरति तस्य केन क्रमेण प्रथमादिदिन-  
गमनमित्याह चंडेश्वरः— क्रोशं वा यदिवाप्यद्धं प्रथमेहनि शस्यते ।  
द्वितीये योजनं गत्वा निवसेत महीपतिः ॥ तृतीये योजनं सार्द्धं वसेदा-  
क्रम्य दूरतः । ततः परं यथेष्टं तु मार्गे यायान्महीपतिः ” इति ॥ ६४ ॥

अथ कृते प्रस्थानेऽधिकारिविशेषपुरस्कारेण कियदिवसनिषेधमु-  
त्तराद्धेन मैथुननिषेधं च स्रग्धराब्जंदासाह—

प्रस्थाने भूमिपालो दशदिवसमभिव्याप्य नैकत्र तिष्ठे-  
त्सामन्तः सप्तरात्रं तदितरमनुजः पञ्चरात्रं तथैव ।

ऊर्ध्वं गच्छेच्छुभाहेऽप्यथ गमनदिनात्सप्तरात्राणि पूर्वं  
चाशक्तौ तद्दिनेऽसौ रिपुविजयमना मैथुनं नैव कुर्यात् ६५

प्रस्थाने इति । भूमिपाल एकत्र प्रस्थाने दशदिवसमभिव्याप्य दशा-  
होरात्राणि न वसेत् । सामंतो मांडलिकश्चतुर्द्वारिक एकत्र प्रस्थाने सप्त-  
रात्रं न वसेत् । तदितरमनुजो ब्राह्मणादिः तथैव एकत्र प्रस्थाने पञ्चरा-  
त्रं न वसेत् । यदि दैवाद्वसेत्तदा किं कुर्यादित्यत आह—ऊर्ध्वमिति ।  
अवधिदिवसातिक्रमानंतरं पुनर्गृहमागत्य शुभाहे पूर्वोक्तप्रकारेण विचा-  
रितशुभदिवसे गच्छेत् । यदाह वसिष्ठः—“आरभ्य निर्गमाद्यावद्दशाहं  
न वसेन्नृपः” । मांडलिकः सप्तरात्रं प्राकृतः पञ्चरात्रतः ॥ अत ऊर्ध्वं व-  
जेद्भूयो भद्रेन्यदिवसे नृपः ” इति भद्रे कल्याणकारिणि । श्रौपतिः—“व-  
सेन्न चैकत्र दश द्वितीशो दिनान्यथो सप्त च मांडलीकः । यः प्राकृतः  
सोपि न पञ्चरात्रं भद्रेण यात्रा परतः प्रयोज्या” इति । नन्वत्र प्रस्थाने  
दशदिवसाद्यतिक्रमे भूयः सुमुहूर्त्तेन यात्रा कार्येत्युक्तम् । तत्र युक्तिसहं  
प्रतिभाति । यतो यात्रा हि शत्रुमारणादिद्रव्यार्जनार्था । शत्रुमारणादिम-  
नोभीष्टवस्तुप्राप्तिर्यात्रासमाप्तिरित्युच्यते । नहि तां घिना पुनर्मुहूर्त्त-  
विचारो युक्तः । आहुश्च—“अयुक्तमेतत्प्रतिभाति नूनं होराविदां युक्तिम-  
तां बहूनाम् । यात्रासमाप्तिः खलु वाञ्छितार्थफलस्य सिद्ध्यै नियतं प्रदिष्टा



इति । उच्यते । वसिष्ठाद्यैरपि वचःप्रमाणमङ्गीकुर्वद्भिः किमीदृशं युक्ति-  
विरुद्धं वक्तुमुचितम् । यतोवधिकथनार्थकानां तत्तद्विवाक्यानामप्रामा-  
ण्यप्रसंगात् ज्योतिषस्मृतिलङ्घने दुरितोत्पत्तिः स्यात् । किं च मासग-  
म्यमध्वानमतिक्रम्य यदि कार्यवशाद्दशाहाद्यतिक्रमे सति तत्रापि तत एव  
स्थानात्सुमुहूर्तविचारोस्ति किं पुनः प्रस्थाने । यदाह वराहः—“एकत्रा-  
ध्युषितस्य जगुर्यात्रामत्रात्रिगौतमच्यवनाः । पञ्चत्रिसप्तरात्राद्भूयाद्भद्रेण  
संयोज्यम्” । इति । अयुक्तमेतत्प्रतिभाति । ‘नूनम्’ इति तु वाक्यं निर्मु-  
लत्वादुपेक्ष्यम् । नहि वचनबोधितेर्थे युक्तिः प्रभवेत् । यथा तस्मादवध्य-  
तिक्रमे सति शुभमुहूर्तेन यात्रा विधेया । अवधिमध्ये तु निषिद्धभद्राव्य-  
तीपातादिमहादोषपरिहारायान्या यात्रा स्यादित्यलमतिप्रसंगेन ।

दिविशेषेण प्रस्थानदिने नियमाः—

क्वचिद्विशेषेण प्रस्थाने दिवसनियमोभिहितः । यदाह राजमातृण्डः  
“प्रच्यामहानि मुनयः प्रवदन्ति सप्त याम्यामतीव शुभदानि दिनानि पञ्च ।  
ग्रीण्येव पश्चिमदिशि क्षितिनायकानां प्रस्थानकेषु दिवसद्वयमुत्तरस्या-  
म्” ॥ इति ।

प्रस्थातुः पुनर्गृहं प्रत्यागमने यात्राभङ्गः—

यदा तु स्वयं प्रस्थाय परावृत्य गृहमागच्छेत्तदा पुनः सुमुहूर्ते यात्रा  
कार्या । यदाह राजमातृण्डः—“यस्तु संप्रस्थितो यात्रां निवर्त्तत पुनर्गृहम् ।  
कामाद्वा यदि वाकांमान्न स सिद्धिमवाप्नुयात्” ॥ इति । दुर्गादित्यः—  
“कार्यवशाद्यदि कथमपि निवर्त्तते प्रस्थितः स्वगृहमेव । यायात्तदा वि-  
शुद्धैः पुनरपि तिथिकरणदिवसाद्यैः इति ।

प्रस्थानकर्तुर्नियममाह—

अथेति । असौ राजादिः रिपुविजयमनाः शत्रुजये कृतांतःकरणः  
सन् यात्रादिनात्पूर्वं सप्तरात्राणि मैथुनं संभोगं नैव कुर्यात् । यदाह  
च्यवनः—“त्रिरात्रं वर्जयेत्क्षीरं पञ्चाहं क्षुरकर्म च । तदहश्चावशेषाणि  
सप्ताहं मैथुनं त्यजेत्” । इति ।

स्त्रीसेवननिषेधदिनेषु संकोचः—

वा अथवा अशक्तौ सप्ताहमतिक्रामितया स्थातुमशक्तौ तद्दिने यात्रा-  
दिवसे मैथुनं नैव कुर्यात् । यदाह गर्गः—“यात्राकाले तु संप्राप्ते मैथुनं यो  
निषेवते । रोगार्तः क्षीणकोशश्च स निवर्त्तत वा न वा” । इति । अत एवान-

योर्वाक्ययोर्मैथुनपीडासहिष्णवसहिष्णुपरा विषयव्यवस्था ।

मार्गमध्येपि स्त्रीसेवनविकल्पः ।

मार्गमध्येपि मैथुननिषेधे विकल्पानाह च्यवनः—‘यावद्ब्रजति चाध्वानं यावत्कार्यं न सिद्ध्यति । यावद्वा न निवर्त्तत तावद्ब्रज्यं हि मैथुनम्’ । इति ।

ऋतुगमनयात्रयोस्समायोगे निर्णयः—

यदा तु प्रयाणदिने स्त्री ऋतुस्नाता भवति गमने चावश्यकता तदा मैथुनं कार्यं नवेति संदेहः । तत्र यदि न कार्यमिति चेद्ब्रूषे—तदा धर्मशास्त्र-विरोधः । यदाह स्वायंभुवः—‘ऋतुस्नातां तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः’ । इति । कार्यमिति चेत्-ज्यौतिषस्मृत्युल्लङ्घनम् । तद्वचः प्रागभिहितम् । अत्र निर्णयमाह च्यवन एव—‘आत्ययिककार्यपाते पुष्पस्नातासमागमं कृत्वा । मुदितो गच्छन् लभते मनोरथानचिरकालेन’ इति । यदा हि पुनर्गमनार्थं कालान्तरम्-प्यस्ति तदा तद्दिने मैथुनं कृत्वा कालान्तरे सुलग्ने यायादित्यर्थसिद्धम् ।

प्रस्थानदिनात्पूर्वरात्रौ स्त्रीसेवनं न कार्यम्—

यदा प्रस्थानकालः श्वोदिवसस्तत्पूर्वरात्रावपि मैथुनं न कार्यमित्याह लल्लः—‘कृत्वा तु मैथुनं रात्रौ प्रभाते योधिगच्छति । नासौ फलमवाप्नोति कृच्छ्रेण च विवर्त्तते ॥’ कृच्छ्रेण कष्टेन ॥६५॥

अथान्यानपि प्रस्थानकर्तुर्नियमान् शालिन्याह—

दुग्धं त्याज्यं पूर्वमेव त्रिरात्रं

क्षौरं त्याज्यं पञ्चरात्रं च पूर्वम् ।

क्षौद्रं तैलं वासरेऽस्मिन्वमिश्र

त्याज्यं यत्नाद्भूमिपालेन नूनम् ॥ ६६ ॥

दुग्धमिति । यात्रादिनात्पूर्वं भूमिपालेन राशोपलक्षणत्वाद्गमनकर्त्रा यत्नात् दुग्धं पेयत्वेन त्याज्यं न तु द्रष्टृत्वेन तद्विकारः पायसं च निषिद्धम् । च पुनः पञ्चरात्रं पूर्वं क्षौरं क्षौरसंबन्धि मुंडनं श्मश्रुकर्म च त्याज्यम् । अस्मिन्वासरे यात्रादिने क्षौद्रं मधु भक्ष्यत्वेन तैलं तैललापनं त्याज्यम् । वमिश्रेद्दैवोदु-



झूता शरीरशोधनार्थं बलात्कारकृता वा यात्रादिने निषिद्धा । नूनं नि-  
श्चितम् । यदाह च्यवनः—“वपनं वमनं क्षौद्रं तैलं चैव विवर्जयेत् । तदहश्चा-  
वशेषाणि सप्ताहं मैथुनं त्यजेत् ॥” इति । वपनं श्मश्रुकर्मणोप्युपलक्ष-  
णम् । तथा च वसिष्ठेन—“यात्राहवे तूत्कटभूषिते च भुक्तोत्कटे रात्रिषु  
संन्ययोर्षा । क्षौरं प्रकुर्यात्खलु चात्मनो हि श्रेयोभिलाषी न कदाचिदेव ॥”  
इति क्षौरपदोपादानात् । क्षौरमशुभप्रदार्थोपलक्षणम् । यदाह स एव—  
“कामं क्रोधं तथा लोभं मद्यं मांसं च रोदनम् ॥” इति ॥ ६६ ॥

अथान्यानपि प्रस्थानकर्तुर्नियमान् गीत्याख्यच्छन्दसाह—

भुक्त्वा गच्छति यदि चेत्तैलगुडक्षारपक्वमांसानि ।

विनिवर्तते स रुग्णः स्त्रीद्विजमवमान्य गच्छतो मरणम् ॥

भुक्त्वेति । तैलं तैलपक्वानि घटकादीन्यन्नानि वा गुडमिच्छुविकारं  
तत्पाचितमन्नं वा क्षारं सलवणं पक्वमांसानि रंधितमांसानि यो भुक्त्वा  
गच्छति स राजादी रुग्णो रोगसहितो निवर्तते । यदाह गर्गः—“कटुतै-  
लगुडक्षारपक्वमांसाशनं तथा । भुक्त्वा यो यात्यसौ मोहाद्व्याधितः  
सन्नितर्तते ॥” इति । अत्र मांसदुग्धादिनिषेधस्तत्तन्नक्षत्रादिदोहद-  
व्यतिरिक्तविषयः । दोहदस्य विशेषविहितत्वात् ।

गमनसमये स्त्रीद्विजावमानना न कार्या—

स्त्रीद्विजमिति । स्त्री च द्विजश्च अनयोः समाहारः स्त्रीद्विजम् ।  
स्त्रियं स्वीयां परकीयां वा द्विजः ब्राह्मणः दंतं ‘धिप्रांडजा द्विजाः’ इत्यभि-  
धानात् । अवमान्य धिक्छन्दताडनादिना मानभङ्गं कृत्वा गच्छतः पुंसो  
मरणं स्यात् । यदाह गर्गः—“यस्तु संप्रस्थितो यात्रां भार्यां नैवाभिनंदति ।  
भार्या वा नाभिनंदेत न स प्रतिनिवर्तते ॥ परकीयां स्वकीयां वा स्त्रियं  
पुरुषमेव वा । ताडयित्वा तु यो मोहात्तदंतं तस्य जीवितम् ॥ यात्रायां  
प्रस्थितो यश्च ब्राह्मणानवमानयेत् । नासौ प्रतिनिवर्तते तदंतं तस्य  
जीवितम् ॥” इति । केचित्तु शुभाशुभशब्दान्यात्रा काले शुभाशुभसू-  
चकानाहुः यदाह लङ्गः—“प्रापय गच्छ विसर्जय निर्गच्छ ब्रज संसर्पेति  
सिद्धिकराः । खल्वेतेष्वप्यधिकाः प्रमोद जयं जीव शब्दाश्च । मागास्तित्थ  
निवर्त क गम्यते मूढ दुर्मते मोहात् । यात्रां नेच्छन्ति बुधाः क्षुतकासित-  
भीतशब्दैश्च ॥” इति । कासितं रोगार्तव्यनिर्हिक्कादिः ॥ ६७ ॥

अथाकालवृष्ट्याख्यं दोषं सलक्षणं वसंतमालिकाछंदसाह—

यदि मास्सु चतुर्षु पौषमासा-

दिषु वृष्टिर्हि भवेदकालवृष्टिः ।

पशुमर्त्यपदाङ्किता न याव-

द्वसुधा स्यान्नहि तावदेव दोषः ॥ ६८ ॥

यदीति । पौषादिषु चतुर्षु पौषमाघफाल्गुनचैत्राख्येषु मासेषु यदि वृष्टिर्भवेत्साऽकालवृष्टिः स्यात् पौषादयश्चत्वारो मासाः वृष्ट्यकालः । तत्र भवा वृष्टिरकालवृष्टिरुच्यते । यदाह राजमातंडः—“पौषादि चतुरो मासान् प्राप्ता वृष्टिरकालजा” इति । तत्राकालवृष्ट्यां जातायां यदि वसुधा पृथिवी यावत्पशवो गवादयः मर्त्या मनुष्यास्तेषां पदैश्चरणैरङ्किता चिह्निता न भवति तावदकालवृष्टिदोषो नास्ति । यदा पशुचरणाङ्किता वसुधा स्यात्तदाऽकालवृष्टेर्दोषवत्त्वमस्त्येव । यदाह राजमातंडः—“वृष्टिः करोति दोषं तावन्नाकालसंभवा राज्ञाम् । यावन्न भवति याने नरपशुचरणाङ्किता वसुधा ॥” इति । अस्यार्थः । अकालसंभवा वृष्टिः राज्ञां गमने तावद्दोषं न करोति । यावद्वसुधा याने गमने नरपशुचरणाङ्किता न भवति तेनातिस्वलपया रजोपगममात्रं भवति । तत्र पश्वादिचरणचिह्नाभावाद्दोषाभावः । यदा तु किञ्चिदधिका वृष्टिः स्यात्तदा कर्दमसद्भावात्पश्वादिचरणचिह्नानि जायन्ते तदा दोष एव । स च सप्तरात्रिक इत्युक्तं प्राक् । अत्र केचित् अल्पा वृष्टिर्दोषाय न महतीति वदन्ति । तत्रेयं युक्तिः अल्पवृष्ट्या कर्दमबाहुल्यात्पश्वादिचरणचिह्नानां वसुधायां दर्शनादत्यल्पवृष्टेर्दोषवत्त्वम् । महत्त्वात्तु वृष्ट्याः सकलकर्दमापाकरणात्पश्वादिचरणचिह्नादर्शनाद्दोषाभावः । तदेतद्विप्रणीतसंहिताग्रंथाभिहितविषयाणां केवलन्यायाभिनिविष्टमनसां मतम् । तथाहि । मार्गशीर्षशुक्लपक्षप्रतिपदादयः सार्द्धाः षण्मासा मेघानां गर्भग्रहणकालः । तदनंतरं वृष्टिर्भवति । यदाह कश्यपः—“सितादौ मार्गशीर्षस्य प्रतिपदिवसे तथा । पूर्वाषाढागते चंद्रे गर्भाणां धारणं वदेत् ॥” इति । गर्गोपि—“शुक्लादौ मार्गशीर्षस्य पूर्वाषाढाव्यवस्थिते । निशाकरे तु गर्भाणां तदादौ लक्षणं वदेत् ॥” इति ।



मेघवृष्ट्यारंभदिनसंख्या आगर्भग्रहणात्—

गर्भप्रसवकालज्ञानं वराहेण प्रोक्तं—“यन्नक्षत्रमुपगते गर्भं चंद्रे भवे-  
त्सचंद्रवशात् । पञ्चनवतौ दिनशते १६५ तत्रैव प्रसवकालमायाति ॥ ”  
इति । माससंहितायां च—“पौषासितपक्षाद्यैः श्रावणशुक्लादयो विनिर्दे-  
श्याः । साद्वैः षड्भिर्मासैर्गर्भविपाकः स्वनक्षत्रे ॥” इति । विशेषमाह  
वराहः—“सितपक्षभवाः कृष्णे शुक्ले कृष्णा द्युसंभवा रात्रौ । नक्तं  
प्रभवाश्चाहनि संध्याजातास्तु संध्यायाम् ॥” इति कृष्णाः कृष्णपक्षो-  
द्भवा गर्भाः एवं सार्धषणमासा गर्भनिग्रहकालः तदनंतरं जायमाना  
वृष्टिः कालवृष्टिरिति ।

अकालवृष्टिपदार्थनिर्णयः—

या चैतद्व्यतिरिक्ते काले वृष्टिर्गर्भनिर्गलनरूपा स्यात्साऽकालवृष्टिः ।  
अकाले अयोग्ये काले वृष्टिरिति निर्वचनसंभवात् । एतदेवाभिप्रेत्यो-  
क्तं—‘सौदामिनीवर्षणगर्जितेषु’ इति पद्य व्याख्याने महादेवेन गृहीतगर्भा-  
णां मेघानां यो वृष्टिकाल उक्तस्तं विना यदि वृष्टिर्गर्भनिर्गलनरूपा स्या-  
त्साऽकालवृष्टिरिति । तत्र मार्गशीर्षशुक्लादितो मेघानामवश्यं गर्भसंभ-  
वात्तच्चिह्नभूता किं चिद्वष्टिरवश्यमपेक्षितैव । यदाह वराहः—“पवनसलि-  
लविद्युद्गर्जिताभ्रान्वितो यः स भवति बहुतोयः पञ्चभूताभ्युपेतः । विस्त-  
जति यदि तोयं गर्भकाले तु भूरि प्रसवसमयमित्वा शीकरांभः करोति॥”  
इति । तेन किंचिद्वृष्ट्यां गर्भसत्तानिश्चयादल्पावृष्टिर्न दोषमावहतीति ।  
अल्पवृष्ट्यामपि त्रैराशिकवशादत्यल्पम् । बृहद्यात्रायां वराहोक्तेर्मार्गशीर्ष-  
गर्भाणां मंदफलत्वम् । तं च मार्गशीर्षमतिक्रम्य पौषादिवृष्टेरकालिक-  
त्वम् । अत एवोक्तम् “पौषादिचतुरो मासान्प्राप्ता वृष्टिरका-  
लजा ॥” इति ।

अकालवृष्ट्यन्तरम्—

मन्दफलत्वादितुल्यन्यायतया च मार्गवृष्टेरप्यकालिकत्वम् । ए-  
तदप्युक्तं राजमार्त्तण्डेन—“मार्गान्मासात्प्रभृति मुनयो व्यासवाल्मी-  
किगर्गाश्चैत्रं यावद्गमनसमये वृष्टिदोषं वदन्ति ॥” इति । एवं सति  
गर्भनिर्गलनं विकृतिः सा यथा तुलया सती नरपशुचरणांकितस्वेन  
किंचिदोषं जनयति । यथा उपचीयमानापि विकृतिर्महांत दोषमा-  
दधाति । तेन महावृष्टेर्दोषवत्वमेव न दोषाभावः । अत एवोक्तं

वराहसंहितायाम्—“गर्भसमयेतिवृष्टिर्गर्भाभावाय सा निमित्तकृता ।  
द्रोणाष्टांशेभ्यधिके वृष्टेर्गर्भः स्नुतो भवति ॥” निमित्तं शुक्रास्तादि ।  
वृहद्यात्रायामपि—“भृशं क्षरन्तो रुधिरारुणाभाः स शक्रचापा खर-  
रुक्षनादाः । रणोपयोज्याकृतिचित्ररूपा रणाय दृष्टा गमनेन्मुवा-  
हाः ॥ ” इति ।

सप्ताहं वृष्टीःराजहन्त्री—

अन्यदपि तेनैवोक्तं—“सप्ताहं सततान्यतौ वृष्टिर्हन्यान्नराधिपम् ॥”  
इति । सतता निरन्तरा । मेघभेदस्तेनैवोक्तः—“सप्ताहांतर्बलभयकरी  
वृष्टिरन्यर्त्तुजाता केचिद्यात्रामसितजलदैः संयुतां पूजयन्ति । चित्राभ्रा-  
यां बलमतिवधोरुक्सपीताम्बुदायां शुक्लाब्दायां न भवति चिराद्वधं बु-  
दायां च नात्र ॥” इति । चित्राभ्रायां वृष्टावितिशेषः । अनेनैवांशयेन क-  
चित्पठ्यते—“वृत्तेष्वकालवर्षे तु तावदोषो न जायते । यावन्न यानस-  
मये पशुपादांकिता मही ॥ ” इति । तस्मात्सिद्धमेतत्—यद्यल्पपाया-  
मकालवृष्टौ दोषाभावः, अल्पायामकालवृष्टौ दोषाभावः, महत्यामका-  
लवृष्टौ महादोष इति । वसिष्ठोपि वृष्टिविशेषे फलविशेषमाह—  
“अकाले सततं वृष्टिः सप्ताहान्नृपतेर्वधः । रक्तवृष्टौ रणोद्योगो मासवृष्टौ  
महद्रणम् ॥ मकरश्चास्थिवर्षे स्याद्वसावर्षेऽपि तत्फलम् । क्षौद्रवर्षे राष्ट्र-  
नाशस्त्वंगारैः पांशुभिर्गदः । धान्याकफलपुष्पाद्यैर्लोहैश्चापि महद्भ-  
यम् । पर्यैस्तृणैः काष्ठवर्षेस्तदेव फलमादिशेत् ॥ पाषाणवृष्टिरभ्रेषु प्रा-  
णिवृष्टिरथापि वा । चित्रवृष्टिर्यदिभवेत्सा हि स्यादितिकारणम् ॥” इति ।  
अत्र रक्तवृष्ट्यादीनां वृष्टित्वादेव निषेधे सिद्धे पुनर्ग्रहणं कृतं तत्कालवृष्टा-  
वप्यासां वृष्टीनां दोषसूचनार्थम् । यत आसां वृष्टीनामुत्पातत्वमस्ति ।  
“तेषां संक्षेपोयं प्रकृतेरन्यत्वमुत्पातः ” इति वराहोक्तेः ॥ ६८ ॥

अथामुमेवार्थं स्पष्टीकुर्वन्सन्नावश्यकयात्रां तच्छ्रान्तिकं प्रसङ्गात्  
दुष्टशकुनोद्भूतारिष्टशान्तिकं चातिशक्यं गाथाछन्दसाह—

अल्पायां वृष्टौ दोषोऽल्पो भूयस्यां दोषो भूया-  
स्त्रीमूतानां निर्घोषे वृष्टौ वा जातायां भूपः ।

सूर्येन्द्रोर्विम्बे सौवर्णे कृत्वा विप्रेभ्यो दद्याद्

दुः शाकुन्ये साज्यं स्वर्णं दत्त्वा गच्छेत्स्वेच्छाभिः ॥६९॥



अल्पायामिति । अल्पायामकालवृष्टावल्पो दोषः स्यात् । भूय-  
स्यामतिशयेन बह्वी भूयसी तस्यामकालवृष्टौ भूयानतिशयेन महान्दोषः ।  
अतो यत्प्राच्याः पठन्ति—“तावत्प्रयाणादिषु भूपतीनामकालवृष्टिः  
प्रकरोति दोषम् । यावद्भवेत्संचरतां जनानां तथा पशूनां चरणांकि-  
ता भूः ॥” इति तदेतन्निर्मूलत्वाद्युक्त्यसहत्वाच्चोपेक्ष्यम् ।

प्रस्थानोत्तरं मार्गमध्ये न दोषो यात्रायाम्—

अयं चाकालवृष्ट्याख्यो दोषः प्रयाणानन्तरं सप्तरात्रं यावद्विलोक-  
नीयमिति महादेवेन व्याख्यातम् । न तत्र प्रमाणं पश्यामः । किन्तु  
जातायामकालवृष्टौ यात्रामेव न कुर्यात् । कृते तु स्वयं प्रस्थाने मा-  
र्गमध्ये नास्त्ययं दोषः । शुक्राद्यस्तादिदोषो मार्गमध्ये ‘जीवः शशाङ्कः  
शुक्रो वा’ इति वचनबलादङ्गीक्रियते । प्राच्यास्तु महत्यामकालवृ-  
ष्टौ दोषाभावं वर्णयन्ति । तेषामाशयं न विद्मः ।

यात्रावश्यकत्वेऽकालवृष्टौ दानम्—

सत्यप्यकालवृष्ट्यादिनिमित्ते आवश्यकयात्रायां दानमाह—जीमूताना-  
मिति । जीमूतानां निर्घोषे शब्दे वृष्टावकालवृष्टौ जातायां वा सूर्येन्द्रोः सूर्या-  
चन्द्रमसोर्विवे स्वरूपे सौवर्गं यथाशक्ति सुवर्णनिर्मिते कृत्वा भूपो राजा  
विप्रेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । यदाह माण्डव्यः “दुर्दिने गर्जिते वृष्ट्यां  
सूर्याचन्द्रमसोर्द्वयोः । बिम्बे विधाय शान्त्यर्थं श्रोत्रियाय निवेदयेत् ॥”  
इति । यद्यपि श्रोत्रियंश्छन्दोधीते” इति पाणिनिवचनात् ” छन्दोध्ये-  
तृत्वेन श्रोत्रियत्वमुच्यते । तत्र वर्णत्रयसाधारणम् । तथापि प्रति-  
ग्रहाधिकारी ब्राह्मण एव श्रोत्रियशब्देन व्याकर्तव्यः । अत एव मूले  
विप्रपदोपादानम् ।

वा अकालवृष्टौ यात्रावश्यकत्वे शान्तिः—

अकालवृष्टौ शान्तिर्महता ग्रन्थसंदर्भेण बृहद्यात्रायां वराहेणाभ्यधा-  
यि । सा तत एवावधार्या ।

अकालवृष्टौ यात्रानिषेधप्रतिप्रसवविधिः—

कचिदकालवृष्टेरपवादः पठ्यते । यथा—“एकेनैकमहः प्रोक्तं  
द्वितीयेन त्रिरात्रकम् । तृतीयेन तु सप्ताहं दश रात्रमतः परम् ॥  
पौषे दिनत्रयं वर्षं माघे चैव दिनद्वयम् । फाल्गुने दिनमेकं

तु चैत्रे तु घटिकाद्वयम् ॥” इति तदेतदप्यात्यधिककार्यविषयं ध्येयम् ।

आवश्यकयात्रायां दुष्टशकुने दानम्—

अथ प्रसङ्गाद्दुष्टेऽपि शकुने जातेवश्यविधेयायां यात्रायां दानमाह—  
दुःशाकुन्य इति । शकुन एव शाकुन्यम् । चातुर्वर्ण्यादेवाकृतिगण-  
त्वात्प्यञ् । दुष्टं च तच्छाकुन्यं च दुःशाकुन्यं तस्मिन् दुष्टे श-  
कुने वक्ष्यमाणो प्रस्थानकाले संभूते सति साज्यं सघृतं स्वर्णं सुवर्णं  
श्रोत्रियाय दत्त्वा स्वेच्छाभिर्गच्छेत् । यदाह माण्डव्यः—“यदापश-  
कुनं पश्येद्विपरीतमुपस्थितम् । सघृतं कांचनं दत्त्वा निर्विशंकस्ततो  
व्रजेत् ॥” इति ॥ ६६ ॥ इति यात्रोपयोगिदोषविवरणम् ।

अथ शुभाशुभसूचकत्वेन द्वेधा शकुनाः संति । तान्वक्तुकोमस्तावच्छु-  
भसूचकाञ्छकुनान् शार्दूलविक्रीडिताभ्यामाह—

विप्राश्चेभफलान्नदुग्धदधिगोसिद्धार्थपद्मान्बरं  
वेश्यावाद्यमयूरचाषनकुला बद्धैकपश्वामिषम् ।  
सद्वाक्यं कुसुमेक्षुपूर्णकलशच्छत्राणि मृत्कन्यका  
रत्नोष्णीषसितोक्ष्मद्यससुतस्त्रीदीप्तवैश्वानराः ॥ १०० ॥  
आदर्शाञ्जनधौतवस्त्ररजका मीनाज्यसिंहासनं  
शावं रोदनवर्जितं ध्वजमधुच्छागास्त्रगोरोचनम् ।  
भारद्वाजनृपानवेदनिनदा माङ्गल्यगीताङ्कुशा  
दृष्टाः सत्फलदाः प्रयाणसमये रिक्तो घटः स्वानुगः ॥ १०१ ॥

विप्रेति । विप्रा बहवो द्वौ वा, न त्वेकः । अश्वः प्रसिद्धः, इमो हस्त  
अनुमत्तः । फलान्नदुग्धदधीनि प्रसिद्धानि ‘गो स्त्रीगवी’ सिद्धार्थाः सर्षपा  
सिरसा इति भाषा, पद्मं कमलम्, अंबरं वस्त्रं स्वच्छम्, वेश्या गणि-  
का, वाद्यं मर्दलादि, मयूरचाषौ पक्षिणौ, नकुलः प्रसिद्धः, बद्धैकपशुः  
रज्ज्वादिबद्धो वृषः, आरक्तादि वर्णः, आमिषं मांसम्, सद्वाक्यं कार्यसि-  
द्धिरस्त्वित्यादिवाक्यम् । कुसुमानि पुष्पाणि, इक्ष्वाः प्रसिद्धाः, जलपूर्णक-  
लशः, छत्रं प्रसिद्धम्, मृत् आर्द्रमृत्तिका, कन्या कुमारी, रत्नं माणिक्या-  
दि, उष्णीषं शिरोवेष्टनम्, सितोक्षा श्वेतो वृषः अयमबद्धोऽपि, मद्यं प्र-



सिद्धम्, ससुतस्त्री सपुत्रापि काचित् स्त्री, दीप्तो जाज्वल्य  
मानोन्निः शिषावानित्यर्थः, आदर्शो दर्पणः, अंजनं सुर्मा, धौतवस्त्रं रजको  
वस्त्रनिर्णैका, मीनो मत्स्यः, आज्यं घृतम्, सिंहासनं देवादेः, शावं शव-  
मेव शावं मृतकं पृष्ठगामिलोकोद्वेदनरहितम्, ध्वजः पताका, मधु क्षौद्रम्,  
ङ्गागो मेघः, अस्त्रं धनुरादि, गोरोचनं प्रसिद्धम्, भारद्वाजः पत्नी, नृत्यानां  
सुखासनम्, वेदनिनदः अधीयानानां ब्राह्मणानां मुखान्निःसरन्वेदध्वनिः,  
मांगल्यं प्रसिद्धम्, गीतं गानम्, अंकुशो हस्तिनिवारणमस्त्रम्, एते पदार्थाः  
गंतुर्भूपादेः प्रायणसमये यात्राकाले संमुखं दृश्यमानाः सत्फलदाः शुभ-  
फलदाः । तथा रिक्तो जलरहितो घटः स्वानुगः स्वस्य पश्चाद्भागगामी  
सोऽपि शुभफलदः । जलेन भरिष्यमाणत्वात् । यदाह नारदः—“प्रज्वला-  
ग्निश्च तुरगनृपासनपुरांगनाः । गन्धपुष्पाक्षतच्छत्रचामरांदोलिका गजा ॥  
भक्ष्येद्वं कुशमृत्सान्नमध्वाज्यदधिगोवृषाः । मत्स्यमांससुराधौतवस्त्रशंख-  
रवध्वजाः ॥ पर्यङ्गो पूर्णकलशरत्नभृङ्गारदर्पणम् । भेरीमृदंगपटहशंख-  
वीणादिनिःस्वनाः । वेदमंगलघोषाः स्युर्यानि वै कार्यसिद्धिदाः ॥ ” इति  
धीपतिरपि—“भारद्वाजो नाकुलश्चापसंज्ञश्छागो बर्ही शोभनो वीक्षितः  
स्यात् ॥ भृङ्गारांजनवर्द्धमानमुकुरावद्धैकपश्यामिषोष्णीषक्षीरनृत्यानपूर्ण-  
कलशच्छत्राणि सिद्धार्थकाः । वीणाकेतनमीनपंकजदधिक्षौद्राज्यगोरोचनाः  
कन्याशंखसितोक्षवस्तुसुमनोविप्रोश्चरत्नानि च । प्रज्वलज्वलनदंतितुरंगा  
भद्रपीठगणिकांकुशमृत्सनाः । अक्षतेक्षुफलचामरभक्ष्याण्यायुधानि च  
भवंति शुभानि ॥ भेरीमृदंगमृदुमर्दलशंखवीणावेदध्वनिर्मधुरमंगलगीतघो-  
षाः । पुत्रान्विता च युवतिः सुरभिः सवत्सा धौतांबरश्चरजकोभिमुखः प्र-  
शस्तः ॥ ” इति । ‘भृङ्गारः कनकालुका’ इत्यमरः । वर्द्धमानः शरावः,  
‘शरावो वर्द्धमानकः’, इत्यमरः । वसिष्ठः—“दृष्टे शत्रे रोदनवर्जिते च संपू-  
र्णयात्रा फलमेव तत्र । दृष्टः प्रवेशे तु शवः शवत्वं करोति तद्रोदनवर्जितो-  
पि ॥ ” इति । कश्यपोऽपि—“कार्यसिद्धिर्भवेद्दृश्ये शत्रे रोदनवर्जिते ।  
प्रवेशे रोदनयुतः शवः स्यात्तु शवप्रदः ॥ ” इति । वसंतराजः—“आदाय  
रिक्तं कलशं जलार्थं यदि व्रजेत्कोऽपि महाध्वगेन । पूर्णं समादाय निवर्त्त-  
तेसौ यथा कृतार्थः पथिगस्तथैव ॥ ” इति । एतानि शकुनानि यदि दैवा-  
त्स्युरतदोत्तमान्येव । यदि वा स्वयं रचितानि तदापि शुभान्येव । यदाह व-  
राहः—“स्वयमथ रचितान्ययत्नतो वा यदि कथितानि भवंति मंगलानि ।  
स जयति सकृतां ततो धरित्रीं ग्रहणदृशां श्रुतिपाठतो यथाहः ” इति ।

शकुन प्रयोजनमाह वराहः—

“अन्यजन्मांतरकृतं शुभं वा यदि वाशुभम् । यत्तस्य पाकं शकुनो निवेदयति गच्छताम् ॥ ” इति । लल्लोपि—“नक्षत्रस्य मुहूर्तस्य तिथेश्च करणस्य च । चतुर्णामपि चैतेषां शकुनो दंडनायकः ॥ ” इति ।

लग्नबलेन शुभसूचकाः शकुनाः—

अत्र कैश्चिद्लग्नवशेन शुभसूचकाः शकुना उक्ताः—“लग्ने वाक्पति-  
शुक्राणां ब्राह्मणाः सम्मुखाः स्त्रियः । बुधशुक्रौ च केन्द्रस्थौ सवत्सा  
गौः प्रदृश्यते ॥ चन्द्रसूर्यौ च भवतो दशमस्थौ यदाथवा । दीपाद-  
शौ सुमनसौ रजका धौतवाससः ॥ सुतस्थाने यदा सौम्यो वृषो  
बद्धस्तु सम्मुखः । गुरुश्चेत्पञ्चनवमो दक्षिणे सन्नवायसः ॥ चन्द्रो  
गुरुश्च सहजे श्वानो वामाङ्गभागतः । सर्वे कर्मायनवमे भारद्वाजो-  
थ नाकुलः ॥ चाषस्य दर्शनं वा स्याद्द्वामाङ्गेत्यन्तदुर्लभम् । आ-  
दित्यो राहुसौरी च सहजस्थौ कुमारिका ॥ प्रौढानां सुभगानां वा  
दर्शनं सर्वकामदम् । षष्ठे तृतीये कर्माये भौमश्चेत्तत्फलं भवेत् ॥  
दास्यो वेश्या सुरा मांसं लाभश्चैव सुनिश्चितः । सप्ताष्टपञ्चमे यस्य  
जीवो ज्ञो वात्र वर्तते ॥ आदर्शपुष्पमांसानि सुरादर्शश्च लाभदः ।  
राहुभौमश्च मन्दश्च लग्नाद्यदि तृतीयगः । उद्धृतं गोमयं पश्येच्छीघ्रं  
लाभं धनं दिशेत् ॥ ” इति । एवमादीनि शकुनानि लग्नबलेन शकुन-  
ग्रन्थेष्वभिहितानि । तानि तत एवावधार्याणीति विस्तरभयोन्नास्माभि-  
लिख्यन्ते इति ॥ १००-१०१ ॥

अथाशुभसूचकान् शकुनान् शार्दूलविक्रीडिताभ्यामाह—

वन्ध्याचर्मतुषास्थिसर्पलवणाङ्गारेन्धनक्लीबविट्  
तैलोन्मत्तवसौषधारिजटिलप्रवाट् तृणव्याधिताः ।  
नग्नाभ्यक्तविमुक्तकेशपतितव्यङ्गनुधार्ता असक्  
स्त्रीपुष्पं सरथः स्वगेहदहनं मार्जारयुद्धं चुतम् ॥ १०२ ॥  
काषायी गुडतक्रपङ्कविधवाकुब्जाः कुटुम्बे कलि-  
र्वस्त्रादेः स्वलनं लुलायसमरं कृष्णानि धान्यानि च ।



कार्पासं वमनं च गर्दभरवो दक्षेऽतिरुद्धगर्भिणी

मुण्डार्द्राम्बरदुर्वचोऽन्धबधिरोदक्या न दृष्टाः शुभाः १०३

वन्ध्येति । वन्ध्या कदापि गर्भसम्भावनारहिता, चर्माश्वार्धश्चर्म, तुषं धान्यादितुषम्, अस्थिसर्पलवणानि प्रसिद्धानि, अङ्गारोर्ध्वमो-  
न्निपिण्डः, इन्धनं काष्ठादि, क्लीबो नपुंसकः, विट् विष्टा, “अस्त्री वि-  
ष्टाविशौ समौ” इत्यमरः । तैलं प्रसिद्धम्, उन्मत्तो मद्यभूताद्यावेशवान्,  
वसा शरीरमांसविशेषः वसाग्रहणादन्ये मांसविभागाः समीचीनाः, औषधं  
प्रसिद्धम्, अरिः शत्रुः, जटिलो जटावान्, प्रवाट् संन्यासी, तृणं प्रसि-  
द्धम्, व्याधितोऽचिकित्स्यव्याधिमान्, नग्नः अपरिहितवस्त्रः कुमारव्य-  
तिरिक्तः, अभ्यक्तः कृततैलाभ्यङ्गः, विमुक्तकेशः प्रसृतकेशः, पतितो मद्य-  
पानाद्यभिशापवान् द्विजः, व्यङ्गः छिन्ननासिकादिः, क्षुधार्तः क्षुत्पीडितः,  
असृक् रुधिरम्, स्त्रीपुष्पं स्त्रीणामृतुः, सरठः कृकलासः, गिर्गिध्रम  
इति भाषा प्राच्यानाम्, स्वगेहदहनं स्वगृहदाहः, मार्जारयुद्धम्, क्षुतं  
छिक्का, काषायी कषायो रागविशेषस्तेन रक्तं वस्त्रं काषायं तद्वा-  
न् । गुडतक्रपंकविधवाकुब्जाः प्रसिद्धाः, कुटुम्बे कलिः स्वपुत्रा-  
दिभिः सह कलहः, वस्त्रं प्रसिद्धम्, आदिशब्देन गुडकच्छत्रादिस्खल-  
नं स्वहस्ताग्निर्निमित्तं पतनम्, लुलाया महिषास्तेषां समरं युद्धम्,  
कृष्णानि श्यामवर्णानि धान्यानि माषादीनि, कार्पासं वमनं च प्रसिद्ध-  
म्, दक्षे दक्षिणभागे गर्दभस्य रवः शब्दः । अर्थाद्वामभागे गर्दभश-  
ब्दः साधीयान् । अतिरुद्धं क्रोधाधिक्यम्, गर्भिणी गर्भवती, मुण्डो  
मुण्डितशीर्षो यः कश्चित्, आर्द्रावरो जलार्द्रवस्त्रः, दुर्वचः स्वमुखोत्थं  
परमुखोत्थं वा दुष्टं वाक्यम्, अन्धबधिरौ प्रसिद्धौ, उदक्या रजस्वला  
स्त्री, एते पदार्था गन्तुर्भूपादेर्यानसमये दृष्टाः सन्तो न शुभा न शुभफलदाः  
किन्तु गमने सत्यशुभफलदाः, यदाह कश्यपः—औषधक्लीबवधिरैर्ज-  
टिलोन्मत्तपावकैः । अभ्यक्ताङ्गारकाष्ठास्थिचर्माधचिररोगिभिः ॥ तै-  
लकार्पासलवणगुडतक्रतृणोरगैः । पंककुब्जैकपदकमुक्तकेशवुभुक्षितैः ॥  
सनग्नमुण्डैर्दृष्टुं यात्रा नैव फलप्रदा ॥” इति ।

श्रीपतिः—

तृणतुषफणिचर्माङ्गारकार्पासपंकैर्लवणगुडवसास्थिक्लीवतैर्लोषधै-  
श्च । रिपुविडसितधान्यव्याधिताभ्यक्ततक्रैः पतितजटिलमुण्डोन्मत्त-

वातैर्न सिद्धिः ॥ विमुक्तकेशकाषाय नग्नेन्धनबुभुक्षितैः । कुब्जांध-  
वन्ध्यावधिरैर्दृष्टैः सिद्धिर्न जायते ॥ कुटुम्बकलहो गृहज्वलनमार्त्तवं  
योषितो बिडालसमरं क्षुतं स्वलनमंबरादेस्तथा । दुरुक्तमतिकोपता म-  
हिषयोश्च युद्धं भवेत्प्रयाणसमये नृणामभिमतार्थविच्छिन्नये ॥ ” इति ।

बृहद्यात्रायां वराहः—

“कार्पासौषधकृष्णधान्यलवणक्लीवास्थितालानलं सर्पांगारगराहिच-  
र्मप्रवृताः केशारिसव्याधिताः । वान्तोन्मत्तजडांधकास्तृणतुषक्षुत्नामतका-  
रयो मुण्डाभ्यक्तविमुक्तकेशपतिताः काषायिणश्चाशुभाः ॥ ” तालो हरिता-  
लः, गरो विषम्, केशारिः क्षुरादिः, “ध्वजातपत्रायुधसंनिपातः क्षितौ  
प्रयाणो यदि मानवानाम् । उत्तिष्ठतो वायुधमेति सङ्गं पतेत वा त-  
न्पतेर्भयाय ॥ ” इति । योगयात्रायां वराहः—“न सरठो दृष्टः शुभा-  
य क्वचित् ” इति । चण्डेश्वरः—“खरोष्ट्रमहिषारूढा श्रमाङ्गल्यादिसं-  
युताः । कर्णतालादिभिर्हीना विवशाः कृष्णवाससः ॥ मुक्तकेशाति-  
कृष्णांगास्तैलाभ्यक्तरजस्वलाः । गर्भिणीविधवोन्मत्ताः क्लीवांधवधि-  
रा नराः ॥ एतेषां दर्शने जाते न गन्तव्यं कदाचन ॥ ” इति ।  
वसन्तराजः—“सर्वं शुभं दक्षिणतः कार्यं निधं तु वाम-  
तः ॥ ” इति ।

क्षुते फलानि दिग्यामभेदेन—

क्षुते विशेष उच्यतेऽस्माभिः । तत्र नारदः—“सर्वदिक्षु क्षुतं  
नष्टं गोक्षुतं मरणप्रदम् । अफलं तच्छ्रुतं वाक्यं मद्यं पीनसकैतवे ॥ ”  
इति । सर्वशाकुने—“अथ क्षुते फलं वक्ष्ये दिक्षु ग्रामक्रमेण च ।  
लाभो वह्निर्धनं मित्रं चतुःस्थानेषु पूर्वतः ॥ लाभो वह्निः सुतो वह्निः  
क्रमादाग्नेयतो भवेत् । ग्रामक्रमादक्षिणस्यां धनमन्नमृतिः कलिः ॥  
लाभो मित्रं सुखं वार्ता लाभो नैऋत्यदेशतः । गमनोत्साहकलह-  
वह्नाग्निः पश्चिमादिशि ॥ वायव्यायां जयो लाभः पुत्रासिमङ्गलं क्रमात् ।  
शत्रुनाशो रिपुप्राप्तिर्लाभो न चोत्तरे क्षुतम् ॥ संग्रामनाशरुबुद्धिरीश्या-  
मक्रमेण च । क्षुते गतघटीवारतिथियुग्वसुभिर्हृता ॥ विषमा ला-  
भदा नित्यं समा विघ्नमृतिप्रदा । औषधे वाहनारोहे विवाहे शय-  
नेऽशने ॥ विद्यारम्भे बीजवापे क्षुतं सप्तसु शोभनम् ॥ ” इति ।



वसन्तराजः—

“ निषिद्धमग्रेऽक्षिणि दक्षिणे च धनव्ययं दक्षिणकर्णदेशे । तत्पृष्ठभागे कुरुतेऽरिवृद्धिं क्षुतं प्रकामं शुभमादधाति ॥ भोगाय वामश्रवणे स्वपृष्ठे कर्णे च वामे कथितं जयाय । सर्वार्थलाभाय च वामनेत्रे जातं क्षुतं स्यात्क्रमतोष्ठधैवम् ॥” इति ॥१०२॥१०३॥

अथान्यच्छकुनं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

गोधाजाहकसूकराहिशशकानां कीर्तनं शोभनं

नो शब्दो न विलोकनं च कपिऋक्षाणामतो व्यत्ययः ।

नद्युत्तारभयप्रवेशसमरे नष्टार्थसंवीक्षणं

व्यत्यस्ताः शकुना नृपेक्षणविधौ यात्रोदिताः शोभनाः १०४

गोधेति । गोधा गोह इति प्राच्याः, घोरपड इति दक्षिणात्याः, जाहकः गात्रसंकोची जन्तुविशेषः, सूकराहिशशकाः प्रसिद्धाः । यानसमये एषां गोधादीनां कीर्तनं स्वमुखेनान्यमुखेन वोच्चारणम् शुभफलदातृस्यात् च पुनः एषां गोधादीनां शब्दो रतं विलोकनं दर्शनं च न शोभनं निषिद्धम् । कपिऋक्षाणामित्यत्र “ऋत्यकः” इति प्रकृतिभावः । व्यत्ययः यथा वानराणां भल्लूकानां कीर्तनं निषिद्धम् । तेषामेव शब्दितं दर्शितं वा न निषिद्धमित्यर्थः । यदाह श्रीपतिः—“जाहकादिशशसूकरगोधाकीर्तनं शुभमुदाहृतमाद्यैः । मोहनं न च विलोकनमेषामन्यथा गदितमृत्तकपीनाम् ॥” इति । वसिष्ठः—शाखामृगोलूककानां दर्शनं शब्दितं तथा । शशसूकरगोधानां यातुः कार्यविनाशनम् ॥” इति । शाखामृगो वानरः ।

अथ विशेषमाह—

नद्युत्तारेति । नद्या गङ्गादेरुत्तारणे भये भयसम्बन्धिनि कार्ये पलायनादिके प्रवेशे गृहप्रवेशे समरे संग्रामे नष्टस्यार्थस्य द्रव्यस्य समीक्षणे गवेषणे एतत्सम्बन्धिनि गमने क्रियमाणो सति प्रागुक्ताः शुभाशुभाः शकुनाः व्यत्यस्ताः ज्ञेयाः । शुभशकुना विप्राश्वमेत्यादयोऽशुभा ज्ञेयाः, बन्ध्याचर्मत्याद्यशुभशकुनाः शुभफलदा ज्ञेयाः इत्यर्थः । यदाह वसन्तराजः—“नद्युत्तारे भये

युद्धे प्रवेशे नष्टवीक्षणे । शकुना व्यस्तगाः शस्ता नृपालोके प्रयाणवत् ॥”  
इति । वराहः—“नयुत्तरणयुद्धेषु प्रवेशे नष्टमार्गणो । यानव्यस्त-  
गताः शस्ताः शकुना दैवचिन्तकैः ॥ ” इति ।

राजदर्शनार्थं गन्तव्यां शकुनानि—

नृपेति । नृपस्येक्षणविधौ दर्शनार्थंगमने यात्रायामुदिता विप्राश्वमे-  
त्यादयः शुभशकुनाः शोभनाः ज्ञेयाः ‘नृपालोके प्रयाणवत्’ इत्युक्तेः ।  
श्रीपतिरपि—‘नृपावलोके शकुनः प्रयाणवत्’ इति राजदर्शनस्य भय-  
स्थानत्वात्तदपवादोभयम् ॥ १०४ ॥

अथ कोकिलादीनां वामाङ्गभागेन शकुनमनुष्ठुभाह—

वामाङ्गे कोकिला पल्ली पोतकी सूकरी रत्ना ।

पिङ्गला छुच्छुका श्रेष्ठाः शिवाः पुरुषसंज्ञिताः ॥ १०५ ॥

वामाङ्गेति । कोकिलापल्लवौ प्रसिद्धौ, पोतकी दुर्गेति पितृचरणाः,  
सूकरी जात्यचटिका, रत्ना पक्षिविशेषः, पिङ्गला भैरवी, छुच्छुका  
छच्छुन्दरी, शिवा शृगाली, पुरुषसंज्ञिता पुत्रामानः कपोतखञ्जनतित्ति-  
रहंसादयः । एते गच्छतां राजादीनां वामाङ्गे शरीरवामभागे शस्ताः  
स्युः । यदाह श्रीपतिः—“छुच्छुका भवनगोधिका रत्ना पिङ्गलारिकव-  
धूश्च पोतकी । सूकरी पुरुषसंज्ञिताः शिवा वामतः खलु यियासतां  
शुभाः ” इति ।

वराहोपि—

शिवाश्यामारलाछुच्छुपिङ्गलागृहगोधिकाः । सूकरी परपुष्टा  
च पुत्रामानश्च वामतः ” इति । श्यामा पोतकी । भवनगोधिका पल्ली,  
परपुष्टा कोकिला ॥ १०५ ॥

अथ दक्षिणांगभागावस्थितं शकुनं चानुष्ठुभाह—

छिकरः पिक्कको भासः श्रीकण्ठो वानरो रुरुः ।

स्त्रीसञ्ज्ञकाः काकः चक्षुः श्वानः स्युर्दक्षिणाः शुभाः ॥ १०६ ॥

छिकर इति । छिकरो मृगजातिः, पिक्ककः पक्षिविशेषः, भासः  
पक्षी, श्रीकण्ठः पक्षिविशेषः, वानरः प्रसिद्धः, रुरुर्मृगविशेषः, स्त्रीसं-



इकाः । काकः प्रसिद्धः । ऋक्षो भल्लूकः । अत्रापि “ऋत्यकः”  
इति प्रकृतिभावः । श्वा कुक्कुरः, एते यात्रायां गन्तुर्भूपादेः  
दक्षिणभागगताः शुभाः शुभफलदाः । यदाह श्रीपतिः—“ऋक्षो भा-  
सश्चिक्ररो वानरश्च श्रीकण्ठः श्वा पिक्रकाख्यो रुरुश्च । ये स्त्रीसंज्ञा  
दक्षिणास्ते प्रशस्ताः प्रोक्ताः पूर्वेः सूरिभिस्ते प्रयागे ” इति ।  
वराहः—

स्त्रीसंज्ञाश्चाषभषकपिकश्रीकर्णच्छिक्रराः । शिखिश्रीकण्ठपिकक-  
रुश्येनाश्च दक्षिणाः ॥” इति भषकः श्वा ।

दिकपरत्वेन शकुनाः—

वराहेण प्राच्यादिकपरत्वेन शकुना उक्ताः—“कुक्कुटेभचिरल्वा-  
श्च शिखिवंजुलच्छिक्रराः । बलिनः सिंहनादाश्च कूटपूरी च पूर्वतः ॥  
क्रोष्टुकोलूकहारीतकाककोककर्णपिङ्गलाः । कपोतरुदिताक्रंदक्रूरशब्दाश्च  
याम्यतः ॥ गोशशक्रौंचलोमाशहंसकोशकपिङ्गलाः । विलोमोत्सववा-  
दित्रगीतहासाश्च वारुणाः ॥ शतपत्रकुरंगाखुमृगैकशफकोकिलाः ।  
चाषशल्यकपुरयाहघटाशंखरवा उदक् ” इति ॥१०६॥

अथोक्तव्यतिरिक्तानां मृगपक्षिणां सामान्यतः प्रादक्षिण्येन शकुन-  
मनुष्टुभाह—

प्रदक्षिणगताः श्रेष्ठाः यात्रायां मृगपक्षिणः ।

ओजा मृगा व्रजन्तोऽतिधन्या वामे खरस्वनः ॥१०७॥

प्रदक्षिणेति । रुरुव्यतिरिक्ता मृगाः पक्षिणश्च यात्रायां प्रादक्षि-  
ण्येन गताश्चलिताः श्रेष्ठाः शुभफलदाः स्युः । परन्तु मृगा ओजा  
विषमसंख्यास्त्रिपञ्चसत्तादयश्चेद्ब्रजन्तो दृष्टाः स्युस्तदातिधन्याः ।  
यदाह श्रीपतिः—“मृगा विहङ्गाश्च गताः प्रदक्षिणां महीभृतां काङ्क्षित-  
कार्यसिद्धये । मृगा व्रजन्तः परमोजसंख्यया” इति ।

तत्र पक्षिणां विषमसंख्यया शकुनाः खरस्वनो वामे शुभः—

वराहस्तु पक्षिणामपि विषमसंख्याकत्वमाह । यथा—“ओजाः  
प्रदक्षिणं शस्ता मृगाश्चनकुलांडजाः” इति । अण्डजाः पक्षिणः ।  
वामे इति । स्ववामभागे खरस्वनो गर्दभशब्दोतिधन्यः ।

शकुनाः कचिन्निष्फलाः—

शकुनानां कियतां कालविशेषे नैष्फल्यमाह—“न च ग्राम्यो वने  
ग्राह्यो नोरण्यो ग्रामसंस्थितः । दिवाचरो न शर्वर्यो न च नक्तंच-  
रो दिवा ॥ द्वंद्वरोगादितस्तत्र कलहामिषकांक्षिणः । आपगांतरिता  
मत्ता न ग्राह्याः शकुनाः कचित् ॥ रोहितास्वजवालेयकुरंगोष्ट्रमृगाः  
शशाः । निष्फलाः शिशिरे ज्ञेया वसन्ते काककोकिलौ । न तु भाद्रपदे  
ग्राह्याः सूकराश्च वृकादयः । शरद्वृक्षादयः कौचाः श्रावणे हस्तिचा-  
तकौ । व्याघ्रर्क्षवानरद्वीपिमहिषाः सविलेशयाः । हेमन्ते निष्फ-  
ला ज्ञेया घालाः सर्वे विमानुषाः ॥” इति ।

स्थानभेदेन शकुनो न शुभफलदः—

स्थानविशेषे शकुनः शुभोपि दुष्टफलद इत्याह वराह एव—“प्रमग्न-  
शुष्कद्रुमकण्टकीषु श्मशानभस्माग्निषाकुलेषु । प्राकारशून्यालयजर्जरेषु  
सौम्योपि पापः शकुनः प्रकल्प्यः ॥” इति ।

दुःशकुननिन्दा—

विरुद्धशकुननिन्दामिहिता दैवज्ञमनोहरे—“वरं शुभं दुर्जनकृष्ण-  
सर्पौ वरं क्षिपेत्सिंहमुखे स्वमंगम् । वरं तरेद्वारिनिधिं भुजाभ्यां नोल्लङ्घ-  
येद्दुःशकुनं कदापि ॥” इति ॥ १०७ ॥

अथावश्यककर्तव्यायां यात्रायां विरुद्धे शकुने जाते किं कर्तव्यमि-  
त्यनुष्ठुमाह—

आद्येऽपशकुने स्थित्वा प्राणानेकादश व्रजेत् ।

द्वितीये षोडश प्राणांस्तृतीये न कचिद्व्रजेत् ॥ १०८ ॥

आद्य इति । निर्गमसमये यदापशकुने ‘वन्ध्याचर्म’ इत्यादिके विरु-  
द्धे शकुने आद्ये प्रथमे सज्जाते सति एकादशसंख्याकान् स्थित्वा “का-  
लाध्वनोरत्यंतसंयोगे” इति द्वितीया । एकादश प्राणपरिच्छेद्यका-  
लं स्थित्वेत्यर्थः । ततः समीचीने शकुने व्रजेत् ।

तत्रापि द्वितीये विरुद्धे शकुने संवृत्ते षोडशसंख्याकान् प्राणान्  
स्थित्वा शुभशकुने व्रजेत् । तत्रापि पुनस्तृतीये विरुद्धे शकुने संवृ-  
त्ते कचिदपि न व्रजेत्किंतु परावृत्त्यं गृहमागच्छेत् । यदाह वसन्त-



राजः—“जाते विरुद्धे शकुनेऽध्वनीनो व्यावृत्त्य कृत्वा करपादशौचम् ।  
आचम्य च क्षीरतरोरधस्तात्तिष्ठेत्प्रपश्येच्छकुनान्तराणि” इति ।

श्रीपतिः—

आद्ये विरुद्धे शकुने प्रतीक्ष्य प्राणान्मृपः पञ्च च षट् प्रयायात् ।  
अष्टौ द्वितीये द्विगुणास्तृतीये व्यावृत्त्य नूनं गृहमभ्युपेयात् ॥ ” इति ।  
प्राणशब्देन विंशतिलघ्वक्षराणि दशगुर्वक्षराणि वा यावता कालेन  
पूर्यते तावान् काल उच्यते । यदाह शौनकः—“लघ्वक्षरैः स्फुटो-  
क्तैः प्राणः कथितस्तु विंशतिभिः ” इति । भास्करः—“ गुर्वक्षरैः खे-  
न्दुमितैरसुः ” इति । अन्यत्रापि “ दशगुर्वक्षरैः प्राणः ” इति ।

त्रयः प्राणायाम इति मतान्तरम्—

कश्यपेन तु प्राणायामत्रयमेव प्रतीक्ष्यमित्युक्तम् । यथा—“यायी  
विरुद्धशकुनमादौ दृष्ट्वा प्रयत्नतः । ’ प्राणायामत्रयं कुर्याद्द्वितीये द्विगुणं  
चरेत् ॥ तृतीये पुनरावृत्त्य शान्त्या यायादिनांतरे ॥ ” इति । प्राणायाम-  
स्तु वर्णत्रये प्रसिद्धः ।

अवश्ययात्रायामपशकुने शान्तिः—

शान्तिरुक्ता दैवज्ञमनोहरे—“यदा हि शकुनं पश्येद्विपरीतमुपस्थितम् ।  
सघृतं कांचनं दंष्ट्रा निर्विशंकः सुखं व्रजेत् ॥ ” इति । एतच्च मूले स्प-  
ष्टमुक्तम्—“दुःशाकुन्ये साज्यं स्वर्णं दंष्ट्रा गच्छेत् स्वेच्छाभिः ॥ ” इति ।

निर्दोषे यातू राज्ञः फलम्—

एवं निखिलदोषशुद्धिं विचार्य शुभलग्ने गंतुर्भूपस्य शत्रुपराजयपूर्व-  
कस्तन्मरणपूर्वको जयो वा भवत्येव ।

जिते शत्रुनगरे राज्ञा वज्यानि—

तत्र शत्रुनगरे जिते सति राज्ञा किं कार्यमित्याह वसिष्ठः—“विगज-  
तुरगभीतान्पुण्यलोकाभिलाषान्विरथशिथिलवस्त्रान्मुक्तशस्त्रास्त्रकेशान् ।  
तृणमुखगतसत्त्वान्प्रांजलीनुह्यमानान्द्विपतितनयादीन्युद्धमूमौ न ह-  
न्यात् ॥ सपत्नदेशान्नगरं प्रविश्य महीपतिर्देवगुरुर्द्विजार्थे । कुर्यान्न वांछां  
न कुलांगनानां प्राणाभिलाषी च कदाचिदेव ॥ ” इति । वराहोपि—नार्ता  
न भीता न तृणाननाश्च विमुक्तशस्त्रा विपलायमानाः । क्षीणायुधा वाजि-  
गजावतीर्णा ह्येते न बध्या न च पीडनीयाः ॥ कुलैकतंतुः शरणंगतो वा  
कृतांजलिर्यश्च वदेत्तवास्मि । अयुध्यमानानवगम्य चान्यान्न बालकान्स्त्री-  
परिरक्षितांश्च ॥ ” इति । ग्रंथकर्त्रा तदर्थकं पद्यं नोपनिबद्धम् । मुहूर्त-

विचारेऽनुपयोगात् । यत्तु श्रीपतिनोक्तम्—“न परविषयप्राप्तो राजा द्वि-  
जामरसज्जनद्रविणहरणे चेतः कुर्यान्न वा कुलयोषिताम् । विरजतुरगा-  
नार्त्तान्हन्यान्नभीतनिरायुधान् प्रमुदितमनाः सैन्यैः शस्ते क्षणे स्वपुरं वि-  
शेत्” इति तत् ‘महतामनुरोधो न्याय्यः’ इति मनस्यालोच्याभिहितम् १०८

तत्र शस्ते क्षणे प्रवेशस्योक्तत्वाद्विजययात्रां विधाय परावृत्त्य गृहमा-  
गतस्य भूपस्य यात्रानिवृत्तिगृहप्रवेशीयमुद्धृतं जगत्यामुपजातिकाङ्क्षं-  
साह—

यात्रानिवृत्तौ शुभदं प्रवेशनं

मृदुध्रुवैः क्षिप्रचरैः पुनर्गमः ।

द्वीशेऽनले दारुणभे तथोग्रभे

स्त्रीगेहपुत्रात्मविनाशनं क्रमात् ॥ १०९ ॥

यात्रानिवृत्ताविति । चतुर्धा प्रवेशः । नववधूप्रवेशः, सुपूर्वप्रवेशः, अ-  
पूर्वप्रवेशः, द्वंद्वाभयप्रवेशश्चेति । तत्र नववधूप्रवेशः प्रागुक्तः । अपूर्वप्रवेशद्वं-  
द्वाभयप्रवेशौ वक्ष्येते । इह तु सुपूर्वप्रवेश उच्यते । तत्र नववधूप्रवेशस्या-  
न्वर्थसंज्ञाविज्ञानादेव तल्लक्षणं नोक्तं कैश्चिदपि ।

त्रिविधगृहप्रवेशलक्षणानि—

अपूर्वादित्रिविधगृहप्रवेशलक्षणान्याह वसिष्ठः—“अपूर्वसंज्ञः प्रथ-  
मः प्रवेशो यात्रावसाने च सुपूर्वसंज्ञः । द्वंद्वाभयस्त्वग्निभयादिजातस्त्वे-  
वं प्रवेशस्त्रिविधः प्रदिष्टः ।” इति । यस्तु भूपस्य समरविजययात्रां वि-  
धाय गृहमागतस्य प्रवेशः स सुपूर्वसंज्ञः । यस्तु अग्निभयेनाग्निकृतदाहे-  
नादिशब्देन नद्यादिसमीपवर्तित्वाज्जलाप्लवनेन वा क्रुद्धराजादिपातनेन वा  
गेहनाशस्तद्गृहं पुनर्यदा संपाद्यते तस्मिन् यः प्रवेशः स द्वंद्वाभय इत्यु-  
च्यते । अन्वर्थसंज्ञा चेयम् । द्वंद्वं शीतोष्णम् । शीतशब्देन जलमुष्णशब्दे-  
नाग्निरुच्यते लक्षणया । जलाप्लवनेन वा अनवरतकियद्विसवृष्टिपातेन वा  
गृहनाशस्तज्जलभयम् । अग्निकृतदाहेन यो गृहनाशस्तदग्निभयम् । तस्मा-  
च्छीतोष्णरूपात् द्वंद्वादपुनरुत्थापनेन यद्भयं तद्द्वंद्वभयमित्युच्यते । द्वं-  
द्वाभयं विद्यते यस्मिन्निति “अर्श आदिभ्यो अच्” इति मत्वर्थीयोच्प्रत्ययः ।  
तादृशः प्रवेशो द्वंद्वाभय इति । अत्र गुरुशुक्रास्तादिकालशुद्धिविचारस्तु



नूतनोत्थापितगृहप्रवेशे एव, न द्वंद्वभयसुपूर्वसंज्ञकप्रवेशयोः । वास्तुपूजा सर्वेष्वपि प्रवेशेषु । यदाह वसिष्ठः—“नवप्रवेशे त्वथ कालशुद्धिर्न द्वंद्वसौ-पूर्विकयोः कदाचित् । प्रवेशपंचांगदिनेषु लग्ने वास्त्वर्चनं पूर्ववदेव कुर्यात् ॥ ” इति । पूर्ववत्पूर्वस्मिन्नपूर्वे गृहप्रवेशे यथा वास्त्वर्चनं तथा-ऽपरयोरपि । अमुमेवाशयं मनसि निधायाग्रे ग्रंथकृद्व्यति—“जीर्णे गृहे-ग्न्यादिभयान्नवेपि मार्गोर्जयोः श्रावणिकेऽपि सत्स्यात् । वेशोऽबुपेज्या-निलवासवेषु नावश्यकास्तादिविचाणात्र ॥ ” इति । अतोऽत्र यात्रानि-वृत्तिप्रवेशमुहूर्तविचारे शुक्रास्तादिदोषविचारो नाभिहितः । किंतु यथा-कथंचित्पंचांगशुद्धिमात्रमवेद्यम् । विशेषतश्च पंचांगशुद्धिं लग्नशुद्धिं चाग्रे वदति । साप्यत्र यथासंभवमूह्या । नक्षत्रशुद्धिस्त्वेवंविधे प्रवेशवि-शेषाभिधानान्न ग्रंथकृतोक्ता ।

तत्र वास्त्वर्चनभूतवलयोः कालः—

तत्र कालशुद्धिमाह श्रीपतिः—“अथ प्रवेशे नवमंदिरस्य यात्रानि-वृत्तावथ भूपतीनाम् । सौम्यायने पूर्वदिने विधाय वास्त्वर्चनं भूतबलिं च सम्यक् । ” इति । नारदोपि—“अथ सौम्येऽयने कार्यं नववेशम-प्रवेशनम् । राज्ञां यात्रानिवृत्तौ च ” इति । सौम्यायन इत्येतत्तु राज्ञां यात्रानिवृत्तौ कालविलंबसत्त्वे बोद्धव्यम् । वसिष्ठस्वरसात् ।

स्मृत्योर्विरोधे विषयभेदकल्पना युक्ता न विकल्पः—

स्मृत्योर्विरोधविषयकल्पनोचिता न तु विकल्पः । यथोक्तम्—“स्मृ-तिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ । स्मृतिद्वैधे तु विषयः कल्प-नीयः पृथक् पृथक् ॥ ” इत्यलमतिप्रसंगेन ।

यात्रातो निवृत्तौ प्रवेशे नक्षत्राणि—

यत्रानिवृत्ताविति । मृदूनि चित्रानुराधामृगरेवत्यः । ध्रुवाणि रोहिणी-ज्युत्तराश्च । एभिर्नक्षत्रै राज्ञां यात्रानिवृत्तौ प्रवेशनं शुभदम् । यदि क्षिप्रैः अश्विनीपुष्यहस्ताभिजिद्धिश्चरैः श्रवणधनिष्ठाशततारकापुनर्वसुस्वाती-भिर्नक्षत्रैः प्रवेशनं स्यात्तदा पुनरपि राज्ञो गमो यात्रा स्यात् । तस्मादेता-नि मध्यमानि । द्वीशादिनक्षत्रेषु प्रवेशे क्रमात् स्यादीनां नाशः । यथा विशाखायां प्रवेशे स्त्रियो राश्याः मरणं स्यात् । कृत्तिकायां प्रवेशे गृहना-शनमग्निना गृहं दग्धं स्यात् । दारुणभे मूलज्येष्ठाद्राश्लेषासु प्रवेशे पुत्र-

स्य राजकुमारस्य मरणं स्यात् । तथोग्रभे पूर्वात्रयभरणीमघासु प्रवेशे  
आत्मनः स्वस्यैव राज्ञो मरणं स्यादित्यर्थः । यदाह श्रीपतिः—“शुभप्रवे-  
शो मृदुभिर्भुवाख्यैः क्षिप्रैश्चरैः स्यात्पुनरेव यात्रा । उग्रैर्नृपो दारुणभैः  
कुमारो राज्ञी विशाखासु विनाशमेति । कृत्तिकासु भवनं कृशानुना दह्यते  
प्रविशतां न संशयः ॥” इति कृशानुरग्निः । अथाग्रे ग्रन्थकृता प्रोक्तापि  
पञ्चांगलग्नशुद्धिरत्रोपयोगान्मूलवाक्यान्युच्यन्ते । वसिष्ठः—“चंद्रचार्य-  
सितवासरेषु तु श्रीकरं सुखमहार्थलाभदम् । सूर्यसूनुदिवसैः स्थिर-  
प्रदं किंतु चौरभयमत्र विद्यते ॥” इति ।

श्रीपतिः—

“रिक्तातिथिर्भूसुतमानुवारौ निद्याश्च योगाः परिवर्जनीयाः ।  
मेषः कुलीरो मकरस्तुला च त्याज्याः प्रवेशे हि तथा तदंशाः ॥” इति ।

निन्द्यलग्नानां सापवादतया फलानि—

अत्र मेषादिनिन्द्यलग्नानां फलं सापवादमुक्तम् । राजमार्त्तण्डः—  
“भूपो यात्रा मेषलग्नप्रवेशे नाशं गच्छेत्कर्कटस्योदये च । व्याधिं  
तौलिन्याश्रिते लग्नवर्तिन्याकोकेरे प्राप्नुयाद्धान्यनाशम् ॥” आकेकेरो  
मकरः । “लग्नेन्यत्रांशकेऽप्येषामेते दुष्टफलप्रदाः । शुभान्यन्यानि  
लग्नानि प्रवेशे मुनयो विदुः ॥ निन्दिता अपि शुभांशसमेतास्तौलि-  
मेषमकराः सकुलीराः । कर्तृभोपचयगाश्च विलग्ने राशयः शुभफलाय  
भवन्ति ॥” इति ।

वसिष्ठः—

त्रिकोणकेन्द्रत्रिधनावसंस्थैः शुभैस्त्रिषष्टायगतैः खलैश्च । लग्नान्त्य-  
षष्टाष्टविवर्जितेन चन्द्रेण लक्ष्म्यानिलयप्रवेशः ॥ न नैधने भेषि न  
चाष्टलग्ने पञ्चेष्टकेष्वष्टमशुद्धियुक्ते । कार्यः प्रवेशो न चरांशलग्ने शु-  
भेक्षिते वाप्यथ संयुते वा ॥ प्रवेशलग्नान्निधनस्थितो यः क्रूरग्रहः  
क्रूरग्रहे यदि स्यात् । प्रवेशकर्त्तारमथ त्रिवर्षाद्वन्त्यष्टवर्षैः शुभरा-  
शिगश्चेत् ॥” इति ।

तत्र प्रवेशप्रकारः—

अन्यदप्याह वसिष्ठ एव—“कृत्वा शुक्रं पृष्ठतो वामतोऽर्कं विप्रा-



भूज्यानग्रतः पूर्णकुम्भम् । हर्म्यं रम्यं तोरणस्रग्वितानैः स्त्रीभिः स्र-  
ग्वी गीतवाद्यैर्विशोत्तत् ॥” इति ।

वामसूर्यज्ञानोपायः—

वामसूर्यज्ञानोपायमाह विश्वकर्मा—“लग्नात्प्रागादितो दिक्षु द्वौ द्वौ  
राशी नियोजयेत् । एकमेकं न्यसेत्कोणो सूर्यं वामे विचिन्तयेत् ॥”

यात्रामासान्नवमे दिने प्रवेशो न कार्यः—

अत्रेदं ध्येयम् । यत्र मासे यात्रा कृता तन्मासान्नवमे मासि  
यात्रादिनान्नवमदिने वा प्रवेशो निषिद्धः । यदाह गुरुः—“नि-  
र्गमान्नवमे मासि प्रवेशो नैव शोभनः । नवमे दिवसे चैव प्रवेशं नैव  
कारयेत् ॥” इति । एतत्सविशेषं नूतनगृहप्रवेशव्याख्यानावसरेऽभिधा-  
स्यते इत्यास्तां प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ १०६ ॥

अथ विवाहप्रकरणोक्तदोषानतिदिशन् प्रागुक्तान्यात्राप्रकरणोक्तदो-  
षान् शिष्याणामविस्मरणार्थं मज्जुभाषिणीभ्यां संगृह्णाति—

अयनर्क्षमासतिथिकालवासरो-

द्भवशूलसम्मुखसितज्ञदिकपाः ।

भृगुवक्रतादिपरिधाख्यदण्डको

युवतीरजोऽप्यशुचितोत्सवादिकम् ॥ ११० ॥

अयनर्क्षेति । एतेयनर्क्षादयो दोषा विवाहप्रकरणोक्ताश्च दोषा  
यात्रायां कर्त्तव्यायां नेष्टाः ।

तत्रायनशूलः—‘सौम्यायने सूर्यविधू तदोत्तराम्’ इत्यादिकः ।  
मासोद्भवः शूलो द्विविधः—‘वृषादित्रित्रिराशिष्वर्के प्राच्यादिदिक्षु न ग-  
न्तव्यम्’ इत्येकः । कपाटकंटकादिश्च द्वितीयो युद्धयात्रायां स्वरो-  
दयशास्त्रे सर्वतोभद्रचक्रेभिहितो यथा—“यत्र त्रयो वृषाद्याश्च पूर्वाशादि-  
बुधैः क्रमात् । राशयो द्वादशैवं तु मेषांताः सृष्टिमार्गगाः ॥ यत्र  
पूर्वादिकाष्टायां वृषराश्यादिगो रविः । सा दिशास्तमिता ज्ञेया ति-  
क्ष्णः शेषाः सदोदिताः ॥” इति ।

कपाटकण्टकशूलौ—

कपाटकण्टकादिर्यथा—“कपाटं पूर्वतो ज्ञेयं कार्तिकादित्रिकं तथा । नभस्यतो वास्तुमध्ये मधोरेकेन कण्टकः” इति ज्योतिषार्कवचनात् ।

नक्षत्रतिथिवारशूलसम्मुखशुक्रबुधादिदोषा यात्रायाम्—

नक्षत्रवारशूलः—‘न पूर्वदिशि शक्रमे न विधुसौरिवारे तथा’ इत्युक्तः । तिथिशूलः—योगिनी—‘नवभूम्यः शिवबह्वयः’ इत्युक्तः । सम्मुखसितशुद्धिकपा इति । सम्मुखः शुक्रः सम्मुखो बुधः संमुखो दिक्स्वामी लालाटिकत्वेन ‘यत्रोदितस्तां कुकुमं न यायात्’ इत्यादिनोक्तः । भृगुवक्रतादीति । आदिशब्दात्क्षीणास्तमितानां च गतपराजितत्वबाल्यादिकं ‘वक्रास्तनीच’ इत्युक्तम् । परिघाख्यदण्डकः—‘पूर्वादिषु चतुर्दिक्षु’ इत्युक्तः । शुवतीरजः स्वपत्नीरजोदर्शनम् । अशुचिता आशौचं—जननाशौचं । मरणाशौचं च । अशुचितेत्यत्र “न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषात्” इत्यनेन यो निषेधः स ह्येतस्मात्सूत्रादनन्तरं वक्ष्यमाणविषये ध्येयः । आदिशब्देन विवाहव्रतबन्धादिः ॥ ११० ॥

अथान्यदपि मञ्जुभाषिणीछन्दसाह—

मृतपक्षरिक्तरवितर्कसङ्ख्यका-

स्तितथयश्च सौरिविभौमवासराः ।

अपि वामपृष्ठगविधुस्तथाडलो

वसुपञ्चकाभिजिदथापि दक्षिणे ॥ १११ ॥

मृतेति । मृतपक्षः तमोभुक्ततारा इत्युक्तः । रिक्तरवितर्कसङ्ख्यकाश्चतुर्थीनवमीचतुर्दशीद्वादशीषष्ठ्यस्तितथयः । उपलक्षणत्वादष्टमीपूर्णिमामावास्याशुक्लप्रतिपदः । सौरिविभौमवासराः शनिसूर्यमङ्गलवाराः । अयं च निषेधो दिक्शूले न सर्वत्रेति प्रागभिहितम् ।

वामपृष्ठगविधुरपि वामे पृष्ठे च निषिद्धः कैश्चित्—

वामपृष्ठगविधुरपि वामभागे पृष्ठभागे च चन्द्रो निषिद्धः । उक्तं च—“संमुखेर्थस्य लाभाय दक्षिणे सुखसम्पदः । पृष्ठतो मरणं चैव वामे चन्द्रे धनक्षयः ॥” इति । एतच्च निर्मूलत्वादुपेक्ष्यम् । सत्यपि



मूलवस्वे एतत्सर्वद्वारगनक्षत्रव्यतिरेकेण ज्ञेयम् । अन्यथा सर्वत्र दिग्द्वय-  
निषेधे पुण्यादीनां सर्वदिग्द्वारगता भज्येत । तथाऽऽडलः—‘स्वेर्भतो-  
ब्जमोन्मितिः, इत्युक्तः । उपलक्षणत्वाद्भ्रमणमपि निषिद्धम् ।  
वसुपञ्चकं—वसुशब्देन धनिष्ठोत्तरार्द्धमुच्यते तदादिकं नक्षत्रपञ्चकम् ।  
अभिजिदभिजत्संज्ञको मुहूर्तो दिवसेष्टमः । एतद्द्वयमपि दक्षिणे  
एते पञ्चांगदोषाः ॥ १११ ॥

अथ लग्नदोषान् स्रग्धरयाह—

लग्ने जन्मर्क्षतन्वोर्मृतिगृहमहितर्क्षाच्च षष्ठं तदीशा  
वा लग्ने कुम्भमीनर्क्षनवलवतनू चापि पृष्ठोदयं च ।  
पृष्ठाशासंस्थमृक्षं दशमशनिरथो सप्तमे चापि काव्यः  
केन्द्रे वक्राश्च वक्रिग्रहदिवसविवाहोक्तदोषाश्च नेष्टाः ११२  
इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते मुहूर्तचिन्ता-  
मणौ यात्राप्रकरणां समाप्तम् ।

लग्न इति । लग्ने यात्रालग्नौ विचारयितव्ये सति जन्मर्क्षतन्वोर्जन्म-  
राशिर्जन्मलग्नं तत्सम्बन्धि मृतगृहमष्टमस्थानम् । अहितर्क्षात् शत्रु-  
राशेः शत्रुलगाद्वा षष्ठं स्थानं तदीशाः—स्वजन्मराशितोऽष्टमाधि-  
पतिः स्वजन्मलग्नाद्वाष्टमाधिपतिः स्वशत्रुराशितः षष्ठस्वामी स्वशत्रु-  
जन्मलग्नाद्वा षष्ठाधिपतिः । एते लग्ने लग्नस्थिताः स्युः । कुम्भमी-  
नर्क्षनवलवतनू । कुम्भलग्नं मीनलग्नं लग्नान्तरसद्भावे वा कुम्भनवां-  
शो मीननवांशो वा । पृष्ठोदयं च । पृष्ठोदयराशयः—‘गोजाश्विक-  
किमिथुनाः समृगा निशाख्याः पृष्ठोदया विमिथुनाः’ इति घराहो-  
क्ताः । पृष्ठाशासंस्थमृक्षम् । दिग्विलोमलग्नमित्यर्थः । दशमश-  
निः । दशमे स्थाने शनिर्दशमशनिः । अथो इति । सप्तमे स्थाने  
स्थितः काव्यः शुक्रः । केन्द्रे वक्राः वक्रिणो ग्रहाः वक्रिग्रहस्य वक्रिग्रह-  
योर्वा वक्रिग्रहाणां वा दिवसा वाराः । एते दोषा यात्रायां नेष्टा  
अवश्यं वर्ज्याः । अत्रार्थे मूलवाक्यानि प्राग्विलिखितानि ।

विवाहप्रकरणोक्तदोषा यात्रायां निषिद्धाः—

अथ च विवाहोक्तदोषा विवाहप्रकरणेभिहिता ये दोषास्तेऽपि निषिद्धाः । त इमे—“उत्पातान्सहपातदग्धतिथिभिर्दुष्टांश्च योगांस्तथा चन्द्रेज्योशनसामंथास्तमयनं तिथ्याः क्षयर्द्धी तथा । गण्डान्तं च सविष्टिसंक्रमदिनं तन्वंशपास्तं तथा तन्वंशेशविधूनथाष्टरिपुगान्पापस्य वर्गांस्तथा ॥ सेन्दुकूरखगोदयांशमुदयास्ताशुद्धिचण्डायुधान्बार्जरं दशयोगयोगसहितं जामित्रलत्ताभिधम् । वाणोपग्रहपापकर्त्तरि तथो तिथ्यूक्तवारोत्थितं दुष्टं योगमथार्द्धयामकुलिकाद्यान्वारदोषानपि ॥ क्रूरक्रान्तविमुक्तभं ग्रहणभं यत्क्रूरगन्तव्यभं त्रेधोत्पातहतं च केतुहतभं सन्ध्योदितं भंतथा । तद्वच्च ग्रहभिन्नयुद्धगतभं सर्वानिमान्संत्यजेदुद्वाहे शुभकर्मसु ग्रहकृताल्लङ्घनस्य दोषानपि ॥” इति । यदाह वसिष्ठः—“एकविंशन्महादोषास्त्वेते ब्रह्ममुखोदिताः । कदाचिन्नैव सोदन्ति गुणानां कोटिकोटिभिः ॥ तस्मादेतेषु दोषेषु कदाचिन्नाचरेच्छुभम् । विवाहे विधवा नारी मरणं व्रतबन्धने ॥ ग्रामनाशः प्रतिष्ठायां सीमन्ते गर्भनाशनम् । नवान्नभोजने मृत्युः कृषौ तत्फलनाशनम् । कर्तुर्नाशो गृहारम्भे प्रवेशे पतिनाशनम् । यात्रायां कर्तृनाशः स्याद्युद्धयाने विशेषतः ॥ लभ्यते सुमहत्पुण्यमेषु श्राद्धादिकर्मभिः ॥” इति ।

सप्तमगुरुबुधजामित्रदोषौ, धनुरर्कादिमासदोषोपि यात्रायां न—

अत्र सप्तमशुकव्यतिरिक्तो जामित्रदोषो धनुरर्कादिमासदोषोपि नास्तीति ध्येयम् । यदुक्तं गणेशदैवज्ञैः—“सर्वमुद्रहनजं मासास्तदोषौ विना ” इति मासदोषो धनुरर्कादिः । अस्तदोषो जामित्रदोषः तथापि शुक्रराहित्यं विवक्षितम् । यतः सप्तमशुकस्य यात्रायां विशिष्य निषेधोस्ति । बुधगुरु तु प्रशस्तावेव । एवं मासदोषजामित्रदोषा विवाहोक्ता यात्रायां न निषिद्धाः । किन्तु विहिता इत्येतद्वर्ज्जमन्ये विवाहोक्ता दोषा यात्रायां निषिद्धा एवेति शिवम् ॥११२॥ अथ यात्राप्रकरणं गद्येनोपसंहरति—इति श्रीदैवज्ञेति । स्पष्टार्थमेतत् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा

पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्तचिन्तामणोः ।



गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधौ  
व्याख्याने खलु यात्रिकप्रकरणं सम्पूर्णातामध्यगात् ॥

इति श्रीविद्वद्देवब्रमुकुटालङ्कारश्रीमन्नीलकण्ठज्योतिर्विद्विरचिता-  
यां मुहूर्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधाराभिधायी  
यात्राप्रकरणं समाप्तिमगमत् ॥ ११ ॥

—\*o\*—

### अथ वास्तुप्रकरणम् १२ ।

गौरीनन्दनमिष्टसिद्धिसदनं विज्ञाबलीभेदनं  
नत्वा ज्योतिषिकाग्न्यरामरचिते मौहूर्तचिन्तामणौ ।  
गोविन्दो बुधनीलकण्ठविधिवित्सूनुः सतामप्रणी-  
र्वह्यं गृहनिर्मितिप्रकरणं व्याख्याति विद्वन्मुदे ॥ १ ॥

अथ वास्तुप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र त्रिविधप्रवेशे वसिष्ठाद्यभिहि-  
ते अपूर्वसंज्ञः प्रथमः प्रवेश इत्युक्तम् । स च गृहनिर्माणायत्त इति  
वास्तुनिर्माणप्रारम्भ उच्यते । यदाह वसिष्ठः—“वास्तुज्ञानं प्रव-  
क्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मणा पुरा । ग्रामसङ्घपुरादीनां निर्माणं वक्ष्यतेऽधु-  
ना ॥” इति । गृहनिर्माणप्रयोजनमभिहितं भविष्यत्पुराणे—“गृहस्थस्य  
क्रियाः सर्वा न सिध्यन्ति गृहं विना । यतस्तमाद्गृहारंभप्रवेशसमयौ  
ब्रुवे ॥” गृहं स्वसत्ताकम् । गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिध्यन्ति नि-  
ष्फला भवन्तीत्यर्थः । एतदपि स्पष्टमभिहितं तत्रैव—“परगोहे कृताः  
सर्वा श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः । निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फल-  
मश्नुते ॥” इति । एतत्सर्वं मनस्यालोच्य गृहोरम्भप्रकरणं विवक्षुः ग्रन्थ-  
कृद्ग्रामपुरादिस्थानेषु स्वस्य शुभमशुभं वा लाभमलाभं वा द्वारनिवेशनं  
च शार्दूलविक्रीडितेनाह—

यद्गं द्रव्यङ्गसु तेशदिङ्मितमसौ ग्रामः शुभो नामभात्  
स्वं वर्गं द्विगुणं विधाय परवर्गाढ्यं गजैः शेषितम् ।

काकिएयस्त्वनयोश्च तद्विवरतो यस्याधिकाः सोऽर्थदो-  
ऽथ द्वारं द्विजवैश्यशूद्रनृपराशीनां हितं पूर्वतः ॥ १ ॥

यदिति । ग्रामः स्वस्य शुभोऽशुभोवेति तावच्चिन्त्यते । व्यवहार-  
प्रसिद्धं यन्नाम नीलकण्ठ इत्यादिकं तस्यावकहडाचक्रानुसारेण यद-  
नुराधादिकं नक्षत्रं ततो यद्वृश्चिकादिकराशिः स्यात्तन्नामभम् । एवं  
यस्मिन् ग्रामे नगरे वा वास्तुमिष्यते तस्य चरणाद्रिरित्यादिकं यन्नाम  
तस्माज्जातो यो राशिर्मीनादिस्तद्ग्रामभम् , एवं नामद्वयं ज्ञात्वा नाम-  
भात्पुरुषनामराशेः सकाशात् यद्ग्रं यस्य ग्रामस्य भं राशिः स चेद्द्वितीयो  
नवमः पञ्चम एकादशसंख्यो दशमश्च स्यात्तदासौ ग्रामः स्वस्य शुभः  
शुभफलदाता स्यादन्यथा शुभो न भवतीत्यर्थः । यथा नीलकण्ठस्य वृ-  
श्चिकराशितः पञ्चमो मीनराशिः । अतश्चरणाद्रिर्नीलकण्ठस्य वास-  
योग्यः सन् शुभफलदो न वाराणस्यादिः । उक्तं च मुहूर्त्तमार्तण्डे—  
“नामर्त्तादिसुताङ्कदिग्भवनतो ग्रामः शुभो नान्यथा । ” इति । अत्र का-  
किएयादौ नामराशिरेव ग्राह्यः । उक्तं च—“काकिएयां वर्गशुद्धौ  
च वादे द्यूते स्वरोदये । मन्त्रे पुनर्मवरणे नामराशेः प्रधानता ॥ ”  
इति । अथ ग्रामात्मनोरुत्तमर्गात्वमधमर्गात्वं चाह—स्वं वर्गमिति ।  
वर्गस्तु—“अकचटतपयशवगाः खगेशमार्जारसिंहशुनाम् । सर्पा-  
खुमृगावीनां निजपञ्चमवैरिणामद्यौ ॥ ” इत्युक्ताः । तत्र यस्य पुंसः  
यत्संख्याको वर्गो गरुडादिः स्यात्तद्वर्गसंख्यां द्विगुणां विधाय कृत्वा प-  
रस्य ग्रामस्य वर्गसंख्यया आढ्यां च कृत्वा गजैरष्टभिः शेषितमव-  
शिष्टं ताः काकिएयो ज्ञेयाः पुंसः, एवं ग्रामस्यापि स्ववर्गसंख्यां  
द्विगुणां कृत्वा परस्य पुंसः वर्गसंख्यया युक्तां च कृत्वा गजभक्ताः अव-  
शिष्टाः काकिएयो ग्रामस्य भवन्ति । एवमनयोः पुरुषग्रामयोः काकिएयः स्युः ।  
तत्र तद्विवरतः पुरुषकाकिएयीनां ग्रामकाकिएयीनां विवरमन्तरं तस्मिन् क्रि-  
यमाणे यस्य ग्रामस्य दातृत्वात् पुंसः काकिएयवशेषे पुंसो द्रव्यहानिः ।  
ग्रामस्य प्रतिगृहीतृत्वादित्यर्थः । यथा नीलकण्ठस्य वर्गः सर्पः । तत्संख्या  
५ द्विगुणा १०, चरणार्द्धवर्गः सिंहः तत्संख्यया ३ युक्ताः १३, गजभक्ताः  
शेषं ५ नीलकण्ठस्य काकिएयः । एवं ग्रामवर्गसंख्याः ३ द्विगुणा ६  
नीलकण्ठवर्ग-५ संख्यया युक्ताः ११ । अष्टभक्तावशेषं ३ ग्रामस्य काकिएयः  
३ अत्र द्वयोरन्तरे शेषम् २ नीलकण्ठस्य दातृत्वात्स्वद्रव्यहानिरित्यर्थः ।



उक्तं च—“स्ववर्गं द्विगुणं कृत्वा परवर्गेण योजयेत् । अष्टभिस्तु हरेद्भा-  
गं योधिकः स ऋणी भवेत्” इति । इतोऽन्यथाहुः कश्यपवसिष्ठनारदाः—  
“अकारादिषु वर्गेषु दिक्षु प्रागादिषु क्रमात् । गृध्रमार्जारसिंहाश्वसर्पाखु-  
गजशाशकाः । दिग्बर्णानामियं योनिः स्ववर्गात्पञ्चमो रिपुः ॥ रिपुवर्गं  
परित्यज्य शेषवर्गाः शुभप्रदाः । साध्यवर्गं पुरः स्थाप्य पृष्ठतः साधकं  
न्यसेत् ॥ विभजेदष्टभिः शेषं साधकस्य धनं स्मृतम् । व्यत्ययेनागतं  
शेषं साधकस्य ऋणं स्मृतम् ॥ धनादिकं स्वल्पमृणं सर्वसंपत्प्रदं स्मृ-  
तम्” इति । गृध्रोत्र गरुडः । गरुडसर्पयोर्महावैरसत्त्वात्साध्य इत्यर्थः ।  
साध्यो वासयोग्यो ग्रामादिस्तस्य वर्गं वर्गसंख्यां पुरः संस्थाप्य साधक-  
स्य नीलकण्ठादेः वर्गसंख्यां पृष्ठतो न्यसेत् । एवं विशिष्टोऽष्टकोष्ठभिर्भक्तः  
शेषं साधकस्य ऋणं स्यात् । यथा साध्यवर्गसंख्यापुरः स्थापिता साध-  
कस्य वर्गसंख्या च पृष्ठतः । सा चैवं ५३ एतास्त्रिपञ्चाशत् अष्टभक्ताव-  
शिष्टं धनं साधकस्य ऋणं स्यात् । विपरीतं स्थापितं यथा ३५ अष्टभक्तं  
शेषं ३ साधकस्य ऋणं स्यात् ।

द्वारनिवेशनं वर्णदिग्भेदेन—

अथ द्वारनिवेशनमाह—अथेति । द्विजादिराशिमतां पुंसां क्रमेण  
पूर्वतः प्रच्यादिदिक्चतुष्टये द्वारं हितम् । यथा द्विजराशयः कर्कवृश्चि-  
कमीनास्तेषां पूर्वदिशि, वैश्याराशयो वृषकन्यामकरास्तेषां दक्षिणदिशि,  
शूद्रराशयो मिथुनतुलाकुम्भास्तेषां पश्चिमदिशि, नृपराशयो मेषसिंहधनूषि  
तेषामुत्तरदिशि द्वारनिवेश इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ राशिपरत्वेन ग्रामनिवासनिषिद्धस्थानानि वसंततिलकाच्छन्द-  
साह—

गोसिंहनक्रमिथुनं निवसेन्न मध्ये

ग्रामस्य पूर्वककुम्भोऽलिभूषाङ्गनाश्च ।

कर्को धनुस्तु लभमेषघटाश्च तद्व-

द्वर्गाः स्वपञ्चमपरा बलिनः स्युरैन्द्रयाः ॥ २ ॥

गोसिंहेति । वस्तुमिष्टस्य ग्रामस्य वस्त्रविभागवन्नवधा विभागं कृ-  
त्वा मध्ये मध्यमविभागे गोसिंहनक्रमिथुनम् । समाहारद्वन्द्वः । न नि-

वसेत् । वृषसिंहमकरमिथुनराशिमंतः पुरुषा न वसेयुः । अथ पूर्वककुम्भः पूर्वदिशातोऽष्टदिक्षु अलिर्वृश्चिकः तदादिराशिमंतः पुरुषा न वसेयुः । यथा पूर्वस्यां वृश्चिकः, आग्नेय्यां मूषो मीनः, दक्षिणस्यां कन्या, नैऋत्यां कर्कः, पश्चिमायां धनुः, वायव्यां तुला, उत्तरस्यां मेषः, ऐशान्यां कुम्भः, न वसेयुरित्यर्थः । अथ वर्गाः अकचटतपयशवर्गाः अष्टौ ऐंद्र्याः पूर्वदिशमारभ्य अष्टदिक्षु बलिनः । यथा अवर्गं पूर्वस्यां, कवर्गः आग्नेय्यां, चवर्गो दक्षिणस्यां, टवर्गो नैऋत्यां, तवर्गः पश्चिमायां, पवर्गो वायव्यां, यवर्ग उत्तरस्यां, शवर्ग ऐशान्यां बलीत्यर्थः । कीदृशा वर्गाः स्वपञ्चमपराः स्वस्मात्पञ्चमः परः शत्रुर्येषां ते, यस्य वर्गः पूर्वस्यां बली तेन पश्चिमायां द्वारं निवासो वा न विधेयः । एवं कवर्गादीनामाग्नेयादिसप्तदिक्षु बलित्यं सप्रयोजनं ज्ञेयम् । यदुक्तं मुहूर्त्तमाह—“नामर्क्षाद्द्विसुतांकदिग्भवगतो ग्रामः शुभोऽन्योऽन्यथा तत्कोणेत्यमुवां शुभं निवसतां दोषः परेषामलम् । कन्याकर्कितुलाधनुःक्रियधटाः, कौर्ष्यण्डजौ याम्यतो मध्येन्येन वसंत्यथैद्रककुम्भो वर्गाः स्थुरोजस्विनः” इति । ओजस्विनो बलिनः ॥ २ ॥

इष्टनक्षत्रेष्टायाभ्यामिष्टभूम्यां विस्तारायामौ इंद्रवज्रयैद्रवंशापूर्वार्धे न चाह—

(१) एकोनितेष्टर्क्षहता द्वितिथ्यो

रूपोनितेष्टायहतेन्दुनागैः ।

युक्ता घनै- १७ आपि युता विभक्ता

भूपाशिवभिः शेषमितो हि पिण्डः ॥ ३ ॥

(१) एकोनितेष्टर्क्षहता द्वितिथ्य इति । पिण्डो नाम क्षेत्रफलं तदष्टगुणं सप्तविंशतितष्टं नक्षत्रमानमिति ‘अष्टाहते क्षेत्रफले विभक्ते भसंख्यया शेषमवेहि धिण्यम्’ इति श्रीपतिपद्येनावगम्यतेऽथ बीजगणितक्रियया—कल्यते पिण्डप्रमाणं = या, अष्टगुणं = ८या, सप्तविंशति- २७भक्तं लब्धं = का, शेषमिष्टनक्षत्रं = इन, अर्थात्  $\frac{८या}{२७} = का + \frac{इन}{२७}$  सम- शोधनादिना या =  $\frac{२७ का + इन}{८}$  ..... (१) . तथा ध्वजादयोऽष्टावा- यास्तेनाष्टभक्ते शेषमित आयो भवतीति लब्धिस्तत्र ‘नी’ कल्यते तदा



स्वेष्टायनक्षत्रभवोऽथ दैर्घ्यहृत-  
स्याद्विस्तृतिर्विस्तृतिहृच्च दीर्घता ।

या = नी +  $\frac{\text{इआ}}{\text{८}}$  ∴ या = ८ नी + इआ (२) अथै—(१) (२) तयोर्या-

मानयोः समीकरणम्—

$\frac{२७ \text{ का} + \text{इन}}{\text{८}} = ८ \text{ नी} + \text{इआ} ∴ २७ \text{ का} + \text{इनी} = ६४ \text{ नी} + ८ \text{ इआ}$

समशोधनादिना—

का =  $\frac{६४ \text{ नी} + ८ \text{ इआ} - \text{इन}}{२७}$  अत्र कुट्टकयुक्तया लब्धिगुणज्ञानार्थं

६४ नी = भाज्यः, २७ = हारः, ८ इआ—इन = क्षेप इति प्रकल्प्य प्रथमं रू-

पक्षेपे गुणलब्धिसाधनार्थं न्यासः  $\frac{६४ \text{ नी} + १}{२७}$  एभ्यो जाता

बह्वी २ ततः स्वोर्ध्वं हतेऽन्त्येन युते तदन्त्यमिति

२  
२  
१  
२  
१  
०

२ | २ × ८ + ३ = १६ + ३ = १९  
२ | २ × ३ + २ = ६ + २ = ८  
१ | १ × २ + १ = २ + १ = ३  
२ | २ × १ + ० = २ × ० = २  
१  
०

अतो राशियुग्मम् १९।८ एतौ स्वहारतष्टौ तावेव लब्धिगुणौ  
१९।८ धनक्षेपजौ । तौ चेत्स्वहारशुद्धौ तदा जातौ रूपविशुद्धिक्षेपजौ  
४५।१९ अथेष्टक्षेपज्ञानार्थं “अभीक्षितक्षेपविशुद्धिनिध्न्यौ स्वहारतष्टे  
भवतस्तयोस्ते” नियमेनानेन धनक्षेपजौ लब्धिगुणा—१९।८ वीष्टक्षेपा-  
(८ इआ—इन) दखण्डेना—(८ इआ) नेन गुणितौ १५२ इआ ।  
६४ इआ, स्वस्वहार—६४ । २७ तष्टौ २४ इआ, १० इआ । तथा  
द्वितीयखण्डेना—(इन) नेन गुणितौ रूपविशुद्धिक्षेपजौ लब्धिगुणौ  
४५ इन । १९ इन, स्वस्वहारतष्टौ तथैवातो या लब्धिस्तद्भाजकवर्ण-  
मानं गुणो भाज्यवर्णमानमिति—

एकोनित इति । यत्र गृहं कर्तुमिष्टं भवति सा भूर्नानाकारा भवति । समविषमचतुरस्रत्र्यस्राद्यनेकभेदेन तत्र यदेव नक्षत्रं स्वव्यवहारनाम्ना-“राशिकूटादिकं सर्वं दम्पत्योरिव चिन्तयेत्” इति वसिष्ठोक्तोः विवाहोक्तमेलापकविधिना शुभं स्यात्तदेव स्वेषमं कल्प्यम् । कल्पितं यदक्षं तेन हता गुणिता द्वितिथ्यः १५२ कार्याः । ततो रूपेणोनितो य इष्टायो ध्वजादिकः तेन हता इन्दुनागाः एकाशीतिस्तया युक्ताः कार्याः । ततो घनैः सप्तदशभिरपि युक्तास्ततो भूपाश्विभिः षोडशाधिकद्विशत्या विभक्तास्ततो भक्ते सति यच्छेषं तन्मितः पिंडः क्षेत्रफलं स्यात् । स च पिंडः स्वेष्टायनक्षत्रभवः स्वस्य स्वगृहकर्तुरिष्टं यन्नक्षत्रं इष्ट आयश्च ताभ्यां भवतीति तादृशः स्यात् । पिंडः दैर्घ्यद्वत्

$$\text{का} = २४ \text{ इआ} + ४५ \text{ इन}$$

$$\text{नी} = १० \text{ इआ} + १६ \text{ इन}$$

आभ्यां या-मानयो-

$$\frac{\text{इन} + २७}{८} \text{ का 'इआ} + ८ \text{ नी' रेतयोः क्रमेणोत्थापनादेकमेव या-}$$

$$\text{मानम्} = ८१ \text{ इआ} + १५२ \text{ इन, अस्य रूपान्तरम्} = ८१ ( \text{इआ} + १-१ )$$

$$+ १५२ ( \text{इन} + १-१ ) = ८१ \text{इआ} + ८१-८१ + १५२ \text{ इन} + \underline{१५२-१५२}$$

$$= ८१ \text{ आ-८१} + १५२ \text{ इन-१५२} + २३३$$

$$= ८१ ( \text{इआ-१} ) + १५२ ( \text{इन-१} ) + २३३$$

ततः पिएडप्रमाण-‘या’ मिद- ( २७ × ८ = २१६ = घातफलम् ) मनेन

$$\text{तष्टं लब्धिः} = \text{ल} \therefore \frac{\text{या}}{२७ \times ८} = \text{ल} \therefore \text{हरतष्टपिएडम्} = \text{या-ल} \times २७ \times ८$$

अत्र द्वितीयखण्डमष्टभक्तं निःशेषञ्जायते तेन वास्तवपिएडजायसमो घातफलतष्टपिएडजायो भवत्येवमत्र घातफलतष्टपिएडे- ( या-ल × २७ × ८ ) ऽस्मिन्नष्टगुणे सप्तविंशतिभक्ते द्वितीयखण्डस्य निःशेषत्वात्केवलपिएडजनक्षत्रं घातफलतष्टपिएडजनक्षत्रेण समं स्यात्तेन लघुत्वकर-

$$\text{णार्थं या-माने ऽन्तिमखण्डं घातफलेन तष्टं} ( \frac{२३३}{२१६} = १ + \frac{१७}{२१६} )$$

जातम् = ८१ ( इआ-१ ) + १५२ ( इन-१ ) + १७ एवमपि घातफलाधिके मुहुस्तत्तष्टमित्युपपन्नं रामोक्तम् ।



कल्पितदैर्घ्यभक्तः सन् विस्तृतिर्विस्तारः स्यात् । अथ पिराडो विस्तृतिहृत्  
 कल्पितविस्तारभक्तो दीर्घता स्यात् । उक्तं च सारसमुच्चये—“रूपाष्टभि-  
 ८१ विनिहतो भवनस्य बन्धो नक्षत्रमिष्टमिह युग्मशरेन्दुनिष्पन्नम् । एकीकृतं  
 घन-१७ युतं च रसेन्दुयुग्म-२१६ भक्तस्ततो भवति मध्यगृहस्य पि-  
 राडः” इति । अत्रोदाहरणम्—नीलकण्ठस्य अनुराधानक्षत्रस्य रोहिण्या  
 सह मेलापकः सम्भवतीति इष्टमं रोहिणी कल्पितं विषमायः सिंहस्तृ-  
 तीयः ३ इष्टमं ४ एकोनितम् ३ अनेन द्वितिथ्यो १५२ हताः ४५६  
 इष्टायः ३ रूपोनितः २ आभ्यामिन्दुनागा ८१ हताः १६२ एतैर्युक्ताः  
 ६१८ घनै-१७ युक्ताः ६३५ भूपाश्विभिः २१६ विभक्ताः शेषमिदमेव क्षे-  
 त्रफलं गृहस्य २०३ । अथ कल्पितदैर्घ्यम् २६ अनेन भक्तो लब्धो वि-  
 स्तारः ७ कल्पितविस्तृतिः ७ अनेन भक्तो लब्धं दैर्घ्यम् २६ । यदा-  
 ह प्रकारान्तरेण गोपिराजः—“विष्णुं व्येकायगोभूहतिभयुजि फलं गो-  
 पिराजो भशेषात्सायं वाहोष्टिदृग्घनेयुतमहिहतादृक्प्रकृत्याख्या-२१ विश्वे  
 १३ । बाणाः ५ सिद्धा-२४ छि-१६ नागो-८ डु-२७ विधृति-१६ गिरिश-  
 ११ ज्या-३ कृती-२२ द्र-१४ तु-६ तत्त्वा-२५ त्यष्ट्य-१७ क-६ दमा-१ नखे  
 २० ना-१ र्णव-४ विकृति-२३ दिवा-१५ द्रघु-७ कृती-२६ भेदु-१८ काष्ठाः १०”  
 अस्यार्थः । गोपिराजो व्येकायगोभूहतिभयुति सति भशेषात् विष्णुम् ।  
 अहिहतादृक्प्रकृत्याख्या विश्वादयः फलं स्यादित्याहेति योजना । विगत  
 एको यस्मात्स व्येकः स चासौ आयश्च व्येकायः ध्वजादिरिष्टायः स  
 च गोभुवश्च १६ एषां हतिः परस्परगुणनं व्येकायगोभूहतिश्च भं  
 च व्येकायगोभूहतिभयुक् तस्मिन्सति भशेषाद्भैः २७ भक्ते सति यच्छेषं  
 तस्माद्विष्णुनामानं शिष्यं अहिहताश्चाष्टगुणिताः दृक् ङौ प्रकृत्याख्या  
 एकविंशतिर्विश्वे त्रयोदशेत्यादयो गृहक्षेत्रफलं सायमिष्टायसहितं स्यात्  
 इत्याह वदति गोपिराजः । अत्रोदाहरणं—पूर्वोक्त इष्टायः व्येकः २ गोभू-  
 १६ हतिः ३८ इष्टमं रोहिणी तत्संख्यया ४ युतं ४२ अस्मात् भैः २७  
 शेषं १५ एतत्संख्यया फलं २५ अहि-८ हतं २०० इष्टायसहितं २०३  
 इदं स्वेषायनक्षत्रभवं क्षेत्रफलं पूर्वसममेव ।

महागृहप्रमाणे विशेषः—

महागृहप्रमाणार्थमाह—वेति । वा इत्यर्थे । वा इष्टायसहितं  
 जातं यत्फलं तत् अष्टिदृग्घनयुतं अष्टिश्च दशश्च अष्टिदशः षोडशाधि-  
 कद्विशती २१६ तथा हतो गुणितो य इष्ट एकद्वित्र्याद्यं कस्तेन युक्तं का-

र्यम् । तन्मनोभीष्टस्य क्षेत्रफलं स्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥

इन्द्रवंशोत्तरार्धेन ध्वजान्वदन्नायैर्वर्णपरत्वेन द्वारनिवेशनं उप-  
जात्याह—

आया ध्वजोधूमहरिश्वगोखरे-  
भध्वाङ्क्षकाः पिरड इहाष्टशेषिते ॥ ४ ॥  
ध्वजादिकाः सर्वदिशि ध्वजे मुखं  
कार्यं हरौ पूर्वयमोत्तरे तथा ।  
प्राच्यां वृषे प्राग्यमयोर्गजेऽथवा  
परचादुदक्पूर्वयमो द्विजादितः ॥ ५ ॥

आया इति । पिरडे क्षेत्रफलेऽष्टशेषिते अष्टभक्ते सति यदवशिष्य-  
ये तत्परिमिता आया ध्वजादिकाः स्युः । ध्वजधूमौ प्रसिद्धौ, हरिः  
सिंहः, श्वा कुक्कुरः, गौर्वृषः, खरो गर्दभः, इमौ हस्ती, ध्वाङ्क्षः का-  
कः, ध्वाङ्क्ष एव ध्वाङ्क्षकः स्वार्थं कः । यदाह विश्वकर्मा—“वि-  
स्तारेणाहतं दैर्घ्यं विभजेदष्टभिस्ततः । यच्छेषं स भवेदायो ध्वजा-  
द्यास्ते स्युरष्टधा ॥ ध्वजो धूमो हरिः श्वा गौः खरेभौ वायसोष्टमः ।  
पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः” इति ।

द्वाराणि दिक्षु—

सर्वदिशि ध्वजाख्ये आये आगते सति सर्वदिशि दिक्चतुष्टयेऽपि गृह-  
द्वाराणि कार्याणि स्युः इत्यर्थः । हरौ सिंहाये पूर्वदक्षिणोत्तरदिक्षु द्वा-  
राणि स्युः, न पश्चिमदिशि, तथा वृषाख्ये आये प्राच्यां दिश्येव मुखं  
नान्यदिक्षु । गजाख्ये आये प्राग्यमयोः पूर्वदक्षिणदिशोर्गृहं कार्यं  
स्यात् । यदाह श्रीपतिः—“गृहेषु चाया विषमाः प्रशस्ताः स्वस्थान-  
गाः सर्वगतो ध्वजश्च । ध्वजो हरौ तौ च गजे वृषे ते वृषोऽङ्गितान्यत्र  
समाश्रितं स्यात्” ।

वसिष्ठोपि—

“विषमायः शुभायैव समायः शोकदुःखदः । ध्वजः सिंहे तौ च गजे



होते गवि शुभप्रदाः ॥ वृषो न पूज्यतेऽन्यत्र ध्वजः सर्वत्र पूजितः ” इति । अस्यार्थः । प्रागवस्थित्या तत्र पूजित एव परन्तु हरावपि दक्षिणस्यामभिपूजितः । तौ च गजे तौ गजसिंहायौ गज उत्तरस्यामपि प्रशस्तः स्वस्थाने किमुत । एते ध्वजसिंहगजाख्या आयाः पश्चिमायामपि पूजिताः स्वस्थाने किमुत । वृष आयास्तु अन्यत्र पूर्वदक्षिणोत्तरदिक्षु न पूजितः किन्तु स्वावस्थित्या पश्चिमदिश्येव । ध्वजस्तु सर्वत्रैव पूजित इति । अन्यथा रीत्यान्ये आयाः यत्रावस्थिताः स्युस्तत्संमुखदिक्षु द्वाराणि स्युरित्यर्थः । “प्रत्यग्ध्वजे द्वारमथोदिणं पूर्वं हरावपि स्याद्द्विद्वरदे च याम्यम् ” इति श्रीपत्युक्तेः । महेश्वरोपि—“सर्वद्वार इह ध्वजो वरुणदिग्द्वारं च हित्वा हरिः प्राग्द्वारो वृषभो गजो यमसुरेशाशामुखः स्याच्छुभः ” इति ।

वापीकूपसरस्तु च आयानामुपयोगः—

आयानां प्रयोजनांतरमाह विश्वकर्मा—“वृषःसिंहो गजश्चैव कुण्डे कर्कटकुटीरयोः । द्वीपः पुनः प्रयोक्तव्यो वापीकूपसरः सु च । मृगेन्द्रमासने दद्याच्छयने च गजं पुनः । वृषं भोजनपात्रेषु छत्रादिषु पुनर्ध्वजम् ॥ अग्निवेशमसु सर्वेषु गृहे वह्न्युपजीविनाम् । धूमं नियोजयेत्केचिच्छ्रानं म्लेच्छादिजातिषु ॥ खरो वेश्यागृहे शस्तो ध्वान्नः शेषकुटीषु च । वृषसिंहौ ध्वजाश्चापि प्रासादपुरवेशमसु ” इति ।

वसिष्ठः—

“गजाये वा ध्वजाये वा गजानां सदनं शुभम् । अश्वालयां ध्वजाये वा खराये वृषभेऽपि वा । उष्ट्राणां मन्दिरं कार्यं गजाये वा वृषे ध्वजे । पशुसम्वृषाये वा ध्वजाये वा शुभप्रदम् ॥ शय्यासुवृषभः शस्तः पीठे सिंहः शुभप्रदः । अमत्रच्छत्रवस्त्राणां वृषाये वा ध्वजेपि वा ॥ पादुकोपानहौ कार्यौ सिंहाख्येऽप्यथवा ध्वजे । उक्तानामप्यनुक्तानां मन्दिराणां ध्वजः शुभः ” इति ।

ब्राह्मणादिवेशमद्वाराणि—

अथ ब्राह्मणादिवर्णपरत्वेन द्वारनिवेशनमुच्यते—अथवेति । द्विजादितः ब्राह्मणादिवर्णाविभागेन पश्चादित्यादिदिक्षु गृहद्वारं स्यात् । यथा ब्राह्मणस्य पश्चान्मुखं गृहद्वारं, क्षत्रियस्योदग्दिशि, वैश्यस्य पूर्वस्यां, शूद्रस्य यमे दक्षिणस्यामित्यर्थः । उक्तं च श्रीपतिना—“ध्वजे प्रतीच्यां

मुखमग्रजानामुदङ्मुखं भूमिभृतां च सिंहे । विशो वृषे प्राग्वदनं  
गजे तु शूद्रस्य याम्यां न समामनन्ति” इति । टोडरानन्दे च्यवनः—  
“ध्वजे परास्यं विप्राणां राज्ञां सिंहेऽप्युदङ्मुखम् । गजे शूद्रस्य या-  
म्यास्यं विशः पूर्वामुखं वृषे” इति ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ गृहारम्भे विशिष्टकालनिषेधमुपजातिकयाह—

गृहेशतत्स्त्रीसुखवित्तनाशो-

ऽर्केन्द्रीज्यशुक्रं विबलेऽस्तनीचे ।

कर्तुः स्थितिर्नो विधुवास्तुनोर्भे

पुरःस्थिते पृष्ठगते खनिः स्यात् ॥ ६ ॥

गृहेशेति । चेद्गृहस्वामिनो जन्मराशिवशात् अर्केन्द्रीज्यशुक्रे  
विबले निर्बले अस्ते अस्तङ्गते नीचे नीचराशिगते सति क्रमाद्गृहे-  
शतत्स्त्रीसुखवित्तनाशो भवति । यथा सूर्ये दुष्टे विबले निर्बले  
नीचस्थिते वा गृहेशस्य नाशः इन्दौ चन्द्रे निर्बले अस्तमिते नीच-  
गते वा गृहेशस्त्रीनाशः, ईज्ये गुरौ तादृशे सति गृहेशसुखनाशः, शुके  
तादृशे गृहेशस्य वित्तं द्रव्यं तस्य नाशः । यदाह श्रीपतिः—“स्वौ  
गृहस्थो गृहिणी शशांके धनं सिते देवगुरौ च सौख्यम् । विनाश-  
मायाति बलेन हीने नीचस्थिते वास्तुमुपागते वा” इति । वसिष्ठस्तु  
नैःस्वमेवाह—“नीचे शत्रुगते जीवे शुके वा यदि वा बुधे । शशांके वा  
कृतं गेहमतिनिःस्वत्वमाप्नुयात्” इति इदमस्तस्याप्युपलक्षणम् । अत्रा-  
स्तगतत्वं किं क्षितिजसन्निधिकृतमुत सूर्यकृतं वा विवक्षितम् । अन्यथा  
तद्विशेषणार्थकम् । अर्थतत्त्वविशेषणानर्थक्यम् । अनेनैवाशयेन वास्तु-  
शास्त्रे—“अस्तदोषोत्र न ग्राह्यः प्रातिदैवात्मको बुधैः । नास्तदोषः सदा  
चन्द्रे न मैत्रेब्जस्य नीचता” इति । अब्जस्य चन्द्रस्य ।

चन्द्रर्तुगृहर्तयोः संमुखपृष्ठस्थयोः फलानि—

कर्तुरिति । विधुवास्तुनोर्भे यन्नक्षत्रे दिनचन्द्रस्तद्विधुभं यद्गृहं  
तस्य विस्तारायामवशादुत्पन्नं भं तद्गृहं तस्मिन्पुरःस्थिते संमुख-  
स्थिते सति कर्तुर्गृहनिर्मातुस्तस्मिन्गृहे स्थितिर्निवासो न स्यात् ।  
पृष्ठगते वा विधुवास्तुनोर्भे सति खनिः खननं चौरकृतापहारं त-



द्वशात्सर्वस्वहानिरित्यर्थः । उक्तं च वास्तुशास्त्र—“ऋतं चन्द्रस्य वास्तोश्च त्वग्रे पृष्ठे न शस्यते” इति । श्रीपतिना तु चन्द्रफलमुक्तम्—“क्षपाकरेणैव गृहं पुरःस्थे कुर्याद्वसेत्तत्र न जातु कर्ता । पतन्ति स्वप्नानि च पृष्ठसंस्थे यत्नेन तस्मादिदमत्र चिन्त्यम्” इति । पुरःस्थितत्वं लग्नवशादिति केचिद्व्याचख्युः । यथा प्राङ्मुखे गृहे कर्तव्ये लग्नस्थश्चन्द्रः पुरःस्थितो भवति । दक्षिणमुखे तु गृहे वामगः । पश्चिममुखे तु पृष्ठगः । उत्तरमुखे तु दक्षिणगः । एवं दशमस्थश्चन्द्रो दक्षिणमुखे गृहे संमुखः । एवं सर्वास्वपि दिक्षु पृष्ठगत्यं संमुखत्वं च ध्येयम् ।

चिकीर्षितद्वारदिङ्मन्त्रे गृहारम्भो न कार्यो गृहारम्भनिर्णयश्च—

तत्रापि दक्षिणवामगत्यं चन्द्रस्य समीचीनमित्यर्थः । रत्नमालाटीकाकारो महावास्तुदिग्द्वारभक्रमेण संमुखदिश्यन्स्थिते व्याख्यत्—यथा गृहद्वारं यस्यां दिशि विवक्षितं तदिङ्मन्त्रेषु गृहारम्भो न कार्य इति ।

गृहारम्भो वामदक्षिणो चन्द्रे—

अर्थादिङ्मन्त्रवशेन वामदक्षिणो चन्द्रे गृहारम्भः सुखेन कार्यः । यदाह ब्रह्मशम्भुः—“भानावपि तथैव स्यादधिकं च तदन्तरे । धनलाभो मतिर्व्याधिरविनाशो विलोमतः” इति तदन्तरे विदिक्षु । विलोमतः—

दिग्द्वारनक्षत्रवशेन चन्द्रफलं वास्तुनक्षत्रफलं च—

ईशानवायव्यनैऋत्याग्नेयदिक्षु क्रमेण धनलाभो करणं व्याधिरविनाशः फलं स्यादित्यर्थः । इदं दिग्द्वारनक्षत्रवशेन चन्द्रफलं तुल्यन्यायत्वाद्वास्तुनक्षत्रेपि ध्येयम् । तदुक्तं ब्रह्मशंभुना—“गृहायलब्धऋतेषु यत्र ऋते च चन्द्रमाः । शलाकासप्तके ध्येयं कृत्तिकादिक्रमेण च ॥ वामदक्षिणभागे तु प्रशस्तं शान्तिकारकम् । अग्रे पृष्ठे न दातव्यं यदीच्छेच्छेय आत्मनः ॥ ऋते चन्द्रस्य वास्तोश्च त्वग्रे पृष्ठे न शस्यते” इति । अयमाशयः । कृत्तिकादिसप्तनक्षत्रे चन्द्रेषु अनुराधादिसप्तसु वा गृहनक्षत्रं च सति पूर्वद्वारं पश्चिमद्वारं वा न कार्यम् । तत्र चन्द्रः पृष्ठस्थितोऽग्रस्थितो वा भवति, एवं मघादिसप्तसु धनिष्ठादिसप्तसु वा गृहनक्षत्रे वा सति दक्षिणद्वारमुत्तरद्वारं वा न कार्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथैवमायं सफलमभिधाय व्ययकथनपुरःसरमंशकज्ञानं सफल-  
मुपजात्याह—

भं नागतष्टं व्यय ईरितोऽसौ  
ध्रुवादिनामाक्षरयुक्सर्पिण्डः ।  
तष्टो गुणैरिन्द्रकृतान्तभूपा  
ह्यंशा भवेयुर्न शुभोऽन्तकोऽत्र ॥ ७ ॥

भमिति । प्रागुक्तदिशा कल्पितं यद्गृहभं तन्नागैरष्टभिस्तष्टं भक्ता-  
वशिष्टं स व्यय ईरितः । यथा भं रोहिणी ४ । अयमेव व्ययः असौ  
व्ययः ध्रुवादिनामाक्षरयुक् । ध्रुवादीनां नामानि अधुनैव वक्ष्यति ।  
यत्संख्याकानि दिक्षु द्वाराणि चिकीर्षितानि तदनुरोधेन यदागतं  
ध्रुवादिगृहनाम तदक्षरसंख्यया युक्तः ततः सर्पिण्डः प्रागानीतपिण्डयुक्तः  
गुणैस्त्रिभिस्तष्टः भक्तावशिष्टः एकद्वित्रिशेषेण इन्द्रयमराजसंज्ञकाख-  
योशाः स्युः ।

अन्तकयमांशौ त्यक्त्वा इन्द्रराजांशयोगृहहारम्भः शुभः—

अत्र गृहहारम्भैतको यमाख्योऽंशको न शुभः । अर्थादिन्द्रराजानौ शुभ-  
फलदौ । यदाह श्रीपतिः—“धिष्ये विभक्ते वसुभिर्व्ययः स्याद्ब्रह्मायमूनव्य-  
यमालयं सत् । व्ययान्विते क्षेत्रफले गृहस्य ध्रुवादिनामाक्षरमिधिते च ॥  
त्रिभिर्विभक्ते क्रमशोऽंशकः स्यादिन्द्रो यमो भूपतिरन्तकोने” इति । वास्तु-  
शास्त्रेपि—“मूलराशौ व्यये क्षिते गृहनामाक्षरैः पुनः । युते हरेत्रिभिर्भागं  
यच्छेत्तं सौशको भवेत् ॥ इन्द्रो यमश्च राजा स्याद्यमांशो नैव शोभनः”  
इति । समूलराशिः क्षेत्रफलम् ॥ ७ ॥

अथ विवक्षितशालाध्रुवांकानयनं पथ्यावक्राख्येनानुष्टुभाह—

दिक्षु पूर्वादितः शाला ध्रुवा भूद्वौ कृता गजाः ।  
शालध्रुवाङ्गसंयोगः सौको वेश्मध्रुवादिकम् ॥ ८ ॥

दिक्ष्विति । पूर्वादितो दिक्षुप्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु इमे शालाः  
स्युः । यथा प्राच्यां द्वारे चिकीर्षिते शालाध्रुवांकः एकः, दक्षिणस्यां  
द्वौ, पश्चिमायां कृताश्चत्वारः उत्तरस्यां गजाः अष्टौ । अथ दिक्परत्वेन



यावन्ति द्वाराणि एकं द्वे, त्रीणि, चत्वारि वा चिकोर्षितानि तावतां शालाध्रुवांकानां संयोगः कार्यः । सैकः एकयुक्तः स तु ध्रुवादिकं वेश्म गृहं स्यात् ।

तत्रोपपत्तिः—

अत्रोपपत्तिर्नीलकण्ठगुरुचरणप्रसादतः उच्यते । यथाह नारदः—  
“गुरोरधो लघुं न्यस्य पुरस्तात्पूर्ववन्त्यसेत् । गुरुभिः पश्चिमं पूर्वं यावत्सर्वलघुर्भवेत्” । एतच्च सामान्यतो यस्मिन्कस्मिंश्चित्प्रस्तारे सम्भवति । तथापि गृहेपि विदिग्द्वारानौचित्यादिच्चेव द्वाराणां प्राशस्त्योक्तेः दिशां चतुष्टयत्वाच्चत्वार एव गुरवः स्थाप्या इति विधिः कार्यः । तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादादिगुरोरेवाधो लघुः स्थाप्यः । एवमग्रेऽपि ।

लघुगुरुस्वरूपे—

गुरुलघुस्वरूपं वृत्तरत्नाकरे—“असौ वक्रो गुरुर्ज्ञेयो ह्यन्यो वै मातृको लघुः” इति । असौ गुरुर्वक्रो लेख्यः ( ५ ) वा ( ९ ) अन्यो गुरुव्यतिरिक्तः लघुमातृकः एकमात्रः ऋजुः सरलः ( १ ) ऊर्ध्वदण्डाकृतिर्लेख्यः ।

शालाध्रुवानयनप्रस्तारः—

यथा चतुर्णां प्रस्तारः—अत्र दिशां चतुःक्रमेण लघुस्थानेनालिंदं गुरुमाश्रितं प्रदक्षिणैर्गृहद्वारालिंदैर्दशषड्विधा इति गृहभेदाः स्युरिति शेषः । अलिन्दं अलिंदशब्देन शालाभिधीयते । ब्राह्मे यागे मणिका जालकवृतांगणसम्मुखा क्रियते सा ज्ञेयेत्युत्पलः । प्रतिशालाख्यमिति महादेवः । ‘प्रघाणप्रघणालिंदा वहिर्द्वारप्रकोष्ठके’ इत्यमरः । तत्र गुरुचतुष्टयं प्रथमभेदस्य लघोरभावाद्दिग्द्वाराभावादूर्ध्वमुखं गृहं कोष्ठीसदृशं स्यात् । अन्येषु पञ्चदशसु भेदेषु लघुस्थानावस्थित्या तत्तद्दिक्षु द्वाराणि स्युः ।

शालाध्रुवानयनं प्रस्तारमन्तरा प्रकारान्तरेण—

तत्र ग्रन्थकृद्भिनापि प्रस्तारोक्तिं लाघवेन शालाध्रुवानानयति स्म । यथा एकस्मिन्नेव द्वारे चिकीर्षिते शालाध्रुवांकः १, एवं दक्षिणदिशि २, पश्चिमदिशि च ३, उत्तरदिशि च ४ प्रत्यक्षतो दृश्यते । तत्र द्वित्र्यादिद्वारज्ञानार्थमुपायः । यद्यदिक्षु द्वारेच्छा तत्तद्दिग्भवध्रुवयोगः





सामान्यात्तल्लक्षणमप्यनुसंधेयम् । विशेषलक्षणस्य सामान्यलक्ष-  
णाधीनत्वात् । निधने प्रान्ते । ध्रुवेत्यादि पद्यं स्पष्टार्थमेव  
तथापि विविच्यते । यथा—ध्रुवधान्ये जयनन्दाविति चेतरेतरयोग-  
द्वन्द्वः । ध्रुवमूर्ध्वमुखं प्रथमं, गृहं धान्यं पूर्वं द्वितीयं, जयं दक्षिण-  
द्वारं तृतीयं, नन्दं प्राग्दक्षिणद्वारं चतुर्थं, खरं पश्चिमद्वारं पञ्चमं,  
कांतं प्राक्प्रत्यग्द्वारं षष्ठं, मनोरमं दक्षिणपश्चिमद्वारं सप्तमं, सुमु-  
खं प्राग्दक्षिणपश्चिमद्वारमष्टमं, दुर्मखमुत्तरद्वारं नवमं, उग्रं पूर्वो-  
त्तरद्वारं दशमं, रिपुदं विपक्षाख्यं दक्षिणोत्तरद्वारमेकादशं, धनदं पूर्वद-  
क्षिणोत्तरद्वारं द्वादशं, पश्चिमोत्तरद्वारं नाशसंज्ञं त्रयोदशं, आक्रंदं पूर्व-  
पश्चिमोत्तरद्वारं चतुर्दशं, विपुलं दक्षिणपश्चिमोत्तरं द्वारं पञ्चदशं, विज-  
यं पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरद्वारं षोडशमिति । ननु ध्रुवाद्यक्षरसंख्याज्ञानं  
प्राक्पद्येनैवोक्तम् । तर्हि पुनर्ध्रुवादीनां नामग्रहणेन उच्यते । नाम-  
सदृशफलसूचनार्थं तदुपादानम् । अन्यथा द्वारानुरोधेन ध्रुवाद्यक्षर-  
संख्यायोगे उक्ते कीदृशानां गृहाणां विधिर्निषेधो वेति निश्चयो न भवे-  
त् । तस्माद्येषां शुभफलादीनि नामानि तेषां गृहाणां ग्रहणं येषां चाशुभं  
फलं तेषां त्यागो विधेय इति निष्कृष्टोर्थः । उक्तं च वसिष्ठेन—“ध्रुवसंज्ञं गृ-  
हं त्वाद्यं धनधान्यसुखप्रदम् । धान्यं धनप्रदं नृणां जयं स्याद्विजयप्र-  
दम् ॥ नन्दं स्त्रीहानिदं नूनं खरं संपद्विनाशनम् । पुत्रपौत्रप्रदं कान्तं श्रीप्रदं  
स्थान्मनोरमम् ॥ सुवक्रं भोगदं नूनं दुर्मुखं विमुखप्रदम् । सर्वदुःखप्रदं  
क्रूरं विपक्षं शत्रुभीतिदम् । धनदं धनदं गेहं क्षयं सर्वक्षयप्रदम् । आक्रंदं  
शोकजननं विपुलं श्रीयशःप्रदम् । विपुलं नामसदृशं धनदं विजया-  
भिधम् ॥ ” इति ॥ १० ॥

अथ केषांचिन्मतेन गृहस्यायादिनवकमुपजातिकापथ्यावक्राभ्यामाह—

पिण्डे नवाङ्काङ्गजाग्निनाग-

नागाब्धिनागैर्गुणिते क्रमेण ।

विभाजिते नागनगाङ्कसूर्य-

नागर्क्षतिथ्यृक्षभानुभिश्च ॥ ११ ॥

आयो वारोऽशको द्रव्यमृणमृक्षं तिथिर्युतिः ।

आयुश्चाथ गृहेशच्च गृहभैक्यं मृतिप्रदम् ॥ १२ ॥

पिण्डे इति । पिण्डे क्षेत्रफले नवधा स्थापिते क्रमेण नद्यादिभि-  
रंकैर्गुणिते क्रमेण च नागादिभिरंकैर्मक्ते सति यदवशिष्टं तदायादिकं  
स्यात् । यथा क्षेत्रफलं नवभिर्गुणितमष्टभिर्मक्तं शिष्टमायः स्यात् । तद्य-  
था पिण्डः २०३ नवभिर्गुणितः १८२७ अष्टमक्ते शेषं ३ सिंह आयो  
जातः । पुनर्नवभिर्गुणितं सप्तभिर्मक्तं शिष्टं वारः ७ । एवं सर्वेऽप्यानीताः ।  
अंशकः ३ द्रव्यं ४, ऋणं १, नक्षत्रं ४ रोहिणी तिथिः ४ चतुर्थी योगः २  
प्रीतिः आयुः ६४ । उक्तं च—“ गौकर्तृष्टगुणाष्टनागजलधिष्णालै-६ ।  
६ । ६ । ८ । ३ । ८ । ८ । ४ । ८ । हतं भूफलं नागाद्रथंकदिवाकरा-  
ष्टमतिथीयोगैः खसूर्यै-८ । ७ । ६ । १२ । ८ । २७ । १५ । २७ । १२० ।  
र्भजेत् । आयं वारमथांशकं धनमृणं तारां तिथिं चितयेद्योगं चायुरितिह-  
शेषकपदे भागैर्हृते तान्निकैः ” इति । वसिष्ठादिभिस्तु षडेते निर्दिष्टाः ।  
यदाह—“ विस्तारायामगुणितं गृहस्य पदमुच्यते । तस्माद्धनाधनायर्त्नं  
वासराख्यनवांशकाः ॥ गजराणां कवस्वंकञ्चतुभि— ८ । ३ । ६ । ८ । ६ ।  
६ गुणितात्पदात् । सूर्याष्टाष्टर्क्षशैलांक-१२ । ८ । ८ । २७ । ६ । विभक्ता-  
दवशिष्टकाः । संपूर्णाः शुभदास्त्वेते ह्यसंपूर्णास्त्वेति षडाः ” इति । पदं  
क्षेत्रफलम् । अधनमृणम् । अत्रोपपत्तिः । गुणकानां भाजकानां च आयः  
अष्टावेव, वाराः सप्तैव, अंशा नवैव, धनमृणम्, नक्षत्राणि सप्तविंशतिः,  
तिथयः पंचदश, योगाः सप्तविंशतिः, परमायुर्विंशत्यधिकशतम् ।

### आयादीनां फलानि—

एषामायादीनां प्रयोजनमुच्यते—आयस्य तावत्—“ विषमायः  
शुभायैव समायः शोकदुःखदः ” इति वसिष्ठोक्तेः । वाराणां च—“ सूर्या-  
रवारराश्यंशाः सदा वह्निभयप्रदाः । शेषग्रहाणां वारांशाः कर्तुरिष्टार्थसि-  
द्धिदाः ” इति । यथा गणितेनागतो भौमवारः सोऽपि निद्यः । तद्वाशी  
मेषवृश्चिकौ निद्यौ । एवमन्येष्वपि वारेषु नवांशाः नव “ गृहस्यागतमं  
यत्तु तद्द्विराश्यात्मकं यदि । तन्नवांशवशात्तत्र ज्ञातव्यं सर्वदा गृहम् ”  
इति । यथा कृत्तिका द्विराश्यात्मिका तत्रैकावशेषे मेषः, द्वयावशेषे वृ-  
षः, मृगोऽपि द्वयादिशेषे मिथुनम्, अन्यथा वृषः, पुनर्वसावर्ष्यशकत्रयं  
यावन्मिथुनम्, अन्यथा कर्कः, एवमुत्तराफाल्गुन्यादिषु द्विराश्यात्मके-  
षु हनीयं विद्वद्भिः, न तु निःसंदिग्धेष्वेकराश्यात्मकेषु अश्विन्यादिषु ।



धनर्णविचारो गृहारंभे—

धनर्णयोश्च—“धनादिकं गृहं वृद्धौ निर्धनाय ऋणाधिकम्” इति नक्षत्रस्य ।  
“विपत्प्रदा विपत्तारा प्रत्यरा प्रतिकूलदा । निधनाख्या तारका तु स-  
र्वथा निधनप्रदा । विवर्ज्यतारकास्वेतन्निर्माणमशुभप्रदम् ॥ कुर्वन्नज्ञानतो  
मोहाद्दुःखभोग्यादिभागभवेत्” अयमर्थः । गृहनक्षत्राद्दिनभं यत्संख्यं तन्न-  
वभक्तावशिष्टतारकाविपत्तारादिकाः स्युश्चेत्तदानिष्टास्तद्दिने इति गृहारं-  
भं न कुर्यात् । अन्यस्मिन्दिने शुभतारासु गृहारंभं कुर्यादित्यर्थः केचित् ।  
अपरे तु गृहकर्तुर्नामनक्षत्राद्गृहं गणयं नवभक्तमवशिष्टं विपत्तारादिकं  
स्यात् । तद्गृहमनिष्टमन्यथा शुभमिति । यदाह कश्यपः—“ दत्ते दुःखं  
तृतीयक्षं पंचमक्षं यशःक्षयम् । आयुःक्षयं सप्तमक्षं कर्तुर्भाद्यदि सप्तमम्”  
इति । वास्तुशास्त्रेपि—“ गृहभात्स्वामिभं गणयं भक्तं च नवभिः पुनः ।  
यक्छेषं सा भवेत्तारा सप्तपंचत्रिकाधमा ” इति ।

गृहेशगृहर्क्षयोरैक्ये शुभाशुभज्ञानोपायो गृहारंभे—

यदा तु गृहस्य चैकं नक्षत्रं स्यात्तदा तच्छुभमशुभं चेति निर्णयं स्व-  
यमेवाह—अथेति । गृहेशो गृहस्वामी तस्यर्क्षं नक्षत्रं प्रागुक्तप्रकारेण  
चानीतं भं गृहं तयोरैक्यं तयोरेकमेव भं स्यात्तदा तद्गृहकर्तुर्मृतिप्रदं  
मरणकरं स्यात् । यदाह त्रसिष्ठः—“गृहस्य तत्पतेस्त्वेकं धिष्ण्यं चेन्नि-  
धनप्रदम्” इति । निधनं मरणम् । राश्यैक्येऽयं दोषः न तु भिन्नराशि-  
त्वे । तद्वाक्यस्य विवाहप्रकरणोक्तत्वात् । कैश्चिदन्यदपि प्रयोजनमु-  
क्तम् । तदुक्तं व्यवहारसमुच्चये—“त्रिभिस्त्रिभिर्वैश्वानि कृत्तिकाद्यैरुक्छे-  
दपुत्राप्तिधनानि शोकम् । शत्रोर्भयं राजभयं च मृत्युः सुखं प्रवासश्च  
नव प्रमेदाः” इति ।

गृहर्क्षवशेन राशिज्ञानफलम्—

गृहभवशाद्राशिज्ञानेऽपि प्रयोजनमाह स एव—“ राशिकूटादिकं  
सर्वं दंपत्योरिव चिंतयेत् । नैःस्वं द्विर्दशे नूनं त्रिकोणे त्वनपत्यता ॥  
षष्ठाष्टके नैधनं स्याद्यत्यये मध्यमं स्मृतम् । परेषु शुभदं प्रोक्तं गेहं  
तत्कर्तृराशितः” इति । व्यत्यये द्वादश द्वितीय इत्यादिके ।

तत्र वर्णवश्यराशिकूटादयोप्यावश्यकः—

अन्ये राशि रूटप्रमेदा वर्णो वश्यमित्यादिका विवाहप्रकरणोक्ता ध्ये-  
याः । सर्वपदोपादानात् ।

तत्र राशिनिर्णयः—

राक्षसामरमर्त्या यत्र कृत्तिकादिषु द्विराशिषु भेषु राशिनिर्णयो वास्तुशास्त्रे—“अश्विन्यादि त्रयं मेघं सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम् । मूलादित्रितयं चापे शेषेषु नव राशयः ॥” इति शेषेषु भेषु रोहिण्यादिषु नव राशयो ज्ञेयाः । यथा रोहिणीमृगयोर्वृषः आर्द्रापुनर्वस्वोर्भिथुनं पुण्याश्लेषयोः कर्कः एवं हस्तादिके श्रवणाद्विके च कन्यामकराद्याः राशयः स्युरित्यर्थः । अयं च पक्षो वास्तुशास्त्रे नवांशानुक्तेरुक्तः ।

राशिकूटे नाडीवेधदोषाभावः—

अत्र राशिकूटे नाडीवेधो न दोषाय । उक्तं च ज्योतिर्विज्ञेयम्—“सेव्यसेवकयोश्चैव गृहतत्स्वामिनोरपि । परस्परं मित्रभावे एकनाडी प्रशस्यते” इति ।

तत्र तिथ्यानयनं तत्फलानि—

तिथिप्रयोजनं तिथ्यानयनप्रकारान्तरं च वास्तुशास्त्रे—“शक्राहतं क्षेत्रफलं त्रिशङ्कावशेषकम् । तिथिः प्रतिपदा ज्ञेया दर्श रिक्तां च वर्जयेत्” इति । तुल्यन्यायाच्छुभाशुभप्रकरणोक्तं दुष्टयोगवर्जं च योगानां प्रयोजनं स्पष्टमेव तावत्कालं गृहस्थितिरिति ।

तत्र क्षेत्रफलसाधनक्रमः—

यत्र हस्तादिगणनया क्षेत्रफले क्रियमाणे आयव्ययांशकादिषु शुद्धिर्नोपलभ्यते तत्राप्यंगुलादिकं निःक्षिप्य संशोध्य वा क्षेत्रफलं साध्यम् । यदाह भीमपराक्रमः—“करमानादिष्टगुणं नो चेत्तदाङ्गुलादि प्रदाय हित्वा वा । क्षेत्रफलं गणितेन प्रसाधयेदिष्टसिद्ध्यर्थम् ॥” इति । अङ्गुणमायव्ययादिगुणशून्यं यदि स्यात्तर्देष्टसिद्ध्यर्थमिष्टानामायांशकानां सिद्ध्यर्थं प्रक्षिपेत् । अत्र वृत्तादिक्षेत्रेषु क्षेत्रफलानयनं लीलावतीप्रभृतिषु ज्योतिर्ग्रन्थेषु द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ गृहारम्भे वृषवास्तुचक्रं शालिनीभ्यामाह—

गेहाधारम्भेऽर्कभाद्रत्सशीर्षे

रामैर्दाहो वेदभैरग्रपादे ।



शून्यं वेदैः पृष्ठपादे स्थिरत्वं  
 रामैः पृष्ठे श्रीयुगैर्दक्षकुक्षौ ॥ १३ ॥  
 लाभो रामैः पुच्छगैः स्वामिनाशो  
 वेदैर्नैः स्व्यं वामकुक्षौ मुखस्थैः ।  
 रामैः पीडा संततं चार्कधिष्ण्या-  
 दश्वै रुद्रैर्दिग्भिरुक्तं ह्यसत्सत् ॥ १४ ॥

गेहाधारम्मे इति । गेहं गृहमादिशब्देन प्रासादग्रामादि तदा-  
 रम्मे सति अर्कभात् सूर्याग्नान्तनक्षत्राद्रामैस्त्रिभिर्भैर्वत्सस्य वृषस्य  
 शीर्षे स्थितैर्दाहः फलं स्यात् । वेदमैश्चतुर्भिर्भैः अग्रपादे पुरःस्थित-  
 पादद्वये स्थितैः शून्यं जनवासशून्यं स्यात् । ततश्चतुर्भिर्भैः पृष्ठपादद्वये  
 स्थितैः स्थिरत्वं गृहकर्तुः । ततो रामभैः पृष्ठे स्थितैः श्रीः स्यात् ।  
 ततो वेदैश्चतुर्भिर्भैर्दक्षिणकुक्षौ स्थितैर्लाभः । ततस्त्रिभिः पुच्छगैः स्वामिनो  
 गृहकर्तुर्नाशः । ततो वेदैश्चतुर्भिर्भैर्वामकुक्षौ स्थितैः नैः स्व्यं दारिद्र्यम् । तत-  
 स्त्रिभिर्मुखस्थितैर्गृहकर्तुः पीडा संततमनवरतं स्यात् । उक्तं च ज्योतिः-  
 प्रकाशे—“वास्तुचक्रं प्रवक्ष्यामि यच्च व्यासेन भाषितम् । यद्वक्ष्ये  
 वर्तते भानुस्तत्रादौ त्रीणि मस्तके । चतुष्कमग्रपादे स्यात्पुनश्च-  
 त्वारि पश्चिमे । पृष्ठे च त्रीणि ऋक्षाणि कुक्षौ चत्वारि वामतः ॥  
 चत्वारि दक्षिणे कुक्षौ पुच्छे भयत्रमेव च । मुखे भयत्रमेव स्युरष्टा-  
 विंशतितारकाः ॥ शिरस्ताराग्निदाहाय गृहावासोऽग्रपादयोः । स्थैर्यं  
 स्यात्पश्चिमे पादे पृष्ठे चैव धनागमः ॥ कुक्षौ स्याद्दक्षिणे लाभो वाम-  
 कुक्षौ दरिद्रता । पुच्छे स्वामिविनाशः स्यान्मुखे पीडा निरन्तरम् ”  
 इति । पितामहानन्तचरणा अपि—“त्रिवेदवेदाग्नि्युगाग्निवेदत्रिकेषु  
 ३ । ४ । ४ । ३ । ४ । ३ । ४ । ३ । भानोः शशिमं गृहेषु ।  
 दाहो विनाशः स्थिरता धनं श्रीः शून्यं च दारिद्र्यवधौ क्रमेण ” इति ।  
 अथैतस्य चक्रस्य प्रकारान्तरेण निष्कृष्टमर्थमाह—वेति । अर्कधिष्ण्या-  
 दश्वैः सप्तभैरसत्फलं, रुद्रैरेकादशभिः सत्फलं ततो दिग्भिर्दशभैरसत्फ-  
 लमुक्तं स्यादिति निष्कृष्टार्थः । उक्तं च—“रविमात्सप्त नेष्टानि शु-  
 भान्येकादशाष्टमात् । दश शेषाण्यनिष्टानि सामिजिह्वषवास्तुनि ”

इति । पूर्वं सविस्तगोकिस्तु मूलवाक्यानुरोधात् ॥ १३ ॥ १४ ॥

अथ सौरचांद्रमासैक्येन प्राच्यादिदिक्षु द्वाराणि गृहनिर्माणनक्षत्राणि च सूतिकागृहनिर्माणप्रवेशमुद्धतौ स्रग्धराच्छन्दसाह—

कुम्भेऽर्के फाल्गुने प्रागपरमुखगृहं श्रावणो सिंहकर्कयोः  
पौषे नक्रे च याम्योत्तरमुखसदनं गोऽजगेऽर्के च राधे ।

मार्गे जूकालिगे सद्भ्रुवमृदुवरुणस्वातिवस्वर्कपुष्यैः

सूतीगेहं त्वदित्यां हरिभविधिभयोस्तत्र शस्तः प्रवेशः ॥ १५ ॥

कुम्भेर्क इति । कुम्भे कुम्भस्थिते सूर्ये फाल्गुने च मासि प्रागपरमुखं गृहं प्राङ्मुखं पश्चिममुखं च गृहं सत् शुभफलदं स्यादित्यर्थः । श्रावणो मासि सिंहकर्कसंक्रान्त्योः प्रागपरमुखं च गृहं स्यात् । पौषे मासे नक्रे मकरसंक्रांतौ च प्रागपरमुखं गेहं स्यात् । अथ गोऽजगे वृषमेषगे सूर्ये राधे वैशाखे मासे च तथा मार्गे मार्गशीर्षे मासि जूकालिगे तुलावृश्चिकगते सूर्ये सति याम्योत्तरमुखं सदनं दक्षिणमुखमुत्तरमुखं च सदनं स्यात् । यदाह नारदः—“गृहसंस्थापनं सूर्ये मेषस्थे शुभदं भवेत् । वृषस्थे धनवृद्धिः स्यान्मिथुने मरणं ध्रुवम् ॥ कर्कटे शुभदं प्रोक्तं सिंहे भृत्यविवर्धनम् । कन्यारोगं तुले सौख्यं वृश्चिके धनवर्धनम् । कार्मुके तु महाहानिर्मकरे स्याद्धनागमः । कुम्भे तु रत्नलाभः स्यान्मीने सन्न भयावहम्” इति ।

चान्द्रमासफलानि गृहारम्भे—

चान्द्रमासफलान्याह श्रीपतिः—“शोको धान्यं मृतिपशुहृतिर्द्रव्यवृद्धिर्विनाशो युद्धं भृत्यक्षतिरथ धनं श्रोत्रं वह्नेर्भयं च । लक्ष्मोप्राप्तिर्भवति भवनारम्भकर्तुः क्रमेण चैत्रादूचे मुनिरिति फलं वास्तुशास्त्रप्रदिष्टम्” इति ।

अन्यच्च—

“आषाढचैत्राश्वयुजोर्जमाघज्येष्ठेषु सप्तौष्ठपदेषु नूनम् । नि-  
केतनानां घटनं नृपाणां योगेश्वराचार्यमते न शस्तम्” इति । मते  
नेति पदच्छेदः ।



सौरचान्द्रमासोक्तफलविरोधपरिहारो गृहारम्भे—

अत्र सौराणां चान्द्रमासानां महान् शुभाशुभफलभेदेन विरोधः । अत्र चिकीर्षितगृहद्वारानुकूलरविसंक्रमसमीचीनविहितमासेष्वेव वैशाखादिषु गृहारम्भः कार्य इति विरोधाभाव इति पितृचरणाः ।

तत्र द्वारनियमाः—

तत्र द्वारनियममाह श्रीपतिः—“कर्किनक्रहरिकुम्भगतेर्के पूर्वपश्चिममुखानि गृहाणि । तौलिमेषवृषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुखानि च कुर्यात् ॥ अन्यथा यदि करोति दुर्मतिर्व्याधिशोकधननाशमश्नुते । मीनचापमिथुनांगनागते कारयेत्तु गृहमेव भास्करे” इति । कर्कसहिते श्रावणे मासि तादृशमेव गृहम् । उक्ताद्धेतोः । एवं मकरार्कसहिते पौषे मासे । अनेनैव हेतुना दक्षिणोत्तरमुखं गृहं मे षवृषार्कसहिते वैशाखे स्यात् । तुलावृश्चिकार्कसहिते मार्गशीर्षमासे तथैव गृहं स्यादित्यर्थः ।

तृणादिगृहे सौरचान्द्रमासनियमो न—

अत्र सौराणां चान्द्राणां च मासानां निषेधस्तृणादिनिर्मेयगृहाधारम्भे नैव भवति । यदुक्तं व्यवहारसमुच्चये—“निषिद्धेष्वपि ऋक्षेषु स्वानुकूले शुभे दिने । तृणदारुगृहारम्भे मासदोषो न विद्यते ॥” इति । जगन्मोहनेऽपि—“पाषाणेषुद्यादिगोहादि निर्द्यमासे न कारयेत् । तृणदारुगृहारंभे मासदोषो न विद्यते” । अत्र केचिदनियतदिग्गृहारंभे सर्वदा कालदोषो न प्रवर्तत इत्याहुः । तत्र वचनाभावात् । किं च ‘दिङ्मूढे कुलनाशः त्यात्’ इत्यनियतदिग्गृहस्य विचारकोटिसन्निवेशाभावात् ।

गृहनिर्माणे—

अथ गृहनिर्माणे नक्षत्राण्याह-ध्रुवेति । ध्रुवाणि मृदूनि च प्रसिद्धानि, वरुणः शतभं, स्वाती प्रसिद्धा, वसुः धनिष्ठा, अर्को हस्तः, पुष्यश्च एषु भेषु गृहनिर्माणं सत् शुभफलदम् । यदाह गर्गः—“त्र्युत्तरेपि च रोहिण्यां पुष्ये मैत्रे करद्वये । धनिष्ठाद्वितये पौष्णे गृहारंभः प्रशस्यते” । अत्र वाक्ये मृगानभिधानेपि तदुक्तिर्महेश्वरवाक्यालोचनेन—“प्रारम्भो भवनस्य वारुणमृदुस्वात्यर्कपुष्यध्रुवैर्वस्वृक्षेण युतैः” इति ।

सूतिकागृहनिर्माणे विशेषः—

सूतिकागृहनिर्माणे विशेषमाह—सूतीगेहमिति । अदित्यां पुनर्वसौ सूतिकागृहनिर्माणं शस्तम् । शस्त इति वक्ष्यमाणस्यात्र नपुंसकत्वेन संवन्धात् । तत्रेति । तत्र सूतिकागृहे हरिभविधिभयोः श्रवणाभिजितोर्नक्षत्रयोः प्रवेशः शस्तः । उक्तं च श्रीपतिना—“पुनर्वसौ च सूतिकागृहस्य निर्मितिः शुभा । विरिञ्चिविष्णुभांतरे प्रवेशनं हितं भवेत्” इति । केचित्तु विरिञ्चिः रोहिणी, विष्णुभं श्रवणः, तयोरन्तरे मध्यवर्तिनि नक्षत्रसमुदाये इत्याहुः; तन्न । असंदेहार्थं विरिञ्चिमादिभूतेषु इत्येवं ब्रूयात् । तस्माद्विरिञ्चिरभिजिन्नक्षत्रमन्तरे मध्ये विरिञ्चिविष्णुतारयोरित्येव सप्तमीव्यधिकरणत्वबोधिते अंतरपदोक्तिः स्पष्टार्था । तदेतद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तवर्णत्रयसाधारणम् । यदाह लल्लः—“पुनर्वसौ नृपादीनां कर्तव्यं सूतिकागृहम् । श्रवणाभिजितोर्मध्ये प्रवेशं तत्र कायेत्” इति । आवश्यकत्वं तु श्रवणाभिजितोर्मुहूर्तस्तदुदयो वा ग्राह्य इत्यर्थः । ब्राह्मणस्य तु प्रागुक्तनक्षत्रेष्वेव सूतिकागृहनिर्माणप्रवेशौ ।

सूतिकागृहस्थानम्—

तत्र सूतिकागृहं नैऋत्यां कार्यम् । यदाह वृद्धवसिष्ठः—“पेंद्रयां तु विक्रमस्थानमाग्नेय्यां पचनालयः । वारुण्यां भोजनगृहं नैऋत्यां सूतिकागृहम् ॥ याम्यायां शयनस्थानं वायव्यां पशुमंदिरम् । कौबेर्यां तु धनस्थानमैशान्यां देवतालयः” इति । स्मृतिभास्करो गगर्गः—“वारुणुकूले राशौ तु दिने दोषविवर्जिते । सानुकूलदिशि प्रोक्तं सूतिकाभवनं बुधैः” इति ।

कालनियमः सूतिकागृहनिर्माणे—

कालनियम उक्तो रत्नकोशे—“आसन्नप्रसवे मासि कुर्याच्चैव विशेषतः । तद्वत्प्रसवकाले स्यादिति शास्त्रेषु निश्चयः” इति ।

तत्र नक्षत्राणि—

वराहेणात्रानेकनक्षत्राभिधानं कृतम् । यथा—“हस्तादित्यशशांक-तिष्यपवनप्राज्येशमित्रोत्तराश्रित्राश्विभ्रवणेषु वृश्चिकघटौ हित्वा विरिक्तं तिथौ । शुक्राचार्यशनैश्चरश्शशिनां वारेनुकूले विधौ सद्भिर्वैश्वमिनि



सूतिकागृहविधिः क्षेमंकरः कीर्त्यते” इति । वेश्मनि चतुर्थस्थाने । सद्भिः शुभप्रहैः ।

सूतिकागृहप्रवेशे कालनियमः—

सूतिकागृहप्रवेशे कालविशेषमाह ज्योतिस्सारे वसिष्ठः—“अथातः संप्रवक्ष्यामि सूतिकागारवेशनम् । मासे तु नवमे प्राप्ते पूर्वपक्षे शुभे दिने ॥ प्रसूतिसंभवे काले सद्य एव प्रवेशयेत् ” इति । पूर्वपक्षे शुक्लपक्षे । नक्षत्रादीन्याह गर्गः—“रौहिण्यैद्वपौष्णेषु स्वातीवारुणयोरपि । पुष्ये पुनर्वसौ हस्तधनिष्ठाज्युत्तरासु च” इति । “मैत्रत्वाष्ट्रे तथाश्विन्यां सूतिकागारवेशनम् । सर्वे शुभप्रहाः केंद्रे पापाश्च त्रिविडायगाः ॥ शुभांशे शुभसंक्षौ सूतिकागारवेशनम् ” इति ॥ १५ ॥

अथ प्रागभिहितानां सौराणां चांद्राणां मासानां प्रकारान्तरेणैकवाक्यतां शार्दूलविक्रीडितेनाह—

कैश्चिन्मेषरवौ मघौ वृषभगे ज्येष्ठे शुचौ कर्कटे

भाद्रे सिंहगते धटेऽश्वयुजि चोर्जेऽलौ मृगे पौषके ।

माघे नक्रघटे शुभं निगदितं गेहं तथोर्जे न सत्

कन्यायां च तथा धनुष्यपि न सत्कृष्णादिमासाद्भवेत् १६

कैश्चिदिति । पूर्वदिग्द्वारवशेनैकवाक्यता उक्ता । इदानीमेतादृशमुच्यते । मेषसंस्थे रवौ मघौ चैत्रे मासि गेहप्रारम्भं शुभं स्यात् । तथा वृषस्थे सूर्ये ज्येष्ठे मासे, कर्कस्थेर्के शुचोवाषाढे सिंहगतेऽर्के भाद्रपदे मासि धटे तुलास्थे रवौ आश्वयुजि आश्विनमासे, अलौ वृश्चिकगेर्के ऊर्जे कार्तिके मासे, मृगे मकरस्थेर्के पौषे मासे नक्रघटे मकरकुंभस्थेर्के माघे मासि प्रारब्धं गृहं शुभं स्यादित्यर्थः । इति कैश्चिन्निगदितम् ।

विरुद्धसौरचान्द्रमासगृहप्रारम्भफलेषु विरोधपरिहारः—

अस्यायमाशयः । ‘मीनचाप’ इत्यादिना द्विस्वभावराशयो निषिद्धाः शोको धान्यम् इत्यादिना च कियंतश्चांद्रा अपि मासा निषिद्धाः अतो न्ये सौराश्चान्द्रा वा विहिताः । तेषामयमेव एकवाक्यताप्रकारः—मेषस्थे रवौ चैत्रेपि गृहं शुभम् । यस्तु चैत्रो निषिद्धः स मीनार्क-

विषयः । वृषभस्थे रवौ ज्येष्ठेऽपि शुभम् । वैशाखस्तु विहित एवा-  
स्ति, ज्येष्ठो निषिद्धः स मिथुनार्कविषयः । कर्कटस्थे सूर्ये आ-  
षाढेऽपि शुभम् । आषाढनिषेधस्तु मिथुनार्कविषयः । सिंहगते  
सूर्ये भाद्रपदेऽपि शुभम् । श्रावणधेत्तत्र स्यात्स विहितत्वादेव शुभः ।  
यस्तु भाद्रपदनिषेधः स कन्यार्कविषयः । तुलागते सूर्ये आश्विने  
ऽपि शुभम् । यस्त्वस्य निषेधः स कन्यार्कपरः । वृश्चिकस्थे सूर्ये कार्ति-  
केऽपि शुभं स्यात् । निषेधविषयं स्वयमेव वक्ष्यति । मार्गशीर्षो विहित  
एव । मकरस्थे सूर्ये पौषे शुभम् । धनुरर्कस्य राहित्ये सोप्यशु-  
भः । मकरकुम्भस्थे सूर्ये माघेऽपि शुभम् । निषेधस्तु धनुरर्कवि-  
षयः । अत एव—“पौषफाल्गुनवैशाखमाघश्रावणकार्तिकाः । मासाः  
स्युर्गृहनिर्माणे पुत्रारोग्यशुभप्रदाः ” इति नारदवाक्यम् । “मासे तप-  
स्ये तपसि माघवे नभसि त्विषे । ऊर्जे च गृहनिर्माणं पुत्रपौत्रधनप्रदम् ”  
इति । वसिष्ठवाक्यं च आश्विनकार्तिकमासानां शुभत्वप्रतिपादकं तुला-  
वृश्चिकमकरकुम्भार्कराहित्यप्राशस्त्यपरम् । वचनान्तरबोधितो निषे-  
धः प्रागुक्तविषय एव । फाल्गुनस्य शुभत्वं कुम्भार्कविषयं मीना-  
र्कराहित्ये तु निषिद्धम् । ननु कार्तिकमाघमासौ श्रोपतिना निषिद्धौ  
तयोः को विषय इत्यत्र आह—तथंति । ऊर्जः कार्तिको मासः कन्या-  
यां कन्यागते रवौ न सत् न शुभः । च पुनः तपा माघमासो धनु-  
षि धनुरर्के न सत् । अपिः पादपूरणो । नन्वेतदयुक्तं प्रतिभाति ।  
यतश्चाद्रमासेन चैत्रादिमाससंज्ञाः सन्ति । तत्र कार्तिके मासि क-  
न्यासंक्रान्तिः माघे मासि धनुरर्कश्च कदापि न सम्भवेदतः कार्तिक-  
स्य माघमासस्य शुक्लप्रतिपदादित्रिंशत्तिययः यावत्तावत्संज्ञेत्यत आह-  
कृष्णादिमासादिति । अस्ति द्विविधो मासः—शुक्लादिः कृष्णादिश्चेति । त-  
त्र शुक्लप्रतिपदमारभ्यामावास्यापर्यन्तं शुक्लादिः । कृष्णपक्षप्रतिपद-  
मारभ्य पूर्णिमांतं कृष्णादिः । यथा चैत्रशुक्लपक्षे मतद्वयेऽपि स एव  
चैत्रपौर्णमास्यनन्तरं कृष्णपक्षे चैत्रमास एव । एवं चान्द्रमासो भवति ।  
एवं कृष्णपक्षो यदि वैशाखकृष्णपक्षत्वेन व्यवहियते तदनन्तरं भाविशु-  
क्लपक्षो वैशाखशुक्लः सर्ववादिसिद्धः, तदा कृष्णादिर्मासः सम्भवति ।  
उभयथा हि शास्त्रे व्यवहारः । “अश्वयुक्कृष्णपक्षे तु श्राद्धं कुर्या-  
द्दिने दिने ” इति । “अष्टमी कृष्णपक्षस्य रोहिणी ऋक्षसंज्ञिता ।  
भवेत्प्रौष्ठपदे मासि जयन्ती नाम सा स्मृता ” इति । अत्र यदि दर्शा-



तो मासो विवक्ष्यते तदा भाद्रपदकृष्णपक्षे श्रावणे मासि चेत्येवं ब्रूया-  
त् । तदेतन्मासस्य कृष्णादित्वे प्रमाणम् । “अत ऊर्ध्वममी युक्ता गत  
कालाब्दसंख्यया । मासीकृता युता मासैर्मधुशुक्लादिभिर्गतैः” (१) इत्या-  
दीनि बहुवाक्यानि शुक्लादित्वे प्रमाणम् । तत्राश्विनपूर्णिमातः कार्ति-  
कशुक्लपूर्णिमांतं कृष्णादित्वे कार्तिकव्यवहारात् । कन्यासंक्रान्तिसम्भ-  
वात् निषेध उपपन्नो भवति । एवमेव माघमासि धनुरर्कसम्भवे तन्नि-  
षेधस्य सार्थक्यमित्यलमियता ॥ १६ ॥

अथ तिथिपरत्वेन द्वारनिषेधमुपजातिकयाह—

पूर्णेन्दुतः प्राग्वदनं नवम्या-

दिषूत्तरास्यं त्वथ पश्चिमास्यम् ।

दर्शादितः शुक्लदले नवम्या-

दौ दक्षिणास्यं न शुभं वदन्ति ॥ १७ ॥

पूर्णेन्दुत इति । पूर्णेन्दुतः पूर्णिमातः कृष्णाष्टमीपर्यंतं प्राङ्मुखं गृहं  
शुभं न वदन्ति । कृष्णनवमीतश्चतुर्दशीपर्यंतं क्रियमाणं गृहमुत्तरास्यं  
न शुभम् । दर्शादितः शुक्लाष्टमीपर्यंतं पश्चिमास्यं गृहं न शुभम् । शुक्ल-  
नवमीतश्चतुर्दशीपर्यंतं दक्षिणास्यं गृहं न शुभं वदन्ति । तासु तिथिषु  
तत्तदिङ्मुखं गृहं न कर्तव्यमिति वाक्यार्थः फलितः । यदुक्तं व्य-  
वहारसमुच्चये—“पूर्णिमातोऽष्टमीं यावत्पूर्वास्यं वर्जयेद्गृहम् । उत्तरास्यं  
न कुर्वीत नवम्यादिचतुर्दशीम् ॥ अमावास्याष्टमीं यावत्पश्चिमास्यं  
विवर्जयेत् । नवम्यादौ दक्षिणास्यं यावच्छुक्लचतुर्दशीम् ॥” इति ।

सफला विहितनिषिद्धतिथयः—

विहिततिथयोपि तत्रैवोक्ताः—“द्वितीयापञ्चमीमुख्यास्तृतीया षष्ठी-  
का तथा । सप्तमी दशमी चैव द्वादश्येकादशी तथा ॥ त्रयोदशी  
पञ्चदशीतिथयः स्युः शुभावहाः । दारिद्र्यं प्रतिपत्कुर्याच्चतुर्थी धन-  
हारिणी ॥ अष्टम्युच्चाटनं चैव नवमी शस्त्रघातिनी । दर्शं राजभयं  
ज्ञेयं भूते दारविनाशनम् ॥” इति । पक्षफलं च तत्रैव—“शुक्लपक्षे म-

वेत्सौख्यं कृणो तस्करतो भयम् ॥” इति ।

मार्गतरुस्तंभभ्रमपंकब्रह्मादिद्वारवेधफलानि—

अत्र प्रसङ्गाद्द्वारवेधफलानि लिख्यन्ते । तत्र घराहः—“मार्गतरु-  
कोणकूपस्तंभभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम् । उच्छ्वायाद्द्विगुणितां भूमिं  
त्यक्त्वा न दोषाय” इति । भ्रमो जलनिर्गमप्रदेशः प्रणालिकेत्यर्थः ।  
विद्धं सम्मुखावस्थितम् । अत्रोच्छ्वायो द्वारस्य गृह्यते । तथा  
च गर्गः—“द्वारोच्छ्वायाद्द्विगुणितां भूमिं त्यक्त्वा वहिः स्थिताः ।  
न दोषाय भवन्त्येव ॥” इति । “रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं  
तरुणा । पंकद्वारे शोको व्ययोम्बुनिस्त्राविणि प्रोक्तः ॥ कूपेनाप-  
स्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे ” । “क्रमेण खीदोषः कुलाना-  
शो ब्रह्मणोभिमुखे भवति ” । पंकविद्धं द्वारं पंकद्वारं यस्य द्वारस्या-  
ग्रतो निरन्तरं पंकस्तिष्ठति । देवताः सुरप्रतिमाः । नाशः स्वामिन-  
पव । ब्रह्मवेध एकाशीतिपदचक्रस्थितब्रह्मवेधो गृह्यते । यदाह विश्व-  
कर्मा—“गृहमध्ये कृतं द्वारं द्रव्यधान्यविनाशनम् ॥” इति ।

द्वारस्थाननियमाः—

विशेषमाह भरद्वाजः—“शिरामर्माणि वंशश्च नालं मध्यं न सर्वशः ।  
विहाय वास्तुमध्यं च द्वाराणि विनिवेशयेत् ॥” इति । वा-  
स्तुमध्यं ब्रह्मस्थानम् । तत्र द्वारं चेन्निधनप्रदमिति वसि-  
ष्ठोक्तेश्च ।

देवालयविहारप्रपामण्डपप्रतोल्यादौ नोक्तनियमो द्वारस्थाने—

अस्यापवादमाह विश्वकर्मा—“देवागारे विहारे च प्रपायां मण्डपेषु  
च । प्रतोल्ये च मध्ये वास्तुमध्ये द्वारं निवेशयेत् ” इति । वास्तु-  
मध्यं ब्रह्मस्थानम् । देवालयादिस्थानेषु कृतस्य गृहान्तर्गतद्वारस्य ब्रह्म-  
णो न वेध इति निष्कृष्टोऽर्थः ।

एकाशीतिपदचक्रस्यात्रानुक्तौ हेतुः—

अत्रैकाशीतिपदचक्रं च मासान्यविशेषभावपुरःसरं ग्रन्थसंदर्भेण  
घराह संहितायामप्युक्तं नोक्तम् । एतस्मिंश्चक्रे मुहूर्तविरोधप्रसङ्गात् ।  
केचित्तु प्रयोजनाभावात्नोक्तमित्याहुः, तन्न । तत्र हि वास्तुनरस्य शि-  
रामर्मवंशादिदुष्टस्थानानामशुभफलदानां त्यागोक्त्या प्रयोजनस्य स-



रगात् । तथा तस्यैव शुभफलदानां अन्येषां बाह्यादिस्थानानां ग्राह्यत्वोक्त्या च वसिष्ठऋषिसंहितासु वास्तुशांत्यर्थमेव तस्याभिधानमित्यतोत्रानुक्तिः ॥ १७ ॥

अथ गृहारम्भे पञ्चाङ्गशुद्धिं चानुष्ठुमाह—

भौमार्करिक्तामायूने चरोने च त्रिपञ्चकः ।

व्यष्टान्त्यस्यैः शुभैर्गेहारम्भस्याधारिगैः खलैः ॥ १८ ॥

भौमार्केति । भौमार्को वारौ रिक्ताश्च प्रसिद्धाः । अमा अमावास्या । आदिः प्रतिपत् । उपलक्षणत्वादष्टम्यपि । एतैः ऋते काले तथा पञ्चकं धनिष्ठोत्तरार्धाधिका पञ्चनक्षत्री पञ्चकमित्युच्यते । पञ्चकशब्दात् संधार्थे “संख्यायाः संज्ञासंसूत्राध्ययनेषु” इति कप्रत्ययः । विगतं पञ्चकं यस्मिन्नेवंविधे च काले सति । चरोने चरराशिभिः मेषकर्कतुलामकरैरुनेङ्गे लग्ने स्थिरे द्विस्वभावे च गृहारम्भः कार्यः । तदुक्तं व्यवहारसमुच्चये—“द्वितीयापञ्चम्य” इति । पूर्वमन्यास्तिथयोऽर्थाक्षिपिद्धाः । तदप्युक्तं तत्रैव—“दारिद्र्यं प्रतिपत्कुर्यात्” इत्यादि । वास्तुशास्त्रेपि—“चरलग्ने चरांशे वा रिक्तामारार्कवासरे । अङ्गाष्टान्त्यारिगे चन्द्रे रन्ध्रे पापे क्षयः प्रभोः ॥” इति । नन्वत्र धनिष्ठापञ्चकदोषोऽनुपपन्नः । नक्षत्रप्रकरणोक्तधनिष्ठादियञ्चकनिषेधेन गतार्थत्वाच्च पुनरुक्तमिति । यतो गृहगोपनमिति पूर्वमुक्तम् । तत्र गृहस्य तृणकाष्ठादिभिराच्छादनं गोपनम् । तद्धि सिद्धस्य गृहस्य सम्भवात् । गेहारम्भस्तु प्राग्भवनरूपः । स त्वसिद्धस्यैवेति । ननु—“ध्रुवमृदुचरभस्वातिवस्वर्कपुष्यैः” इति गृहारम्भे नक्षत्रेषु धनिष्ठाशततारकोत्तराभाद्रपदारेवतीनां विहितत्वेनैकस्या एव भाद्रपदाया निषेधोक्तौ कर्तव्यायां सत्यां पुनः पञ्चकनिषेधानुपपत्तिः । सत्यम् । स्तम्भोच्छ्रायविषयकोयं निषेधः । यदाह मांडव्यः—“धनिष्ठापञ्चके नैव कुर्यात्स्तम्भसमुच्छ्रायम् । सूत्राधारशिलान्यासप्राकारादि समारभेत् ॥” इति । प्राकारो देवालयम् ।

गृहारम्भे गृहलगाद् ग्रहाणां स्थानविशेषस्थितिः शुभदा—

अन्ये पुनरेवमाहुः । विवाहप्रकरणोक्तानि पञ्चकानि रोगाग्निराजचोरमृत्युसंज्ञानि तैः रहितेगे लग्ने पञ्चकरहिते लग्ने इत्यर्थः । उक्तं च गणेशदैवज्ञैः—“मृत्युकेन्द्रखलगंगे वर्जिते पञ्चकैः” इति । नात्रोर्व-

वाक्यं प्रमाणमस्ति । व्यष्टान्त्येति । अष्टमस्थानद्वादशस्थानव्यति-  
रिक्तस्थानस्थैः शुभैः खलैः पापैस्तृतीयैकादशषष्ठस्थानस्थैश्चोपलक्षिते  
लग्ने सति गृहारंभः कार्यः । उक्तं च श्रोतृना—“पापैस्त्रिषष्टायगतै-  
स्त्रिकोणकेन्द्राश्रितैः साधुभिरालयस्य । वदन्ति निर्माणमिहाष्टमस्थः  
कूरस्तु कर्तुर्मरणं करोति ॥” इति ।

गृहारंभे शुभलगादयः—

अन्यदपि उक्तं तेनैव—“द्वयंगे स्थिरे वा भवने विलगने सौम्यग्रहै-  
र्युक्तनिरीक्षिते वा । कमस्थितैर्गौर्ययुतैश्च सौम्यैर्निर्माणमाहुर्भवनस्य संतः ॥  
शुद्धकेन्द्रनिधनस्थिरोदये सौम्यवर्गमनुजोद्धमेऽपि च । सन्निवेश उदितो  
हि वास्तुनः सूरिभिर्न तु चरोदये कचित्” ॥ १८ ॥

|                  | पेशान्याम्                                     | वायव्याम्                                    | नैऋत्याम्                                      | अग्नेय्याम्                                  |
|------------------|------------------------------------------------|----------------------------------------------|------------------------------------------------|----------------------------------------------|
| देवाल-<br>यारंभः | मीनमेषवृष-<br>स्थिते सूर्ये<br>राहुमुखम्       | मिथुनकर्कसि-<br>हस्थे सूर्ये रा-<br>हुमुखम्  | कन्यातुलावृ-<br>श्चिकस्थे सूर्ये<br>राहुमुखम्  | धनुर्मकरकुंभ-<br>स्थिते सूर्ये<br>राहुमुखम्  |
| गृहारंभः         | सिंहकन्यातु-<br>लास्थिते सू-<br>र्ये राहुमुखम् | वृश्चिकधनुर्म-<br>करस्थे सूर्ये<br>राहुमुखम् | कुंभमीनमेष-<br>स्थिते सूर्ये<br>राहुमुखम्      | वृषमिथुनक-<br>र्कस्थे सूर्ये<br>राहुमुखम्    |
| जलाश-<br>यारंभः  | मकरकुंभमी-<br>नस्थिते सूर्ये<br>राहुमुखम्      | मेषवृषभमि-<br>थुनस्थे सूर्ये<br>राहुमुखम्    | कर्कसिंहक-<br>न्यास्थिते सू-<br>र्ये राहुमुखम् | तुलावृश्चिक-<br>धनुःस्थे सूर्ये<br>राहुमुखम् |

अथ देवालये गृहारंभे जलाशये च विदिगवस्थितं राहुमुखं स-  
फलमिन्द्रवंशाच्छन्दसाह—

देवालये गेहविधौ जलाशये

राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः ।

मीनार्कसिंहार्कमृगार्कतस्त्रिभे

खाते मुखात्पृष्ठविदिक्छुभा भवेत् ॥ १९ ॥

देवालयइति । अत्र यथासंख्यं सम्बन्धः । देवालयप्रारंभे राहो-



मुखं मीनार्कतस्त्रिराश्यवस्थिते सूर्ये पेशानीतो विलोमतो विपरीतं विदिक्षु वायव्यादिषु राहोर्मुखं स्यात् । यथा मीनमेषवृषराश्यवस्थिते सूर्ये राहोर्मुखमैशान्याम् । मिथुनकर्कसिंहराश्यवस्थिते सूर्ये वायव्यां राहुमुखम् । कन्यातुलावृश्चिकस्थे सूर्ये नैऋत्यां राहुमुखम् । धनुर्मकरकुम्भराश्यवस्थिते सूर्ये आग्नेय्यां राहोर्मुखमित्यर्थः ।

राहुमुखं गृहारम्भे—

एवं गृहारम्भेऽपि सिंहार्कतस्त्रिराश्यवस्थितेऽर्के विलोमत पेशान्यां राहुमुखम्, वृश्चिकादित्रये वायव्याम्, कुंभादित्रये नैऋत्याम्, वृषादित्रये आग्नेय्यां राहुमुखं स्यात् ।

जलाशयारम्भेऽपि मकरार्कतस्त्रिराश्यवस्थितेऽर्के विलोमत पेशान्यां राहुमुखं स्यात् । मेषादितः त्रिभिर्वायव्याम् । कर्कादितस्त्रिभिर्नैऋत्याम् । तुलादितस्त्रिभिराग्नेय्यां राहुमुखं स्यादित्यर्थः ।

राहुमुखज्ञानफलानि—

फलमाह—खात इति । देवालयविषयके खाते भूमिशोधने कर्तव्ये सति राहुमुखाक्रान्तदिशः सकाशात्पृष्ठवर्तिनी दिक्शुभा भवेत् । यथा देवालयविषये मीनादित्रिराशिस्थितसूर्यत्वेन पेशान्यां राहुमुखम् । तत्पृष्ठविदिगाग्नेयी । तस्यां प्रथमखातप्रारम्भः शुभफलद इत्यर्थः । इति राहुमुखचक्रम् ।

खातारम्भदिङ्निर्णयः—

मिथुनादिराशित्रयस्थे सूर्ये राहुमुखं वायव्याम्, तत्पृष्ठविदिगैशानी, तस्यां खातारम्भः शुभः । एवं सर्वत्र । तथैव गृहविधावपि राहुमुखं कस्यां दिश्यस्तीत्यवधार्य तत्पृष्ठविदिशि खातं शुभफलदं कार्यमित्यर्थः । यतः सर्पेण विदिग्व्याप्ता यथा पेशान्यां मुखं, वायव्यामुदरं, नैऋत्यां पुच्छम् । अतः खाते आग्नेयी सम्यक् । एवमन्यत्राप्यूहनीम् । यदाह विश्वकर्मा—“ईशानतः सर्पति कालसर्पो विहाय सृष्टिं गणयेद्विदिक्षुः शेषस्य वास्तोर्मुखमध्यपुच्छं त्रयं परित्यज्य खनेच्चतुर्थम्” इति ज्योतिश्चिन्तामणौ—“वृषार्कादित्रिकं त्रेधां सिंहादिगणयेद्गृहे । देवालये च मीनादि तडागे मकरादिकम्” इति ।

वास्तुपुरुषो गृहारम्भे—

वसिष्ठस्तु गृहारम्भे वास्तुनरमाह—“त्रिषु त्रिषु च मासेषु नभ-

स्यादिषु च क्रमात् । यदिङ्मुखो वास्तुनरस्तन्मुखं सदनं शुभम् ॥  
अन्यदिङ्मुखगेहं तद्दुःखशोकभयप्रदम्” इति । “चतुर्दिशादिशालायामेष  
दोषो न विद्यते” इति । नभस्यादिसंग्रहः सिंहाद्यर्कसंक्रमोपलक्षणेन  
गेहवास्तुविदिशि खननार्थः । नरवास्तुस्तु गृहस्य तत्तदिङ्मुखार्थः ।

खातारम्भादिनक्षत्राणि—

तत्र खातारम्भादिनक्षत्राण्यह मांडव्यः—“अधोमुखैः(१)भैर्विदधीत  
खातं शिलास्तथा चोर्ध्वमुखैश्च पट्टम् । तिर्यङ्मुखैर्द्वारकपाटयानं गृहप्र-  
वेशो मृदुभिर्भुवक्षैः ॥” इति । खातं भूमिशोधनम् ॥ १६ ॥

अथ गृहकूपादिनिर्माणदिगवस्थित्या फलं शालिनीछंदसाह—

कूपे वास्तोर्मध्यदेशेऽर्थनाश-

स्त्वैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्यवृद्धिः ।

सूनोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृत्तिश्च

सम्पत्पीडा शत्रुतः स्याच्च सौख्यम् ॥ २० ॥

कूपे इति । “वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्” इति वास्तुशब्दः पुंलिङ्गेऽपि ।  
वास्तोर्गृहस्य मध्यदेशे मध्यभागे जलकूपे कृते सति स्वामिनोऽर्थनाशः  
स्यात् । अथैशान्यादिषु सृष्टिमार्गेणाष्टसु दिक्षु पुष्टिरित्यादि फलम् ।  
यथा ऐशान्यां कूपे पुष्टिः, पूर्वस्यां कूपे ऐश्वर्यवृद्धिः, आग्नेय्यां कूपे  
पुत्रनाशः, दक्षिणस्यां कूपे स्त्रीविनाशः, नैऋत्यां कूपे गृहकर्तुर्मृतिः,  
पश्चिमायां कूपे सम्यक् शोभनं, वायव्यां कूपे शत्रुतः सकाशात्पीडा,  
उत्तरस्यां कूपे सुखं गृहस्वामिन एव । उक्तं च वसिष्ठेन—“ऐश्वर्यं  
पुत्रहानिश्च स्त्रीनाशो निधनं भवेत् । संपञ्चत्रुभयं सौख्यं पुष्टिः प्रागा-  
दितः क्रमात्” इति ॥ २० ॥

अथ कूपे कृते गृहमध्ये करिष्यमाणानामुपकरणगृहाणां दिक्पर-  
त्वेन करणं वसंततिलकाछंदसाह—

(१) अधोमुखादिसञ्ज्ञानक्षत्राणि नक्षत्रप्रकरण एव ‘भूलाहिमिश्रो-  
प्रमधोमुखं भवे—’दित्यादीन्युक्तानि ।



स्नानाग्निपाकशयनास्त्रभुजश्च धान्य-

भाण्डारदैवतगृहाणि च पूर्वतः स्युः ।

तन्मध्यतस्तु मथनाज्यपुरीषविद्या-

भ्यासाख्यरोदनरतौषधसर्वधाम ॥ २१ ॥

स्नानेति । पूर्वतः पूर्वाद्यष्टदिक्षु स्नानगृहादीनि गृहाणि स्युः । यथा पूर्वस्यां स्नानगृहम्, आग्नेय्यां पाकगृहं, दक्षिणस्यां शयनगृहम्, नैऋत्यां शस्त्रगृहम्, पश्चिमायां भोजनगृहम्, वायव्यां धान्यसंग्रहगृहम्, उत्तरस्यां भाण्डारस्य द्रव्यस्य गृहम्, ऐशान्यां दैवतगृहं स्यादित्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—“ऐन्द्र्यां दिशि स्नानगृहमाग्नेय्यां पचनोलयः । याम्यायां शयनं वेश्म नैऋत्यां शस्त्रमंदिरम् ॥ वारुण्यां भोजनगृहं वायव्यां धान्यमंदिरम् । प्रतीच्यां भोजनगृहं वायुभागोन्नसंग्रहम् । भाण्डारसदनं सौम्ये त्वैशान्यां देवतालयम् ॥” इति । नारदस्तु विशेषमाह—“भाण्डागारं तूत्तरे स्याद्वायव्यां पशुमंदिरम्” इति । विश्वकर्मा पुनराह—“उत्तरस्यां जलस्थानं पूर्वस्यां श्रीगृहं तथा” इति ।

मथनाद्यष्टगृहाणि दिग्विदिङ्मध्ये—

तन्मध्यत इति । पूर्वाद्यष्टदिक्षु तन्मध्यतस्तयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये अष्टसंख्याके मथनाद्यष्टौ गृहाणि स्युः । यथा पूर्वाग्नेययोर्मध्ये मथनस्य दध्यालोडनस्य गृहम्, आग्नेयीदक्षिणयोर्मध्ये आज्यस्य घृतसंग्रहस्य गृहं, दक्षिणनैऋत्योर्मध्ये पुरीषस्य विष्टात्यागस्य गृहं, नैऋतिपश्चिमयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य गृहम्, पश्चिमवायव्ययोर्मध्ये रोदनस्य गृहम्, उत्तरवायव्ययोर्मध्ये रतस्य संभोगस्य गृहम्, उत्तरैशान्योर्मध्ये औषधस्य गृहम्, ऐशानीप्राचयोर्मध्ये उक्तव्यतिरिक्तसर्ववस्तूनां धाम गृहं कार्यं स्यादित्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—“इंद्राग्न्योर्मथनं मध्ये याम्याग्न्योर्घृतमंदिरम् । यमराक्षसयोर्मध्ये पुरीषत्यागमंदिरम् ॥ राक्षस्यांबुपयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मंदिरम् ॥ तांशानिलयोर्मध्ये रोदनं मंदिरं स्मृतम् ॥ वायव्योत्तरयोर्मध्ये सम्भोगस्यैव मन्दिरम् ॥ उत्तरैशानयोर्मध्ये औषधागारमुच्यते ॥ पुरन्दरेशयोर्मध्ये सर्ववस्तुसंग्रहम् ॥ सदनं कारयेदेवं क्रमादुक्तानि षोडश” इति । कश्यपोपि—“इंद्राग्न्योर्मथनं गेहं यमाग्न्योर्घृतमंदिरम् ।

पुरीषत्यागसदनं मध्ये राक्षसकालयोः । विद्या जलेशनैर्ऋत्योर्मध्ये च  
सदनं स्मृतम् । रौदनं सदनं नूनं जलाधीशसमीरयोः । नवरत्नालयं म-  
ध्ये कुबेरेश्वरयोस्तथा । इन्द्रेशयोर्धान्यगृहम् ॥ ” इति ॥ २१ ॥

अत्र गृहारंभप्रसक्त्या सामान्यतः प्राग्लभ्यत्वमप्यभिधायेदानीमार-  
ब्धगृहाणां नियतस्थानावस्थित्या नियतायुर्दाययोगद्वयमुपजातिकयाह-

जीवार्कविच्छुक्रशनैश्चरेषु

लग्नारिजामित्रसुखत्रिगेषु ।

स्थितिः शतं स्याच्छरदां सितार्का-

रेज्ये तनुत्र्यङ्गसुते शतं द्वे ॥ २२ ॥

जीवेति । अत्र योगद्वये ग्रहस्थानयोर्यथासंख्यं संबंधः यथा जीवो  
लग्ने, अर्कः सूर्यः षष्ठे, विद्बुधो जामित्रे सप्तमे, शुक्रश्चतुर्थे, शनैश्चरस्तृतीये,  
एवं नियतस्थानावस्थितग्रहसहिते लग्ने प्रारब्धस्य गृहस्य स्थितिरब्द-  
शतं १०० वर्षशतं स्यात् । अयमेको योगः । यदाह श्रीपतिः—“उदये  
गुरुरस्तगृहे शशिजो बुधः सहजे तु शनिः ” इति । अथ द्वितीयो योगः ।  
सितेति । शुक्रो लग्ने, अर्कस्तृतीये, आरो भौमः षष्ठे, इज्यः पंचमे, एवं-  
विधे लग्ने प्रारब्धगृहस्थितिर्द्वंशते शतद्वयं २०० स्यात् । यदाह श्रीपतिः—  
“लग्ने भृगुः पुत्रगतश्च जीवः षष्ठे कुजस्तिग्मकरस्तृतीयः । निवेशने यस्य  
गृहस्य तद्वि शतद्वयं तिष्ठति वत्सराणाम्” इति ॥ २२ ॥

अथान्यन्नियतायुर्दाययोगद्वयमिद्वंशच्छंदसाह—

लग्नाम्बरायेषु भृगुज्ञभानुभिः

केन्द्रे गुरौ वर्षशतायुरालयः ।

बन्धौ गुरुव्योम्नि शशी कुजार्कजौ

लाभे तदाशीतिसमायुरालयः ॥ २३ ॥

लग्नेति । अत्रापि योगद्वये स्थानग्रहयोर्यथासंख्यं सम्बन्धः ।  
लग्ने भृगुः, दशमे बुधः, एकादशे सूर्यः, लग्नव्यतिरिक्तकेन्द्रे गुरुः  
स्यात् तदैवंविधे योगे प्रारब्धालयो गृहं वर्षशतमायुरवस्थानं यस्य



तादृशः १०० स्यात् । यदाह श्रीपतिः—“शशाङ्कजीवौ खरसातलस्थौ” इति । आलयशब्दः पुंलिङ्गः ‘गृहाः पुंसि च भूम्येव निकायनिलया-लयाः’ इत्यमरः । पुंसि च संबध्यते रूपभेदेन वा पुल्लिङ्गः । अतएव नैषधीये प्रयुक्तः—‘निशि माणिक्यमया यदालयाः’ इति । ‘पंक्तिर्विशति’ इत्यादिना सूत्रेण अशीतिशतशब्दौ संख्यावाचिनौ निपातितौ । अथ द्वितीयः । बन्धाविति । बन्धौ चतुर्थे गुरुः, व्योम्नि दशमे चन्द्रः, कुजार्कजौ मङ्गलशनैश्चरावेकादशे तदा गृहमशीतिसमा वर्षाण्यायुर्यस्य तादृशं ८० स्यात् ॥ २३ ॥

अथ लक्ष्मीयुक्तगृहयोगत्रयमनुष्टुभाह—

स्वोच्चे शुक्रे लग्नगे वा गुरौ वेशमगतेऽथवा ।

शनौ स्वोच्चे लाभगे वा लक्ष्म्या युक्तं चिरं गृहम् ॥ २४ ॥

स्वोच्चे इति । स्वोच्चस्थे मीनस्थे शुक्रे लग्नगते गृहं चिरं लक्ष्म्या युक्तं स्यात् । अथवा स्वोच्चस्थे कर्कस्थे गुरौ चतुर्थस्थानगते सति तादृशमेव गृहम् । अथवा स्वोच्चस्थे तुलास्थे शनावेकादशस्थानगेपि लक्ष्मीयुक्तं गृहं स्यात् । एतत्प्रत्येकं योगत्रयम् । यदाह श्रीपतिः—“स्वोच्चवर्तिनि गते विलम्बे देवमन्त्रिणि रसातलेऽथवा । स्वोच्चगे रविसुतेऽथवायगे स्यात्स्थितिश्च सुचिरं सह श्रिया” इति ॥ २४ ॥

अथ गृहस्य परहस्तगामित्वयोगमनुष्टुभाह—

द्युनाम्बरे यदैकोऽपि परांशस्थो ग्रहो गृहम् ।

अब्दान्तः परहस्तस्थं कुर्याच्चैर्द्वर्णपोऽबलः ॥ २५ ॥

द्युनाम्बरे इति । एकोपि ग्रहोऽत्युत्कृष्टशुभफलदाता परांशस्थः शत्रुनवांशस्थितः सन् यदि द्यूने सप्तमे स्यादथवा अम्बरे दशमे स्यात्तदा स ग्रहस्तद्गृहं प्रारब्धमब्दान्तर्वर्षमभ्य एव परहस्तस्थमभ्यहस्तगामि कुर्याच्चैर्द्वर्णपो ब्राह्मणादिवर्णस्वामी ‘विप्राधीशौ भार्गवेज्यौ’ इत्यभिहितः स चेदबलः स्यात् । उक्तं च वसिष्ठेन—“एको ग्रहश्चेत्परभागवर्त्ती जायागतः कर्मगतोऽथवा स्यात् । करोति गेहं परहस्तयातं करोति वर्षाद्विबलः स खेटः” इति । खेटो वर्णस्वामी । तदुक्तं श्रीपतिना—“एकोपि नून

परभागवतीं वियत्स्मरस्थः खचरोच्चमध्ये । करोति गेहं परहस्तयातं  
स्याद्दुर्वलश्चेदिह वर्णनाथः ” इति ।

पराधीनत्वदोषो न गृहस्य—

यदा तु वर्णाधीशः सबलः स्यात्तदा परहस्तगामी न स्यादित्यर्थतः  
सिद्धम् ॥ २५ ॥

अथ गृहारम्भे नक्षत्रविशेषेण च फलविशेषाच्छुभसूचकफलविशे-  
षं योगद्वयं वसन्ततिलकाच्छन्दसाह—

पुष्यध्रुवेन्दुहरिसर्पजलैः सजीवै-

स्तद्वासरेण च कृतं सुतराज्यदं स्यात् ।

द्वीशाशिवतक्षिवसुपाशिशिवैः सशुकै-

र्वारे सितस्य च गृहं धनधान्यदं स्यात् ॥ २६ ॥

पुष्येति । पुष्यो ध्रुवाणि च प्रसिद्धानि, इन्दुर्मृगः हरिः श्रवणं,  
सर्प आश्लेषा, जलं पूर्वाषाढा, एतैर्नक्षत्रैः सजीवैः गुरुयुक्तैर्गुर्वधिष्ठितैः  
तद्वासरेण वृहस्पतिवारेण कृतं कर्तुः आरब्धं गृहं सुतान्पुत्रान् राज्यं च  
ददाति तादृशं स्यात् । यदाह वसिष्ठः—“इज्योत्तरात्रयाहीन्दुविष्णुः  
धातृजलोडुषु । गुरुणा सहितेष्वेषु कृतं गेहं श्रिया युतम् ” इति ।

गृहारम्भयोगवलेन तत्र जातस्वामिसुतस्य राज्यप्राप्तिः—

वारेण गृहफलविशेषश्च नारदवाक्ये—“श्रवणाषाढयोश्चैव रोहिण्यां  
चोत्तरात्रये । गुरुवारे कृतं वेश्म राजयोग्यमिहौच्यते । तद्गृहे जा-  
तपुत्रस्य राज्यं भवति निश्चयात् ” । नक्षत्रभेदो वचनप्रामाण्यात् ।

धनधान्यसुवर्णादो गृहारम्भलग्नजो योगः—

द्वीशेति । द्वीशं विशाखा, अश्वि अश्विनी, तक्षि त्वाष्ट्रं, वसुधर्निष्ठा,  
पाशी शतभम्, शिव आर्द्रा, एतैर्नक्षत्रैः सशुकैः शुक्रसहितैः सितस्य  
शुक्रस्य वारे कृतं गेहं धनानि सुवर्णादीनि, धान्यानि तण्डुलादीनि तानि  
ददाति तादृशं गृहं स्यात् । यदाह वसिष्ठः—“द्विदैवत्वाष्ट्रवारे-  
शरुद्रादित्मवसूडुषु । शुकेण सहितेष्वेषु कृतं धान्यप्रदं गृहम् ” इति ।

नारदोपि—

“अश्विनीशततारासु विशाखाभाद्रचित्रके । धनिष्ठोदितिसंयुक्ते तथा



वै शुक्रवासरे ॥ गृहं नाटकशालाख्यं देवागारं कृतं शुभम् । तद्वे-  
श्मनि प्रजातस्तु कुबेरसदृशो भवेत् ” इति । अत्रापि नक्षत्रभेदे प्राग्व  
देव समाधिः ॥ २६ ॥

अथान्यद्योगद्वयमशुभदातृ इन्द्रवज्राकुन्दसाह—

सारैः करेज्यान्त्यमघाम्बुमूलैः

कौजेऽहि वेश्माग्निसुतार्तिदं स्यात् ।

सज्ञैः कदास्त्रार्यमतक्षहस्तै-

र्ज्ञस्यैव वारे सुखपुत्रदं स्यात् ॥ २७ ॥

सारैरिति । हस्तपुष्यरेवतीमघापूर्वाषाढामूलैः सारैर्मंगलयुक्तैः  
कौजे भौमसम्बन्धिनि अहि वारे च कृतं वेश्म गृहमग्निसुतार्तिदमग्नि-  
पीडा पुत्रपीडा च तां ददाति तादृशं स्यात् । यदाह वसिष्ठः—  
“पितृमूलेज्यभाग्यार्कपौष्णभेषु च यत्कृतम् । कुजेन सहितेष्वेषु  
गृहं संदह्यतेऽग्निना ” इति । नारदोपि—“मूलं च रेवती चैव  
कृत्तिकाषाढमेव च । पूर्वाफाल्गुनिहस्तश्च मघा चैव तु सप्तके ।  
एषु भौमेन युक्तेषु वारे तस्यैव वेश्म यत् । अग्निना दह्यते कृत्स्नं पुत्र-  
नाशश्च जायते” इति । अत्र विशेषमाह वसिष्ठः—“अग्निनक्षत्रगे सूर्ये  
चन्द्रे वा संस्थिते यदि । निर्मितं मन्दिरं नूनमग्निना दह्यतेऽचिरात् ”  
इति । आवश्यकत्वाद्विहितनक्षत्रानुपलब्धौ मध्यमेषु भेषु गृहारम्भः  
प्राप्तः स कृत्तिकायां माभूदिति निषेधः । सूर्यनक्षत्रे कृत्ति-  
कायां माभूदिति पूर्वोपि । सज्ञैरिति । रोहिण्यश्विन्युत्तराफाल्गुनी-  
चित्राहस्तैः सज्ञैर्विध्युक्तैर्ज्ञस्यैव वारे च कृतं गेहं सुखदं पुत्रदं  
स्यात् । यदाह वसिष्ठः—“हस्तार्यमत्वाष्ट्रदस्त्रचतुरास्येन्दुभेषु च । बु-  
धेन सहितेष्वेषु धनपुत्रसुखप्रदम्” इति ॥ २७ ॥

अत्राशुभफलदमेव योगमनुष्ठुभाह—

अजैकपादहिर्वुध्न्यशक्रमित्रानिलान्तकैः ।

समन्दैर्मन्दवारे स्याद्रक्षोभूतयुतं गृहम् ॥ २८ ॥

अजैकगदिति । पूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदाज्येष्ठानुराधारेवतीस्वाती-  
भरणीनक्षत्रैः समंदैःशनैश्चरयुक्तैर्मन्दस्यैव वारेच प्रारब्धं गृहं रक्षोभिर्भूतै-  
श्चयुतं स्यात् । यदाह वसिष्ठः—“अजपाद्वितये याम्यमित्रेन्द्रानिलभेषु च ।  
यत्कृतं शनिसंयुक्ते दिह्यते यक्षराक्षसैः” इतिदिह्यते उपचीयते ‘दिह उ-  
पचये’ इति धातुः । नारदोपि—“ज्येष्ठानुराधके चैव भरणीस्वातियूर्वमे ।  
धनिष्ठास्वपि ऋक्षेषु शनिस्तिष्ठेद्दिनस्य च ॥ कृपणो नामतः प्रोक्तो धन-  
धान्यादिके गृहे । पुत्रो जातोथवा तस्मिन्गृह्यते यक्षराक्षसैः ॥” इति ।

गृहारम्भे कर्तव्यकृत्यसंग्रहः—

अयं निष्कृष्टोर्थः—पूर्वं गृहारम्भे नक्षत्राणि अवधार्याणि । ततो  
वृषवास्तुचक्रे शोध्यानि । पश्चादिदं योगपञ्चकं विचार्यम् । एवंसति  
गृहारम्भ उक्तफलदाता भवेत् ।

प्रासादवापीकूपादिष्वपि गृहनिर्माणयोक्तानामतिदेशः—

अयं सर्वोपि गृहविचारः प्रासादवापीकूपादिषु ध्येयः । तदुक्तं  
विष्णुधर्मोत्तरे—“प्रासादेष्वेवमेव स्याद्वापीकूपेषु चैव हि ” इति ।  
प्रासादो देवगृहम् ॥ २८ ॥

अथ केषांचिन्मतेन द्वारचक्रं सफलं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

सूर्यर्क्षाद्युगमैः शिरस्थंथ फलं लक्ष्मीस्ततः कोणभै-  
र्नागैरुद्वसनं ततो गजमितैः शाखासु सौख्यं भवेत् ।

देहल्यां गुणभैर्मृतिगृहपतोर्मध्यस्थितैर्वेदभैः

सौख्यं चक्रमिदं विलोक्य सुधिया द्वारं विधेयं शुभम् ॥ २९ ॥

इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतरामदैवज्ञविरचितो मुहूर्त्त-

चिन्तामणौ वास्तुप्रकरणं समाप्तम् ॥ १२ ॥

सूर्यर्क्षेति । अत्र द्वारस्य चत्वारः पाषाणा आवश्यकः । द्वौ ऊर्ध्वाधो-  
भावेनावस्थितौ समावलम्पपरिमाणौ । भाषया उत्तरङ्ग इत्यूर्ध्वावस्थितस्य  
सञ्ज्ञा । अधोवस्थितस्य तु देहलीति सर्वसाधारणं नाम । द्वौ  
पार्श्वद्वये स्थितौ महापरिमाणौ उच्चत्वेन साह इति भाषया द्वयो-



रपि संज्ञा । एवं दीर्घचतुरस्रद्वारं भवति । पाषाणासम्भवे तु काष्ठादेरपि ।

द्वारचक्रानुसारेण फलानि—

तत्र द्वारे चिकीर्षिते सूर्याधिष्ठितनक्षत्राद्युगमैश्चतुर्भिर्नक्षत्रैः शिरस्य-  
वस्थितैः सद्भिः लक्ष्मीप्राप्तिरूपं फलं स्यात् । ततस्तदग्रिमैर्नागैः कोण-  
मैर्द्वयोरवस्थित्या चतुष्कोणेष्ववस्थितैरष्टसंख्याकैर्नक्षत्रैरुद्वासनं तद्द्वा-  
गृहं सर्वदा जनवासरहितं स्यात् । ततस्तदग्रिमैर्गजमितैरष्टभिर्भैः शाखा-  
सु भाषया साहर इति नाम, तत्रावस्थितैर्गृहस्वामिनः सौख्यरूपं फलं  
स्यात् । ततस्तदग्रिमैर्गुणमैस्त्रिभिर्नक्षत्रैर्दंष्ट्रहयामवस्थितैर्गृहपतेर्मृतिः  
स्यात् । ततस्तदग्रिमैर्वेदमैश्चतुर्भिर्नक्षत्रैर्मध्यस्वरूपेऽवकाशे स्थितैः  
सौख्यं स्यात् ।

एतच्चक्रं पर्यालोच्यैव द्वाराणि कल्याणि—

फलितार्थमाह—चक्रमिति । इदं द्वारचक्रं विलोक्य सुधिया शुभं  
शुभफलदातृ द्वारं विधेयं कर्तव्यम् ।

सफलं द्वारचक्रं ग्रन्थान्तरे—

तदुक्तं ज्योतिर्निबन्धे—“द्वारचक्रं प्रवक्ष्यामि भाषितं विश्वकर्मणा ।  
सूर्यभाञ्जचतुःकं तु शिरस्योपरि विन्यसेत् ॥ द्वे द्वे कोणे  
प्रदातव्ये शाखायुग्मे द्वयं द्वयम् । अधश्च त्रीणि देयानि वेदा मध्ये  
प्रतिष्ठिताः ॥ राज्यं स्यादूर्ध्वनक्षत्रे कोणेषूद्वासनं भवेत् । शाखायां  
लभते लक्ष्मीमधश्चैव मृतिं लभेत् ॥ मध्यमेषु लभेत्सौख्यं चिन्तनीयं  
सदा बुधैः ॥” इति द्वारचक्रम् ।

द्वारस्थापने नक्षत्रतिथयः—

अथ द्वारस्थापनम् । “द्वारस्थापननक्षत्राण्युच्यन्तेऽश्विनिचोत्त-  
राः । हस्तपुष्यश्रुतिमृगाः । स्वातौ पूषि च रोहिण्यां द्वारशाखा-  
चरोपणम्” इति ज्योतिर्निबन्धेऽभिहितत्वात् । तिथयोपि तत्रैवाभिहिताः—  
“पञ्चमी धनदा चैव मुनिनन्दवसौ शुभम् । प्रतिपत्सु न कर्तव्यं  
कृते दुःखमवाप्नुयात् ॥ द्वितीयायां द्रव्यहानिः पशुपुत्रविनाशनम् ।  
तृतीया रोगदा चैवा चतुर्थी भङ्गकारिणी ॥ कुलक्षयं तथा षष्ठी दशमी

धननाशिनी । विरोधकृदमा पूर्णा न स्याच्छाखावरोपणम्” इति । एवं सति विरुद्धतिथिं विहाय विहिततिथिषु विहितभेषु च तत्रापि चक्र-  
शुद्धेषु भेषु द्वारं विहितं शुभफलदातृ स्यादिति निष्कृष्टोर्थ इति  
शिवम् ॥ २६ ॥

अथ गृहारम्भप्रकरणं गद्येनोपसंहरति । इति श्रीदैवज्ञेति । स्प-  
ष्टार्थमेतत् ।

ज्योतिर्विद्वरनीलकण्ठविदुषः श्रीचन्द्रिकायास्तथा  
पुत्रेणाहिगवीप्रसारितधिया मौहूर्त्तचिन्तामणेः ।  
गोविन्देन विनिर्मिते नयनिधौ पीयूषधाराभिधे  
व्याख्याने गृहनिर्मितिप्रकरणं संपूर्णतामध्यगात् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वद्दैवज्ञमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्वित्पुत्रगोविन्दज्यो-  
तिर्विद्विरचितायां मुहूर्त्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधारायां  
वास्तुप्रकरणं समाप्तम् ॥ १२ ॥

—\*—

अथ गृहप्रवेशप्रकरणम् १३ ।

लम्बोदरं नमस्कृत्यगोविन्देन विदां मुदे ।

गृहप्रवेशप्रकरणं सम्यग्व्याख्यायतेन्तिमम् ॥ १ ॥

अथ गृहप्रवेशप्रकरणं व्याख्यायते । तत्र चतुर्धा प्रवेश इ-  
त्युक्तं प्रागस्माभिः तत्र नववधूप्रवेशो विवाहप्रकरणान्तेऽभिहितः ।  
अन्यप्रवेशत्रयमुहूर्त्तोत्राभिधीयते । ननु—‘यात्रानिवृत्तौ शुभदं प्र-  
वेशनम्’ इत्यादिना सुपूर्वप्रवेशस्याभिहितत्वात्प्रवेशद्वयमेव वक्तव्यं  
स्यान्न तु प्रवेशत्रयमिति उच्यते । यात्रां कृत्वा प्रतिनिवृत्तस्य  
भूपादेराशुभमुहूर्त्तं नगराद्बहिः स्थातुमशक्नुवतो दैवादागतवृष्ट्याद्य-  
भिभूतस्य यथाकथंचिच्छुभाशुभप्रकरणोक्तां पञ्चांगशुद्धिं विचार्योक्तयथा  
विहितनक्षत्रैरेव प्रशस्तः प्रवेशोभिहितः, न तु विशिष्य तादृशे प्रवेशे  
कालशुद्धिर्वोक्तेत्यतः सुपूर्वस्याभिधानम् । तत्रापूर्वप्रवेशसुपूर्वप्रवेशयोः



कालशुद्ध्यादिकमिन्द्रवंशाच्छन्दसाह—

सौम्यायने ज्येष्ठतपोऽन्त्यमाधवे

यात्रानिवृत्तौ नृपतेर्नवे गृहे ।

स्याद्वेशनं द्वाःस्थमृदुध्रुवोडुभि-

जन्मर्क्षलग्नोपचयोदये स्थिरे ॥ १ ॥

सौम्यायने इति । एतेषु सौम्यायन इत्यादिकेषु पदार्थेषु सत्सु नृपते-  
र्यात्रानिवृत्तौ अथवा नवे नूतनोत्थापिते गृहे वेशनं 'विश प्रवेशने'  
स्यात् । सौम्यायन उत्तरायणे । अत्र शुक्रगुर्वस्तादिको दोषो  
'वाप्यारामतडाग' इत्यादिनोक्त इति न पुनरुक्तः । एवं 'गोर्धर्णांबुप्र-  
तिष्ठा' इत्यादिना दक्षिणायननिषेधोपि । अतः परिशेषात्सौम्यायनग्रह-  
णे सिद्धे तदुक्तिर्मदबुद्धीनां शीघ्रप्रतिपत्त्यर्था । उक्तं च वसिष्ठेन—  
"अथ प्रवेशो नवसन्नश्च सौम्यायने जीवसिते बलाढ्ये" इति ।  
बलाढ्य उदिते । नारदेनापि—"अथ सौम्यायने कार्यं नववेशमप्रवेश-  
नम् । राज्ञां यात्रानिवृत्तौ" इति । केवलायां भूमौ क्रीतायां प्राप्तायां  
वा स्वतः सिद्धायां वोत्थापितं गृहं नूतनमित्युच्यते । ज्येष्ठेति । माघ-  
फाल्गुनवैशाखमासेष्वेव सत्यप्युत्तरायणे प्रवेशनं शुभम् । यदाह  
नारदः—"माघफाल्गुनवैशाखज्येष्ठमासेषु शोभनः । प्रवेशो मध्यमो  
ज्ञेयः सौम्यकार्तिकमासयोः" इति । सौम्यो मार्गशीर्षः । मध्यमो-  
क्तिरावश्यकविषया ।

चान्द्रमासफलानि गृहप्रवेशे—

चान्द्रमासफलान्याह वसिष्ठः—"माघेऽर्थलाभः प्रथमप्रवेशे पुत्रा-  
र्थलाभः खलु फाल्गुने च । चैत्रेऽर्थहानिर्धनधान्यलाभो वैशाखमासे  
पशुपुत्रलाभः ॥ ज्येष्ठे च मासेषु परेषु नूनं हानिप्रदः शत्रुभयप्रदश्च ।  
शुक्ले च पक्षे सुतरां विबृद्ध्यै कृष्णे च यावद्दशमी च तावत्"  
इत्याद्युक्तैरेव ग्रन्थकृता पक्षविशुद्धिर्नोक्ता । तिथिवारशुद्धिश्चाग्रे वक्ष्यते ।

सौरमानं गृहप्रवेशे न ग्राह्यम्—

वसिष्ठेन तु गृहप्रवेशे सौरमानमनूद्य दूषितम् । यथा—"मृगादि-  
षड्राशिषु संस्थितेर्कं नवप्रवेशः शुभदः सदैव । कुम्भं विनान्येष्वपि के-

चिदूचुर्न सौरमिष्टं खलु सन्निवेशे” इति । अस्यार्थः । नूतनगृहप्रवेशो मकरादिषड्भाशिसंस्थिते सूर्ये शुभफलदो भवति । तत्रापि माघादिषु विहितेषु चतुर्षु मासेषु शुभः ।

कुम्भे फाल्गुनपौर्णिमोत्तरं सर्वथा प्रवेशो न कार्यः—

ननु ‘अथ प्रवेशो नवसप्तमश्च सौम्यायने’ इति स्वयं प्राक् सौम्यायन इत्युक्तत्वात्किमित्येतत्पुनरुक्तमित्यत आह—कुम्भं विनेति । सत्यप्युत्तरायणे कुम्भसंक्रान्तौ नूतनगृहप्रवेशो न भवतीत्येतदर्थं पुनरुक्तमित्यर्थः । नन्विदं पूर्वापरविरुद्धम् । तथाहि—‘माघेर्धलाभः प्रथमप्रवेशे’ इत्यादिना माघफाल्गुनयोश्चांद्रमासयोः शुभफलामिधानात्तत्रैव च कुम्भसंक्रान्तिसद्भावाद्व्ययोरन्यतरस्याशुभत्वं प्रतिपाद्यते । उभयमासनिर्मुक्तः कुम्भस्तु नास्त्येवेति चेत् । उच्यते । सन्ति हि द्विविधा मासाश्चांद्रमासाः शुक्लादयः कृष्णादयश्चेति । तत्र फाल्गुनपूर्णिमोत्तरमासस्य कृष्णादिमासगणनया चैत्रत्वात्तस्य च विरुद्धफलत्वात्तद्विषयकोऽयं कुम्भसंक्रान्तिनिषेधः । चान्द्रमासस्य शुक्लादिकृष्णाद्यभिधायकानि वाक्यानि गृहारम्भप्रकरणोऽस्माभिरुक्तानि । अयमपि निषेधो मासस्य कृष्णादित्वे ज्ञापकः ।

सूर्यवर्गगृहप्रवेशः तृणागारप्रवेशो वा कर्कादिषड्भाशिषु—

कर्कादिसंक्रान्तिषु मतान्तरमाह—अन्येष्वपीति । केचिदाचार्या अन्येष्वपि कर्कादिषड्भाशिस्थिते सूर्येपि नवगृहप्रवेशः कार्य इत्युचुः । तदेतद्वद्वंसौपूर्विकगृहप्रवेशविषयम् । तदुक्तं स्वयमेव—‘नवप्रवेशे त्वथ कालशुद्धिर्न द्वंद्वसौपूर्विकयोः कदाचित्’ इति । नूतनतृणागारप्रवेशविषयं वा । तदुक्तं ज्यातिःप्रकाशे—“गृहारम्भोदितैर्मासैर्धिष्ण्यैर्वारैर्विशेद्गृहम् । विशेषेत्सौम्यायने हर्म्यं तृणागारं तु सर्वदा” इति । अत एव—“कुलीरकन्यकाकुम्भे दिनेशे न विशेद्गृहम् । ग्रामं वा नगरं वापि पत्तनं वा सुराधिप” इति गुरुवाक्यमप्येवमेव व्याख्येयम् ।

विरुद्धफलयोः सौरचान्द्रमासयोः चान्द्रमासेन नवगृहप्रवेशः कार्यः—

ननु पौषचैत्रादिषु विरुद्धफलेषु चान्द्रमासेषु विहितसंक्रान्तिश्चेत्तदा नूतनगृहप्रवेशः कार्यो वा नवेत्यत आह—न सौरमिति । खलु निश्चयेन । सौरं मानं सन्निवेशे गृहप्रवेशे नेष्टं न शुभफलदम् ।



विरुद्धशुभफलयोश्चान्द्रसौरमासयोः साहित्ये विहितचान्द्रमासैरेव गृह-  
प्रवेशः कार्य इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

प्रवेष्टव्यद्वाराभिमुखदिङ्मन्त्रैः गृहप्रवेशनं कार्यम्—

द्वाःस्थेति । द्वारनक्षत्राणि 'भानि स्थाप्यान्यब्धिदिक्षु वा' इत्यादि-  
नोक्तानि । मृदूनि ध्रुवाणि चोडूनि प्रसिद्धानि । द्वाःस्थानि च तानि  
मृदुध्रुवोडूनि चेति कर्मधारयः । तादृशैर्भैः प्रवेशनं हितं स्यात् ।  
•अयमर्थः । यस्मिन्गृहे प्रवेशः कर्तुमिष्यते तस्य द्वारं यद्दिगभिमुखं  
तद्दिगभिमुखं तदिङ्मन्त्रैर्विहितैः प्रवेशः कार्यः । यदाह वसिष्ठः—  
“यद्दिग्द्वारं मन्दिरं तद्दिगृहैरुक्तं स्यात्संप्रवेशो न सर्वैः” इति ।

त्रिविधप्रवेशे नक्षत्राणि विना पुण्यधनिष्ठाशततारकाः—

उक्तार्थायाह स एव—“चित्रोत्तराधातृशशाङ्कमित्रवस्वन्त्यवारीश्वर-  
भेषु नूनम् । आयुर्धनारोग्यपुत्रपौत्रसत्कोर्तिदः स्यात्त्रिविधः प्रवेशः ”  
इति । नारदोपि—“वस्विज्यान्त्येषु वरुणत्वाष्ट्रमित्रस्थिरोडुषु । शुभः  
प्रवेशो देवेज्यशुक्रयोर्दृश्यमानयोः ” इति ।

पुण्यधनिष्ठाशततारकाः जीर्णगृहप्रवेशे एव न नूतने—

अत्र पुण्यधनिष्ठाशततारकाग्रहणं जीर्णगृहप्रवेशविषयम् । उक्तं च  
ज्योतिःप्रकाशे—“प्रवेशो नूतने हर्म्ये ध्रुवैर्मन्त्रैः सुखाप्तये । पुण्यस्वाती-  
युतैस्तैश्च जीर्णे स्याद्वासवद्वये” इति । एतद्ग्रन्थकृदप्यग्रिमपद्ये  
वक्ष्यति ।

शुभाशुभफलानि प्रवेशनक्षत्रेषु—

अमुमेवाशयं मनसि निधायाह श्रीपतिः—“शुभः प्रवेशो मृदु-  
भिर्ध्रुवाख्यैः क्षिप्रैश्चरैः स्यात्पुनरेव यात्रा । उग्रैर्नृपो दारुणभैः कु-  
मारो राक्षी विशाखासु विनाशमेति ॥ कृत्तिकासु भवनं कृशानुना  
दह्यते प्रविशतां न संशयः । यन्मुखं च सदनं हि तत्ककुब्जारभेषु शु-  
भकृत्प्रवेशनम् ॥” इति । वसिष्ठोपि—“अर्कानिलेयादितिदस्रविष्णु-  
ऋक्षे प्रविष्टं नवमन्दिरं यत् । अब्दत्रयात्तत्परहस्तयातं शेषेषु धिष्येषु  
च मृत्युदं स्यात् ॥” इति ।

गृहप्रवेशे लग्नानि—

प्रवेशलग्नान्वाह—जन्मर्क्षेति । जन्मर्क्षं जन्मराशिः जन्मलग्नं प्रसि-  
द्धम् । ताभ्यामुपचये तृतीयपष्ठैकादशमस्थेऽङ्गेषु तथा स्थिराख्यराशिषु

लग्नगतेषु सत्सु नवगृहप्रवेशनं शुभम् । यदाह वसिष्ठः—“कर्तुर्विल-  
ग्ननादथ जन्मराशेर्लग्नस्थितो राशिरिति प्रदिष्टः । निर्व्याधिदारिद्र्यय-  
शस्करश्च सुहृत्सुतघ्नो रिपुनाशनश्च । कलत्रहन्ता निधनप्रदश्च रोगप्रदः  
सिद्धिकरोऽर्थदश्च । क्रमाच्च वैरामयदः क्रमेण सदैव नूनं त्रिविधः प्र-  
वेशः ॥” इति । अतो निष्कृतमर्थमाह गृहप्रवेशे राजमार्त्तण्डः—“कर्तृ-  
भोपचयगाश्च विलग्ने राशयः शुभफलाय भवन्ति” इति । नारदोपि—  
“कर्तुर्जन्मभलग्ने वा ताभ्यामुपचयेपि वा । प्रवेशलग्ने स्याद्वद्विरन्यमे  
शोकनिःस्वनः ॥” इति । पुनर्वसिष्ठः—“सौम्ये स्थिरे भे शुभदृष्टि-  
युक्ते लग्नेथवा द्वयंगगृहे विलग्ने” इति । सौम्यगृहयुक्ते द्वयंगगृहे द्विस्व-  
भावराशौ । अत्र विवाहप्रकरणोक्ता एकविंशतिमहादोषा वर्ज्या इत्यपि  
ध्येयम् । एकविंशतिदोषानुपक्रम्य वसिष्ठेनोक्तं—“कर्तुर्नाशो गृहा-  
रम्भे प्रवेशे पतिनाशनम् ” इति ॥ १ ॥ .

अथ जीर्णगृहादिविषयकप्रवेशविशेषमिन्द्रवज्राच्छन्दसाह—

जीर्णे गृहेऽग्न्यादिभयान्नवेऽपि

मार्गोर्जयोः श्रावणिकेऽपि सत्स्यात् ।

वेशोऽम्बुपेज्यानिलवासवेषु

नावश्यमस्तादिविचारणाऽत्र ॥ २ ॥

जीर्णे इति । जीर्णे पुरातनेऽन्यनिर्मिते गृहेऽथवा सिद्धे एव गृहे-  
ऽग्न्यादिभयादग्निकृतं भयं दाहः आदिशब्देन बहुवृष्टिपातभयं राज-  
कोपो वा इत्याद्युपद्रवैः पतिते गृहे पुनरपि सम्यक् नवे कृते उत्था-  
पिते गृहेपि प्राक्पद्योक्ताः सर्वेपि मासास्तादृशगृहप्रवेशे ध्येयाः । किं च  
मार्गोर्जयोः मार्गशीर्षकार्तिकयोश्च श्रावणिकेपि श्रावणे मासि प्रवेशः  
सत् शुभफलदः स्यात् । ‘श्रावणे तु स्यान्नभाःश्रावणिकश्च सः’ इत्यमरः ।  
यदाह सनत्कुमारः—“गृहारम्भोदितैर्मासैर्धिर्ण्यैर्वारैर्विशेद्गृहम् ॥” इति ।

गृहारम्भोक्ता मासाः जीर्णान्यनिर्मितगृहप्रवेशेषु—

अत्र सामान्यतो गृहारम्भोदिता मासा गृहप्रवेशेभिहिताः । ते चेमे  
“सौम्यफाल्गुनवैशाखमाघश्रावणकार्तिकाः । मासाः स्युर्गृहनिर्माणे पु-  
त्रारोग्यधनप्रदाः” इति नारदोक्ताः मार्गशीर्षफाल्गुनवैशाखमाघश्रा-



वर्णकार्तिका विहिताः । तत्र उत्तरायणे एव गृहप्रवेशस्य वाक्यान्तरेण विहितत्वात् । श्रावणकार्तिकमार्गशीर्षणामुत्तरायणत्वाभावाद्धिरोधेन नूतनजीर्णगृहप्रवेशाभ्यां व्यवस्था । कथम् । प्रागभिहितनारदवाक्येनोत्तरायणसाहचर्येण नूतनगृहप्रवेशस्तुपूर्वगृहप्रवेशयोर्विधानात्, 'गृहारम्भोदितैर्मासैः' इत्यनेन तु सामान्यतस्त्रिविधस्यापि गृहप्रवेशस्याभिधानादुत्तरायणीया मासास्त्रिविधगृहप्रवेशे शुभाः । दक्षिणार्द्राणीया मासाः श्रावणादयस्तु जीर्णगृहप्रवेशविषयाः । अत एव नारदो मार्गशीर्षकार्तिकयोर्नूतनगृहप्रवेशे मध्यमत्वमाह । अर्थादेव जीर्णगृहप्रवेशे उत्कृष्टत्वमध्यवस्यते ।

जीर्णप्रवेशे निषिद्धार्हाणि यानि तान्येवैतानि नवे शुभानि—

अम्बुपेति । अम्बुपः शततारका, इज्यः पुष्यः, अनिलः स्वाती, वासवं धनिष्ठा, एष्वपि भेषु जीर्णे गृहेऽग्न्यादिभयान्नवेपि गृहे प्रवेशः शुभः । प्राक्पद्योक्तेषु शुभ एवेति कैमुतिकन्यायादवगम्यते । तदुक्तं ज्योतिःप्रकाशे—“प्रवेशो नूतने हर्म्यं ध्रुवैर्मैत्रैः सुखाप्तये । पुष्ये स्वातियुतैस्तैश्च जीर्णे स्याद्वासवद्वये ॥” इति ।

जीर्णगृहान्यतरगृहप्रवेशेऽस्तादिदोषो न—

नावश्यमिति । अत्रैवंविधे जीर्णे गृहेऽग्न्यादिभयान्नवेऽप्यावश्यमस्तादिविचारणा शुक्रास्तगुर्वस्तबाल्यवार्द्धकसिंहस्थगुरुमकरस्थगुरुलुप्तसम्बत्सरादीनां दोषाणां विचारणा विचारो नास्ति । अस्तादयः कालदोषाः सन्तु वा मा वा । तथापि गृहप्रवेशः कार्यः । परन्तु सोपि यथाकथंचित्पंचांगशुद्धिमात्रमङ्गीकृत्य विहितनक्षत्रेष्वेव कार्यः ।

त्रिविधप्रवेशेपि वास्तुपूजा कार्यैव—

वास्तुपूजा त्वेवंविधे गृहप्रवेशे भवतीत्यपि ध्येयम् । तदुक्तं ज्योतिःप्रकाशे—“नित्ययाने गृहे जीर्णे प्राशने परिधानके । वधूप्रवेशे मांगल्ये न मौढ्ये गुरुशुक्रयोः ॥” इति । वसिष्ठेनाप्युक्तम्—“नवप्रवेशे त्वथ कालशुद्धिर्न द्वन्द्वसौपूर्विकयोः कदाचित्” इति । अस्यार्थः । नूतनगृहप्रवेशे कालशुर्विचार्या । द्वन्द्वं द्वन्द्वोभयाख्यो गृहप्रवेशः । सौपूर्विको राज्ञो यात्रासमाप्तौ गृहप्रवेशः । तादृशयोर्गृहप्रवेशयोः कालशुद्धिः कदाचिदपि नापेक्षिता । सति सम्भवे सुखेनास्तु । किंतु प्रवेशदिनीयपञ्चाङ्गशुद्धिसहिते सुलग्ने गृहप्रवेशः कार्यः पूर्वस्मिन्नाद्ये नूतने प्रवेशे यथा वास्तुपूजा तथा द्वन्द्व-

सौपूर्विकयोरपि कार्येत्यर्थः । नारदस्तु यात्रानिवृत्तिप्रवेशे कालशुद्धिर-  
पेक्षितैवेत्याह । तद्वाक्यं प्रागभिहितम् । तदेतयोर्वाक्ययोरावश्यकाना-  
वश्यकत्वेन व्यवस्था ।

प्रवेशत्रयस्यापि लक्षणानि—

त्रयाणां गृहप्रवेशानां लक्षणमुक्तं वसिष्ठेन—“अपूर्वसंज्ञः प्रथमः  
प्रवेशो यात्रावसाने तु सुपूर्वसंज्ञः । द्वंद्वभयस्त्वग्निभयादिजातः प्रवेश  
एवं त्रिविधः प्रदिष्टः ॥” इति । एतद्व्याख्यानं यात्रानिवृत्ताविति पद्य-  
व्याकृतावस्ति । तत एवावधार्यम् ।

सर्वप्रवेशे क्रूराक्रान्तविद्धनक्षत्राणि वर्ज्यानि—

अत्रेदं ध्येयम् । यत्रिविधेऽपि प्रवेशे प्रवेशदिनीयनक्षत्रं क्रूराक्रान्तं  
क्रूरविद्धं वा तत्सर्वथा वर्ज्यमिति । उक्तं च वसिष्ठेन—“क्रूरप्रहाधिष्ठि-  
तविद्धमं च विवर्जनीयं त्रिविधप्रवेशे” इति ॥ २ ॥

अथ गृहप्रवेशदिनात्प्राकर्तव्यां वास्तुपूजां विवक्षुस्तन्नक्षत्राण्युप-  
जातिकापूर्वार्धेनाह—

मृदुध्रुवक्षिप्रचरेषु मूलभे

वास्त्वर्चनं भूतबलिं च कारयेत् ।

मृद्विति । मृदूनि ध्रुवाणि क्षिप्राणि चराणि नक्षत्राणि प्रसिद्धानि मूलभं  
च । एषु सप्तदशसु भेषु नक्षत्रेषु वास्तोः वास्तुपुरुषस्थार्चनं भूतबलिं च  
कारयेत् । गृहपतिर्वास्तुपूजां कुर्यात् । पुरोहितो गृहपतिं वास्तुपूजादिकं  
कारयेत् । “हृक्क्रोरन्यतरस्थाम्” इत्यणौ कर्तुः कर्मत्वम् । यदाह ऋक्षो-  
द्भयः—“क्षित्रा शतभिषा स्वाती हस्तः पुष्यः पुनर्वसुः । रोहिणी  
रेवती मूलं श्रवणोत्तरफाल्गुनी ॥ धनिष्ठा चोत्तराषाढा तथा भाद्रो-  
त्तरान्विता । अश्विनी मृगशीर्षं च अनुराधा तथैव च ॥ वास्तुपूजन-  
मेतेषु नक्षत्रेषु करोति यः । स प्राप्नोति नरो लक्ष्मीमिति प्राह प-  
राशरः” इति ।

अथ वास्तुपूजाप्रकारः—

वास्तुपूजाप्रकारमाह वसिष्ठः—“निर्माणे मन्दिराणां च प्रवेशे त्रि-  
विधेऽपि वा । वास्तुपूजा तु कर्त्तव्या यस्मात्तां कथयाम्यतः ॥ गृहमध्ये



हस्तमात्रं समन्तात्तण्डुलोपरि । एकाशीतिपदं कार्यं तिलैस्तुल्यं सु-  
 शोभनम् ॥ एकद्वित्रिपदाः पञ्चचत्वारिंशत्सुरार्चिताः । द्वात्रिंशद्-  
 बाह्यतो वक्ष्यमाणाश्चान्तस्त्रयोदश । तेषां स्थानानि नामानि वक्ष्यामी-  
 श्वरकोणतः । तत्राग्निः शम्भुकोणस्थस्त्वसौ चैकपदेश्वरः । तस्मा-  
 द्वितीयः पर्जन्यश्चासावेकपदेश्वरः । जयन्तेन्द्रार्कसत्याख्या भृशश्च  
 द्विपदेश्वराः ॥ आकाशवायूपरतः क्रमादेकपदेश्वरौ । एवं प्राच्यां नव  
 ज्ञात्वा त्वेवमेवान्यदिक्षु च ॥ आद्याश्चान्त्यावेकपदौ द्विपदाः पञ्चमध्य-  
 गाः । पूषाद्यष्टौ यमान्ताः स्युरमरा याम्यभागगाः ॥ आद्याश्चान्त्यावेकपदौ  
 द्विपदाः पञ्चमध्यगाः । अष्टौ पितृगणाधीशाः पापान्ताः पश्चिमेश्वराः ।  
 आद्यन्तौ द्वावेकपदौ द्विपदाः पञ्चमध्यगाः । रोगादिदित्यन्तसुराः सप्त  
 सौम्यदिशि क्रमात् । तत्राधःस्थश्चतुष्कोणेष्वीशानादिषु च क्रमात् । आपः  
 सावित्रविजयरुद्राश्चैकपदेश्वराः ॥ मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्यैशानादिकोण-  
 गाः । आपवत्सोऽथ सविता विबुधाधिपसंज्ञकः ॥ राजयक्ष्मा च चत्वारः  
 सुराश्चैकपदेश्वराः । ब्रह्मणः पूर्वतो दिक्षु त्रिपदाश्चामरा अग्नी ॥ अर्यमा  
 च विवस्वांश्च मित्रः पितृधरः क्रमात् । स्वस्वस्थलेषु देवेषु स्थापितेष्वी-  
 दृशं भवेत् ॥ कोणेषु पञ्चमं चैव चतुर्थैकपदाः सुराः । प्रागादिदिक्षु  
 द्विपदाः पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ ब्रह्मणः पूर्वतो दिक्षु त्रिपदाः स्युः समी-  
 पगाः । हिरण्यरेताः पर्जन्यो जयन्तः पाकशासनः ॥ सूर्यः सत्यो भृशा-  
 काशौ वायुः पूषा च वै तथा । गृहर्क्षतः पितृपतिर्गन्धर्वो भृङ्गराजकः ॥  
 मृगः पितृगणाधीशस्तथा दौवारिकाह्वयः । सुग्रीवः पुष्पदन्तश्च जला-  
 धीशो निशाचरः ॥ शोषः पापश्चरोगोहिर्मुखो भल्लाट एव च । सोम-  
 सर्पो दित्यदिती द्वात्रिंशदमराः स्मृताः ॥ आपश्चैवापवत्सश्च जयो  
 रन्ध्रस्तथैव च । मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्यै तस्य समीपगाः ॥ प्राच्यां  
 ह्यन्तरिता देवाः परितो ब्रह्मणः स्मृताः । अर्यमा सविता चैव विवस्वा-  
 न्विबुधाधिपः । मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधरः क्रमात् । आपव-  
 त्सोष्टमः पञ्चचत्वारिंशत्सुरोत्तमाः ॥ ज्ञात्वैवं स्थाननामानि ब्रह्मणा स-  
 हितान्यसेत् । वास्तुज्ञो वास्तुमन्त्रेण गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥ प्रणवेना-  
 र्चयेद्वापि अथवा स्वस्वनामभिः । शुक्लवस्त्रयुगं दद्याद्भूपदीपफलैः सह ॥  
 अपूपैर्भूरिनैवेद्यैर्वाद्यैः सह संमर्चयेत् । तांबूलं च ततो यद्याद्देवेभ्यश्च  
 पृथक् पृथक् ॥ दत्त्वा पुष्पांजलिं कर्ता प्रार्थयेद्वास्तुपुरुषम् । वास्तुमूर्ते ।  
 नमस्तेस्तु भूमिशय्यारत प्रभो ॥ मद्गृहं धनधान्यादिसमृद्धं कुरु स-

वर्दा । इति प्रार्थ्य ततो दद्यादक्षिणामर्चकाय च । विप्रेभ्यो भोजनं दत्त्वा स्वयं भुञ्जीत बन्धुभिः । एवं यः कुरुते सम्यग्वास्तुपूजां प्रयत्नतः ॥ आरोग्यं पुत्रपौत्रादि धनधान्यं लभेन्नरः । वास्तुपूजामकृत्वा यः प्रविशेन्नवमन्दिरे । रोगान्नानाविधान्कलेशनश्नुते सर्वसंकटम्” इति वसिष्ठसंहितायां वास्तुपूजाप्रकारः । विशेषस्त्वन्यसंहिताभ्योऽवसेयः । एवं भूतबलिरपि । उपक्रमोपसंहाररूपो वास्तुशांतिप्रकारः प्रयोगरत्नादिनाम्नीषु स्वशाखाभेदेन भिन्नासु पद्धतिषु दृष्टव्यः । ग्रन्थविस्तरभयान्नेह लिख्यत इत्यलमतिप्रसङ्गेन । केचित्तु पचांगशुद्धिमात्रयुक्ते पूर्वादिन एव वास्तुपूजामाहुः । यदाह नारदः—“विधाय पूर्वदिवसे वास्तुपूजाबलिक्रियाम्” इति । श्रीपतिरपि—“अथ प्रवेशो नवमन्दिरस्य यात्रानिवृत्तावथ भूपतीनाम् । सौम्यायने पूर्वादिने विधाय वास्त्वर्चनं भूतबलिं च सम्यक्” इति ।

अथ लग्नशुद्धिं तिथिशुद्धिं चोपजातिकोत्तरार्धेनेन्द्रवज्रया चाह—

त्रिकोणकेन्द्रायधनत्रिगैः शुभै-

र्लग्ने त्रिषष्टायगतैश्च पापकैः ॥ ३ ॥

शुद्धाम्बुरन्ध्रे विजनुर्भमृत्यौ व्यर्काररिक्ताचरदर्शचैत्रे ।

ह्यग्रेऽम्बुपूर्णं कलशं द्विजांश्च कृत्वा विशेषेशम भकूटशुद्धम् ४

त्रिकोणेति । नवमपञ्चमचतुर्थसप्तमदशमैकादशद्वितीयतृतीयस्थानानामन्यतमस्थानस्थैः शुभग्रहैरुपलक्षिते पूर्णचन्द्रबुधगुरुशुक्रैरुपलक्षिते । अत्र चन्द्रस्य लग्नराहित्ये ध्येयम् । तथा तृतीयषष्ठैकादशस्थैः पापग्रहैरुपलक्षिते तथा अम्बु चतुर्थस्थानं, रंभ्रमष्टमस्थानं शुद्धे सर्वाग्रहरहिते अम्बुरन्ध्रे यस्मिंस्तादृशे लग्ने गेशम गृहमाविशेत् । यदाह वसिष्ठः—“केन्द्रत्रिकोणायधनत्रिसंस्थैः शुभैस्त्रिषष्टायगतैः खलैश्च । लग्नान्त्यषष्टमवर्जितेन चन्द्रेण लक्ष्मीनिलयः प्रवेशः” इति । अन्यच्च—“प्रवेशलग्नान्त्रिधनस्थितो यः क्रूरग्रहः क्रूरगृहे यदि स्थात् । प्रवेशकर्तारमथ त्रिवर्षाद्धन्त्यष्टवर्षैः शुभराशिगश्चेत्” इति । नारदः—“स्थिरलग्ने स्थिरे राशौ नैधने शुद्धिसंयुते । त्रिकोणकेन्द्रत्रयस्य सौम्यैरुद्यायारिगैः परैः ॥ लग्नांत्यायंष्टमस्थानवर्जितेन हिमांशुना” इति । प्रवेशः स्यादिति पूर्वेण संबंधः ।



गुरुः—“सप्तमं शुद्धमुद्राहे यात्रायामष्टमं तथा । दशमं च गृहारम्भे चतुर्थं संनिवेशने” इति । यत्तु श्रीपतिना—“केन्द्रच्छिद्रव्ययैः शुद्धैः क्रूरैः षट्त्रयायैर्गुरौ । लग्ने भृगौ वा केन्द्रे वा स्थिरप्रायोदये विशेषत्” इति । केन्द्रस्य शुद्धत्वमुक्तं तत्पापग्रहराहित्यकृतं ध्येयम् । लग्नस्थगुरुभृग्वोरुक्तिस्त्वतिप्राशस्त्याभिधानार्था । कीदृशे लग्ने विजनुर्भमृत्यौ भं राशिर्लग्नं च । जनुषि जन्मकाले भे जनुर्भे ताभ्यां मृत्युरष्टमभवन् जनुर्भमृत्युः विगतो जनुर्भमृत्युर्यस्मिन् स्वजन्मलग्नात् स्वजन्मराशे-र्वाष्टमो राशिः प्रवेशलग्नतो नापेक्षित इत्यर्थः । पुनः कीदृशः । व्यकार-रिक्ताचरदर्शचैत्रे । अकारौ प्रसिद्धौ वारौ । रिक्ताः । ४ । ६ । १४ । उपलक्षणत्वाद्गन्धतिथयोपि । चरलग्नानि मेषकर्कतुलामकराः । उपल-क्षणत्वात्तदंशा अपि । दर्शमावास्या । चैत्रो मासः । उपलक्षणत्वादाषा-ढोपि । विगता अर्कादयो यस्मिन् । अर्कादयः प्रवेशदिने निषिद्धा इत्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—“न नैधने भेपि न चाष्टलग्ने पञ्चेष्टकेत्यष्ट-मशुद्धियुक्ते । कार्यः प्रवेशो न चरांशलग्ने शुभेक्षिते वाप्यथ संयुते वा । रिक्ताममां दग्धतिथिं दिनेशमसूनुषड्वर्गमिनेन्दुदष्टिम् । क्रूर-ग्रहाधिष्ठितविद्धभं च विवर्जनीयं त्रिविधप्रवेशे ॥” इति ।

वारफलानि गृहप्रवेशे—

वारफलमप्याह स एव—“दह्यते प्रविशतां च मन्दिरं वह्निना निय-तमेव वह्निर्भे । ब्रह्मभूमिसुतवासरे तथा शीतरश्मिदिवसे हि वृद्धिद-म् ॥ चन्द्रजार्यसितवासरेषु च श्राकरं सुखमहार्थलाभदम् । सूर्यसूनु-दिवसे स्थिरप्रदं किन्तु चौरभयमत्र विद्यते ॥” इति ।

प्रवेशे तिथ्यादिनिर्णयसंग्रहः—

एषां निष्कृष्टमर्थमाह श्रीपतिः—“रिक्तातिथिर्भसूनुतमानुवारौ नि-द्याश्च योगाः परिवर्जनीयाः । मेषः कुलीरो मकरस्तुला च त्याज्याः प्रवे-शे हि तथा तदंशाः ॥” इति ।

निषिद्धलग्नफलानि प्रवेशे—

निषिद्धलग्नफलान्यभिहितानि राजमार्त्तण्डे—“भूपो यात्रा मेषलग्ने प्रवेशे नाशं गच्छेत्कर्कटस्योदये वा । व्याधिं तौलिन्याश्रिते लग्नवर्तिन्या-कांकेरे चाप्नुयाद्धान्यनाशम्” । आकोकेरे मकरे ।

शुभाशुभानि लग्नानि तदंशाश्च—

“लग्नेन्यत्रांशकेयेषामेतद्दुष्टफलप्रदाः । शुभान्यन्यानि लग्नानि प्रवेशे मुनयो विदुः ॥ ” इति । अन्यानि स्थिराणि द्विस्वभावानि च । उक्तं च वसिष्ठेन—“पञ्चांगसंशुद्धदिने निशेशताराबले चाष्टकवर्गयुक्ते । सौम्ये स्थिरे भे शुभदृष्टियुक्ते लग्नेथवा द्व्यंगगृहे विलग्नौ ॥ ” इति । विशेषो राजमार्त्तण्डे—“निदिता अपि शुभांशसमेतास्तौलिमेषमकराः सकुलीराः । कर्तृभोपचयगाश्च विलग्नौ राशयः शुभफलाय भवन्ति ॥” एतल्लग्नान्तराशुद्धौ बहुकालासहिष्णुत्वे वा द्रष्टव्यम् । शुभांशाः वृषमिथुनकन्याधनुर्मीनानामंशा इत्यर्थः ।

कर्के तुलांशे सर्वथा प्रवेशनिषेधः—

कर्के तुलांशस्थे स्वरूपतो निधिद्धत्वाद्विशेषान्तरमाह वसिष्ठः—“यः क्षीणचन्द्रोऽत्यषडग्रसंस्थः पापेक्षितः पापयुतोऽथवा स्यात् । कर्तुः स्त्रियं हन्ति स वत्सरेण त्रिवर्षतः सौम्यनिरीक्षितश्चेत् ॥” इति ।

अथ राज्ञां यात्रानिवृत्तिप्रवेशे विशेषो ध्येयः । यत्र मासे यात्रा कृता तस्मान्नवमे मासि यात्रादिनान्नवमे दिने वा प्रवेशो निषिद्धोऽस्ति । यदाह गुरुः—“निर्गमान्नवमे मासि प्रवेशो नैव शोभनः । नवमे दिवंसे चैव प्रवेशं नैव कारयेत् ॥” इति । वामं रविमिति । गृहप्रवेशसमये रविं सूर्यं वामं यद्दिगभिमुखान् प्रवेश्य गृहाद्वामभागस्थं कृत्वा वेश्म गृहं विशेषतथा पुरोऽग्रे स्वसम्मुखं पूर्णघटं जलपूर्णं कलशमुपलक्षणत्वात्पूगीफलादि पूर्णं घटं वा कृत्वा । चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्ब्राह्मणांश्च सजलकलशानपि ब्राह्मणान्वाग्रे कृत्वा वेश्म विशेषत् ।

प्रवेशसमये शुक्रस्य पृष्ठगत्वमावश्यकम्—

अत्र शुक्रः पृष्ठगः कार्य इत्यनुक्तोऽपि विशेषो ध्येयः । यदाह वसिष्ठः—“कृत्वा शुक्रं पृष्ठतो वामतोऽर्कं विप्रान् पूज्यान्प्रतः पूर्णकुम्भम् । हर्म्यं रम्यं तोरणस्रग्वितानैः स्त्रीभिः स्रग्वी गीतमाल्यैर्विशेत्तत् । इति ।

पृष्ठतो दक्षिणत एव वा शुक्रस्य शुभदत्वं गुरुमतेन—

गुरुस्तु-वामगोऽग्रगो वा शुक्रो निषिद्धः । किन्तु पृष्ठगतो



दक्षिणगतो वा शुभ इत्याह—“पृष्ठगं दक्षिणं वापि भृगुं कृत्वा विशेषसदा । पुरोऽग्रं वामगं वापि शुक्रं कृत्वा विशेषं न ॥” इति ।

शुक्रस्य दिक्चतुष्टये स्थितिरुक्ता—

अत्र शुक्रस्य दिक्चतुष्टयस्थत्वज्ञानं चन्द्रवदेव ज्ञेयम् । विशेषानुक्तेः । तच्च गृहारम्भप्रकरणेऽस्माभिरुक्तम् ।

सर्ववर्णसाधारणमुक्त्वा राज्ञां प्रवेशे विशेषविधयः—

अयं च सर्ववर्णानां त्रिविधेऽपि प्रवेशो विधिः । राज्ञां तु यात्रानिवृत्तौ विशेषमप्याह श्रीपतिः—“कृत्वा विप्रान्सजलकलशांश्चाग्रतो वामतोऽर्कं स्नातः स्रग्ग्री विमलवसनो मङ्गलैर्वेदघोषैः । व्यस्तैर्यात्राकथितशकुनैर्द्वारमार्गेण राजा हर्म्यं पुष्पप्रकररुचिरं तोरणाढ्यं विशेषं च” इति । कीदृशं वेश्म । भकूटशुद्धं भकूटं षष्ठाष्टकादि तेन शुद्धं उपलक्षणत्वाद्धिवाहप्रकरणोक्तं ‘वर्णो वश्यं तथा तारा’ इत्येवमादिकं च तेनापि शुद्धं ज्ञेयम् । यदाह वसिष्ठः—“राशिकूटादिकं सर्वं दंपत्योरिव चिन्तयेत्” इति ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ वामगतार्कज्ञानं तिथिपरत्वेन पूर्वाद्यभिमुखगृहप्रवेशं चेन्द्रवज्रयाह—

वामो रविमृत्युसुतार्थलाभतो

ऽर्के पञ्चमे प्राग्वदनादिमन्दिरे ।

पूर्णातिथौ प्राग्वदने गृहे शुभो

नन्दादिके याम्यजलोत्तरानने ॥ ५ ॥

वाम इति । अष्टमपञ्चमद्वितीयैकादशस्थानेभ्यः पञ्चसु स्थानेषु स्थिते रवौ सति प्राग्वदनादिमन्दिरे प्रवेष्टव्ये गृहप्रवेशकर्तुर्वामो रविर्ज्ञेयः । तद्यथा यस्मिन् लग्ने प्रवेशः कर्तुमिष्यते तस्मादष्टमं यत्स्थानं तस्मात्पञ्चसु स्थानेषु अर्के स्थिते पूर्वाभिमुखगृहप्रवेशकर्तुर्वामः सूर्यः स्यात् तथा लग्नाद्यत्पञ्चमं स्थानं ततः पञ्चसु स्थानेषु अर्के स्थिते दक्षिणाभिमुखगृहप्रवेशकर्तुर्वामः सूर्यः । एवं लग्नाद्यद्वितीयं स्थानं ततः पञ्चसु स्थानेषु स्थिते सूर्ये पश्चिमाभिमुखगृहप्रवेशकर्तुर्वा-

मः सूर्यः । तथैव लग्नाद्यदेकादशं स्थानं ततः पञ्चसु स्थानेषु सूर्ये स्थिते उत्तराभिमुखगृहप्रवेशकर्तुर्नामः सूर्य इत्यर्थः ।

वामार्कस्वरूपज्ञापकं चक्रम्—

यथा चक्रोद्धारः । उक्तं च—“रन्ध्रात्पुत्रान्धनादायात्पञ्चस्व-  
के स्थिते क्रमात् । पूर्वाशादिमुखं गेहं विशेद्द्वामो भवेद्यतः ” इति ।  
विश्वकर्माऽपि—“लग्नात्प्रागादितो दिक्षु द्वौ द्वौ राशी नियोजयेत् । एव-  
मेकं न्यसेत्कोणो सूर्यं वामे विचिन्तयेत् ॥” इति । प्राच्यां लग्नात् द्वौ  
राशी स्थाप्यौ कोणौ चैकः ।

गृहप्रवेशे गृहदिङ्मुखभेदेन भिन्नतिथयः—

पूर्णातिथाविति—प्राग्बदने पूर्वाभिमुखे गृहे पूर्णातिथौ पञ्चम्यां द-  
शम्यां पूर्णिमायां वा प्रवेशः शुभः । नन्दादिके तिथिगणे याम्यजलोत्त-  
रानने गृहप्रवेशः शुभः । यथा दक्षिणाभिमुखे गृहे नन्दायां प्रतिपदि षष्ठ्या-  
मेकादश्यां वा प्रवेशः शुभः । जलं पश्चिमदिक् तद्दिगभिमुखे भद्रायां  
द्वितीयायां सप्तम्यां द्वादश्यां वा प्रवेशः शुभः । उत्तराभिमुखे गृहे जयायां  
तृतीयायामष्टम्यां त्रयोदश्यां वा प्रवेशः शुभः इत्यर्थः । यदाह गुरुः—  
“नन्दायां दक्षिणद्वारं भद्रायां पश्चिमामुखम् । जयायामुत्तरद्वारं पूर्णायां  
पूर्वतो मुखम्” इति । यद्यपि मूले नन्दादिके इति पदोपादाना-  
द्विक्ताग्रहणमपि प्राप्नोति । तथापि विदिक्षु द्वाराणां निषेधादिशां च  
चतुष्टयेन चतुर्णां द्वाराणां संभवाच्च स्वरूपनो निषेधाच्च रिक्ताग्रहणा-  
संभवो ध्येयः । सोपि संमतिवाक्ये स्पष्ट एव ॥ ५ ॥

वामार्कचक्रम्—

| पूर्वमुखः | दक्षिणमुखः | पश्चिममुखः | उत्तरमुखः |
|-----------|------------|------------|-----------|
| सूर्यः ८  | सूर्यः ५   | सूर्यः २   | सूर्यः ११ |
| सू० ९     | सू० ६      | सू० ३      | सू० १२    |
| सू० १०    | सू० ७      | सू० ४      | सू० १     |
| सू० ११    | सू० ८      | सू० ५      | सू० २     |
| सू० १२    | सू० ९      | सू० ६      | सू० ३     |



अथ गृहप्रवेशे कलशवास्तुचक्रं शादूलविक्रीडितेनाह—

वक्त्रे भूरविभात्प्रवेशसमये कुम्भेऽग्निदाहः कृताः  
प्राच्यामुद्वसनं कृता यमगता लाभः कृताः पश्चिमे ।  
श्रीर्वेदाः कलिरुत्तरे युगमिता गर्भे विनाशो गुदे  
रामाः स्थैर्यमतः स्थिरत्वमनलाः कण्ठे भवेत्सर्वदा ॥६॥

वक्त्रेति । कलशस्याष्टधा विभागाः परिकल्प्याः—मुखं कण्ठो गर्भो  
गुदं चेति चत्वारो विभागाः, पूर्वादिदिक्परत्वेन च चत्वारो विभागाः ।  
एवमष्टौ भागाः स्युः । तत्र विभागपरत्वेन सूर्यभाक्षक्षत्रन्यासे फलमु-  
च्यते—वक्त्रे इति । गृहप्रवेशसमये इति सर्वत्रापि सम्बध्यते । कुम्भे  
कलशाकृतौ वास्तुनि रविभात्सूर्याक्रान्तनक्षत्रादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी ।  
रविमारभ्य नक्षत्रन्यास इत्यर्थः । तत्र कलशस्य वक्त्रे मुखे भूरेकं सूर्यन-  
क्षत्रमेव स्थाप्यम् । तत्फलं गृहस्याग्निदाहः । ततः सूर्यभाक्कृता अग्नि-  
माणि चत्वारि भानि प्राच्यां स्थाप्यानि । फलमुद्वसनं जनवासशून्यं  
गृहं स्यात् । ततः कृता यमगताः तदग्निमाणि चत्वारि भानि द-  
क्षिणस्यां यमदिशि स्थाप्यानि फलं गृहपतेर्लाभो द्रव्यप्राप्तिः । ततः  
कृताः पश्चिमे तदग्निमाणि चत्वारि भानि पश्चिमायां स्थाप्यानि, फलं  
गृहपतेः श्रीप्राप्तिः । ततो वेदा उत्तरे तदग्निमाणि चत्वारि भानि उत्तर-  
स्यां स्थाप्यानि, फलं कलिर्लोकैः सह गृहसम्बन्धो निरर्थकः कलहः  
स्यात् । ततो युगमितास्ततोऽग्निमाणि चत्वारि भानि गर्भे कलशमध्ये  
स्थाप्यानि । फलं विनाशः । कस्येत्याकांक्षायां गर्भोपादानाद्भाविनां  
गर्भाणां विनाश इत्यर्थः । ततो रामास्तदग्निमाणि त्रीणि भानि गुदे  
बुद्ध्ये स्थाप्यानि फलं स्थैर्यं गृहपतेर्बहुकालं तत्र गृहे निवासः ।  
ततोऽनलास्तदग्निमाणि त्रीणि भानि कण्ठे स्थाप्यानि, फलं स्थिरत्वं सर्वदा  
गृहपतेर्भवेत् । एवमभिजिद्रहितानि सप्तविंशतिभानि स्युः ।

कलशवास्तुचक्रे नक्षत्रसन्निवेशप्रकारस्तत्फलानि च—

तदुक्तं विश्वकर्मणा—“घटाकारं लिखेच्चक्रं रविधिष्ययक्रमेण  
च । मुखैकं दिक्षु चत्वारि त्रिंशोऽणि गुदकण्ठयोः । एवं चक्रं समा-  
लेख्यं प्रवेशार्थं सदा बुधैः” अत्र चत्वारि इति वीप्सा द्रष्टव्या, दिक्षु इत्य-

नेन गर्भोप्युपलक्ष्यते । तथा च फलनिर्देशस्तत्रैव—“अग्निनाशो मुखे प्रोक्त उद्वासः पूर्वतो भवेत् । दक्षिणे चार्धलाभाय पश्चिमे श्रीप्रदो भवेत् ॥ उत्तरे कलहश्चैव गर्भे गर्भविनाशनम् । स्थिरता च गुदे कण्ठे कलशस्य प्रकीर्तिता” इति । ज्योतिःप्रकाशेपि—“भूर्गेदपञ्चकं त्रिखिः १ । ४ । ४ । ४ । ४ । ३ । ३ । प्रवेशे कलशोऽर्कभात् । मृतिर्गतिर्धनं श्रीः स्याद्वैरं शुक् स्थिरतां सुखम्” इति । वेदपञ्चकं वेदाश्चत्वारस्तेषां पञ्चकं पञ्चवारम् । चत्वारि भानि लेख्यानीत्यर्थः । मृतिरित्यादीन्यष्टौ यथा संख्यं फलानि ।

तत्र निष्कृष्टार्थः कलशवास्तुचक्रे—

अत्र कलशचक्रे शुभफलस्थाने याते सत्येव विहितनक्षत्राणां परिग्रहो युक्तः । तत्रापि यद्दिङ्मुखे प्रवेशे विधित्सिते तद्दिङ्मुखविहितनक्षत्रपरिग्रहः । यथा पूर्वदिङ्मुखगृहप्रवेशे विधित्सिते रोहिणीमृगेश्राह्ये, दक्षिणाभिमुखगृहप्रवेशे उत्तराफाल्गुनीचित्रे, एवं पश्चिमाभिमुखे अनुराधोत्तराषाढे, एवमुत्तराभिमुखे उत्तराद्रपदारेवत्यौ ग्राह्ये इति निष्कृष्टोऽर्थः । अत एवोक्तं वसिष्ठेन—“यद्दिग्द्वारं मन्दिरं तद्दिगर्क्षैरुक्तर्क्षैः स्यात्सन्निवेशो न सर्वैः” इति । तद्दिगर्क्षैरिति उक्तर्क्षैरिति चानयोः सामानाधिकरण्येनान्वयः । भिन्नवाक्यत्वे तु विवक्षिते चकारः कर्त्तव्यः । ‘संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि दूषणम्’ इति न्यायाच्च । अत एव—“अर्कानिलेज्यादितिदस्रविष्णुः प्रविष्टं नवमन्दिरं यत् । अब्दत्रयात्तत्परहस्तयातं शेषेषु धिष्येषु च मृत्युदं स्यात्” इति निषेधोप्युपपन्नो भवति ॥ ६ ॥

अथ गृहप्रवेशप्रकरणोपसंहारं सूचयन् प्रवेशोत्तरकालीनकर्त्तव्यं विधिमुपजात्याह—

एवं सुलग्ने स्वगृहं प्रविश्य

वितानपुष्पश्रुतिघोषयुक्तम् ।

शिल्पज्ञदैवज्ञविधिज्ञपौरान्

राजार्चयेद्भूमिहिरण्यवस्त्रैः ॥ ७ ॥

एवं सुलग्न इति । एवं प्रागुक्तप्रकारेण विचारिते सुलग्ने निर्दूषणे



सकलगुणयुक्ते च शोभनलग्ने स्थिरराश्यादिके राजा वितानपुष्पश्रुतिघो-  
षयुक्त वितानानि वस्त्रमण्डपाः, पुष्पाणि स्वर्तुजातानि मालत्यादीनि,  
श्रुतिघोषो वेदध्वनिश्च तैर्युक्तमुपलक्षणत्वात्तोरणाद्यनेकमङ्गलवस्तुस-  
हितमेतादृशं स्वगृहं स्वसत्तार्कं गृहं प्रविश्य शिल्पज्ञानं गृहो-  
त्थापकान् स्थपतिवर्धकयादौ न दैवज्ञानं ज्योतिर्विदो विधिज्ञान्वास्तुपू-  
जाभूतबलिगृहप्रवेशनीयविधिज्ञानं पुरोहितप्रभृतीन् पौरान् नागरिकान्  
परिडितान् दोनानाथान्धरूपणांश्च भूमिहिरण्यवस्त्रैर्यथाशक्ति हिरण्येन  
वा वस्त्रैर्वा व्यस्तैर्वा समुचितैर्वा उपलक्षणत्वादश्वगजादिभिर्वा अर्चयेत्  
पूजयेत् । यदाह वसिष्ठः—“हर्म्यं रम्यं तोरणस्रग्वितानैः स्त्रीभिः स्रग्वी  
गोतथाद्यैर्विशेत्तत्” इति । राजमार्त्तण्डेपि—“भूरिपुष्पनिकरं सतोरणं  
तोयपूर्णकलशोपशोभितम् । गन्धपुष्पबलिपूजितामरं ब्राह्मणध्वनियुतं  
विशेद्गृहम्” इति ।

### प्रवेशायोग्यगृहस्वरूपम्—

कीदृशं गृहं प्रवेशयोग्यं न भवतीति वसिष्ठेनाभ्यधाति—“यद्वास्तु-  
पूजारहितं त्वदत्तबलि त्वनाच्छन्नगृहं विरूपम् । कपाटहीनं न विशे-  
द्यतस्तत्सर्वापदामालय एव तत्स्यात्” इति । नारदोपि—“अकपाट-  
मनाच्छन्नमदत्तबलिभोजनम् । गृहं न प्रविशेद्धोमान्विपदामालयो  
हि तत्” इति । तस्मात्सकपाटमुपरिष्ठादाच्छादितं कृतवास्तुपूजं दत्त-  
बलिकमेव गृहं प्रविशेत् ।

### प्रवेशान्तरकार्यविधयः—

प्रवेशोत्तरकर्त्तव्यविधिमाह श्रोपतिः—“ततो नृपो विप्रसुहृत्पुरोध-  
सः शिल्पज्ञभूगोलविदश्च लिंगिनः । धनैश्च रत्नैः पशुभिः समर्चयेत्स-  
हांधदीनान्पुरवासिनस्तथा” इति । शिवम् ॥ ७ ॥

अथ मुहूर्तचिन्तामणेज्योतिषग्रन्थस्य समाप्तिं कर्तुकामो ग्रन्थकृ-  
त्तत्स्वकुलालङ्कारभूतं (१) स्वपितामहचिन्तामणिदैवज्ञवर्णनं शार्दूलविक्री-  
डितेनाह—

आसीद्धर्मपुरे षडङ्गनिगमाध्येतृद्विजैर्मण्डिते

ज्योतिर्वित्तिलकः फणीन्द्ररचिते भाष्ये कृतातिश्रमः ।

(१) क्वचित् तत्सूचनालङ्कारभूतमिति दृश्यते ।

तत्तज्जातकसंहितागणितकृन्मान्यो महाभूभुजां

तर्कालङ्कृतिवेदवाक्यविलसद्बुद्धिः स चिन्तामणिः ॥८॥

आसीदिति । प्रसिद्धः चिन्तामणिश्चिन्तामणिनामा धर्मपुरे विदर्भ-  
देशप्रदेशविशेषे नर्मदासमीपवर्तिनि मातृपुराख्ये आसीत् । कीदृशे  
धर्मपुरे । षडंगनिगमाध्येतृद्विजैर्मंडिते निगमो वेदः । षट् अङ्गानि  
यस्यासौ षडङ्गः, षडङ्गानीमानि-शिक्षा कलयो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो  
ज्योतिषं चेति । षडंगश्चासौ निगमश्च षडंगनिगमस्तस्याध्येतारोऽध्यय-  
नकर्तारः अध्येतृभिरध्यापका अप्युपलभ्यन्ते । नहि विनाध्यापकं  
वेदाध्ययनं क्वचिद्दृष्टम् । तादृशाः द्विजाः ब्राह्मणाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या  
वा तैर्मंडिते भूषिते । कीदृशः चिन्तामणिः । ज्यौतिर्वित्तिलकः ज्योतींषि  
नक्षत्राणि लक्षणया तत्प्रतिपादका ग्रन्था ज्योतिःशब्देनोच्यन्ते ।  
तानि विदन्ति ते ज्योतिर्विदः 'सत्सूद्विषत्' इत्यादिना किप् ।  
ज्योतिर्वित्सु तिलक एव ज्योतिर्विच्छ्रेष्ठ इत्यर्थः । पुनः कीदृशः । फ-  
णीन्द्ररचिते फणीन्द्रः शेषो महानागस्तेन रचिते भाष्ये व्याकरणमहा-  
भाष्ये कृतोऽतिश्रमोऽत्यभ्यासो येन सः महाभाष्याध्ययनपारङ्ग इत्य-  
र्थः । पुनः कीदृशः ! तत्तज्जातकसंहितागणितकृत् तानि तानि स्वल्प-  
बृहदादिभेदेनानेकविधानि जातकानि जातकशास्त्राणि संहिताः संहि-  
ताशास्त्राणि गणितानि गणितशास्त्राणि करोति तादृशः होरासंहिताग-  
णितरूपस्कंधत्रयात्मकस्य ज्योतिःशास्त्रस्य स्वपद्यैर्निर्मातेत्यर्थः । अ-  
नेन महाकविरित्यपि सूचितम् । पुनः कीदृशः । महाभूभुजां सकलजं-  
वृद्धीपवर्तिराजमुकुटमणीनां महतां राज्ञां पातिशाहादीनां मान्यः पूज्यः  
महाराजमान्य इत्यर्थः । पुनः कीदृशः । तर्कालङ्कृतिवेदवाक्यविलस-  
द्बुद्धिः तर्को न्यायशास्त्रं अलङ्कृतिरलङ्कारशास्त्रं वेदवाक्यं वेदवाक्य-  
विचारप्रतिपादको ग्रन्थो मीमांसाशास्त्रं वेदान्तशास्त्रं च तेषु विलसन्ती  
विलासयुक्ता बुद्धिर्यस्य सः । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्ब-  
ध्यते' इति न्यायात्तर्कशास्त्रज्ञः अलङ्कारशास्त्रज्ञः मीमांसाज्ञो वेदान्तज्ञ-  
श्चेत्यर्थः । आसीदिति—'अस् भुवि' इत्यस्मात्तुल्लङ्घि "आडजादीनाम्"  
इत्याट् । "शनसौरल्लोपः" इत्यकारस्य लोपः षडंगनिगमाध्येतृद्विजैरित्य-  
समस्तपदे षडंगनिगमं इत्यत्र "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः"  
इति कर्मधारयसमासः । अध्येतृशब्दे च 'इत्यस्यादिङिकावध्युपस-



गान्धर्व्यभिवर्तत इत्युक्तेरधिपूर्वकात् “एतुल्लुचौ” इति कर्तरि तृच् ।  
 “सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः” इति गुणः, ततो यणादेशः । ततः षडङ्गनि-  
 गमस्याध्येतार इति “षष्ठी” इति षष्ठीसमासः । नन्वत्र कथं षष्ठीसमासः ।  
 यावता “कर्तृकर्मणोः कृति” इति कर्मणि शेषे षष्ठी उत षष्ठी शेषे” इति  
 सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । तत्र यदि विशेषषष्ठो तदा “कर्तरि च” इति  
 कर्त्रर्थोत्पन्नाः गां तृजकाभ्यां कर्मषष्ठीसमासनिषेधप्रसंगः । न च तृ-  
 चमङ्गीकृत्यैतद्दूषणं त्वया दत्तम् । एवं नाङ्गीकुर्मः । किन्तु तच्छीला-  
 धिकारविहितं तृनं विधास्यामः । तद्योगे प्राग्वदेव षष्ठीं विधाय ष-  
 ष्ठीसमासो भविष्यतीति वाच्यम् ‘एकं सन्धित्सतोऽपरं प्रचयवते” इ-  
 ति न्यायेन “न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्” इति तृनो योगे षष्ठ्येव  
 नास्ति कुतस्तरां षष्ठीसमासः । ननु च नायं कृद्योगनिमित्तकर्मषष्ठ्या  
 समासः, किं तर्हि । षडङ्गनिगममधीयत इति विग्रह्य तृन्यानीते “उ-  
 पपदमतिङ्” इत्युपपदसमासे कृते षडङ्गनिगमाध्येतार इति भविष्य-  
 त्येव किं कल्पनान्तरेण । न च सोपपदाद्धातोस्तृज्विधानं नास्तीति वा-  
 च्यम् । ‘हिमवच्छ्रोता आदित्यद्रष्टा’ इत्यादिमहाभाष्यकारप्रयोगेषु न  
 समाधानं स्यात् । एवं तर्हि कर्मण्युपपदे “कर्मण्यण्” इत्यण् प्रस-  
 ज्येत । ततश्च षडङ्गनिगमाध्येया इति स्यात् । तस्माच्छेषषष्ठी-  
 मङ्गीकृत्यानुपपन्नः षडङ्गनिगमाध्येतार इति प्रयोगः । सत्यम् । ज्ञापका-  
 द्भविष्यति समासः । किं ज्ञापकम् । “जनिकतुः प्रकृतिः” इति । अनेन  
 “कर्तरि च” इति षष्ठीसमासप्रतिषेधो न नित्य इति ज्ञाप्यत इत्यनि-  
 त्यत्वं षष्ठोसमासप्रतिषेधस्य मनसि निधाय साधुत्वमङ्गीकृतवानस्य  
 प्रयोगस्य ग्रन्थकृत् । अतएव ‘भीष्मः कुरुणां भयशोकहन्ता’ ‘कालच-  
 क्रप्रयोक्तारं’ ‘सैव सिद्धान्तवेत्ता’ इत्यादयो महाकविप्रयोगा उपपन्ना  
 भवन्ति । एवमेव विवाहप्रकरणे ‘भवति विवाहविनाशकारकोयम्’ ।  
 इति ‘पापौ कर्तरिकारकौ’ इति च । अत्र विवाहविनाशकारक  
 इति ‘कर्तरिकारकौ’ इत्यनयोः प्रयोगयोः साधुत्वमिदानीमुक्तम्, पक्ष-  
 योज्यार्यस्त्वात् । “तत्प्रयोजको हेतुश्च” इति ज्ञापकान्निषेधान्नित्यम-  
 ङ्गीकृत्य समाधिरङ्गीकार्यः । अतएव ‘निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्’ इत्या-  
 दिप्रयोगोपपत्तिः । यदि तु सम्बन्धमात्रे षष्ठीति मतं तदा कर्मषष्ठ्यभावादेव  
 ‘कर्तरि च’ इति निषेधाभावात्सुखेन षष्ठीसमासः । अथवा षडङ्गनिगमम-  
 ध्येतुं शीलं येषां ते इति विग्रह्य तच्छीलाधिकारविहितं विधाय गम्यादी-

नामिष्टिरिति गम्यादेराकृतिगणत्वात् तूनो योगे षष्ठ्यभावाच्च द्विती-  
यात्पुरुषसमास इत्यलमतिप्रसङ्गेनेति शिवम् ॥ ८ ॥

अथ क्रमप्राप्तं तातवर्णनं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

ज्योतिर्विद्वणवन्दिताङ्घ्रिकमलस्तत्सूनुरासीत्कृती

नाम्नाऽनन्त इति प्रथामधिगतो भूमण्डलाहस्करः ।

यो रम्यां जनिपद्धतिं समकरोद्दुष्टाशयध्वंसिनीं

टीकां चोत्तमकामधेनुगणितेऽकार्षीत्सतां प्रीतये ॥ ९ ॥

ज्योतिर्विद्वणेति । तत्सूनुस्तस्य चिन्तामणिदैवज्ञस्य सूनुः पुत्रोऽनन्त  
इति नाम्ना प्रथां ख्यातिमधिगतः प्राप्त आसीत् । कीदृशः । ज्योति-  
र्विद्वणवन्दिताङ्घ्रिकमलः ज्योतिर्विदां ज्यौतिषिकाणां यो गणः समूहस्तेन  
वन्दिते अन्ध्रिकमले चरणसरोरुहे यस्य तादृशः सकलज्योतिर्विदां ज्यौतिः-  
शास्त्राध्ययने एष एवाध्यापक इत्यर्थः । पुनः कीदृशः । भूमण्डलाहस्करः भूम-  
ण्डलस्य पृथ्वीमण्डलस्याहस्करः सूर्यः । प्रकाशकत्वात् । यथा सूर्यः स्वकि-  
रणैरखिलां पृथ्वीं प्रकाशयति तथा ज्योतिःशास्त्राध्यापनद्वारा पृथिव्याः  
प्रकाशक इति भावः । पुनः कीदृशः । कृती कुशलः । 'कृती कुशल  
इत्यपि' इत्यमरः । नानाग्रन्थकरणकुशल इत्यर्थः । ग्रन्थकर्तृत्वमेवोत्त-  
रार्धेन प्रकाशयति । यो रम्यामिति । योऽनन्तः जनिपद्धतिं जनिर्जन्म ।  
'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः । तस्य पद्धतिमार्गः भा-  
वादीनामन्तर्दशान्तगणितेन जातकशास्त्रोक्तशुभाशुभफलकालोपदेशप्रति-  
पादको ग्रन्थो जन्मपद्धतिस्तां समकरोत्सम्यक् चकार । सम्यक्त्वमेवाह-  
दुष्टेति । कीदृशीं जनिपद्धतिं दुष्टाशयध्वंसिनीं दुष्टाः जन्मपद्धतिमार्गस-  
म्प्रदायानभिज्ञास्तेषामाशयोभिप्रायो युक्त्या गौपरीत्याख्यानं तं ध्वंसि-  
तुं शीलं यस्याः सा तादृशीम् । यथा—'आद्या दशा चेत्सवितुर्वि-  
धोर्वा तदा बलं संस्कृतमेव तस्य' इति श्रीपतिवाक्ये संस्कृतमिष्ट-  
कष्टबलान्तरेण गणितमिति जातकालङ्काराख्यटीकाकृता व्याकृतम् ।  
तत्रादिशर्मपद्धतिवाक्यं सम्मतित्वेन दर्शितं—तदुभयमपि चिन्त्यम् ।  
चिन्त्यप्रकारस्त्वनुवादपूर्वकः स्वपद्यैरेवोपनिबद्धः । यथा—'य इष्टकष्टा-  
न्तरविघ्नवीर्याद्दशाक्रमं रिष्टमनिष्टभङ्गम् । विचारयन्तीह नमोस्तु तेभ्यः



श्रीश्रोधरोक्तं बहुसम्मतं सत् ॥ यस्येष्टकष्टे सदृशे भवेतां तदन्तरध्नं  
 बलमेव शून्यम् । यदा तदासौ बलवान् प्रवीर्यो वेत्थं विचिन्त्यं भुवनो-  
 चितं हि । यतः शुभं वाप्यशुभं ग्रहस्य वीर्यं सहैवास्ति न तस्य हानिः ।  
 तस्मान्न नाशो विवरेऽनयोस्तु द्वैधं फलाप्त्यै न दशाक्रमादौ” इति ॥  
 एवमन्वेषु स्थलेषु दुष्टाशयनिराकरणं कृतमिति । अतः रम्यां दोषापा-  
 करणेनातिसुन्दरीम् । यथान्योपि राजादिः पद्धतिं मार्गं चौरादिदुष्ट-  
 निराकरणेनातिसुन्दरं करोतीति ध्वनिः । किं च यः उत्तमका-  
 मधेनुगणिते उत्तममल्पक्लेशेन ब्रह्मार्यभटपक्षीयपञ्चांगानयनप्रति-  
 पादकं यत्कामधेनुनामकं गणितशास्त्रं तत्र टीकां तदभिप्राय-  
 विवृतिमकार्षीत् । किमर्थम् । सतां गणितशास्त्राभिज्ञानां प्रीतये तुष्ट्यै ।  
 अनेनास्यानेकग्रन्थकरणप्रयासकर्तृत्वं न स्वार्थमत्यल्पायासेन दृढतरज्यो-  
 तिःशास्त्राभिज्ञत्वात्, किंतु सुतुष्ट्यर्थमेव । यावत्स्वीयशास्त्राभ्यासो ग्रन्थ-  
 करणद्वारा न प्रकाश्यते तावत्सकलसंतुष्टिर्न भवतीत्यनेकग्रन्थकरणप्रया-  
 स इति सूचितम् । कृतीत्यत्र “अत इनि ठनौ” इतीनिः । ननु “एकाक्षरा-  
 त्कृतो जातेः सप्तम्या च न तौ स्मृतौ” इत्युक्तेः कृतशब्दस्य कृतं तत्त्वात्कथ-  
 मत्रेनिः । उच्यते । नायं समुच्चयः कृतो जातेश्चेति । किं तर्हि जातेविशे-  
 षणं कृद्ग्रहणं कृद्योगे जातिरिति । एवं च कार्या कार्याकः तांडुलिक इत्यपि  
 सिद्ध्यति । तेन व्याघ्रवानित्यादावेवेनिठनोर्निषेधो नान्यत्रेति महाभाष्य-  
 कारेणैवं वार्तिकव्याख्यानाद्भवत्येवात्रेनिः । अहस्कर इत्यत्र ‘दिवाविभा-  
 निशा’ इत्यादिना कर्मण्यणो बाधकप्रत्ययः । समकरोदित्यत्र ‘डुकृञ् क-  
 रणे’ इत्यस्मात्संपूर्वात् “अनद्यतने लङ्” इति लङ् । अकार्षीदित्यत्र—  
 तस्मादेवानिटो लुङि च्लेः सिच् “सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु” इति वृद्धिः  
 “उरण् रपरः” इति रपरत्वम् ॥ ६ ॥

अथ स्वनामकथनपूर्वकं मंगलं सूचयन् मुहूर्तचिन्तामणिनामकज्यौ-  
 तिषग्रन्थसमाप्तिं पृथ्वीच्छंदसाह—

तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकण्ठानुजो

गणेशपदपङ्कजं हृदि निधाय रामाभिधः ।

गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषुचन्द्रैर्मिते  
शके विनिरमादिमं खलु मुहूर्त्तचिन्तामणिम् ॥ १० ॥

इति श्रीदैवज्ञानन्तसुतदैवज्ञरामविरचिते  
मुहूर्त्तचिन्तामणौ त्रयोदशं गृहप्र-  
वेशप्रकरणं समाप्तम् ।

समाप्तोऽयं मुहूर्त्तचिन्तामणिः ।

तदात्मज इति । तदात्मजस्तस्याऽनंतज्योतिर्विद आत्मजः पुत्रो रामा-  
भिधो रामसंज्ञकः गिरीशनगरे वरे गिरीशो महादेवस्तस्य नगरे वाराण-  
स्याख्ये मुहूर्त्तचिन्तामणिनामकं ज्यौतिषग्रंथमिमं प्रत्यक्षदृश्यं विनिरमात्  
अकार्षीत् । खलुशब्दो वाक्यालंकारे । कीदृशो रामाभिधः । उदारधीः उ-  
दारा अनेकशिष्यविद्यादिदानकारिका धीर्बुद्धिर्यस्यासौ तथा पाठिताने-  
कशिष्य इत्यर्थः । पुनः कीदृशः । विबुधनीलकण्ठानुजः विबुधः ज्यौतिष-  
व्याकरणाद्यनेकविद्यायां पंडितो यो नीलकण्ठस्तस्यानुजो लघुभ्राता ।  
किं कृत्वा गणेशस्य स्वकुलोपास्यमहागणपतेः पदपंकजं चरणकमलं,  
जात्यभिप्रायेणैकवचनं, गणेशपदपंकजे इत्यर्थः । ते ह्यन्तःकरणे निधाय  
“मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथंते वीरपुरुषका-  
र्यायुष्मत्पुरुषकाणि च” इति महाभाष्यकारोक्तेश्च । कस्मिन् गिरीशन-  
गरे । कीदृशे वरे मोक्षदातृत्वेन श्रेष्ठे ।

काशीक्षेत्रस्यैव मोक्षदत्वम्—

यद्यपि—“अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका । पुरी द्वा-  
रावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः” इति वाक्यान्मोक्षरूपफलप्रदत्वेना-  
योध्यादीनां नगरीणां साम्यामेव प्रतीयते । तथापि—“अन्यानि मुक्तिक्षेत्रा-  
णि काशीप्राप्तिकराणि वै । काशीं प्राप्य विमुच्येत नान्यथा तीर्थको-  
टिभिः” इति वाराणस्या विशिष्य मुक्तिप्रदत्वेनाभिधानाच्छ्रैष्ठ्यं वा-  
राणस्याः ।

ननु—‘अयोध्या मथुरा माया’ इत्यादिवाक्यस्य, अन्यानि मुक्तिक्षेत्रा-  
णि इत्यस्य च व्यासप्रणीतत्वसाम्यादेकस्य साम्यापादकस्य काशीमित्तु-



दप्राग्वचनस्याप्रामाण्यं प्रतिभाति । उच्यते । अयोध्यादीनि तीर्थानि  
सम्यग्ज्ञानोत्पादनद्वारेण सालोक्यमुक्तिप्रदानि । ‘अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि’  
इति मुक्तिपदोपादानात्पुनर्गर्भवासं च प्रयच्छन्ति । काशी तु सर्वथा ज्ञा-  
नादज्ञानाद्वा येनकेनाप्युपायेन वा मरणाऽनंतरं मुक्तिमेव प्रयच्छति न पुन-  
र्गर्भवासम् । तदुक्तं पद्मपुराणे—‘तीर्थंतिराणि क्षेत्राणि विष्णुभक्तिश्च नारद ।  
अंतःकरणसंशुद्धिं जनयन्ति न संशयः॥ वाराणस्यपि देवर्षे तादृश्येव परं तु  
सा । प्रकाशयति ब्रह्मैक्यं तारकस्योपदेशतः’ काशीखण्डे—‘अविमुक्तिर-  
हस्यज्ञा मुच्यन्ते ज्ञानिनो नराः । अज्ञानिनोपि तिर्यचो मुच्यन्ते हि सक-  
ल्मषाः ’ इति । अत एव वाराणस्याः श्रेष्ठ्यम् । एतदप्यभिहितं पद्म-  
पुराणे—‘नैमिषे च कुरुक्षेत्रे गंगाद्वारे च पुष्करे । स्नानात्संसेवना-  
द्वापि न मोक्षः प्राप्यते नरैः । इदं सम्प्राप्यते येन तत एव विशिष्यते’  
इह काश्याम् । किं च काश्यां मरणो कालकृतोपि विशेषो नास्ति ।  
उक्तं च काशीखण्डे—‘उत्तरं दक्षिणं वापि अयनं न विचारयेत् ।  
सर्वोप्यस्य शुभः कालो ह्यविमुक्ते प्रिये यतः ॥ ’ इति । देशविशेषापे-  
क्षाप्यत्र नास्त्युक्तं सनत्कुमारसंहितायाम्—‘रथ्यान्तरे मूत्रपुरीष-  
मध्ये चांडालवेश्मन्यथवा श्मशाने । कृतप्रयत्नोऽप्यकृतप्रयत्नो देहावसा-  
ने लभतेऽत्र मोक्षम् ’ इति ।

काश्यामन्तरिक्षमरणादिदोषाभावः—

अन्यच्च तीर्थान्तरे अंतरिक्षादिमरणदोषोऽस्ति सोप्यत्र नास्ति ।  
तदुक्तं पाट्टमे—‘भूमौ जलैतरिक्षे वा यत्र कापि मृतो द्विजः । ब्रह्मैकत्व-  
मवाप्नोति काशी शक्तिरुपाहिता ॥ ’ इति ।

काश्यां दुर्मरणदोषाभावः—

नाप्यत्र दुर्मरणदोषोऽस्ति । तदुक्तं पद्मपुराणे—‘सूच्यप्रमात्रमपि नास्ति  
ममास्पदेऽस्मिन् स्थानं सुरैश्च विमृतस्य न यत्र मुक्तिः । भूमौ जले वि-  
यति वा भुवि मध्यतो वा सर्पाग्निदस्युपविभिर्निहतस्य जंतोः ॥ ’ इति ।  
पविर्वज्रम् । ‘वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः’ इत्यमरकोशोक्तेः । अत  
एव ब्रह्मवैवर्ते प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां वाराणस्यां विशेषोऽभिहितः । यथा-  
‘जितेन्द्रियाः पापविवर्जिताश्च शांता महान्तो मधुसूदनाश्रयाः । अन्येषु  
तीर्थेष्वपि मुक्तिमाजो भवन्ति काश्यामपि को विशेषः ॥ ’ इति । दीप-  
कप्रश्ने गुरुणोत्तरितं—‘विशेषं शृणु वक्ष्यामि काश्याः कथयतो मम ।

कृतानि साधनान्यत्र स्वल्पान्यपि महामते ॥ भवन्ति काशीमाहात्म्यात्सिद्धान्येव न संशयः । अन्यत्र साधुसुकृतैः कृतैर्मुच्येत वा न वा । अत्र साधनवैकल्ये काशी पूर्णं प्रकल्पयेत् ॥ ” इति ।

काश्यां साधनसंपत्त्यभावेऽपि मुक्तिः—

अयं भावः । साधनसंपत्तिमतामधिकारिणां काश्यतिरिक्तेऽपि क्षेत्रे मुक्तिः । काश्यां त्वन्येषामपीति । अत एवोक्तं काशीखण्डे—“संसारमयभीता ये ये बद्धाः कर्मबंधनैः । येषां कापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥ श्रुतिस्मृतिविहीना ये शौचाचारविवर्जिताः । येषां कापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ” इत्याद्यनेकैः पद्यैः काश्या महत्त्वमुक्तम् ।

अर्थवादत्वमस्येति वादिपाषण्डनिन्दा—

अत्रार्थे येथवादमाहुस्ते नास्तिका मंतव्याः । तदुक्तं काशीखण्डे—“यत्र विश्वेश्वरो देवः साक्षात्स्वर्गतरंगिणी । मिथ्या तत्रानुसूयन्ते तार्किकाश्चानुसूयकाः ॥ उदाहरन्ति ये मूढाः कुतर्कबलदर्पिताः । काश्यां सर्वार्थवादोयं ते विट्कीटाः युगेयुगे ॥” विट् विष्टा । अत एत ब्रह्मवैवर्ते—“मा जानीह्यर्थवादत्वं काश्या मुक्तिविनिर्णये” इति । तस्मात्सर्वस्यापि काश्यां मरणान्मुक्तिरिति सिद्धम् । काशीखण्डेऽपि—“ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वर्णसंकराः । कृमिस्लेच्छाश्च ये चान्ये संकीर्णाः पापयोनयः । कीटाः पिपीलिकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिणः । कालेन निधनं प्राप्ता अविमुक्ते शृणु प्रिये ॥ चंद्रार्धमौलयः सर्वे ललाटाक्षा वृषध्वजाः ॥” इति । तथा—“अकामो वा सकामो वा तिर्यग्योनिगतोऽपि वा । अविमुक्ते त्यजन्प्राणान्मम लोके महीयते ॥ ” इति ।

काश्यां चतुर्विधमुक्तप्राप्तिः कालभेदात्—

अन्यच्च मरणानंतरं सालोक्यादिचतुर्विधमुक्तिरपि क्रमेण भवति न पुनर्गर्भवासः तदुक्तं पद्मपुराणे—“काश्यां मृतस्तु सालोक्यं साक्षात्प्राप्नोति सत्तमः । ततः सरूपतां याति ततः सान्निध्यमश्नुते ॥ ततो ब्रह्मैकतां याति न परावर्त्तते पुनः ॥” इति । सालोक्यं शिवलोकवासित्वम् । सरूपतां शिवतुल्यरूपताम् । सान्निध्यं शिवसामीप्यम् । ब्रह्मैकतां शिवाभेदताम् एतद्वयवस्थापि तत्रैव—“सलोकतां च सारूप्यं सान्निध्यं वापि सत्तमाः । कल्पं कल्पमवाप्नोति ततो ब्रह्मात्मको भवेत् ॥” इति ।



काशीवाराणस्यविमुक्त्यन्तर्गृहाख्यक्षेत्रचतुष्टयं  
क्रमेणेति मतान्तरम्—

अन्ये तु क्षेत्रभेदेन सालोक्यादिमुक्तितारतम्यम् । एतदप्युक्तं  
ब्रह्मपुराणे—“चतुर्विधेऽपि क्षेत्रेऽस्मिन्प्रमीतो गर्भयातनाम् । नैवा-  
प्नोति मुनिश्रेष्ठं विशेषोऽयं ब्रवीमि वः ॥” इति तत्र काश्या-  
त्मके क्षेत्रे सारूप्यमुक्तिः । वाराणस्यात्मके क्षेत्रे सारूप्यमुक्तिः  
अवेमुकात्मके क्षेत्रे सान्निध्यमुक्तिः । अन्तर्गृहात्मके क्षेत्रे कैव-  
ल्यमुक्तिः । उक्तं च पद्मपुराणे—“चतुर्धा वितते क्षेत्रे सर्वत्र  
भगवाञ्छिवः । व्याचष्टे तारकं वाक्यं ब्रह्मात्मैक्यपूर्वोद्यकम् । काश्यां  
मृतस्तु सालोक्यं साक्षात्प्राप्नोति सत्तमः । वाराणस्यां मृतो जन्तुः साक्षा-  
त्सारूप्यमश्नुते । अविमुक्ते विपन्नस्तु साक्षात्सान्निध्यमाप्नुयात् । अन्त-  
र्गृहे विपन्नस्तु साक्षात्कैवल्यमाप्नुयात् ॥” इति । केवलस्य भावः कै-  
वल्यं शिवतादात्म्यं प्राप्नुयात्साक्षाच्छिवस्वरूप एव भवतीत्यर्थः ।

काश्यादिक्षेत्रपरिमाणानि—

काश्यादिक्षेत्रपरिमाणानि पद्मपुराणीयपातालखण्डे—“परिमाणं च  
वदयामि । तन्निबोधत सत्तमाः । मध्यमेश्वरमारभ्य यावद्देहलिवि-  
घ्नपम् । सूत्रं संस्थाप्य तद्विज्ञु भ्रामयेन्मण्डलाकृति । तत्र या जाय-  
ते रेखा तन्मध्यक्षेत्रमुत्तमम् । काशीति यद्विदुर्वेदास्तत्र मुक्तिः  
प्रतिष्ठिता । काश्यन्तं परमं क्षेत्रं विशेषफलसाधकम् ॥ वाराणसीति  
विख्यातं तन्मानं निगदामि वः । दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणासिश्च पूर्व-  
तः ॥ जाह्नवी पश्चिमे वापि पाशपाणिर्गणेश्वरः । तस्या अन्तःस्थितं  
दिव्यं विशेषफलसाधनम् ॥ अविमुक्तमिति ख्यातं तन्मानं च ब्र-  
वीमि वः । विश्वेश्वराच्चतुर्दिक्षु धनुःशतयुगोन्मितम् ॥ अविमुक्ताभि-  
धं क्षेत्रं मुक्तिस्तत्र न संशयः ॥ गोकर्णेशः पश्चिमे पूर्वतश्च ग-  
ङ्गामध्यं ह्युत्तरे भारभूतः । ब्रह्मेशानो दक्षिणे संप्रदिष्टस्तत्तु प्राक्तं भवनं  
विश्वभर्तुः ॥” इति । काशीपरिमाणवाक्ये मुक्तिपदं सालोक्यमुक्ति-  
परम्, अविमुक्तपरिमाणवाक्ये मुक्तिपदं सान्निध्यमुक्तिपरम् । पूर्वा-  
भिहितवाक्यैकवाक्यतावलात् । अस्याः वाराणस्याः । धनुश्चतुर्द-  
शस्तमितम् । एवं सति विश्वेश्वरस्थानाच्चतुर्दिक्ष्वष्टशतहस्तमित्यर्थः ।  
विश्वभर्तुर्भवनमन्तर्गृहम् । ततश्च यथायथा मुक्तीनां सालोक्यसारूप्य-

सान्निध्यकैवल्यख्यानां पूर्वपूर्वापेक्षयोत्कृष्टत्वं तथा तथा काशीवारण-  
स्यधिमुक्तान्तर्गृहाख्यानां चतुःक्षेत्राणां पूर्वपूर्वान्तर्भाविपूर्वपूर्वापेक्षया  
न्यूनं परिमाणमिति संपिंडितोऽर्थः । तस्मात्सर्वथा मथुरादिमुक्तिपु-  
र्यपेक्षया काशी श्रेष्ठेति सिद्धमित्यास्तां प्रसक्ताऽनुप्रसक्त्या ।

एतद्ग्रन्थोत्पत्तिकालः, शकशब्दार्थश्च—

ननु कस्मिन्कालेऽयं ग्रन्थः कृत इत्यत आह—भुजेति । भुजौ द्वौ ।  
पुनरपि भुजौ द्वौ इषवः पञ्च चन्द्र एको भुजभुजेषुचन्द्राः तैः । कोऽर्थः  
'अङ्गानां वामतो गतिः' इति दैवज्ञसंप्रदायागतवाक्याद्द्वाविंशत्यधिक-  
पञ्चदशशती तथा भित्ते गणिते शके । शकाः यवनास्तेषां स्वामी लक्ष-  
णया शकशब्देनोच्यते । तत्रापि लक्षणया शकशब्देनैतद्राज्यप्राप्तिसम-  
याद्गतवर्षाणि प्रोच्यन्ते । एवं सति लक्षितलक्षणया लोकव्यवहारमूल-  
भूतोयमर्थो लभ्यते । तत्र निखिलभूयालचूडामणोः श्रोशालिवाहन-  
नृपस्य राज्यासिस्तु इदानींतनादष्टाविंशतिकलियुगादेकोनाशोत्यधिकै-  
कत्रिंशच्छतोपरिमिते गते काले ३१७६ जाता । तत आरभ्य शालिवा-  
हननृपशकप्रवृत्तिः । उक्तं च भास्वत्यां—“शाको नवाद्रौदुक्कशानु-३१७६  
युक्तः कलेर्भवत्यब्दगणस्तु वृत्तः ” इति । स च शालिवाहननृपशकका-  
लो ग्रन्थकरणसमये द्वाविंशत्यधिकपञ्चदशशती १५२२ मितो गतोऽभूत् ।  
अत एतावत्संख्याके शककाले व्यतिक्रान्ते सति रामज्योतिर्विन्मुहूर्त-  
चिन्तामणिनामकं ज्यौतिषग्रन्थं व्यधादित्यर्थ इति शिवम् ॥ १० ॥

ग्रन्थकृद्वंशवर्णनं गद्येनोपसंहरन्मुहूर्तचिन्तामणिनामकज्योतिर्ग्रन्थ-  
समाप्तिं करोति । इति श्रोदैवज्ञेति । स्पष्टार्थम् ।

पीयूषधाराटीकाकर्तुर्वंशवर्णनम्—

कीर्त्या विद्योतिताशो द्रविणवितरणैरर्थिनां पूरिताशो ज्योतिर्विद्वन्द-  
वंद्यो निखिलवसुमतीमण्डलाखण्डलेज्यः । दर्भाग्रप्रख्यबुद्धिर्द्विजकुलति-  
लकोऽभूद्विदर्भाख्यदेशे ज्योतिःशास्त्रारविदप्रविकसनरविर्विन्दुचिन्ताम-  
णिः सः ॥ १ ॥ तस्यात्मजोभवदनन्त उमातनूजपादारविदमकरंदम-  
धुव्रतान्यः । ज्योतिर्नयत्रिनयनेन हठादवाप येन त्रिकालविदुषा  
खलु भर्गभावः ॥ २ ॥

तत्सूनुर्नीलकण्ठः कृतिपरिकलनाऽकुण्ठितप्रोढबुद्धिर्ज्योतिःशास्त्रैक-  
सिंधोर्घटनविघटनासर्गधाता बभूव । यत्प्रोक्तं ग्रन्थसिन्धुच्छलदमलक-



णाकर्णनेनापि लोको गर्गाचार्याद्वि यस्मिन् चयति जगति प्रौढभावं  
नितान्तम् ॥ ३ ॥ रामोऽनुजस्तस्य बभूव काश्यां यत्प्रोक्तसुज्योतिषजा-  
न्निबन्धान् । निपीय सौहित्यमुपेत्य सद्यः सुधा मुधा विंदति  
विदुवृन्दम् ॥ ४ ॥

पीयूषधाराटीकोत्पत्तिकालवर्णनम्—

श्रीमद्भूपतिशालिवाहनशके चन्द्रांकशक्रे १४६१-मिते मासीषेऽपरप-  
क्षगे नग-७ तिथौ तिग्मांशुवारेदितौ । धर्मज्यौतिषशास्त्रपाणिनिमहाशा-  
स्त्रादिपारंगमात्संभूतः खलु नीलकण्ठविदुषो गोविन्दनामा सुतः ॥ १ ॥  
शाके (१) तत्त्वतिथीमिते १५२५ युगगुणाब्दे ३४ नीलकण्ठात्मभूर्दु-  
ग्धाद्धि निखिलार्थयुक्तममलं मौहूर्तचिन्तामणिम् । काश्यां वाक्यवि-  
चारमन्दरनगेनामथ्यलेखप्रियां गोविन्दो विधिविद्वरोऽतिविमलां पी-  
यूषधारां व्यधात् ॥ २ ॥

इति श्रीमदैवज्ञमुकुटालङ्कारनीलकण्ठज्योतिर्विपुत्रगोविन्दज्यो-  
तिर्विद्विरचितायां मुहूर्तचिन्तामणिटीकायां पीयूषधारा-

भिधायां गृहप्रवेशप्रकरणं समाप्तम् ॥

समाप्तश्चायं मुहूर्तचिन्तामणिः पीयूषधाराटीकासमेतः ॥

(१) शके शराब्द्व्यष्टमहीमिते बुधे  
नमःसिते देवगुरुप्रसादतः ।  
मुहूर्तचिन्तामणिटिप्पणी गता  
सुपूर्णतां मत्कृतयुक्तिमञ्जरी ॥

मधुश्रावणी  
१५-८-२३

}

श्रीअनूपमिश्रः ।

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

}

हरिकृष्णदास,  
मालिक "गुप्तबुक् डिपो"  
कचौरीगली, बनारस सिटी ।

# विज्ञापनम् ।

—:o:—

काव्याचार्यतीर्थपरीक्षापाठ्यपुस्तकस्य

## मुद्राराक्षसनाटकस्य

विस्तृतसमालोचनासहितस्य

इयं भावबोधिनी व्याख्या

अभिनवा मुद्रितास्ति—

ह. आ.

अस्यां सर्वटीकापेक्षया कतिपयगुणोधिक्यमस्ति,  
तथाहि सरलशब्दैः सम्यक् व्याख्या, सरलार्थः, भाषा-  
र्थः, प्रतिश्लोकं सम्यगलङ्कारसंघटनम्, स्थाने स्थाने  
सलक्षणगुणरीतिप्रदर्शनम्, यथास्थानं दोषप्रदर्शनं त-  
त्समाधानप्रदर्शनञ्च, काव्यप्रकाश-काव्यप्रदीप-साहि-  
त्यदर्पण-कुवलयानन्द-काव्यालङ्कारसूत्रवृत्त्यलङ्कारसर्व-  
स्वालङ्कारकौस्तुभ—रसगङ्गाधरालङ्कारग्रन्थानामलङ्का-  
रलक्षणानि प्रदर्शितानि । अन्ये च कतिपयगुणास्सन्ति,  
अलमेतदधिकप्रशंसया, दृष्टिपथमारूढवती स्वयमेवैषा  
स्वगुणैर्दर्शकहृदयमानन्दयिष्यतीति ... २ ०

- ( २ ) न्यायदर्शनं-विश्वनाथवृत्ति-टिप्पणी-मुजफ्फरपुरस्थ-  
राजकोयसंस्कृत-पाठशालीयन्यायशास्त्राध्यापकपरिड-  
तश्रीबालकृष्णमिश्र विरचित तात्पर्यविवृति सहितम् १ ४
- ( ३ ) उभयाभावादिवारकपरिष्कारः—मुजफ्फरपुरस्थराज-  
कोयसंस्कृतपाठशालीयन्यायशास्त्राध्यापकपरिडतश्रीबा-  
लकृष्णमिश्रविरचितप्रकाशटीकासहितः ० १२



|        |                                                                                                                                           |     |      |
|--------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|------|
| ( ४ )  | न्यायकुसुमाञ्जलिः—हरिदासीटीका—टिप्पणीभ्यां सहितः                                                                                          | ०   | ८    |
| ( ५ )  | पातञ्जलयोगसूत्रं—भोजवृत्तिसहितं                                                                                                           | ... | ...  |
|        |                                                                                                                                           | १   | ०    |
| ( ६ )  | वैयाकरणभूषणसारः—सरलाटीकासहितः                                                                                                             | ... | २ ०  |
| ( ७ )  | फक्किकारत्नमञ्जूषा—( स्त्रीप्रत्ययान्तो भागः )                                                                                            | ... | २ ०  |
| ( ८ )  | फक्किकारत्नमञ्जूषा—( कारकादिकृदन्तान्तो भागः )                                                                                            | ... | २ ०  |
| ( ९ )  | शिशुपालवधं सटीकं—आदितः सर्गद्वयात्मकम्                                                                                                    | ... | ० ५  |
| ( १० ) | शिशुपालवधं सटीकं—आदितः सर्गत्रयात्मकम्                                                                                                    | ... | ० ८  |
| ( ११ ) | सरलत्रिकोणमितिः                                                                                                                           | ... | २ ४  |
| ( १२ ) | रेखागणितस्यैकादशद्वादशाध्यायौ—प्रश्नविशेषोपपत्ति-<br>सहितौ                                                                                | ... | ...  |
|        |                                                                                                                                           | ... | ० १० |
| ( १३ ) | वृहज्जातकम्—श्रीमद्भट्टोत्पलकृतसंस्कृतटीकया ज्यौ-<br>तिषाचार्य पं० श्रीसीतारामशर्मविरचितनवीनगणित-<br>विषयोपपत्त्यादिटिप्पण्या च समलंकृतम् | ... | ३ ०  |
| ( १४ ) | ताजिकनीलकण्ठो—संस्कृतटीका—ज्यौतिषाचार्यपरिडत-<br>भोपाह्न-श्रीसीतारामशर्मविरचितोपपत्तिसहिता                                                | ... | १ ८  |
| ( १५ ) | चतुर्विधपुरुषार्थविचारः                                                                                                                   | ... | ० ८  |

अस्मत्कार्यालयात्सर्वविषयकाणि पुस्तकानि सर्वथा मनोहराणि  
समुचितमूल्येनैवातोवसावधानतया 'वी० पी०' द्वारा प्रेष्यन्त इत्या-  
स्वादयन्तु सुधियः ।

विविधपुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

हरिकृष्णदास,

मालिक “गुप्तबुक् डिपो”

कचौरीगली, बनारस सिटी ।





